विषयानुक्रमणिका



॥ श्रीः ॥

पार्थसारथिमिश्रप्रणीता

शास्त्रदीपिका

* तर्कपादः *

'विमला' हिन्दीव्याख्यासमन्विता

मङ्गलाचरणम्

लक्ष्मीकौस्तुभवक्षसं मुररिपुं शङ्खासिकौमोदकी-
हस्तं पद्मपलाशताम्रनयनं पीताम्बरं शार्ङ्गिणम्।
मेघश्याममुदारपीवरतनुर्बाहुं प्रधानात् परं
श्रीवत्साङ्कमनाथनाथममृतं वन्दे मुकुन्दं मुदा॥
न्यायाभासतमश्छन्नशास्त्रतत्त्वार्थदर्शिनीम्।
कुमारिलमतेनाऽहं करिष्ये शास्त्रदीपिकाम्॥

*** विमला ***

आरब्धग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तिकामनया ग्रन्थकारोऽग्रे शिष्या अप्येवं कुर्युरिति शिक्षाप्रदानार्थं विघ्नविघाताय शिष्टाचारानुमितश्रुतिवचनपरिपालनाय च मङ्गलाचरणमाचरति— **लक्ष्मीकौस्तुभवक्षसमिति**।

लक्ष्मीः कौस्तुभश्च वक्षसि यस्य सः लक्ष्मीकौस्तुभवक्षाः, तम् = लक्ष्मीकौस्तुभवक्षसम् (बहुव्रीहिरन्यपदार्थप्रधानः समासः)। मुरस्य रिपुः = मुररिपुः (षष्ठीतत्पुरुषः उत्तरपदार्थप्रधानः समासः)। मुरनामकस्य दैत्यस्य, रिपुः = शत्रुः, तम् मुररिपुम्, मुराभिधानस्य दानवस्य शत्रुम्। शङ्खः (पाञ्चजन्यनामा शङ्खः), असिः = खड्गः, कौमोदकी = गदा च हस्ते यस्य सः शङ्खासिकौमोदकीहस्तः, तम् (इतरेतरद्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः) कौमोदकी गदा खड्गो नन्दकः कौस्तुभो मणिः इत्यमरः। पद्मस्य = कमलस्य पलाशवत् ताम्रं = रक्तं नयनं यस्य सः पद्मपलाशताम्रनयनः तम् = पद्मपलाशताम्रनयनम्। पीतम् अम्बरं वस्त्रं यस्य सः पीताम्बरः तम् = पीताम्बरम् (बहुव्रीहिरन्यपदार्थप्रधानः समासः)। शार्ङ्गम् अस्य अस्तीति शार्ङ्गी, तम् शार्ङ्गिणम्। अत इनि-ठनौ (५।२।११५) सूत्रेण प्रथमान्ताददन्तशार्ङ्गशब्दात्

मत्वर्थे इनिप्रत्ययः। शार्ङ्गिणम् = धनुर्धारिणम्। मेघ इव श्यामः मेघश्यामः उपमानानि सामान्यवचनैः (२।१।५५) सूत्रेण समासः। अत्र मेघशब्दो मेघसदृशेऽर्थे लाक्षणिकः। उदाराः = भक्तजनेभ्यः फलप्रदाने निपुणाः, पीवराश्च पुष्टाः च चत्वारो बाहवो यस्य सः उदारपीवरचतुर्बाहु, तम् उदारपीवरचतुर्बाहुम् = स्वभक्तेभ्योऽभीष्टफलप्रदानाय निपुणपरिपुष्ट-भुजम् । प्रधानात् परम् मायायाः प्रकृतेर्वा, परम् दूरे वर्तमानम् = प्रकृतेरनधीनम्, दिव्याऽनन्त-गुणगणार्णवमिति यावत् । प्रधानस्यापि प्रधानम् अधिष्ठातारमिति यावत्। श्रीवत्सस्य अङ्कः = चिह्नम्, लक्ष्मेति यावत् यस्य यस्मिन् वा (बहुव्रीहिरन्यपदार्थप्रधानः) तम् = श्रीवत्साङ्कम्। अनाथानां = सर्वत्र परित्राणरहितानाम्, अरक्षितानाम् इति यावत्, जनानां नाथः = रक्षकः तम् अनाथनाथम्, परित्राणाय साधूनामित्युक्तत्वात्। एवं रूपं मुकुन्दं धर्मार्थकाममोक्षेति पुरुषार्थचतुष्टयप्रदातारं भगवन्तं श्रीनारायणं मुदा = हर्षेण, वन्दे = अभिवादनं करोमि, प्रणमामीति यावत्।

मीमांसादर्शनन्तावत् यागीयकर्मकाण्डविषयप्रतिपादकम्। यागे च सपत्नीकस्यैवाऽधि-कारादत्र लक्ष्मीत्युक्तम्। कोऽयं यागः? यत्र भगवान् नारायणो दीक्षितः? इत्याकांक्षाया-माह— **अनाथनाथमिति** ।

अनाथजनरक्षणलक्षणाध्वरे दीक्षित इत्यर्थः। मुक्तिमिच्छेज्जनार्दनात् नाऽन्यः पन्था विद्यते अयनाय 'विविधविनतभूतव्रातरक्षैकदीक्षा' इत्यादिप्रमाणैर्भगवान् नारायण एव मोक्षप्रदो, यागादिकर्मणः फलमपि स एव ददाति, स एव च तत्तद्देवतान्तर्यामित्वेन यागैराराधनीय इति शास्त्राभिप्रायं जानानः पार्थसारथिमिश्रः तमेव भगवन्तं स्तौति। सकलश्रुतिस्मृतिप्रति-पाद्यं भगवतः परत्वञ्चानुवदति— **प्रधानात्परमिति** । प्रक्षिपतीव चाऽधुनिकानामनीश्वरवादम्।

मङ्गलवादश्च विस्तरेण तार्किकाणां तत्त्वचिन्तामणौ वर्तते, तत्र मीमांसकमतमाश्रित्यैव-मुक्तम्— इह खलु सकलशिष्टैकवाक्यतयाऽभिमतकर्मारम्भसमये तत्समाप्तिकामा मङ्गल-माचरन्ति। तथाविधशिष्टाचारानुमितश्रुतिरेव मङ्गलस्य अभिमतहेतुत्वे मानम्। न च व्यभिचारः निष्परिपन्थिश्रुत्या मङ्गलं समाप्तिसाधनमिति प्रमापिते, तथापि तयैव समाप्त्या (लिङ्गेन) जन्मान्तरीयतदनुमानात्, तच्चेदमारब्धकर्माङ्गं कर्मार्थितया शिष्टैस्तत्पूर्वं क्रियमाणत्वात् । आचारमूलकश्रुत्यनुमानाभ्यां तदर्थितया तत्कर्तव्यत्वबोधनात् तत्फलकत्वबोधनाच्च। विघ्न-ध्वंसद्वारा चेदं मङ्गलं अङ्गम्। सति विघ्ने तद् ध्वंसद्वारा तस्याङ्गत्वात्।

परमार्थतस्तु प्रायशो विघ्नसंशये तन्निश्चये वा नियमेन शिष्टानां मङ्गलाचरणे विघ्नाभाव एव द्वारत्वेनाऽभिमतः । निर्विघ्नं समाप्यतामिति कामनया तत्करणपक्षे श्रुतित एव द्वारत्व-निर्णयः। विघ्नसंशये तन्निश्चये वा नियमेन शिष्टानां मङ्गलाचारात् विघ्नज्ञानं प्रवर्तकम्, तादृशाऽऽचारानुमितविधिनाऽपि विघ्नज्ञानवानाऽऽरब्धसमाप्तिकामोऽधिकारी बोध्यते।

अन्ये तु— मङ्गलम्प्रधानम् अदृष्टद्वाराऽऽरब्धकर्मसमाप्तिः फलम्, तत्कामोऽधिकारी बोध्यते।

अपरे तु— मङ्गलस्य आरब्धनिर्वाहकत्वे विघ्नसंसर्गाऽभावद्वारा तथैव (विघ्नसंसर्गाऽभावत्त्वेनैव) प्रतिबन्धकाऽभावस्य (विघ्नाभावस्य) हेतुत्वात्, स च अभावः सतो विघ्नस्य ध्वंसः, अनागतस्य अनुत्पादश्च्य एवं निर्विघ्नं समाप्यतामिति कामनया तदाधारोऽपि सङ्गच्छते इत्यादि।

श्रीमथुरानाथेनाऽप्युक्तम्— यद्यपि वेदोऽपि विवक्षितफलार्थिकर्तव्यत्वं न बोधयति, तथापि समाप्तिसाधनतायां बोधितायामर्थात् तत्सिद्धिरिति भावः।

केचिन्मीमांसका एवं वदन्ति— मङ्गलम् अपूर्वम् जनयति, तेन च अपूर्वेण विघ्नसंसर्गाऽभावो जायते, विघ्नसंसर्गाऽभावाच्च समाप्तिरिति क्रमेण स्वजन्याऽपूर्वजनितविघ्नसंसर्गाऽभावद्वारा मङ्गलस्य समाप्तिहेतुत्वम् तेषामेव मतमुपन्यस्यति— **अपरे त्विति**। ग्रन्थकारः स्वकर्तव्यं प्रतिजानीते— **न्यायाऽऽभासेन** इति।

प्रभाकर मीमांसक के द्वारा उद्भासित अर्थात् प्रदर्शित किया गया न्यायाभासलक्षण (स्वरूप) जो तम अन्धकाररूप अज्ञान, उससे व्याप्त (भरा हुआ) जो मीमांसाशास्त्र है, उस तत्त्वार्थ (वास्तविक अर्थ) प्रदर्शक शास्त्रदीपिका की व्याख्या भट्टपाद कुमारिल के मतानुसार मैं अर्थात् श्री पार्थसारथि मिश्र (पूर्वमीमांसा-शास्त्र की व्याख्या) कर रहा हूँ।

यह कि ब्रह्मविचार करने के पूर्व ही धर्मविचार करने के लिये प्रथमतः धर्मविचारक (कर्मविचारक) जैमिनि मुनिविरचित पूर्वमीमांसा शास्त्र अध्ययनीय माना गया है; क्योंकि प्रवृत्ति के बाद ही निवृत्ति हुआ करती है, ऐसा नियम है। अतः शास्त्रदीपिकासंज्ञक ग्रन्थ, अपने नामानुरूप दीपिका (दीपक के अनुरूप प्रकाशरूप अर्थ को प्रदर्शित करने के लिए वार्तिककार जो भट्टपाद कुमारिल हैं, उनके विचारों के अनुसार शास्त्रदीपिका नामक व्याख्याग्रन्थ की रचना कर रहा हूँ।

उपर्युक्त कारिका के पूर्वार्ध का अन्य पाठान्तर भी कहीं-कहीं उपलब्ध होता है—

शबरस्वामिनं नत्वा भट्टाचार्यं च जैमिनिम्।

विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध तथा अधिकारी को अनुबन्धचतुष्टय कहते है, तथा इसको इस प्रकार समझना चाहिये— (१) विषय = धर्म है (२) प्रयोजन = धर्मज्ञान है। (३) सम्बन्ध = प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव है (४) अधिकारी = अधीतवेद व्यक्ति है।

ग्रन्थकार श्री पार्थसारथि मिश्र अपने कर्तव्य-कार्य की प्रतिज्ञा कर रहे हैं— **न्यायाभासेति।** प्रभाकरमीमांसक के द्वारा प्रचारित किये गये न्यायाभासों (मीमांसित, सुविचारित) न्याय (तर्क) जैसे प्रतीयमान होनेवाले (वस्तुतः वह तर्क (न्याय) नहीं है, अपितु कुतर्क है) से अर्थात् न्यायाभासरूप अन्धेरे (तम) से आच्छन्न (आवृत) जो मीमांसा शास्त्र, उसके यथार्थ (वास्तविक) अर्थ को प्रदर्शित करनेवाली शास्त्रदीपिका (शास्त्ररूप दीपक) नामक ग्रन्थ की रचना, श्री कुमारिल भट्टपाद के अभिप्रायानुसार मैं करूँगा अर्थात् कर रहा हूँ।

विशेष— न्याय शब्द का अर्थ अधिकरण है। अधिकरण का लक्षण इस प्रकार

किया गया है— विषयो विषयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तर: ।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ।।

न्यायालय (कोर्ट) को भी अधिकरण के नाम से जाना जाता है। वहाँ पर भी जो विचारणीय विषय आते हैं, उन पर भी उपर्युक्त प्रकार से (पाँच प्रकार से) ही विचार किया जाता है—

१. **विषय**— अर्थात् विचारणीय विषय रहता है।

२. **संशय**— उस विषय पर सन्देह होने से दो कोटियाँ (पक्ष) होती हैं। यह सदैव उभयकोटिक ही हुआ करता है।

३-४. **वादी** और **प्रतिवादी**— दो पक्ष के लोग रहते हैं। इसी को क्रमश: पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष कहते हैं।

५. **निर्णायक** (जज) दोनों पक्षों को अच्छी तरह सुनकर अपनी बुद्धि के अनुसार मीमांसा-शास्त्रोक्त युक्तियों (तर्कों) की सहायता से निर्णय (फैसला) करता है, इसी को कोर्ट का फैसला कहा करते हैं।

अतएव प्राचीन समय में जज लोग मीमांसाशास्त्रज्ञ हुआ करते थे। महामहोपाध्याय श्री कुप्या शास्त्री आदि कितने ही मीमांसक विद्वान् जज हुए हैं। कुछ समय के पश्चात् उक्त परम्परा को हटाकर ब्रिटिशकाल में केवल एक मीमांसक-धर्मशास्त्री विद्वान् की नियुक्ति कोर्ट में होनी प्रारम्भ हुई, किन्तु आज भारत राष्ट्र के स्वतन्त्र होने पर कोर्ट में मीमांसक-धर्मशास्त्रियों की नियुक्ति बन्द कर दी गयी, अर्थात् हिन्दू लॉ के लिये उसकी आवश्यकता समाप्त कर दी गई। अस्तु; काल की विकराल गति है और राष्ट्र पूर्णतया शाब्दिक रूप से स्वतन्त्र हो गया है। अनेक प्रकार की उलझनों में (समस्याओं में) मकड़ी के जाल में फँसने के समान ही आज की स्वतन्त्रता है।



प्रथमं धर्मजिज्ञासाऽधिकरणम्

अथातो धर्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

अब व्याख्येय सूत्र का अवतरण ग्रन्थकार कर रहे हैं— **अथातो धर्मजिज्ञासा।**

अनुबन्धचतुष्टय (विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध, अधिकारी) में से विषय धर्म है। प्रयोजन धर्मज्ञान है। सम्बन्ध प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव है। अधिकारी अधीतवेद व्यक्ति है (जिसने वेद का अध्ययन कर लिया है)।

अनेन सूत्रेण प्रारिप्सितस्य शास्त्रस्य श्रोतृप्रवृत्तिसिद्ध्ये धर्मज्ञानं कथ्यते। यदा हि धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्येत्युक्ता शास्त्रमारभ्यमाणं दृश्यते तदा नूनमिदं शास्त्रं धर्मज्ञानप्रयोजनमित्यवगम्यते।

उक्त अनुबन्धचतुष्टय में से विषय और अधिकारी तो स्पष्ट ही है। अत: प्रयोजन और सम्बन्ध का ही निरूपण ग्रन्थकार कर रहे हैं— **अनेन इति**। उपर्युक्त सूत्र के द्वारा अध्ययन करने की इच्छा करने वाले व्यक्तियों की इस मीमांसा शास्त्र (धर्मविचार शास्त्र) में प्रवृत्ति (अभिरुचि) उत्पन्न करने के लिये उक्त शास्त्र का प्रयोजन (फल) बताया जा रहा है। अर्थात् इस मीमांसा शास्त्र का प्रयोजन धर्मज्ञान (धर्म का ज्ञान) कराना ही है। निष्कर्ष यह है कि महर्षि जैमिनि मुनिप्रणीत सूत्रों के द्वारा ग्रथित मीमांसा शास्त्र का प्रयोजन है धर्मत्वावच्छिन्न धर्मविषयक प्रमात्मक ज्ञान (यथार्थ ज्ञान)। अर्थात् धर्म का यथार्थ ज्ञान करा देना ही प्रयोजन है। इस कथन में युक्ति (तर्क) यही है— **यदाहीति**। जो शास्त्र जिस जिज्ञासा से प्रवृत्त (प्रारम्भ) होता है, वह शास्त्र तत्प्रयोजनक ही समझा जाता है। जैसे— 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस प्रारम्भिक सूत्र से ब्रह्म के जानने की इच्छा से ब्रह्ममीमांसा (वेदान्त) का आरम्भ किया गया है। अत: ब्रह्मज्ञान ही ब्रह्ममीमांसा (वेदान्त) का प्रयोजन (फल) माना जाता है। एवञ्च जैसे ब्रह्मज्ञान ही ब्रह्ममीमांसा का प्रयोजन है, वैसे ही प्रकृत में भी 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र से धर्मजिज्ञासा को बतलाकर आरम्भ किया गया धर्ममीमांसाशास्त्र का प्रयोजन (फल) भी धर्मत्वावच्छिन्न धर्म की प्रमिति (ज्ञान) होना ही निश्चित होता है।

अथवा जिज्ञासा शब्द की निष्पत्ति ज्ञा + सन् अर्थात् ज्ञा = अवबोधने = ज्ञानार्थक ज्ञा धातु से इच्छा के अर्थ में सन् प्रत्यय को जोड़कर हुई है। एवञ्च सन् प्रत्यय का अर्थ इच्छा है। उसमें ईष्यमाण (चाहने वाली) वस्तु की प्रधानता हुआ करती है। अत: ईष्यमाण वस्तु (पदार्थ) धर्म होने से धर्मज्ञान की ही प्रधानता है। उसी कारण धर्मज्ञान को ही प्रयोजन के रूप से निश्चित किया गया है।

विदितं तावत्प्रयोजनम्। सम्बन्धोऽपि शास्त्रस्य प्रस्तावहेतुर्वक्तव्यः। यथा शास्त्रान्तरेषु शिष्यप्रश्नानन्तर्यादिसम्बन्धः प्रस्तावको वर्ण्यते, तथेहापि शास्त्रारम्भे प्रयोजकानां सम्बन्धानामन्यतमो वक्तव्यः? अनेन सम्बन्धेनेदं शास्त्रमायातमिति। अन्यथा ह्यसम्बद्धप्रलपितं स्यात्।

विदितमिति। 'विदितं तावत् प्रयोजनम्' ग्रन्थ से सम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिये ग्रन्थकार बता रहे हैं। प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध तो स्पष्ट है ही; किन्तु उसे नहीं बतलाकर कुशाग्र बुद्धि प्रश्नकर्त्ता सम्बन्ध पूछने के व्याज से शास्त्र प्रारम्भ करने का कारण ही पूछ रहा है— **सम्बन्धोऽपीति**। जैसे— अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इत्यादि। ब्रह्म-मीमांसा के आरम्भ करने में अद्वैत वेदान्त के अनुसार साधनचतुष्टय की अनन्तरता (साधनचतुष्टयानन्तर्य) को हेतु (कारण) कहा गया है। विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के अनुसार वैदिक पूर्वकाण्ड (कर्मकाण्ड) के ज्ञान की अनन्तरता को हेतु (कारण) कहा गया है और महर्षि व्यासरचित महाभारत के शान्तिपर्वादि में धर्म का निरूपण करने का कारण धर्मराज युधिष्ठिर के प्रश्न को बताया है अर्थात् युधिष्ठिरप्रश्नानन्तर्य को ही कारण माना गया है। उसी प्रकार प्रस्तुत में भी मीमांसा शास्त्र के आरम्भ करने का कारण क्या है? अर्थात् धर्मजिज्ञासा करने में कारण क्या है? धर्मजिज्ञासा क्यों की जा रही है? धर्म-विचारशास्त्रस्वरूप मीमांसा शास्त्र के आरम्भ करने में किसी कारण को यदि नहीं बतलाया जाय तो आप्त (यथार्थ वक्ता) के रूप में मान्य समझे जाने वाले शास्त्रकार महर्षि जैमिनि मुनि को असम्बद्ध प्रलाप करने वाला ही समझा जायेगा। उसका परिणाम यह होगा कि उनके द्वारा निर्मित मीमांसा शास्त्र को लोग उपेक्षणीय ही समझेंगे; क्योंकि असम्बद्ध प्रलाप करने वाले विकृतमस्तिष्क व्यक्तियों (पागलों) की बातों को लोग उपेक्षणीय ही समझते हैं।

सत्यम्, इह तु य एवाऽयं प्रयोजनेन सह शास्त्रस्य साध्यसाधनत्वसम्बन्धः स एव शास्त्रस्य प्रस्तावको नान्यः। भवति हि साधनत्वमेव साध्यार्थिनः साधने प्रवृत्तिहेतुः। स चायं सम्बन्धः प्रयोजनोक्त्यैवार्थाज्ज्ञायत इति न सूत्रकारेण पृथगुक्त इत्यदोषः।

सत्यमिति। यद्यपि उपर्युक्त कथन आपाततः कर्णमधुर प्रतीत हो रहा है तथापि पूर्वोक्त कर्मकाण्डज्ञानानन्तर्य आदि सम्बन्ध के समान प्रस्तुत में अन्य कोई कारण प्रतीत नहीं हो रहा है किन्तु धर्मज्ञानरूप प्रयोजन (फल) और मीमांसा शास्त्र इन दोनों का जो साध्य-साधनभावरूप सम्बन्ध है, उसी को इस शास्त्र के प्रारम्भ करने में भी कारण (हेतु) समझना चाहिये। जब किसी साध्य (अनुष्ठेय) को सिद्ध करने की इच्छा होती है, तभी मनुष्य की प्रवृत्ति उसके साधन की ओर होती है; क्योंकि साधननिष्ठ साधनत्व ही प्रवृत्ति में हेतु (कारण) हुआ करता है। जैसे— पाक करने का इच्छुक व्यक्ति, उसके साधन ईन्धनादि को लाने में प्रवृत्त होता है; क्योंकि वे ईन्धन आदि ही पाक की निष्पत्ति में साधन

माने जाते हैं। उसी तरह धर्मज्ञान का साधन यह शास्त्र है। अतः धर्मज्ञानेच्छु व्यक्ति की प्रवृत्ति इस शास्त्र में होनी उचित ही है। इसी अभिप्राय से महर्षि जैमिनि ने इस मीमांसा शास्त्र की रचना की है। अतः उन्हें असम्बद्ध प्रलापी कहना उचित नहीं है।

असम्बद्ध प्रलापिता तब कही जा सकेगी, जब निष्प्रयोजन वाक्यों को कोई बोलता हो। ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र ने तो अनेक युक्ति-प्रयुक्तियों से सिद्ध कर दिया है कि प्रस्तुत मीमांसा शास्त्र का आरम्भ जिसे महर्षि जैमिनि ने किया है, वह सप्रयोजन ही है, उसे कदापि निष्प्रयोजन नहीं कहा जा सकता। **स चायमिति** मीमांसा शास्त्र के आरम्भ करने में कारणीभूत साध्य-साधनभाव सम्बन्ध ही है। इस सम्बन्ध का ज्ञान प्रयोजन के कहने-मात्र से ही हो जाता है। अर्थात् अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्र के द्वारा शास्त्रारम्भ करने से ही 'धर्मज्ञानप्रयोजनकमिदं शास्त्रम्' यह स्पष्ट हो जाता है। एवञ्च धर्मज्ञानरूप प्रयोजन के स्पष्ट हो जाने से शास्त्र का धर्मज्ञान के साथ साध्य-साधनभाव सम्बन्ध भी स्पष्ट हो जाता है। इसलिये धर्मज्ञानप्रयोजनकमिदं शास्त्रम् धर्मज्ञानं प्रयोजनम्, तस्य साधनं च इदं शास्त्रम् इत्यर्थः। यतः यत् शास्त्रं यत्प्रयोजनकं भवति तत् शास्त्रं, तस्य प्रयोजनस्य साधनं भवत्येव इति नियमः। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने सम्बन्ध का पृथक्त्वेन (अलग से) उल्लेख नहीं किया है। पृथक् उल्लेख नहीं करने पर भी न्यूनतारूप दोष नहीं है। सभी शास्त्रों के आरम्भ में उपर्युक्त विचार इसी प्रकार किया जाता है।

तदनन्तर 'अत्रेदं चिन्त्यते' कहकर प्रस्तुत शास्त्र से सम्बन्धित अवान्तर विचार भी इस जिज्ञासाधिकरण में कर रहे हैं—

अत्रेदं चिन्त्यते— किमध्ययनानन्तरं धर्मजिज्ञासया गुरुगृहेऽवस्थातव्यम्? उत गुरुगृहा-त्समावर्तितव्यम्? इति। यदि हि स्वाध्यायाध्ययनविधिना धर्ममात्रार्थमध्ययनं स्वर्गाद्यर्थेन विधीयते ततस्तन्मात्रेणैव शास्त्रार्थस्य समाप्तत्वात् अधीत्य स्नायात् इति स्मृतिवचनबलेन च समावर्तितव्यमिति।

श्रुति तथा स्मृतियों में द्विजाति (त्रैवर्णिक अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के उपनयन संस्कार से संस्कृत हुए बालकों का उपनयन संस्कार (यज्ञोपवीत संस्कार) के बाद गुरुगृह में ही ब्रह्मचर्यव्रत से रहकर वेदाध्ययन करने के लिये 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' वाक्य को श्रुति ने बतलाया है तथा स्मृतिशास्त्र ने भी 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत'[१], तमध्यापयीत। गर्भकाल से आठ वर्ष का होने पर अथवा जन्मकाल से आठ वर्ष का होने पर ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार करना चाहिये[२] और उसे वेद पढ़ाना चाहिये। श्रुति तथा

---

१. गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम्।
राज्ञामेकादशे सैके विरामेके यथा कुलम्॥

२. हेतौ (पा०सू० २।३।२३) सूत्र पर फलमपीह हेतुः कहा है। इसकी व्याख्या करते हुए श्री वासुदेव दीक्षित कहते हैं कि यह अध्ययनं यद्यपि वासफलं तथापि वासं प्रति हेतुरपि भवति। इष्टसाधनता ज्ञानस्यप्रवृत्तिहेतुतया अध्ययनस्य फलस्य स्वज्ञानद्वारा वासजनकत्वात्। यदा तु

स्मृति के उपर्युक्त वाक्यों को सुनने से मन में सन्देह उत्पन्न होता है वेदाध्ययनानन्तर (गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण करने को ही अध्ययन कहते हैं अर्थात् श्रीगुरु पढ़ाते समय अक्षरों का जैसा उच्चारण और स्वरों का प्रदर्शन करें ठीक वैसे ही शिष्यों को भी अक्षरोच्चारण एवं स्वरों का प्रदर्शन करना चाहिये।) वेदार्थरूप धर्म का विचार करने के लिये भी गुरुगृह में रहना शिष्यों के लिये आवश्यक है अथवा नहीं?

ग्रन्थकार ने अत्रेदं चिन्त्यते किमध्ययनानन्तरं धर्मजिज्ञासया आदि में धर्मजिज्ञासया पद में तृतीया विभक्ति का प्रयोग क्यों किया है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि क्वचित् स्थलों पर फलमपीह हेतुः अध्ययनेन वसति। फल की भी हेतुत्वेन विवक्षा करने पर तृतीया की जाती है। इसी तरह धर्मजिज्ञासया में जो तृतीया है, वह हेतु के अर्थ में की गई है। निष्कर्ष यह है कि धर्मजिज्ञासया का तात्पर्य धर्मजिज्ञासार्थम् में है।

यदि हीति। ज्योतिष्टोमयाग का विधान वेद के द्वारा स्वर्गफल की प्राप्ति के लिये ही किया गया है अर्थात् ज्योतिष्टोमयाग के करने से किसी दृष्टफल (प्रत्यक्ष मिलने वाले फल) की प्राप्ति नहीं होती है, वैसे ही स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस स्वाध्यायाध्ययन की विधि से भी स्वर्गादि अदृष्ट फल की प्राप्ति के लिये ही धर्मत्वेन (धर्म के रूप में) अध्ययन का विधान यदि किया जा रहा है तो तन्मात्रेणैव अर्थात् वेद के अक्षरो का अध्ययन (ग्रहण = उच्चारण) करने मात्र से ही शास्त्रार्थ = अध्ययनविधिरूप आज्ञा का पालन हो जाता है।

इसलिए समावर्त्तन अर्थात् गुरुकुलवासादि ब्रह्मचर्यलक्षण नियमों को त्याग (समाप्त) कर अपने घर चला जाय। निष्कर्ष यह है कि यदि गुरुकुल में नहीं रहना है तो समावर्त्तन कर लेना चाहिये अर्थात् वेदाध्ययन करने के पश्चात् गुरुचरणों से आज्ञा प्राप्त कर ब्रह्मचर्यव्रत का त्यागकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर लेना चाहिये (विवाह कर लेना चाहिये)। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने सयुक्तिक पूर्वपक्ष उपस्थित किया है। इस प्रकार समावर्त्तन करने में स्मृतिशास्त्र का अधीत्य स्नायात् प्रमाण भी है। इस स्मृतिवचन से स्पष्ट हो रहा है कि वेद के अक्षरों का अध्ययन (गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण) करने के पश्चात् समावर्त्तन कर लेना चाहिये। स्मृतिवचन के स्नायात् का अर्थ स्नान ही है और स्नान का अर्थ समावर्त्तन ही है। अध्ययन के पश्चात् भी धर्म के स्वरूप का विचार करने के लिये यदि गुरुकुल में ही रहा जाय तो अधीत्य स्नायात् इस स्मृतिवचन से कथित अध्ययन और स्नान (समावर्त्तन) का जो आनन्तर्य है, वह बाधित हो जायेगा, उसी कारण गुरुकुल में किया हुआ वेदाध्ययन दृष्टार्थ नहीं हो सकेगा, उसे अदृष्टार्थ ही कहना पड़ेगा। निष्कर्ष यह निकला कि धर्मविचार करने के लिये गुरुकुल में रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। पूर्वपक्षी ने अपने आशय को उक्त कथन के द्वारा अच्छी तरह से प्रकट किया है।

अध्ययने फले एतादृशं हेतुमविवक्षित्वा अध्ययनार्थमेव वासो विवक्ष्यते तदा चतुर्थ्येव भवति, अध्ययनाय वसतीति। एतच्च प्रकृतसूत्रे कैयटे स्पष्टम्।

(अध्ययनविधिविचारः)

अथाक्षरग्रहणादिपरम्परोपजायमानवाक्यार्थज्ञानार्थमध्ययनं विधीयते? ततस्तस्य विचारमन्तरेणाऽसम्भवादध्ययनविधिनैवाऽर्थाद्विचारो विहित इति गुरुगृह एवावस्थाय विचारयितव्यो धर्मः।

अथाक्षरग्रहणादीति। उत्तर देने वाला पूर्वपक्षी को वाक्यार्थज्ञान की प्रक्रिया बतला रहा है। अक्षर-ग्रहण (अक्षरों को सुनने) से पदज्ञान, पदज्ञान होने पर पदार्थोपस्थिति, तदनन्तर पदार्थोपस्थिति से अथवा उपस्थित पदार्थों से वाक्यार्थज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया (परम्परा अथवा क्रम) से होनेवाला जो वाक्यार्थज्ञान, उस वाक्यार्थज्ञान के लिये यदि स्वाध्यायोऽध्येतव्य: इस विधि से अध्ययन का विधान किया जाता है, तो उस वाक्यार्थज्ञान की निष्पत्ति विचार के बिना होना सम्भव नहीं है। अत: कहना होगा कि अध्ययन विधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्य:) से विचार का भी विधान अर्थात् (स्वत: प्राप्त) हो ही जाता है। जैसे— 'पाकं कुरु' इस पाकविधायक वाक्य से ही इन्धनादि के संग्रह का विधान (स्वत: प्राप्त) हो जाता है; क्योंकि इन्धन (काष्ठादि) संग्रह किये विना पाकनिष्पत्ति का होना सम्भव ही नहीं है । उसी प्रकार विचार किये विना वाक्यार्थज्ञान की निष्पत्ति होना भी सम्भव नहीं है। अत: यह तथ्य स्वत: एव स्पष्ट हो जाता है कि अध्ययन विधि के द्वारा ही वैदिक वाक्यों के विचार करने का भी विधान किया जा रहा है।

उपर्युक्त कथन को स्वीकार करने पर 'सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्' इस न्याय की भी सङ्गति उपपन्न हो जाती है। अभिप्राय यह है अध्ययन के अर्थज्ञानरूप दृष्ट फल की सम्भावना रहते स्वर्गादि अदृष्ट फल की कल्पना करना उचित नही है। अत: अध्ययनसमाप्ति के अव्यवहित उत्तरक्षण में समावर्त्तन (स्नान) संस्कार कर लेना उचित नहीं है, अपितु गुरुकुल में ही रहते हुए अधीत वेदवाक्यों के अर्थस्वरूप धर्म का विचार करना ही उचित है।

इस प्रकार पूर्वोत्तरपक्षों के स्वरूप को संक्षेप में बताकर पूर्वपक्ष का उपपादन कर रहे हैं—

तत्र— विनापि विधिना ज्ञानलाभान्न हि तदर्थता ।
कल्प्यस्तु विधिसामर्थ्यात् स्वर्गो विश्वजिदादिवत् ।।

स्वाध्यायसंस्कारद्वारेणाध्ययनस्यार्थज्ञानहेतुत्वं विनैव विधिना प्रमाणान्तरेण सिद्धमेवेति तादर्थ्ये विध्यानर्थक्यम्।

सभी लोगों को मालूम है कि घर के निर्माण करने में कुलाल को दण्ड-चक्र-चीवर आदि कारणों (साधनों) की आवश्यकता होती है, उसके लिये किसी विधि की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। उसी तरह अर्थज्ञान के लिये अध्ययन (पढ़ने) की आवश्यकता होती है, इस तथ्य की जानकारी अन्वय-व्यतिरेक से सभी लोगों को स्वत: सिद्ध है। (यत्सत्त्वे

यत् सत्वमन्वय:, यदभावे यदभावो व्यतिरेक:) जिसके रहते जो होता है और जिसके नहीं रहने पर जो नहीं होता, यही अन्वय और व्यतिरेक का स्वरूप है।)

अत: अर्थज्ञान के लिये अध्ययनविधि की अपेक्षा नहीं रहती, इसलिये 'अध्ययनविधे: तदर्थता नास्ति' अर्थात् अध्ययन विधि को तदर्थता अर्थात् वाक्यार्थज्ञानार्थता नहीं है। वाक्यार्थज्ञान प्राप्त करने के लिये अध्ययन के विधान करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि विधि का उद्देश्य अज्ञात वस्तु ही सर्वदा मानी जाती है; क्योंकि विधि उसी को कहा जाता है, जो अज्ञात वस्तु का ज्ञापक (बोधक) होता है— 'अज्ञातज्ञापको हि विधि:।' उद्देश्य विधेयभाव से यह स्पष्ट हो जाता है—

अज्ञाते फलवत्यर्थे विधीनां मानतेष्यते।
न चाध्ययनमज्ञातमर्थज्ञानस्य कारणम्॥

अधीतस्मरणयोग्यतारूप संस्कार के द्वारा अध्ययन (पठन) करने से अर्थज्ञान होता है अर्थात् अर्थज्ञान प्राप्त करने में कारण अध्ययन है, यह तथ्य लोगों से अज्ञात नहीं है। अत: उसके लिये अध्ययन का विधान करने की आवश्यकता नहीं है, तब तो स्वाध्यायोऽध्येतव्य: इस अध्ययन विधि को व्यर्थ (निरर्थक) ही कहना होगा, ऐसी आशंका होने पर उसका समाधान इस प्रकार होगा कि 'कल्प्यस्तु विधिसामर्थ्यात् स्वर्गो विश्वजिदादिवत्'। अभिप्राय यह है कि विश्वजिदादिवत् विश्वजिता यजेत के समान 'अमुकफलकाम: विश्वजिता यजेत' यह विश्वजित् नामक याग का विधायक वाक्य है, किन्तु इस वाक्य में दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत इस प्रकार विश्वजित् याग का विधायक वाक्य नहीं हैं। केवल विश्वजिता यजेत इतना ही वेदवाक्य सुनाई दे रहा है, किन्तु इतना कहने मात्र से विश्वजित् याग का अनुष्ठान कोई नहीं करेगा। मानव प्रकृति का स्वभाव ही है कि वह किसी फलश्रवण के बिना किसी कर्म की ओर प्रवृत्त नहीं होता। अत: विश्वजित् याग का कोई फल नहीं सुनाई देने से उस याग का अनुष्ठान वह क्यों करेगा? अर्थात् वैदिक विधि वाक्य के सुनने पर भी उसे सम्पन्न करने की ओर किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी। तब तो उक्त विश्वजिता यजेत वाक्य निरर्थक हो जायेगा। उसकी सार्थकता के उपपत्त्यर्थ यदि हम किसी दृष्टफल की कल्पना भी कर लें तब भी कदाचित् व्यभिचार होने की संभावना हो सकती है; क्योंकि दृष्ट फल अनेकविध हैं। कोई किसी दृष्ट फल को चाहता है तो दूसरा किसी अन्य दृष्ट फल पाने की इच्छा रखता है। इसलिये 'स स्वर्ग: स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्' न्याय से स्वर्ग जैसे अदृष्ट फल के लिये (स्वर्ग-फल प्राप्ति के लिये) आपामरसाधारण सभी लोग सदैव इच्छुक रहते हैं। उसी कारण विश्वजित् याग के लिये फलकल्पना करते समय स्वर्गरूप अदृष्टफल की ही कल्पना की गई है; क्योंकि दृष्ट फल अनेकविध हैं, कोई किसी दृष्टफल को चाहता है तो दूसरा किसी अन्य दृष्टफल पाने की इच्छा रखता है। तथाच जैसे— विश्वजित् याग में स्वर्गफल की ही कल्पना की गई है, उसी तरह स्वाध्यायोऽध्येतव्य: इस अध्ययन विधि के बल

पर अध्ययन के लिये भी स्वर्गफल की ही कल्पना करनी चाहिये। इसी तथ्य को ग्रन्थकार ने स्वाध्यायसंस्कारद्वारेणाध्ययनस्य इत्यादि कथन के द्वारा स्पष्ट किया है। स्वाध्यायसंस्कार द्वारा स्वाध्याय शब्द का अर्थ है— स्वश्चासौ अध्याय: = स्वाध्याय: अर्थात् 'स्वकुल-परम्परागतरूप में प्राप्त होनेवाली वेदशाखा'। अपनी वेदशाखा का अध्ययन बिना किये जो व्यक्ति अन्य वेद अथवा वेदशाखा का अध्ययन करता है, उस व्यक्ति को 'शाखा-रण्ड: स उच्यते' शाखारण्ड कहा गया है। स्वाध्यायोऽध्येतव्य: वाक्यगत स्वाध्याय पद में कर्मधारय समास ही करना चाहिये। तत्पुरुष समास यहाँ नहीं किया जाता, यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये; क्योंकि तत्पुरुष समास में लक्षणा करनी पड़ती है। पद में लक्षणा हो तो पददोष और वाक्य में लक्षणा की जाय तो वाक्यदोष माना जाता है। जैसे— राजपुरुष: में तत्पुरुष। स्वाध्यायसंस्कार द्वारा अध्ययनेन स्वाध्याया: = वेदा: संस्करणीया:। अध्ययन के द्वारा स्वाध्याय = वेद का संस्कार करना चाहिये। एवं च स्वाध्याय-संस्कारार्थ किया गया जो अध्ययन है, वह वेदार्थ ज्ञान का कारण तो स्वत: सिद्ध ही है। उसे बताने के लिये वैदिकविधिवाक्य की आवश्यकता नहीं है। वेदाध्ययन में वेदार्थज्ञान की कारणता तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अथवा अन्वय-व्यतिरेक से ही स्पष्ट है। वेदाध्ययन अर्थज्ञानार्थ है, ऐसी कल्पना करने पर तो स्वाध्यायोऽध्येतव्य: इस विधि-वाक्य को अनर्थक ही कहना पड़ेगा; क्योंकि अध्ययन में अर्थज्ञानार्थता तो लोकव्यवहार से ही समझ में आ जाती है।

न चावघातादिविधिवन्नियमार्थत्वम्, अवघातो हि दर्शपूर्णमासाऽपूर्वे नियम्यते— अवघातनिष्पन्नैरेव तण्डुलैरपूर्वं सिद्ध्यतीति, न तण्डुल-स्वरूपे प्रमाणान्तरविरोधात्। तद्वदिहापि ज्ञानस्याध्ययनमन्तरेणापि दर्शनात् तत्स्वरूपे नियमासम्भवात् क्रत्वपूर्वेष्वेवाऽध्ययननियमो विधा-तव्य:— अधीतैरेव वेदैरवगतानि कर्माणि फलदानीति। न चैवं युक्तम्— अक्रत्वर्थत्वादध्ययनस्य अनारभ्याधीतत्वात्, श्रुत्याद्यऽभावाच्चाऽक्रत्व-र्थत्वम्। तस्माददृष्टार्थमेव स्वाध्यायाध्ययनमित्यध्ययनमात्रादेव समाप्ते शास्त्रार्थे गुरुगृहात् समावर्तितव्यम्। इति प्राप्ते अभिधीयते—

पूर्वपक्षी का कहना है कि भले ही अध्ययन में अर्थज्ञानरूप दृष्टार्थकता न हो, (अध्ययन का अर्थज्ञानरूप दृष्टफल न हो) तथापि अध्ययन को नियमविधि के रूप में तो मान ही सकते हैं। जैसे— याग में किया जाने वाला देवतास्मरण उस देवता के चित्र को रखकर अथवा तद्देवताक मन्त्रोच्चारण से भी किया जा सकता है, अर्थात् देवता को दो प्रकार से स्मरण कर सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में 'मन्त्रैरेव देवता: स्मर्तव्या:' इस प्रकार नियम किया जाता है, अर्थात् नियमविधि बनाया जाता है। लोकव्यवहार से प्राप्त होने पर भी उसे विधि का रूप देने के लिये नियम बनाकर उसे नियमविधि के क्षेत्र में लाते हैं। जैसे— पुरोडाश बनाने के लिये तण्डुलनिष्पत्ति आवश्यक होती है। वह

तण्डुलनिष्पत्ति धान (व्रीहि) के छिलके (तुष) को नखविदलन से (नखों से) तथा अवघात से (मुसलावघात = कूटने से) भी की जा सकती है, तथापि व्रीहिन् अवहन्ति इस अवहननविधिवाक्य से अवघात के द्वारा तण्डुलनिष्पत्ति करनी पड़ती है। यह नियम बनाकर अवघात को नियमविधि के क्षेत्र में लाकर उसे नियम का स्वरूप दिया जाता है 'अवघातैरेव तण्डुलनिष्पत्तिः कर्तव्या, नाऽन्येन प्रकारेण'। एवञ्च अवघात को नियमित कर दिया जाता है। कहा भी है—

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ॥

उसी प्रकार यहाँ पर भी अधीत तथा अनधीत वेदों से (वेदाध्ययन के बिना भी) किसी भी प्रकार से अवगत हुए कर्म फलप्रदान कर सकते हैं। फल-प्राप्ति के लिये तो कर्म करने की ही आवश्यकता है। उन कर्मों का ज्ञान किसी भी प्रकार से हुआ हो, चाहे वेदाध्ययन से हुआ हो अथवा वेदाध्ययन के बिना ही हुआ हो। ऐसी परिस्थिति में यह नियम किया गया है कि— 'अधीतैरेव वेदैः अवगतानि कर्माणि फलप्रदानि भवन्ति' इस नियम का बोधन ही उक्त अध्ययन विधि से किया गया है।

इस पर प्रतिवादी का कहना है कि अवघातविधि के समान अध्ययनविधि (स्वाऽध्यायोऽध्येतव्यः) को नियमार्थ (नियमविधि) कहना उचित नहीं होगा; क्योंकि व्रीहिन् अवहन्ति इस विधि वाक्य से विहित अवघात को दर्शयागजन्य अपूर्व तथा पूर्णमासयाग-जन्य अपूर्व के प्रति नियमित किया गया है अर्थात् 'अवघातनिष्पन्नैरेव तण्डुलैः अपूर्वं सिध्यति, न तण्डुलस्वरूपे, प्रमाणान्तरविरोधात्'। अभिप्राय यह है कि अवघात से निष्पन्न हुए तण्डुलों से निर्माण किये गये पुरोड़ाश से याग करने पर ही उस याग से अपूर्व की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं। अर्थात् नखों से वितुषीकरण किये हुए चावलों से निर्मित पुरोड़ाश द्वारा याग करने पर उस याग से अपूर्व की उत्पत्ति नहीं होगी। इस प्रकार से अवघात का नियम किया जाता है। तण्डुल के स्वरूपनिर्माणार्थ यह नियम नहीं किया गया है, फिर भी यदि ऐसा नियम करेंगे तो प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरों के साथ विरोध होगा; क्योंकि तण्डुलनिष्पत्ति का होना नख-विदलनादि से भी देखा जाता है। तण्डुल-स्वरूप की निष्पत्ति यदि अवघात से ही होती, तो तण्डुल स्वरूपनिष्पत्ति के प्रति अवघात का नियम भी किया जा सकता था, किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है। इसलिये तण्डुलस्वरूपनिष्पत्ति से हटकर वह अवघात अपूर्व निष्पत्ति के प्रति अपने को नियमित करता है।

उसी तरह अध्ययन के सम्बन्ध में भी आपको यदि नियम बनाना है तो वह नियम वेदवाक्यार्थ ज्ञान के लिये अथवा अपूर्व निष्पत्ति के लिये बनाना होगा। ऐसी स्थिति में वाक्यार्थज्ञान के लिये तो अध्ययन नियम नहीं बनाया जा सकता; क्योंकि अध्ययन बिना किये भी कोष-व्याकरण-काव्यादि का ज्ञान प्राप्त किया हुआ व्यक्ति अपनी व्युत्पत्ति के

बल पर वेदवाक्यों के अर्थ को समझ सकता है। उसी तरह अर्थज्ञान के स्वरूप निष्पत्ति में भी उस नियम की कोई आवश्यकता नहीं होगी, वह तो स्वयं हो ही जाती है। इसलिये क्रत्वपूर्व के निष्पत्त्यर्थ ही अध्ययन के सम्बन्ध में नियम करना होगा और नियम का स्वरूप यह होगा कि— 'अधीतैरेव वेदैः अवगतानि कर्माणि, फलदानि भवन्ति'।

इस पर प्रतिवादी कहता है— **न चैवं युक्तमिति** । अर्थात् अपूर्वोत्पत्त्यर्थ अध्ययन नियम बनाना सम्भव नहीं है; क्योंकि अध्ययन में अक्रत्वर्थता (अक्रत्वर्थत्व) है। अर्थात् क्रतुजन्य अपूर्व के लिये अध्ययन नहीं है । जो क्रत्वर्थ रहता है, वही क्रत्वपूर्व का उत्पादक (जनक) हुआ करता है । अध्ययन के अक्रत्वर्थत्व होने में कारण यह है कि अध्ययन अनारभ्याधीत है। अभिप्राय यह है कि यागप्रकरण में जो पढ़ा जाता है, उसे ही क्रत्वर्थ समझा जाता है। जैसे— अवघात-प्रोक्षण आदि पदार्थ। क्योंकि अवघात-प्रोक्षणादि पदार्थों का निर्देश क्रतु के प्रकरण में किया गया है। इस प्रकार अध्ययन का निर्देश किसी वाक्य से क्रतुप्रकरण में नहीं किया गया है, इसलिये उसे (अध्ययन को) क्रत्वर्थ कैसे समझा जायेगा? और क्रत्वर्थ नहीं हो पाने से वह क्रतुजन्य अपूर्व का भी नियामक कैसे बन सकेगा? तथा अध्ययन के क्रत्वर्थ न होने में अन्य कारण यह भी है कि अङ्गत्वबोधक षट् प्रमाणों में से किसी प्रमाण से उसका अङ्गत्वबोधन भी नही किया गया है। यदि श्रुत्यादि षट् प्रमाणों में से किसी प्रमाण के द्वारा अध्ययन का क्रत्वर्थत्व (क्रत्वङ्गत्व) बतलाया गया होता तो उसके (अध्ययन के) अनारभ्याधीत रहने पर भी उसे क्रत्वर्थ मान लिया होता। अतः इस स्वाध्यायाध्ययन में क्रत्वर्थत्व (क्रत्वङ्गत्व) नहीं होने से और अर्थज्ञानरूप दृष्ट प्रयोजनवत्त्व भी नहीं होने से उसे अदृष्टार्थ ही स्वीकार करना होगा। एवञ्च वेदाक्षर ग्रहणमात्रस्वरूप अध्ययन के सम्पन्न होने से शास्त्रार्थ की समाप्ति (चरितार्थता) हो जाती है, अर्थात् अध्ययन विधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यह विधि) कृतकार्य (चरितार्थ) हो जाती है। ऐसी परिस्थिति प्राप्त होने पर यही प्रतीत होता है कि वेदवाक्यार्थरूप धर्म का विचार बिना किये ही वेदाक्षरग्रहणस्वरूप अध्ययनमात्र करके गुरुकुल से अपने घर जाकर समावर्त्तन (स्नान) कर लेना चाहिये। समावर्त्तन करने में प्रमाण भी उपलब्ध है— 'अधीत्य स्नायात्'। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा पूर्वपक्ष किये जाने पर सिद्धान्ती अपना सिद्धान्तपक्ष उपस्थित करने के लिये 'अभिधीयते' कहकर सिद्धान्तपक्ष को सामने रख रहा है।

(सिद्धान्तः) लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना।
विधेश्च नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति।।

यदुक्तम्— ज्ञानस्वरूपे क्रत्वपूर्वे वा न नियमः सम्भवतीति, तत्राभिधीयते— नोभयथापि ब्रूमः, कथं तर्हि? योऽयमग्निहोत्रादिष्वधीतवेदानां त्रैवर्णिकानामेवाधिकारो नाऽनधीतवेदानां शूद्राणामित्यधिकारनियमः स प्रयोजनमध्ययनविधेः।

'सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्' जहाँ दृष्ट फल की सम्भावना हो सकती है, वहाँ अदृष्ट की कल्पना उचित नहीं मानी जाती। इस नियम (न्याय) का अनुसरण कर मानना होगा कि वाक्यार्थ ज्ञानस्वरूप दृष्ट फल के सम्भव रहते अध्ययन के फलस्वरूप में स्वर्गरूप अदृष्ट फल की कल्पना करना उचित नहीं है। विश्वजित् याग के फलरूप में जो स्वर्गरूप अदृष्टफल की कल्पना की गई है, वह तो विवश होकर करनी पड़ी है; क्योंकि वहाँ (विश्वजित् में) किसी दृष्ट फल की कल्पना करना सम्भव नहीं हो पा रहा था।

शंका— दृष्ट फल की कल्पना तो लोकव्यवहार के अनुसार भी की जा सकती है, तब स्वाध्यायाध्ययन का विधान करने की क्या आवश्यकता थी?

समाधान— उपर्युक्त मूलगत कारिका के उत्तरार्ध से समाधान कर रहे हैं— **विधेश्चेति**। वैदिक अग्निहोत्रादि कर्मों के अनुष्ठान का अधिकार द्विजातियों को ही (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, जो उपनयनादि संस्कार संस्कृत हों) है; तुर्य (चतुरश्छयतौ चलोपश्च) चतुर्थवर्ण के शूद्रों को नहीं है। इस अधिकारविषयक नियम का ज्ञान कराने के लिये ही स्वाध्यायाध्ययन का विधान वेद ने किया है। अत: स्वाऽध्यायोऽध्येतव्य: इस अध्ययन विधि को व्यर्थ नहीं कहा जा सकता।

शंका— वाक्यार्थज्ञान के लिये अथवा क्रतुजन्य अपूर्व के लिये अध्ययन विधि को नियमार्थ अर्थात् नियमविधि के रूप में स्वीकार करने के लिए जब हमने कहा था, तब आपने ही मना कर दिया कि अध्ययनविधि को नियमार्थ नहीं कह सकते; किन्तु अब आप ही स्वयं उसे (अध्ययनविधि को) नियमार्थ (नियमविधि के रूप में) कह रहे हैं।[1]

समाधान— तत्राऽभिधीयते इति। उपर्युक्त शंका का समाधान दे रहे हैं कि हम अध्ययनविधि को दोनों रूपों में अर्थात् वाक्यार्थज्ञान के लिये अथवा क्रतुजन्य अपूर्वोत्पत्ति के लिये नियमार्थ नहीं कह रहे हैं।

शंका— तब पूर्वपक्षी पूछ रहा है— कथं तर्हि? किस रूप में आप उस अध्ययनविधि को नियम विधि कह रहे हैं?

समाधान— सिद्धान्ती अपने अभिप्रेत नियमविधि के स्वरूप को उसके सामने 'योऽयमग्निहोत्रादिषु अधीतवेदानां त्रैवर्णिकानामेव' आदि से उपस्थित कर रहा है अर्थात् चार वर्णों की समानता कर चरणादि के रूप में एक सी रहने पर भी वैदिक अग्निहोत्रादि कर्मों में द्विजातियों का ही अधिकार है, शूद्रत्वावच्छिन्न शूद्रों का वैदिक कर्मों में अधिकार नहीं है। अन्यथा चारो वर्णों की शारीरिक समानता एक समान रहने से शूद्रवर्णों को भी वैदिक कर्मानुष्ठान करने का अधिकार कहा जा सकेगा, किन्तु अध्ययनविधि के विद्यमान रहने पर अधीत वेदवालों को ही उन वैदिक कर्मों को करने का अधिकार होगा; क्योंकि

---

१. ज्ञानस्वरूपे क्रत्वपूर्वे वा न नियम: सम्भवति।

वेद का अध्ययन केवल उपनीत त्रैवर्णिक ही कर सकता है और 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्' इन शास्त्रीय वचनों से उपनयन संस्कार द्विजातीय त्रैवर्णिकों को ही विहित है। चतुर्थ वर्ण शूद्र के लिये उपनयन संस्कार का विधान नहीं है। उपनयन संस्काररहित होने के कारण उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है, उसी कारण वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का अधिकार शूद्रों को नहीं है। एवञ्च अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों मे द्विजातियों का ही अधिकार है, शूद्रों का नहीं। इस वैदिक कर्माधिकारनियम की निष्पत्ति अध्ययनविधि के आधार पर ही होती है, अन्यथा नहीं यही अध्ययनविधि का प्रयोजन है।

उक्त तथ्य के उपपादनार्थ ही ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र लिख रहे हैं—

तथाहि— असत्यध्ययनविधावग्निहोत्रादिशास्त्राणि विद्वाँसमलभमानान्यविद्वांसमेवाधिकृत्य विद्यामन्तरेणानुष्ठानासम्भवाद्विद्यामाक्षिपन्त्यविशेषाच्चतुरो वर्णानधिकुर्युः। सति त्वध्ययनविधौ त्रैवर्णिकानामेव विदुषामधिकारो भवति न तुरीयादेः।

ग्रन्थकार अब तथाहि कहकर उपपादन कर रहे हैं— वैदिक कर्मानुष्ठान का अधिकार अर्धात वेद वाले त्रैवर्णिको को ही है, अन्य को नहीं। **असति अध्ययनविधौ इति**। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययनविधि के नहीं रहने पर (अभाव में) द्विजातीय त्रैवर्णिकों में से कोई भी जब वेदाध्ययन नहीं करेगा, तब वेदाध्ययन किये हुए (अधीत वेद वाले) विद्वान् की उपलब्धि नहीं हो सकेगी। तब अग्निहोत्रं जुहुयात् आदि वैदिक-कर्मानुष्ठान बोधक वाक्य स्व-प्रतिपाद्य अग्निहोत्रादि कर्मों मे अधीतवेद-विद्वान् के नहीं मिलने से अनधीत वेद वाले व्यक्ति को ही ग्रहण करेगा। उन व्यक्तियों का वेदाध्ययन नहीं होने से उन्हें कर्म के स्वरूप का ज्ञान नहीं होने के कारण वे व्यक्ति कर्मानुष्ठान भी नहीं कर सकेंगे, तब अग्नि-होत्रादि कर्मविधायक वाक्यों से वेदाध्ययनात्मकविद्या का भी आक्षेप (अनुमान) करना पड़ेगा। इस रीति से वेदाध्ययन का आक्षेप (अनुमान) किये जाने पर चारो वर्णों को (ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक को) वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त होगा, एवञ्च वेदाध्ययन में कुतूहल से प्रयुक्त होकर लोगों की प्रवृत्ति होने लगेगी। तब कुतूहल प्रयुक्त हुई वेदाध्ययन विद्या के प्राप्त करने में द्विजातियों का ही नियम नहीं रहेगा। उस स्थिति में वैदिक अग्निहोत्रादिकर्मबोधक वाक्य चारों वर्णो के लिये समझा जायेगा। तब तो अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों मे शूद्र वर्ण को भी अधिकार प्राप्त हो जायेगा।

सति तु अध्ययनविधौ इति। किन्तु अध्ययन विधि के विद्यमान रहने पर उपनयन संस्कार संस्कृत बालकों का ही वेदाध्ययन में अधिकार रहेगा और अधीत वेद वालों को ही वैदिक कर्मानुष्ठान करने का अधिकार होगा। ऐसी स्थिति में उपनयन संस्कार तो द्विजातियों को ही होता है, उसी कारण वैदिक-कर्मानुष्ठान का अधिकार द्विजातियों को

ही है, अन्य को नहीं— यह स्पष्ट हो जाता है। शूद्रादिकों की तुरीय वर्ण (चतुर्थ वर्ण) में गणना है।

ग्रन्थकार ने विद्यामन्तरेण अनुष्ठानाऽसम्भवात् विद्यामाक्षिपन्ति अविशेषात् चतुरो वर्णान् अधिकुर्यु: । इस पङ्क्ति में आक्षिपन्ति पद का प्रयोग किया है। यह पद शतृ-प्रत्ययान्त प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में जस् का रूप है। तिङन्त क्रियावाचक नहीं है।

तथाहि— वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम् इति द्वितीयानिर्देशादुपनयनसंस्कृतास्त्रैवर्णिका: किमस्माभि: कर्त्तव्यम् इत्यपेक्षन्ते तत्सन्निधौ चाऽध्ययनमनिर्दिष्टकर्तृकं विधीयमानं कर्तारमपेक्षते, तत्राऽपेक्षासन्निधियोग्यत्वैरेवं विज्ञायते— त्रैवर्णिकैरेवोपनीतैरक्षर-ग्रहणेनाऽध्ययनादिपरम्परयाऽर्थज्ञानं कर्तव्यमिति। एवं च फलवद-ध्ययनकर्तृभूतमाणवकसंस्कारत्वादुपनयनमध्ययनाङ्गम्, अध्ययनमपि दृष्टार्थज्ञानार्थम्, अर्थज्ञानं त्वनुष्ठानौपयिकत्वात्प्रसिद्धफलकमेवेति सर्वेषां फलवत्त्वम्।

शंका— स्वाऽध्यायोऽध्येतव्य: इस अध्ययनविधि वाक्य में उपनीत हुए त्रैवर्णिकों के अध्ययनाधिकार का श्रवण न हो पाने से शूद्रवर्ण को भी वेदाध्ययनाधिकार का प्रसङ्ग प्राप्त हो सकता है । अत: अग्निहोत्रादि वैदिककर्मों से उनकी निवृत्ति कैसे समझी जा सकेगी ?

समाधान— उपर्युक्त आशंका के समाधान में 'सति तु अध्ययनविधौ त्रैवर्णिकानामेव विदुषामधिकारो भवति, नहि तुरीयादे:' यह कहा गया है, जिसका उपपादन ग्रन्थकार कर रहे हैं— **तथाहि इति** । वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्— इन वाक्यों में ब्राह्मण आदि शब्दों के आगे द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है, इससे समझ में आता है कि ब्राह्मणत्वावच्छिन्न ब्राह्मण में, क्षत्रियत्वावच्छिन्न क्षत्रिय में, वैश्यत्वावच्छिन्न वैश्य में ही उपनयनरूप संस्कारकर्मता प्रतीत होती है। शूद्रत्वावच्छिन्न शूद्र में वह उपनयनरूप संस्कारकर्मता प्रतीत नहीं हो रही है । अत: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य— ये त्रैवर्णिक ही उपनयन संस्कार से संस्कृत किये जाते हैं। संस्कृत किये जाने पर आहूत (बुलाया हुआ) भृत्य (सेवक) जैसे जानना चाहता है कि मुझे क्या करना है? (मया किं कर्तव्यम्?), उसी तरह उपनयन संस्कार से संस्कृत हुए त्रैवर्णिक बालक भी किम् अस्माभि: कर्तव्यम्? हमें अब क्या करना है अर्थात् हमारा उपनयन होने के कारण अब आगे हमें क्या करना है? (हमारा क्या कर्तव्य है?) इस प्रकार स्वकर्तव्य की उन्हें अपेक्षा उत्पन्न होती है। **तत्सन्निधौ चाऽध्ययनमिति**। उपनीतों के लिये किसी प्रकार का कोई कर्तव्य यदि नहीं हो, तो हमारा जो उपनयन संस्कार हुआ है, वह निष्फल (निष्प्रयोजन) ही कहा जायेगा। उपनीत हुए बालकों को किमर्थोऽयं मम संस्कार:? मेरा उपनयन

संस्कार क्यों (किसलिये) किया गया है? यह जानने की इच्छा (जिज्ञासा) अवश्य ही हुआ करती है।

उक्त जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार किया जा रहा है— **तत्सन्निधौ चाऽध्ययनमिति**। अर्थात् वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत आदि वाक्यों से विहित उपनयन के सन्निधि ही स्वाध्यायोऽध्येतव्यः कहकर अनिर्दिष्टकर्तृक अध्ययन का विधान किया गया है। स्वाऽध्यायोऽध्येतव्यः इस विधिवाक्य में यह नहीं कहा गया है कि 'अमुकः, अमुककामो वा अध्ययनं कुर्यात्'। अतः स्वाऽध्यायोऽध्येतव्यः इस विधिवाक्य से विधीयमान जो अध्ययन है, उसे स्व-कर्ता की अपेक्षा रहती है। उसी तरह दग्धाश्व-रथन्याय से उपनीत त्रैवर्णिक बालकों को स्व-कर्तव्य की अपेक्षा रहती है और इधर अध्ययन को स्व-कर्ता की अपेक्षा रहती है। तथा उपनयन वाक्यों के साथ अध्ययनवाक्य की सन्निधि भी है और उपनीत बालकों में अध्ययन करने की योग्यता भी है। इन सभी बातों को देखते हुए दग्धाश्व-रथन्याय के अनुसार अध्ययन और उपनीत बालक दोनों का परस्पर सम्बन्ध कर्मत्व तथा कर्तृत्व रूप से प्रकरण और स्थान इन दो प्रमाणों के द्वारा कर दिया जाता है। तब निष्कर्ष यह निकला कि 'उपनीतैर्द्विजातिभिरेव अक्षरग्रहणलक्षणमध्ययनं कर्तव्यं, तदनन्तरं तैरेव वेदवाक्यानामर्थज्ञानं सम्पादनीयं, वेदवाक्यानि विचारयितव्यानीति यावत्'।

एवं च फलवदिति। जब यह सिद्ध हो गया कि उपनीतैस्त्रैवर्णिकैरेव अध्ययनं कर्तव्यम् अर्थात् उपनयन संस्कार से संस्कृत हुए त्रैवर्णिकों को ही अध्ययन करना चाहिये, तब यह सुस्पष्ट हो जाता है कि अर्थज्ञानरूप दृष्टफलविशिष्ट जो अध्ययन है, वह द्विजातीय माणवक (बालक) का संस्कार ही है, इसलिये जो उपनयन संस्कार है, वह अध्ययन का अङ्ग ही है; क्योंकि उपनयन संस्कार से संस्कृत हुए विना वेदाध्ययन कराना सम्भव नहीं है; क्योंकि उपनयन संस्कार होने पर ही वटु (बालक) वेदाध्ययन के योग्य समझा जाता है। एवञ्च उपनयन वेदाध्ययन के लिये होने से ही उसे (उपनयन को) सफल (फलवान्) माना जाता है तथा अध्ययन भी वाक्यार्थज्ञान के लिये होने से फलवान है। वाक्यार्थज्ञान भी कर्मानुष्ठान के लिये होने से फलवान है अर्थात् निष्फल नहीं है; क्योंकि वाक्यार्थज्ञान के बिना तत्तद् वाक्योक्त कर्मानुष्ठान का होना सम्भव नहीं है। कर्मानुष्ठान का अधिकारी वही समझा जाता है, जो कर्मानुष्ठानप्रतिपादक वाक्यों के अर्थ को जानने में समर्थ हो। एवञ्च उपनयन, अध्ययन, अर्थज्ञान, कर्मानुष्ठान, सभी का सप्रयोजनत्व (फलवत्त्व) सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न— उपनयन के बिना, बालक वेदाध्ययन क्यों नहीं कर सकता? उपनयन के बिना भी अध्ययन तो किया जा सकता है।

उत्तर— नास्तिकों से तो हम बात ही नहीं करना चाहते; क्योंकि नास्तिकों से धर्म का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। हम लोग तो धर्मप्राण भारत राष्ट्र में जन्मे (उत्पन्न हुए) हैं। अतः हमारे रुधिर के कण-कण से धर्म की सुगन्ध महकती रहती है। अतः धर्मप्राण

भारतीयों को यह समझना चाहिये कि उपनयन प्रकरण में पठित अनिर्दिष्टकर्तृक अध्ययन का अधिकारी उपनीत बालक ही है और उपनयन द्विजातियों को ही बताया गया है। अत: वेदाध्ययन का अधिकार द्विजातियों को ही है।

(अध्ययनाधिकारनियमः)

एवं च त्रैवर्णिकेषु विद्वत्सु लब्धेषु नाग्निहोत्रादिविधयश्चतुर्थवर्णस्य विद्यामाक्षिपन्ति, किं तु त्रैवर्णिकानेव विदुषोऽधिकुर्वन्ति। सोऽयमधिकारनियमोऽपशूद्राधिकरणे वक्ष्यमाणोऽध्ययनविधिप्रसादलभ्य इति फलवानेव विधिः। तेनार्थज्ञानावसानमध्ययनमध्ययनविधिना विधीयत इति विचारमन्तरेण तदनुपपत्तेरध्ययनविधिरेव विचारमाक्षिपंस्तद्विरुद्धं स्मार्तं स्नानं बाधत इति सिद्धमध्ययनानन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्तव्येति।

अब उपसंहार कर रहे हैं— **एवञ्चेति**। एवञ्च उक्त रीति से अर्थात् उपनयन होने पर ही द्विज बालकों का वेदाध्ययन आरम्भ होता है और अधीत वेद वाले द्विजाति अर्थात् त्रैवर्णिक को ही वेदवाक्यार्थ विचार करने का अधिकारी माना जाता है। इस रीति से अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों के अनुष्ठानार्थ द्विजाति विद्वान् जब उपलब्ध हो जाते हैं, तो अग्निहोत्रादि कर्म प्रतिपादक वैदिक विधिवाक्यों को वेद-वेदार्थज्ञानशून्य शूद्रों के लिये वेदाध्ययन और तदर्थज्ञान की कल्पना करने का अवसर ही कहाँ मिलेगा? क्योंकि कल्पना करने का कोई कारण ही नहीं है, अपितु वैदिक कर्मबोधक विधिवाक्य स्पष्टतया कह देते हैं कि हमें तो त्रैवर्णिक विद्वान् प्राप्त हो गये हैं, वे ही हमारा अनुष्ठान अच्छी तरह से (यथावत्) करा देंगे। अत: वे ही हमारे अनुष्ठान के अधिकारी हैं।

उपर्युक्त स्थिति यदि नहीं होती तब पूर्वकथनानुसार शूद्र को भी वेदाध्ययनाधिकार प्राप्त हुआ होता। **सोऽयमधिकारनियम इति**। उपनयन संस्कार के पश्चात् वेदाध्ययन किये हुए द्विजातियों को ही (त्रैवर्णिकों को ही) अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का अधिकार होता है, चतुर्थ वर्ण के शूद्रों को वैदिक कर्मानुष्ठान करने का अधिकार नहीं है, यह नियम षष्ठाध्याय के प्रथमपादीय 'चातुर्वर्ण्यमविशेषात्' सूत्र पर साँतवें अपशूद्राधिकरण में वक्ष्यमाण जो त्रैवर्णिकाधिकार नियम है, वह इसी अध्ययनविधि के कारण ही (अर्थापत्त्या) उपलब्ध हुआ है। उसी कारण अर्थात् त्रैवर्णिकों के अधिकार का ही नियत हो जाने से यह अध्ययन विधि फलवान हो पाया है; अन्यथा निष्फल हो जाता अर्थात् अध्ययनविधि निरर्थक नहीं है। उपनयनप्रकरण के सन्निहित रहने वाला यह अध्ययनविधि तथाकथित अधिकारनियम का ज्ञान कराता है। एवञ्च अध्ययनविधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) ही अपने फल के रूप में उक्त अधिकार नियम को व्यक्त कर रहा है। अत: अध्ययनविधि को फलवान ही समझना चाहिये।

उपर्युक्त कथन से निष्कर्ष यह निकला कि अध्ययनविधि के द्वारा वाक्यार्थज्ञानसम्पादन

तक (वाक्यार्थज्ञानावसान तक) अध्ययन का विधान किया जा रहा है। अभिप्राय यह है कि अक्षरग्रहण से लेकर वाक्यार्थज्ञान तक जो व्यापार है, वही अध्ययन पदार्थ है। इसी तथ्य को ग्रन्थकार ने कहा है— 'तेन अर्थज्ञानावसानम् अध्ययनम् अध्ययनविधिना विधीयते'। अतः यह नहीं समझना चाहिये कि वेदाक्षरग्रहणमात्र करने पर ही समावर्त्तन करना लेना चाहिये। अर्थात् वेदाक्षरग्रहण से लेकर वाक्यार्थज्ञानसम्पादन करने तक अध्ययन पदार्थ निश्चित किया गया है; अन्यथा वेदवाक्यार्थज्ञान नहीं हो पायेगा।

वेदवाक्यार्थ विचार के बिना वेदवाक्यार्थ का ज्ञान होना कदापि सम्भव नहीं है। अतः अध्ययनविधि (स्वाऽध्यायोऽध्येतव्यः) ही वाक्यार्थविचार करने के लिये भी बता रहा है। बिना वाक्यार्थ विचार के अध्ययन की पूर्णता नहीं है; क्योंकि अध्ययनविधि स्वयं को सफल बनाने के लिये वेदवाक्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करना भी सूचित कर रहा है। उसी कारण वेदाध्ययन जैसे वैध (विधिप्रयुक्त है) है, वैसे ही वाक्यार्थज्ञान भी उसी अध्ययनविधि से ही प्रयुक्त होने से वह (वाक्यार्थज्ञान) भी वैध ही है।

उसी तरह तद्विरुद्ध अर्थात् वाक्यार्थ-विचार के विरुद्ध जो स्मार्त्त स्नान (अधीत्य स्नायात् इस स्मृतिवाक्य से प्रोक्त होने के कारण जो स्मार्त्त स्नान) है, उसका बाध अध्ययनविधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इत्याकारक विधि) से ही हो जाता है; क्योंकि अक्षरमात्रग्रहण करने के पश्चात् समावर्त्तनरूप स्नान कर लेने पर वाक्यार्थविचार नहीं हो सकेगा। अथवा अधीत्य स्नायात् इस वाक्य का अर्थ ऐसा भी किया जा सकता है कि अध्ययनविधि की अनुकूलता के अनुरोध से वाक्यार्थविचार तक अध्ययन पदार्थ है।

शंका— 'त्रैवर्णिकानामेव अग्निहोत्रादिषु अधिकारः, न तुरीयादेः' अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों में त्रैवर्णिकों का ही अधिकार है, चतुर्थ वर्णवाले शूद्रादिकों को उन वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का अधिकार नहीं है। यह नियम होने के कारण फलवान कहलाने वाला अध्ययनविधि वाक्यार्थज्ञानसम्पादन तक अध्ययन का विधान कैसे कर सकेगा? क्योंकि वाक्यार्थज्ञान के नहीं होने पर भी अध्ययन का स्वरूप तो निष्पन्न हो ही जाता है।

समाधान— किन्तु यह शंका करना उचित नहीं है; क्योंकि वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं रहने पर अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान ही नहीं हो सकेगा, इसीलिये तो वाक्यार्थज्ञान-सम्पादन तक अध्ययन का विधान किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अध्ययन करने के पश्चात् धर्मजिज्ञासा करनी चाहिये। निष्कर्ष यह है कि अध्ययनविधि से ही वाक्यार्थविचार करना अर्थात् ही प्राप्त होता है।

केचित्पुनराचार्यकरणविधिप्रयुक्तत्वमध्ययनस्याङ्गीकृत्य किमाचार्यक-सिद्धिरेवाध्ययनस्य प्रयोजनम्? उतार्थज्ञानम्? इति विचार्य, अन्त-रङ्गत्वादर्थज्ञानमित्याहुः। किं पुनः कारणमाचार्यकरणविधिप्रयुक्तत्वेऽ-ध्ययनस्य? अध्ययनविधेरधिकारिशून्यत्वादाचार्यकरणविधिप्रयुक्त्या चात्मलाभे विश्वजिदादिवत् फलकल्पनानुपपत्तिः। कः पुनराचार्यकरण-

विधि:? कथं वा तेनाऽध्ययनस्य प्रयुक्ति:?

अब यहाँ से ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र अध्ययन के सम्बन्ध में प्रभाकर नामक महान् मीमांसक के विचारों को (मत को) उपस्थित कर रहे हैं— **केचिदिति**। महान् मीमांसक प्रभाकर मिश्र को गुरु शब्द से भी सम्बोधित किया जाता है। एवञ्च प्रभाकरमत को गुरुमत से भी कहा गया है।

प्रभाकर मिश्र का कहना है कि श्री भट्टपाद कुमारिल के कथनानुसार वेदाध्ययन को स्वाध्यायोऽध्येतव्य: इस अध्ययनविधि से प्रयुक्त कहना सम्भव नहीं है। अर्थात् अध्ययन अध्ययनविधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्य:) से प्रयुक्त नहीं है; क्योंकि अध्ययनविधिवाक्य में नियोज्य का (अधिकारी का) अर्थात् अमुककाम: आदि शब्द का श्रवण नहीं हो रहा है। 'नियोज्यं विना विध्यनुपपत्ते' इस विधिवाक्य में नियोज्य (अधिकारी) का श्रवण अवश्य ही होना चाहिये, अन्यथा विधि की अनुपपत्ति कही जाती है अर्थात् असङ्गति कही जाती है।

शंका— नियोग (आज्ञा = विधि) ही नियोज्य (अधिकारी) की कल्पना कर लेगा।

समाधान— नियोग के द्वारा ही नियोज्य की कल्पना किये जाने पर गौरव (दोष) को स्वीकार करना पड़ेगा और अध्ययन को अध्यापन विधिप्रयुक्त मानने में अध्यापन-सिद्ध्यर्थ अध्ययन की प्राप्ति स्वत एव होगी, नियोज्य (अधिकारी) की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं होगी, उसी तरह गौरवदोष भी नहीं हो पायेगा, अपितु लाघव (गुण) ही होगा। अत: आचार्यप्राप्ति (सम्पत्ति) विधायक 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तम-ध्यापयीत' वाक्य से ही अध्ययन की प्राप्ति हो जायेगी। एवञ्च अध्यापनविधिप्रयुक्त ही अध्ययन है— यही कहना उचित है। निष्कर्ष यह है कि भट्टपाद कुमारिल के मतानुसार (विचारानुचार) अध्ययनविधिप्रयुक्त ही अध्ययन है और प्रभाकर मिश्र के मतानुसार अध्यापनविधिप्रयुक्त ही अध्ययन है, यही दोनों में अन्तर है।

शंका— बालक (वटुक) विद्यार्थी के द्वारा किये जाने वाले अध्ययन का फल अध्यापन करनेवाले अध्यापक में (गुरु में) क्या आचार्यत्व की प्राप्ति कराना ही है? क्या अध्यापक में आचार्यत्व प्राप्ति कराना ही अध्ययन का फल है? अथवा वटुक की बुद्धि में उत्पन्न होनेवाले वाक्यार्थज्ञान को भी अध्ययन का फल मानना चाहिये?

समाधान— वाक्यार्थज्ञान के विद्यार्थी से सम्बद्ध होने के कारण उसे अन्तरङ्ग कहना होगा। अन्तरङ्ग होने से वाक्यार्थज्ञान को ही अध्ययन का फल स्वीकार करना चाहिये। इस पक्ष में दोनों का विचार (प्रभाकर तथा भट्टपाद) समान ही है।

ग्रन्थकार ने किमाचार्यकसिद्धिरेवाध्ययनस्य प्रयोजनम्? कहा है। यहाँ पर आचार्यक का अर्थ है— आचार्यत्व। आचार्य शब्द से योपधाद्गुरुपोत्तमाद् वुञ् (पा०सू० ५।१) इस पाणिनि-सूत्र से भाव अर्थ में वुञ् प्रत्यय किया गया है। अर्थज्ञान की अन्तरङ्गता अध्ययन-सामानाधिकरण्य होने से समझनी चाहिये; क्योंकि अध्ययन माणवक (विद्यार्थी

बालक) के द्वारा किया जाता है, उसी माणवक में वाक्यार्थज्ञान भी समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, इसलिये अन्तरङ्ग होने के कारण वाक्यार्थज्ञान ही अध्ययन का फल (प्रयोजन) है; किन्तु आचार्यत्व अध्यापक में उत्पन्न होता है, इसीलिए अर्थात् वैयधिकरण्य (वाक्यार्थज्ञान और आचार्यत्व की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न अधिकरणों में होने से दोनों का वैयधिकरण्य स्पष्ट ही है) होने से आचार्यत्व बहिरङ्ग है। इसलिये आचार्यत्व को अध्ययन का फल नहीं कह सकते।

आचार्यत्व को अध्ययन का फल नहीं मानने में एक अन्य कारण और भी है। अध्ययन तो अध्यापन के बिना होना सम्भव नही है; किन्तु आचार्यत्व अध्यापनानुष्पादि है। अध्यापन करते हुए जिसे देखा जाता है, तो देखनेवाले स्वयं समझ लेते हैं कि यह अध्यापन करने वाला आचार्य है। इसलिये आचार्यत्व अध्यापनानुष्पादि है। अत: आचार्यत्व को अध्ययन का फल कहना उचित नहीं है।

शंका— अध्ययन में जो अध्ययनविधिप्रयुक्तत्व है, वह शब्दशक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। उसका परित्याग करके आप अध्ययन को अध्यापनविधि (आचार्यकरणविधि) से प्रयुक्त कह रहे हैं, उसमें कारण क्या है? अर्थात् क्यों कह रहे हैं? यदि आप यह कहें कि अध्ययनविधिवाक्य में नियोज्य का श्रवण नहीं होने से हम अध्ययन को अध्यापनविधिप्रयुक्त कह रहे हैं तो यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। नियोज्य (अधिकारी) के श्रुत नहीं रहने पर भी अध्ययनविधि स्वसिद्ध्यर्थ विश्वजिन्न्याय से नियोज्य का आक्षेप करके अध्ययन का प्रयोजन बन जायेगा। अत: किसलिये आप अध्ययन को अध्यापनप्रयुक्त कह रहे हैं? अध्यापन प्रयुक्त कहने पर अध्ययन को प्रयोज्य और अध्यापन को प्रयोजक (अनुष्टापक) कहना होगा।

समाधान— 'अध्ययनविधेरधिकारिशून्यत्वादाचार्यकरणविधिप्रयुक्त्या चात्मलाभे विश्वजिदादिवत् फलकल्पनानुपपत्ति:।' अगतिकगति उपस्थित होने पर ही अश्रुत की कल्पना की जाती है। अन्यथा प्रयाज अनुयाजादि विधियों में भी अन्य नियोज्य (अधिकारी) की कल्पना करनी होगी। यहाँ पर तो अध्यापनविधि से ही अध्ययन-नियोग (अध्ययनविधि) को अपने स्वरूप की (विधित्व की) उपलब्धि उपलब्ध रहने से विश्वजिन्न्याय से नियोज्य (अधिकारी) की कल्पना करने की आवश्यक ही नहीं है? इस पर प्रभाकर मीमांसक का कहना है कि अध्यापनविधि से ही अध्ययन-नियोग (अध्ययनविधि) को अपने स्वरूप का लाभ यदि सम्भव हो रहा है तो विश्वजिन्न्याय से नियोज्य की कल्पना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं होगी।

अध्यापननियोग (विधि) के विषय की अध्ययन के बिना अनुपपत्ति (असम्भव) होना सम्भव हो तो, अध्यापनविधि से प्रयुक्त होनेवाले अध्ययन से भी अध्ययन नियोग की सिद्धि हो सकती है। अत: उसके लिये अध्ययनविधि में नियोज्य की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है । अन्यथा विश्वजिन्न्याय से अध्ययन के फल की आकांक्षा होने पर

स्वर्गफल की ही कल्पना करनी होगी। इसी आशय को 'अध्ययनविधेरधिकारिशून्यत्वात्' आदि से कहा गया है। निष्कर्ष यह है कि अध्ययनविधिवाक्य में अधिकारिवाचक पद के नहीं होने से विश्वजिन्न्याय के अनुसार अध्ययन के फलरूप में स्वर्ग की ही कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार अध्ययन को अध्ययनविधि प्रयुक्त मानने में दोष होगा, इसलिये अध्ययन को अध्यापनविधिप्रयुक्त हम (प्रभाकर) मान रहे हैं। अध्यापन तभी हो सकता है, जब कोई आकर अध्ययन करें। अत: अध्यापन ही अध्ययन का आक्षेप (प्राप्ति) करेगा, उसी कारण अध्ययन अध्यापनविधि से ही प्रयुक्त है। एवञ्च पृथक् से अध्ययनविधि को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है, यही लाघव है और अध्ययनवाक्य को विधि के रूप में स्वीकार नहीं करने पर उसके लिये स्वर्गरूप फल की भी कल्पना नहीं करनी पड़ेगी।

प्रश्न— तब अध्ययनवाक्य (स्वाध्यायोऽध्येतव्य:) की क्या गति होगी?

उत्तर— अध्यापनविधि से प्रयुक्त अध्ययन का ही अनुवादक उस स्वाध्यायोऽध्येतव्य: वाक्य को समझ लिया जायेगा। अध्ययनवाक्यानुवाद्य अध्ययन करनेवाले बालक में ही अर्थज्ञानरूप दृष्ट फल उत्पन्न होने से वह अन्तरङ्ग भी है। अध्यापनविधिवाक्य से विहित अध्यापन करनेवाले अध्यापक में ही आचार्यत्व की निष्पत्ति होगी, यही उसकी फलोपलब्धि कहलायेगी। इस रीति से सब कुछ सुव्यवस्थित हो जायेगा। फलकल्पनानुपपत्ति: का अर्थ यह है कि स्वर्गादि अदृष्ट फलकल्पना नहीं करनी पड़ेगी। दृष्ट फल के सम्भव रहते अदृष्ट फलकल्पना करने में गौरवदोष मानना पड़ता है।

प्रश्न— 'क: पुनराचार्यकरणविधि:? कथं वा तेनाऽध्ययनस्य प्रयुक्ति:'? द्वारा प्राभाकरों से भाट्ट-मतानुयायी पूछ रहे हैं कि आचार्यत्वविधायक कौन सा वाक्य है— क: पुनरितीति? कथं वा तेनाऽध्ययनस्य प्रयुक्ति:? अर्थात् आचार्यत्व का विधायक वाक्य रहने पर भी धन के लोभ से किये जानेवाले अविहित किसी भी अध्ययन से अध्यापन की सिद्धि सम्भव हो सकती है, तब अध्ययन में आचार्यत्वोत्पादक अध्यापनविधि प्रयुक्तत्व कैसे सम्भव हो सकेगा? प्रयुक्ति का अर्थ है— अनुष्ठान अथवा आक्षेप।

उच्यते— उपनीय तु य: शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विज: ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ।।

इति स्मृत्यनुमित:। उपनीयाध्यापनेनाचार्यकं कुर्यात् इत्याचार्यकरण-विधि: । अत्र चाध्यापनमाचार्यत्वसाधनम्, उपनयनं तु क्त्वाप्रत्ययात्त-स्यैवाङ्गम् ।

उत्तर— प्रभाकरानुयायी 'उच्यते' कहकर उत्तर दे रहे हैं। आचार्यत्वसम्पादक श्रुति-वचन का अनुमान करानेवाले (आचार्यत्वसम्पादक श्रुतिवाक्य का अनुमापक) स्मृतिवाक्य का उल्लेख भी ग्रन्थकार ने किया है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥

अर्थात् जो विद्वान् व्यक्ति शिष्य का उपनयन कराकर कल्पसूत्र (श्रौतसूत्र तथा धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र को भी) सरहस्य अर्थात् निगम-निरुक्त के सहित वेद को पढ़ाता है, उसे आचार्य कहते हैं।

इस उक्त स्मृतिवाक्य के द्वारा अनुमित हुए आचार्यताकरण विधिवाक्य 'उपनीय अध्यापनेन आचार्यकं कुर्यात्' का उल्लेख ग्रन्थकार ने किया है। उक्त वाक्य में अध्यापनेन आचार्यकं कुर्यात् कहने से यह प्रतीत होता है कि अध्यापन ही आचार्यत्व का अङ्ग है, क्योंकि अध्यापन नहीं करने पर आचार्यत्व की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है तथा उस अध्यापन का अङ्ग उपनयन है, क्योंकि उपनयन के विना माणवक (विद्यार्थी बालक) कर्तृक अध्ययननिरूपित गुरुकर्तृक अध्यापन का होना सम्भव नहीं है। एवञ्च उपनयन और अध्यापन दोनों के अङ्गाङ्गिभाव का बोधक उपनीय पदगत क्त्वा प्रत्यय (क्त्वा प्रत्यय को ही ल्यप् आदेश किया गया है) ही है। जैसे इन्धनमानीय अग्निना पाकं कुरु कहने पर इन्धन में अग्निनिष्पत्ति की अङ्गता (साधनता) ज्ञात होती है, उसी प्रकार प्रस्तुत में उपनयन में भी अध्यापनाङ्गत्व का होना समझना चाहिये।

तच्च केन द्वारेणाध्यापनस्योपकरोतीत्यपेक्षायाम्— उपनेयासत्तिरेवास्य द्वारमङ्गीक्रियते लिङ्गात् । तदुपनेयोऽपि नाऽकिञ्चित्करोऽङ्गमिति तद्-व्यापारापेक्षायामुपनयनं प्रक्रम्य विहितमध्ययनमध्यापनोपकारित्वा-दुपनीतस्य व्यापारत्वेनाध्यवसीयते। तदेवं स्वाङ्गभूतमुपनयनं प्रयुञ्जानोऽ-ध्यापनविधिस्तद्द्वारेणाध्ययनं प्रयुङ्क्ते।

शंका— जो उपकारक होता है, उसे अङ्ग कहा करते हैं— 'उपकारकत्वम् अङ्ग-त्वम्'। उपकारक ही यदि अङ्ग होता है तो प्रस्तुत में उपनयन की प्रतीति अध्यापन के उपकारक रूप से तो नहीं हो रही है, तब उपनयन को अध्यापन का अङ्ग कैसे कहा जायेगा? अर्थात् वह उपनयन किस माध्यम से (द्वार से) अध्यापन का अङ्ग होगा? मूल स्थित 'तत्' शब्द से उपनयन को ही ग्रहण किया गया है।

समाधान— उपनेयासत्तिरेवेति। अर्थात् उपनीत हुए बालक की आसत्ति = उपस्थिति अर्थात् सामीप्य (सान्निध्य) उपनयन में अध्यापनाङ्गत्व तभी समझा जायेगा, जब उपनीत बालक की अध्यापक के समीप उपस्थिति होगी। एवञ्च उपनयन में अध्यापन का अङ्गत्व तभी होगा जब उपनीत बालक की उपनीत की आसत्ति (सन्निधि) होगी, अन्यथा नहीं। इसी कारण उपनीतासत्ति को ही द्वार अर्थात् प्रयोजक माना जायेगा। निष्कर्ष यह हुआ कि 'उपनयन' उपनीतासत्ति द्वारा अध्यापन का अङ्ग माना जाता है। उपनीत हुआ द्विज बालक गुरुगृह में निवास करेगा, तभी गुरु उसे अध्यापन करा पायेगा। अतः

वटुककर्तृक गुरुगृहनिवास को ही उपनेयासत्ति शब्द से कहा गया है। उपनेयासत्ति शब्द का अर्थ है— उपनेय अर्थात् उपनीत की आसत्ति सामीप्य (सान्निध्य)। उपनेयासत्ति का उक्त अर्थ करने में हेतु है— लिंग प्रमाण। लिंग प्रमाण का लक्षण यह है 'सामर्थ्यं सर्वभावानां[1] लिङ्गमित्यभिधीयते' के अनुसार उपनीय पद की शक्ति से अर्थात् उप-समीपे नीत्वा— अर्थ किया जाता है। उपनयनसंस्कार के विना उपनेयासत्ति का होना सम्भव नहीं। अत: निष्कर्ष यह हुआ कि अध्यापन की सम्पादिका हुई उपनेयासत्ति और उपनेयासत्ति का सम्पादक उपनयन ही होगा। अत: उपनेयासत्ति के द्वारा उपनयन में अध्यापनाङ्गत्व प्राप्त हुआ। उपनयन जब अध्यापन का अङ्ग हुआ, तब उपनीत वटु में भी अध्यापनाङ्गत्व अर्थात् प्राप्त हुआ। **तदुपनेयोऽपीति**। वह उपनेय भी अर्थात् उपनीत वटु भी अध्यापन का अङ्ग माना गया। जैसे— व्रीहीन् अवहन्ति में अवहनन (अवघात) व्रीहि का संस्कारक होने से उसमें अवहनन (अवघात) व्रीहिनिरूपित अङ्गत्व माना जाता है। अर्थात् अवहनन (अवघात) व्रीहि का अङ्ग है। उसी तरह व्रीहि पुरोडाश के सम्पादक (निष्पादक) होने से वे (व्रीहि) पुरोडाश के अङ्ग कहलाते हैं।

उसी तरह उपनीत वटु में जो अङ्गत्व होगा, वह तभी हो पायेगा, जब उपनीत वटु स्वयं कुछ व्यापार करेगा, अन्यथा नहीं; क्योंकि 'किञ्चिद् व्यापारं कुर्वत एव अङ्गत्वं सम्भवति' यदि अङ्ग बनना है तो कुछ व्यापार (काम) करना ही पड़ेगा। जैसे— राजसेवक तभी कहलाता है, तब वह राजा का कुछ काम करता रहता है, अन्यथा नहीं। राजा का काम करने पर ही वह काम करनेवाला राजा का अङ्ग (सेवक) कहलाता है। अर्थात् अकुर्वतोऽपि नाङ्गत्वम्। अङ्गत्व प्राप्ति के लिये तो कुछ काम करना ही पड़ेगा। अत: जिज्ञासा होती है कि उपनीत वटु को भी स्वयं में अध्यापनाङ्गत्व प्राप्ति के लिये कौन सा काम (व्यापार) करना होगा?

ऐसी जिज्ञासा होने पर— तद्व्यापारापेक्षायामुपनयनमिति। उपनयनप्रकरण में विहित अध्ययन ही उस उपनीत बटु के लिये समुचित व्यापार (काम = कर्तव्य) है; क्योंकि वही तो एकमात्र अध्यापन का उपकारक है। एवञ्च उपनयन के विना अध्यापन का होना सम्भव नहीं है; इसलिये अध्यापनविधि से उपनयन का आक्षेप किया जाता है और उपनयन से अध्ययन का आक्षेप (प्राप्ति) किया जाता है। अत: अध्यापनविधि से आक्षिप्त अध्ययन का ही स्वाध्यायोऽध्येतव्य: वाक्य अनुवादक ही है। उसे अप्राप्त अध्ययन का विधायक कहना उचित नहीं है।

निष्कर्ष यह निकला कि आचार्यत्व की प्राप्ति होने के लिये अध्यापककृत अध्यापन की अपेक्षा और अध्यापन की प्राप्ति के लिये छात्रकर्तृक अध्ययन की अपेक्षा रहती है तथा अध्ययन के लिये छात्रकर्तृक गुरुगृहवास की अपेक्षा रहती है। गुरुगृहवास के लिये

---

१. सर्वशब्दानामिति पाठान्तरम्।

छात्र के उपनयन की अपेक्षा और उपनयन उपनीत वटु से सम्बद्ध है, उसी कारण उपनयन द्वारा उपनीत हुए वटु को अध्यापन का अङ्ग माना गया है। उपनयन द्वारा उपनीत में जो अध्यापनाङ्गत्व प्राप्त हुआ है, वह उपनीत के अध्ययन व्यापार के विना सम्भव नहीं है। अतः परम्परया अध्यापनविधि ही अध्ययन को अपने वशंगत करके उसे (अध्ययन को) प्रयुक्त करता है। एवञ्च अध्ययन को अध्यापनविधि से ही प्रयुक्त मानना उचित है।

प्रभाकरानुयायियों का कहना है कि 'उपनीय तु यः शिष्यम्' इस उक्ति के द्वारा यह बताया गया है कि क्त्वाप्रत्यय से उपनयन में अध्यापन-समानकर्तृकता प्रतीत हो रही है। समानकर्तृकता का होना- एक प्रयोगता के बिना सम्भव नहीं है और अङ्गांगिभाव के विना एकप्रयोगता का होना सम्भव नहीं है। अतः आचार्यत्व की भावना में करणीभूत (साधनभूत) अध्यापन के प्रति वह उपनयन अङ्ग होकर रहता है। एवञ्च अष्टवर्षं ब्राह्मण-मुपनयीत यह नियम उपनयन के आश्रित रहता है। उपनयन भी स्वभावतः उपनेयासत्ति का प्रयोजक है। इस कारण उपनेयासत्ति के द्वारा ही उपनयन में अध्यापनाङ्गत्व प्रतीत होता है। अध्यापन में उपयोगिनी उपनेयासत्ति है। उसी कारण उपनेय वटु को जब कर्तव्य की अपेक्षा हुई, तब उपनयन प्रकरण में स्वाध्यायोऽध्येतव्यः विधिवाक्य से विधीयमान अध्ययन ही उपनेय बटु का कर्तव्य कर्म है— यह अवगत होता है। एवञ्च अध्ययना-ध्यापनोपयोगी है— यह स्पष्ट हो जाता है। उसी कारण अध्ययन करनेवाले बालक का उपनयन अध्यापन का अङ्ग है, यह स्वीकार करना ही होगा। इसलिये अध्यापनविधि अपने अङ्गभूत अध्ययन का अनुष्ठापक होता है, अन्यथा उपनयन की अनुपत्ति होगी। इसलिये वह अध्ययन का भी प्रयोजक हो जाता है। एवञ्च तत्प्रयुक्त अध्ययन की निष्पत्ति हो जाने से अध्ययन नियोग (विधि) सफल हो जाता है। उसी कारण उसे अधिकारान्तर की अपेक्षा नहीं रहती। इसलिये यह विधि विश्वजिन्न्याय का विषय नहीं है और न रात्रि-सत्रन्याय का ही विषय है।

तदिदमनुपपन्नम् । तथाहि— नियोगार्थस्याध्ययनस्याचार्यकप्रयोजनता अर्थज्ञानप्रयोजनता वा न शक्यते शास्त्रेण बोधयितुं साध्यद्वयस्यैक-त्रासम्भवात् । नियोगार्थतैव शास्त्रेण बोध्यते। अर्थज्ञानार्थतायां त्वनुज्ञा-मात्रमिति चेत्? तथाप्यर्थद्वयं स्यादेव।

ग्रन्थकार ने केचित् कहकर प्रभाकर मत का जो उपन्यास किया था, उसका खण्डन अब कर रहे हैं— **तदिदमनुपपन्नमिति**। उक्त प्रभाकरमत उचित नहीं है। 'तथाहि' कहकर उसी को बता रहे हैं। प्रभाकर ने जो सन्देह व्यक्त किया था कि अध्ययन का प्रयोजन (फल) क्या आचार्यक (आचार्यत्व) सिद्धि ही है या अर्थज्ञान भी है? इस प्रकार से अभिव्यक्त किया हुआ सन्देह ही अनुपपन्न है, तदनन्तर उसके द्वारा किया गया

सिद्धान्त भी अनुपपन्न (ठीक नहीं) है। इसी आशय को ग्रन्थकार कह रहे हैं।

नियोगार्थस्येति। प्रभाकर पूर्वपक्ष करते हुए अध्ययन को अपूर्वोत्पादक कह रहा है— 'नियोगार्थस्य अध्ययनस्य' अर्थात् अपूर्वोत्पादक के रूप में स्वीकृत अध्ययन को अपूर्व का साधक कहता है तथा आचार्यत्व को भी साधक कहकर उसे द्वय = उभय का साधक कह रहा है, उसी तरह सिद्धान्त में भी अध्ययन को अपूर्वसाधक और अर्थ-ज्ञानसाधक कहकर उभयसाधकत्व अध्ययन में बता रहा है; किन्तु 'शास्त्रेण एकत्र' अर्थात् एक साधन को साध्यद्वयसाधकत्व (दो साध्यों का साधकत्व) का बोधन एक शास्त्र (एक विधिवाक्य) से नहीं किया जा सकता; क्योंकि 'एकस्य साधनस्य एककार्य-करत्वम्' यह नियम है अर्थात् एक साधन से एक ही कार्य किया जाता है, अन्यथा वाक्यभेद का प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

प्रभाकर ने अध्ययन को अपूर्वार्थ (अपूर्वोत्पादक) माना है। यथा— 'नहि लिङादि-युक्तवाक्येषु भावना, भाव्यान्तरमपेक्षते, अपूर्वस्य भाव्यस्य स्वशब्देन अभिहितत्वात्' इति। किन्तु लोकव्यवहार में देखा जाता है कि एक साधन से भी दो कार्य (दो साध्य) सम्पन्न किये (साधे) जाते हैं। जैसे— जलाई गई एक ही अग्नि से पाचन और प्रकाशन रूप दो कार्य किये जाते हैं, तथापि इसे शास्त्रीय मर्यादा नहीं कहा जा सकता।

दूसरा कारण यह भी है कि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराऽभावात्' इस शास्त्रीय नियम से अध्ययन का एक प्रयोजनकत्व बता देने पर (बोधित कर देने पर) पुनः प्रयो-जनान्तरसाधकताविषयक- बोधनानुकूलव्यापार की सम्भावना नहीं की जाती। अर्थात् एक क्रिया से एक ही फल होता है। तब प्रभाकर कहता है— यदि हम एक ही वाक्य को साध्यद्वय (दो साध्यों) का साधक कहें तो उसे दोष कहा जा सकेगा; किन्तु हम ऐसा नहीं कह रहे हैं, हम तो केवल अपूर्वमात्र साधकता बोधकत्व को अध्ययन में मान रहे हैं। इसी आशय को ग्रन्थकार ने कहा है— 'नियोगार्थतैव शास्त्रेण बोध्यते, अर्थज्ञानार्थ-तायां तु अनुज्ञामात्रम् इति चेत्? तथापि अर्थद्वयं स्यादेव'। अतएव अध्ययन अपूर्वार्थ ही है, किन्तु वह अपूर्वार्थता किसी प्रमाण से प्राप्त नहीं है, अर्थात् सर्वथैव अप्राप्त है। अतः उसकी अपूर्वार्थता को ही शास्त्र के द्वारा बताया जा रहा है। अध्ययन की अर्थज्ञानार्थता को शास्त्र नहीं बतला रहा है, उसे तो लोकव्यवहार में प्रत्यक्ष से जान लेते हैं। शास्त्र के द्वारा तो अध्ययन की अपूर्वार्थता ही बताई जा रही है। अध्ययन की अर्थज्ञानार्थता में तो शास्त्र की अनुज्ञामात्र है अर्थात् वह केवल समर्थन मात्र कर देता है। अतः कोई दोष नहीं है। प्रभाकरोक्त कथन का पुनः खण्डन करते हैं— **तथापि अर्थद्वयं स्यादेव**। अध्ययन की अर्थज्ञानार्थता में भले ही अनुज्ञामात्र आप समझें, तथापि अध्ययन को अपूर्वार्थ और अर्थज्ञानार्थ तो मानना ही होगा, तब उभयसाधकत्व तो अध्ययन में हो ही जायेगा। मूलगत 'अर्थद्वयम्' का अर्थ दो प्रयोजन (दो फल) अर्थात् फलद्वय है अथवा

यह भी कह सकते हैं कि एक अनुज्ञार्थ और एक विध्यर्थ हैं। इस प्रकार दो प्रयोजनों के लिये अध्ययन है।

किञ्चैवं सकृदुच्चरितस्य लिङ्प्रत्ययस्य विध्यर्थत्वमनुज्ञार्थत्वं चेति वैरूप्यमपि स्यात् तेन संशय एवानुपपन्नः। तथा सिद्धान्तोऽप्यनुपपन्न एव— प्रमाणान्तरसिद्धत्वादर्थज्ञानार्थत्वं न शास्त्रगोचरतामनुभवतीति।

शंका— यद्यपि अध्ययन में अपूर्वार्थत्व और अर्थज्ञानार्थत्व अर्थात् उभयसाधकत्व है, तथापि विधिशास्त्र की अर्थज्ञानार्थता में तो केवल अनुज्ञामात्र को ही स्वीकार किया गया है। अतः साध्यद्वयसाधकताबोधकत्वरूप दोष का परिहार तो हो ही गया है। इसी अभिप्राय को दृष्टिगत करके दोषान्तर दे रहे हैं— **किञ्चैवमिति**। इस रीति से लिङ्-प्रत्यय अर्थात् विधिप्रत्यय का (विधायक प्रत्यय का) अपूर्व के प्रति विध्यर्थत्व (विधायकत्व) है और अर्थज्ञान के प्रति अनुज्ञार्थत्व (अनुज्ञापकत्व) हैं; क्योंकि अध्ययन-विधिवाक्य (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) में तव्य प्रत्यय सुनाई दे रहा है।

एक ही बार उच्चरित लिङ् प्रत्यय में विध्यर्थत्व (अपूर्व के प्रति विधायकत्व) और अर्थज्ञान के प्रति अनुज्ञार्थत्व (अनुज्ञापकत्व) भी है । सकृत् उच्चरित एक ही लिङ् प्रत्यय में विधायकत्व (विधायकता) और अनुज्ञापकत्व (अनुज्ञापकता) रहने से विरुद्धरूपता हो रही है। अर्थात् दोनों रूपों का सामानाधिकरण्य नहीं हो सकने से वाक्यभेद दोष का प्रसङ्ग प्राप्त हो रहा है।

तेन संशय इति। इस तरह 'अध्ययनस्य आचार्यतासिद्धिः प्रयोजनम् उत अर्थ-ज्ञानम्' यह संशय ही उपपन्न नहीं हो रहा है; क्योंकि प्रभाकर के मतानुसार आचार्यत्व और अर्थज्ञान— ये दोनों ही अध्ययन के फल नही हो सकते; क्योंकि अध्ययन तो अपूर्वार्थ (अपूर्वोत्पत्ति के लिये) है। अतः प्रभाकर का प्रदर्शित पूर्वपक्ष सर्वथैव अनुपपन्न है, उसी तरह उसका किया हुआ सिद्धान्त भी सर्वथा अनुपपन्न है। शास्त्र (विधि) से तो अन्य प्रमाणों से अज्ञात पदार्थ का ही ज्ञान कराया जाता है; क्योंकि प्राप्त (ज्ञात) पदार्थ का पुनः ज्ञान कराने पर तो उसे अनुवादक कहना होगा। तब अनुवादकत्वरूप अप्रामाण्य की प्रसक्ति होने लगेगी। अध्ययन की अर्थज्ञानार्थता तो अन्वय-व्यतिरेक से ही लोग समझ लेते हैं। अतः उसे बताने के लिये शास्त्र (विधि) की आवश्यकता नहीं है।

इस पर प्रभाकर (प्रभाकरानुयायी) भाट्टों (कुमारिल भट्ट के अनुयायियों) से प्रश्न करते हैं कि तुमने (भाट्टों ने) भी तो अध्ययन को प्रमाणान्तरसिद्ध अर्थज्ञानार्थ ही माना है, तब हम प्राभाकरों को ही क्यों सुना रहे हो कि अध्ययन की अर्थज्ञानार्थता प्रमाणान्तर से ज्ञात होने के कारण अनुपपन्न है, अर्थात् अध्ययन को अर्थज्ञानार्थ कहना सम्भव नहीं है । यह कहकर हमारे ऊपर ही उपालम्भ क्यों कर रहे हो?

भाट्ट— हमारे पक्ष में अध्ययनविधि पूर्वोक्त नियम के लिये है, उसी कारण

अध्ययनविधि को व्यर्थ (निरर्थक) नहीं कहा जायेगा; किन्तु प्राभाकरों के पक्ष में अध्ययनविधि को नियमार्थ नहीं मानने के कारण और अध्ययन की अर्थज्ञानार्थता सभी लोगो को ज्ञात होने से उसे बताते रहना व्यर्थ ही है और अध्ययन विधि को नियमार्थ मानने मे तुम्हारे (प्राभाकरों के) सिद्धान्त की हानि (भङ्ग) हो जायेगी अर्थात् तुम्हें अपने सिद्धान्त को छोड़कर हम भाट्टों के सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ेगा। इसी अभिप्राय से प्रभाकर के मत में दोषों का उद्‌घाटन निम्न प्रकार से कर रहे हैं—

तत्र यदेवास्मदभिप्रेतं विधेर्नियमार्थत्वं महता प्रयत्नेन भवद्भिर्दूषितं तदेव भवद्भिरपि मुक्तलज्जैरनन्यगतिकत्वादाश्रयणीयमापन्नम्। नियमानङ्गीकारे च पूर्वपक्ष एव श्रेयानापद्यते। आचार्यत्वस्यादृष्टत्वेन प्रयोजनतोपपत्तेः। अर्थज्ञानार्थत्वे चाध्ययनं स्वाध्यायसंस्कारो नियोगार्थत्वे तु प्रधानकर्मेति वैरूप्यमपि स्यात्।

अर्थाज्जातमर्थज्ञानं प्रयोजनं न शास्त्रत इति चेत्? आचार्यत्वमपि प्रयोजनं न स्यात् तस्याप्यर्थाज्जातत्वात्। स्मृतिबाधेन च स्नानोत्कर्षो न स्यादशास्त्रस्वीकृतत्वाद्विचारस्य।

भाट्ट कह रहे हैं कि अध्ययनविधि को नियमार्थ सिद्ध करने में हमें महान् प्रयत्न करना पड़ा है; क्योंकि प्राभाकरों ने अनेकानेक विघ्न उपस्थित कर दिये थे, जिनको दूर करने में महान् परिश्रम हमलोगों ने किया है। प्राभाकर कह रहे थे कि 'उपनीय तु यः शिष्यम्' इस स्मृतिवचन से अनुमित किये गये उपनीय अध्यापनेन आचार्यकं कुर्यात् इस श्रुति वाक्य के द्वारा अध्यापनविधिवाक्य की कल्पना करेंगे और श्रुत जो अध्ययनविधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) है, उसके विधित्व का निराकरण करके अध्ययन का अर्थज्ञानलक्षण (अर्थज्ञानरूप) दृष्टप्रयोजनता की कल्पना करके अध्ययनविधि की नियमार्थता का परिहार (खण्डन) करेंगे। तदनुसार आपने (प्राभाकरों ने) किया भी था। उसी को पुनः स्वीकार करने के लिये आप अब उद्यत हो रहे हैं अर्थात् स्वयं खण्डित किये हुए पक्ष को ही पुनः मानने को आप उद्यत हो रहे हैं; क्योंकि अपने को बचाने के लिये आपके पास कोई अन्य उपाय ही नहीं है। अतः अब आप लज्जा का परित्याग कर अर्थात् निर्लज्ज होकर अगतिकगति (निरूपाय) हो गये हैं। अतः आपके द्वारा जो दृष्टार्थत्व सिद्ध किया है, उसे शास्त्र का (विधि का) विषय तो कह नहीं सकते; क्योंकि वह तो लोकव्यवहार से ही सिद्ध हो रहा है, इन सभी बातों को हम पूर्व प्रसङ्गों में जहाँ-तहाँ बता चुके हैं।

प्राभाकर हमारे (सिद्धान्त) पक्ष को स्वीकार तो कर नहीं सकते, अर्थात् अध्ययनविधि को वे नियमार्थ कह नहीं सकते। अध्ययनविधि को नियमविधि के रूप में नहीं मानने पर आपने (प्राभाकरों ने) जो पूर्वपक्ष किया है, वही आपके लिये (प्राभाकरों के लिये) श्रेयस्कर है। उनके लिये पूर्वपक्ष को ही श्रेयस्कर कहने में कारण यह है कि 'आचार्य-

त्वस्य अदृष्टत्वेन प्रयोजनतोपपत्तेः'। प्राभाकरों ने कहा भी है— 'आचार्यत्वमलौकिकमाहवनीयत्वादिवत्'। प्राभाकरों ने जो यह कहा है कि 'नियोगार्थतैव शास्त्रेण बोध्यते अर्थज्ञानार्थतायान्तु अनुज्ञामात्रम्' इस पर सिंहावलोकन-न्याय से अन्य दूषण भी दे रहे हैं— 'अर्थज्ञानार्थत्वे च अध्ययनं, स्वाध्यायसंस्कारो, नियोगार्थत्वे तु प्रधानकर्म इति वैरूप्यमपि स्यात्'।

जो अध्ययन है, वही अर्थज्ञानार्थ है। इस तथ्य को तो प्राभाकर भी स्वीकार करते हैं। अर्थज्ञानार्थ जो अध्ययन है, वह स्वाध्याय का संस्कारक है। संस्कारस्वरूप होने से उस अध्ययन में गौणकर्मत्व भी प्राप्त है और वही अध्ययन नियोगार्थ होने से प्रधानकर्म भी है। अर्थात् एक ही अध्ययन में गौणकर्मत्व और प्रधानकर्मत्व दोनों के रहने से वैरूप्य भी है; क्योंकि जो गौण होता है, उसे प्रधान नहीं कहा जाता और जो प्रधान होता है, उसे गौण नहीं कहा जाता। अपूर्वोत्पादक कर्म को प्रधान शब्द से कहा जाता है। अध्ययन संस्कार स्वाध्याय स्वरूप वेदों से कर्म का अनुष्ठान करना चाहिये। अध्ययन ही वेदों का संस्कार है। अतः वेदों का अध्ययन से संस्कार करते रहना चाहिये— 'वेदान् अध्ययनेन संस्कुर्यात्'। तथाच अर्थज्ञान के लिये किया जाने वाला अध्ययन भी स्वाध्याय का संस्कार ही है; क्योंकि काव्य-कोश-व्याकरणादि के अध्ययन द्वारा व्युत्पन्न हुए व्यक्ति के लिये लिखित पाठादि के द्वारा भी अर्थज्ञान हो सकता है। अतः अर्थज्ञान के उपाय (साधन) स्वरूप लिखित पाठ आदि को त्याग कर अर्थज्ञान के उपाय (साधन) के रूप में उपादीयमान (स्वीक्रियमाण) अध्ययन को स्वाध्याय का संस्कार ही समझना चाहिये।

शंका— शास्त्र (विधिवाक्य) तो अध्ययन को नियोगार्थ ही (अपूर्वार्थ ही) बताता है। विधिवाक्य (शास्त्र) से अध्ययन की अर्थज्ञानार्थता का बोध नहीं होता, जिससे उक्त वैरूप्य की सम्भावना की जा सके। यदि विधिवाक्य दोनों को बता दे तो वैरूप्य कहा जा सकेगा। अध्ययन का प्रयोजन अर्थज्ञान है, घर को प्रकाशित करने के लिये छत पर रखे गये दीपक का प्रकाश जिस तरह सड़क, गली आदि मार्ग को भी प्रकाशित करता है, वैसे ही अध्ययन से अर्थज्ञानरूप फल का होना आर्थिक ही समझना चाहिये। वह कोई विधि (शास्त्र) का व्यापार नहीं है। अतः अध्ययन में स्वाध्यायसंस्कारत्व और प्रधानकर्मत्व दोनों को प्रदर्शित कर वैरूप्य को बताना उचित नहीं है। अध्ययन तो नियोगार्थ (अपूर्वार्थ) होने से उसे प्रधानकर्म ही कहना होगा। इसी आशय से ग्रन्थकार कह रहे हैं— **अर्थाज्जातमिति**। नियोग के लिये (अपूर्वोत्पत्ति के लिये) किया गया जो अध्ययन उसके बल पर जो उत्पन्न हुआ हो, उसका यह अभिप्राय है। एवञ्च अध्ययन के अनन्तर होनेवाला जो अर्थज्ञान है, वह तो अर्थात् उत्पन्न हुआ (अनुनिष्पादि) है, यह अभिप्राय यदि आपका हो तो आचार्यत्व भी प्रयोजन की कोटि में नहीं आ पायेगा; क्योंकि वह भी अनुनिष्पादि (अर्थात् उत्पन्न हुआ) है। अभिप्राय यह है कि यदि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यहाँ पर भी अपूर्व ही शास्त्रीय (वैध) प्रयोजन है और अर्थज्ञान आर्थिक

(अनुनिष्पादि) प्रयोजन है, तब 'उपनीय तु यः शिष्यम्, उपनीय अध्यापनेन आचार्यकं (आचार्यत्वं) कुर्यात्' यहाँ पर भी अपूर्व को ही शास्त्रीय (वैध) प्रयोजन कहना होगा, आचार्यक = आचार्यत्व भी शास्त्रीय (वैध) प्रयोजन नहीं हो पायेगा; क्योंकि आचार्यत्व भी आर्थिक (अनुनिष्पादि) ही है। जैसे अध्ययन करने से अर्थज्ञान, अर्थात् ही हो जाता है, तथैव अध्यापन करने पर आचार्यत्व को भी प्रयोजन कोटि में नहीं रख सकते।

यदि आचार्यत्व को शास्त्र = विधि के बल पर प्रयोजन की कोटि में रख सकते है, तो यहाँ पर भी अर्थज्ञानरूप प्रयोजन की उपलब्धि शास्त्र (विधि) से ही हो रही है। तथाच प्रधानकर्मत्व और अप्रधानकर्मत्वरूप वैरूप्य एक में ही उपलब्ध हो रहा है, यह स्वीकार करना ही होगा; अर्थात् वैरूप्यापत्तिदोष को गले में लटकाना ही होगा। उससे छुटकारा नहीं मिल सकेगा।

दूसरा दोष भी प्राप्त होगा। यदि अर्थज्ञान को आप आर्थिक प्रयोजन ही मानेंगे तो अर्थज्ञान को आप शास्त्र (विधि) व्यापार का विषय नहीं कह सकेंगे, तब धर्मविचार (वेदार्थविचार) को अशास्त्रीयत्व (अवैधत्व) प्राप्त होगा। उस स्थिति में अधीत्य स्नायात् स्मृति का बाध नहीं हो सकेगा; क्योंकि लौकिक अर्थात् प्राप्त विचार से स्मृतिवचन का बाध होना सम्भव नहीं है, तब स्नान (समावर्त्तन) का उत्कर्ष (आगे बढ़ाना) भी नहीं कर सकेंगे; अर्थात् धर्मविचार के अनन्तर (पश्चात्) स्नान (समावर्त्तन) करना भी नहीं बन सकेगा; किन्तु धर्म विचार (वेदार्थ-विचार) से पूर्व ही अक्षरमात्र ग्रहणानन्तर ही उसे करना पड़ेगा। उसका परिणाम यह होगा कि वेदार्थविचाररूप धर्म का बाध (निवृत्ति) होगा, तब वेदार्थविचार (धर्मविचार) नहीं हो पाने से कर्म के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पायेगा। कर्मस्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाने से कर्म का अनुष्ठान भी नहीं हो सकेगा। इस रीति से सभी कुछ उलट-पलट (व्याकुल) हो जायेगा। एवञ्च स्नानस्मृति का बाध होने से स्नान का उत्कर्ष नहीं होगा अर्थात् धर्मविचार अशास्त्रीय होने से उसे भी आगे नहीं बढ़ाया जा सकेगा।

हमारे भाट्टमत में केवल अक्षरग्रहण करने मात्र से अध्ययन की सम्पन्नता नहीं मानी जाती, किन्तु अक्षरग्रहणपूर्वक अर्थज्ञानपर्यन्त अध्ययन पदार्थ स्वीकृत किया गया है। इसलिये अक्षरग्रहणमात्र करने के पश्चात् स्नान = समावर्त्तन नहीं किया जाता; किन्तु अर्थज्ञानलक्षण धर्मविचार के अनन्तर ही समावर्त्तन किया जाता है। अतः हमारे (भाट्ट) मत में धर्मविचार का बाध होने का अवसर ही नहीं है।

(अध्ययनविधौ नियोज्यकल्पना)

किञ्च— नियोज्यः कल्पनीयोऽत्र विध्यर्थानुपपत्तितः ।
न चोपनयनस्याङ्गभावोऽस्त्यध्यापनम्प्रति ।।
द्वितीयाश्रुतिसामर्थ्यात् सा माणवकसंस्क्रिया ।
तथा सत्यन्तरङ्गत्वादङ्गमध्ययनस्य तत् ।।

यत्तावत् नियोज्याभावात् अप्रयोजकत्वम् अध्ययनविधेः इति, तत् अयुक्तम्, अभावासिद्धेः। अश्रुतस्यापि विश्वजिदादिवत् कल्पनात्।

'किञ्च' से प्राभाकरोक्त अन्य कथन का भी उत्तर दे रहे हैं। अध्ययनविधिवाक्य में नियोज्य (अध्ययन करने का अधिकारी) का श्रवण नहीं हो रहा है, उसी कारण अध्ययन-विधिवाक्य (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः), अध्ययन का प्रयोजक (अनुष्ठापक) नहीं हो सकता। यह पहिले कह चुके हैं (प्रभाकर कह चुके हैं। इस प्राभाकरोक्त कथन का उत्तर भाट्टा-नुयायी (भाट्टसम्प्रदायानुयायी शिष्य-प्रशिष्यवर्ग) दे रहे हैं— **नियोज्यः कल्पनीयोऽत्र इति**। अत्र = अध्ययनविधिवाक्य (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) में नियोज्य (अधिकारी) की कल्पना (अनुमान) करनी चाहिये। अन्यथा विध्यर्थाऽनुपपत्तितः विध्यर्थ की अर्थात् अध्ययन विधान की अनुपपत्ति (सङ्गति नहीं हो पायेगी) अर्थात् व्यर्थता (निरर्थकता) होने लगेगी। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः वाक्य को सुनने पर आकांक्षा जागृत होती है कि केन अध्येतव्यः? जैसे पाकः कर्तव्यः सुनने पर केन कर्तव्यः? यह आकांक्षा श्रोता को होती है, एवञ्च केन अध्येतव्यः? यह प्रश्न उठते ही मन (बुद्धि) में उपस्थित होनेवाला कल्प्यमान नियोज्य (अधिकारी) उपनीत (उपनयन संस्कार से संस्कृत हुआ) द्विजातीय (त्रैवर्णिक) वटु = बालक ही होगा। सा = उपनीतिः = उपनयन, तस्य = उस वटु = बालक की संस्क्रिया = संस्कार ही है। क्यों? द्वितीयाश्रुतिसामर्थ्यात् वसन्ते ब्राह्मणमुप-नयीत इस वाक्य में ब्राह्मणशब्दोत्तर द्वितीया श्रुति से उपनयनेन ब्राह्मणं संस्कुर्यात् अर्थ की प्रतीति होती है। माणवक (बालक) का संस्कारस्वरूप उपनयन माणवककर्तृक अध्ययन का ही अङ्ग होने योग्य है; क्योंकि अध्ययन भी बटुकगामी ही है, उसी कारण तत् = वह उपनयन अध्ययन का ही अङ्ग है।

शंका— उपर्युक्त भाट्टकथन के विपरित प्राभाकर उपनयन को अध्यापन का अङ्ग सिद्ध कर रहे हैं। 'तम् अध्यापयीत'— यह अध्यापनविधि अपने अङ्गभूत उपनयन का आक्षेप (प्राप्ति) बताकर उसके द्वारा (माध्यम से) वही (अध्यापनविधि) अध्ययन का प्रयोजक (अनुष्ठापक) हो जायेगा, उसी कारण अध्ययनविधिवाक्य में (स्वाध्यायोऽध्ये-तव्यः में) नियोज्य (अधिकारी) की कल्पना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। एवञ्च अध्ययनविधिवाक्य में नियोज्य (अध्ययनेच्छु अधिकारी) का श्रवण नहीं होने से वह अध्ययनविधिवाक्य (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) अध्ययन का प्रयोजक (अनुष्ठापक) न होकर अध्ययनविधि ही अध्ययन का प्रयोजक है। अतः अध्ययन को अध्यापनविधि से ही प्रयुक्त मानना चाहिये।

समाधान— अध्यापन आचार्यवृत्ति है, जो आचार्य उपनयन संस्कार से सम्बन्धित वटु (बालक) से पृथक् (भिन्न) है। अतः अध्यापन आचार्यवृत्ति (आचार्यनिष्ठ) रहने से बहिरङ्ग है। अतः उपनयन को अध्यापन का अङ्ग नहीं कह सकते। उपनयन में **अध्या-पनाङ्गत्व** नहीं होने से उपनयन के द्वारा अध्यापनविधि को अध्ययन का प्रयोजक

(अनुष्ठापक) मानकर अध्ययनविधि में नियोज्य की कल्पना नहीं की जा सकेगी। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार कह रहे हैं— 'न च्योपनयनस्याङ्गभावोस्त्यध्यापनम्प्रति। तथासत्यन्तरङ्गत्वादिति'। तथासति अर्थात् उपनयन में माणवकसंस्कारकत्व सिद्ध हो जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनयन अध्ययन का अङ्ग है।

उपुर्यक्त दो पद्यों के द्वारा संक्षेप से कहे गये अर्थ को ही विशद करते हुए प्रथमार्थ की व्याख्या ग्रन्थकार स्वयं ही कर रहे हैं— **यत्तावदिति।** स्वाध्यायोऽध्येतव्य: यह अध्ययनविधिवाक्य है। इस वाक्य में अधिकारबोधक कोई नहीं होने से अध्ययनविधिवाक्य को अप्रयोजक (अविधायक) कहा गया है, जो अनुचित है; क्योंकि नियोज्य (अधिकारी) का अभाव नही है।

प्रश्न— यदि अधिकारी का अभाव नहीं है, तो वह सुनाई क्यों नहीं देता? यदि अधिकारी होता तो अवश्य सुनाई देता। एवञ्च अश्रुत होने से यही प्रतीत होता है कि कोई अधिकारी नहीं है।

उत्तर— **अश्रुतस्यापीति**। जिस प्रकार विश्वजिता यजेत में नियोज्य (अधिकारी) अश्रुत रहने पर भी उसकी कल्पना कर ली जाती है, वैसे ही अध्ययनविधि में भी कल्पना कर सकते हैं।

कार्यं हि विध्यर्थः सम्बन्धिशब्दश्चायं कार्यमिति, कस्यचिद्धि किञ्चित् कार्यं भवति, न सर्वं सर्वस्य, अतः कस्येदं कार्यमित्यस्ति सम्बन्ध्यपेक्षा, सावश्यमध्याहृतेन केनचित् निवर्तनीया— अस्येदं कार्यमिति, यस्येदं कार्यं स एव नियोज्य इत्युच्यते।

कल्पना करने का प्रकार बता रहे हैं— **कार्यं हि विध्यर्थः इति**। जैसे— यजेत पद का अर्थ यागं कुर्यात् होता है, वैसे ही अध्येतव्य: पद का अर्थ अध्ययनं कर्तव्यम् होगा। अत: तव्य प्रत्ययरूप जो विधि है, उसका अर्थ कार्यत्व ही है। एवञ्च तव्यप्रत्ययार्थ ही विध्यर्थ है। **सम्बन्धिशब्दश्चायं कार्यमिति।**

शंका— कार्य शब्द को अपने सम्बन्धी की अपेक्षा रहती है। अत: किसी चेतन सामान्य का होना निश्चित ही है, उस कारण किसी नियोज्य विशेष की (अमुक अधिकारी की) आकांक्षा होने का प्रश्न ही नहीं है।

समाधान— **कस्यचिद्धीति**। यदि अध्ययनविधिवाक्य से कार्यसामान्य को ही बताया जाय; तो उस अध्ययनविधिवाक्य का किसी भी चेतन सामान्य के साथ सम्बन्ध होने पर भी आकांक्षा निवृत्त हो जाती, किन्तु ऐसी स्थिति नहीं है। यहाँ तो अध्ययनविधिवाक्य से अध्ययनविषयक कार्यविशेष (विशेष कार्य) को बताया जा रहा है। उस कार्यविशेष को सम्पन्न करने के लिये किसी विशेष नियोज्य (कर्ता) की ही आकांक्षा होगी। विशेष नियोज्य के विना (किसी विशेषकर्ता के विना) कार्यविशेष की आकांक्षा शान्त नहीं हो सकती। अत: नियोज्य (कार्यसम्पादक) की कल्पना तो अवश्य की करनी

होगी। कोई भी कार्य किसी न किसी कर्ता के द्वारा ही किया जाता है, तथापि सभी कार्य सभी के द्वारा नहीं किये जाते। अत: यह अमुक कार्य किससे सम्बन्धित है? अर्थात् किसका है? अथवा किसके द्वारा यह कार्य किया जा सकता है? इस प्रकार से तत् तत् सम्बन्धित नियोज्य की आकांक्षा होती ही है। इसीलिये प्रत्येक कार्य ही अपने सम्पादनार्थ (स्वात्मलाभार्थ) अपने कर्त्ता की प्राप्ति (आक्षेप) कराता है अर्थात् कार्यत्व (कार्यता = कार्यपना) किञ्चित् निरूपित ही हुआ करता है। अत: कस्येदं कार्यमित्यस्ति सम्बन्ध्य-पेक्षा यह कार्य किसका है? इस प्रकार से सम्बन्धी की अपेक्षा हुआ करती है। प्रकृत में भी अध्ययन से सम्बन्ध रखने वाले सम्बन्धित कर्त्ता की जो अपेक्षा हो रही है, उसकी पूर्ति किसी न किसी अध्याहृत हुए कर्त्ता से ही पूर्ण की जायेगी। अन्यथा वाक्यार्थ की सङ्गति ही नहीं लग पायेगी। सम्बन्धी के आक्षेप (प्राप्ति) का स्वरूप यह होगा— 'अस्येदं कार्यम्' इति। तथा कल्प्यमान् नियोज्य का स्वरूप इस प्रकार होगा— यस्येदं कार्यं स एव नियोज्य इत्युच्यते। कहा भी है— कर्मणि चाधिकारो नियोज्यस्यावकल्पते, यो हि ममेदं कार्यमिति प्रतिपद्यते स स्वकीयकार्यसाधनं कर्म, स्वार्थतया प्रतिपद्यमानोऽ-धिकारी स्यात् इति।

प्रश्न— नियोज्य की कल्पना किसलिये की जाती है? अध्ययनविधिवाक्य से विहित अध्ययन क्रिया के सम्पादनार्थ ही नियोज्य की कल्पना करनी पड़ती है; किन्तु अध्ययन क्रिया का सम्पादन तो आचार्य होने की इच्छा रखनेवाले गुरु की प्रेरणा अथवा भय से भी हो सकता है। गुरु की प्रेरणा से प्रेरित हुआ द्विज बालक अध्ययन करेगा। अत: नियोज्य की कल्पना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

यद्यपि कथञ्चित् परप्रयुक्तानुष्ठानादेवात्मलाभः स्यात्, तथापि न तावता कार्यत्वं सिध्यति । न हि कृतिसाध्यतामात्रं कार्यत्वम् । किं तर्हि? यत् कृतिसाध्यं कृतिं प्रति प्रधानभूतं तत् कार्यमित्युच्यते । प्राधान्यं च कृतेस्तदुद्देश्येन प्रवृत्तिः, ततश्चाध्ययननियोगेन कार्येण भवताऽवश्यं पुरुषव्यापारोद्देश्येन भवितव्यम् ।

उत्तर— यद्यपीति। यद्यपि कथञ्चित् (किसी प्रकार से) पर प्रयुक्त अनुष्ठान से अर्थात् अध्यापकादि-व्यक्तियों के द्वारा प्रयुक्त हुए विद्यार्थी के द्वारा किये जाने वाले अध्ययन कर्म के अनुष्ठान से अथवा अध्यापनविधिप्रयुक्त अध्ययन के अनुष्ठान से ही आत्मलाभ अर्थात् अध्ययनवियोग का सम्पन्न होना सम्भव हो सकता है, तथापि उतने मात्र से अर्थात् परप्रयुक्त अनुष्ठानमात्र से अध्ययननियोग में कार्यत्व की निष्पत्ति नहीं हो पायेगी

शंका— कार्यत्व का ही अन्य पर्याय कृतिसाध्यत्व (कृतिसाध्यता) अर्थात् कर्तव्यत्व है। उस कर्तव्य का पालन (अनुष्ठान) जैसे स्वयं प्रवृत्ति से किया जाता है, वैसे ही परप्रयुक्त (परप्रेरित) अनुष्ठान से भी (अन्य व्यक्ति के कहने पर भी) कर्तव्य

(कार्य) का पालन किया जाता है। अत: अध्ययनविधि में नियोज्य की कल्पना करना व्यर्थ है।

समाधान— उपर्युक्त कथन तभी सम्भव हो सकता है, जब कृतिसाध्य को ही कार्य कहा जाय अर्थात् कृतिसाध्यत्वमेव कार्यत्वम् कहा जाय; किन्तु केवल कृतिसाध्य होने मात्र से कार्य नहीं समझा जाता। किं तर्हि = तब कार्य का स्वरूप क्या होगा? यह प्रश्न करने पर उत्तर दे रहे हैं— यत् कृतिसाध्यं कृतिम्प्रति प्रधानभूतं तत् कार्यमित्युच्यते। कार्य का लक्षण 'केवलकृतिसाध्यत्वं कार्यत्वम्' यदि कहा जाय तो राजाज्ञा के कारण सम्पादन किये जाने वाले कार्य को भी कार्य कहना होगा और कार्यत्व के लक्षण में अतिव्याप्तिदोष होने लगेगा। यदि 'कृतिम्प्रति प्रधानभूतत्वं कार्यत्वम्' ऐसा लक्षण करें तो फल में अतिव्याप्ति होगी। अत: दोनों दलों से युक्त लक्षण करना चाहिये। तथाच जैसे यागजन्य अपूर्व कृति से साध्य भी है और कृति के प्रति प्रधान भी है। अतएव अपूर्व को 'कार्य' शब्द से कहा जाता है, उसी तरह अध्ययनजन्य अपूर्व को भी समझना चाहिये। कार्य में प्रधानता कैसी? अर्थात् कार्यत्वस्य किं नाम प्राधान्यम्? यह प्रश्न करने पर ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र उत्तर दे रहे हैं— प्राधान्यं च कृतेस्तदुद्देश्येन प्रवृत्ति:। जिसके उद्देश्य से कृति की प्रवृत्ति होती है, वह उद्देश्यभूत वस्तु ही उस कृति के प्रति प्रधान रहती है। जैसे पाक क्रिया में पाक की प्रधानता हुआ करती है। किस कारण पाक की प्रधानता है? इस प्रश्न पर उत्तर यही होगा कि पाकार्थमेव पाककृतौ प्रवृत्ति: अर्थात् पाकनिष्पत्ति के लिये ही पाककृति में प्रवृत्ति हुई है।

इसी तरह अध्ययनकृति अध्ययनजन्य अपूर्व की प्रधानता को समझना चाहिये। तथाच कार्यत्व की प्रधानता रहने से उस प्रधानता के निष्पत्त्यर्थ नियोज्य की कल्पना अवश्य ही करनी चाहिये। ग्रन्थकार कह रहे हैं— ततश्च अध्ययननियोगेन कार्येण भवता अवश्यं पुरुषव्यापारोद्देश्येन भवितव्यम् अर्थात् यदि अध्ययन नियोग कार्य रूप है तो अवश्य ही उसे पुरुष के व्यापार का उद्देश्य होना ही चाहिये। अन्यथा उसमें कार्यत्व ही निष्पन्न नहीं हो पायेगा। पुरुषव्यापार का उद्देश्य होने का अभिप्राय यह है कि नियोज्य पुरुष का जो व्यापार, उस व्यापार में उद्देश्यता का रहना। यह उद्देश्यता तभी रहेगी, जब कोई नियोज्य होगा। नियोज्य के नहीं रहने पर व्यापार की उद्देश्यता का रहना सम्भव नहीं है।

न चाऽसति नियोज्ये तदुद्देशेन कश्चित् प्रवर्तेत। अध्यापनविधिना हि प्रवर्त्यमानो माणवक: कथञ्चिदध्ययनमात्रमनुतिष्ठेन्न त्वपूर्वमुद्दिशेत्। न हि तस्य तदुद्देश्यं प्रमाणाभावात्।

एक अन्य कारण यह भी है कि नियोज्य के अभाव में (नियोज्य के नहीं रहने पर) कोई भी व्यक्ति अध्ययन नियोग के उद्देश्य से प्रवृत्त नहीं होगा, तब अध्ययन नियोग ही नहीं हो पायेगा, इसीलिये नियोज्य की कल्पना करना आवश्यक है। अर्थात् नियोज्य-

कल्पना अनिवार्य है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है— **न च असति नियोज्ये तदुद्देशेन कश्चित् प्रवर्तेत**। यदि अध्यापनविधि की प्रेरणा से बालक (माणवक) अध्ययन में प्रवृत्त भी हो, तो वह केवल अध्ययनमात्र करेगा, अपूर्व को उद्देश्य कर अध्ययन नहीं करेगा। जैसे बालक अपने पिता के बार-बार कहने से ही अध्ययन करने में प्रवृत्त होता है; किन्तु उस बालक का उद्देश्य अध्ययनजनित फलभूत ज्ञानप्राप्ति का नहीं रहता; अपितु पिता आदि गुरुजनों के भय से विवश होकर पुस्तक के अक्षरमात्र का ग्रहण करता रहता है, उसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिये। न हि तस्य तदुद्देश्यं प्रमाणाभावात् = दूसरे के अनुरोध से (बार-बार दूसरे के कहने से) अध्ययन में प्रवृत्त होने वाले बालक का उद्देश्य अध्ययनजन्य अपूर्व का अर्जन करना अभिलषित नहीं रहता। अपूर्वप्राप्ति के उद्देश्य से बालक की (माणवक की) अध्ययन में प्रवृत्ति हो रही है, यह कहने में कोई प्रमाण नहीं है। अपूर्वार्जन के उद्देश्य से बालक अध्ययन में प्रवृत्त हुआ है, यह तब कहा जा सकता है, जब अध्ययन विधिवाक्य में नियोगस्वाम्यबोधक अर्थज्ञानकाम: ऐसा कोई शब्द होता; किन्तु ऐसा कोई शब्द नहीं है और नियोज्य का अध्याहार करना तुम्हें अभीष्ट नहीं है। अध्याहृत हुए नियोज्य का उद्देश्य नियोगात्मक अपूर्व से रहता ही है। दूसरे के कहने पर प्रवृत्त होनेवाला पाचक जैसे पाक आदि करने में अपने किसी फल का उद्देश्य नहीं रखता, वैसे ही यहाँ पर भी परप्रयुक्त होने के कारण समझ लेना चाहिये। कहा भी है— माणवकस्य नियोगस्वाम्यबोधकार्थज्ञानकामपदाभावादध्याहारानभ्युपगमाच्च इति।

शंका— जैसे 'समिधो यजति', 'तनूनपातं यजति' इत्यादि प्रयाजों के वाक्यों में साक्षात् (प्रत्यक्ष) नियोज्य के श्रुत नहीं रहने पर भी प्रयाजादि यागों से अपूर्वरूप कार्य की निष्पत्ति होती है, वैसे ही अध्ययन विधि के वाक्य में भी नियोज्याभाव होने पर भी (नियोज्य के श्रुत न रहने पर भी) अपूर्वरूप कार्य की निष्पत्ति क्यों नहीं होगी?

प्रयाजाद्यपूर्वाणि दर्शपूर्णमासाऽपूर्वोपकारित्वात् तदधिकृतेन पुरुषेण तत्सिद्ध्यर्थमुद्दिश्य क्रियमाणानीति युक्तं यत् असत्यपि साक्षान्नियोज्योपादाने कार्यत्वं लभन्ते, अध्ययननियोगस्य तु नान्यौपयिकत्वं यतस्तद्रूपेणोद्देश्यता स्यात्। अर्थज्ञानस्य च नियमफलत्वेन नियोगाऽनपेक्षत्वात्। तस्मादस्य कार्यत्वसिद्ध्ये अवश्यं नियोज्यः कल्पनीयः।

प्रयाजादि यागों से उत्पद्यमान अपूर्व दर्शपूर्णमासरूप प्रधान यागों से उत्पद्यमान अपूर्वों के उपकारक हैं। इसलिये तदधिकृत पुरुष के द्वारा दर्शपूर्णमासापूर्व के लिये प्रयाजाद्यपूर्व का सम्पादन किया जाता है। अत: साक्षात् नियोज्य श्रुत न रहने पर भी प्रधानयागजन्य अपूर्व में कार्यत्व रहता ही है।

अभिप्राय यह है कि दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत इस श्रुतिवाक्य में दर्श-पूर्णमास के लिये नियोज्य साक्षात् श्रुत है। नियोज्य के लिये अङ्गसहित (साङ्ग) दर्श-

पूर्णमास का अनुष्ठान कर्तव्य है, क्योंकि सांग प्रधानकर्म ही फलदायक होता हैं। दर्श-पूर्णमास के अङ्ग प्रयाजादि ही हैं। अत: प्रयाजादिजन्य अपूर्वदर्शपूर्णमासजन्य अपूर्व के उपकारक हुआ करते हैं। अत: दर्शपूर्णमासानुष्ठान का अधिकारी स्वर्गकाम पुरुष दर्श-पूर्णमासजन्य अपूर्व के निष्पत्त्यर्थ प्रयाजादि के अनुष्ठान द्वारा प्रयाजादि से अपूर्व का सम्पादन करता है, उसी कारण प्रयाजादि से अपूर्व निष्पत्त्यर्थ नियोज्य का साक्षात् ग्रहण नहीं होने पर भी प्रयाजाद्यपूर्व में कार्यत्व की निष्पत्ति होती ही है; क्योंकि अनुष्ठाता को दर्शपूर्णमासाङ्गभूत प्रयाजादि यागों का अनुष्ठान करना आवश्यक ही है। निष्कर्ष यह है कि जो व्यक्ति दर्शपूर्णमास के लिये नियुक्त है, उसे प्रयाजादि के अनुष्ठान में भी नियुक्त ही समझा जाता है; क्योंकि दर्शपूर्णमास के अनुष्ठान में मनुष्य की प्रवृत्ति फलप्राप्ति की कामना से होती है। फलप्रदत्व दर्शपूर्णमास में तभी हो पायेगा, जब अङ्गसहित दर्श-पूर्णमास का अनुष्ठान किया जायेगा। अङ्गभूत प्रयाजादि का अनुष्ठाता अश्रुत रहने पर भी अपने प्रधानभूत दर्शपूर्णमासयाग के द्वारा वे प्रयाजादियाग अपने अनुष्ठान के लिये कर्त्ता को उपलब्ध कर लेते हैं। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने व्यक्त किया है कि युक्तं यदसत्यपि साक्षात् नियोज्योपादाने कार्यत्वं लभन्ते। एवञ्च उपुर्यक्त कथन उचित ही है कि प्रयाजादियागविधायक वाक्यों में नियोज्य का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं रहने पर भी प्रयाजाद्यपूर्वरूप कार्यत्व को प्राप्त कर लेते हैं; क्योंकि दर्शपूर्णमास के अनुष्ठाता को दर्शपूर्णमासांगभूत प्रयाजादि यागों का अनुष्ठान करना आवश्यक ही है। वस्तुत: तो जिस पुरुष की नियुक्ति दर्शपूर्णमासानुष्ठान के लिये हुई है, वह पुरुष प्रयाजादि अङ्गों के अनुष्ठान करने के लिये भी नियुक्त है, यह अवगति स्वतएव हो जाती है; क्योंकि पुरुष की प्रवृत्ति दर्शपूर्णमासयाग के प्रति जो होती है, वह फलप्राप्ति की इच्छा से ही होती है और फलप्रदत्व सांग दर्शपूर्णमास में ही है। अत: सांग दर्शपूर्णमास का अनुष्ठान ही कर्तव्य होने से सांग दर्शपूर्णमासानुष्ठान के लिये ही पुरुष को नियोज्य समझा जाता है। एवञ्च दर्शपूर्णमासांगभूत प्रयाजानुयाजादि भी अपने प्रधानभूत याग के द्वारा नियोज्य को प्राप्त कर ही लेते हैं।

अध्ययननियोगस्येति। अध्ययनपक्ष में ऐसी स्थिति नहीं है; क्योंकि अध्ययन अन्य किसी के प्रति अङ्ग नहीं है। इसी अभिप्राय को अध्ययननियोगस्य ग्रन्थ से बता रहे हैं। अध्ययनजन्य अपूर्व किसी अन्य का अङ्ग नहीं है, अर्थात् अध्ययनजन्याऽपूर्वस्य नान्यौ-पयिकत्वम्। यदि अध्ययनजन्य अपूर्व किसी अन्य का अङ्ग होता तो उस अङ्गी के सिद्ध्यर्थ अध्ययनजन्य अपूर्व का सम्पादन भी करता, तब उसे उद्देश्य भी बनाया जाता, इसी तथ्य को व्यतिरेकमुख से बताया है— यतस्तद्रूपेण अर्थात् अन्याङ्गत्वरूपेण।

शंका - अर्थज्ञानार्थ ही अध्ययनापूर्व की अपेक्षा हो सकती है, तब अध्ययनाऽपूर्व अर्थज्ञान का ही अङ्ग हो जायेगा। इसलिये अर्थज्ञानसिद्ध्यर्थ अध्ययनापूर्व का सम्पादन

करना पड़ेगा। तब अध्ययनाऽपूर्व के लिये पृथक्तया नियोज्य की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

समाधान— ग्रन्थकार कहते हैं कि 'अर्थज्ञानस्य च नियमफलत्वेन नियोगाऽनपेक्षत्वात्। तस्मादस्य कार्यत्वसिद्धये अवश्यं नियोज्यः कल्पनीयः'। जैसे— व्रीहि का वितुषीकरण, अवहनन तथा नखविदलन से भी हो सकता है, उस स्थिति में व्रीहीनवहन्ति इस विधिवाक्य से अवहनन (अवघात) को नियमित किया जाता है। अतः अवघात का नियम बनने से वितुषीकरणरूप फल स्वसिद्ध्यर्थ अपूर्व की अपेक्षा नहीं करता। उसी तरह यहाँ भी अर्थज्ञान अध्ययन लिखित पाठ आदि से भी हो सकता है, तथापि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः वाक्य से अध्ययन को नियम का स्वरूप दिया गया है। इस प्रकार अध्ययन से नियम का स्वरूप देने से फल यह हुआ कि अर्थज्ञान को स्वसिद्ध्यर्थ अध्ययनाऽपूर्व की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। जिससे कि अर्थज्ञान द्वारा अध्ययनाऽपूर्व के लिये नियोज्य की आवश्यकता पड़े; क्योंकि अपूर्व के विना, अर्थज्ञानोत्पत्ति के होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। तस्मात् अस्य कार्यत्व सिद्धये अवश्यं नियोज्यः कल्पनीयः जबकि अध्ययनाऽपूर्व के सम्पादन में किसी भी माध्यम (द्वार से) से नियोज्य की प्राप्ति नहीं हो रही है और अस्य अध्ययन नियोग में कार्यत्व तो है ही, इसलिये नियोज्य की कल्पना करनी ही होगी।

यच्चाध्यापनविधेरुपनयनद्वारमध्ययनप्रयोजकत्वमुक्तम्, तदप्ययुक्तम्— उपनयनप्रयुक्तेरेवाभावात्, तद्द्वारेणाध्यापनप्रयुक्तिर्दूरापास्ता। क्त्वा-प्रत्ययेन हि समानकर्तृकत्वमेवोच्यते, तेन चैकप्रयोगता कल्प्यते, अङ्गाङ्गि-भावस्त्वेकप्रयोगतावशात् कल्पनीयः, द्वितीयया तु साक्षदङ्गित्वमेवोच्यते। अतो यथा त्रिवृता यूपपरिव्याणं यूपार्थं नोपाकरणार्थम्, एवमुपनयनमपि माणवकसंस्कारार्थं नाध्यापनार्थम्। स्मृतिगतश्च क्त्वाप्रत्ययः, प्रत्यक्ष-वेदगता तु वसन्ते ब्राह्मणम् इति द्वितीया, अतोऽपि माणवकार्थत्वम्।

शंका— 'तमध्यापयीत' इस विधि के अनुरोध से अध्ययन तो करना ही होगा। उपनीत बालककृत अध्ययन के बिना अध्यापन का होना सम्भव नहीं। अतः उपनयन द्वारा उक्त रीति से अध्यापनविधि ही अध्ययन का प्रयोजक हो जायेगा। उस कारण अध्ययन-विधिवाक्य में नियोज्य की कल्पना करना आवश्यक नहीं है, अथवा उपनीय अध्यापनेन आचार्यकं कुर्यात् इस अध्यापनविधिवाक्य से उपनयन में अध्यापनाङ्गत्व प्राप्त है, उस अङ्गत्व का होना (उपनयन में अध्यापनाङ्गत्व) उपनेयकृत आसत्ति (सांनिध्य) और अध्ययन दोनों के बिना असम्भव है। इसलिये उपनयन के माध्यम से (उपनयन के द्वारा) अध्यापनविधि ही अध्ययन का प्रयोजक (अनुष्ठापक) हो जायेगा, उसी कारण अध्ययन-विधि में नियोज्यकल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने यच्चाऽध्यापनविधेरुपनयनद्वारमध्ययनप्रयोजकत्वमुक्तम् ग्रन्थ से व्यक्त किया है।

समाधान— तदपि अयुक्तम् कहकर उपर्युक्त शंका का समाधान कर रहे हैं— 'उपनयनप्रयुक्तेरेवाभावात्' इति। यदि उपनयन अध्यापन से प्रयुक्त होता, तो उपनयन द्वारा अध्यापन को अध्ययन का प्रयोजक कदाचित् कह भी सकते थे; किन्तु उपनयन तो अध्यापन से प्रयुक्त है ही नहीं। अथवा यदि अध्यापन ही उपनयन से प्रयुक्त होता तो भी उपनयन द्वारा अध्यापनप्रयुक्तता का होना सम्भव होता किन्तु ऐसी स्थिति नहीं है; प्रत्युत इसके विपरीत स्थिति है अर्थात् उपनयन ही अध्ययन से प्रयुक्त है; क्योंकि उपनयन संस्कार ही अध्ययन के लिये किया गया है। अध्यापन के द्वारा उपनयन की प्रयुक्ति नहीं होने से अथवा यह भी कह सकते हैं कि अध्ययन की प्रयुक्ति उपनयन के द्वारा न होने से तद्द्वारेण दूरापास्त है अर्थात् कदाचिदपि सम्भव नहीं है।

शंका— 'उपनीय तु यः शिष्यम्' इस वाक्य में क्त्वा (ल्यप् आदेश) प्रत्यय का प्रयोग किया गया है, उससे प्रतीत होता है कि उपनयन में अध्यापनाङ्गत्व है और अङ्ग सर्वदैव प्रधान से प्रयुक्त ही हुआ करता है। उस कारण उपनयन में अध्यापन प्रयुक्तत्व क्यों नहीं होगा?

समाधान— **क्त्वाप्रत्ययेनेति**। क्त्वाप्रत्यय केवल समानकर्त्तृकत्व का बोध कराता है, उससे अङ्गांगिभाव का भी बोध नहीं हो पाता है। 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति, दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' इत्यादि स्थलों में क्त्वाप्रत्यय के विद्यमान रहने पर भी अङ्गांगिभाव का बोध नहीं होता है। क्त्वाप्रत्यय से समानकर्त्तृकत्व का बोध होने के कारण एकप्रयोगता की कल्पना की जाती है और अङ्गांगिभाव की कल्पना तो एकप्रयोगता के कारण की जाती है। क्त्वाप्रत्यय से जो समानकर्त्तृकता बताई जाती है, उसका अभिप्राय यह है— 'येन अध्यापनं कर्तव्यं, तेनैव वटुकस्य उपनयनं कर्तव्यम्'। इस प्रकार से अध्यापन और उपनयन दोनों का एक-कर्त्तृकत्व ही क्त्वाप्रत्यय के द्वारा बताया जाता है। इस प्रकार से ज्ञापित समानकर्त्तृकता के द्वारा उपनयन और अध्यापन दोनों में एकप्रयोगता की कल्पना की जाती है। एकप्रयोगता को एक महाव्यापार के रूप में समझना चाहिये। जैसे भुक्त्वा गन्तव्यम् वाक्य से भोजन और गमन दोनों में एकमहाव्यापारविषयता रहती है, अथवा वेदं कृत्वा वेदिं करोति में वेदकरण और वेदिकरण— दोनों एकमहाव्यापार के विषय रहते हैं वैसे ही प्रस्तुत में भी गुरु उपनयन से आरम्भ कर वेदाध्यापन तक व्यापार करे। इस प्रकार से उपनयन और वेदाध्यापन तक का जो व्यापार है, वह एक महाव्यापार का विषय है। उसी कारण उपनयन और अध्यापन दोनों को एकप्रयोग ही कहा जाता है। इस एकप्रयोगता के कारण दोनों में अङ्गाङ्गिभाव है अर्थात् उपनयन अङ्ग है और अध्यापन अङ्गी है, ऐसी कल्पना की जाती है। यह अङ्गाङ्गिभाव कल्पित होने के कारण निर्बल भी है, इसे भी विस्मृत नहीं होने दें। उपनयन और अध्यापन दोनों के मध्य में अनेक अवान्तर व्यापार भी होते रहते हैं, तथापि सभी का फल तो एक ही है, उस कारण सम्पूर्ण व्यापार को एक ही समझना चाहिये।

शंका— उपनयन को अङ्गी और अध्यापन को अङ्ग— ऐसा विपरीत ही क्यों नहीं माना जाय?

समाधान— गुरुमतानुसार अध्यापन प्रधान है; क्योंकि वह गुरुगत है और उपनयन अप्रधान है; क्योंकि वह वटुकगामी है। समानकर्तृकत्व से कल्पित एकप्रयोगतावशात् उपनयन और अध्यापन दोनों में अङ्गाङ्गिभाव की प्राप्ति हो रही है। अत: अङ्गांगिभाव को विपरीत मानना उचित नहीं होगा।

द्वितीयया त्विति। 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत' वाक्य में ब्राह्मण पदगत द्वितीया विभक्ति श्रुति से उपनयननिरूपित अंगित्व ब्राह्मणवटुक में प्रतीत हो रहा है। उसी तरह उपनयन में अङ्गत्व भी ब्राह्मण-वटुक निरूपित प्रतीत हो रहा है। एवञ्च उपनयन और बटुक में अङ्गाङ्गिभाव की प्रतीति श्रुति प्रमाण से हो रही है। ऐसी स्थिति में उपनयन और अध्यापन दोनों में अङ्गाङ्गिभाव कैसे हो सकेगा? क्योंकि अङ्गाङ्गिभाव मानने पर श्रुतिविरोध होगा। उक्त कथन में ग्रन्थकार दृष्टान्त देकर उसका उपपादन कर रहे हैं— **अतो यथा त्रिवृतेति।** आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशु-मुपाकरोति यह श्रुतिवाक्य है।

शंका— उक्त वाक्य में रशना का अन्वय पशु के साथ है; क्योंकि पशु को बांधकर रखने से वह इधर-उधर भाग नहीं सकेगा। इस प्रकार पशु का अपक्रमणनिवारणरूप दृष्टार्थलाभ होने से रशना का अस्तित्व पश्वर्थ (पशु के लिये) ही है।

समाधान— 'त्रिवृता यूपं परिवीय' वाक्य में त्रिवृता इस तृतीया विभक्ति से और यूपम् की द्वितीया विभक्ति से शेष-शेषिभाव (अङ्गांगिभाव) की प्रतीति हो रही है तथा अव्यवहित (व्यवधानरहित) अन्वय (सम्बन्ध) भी हो रहा है, उसी कारण रशना यूप के लिये (यूपार्थ) ही है— ऐसा जैमिनीयन्यायमालाविस्तरकार माधव ने कहा है। एवञ्च जैसे यूप का परिव्याण (रशना से यूप का वेष्टन) यूपार्थ (यूप के लिये) है, पशु के उपाकरणार्थ नहीं है; क्योंकि परिव्याण का साक्षात् सम्बन्ध यूप के ही साथ है, इससे यही निश्चित होता है कि रशना का सम्बन्ध यूप के साथ है। अर्थात् रशनापरिव्याण का यूप के साथ ही साक्षात् (अव्यवहित) सम्बन्ध है। अत: यूप के साथ साक्षात् सम्बन्ध होने से रशनापरिव्याण यूप का ही अङ्ग है। अर्थात् परिव्याण और यूप दोनों का अङ्गांगिभाव-सम्बन्ध है (परिव्याण यूप का अङ्ग है, पशु का अङ्ग नहीं है।)

एवमुपनयनमपीति। पूर्वोक्त प्रकार से प्रस्तुत में भी अर्थात् वसन्ते ब्राह्मणम् उपनयीत वाक्य में ब्राह्मण पदगत द्वितीया विभक्ति से प्रतीत हो रहा है कि उपनयन ब्राह्मणबटु (ब्राह्मण बालक) के संस्कारार्थ है। बटु के संस्कारार्थ होने से वह उपनयन बटु का अङ्ग ही है, अध्यापन का अङ्ग नहीं है। एवञ्च उपनयन में बटुकाङ्गत्व सिद्ध हो रहा है। उपनयन में माणवकांगत्व (बटुकांगत्व) होने का अन्य कारण भी है। क्त्वाप्रत्यय का विधान व्याकरण स्मृति ने (पाणिनि ने) किया है। स्मृति की अपेक्षा श्रुतिगत द्वितीया प्रबल

है अर्थात् वसन्ते ब्राह्मणम् में ब्राह्मणगत द्वितीया प्रत्यक्ष वेद (श्रुति) गत है। इससे भी स्पष्ट हो रहा है कि उपनयन माणवक का अङ्ग है, अध्यापन का अङ्ग नहीं है।

भवतु माणवकसंस्कारस्तद्द्वारेण त्वध्यापनाङ्गं नाध्ययनाङ्गमिति चेत्? मैवम्, अन्तरङ्गत्वादध्ययनस्य तादर्थ्यमेव संस्कारस्य युक्तम्। अध्ययनमपि फलवदध्यापनमपि तयोः कस्यायं माणवकसंस्कारोऽङ्गं भवतु— इत्यपेक्षायामध्यापनस्य पुरुषान्तरगामित्वेन बहिरङ्गत्वात् माणवक-गताध्ययनार्थत्वमेव युक्तम्। यथैव ह्यध्ययनस्याऽऽचार्यकसिद्धिप्रयो-जनतामनादृत्य वेदमधीत्य स्नायात् इति स्मृतिं बाधित्वाऽन्तरङ्गत्वा-दर्थज्ञानार्थतैवाऽऽश्रीयते तथोपनयनस्याप्यध्ययनार्थता वेदितव्या।

शंका— माणवक (बालक) के संस्कार के लिये किये गये उपनयन को फलवान का अङ्ग कहना ही उचित होगा, उसे निष्फल (फलरहित) का अङ्ग कहना उचित नहीं है। अध्ययन तो निष्फल ही है; क्योंकि उसका कोई फल सुना नहीं है। अतः उसका (अध्ययन का) फल सुनाई नहीं देने से उपनयन को अध्ययन का अङ्ग कहना उचित नहीं है; किन्तु अध्यापन सफल (फलवान) है; क्योंकि उपनीय अध्यापनेन आचार्यत्वं भावयेत्— इस स्मृति के द्वारा अनुमित श्रुतिवाक्य से अध्यापन की सफलता (फल-वत्ता) का बोध हो रहा है। उसी कारण माणवक के संस्कारार्थ किये गये उपनयन को अध्यापन का ही अङ्ग मानना उचित है। उसे अध्ययन का अङ्ग मानना उचित नहीं है। एवञ्च माणवक संस्कारार्थ किये गये उपनयन को अध्यापन का ही अङ्ग समझना चाहिये। उसे अध्ययन का अङ्ग कहना उचित नहीं होगा; क्योंकि अनुपनीत को अध्यापन करना सम्भव ही नहीं है। अध्यापनप्रवर्तकता उपनयन में ही है। अतः उपनयन अध्यापन का ही अङ्ग है।

समाधान— **मैवमिति**। उपर्युक्त शंका उचित नहीं है; क्योंकि उपनयन संस्कार माणवक का ही हुआ है और अध्ययन भी माणवक को ही करना है। इसलिये माणवक का उपनयन संस्कार अध्ययनार्थ ही किया गया है। अतः अध्ययन अन्तरङ्ग है। अध्ययन की अन्तरंगता का स्वरूप उपनयनसम्बन्धित बटुकगत होना ही है। अर्थात् उपनयन और अध्ययन दोनों ही बटुक के ही हैं। अध्यापन बटुकगत नहीं है, अर्थात् अध्यापन करना बटुक का कार्य नहीं है। अध्यापन करना तो अध्यापक का कार्य है, यही अध्यापन की बहिरङ्गता का स्वरूप है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार स्वयं स्पष्ट कर रहे हैं— 'अध्ययन-मपि फलवद् अध्यापनमपि तयोः कस्यायं माणवकसंस्कारोऽङ्गं भवतु, इत्यपेक्षायाम्'।

शंका— अध्ययनमपीति। अध्ययन भी फलवान है और अध्यापन भी फलवान है। अध्ययन का फल अर्थज्ञान होना है और अध्यापन का फल अध्यापक में आचार्यत्व-प्राप्ति होना है। अध्ययन और अध्यापन दोनों के फलवान रहने पर यह माणवक संस्कार-स्वरूप उपनयन किसका अङ्ग समझा जायेगा?

समाधान— 'अध्यापनस्य पुरुषान्तरगामित्वेन बहिरङ्गत्वात् माणवकगताध्ययनार्थत्वमेव युक्तम्। द्वारा उक्त शंका का समाधान इस प्रकार होगा— अध्यापन तो पुरुषान्तरगामी (अध्यापकगामी) है, उसी कारण वह बहिरङ्ग है। **अध्ययन का फल माणवक को** प्राप्त होगा और अध्यापन का फल अध्यापक को प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में माणवक के संस्कारार्थ किया गया जो उपनयन उसमें ही माणवक को प्राप्त होनेवाले फलविशेष के सम्पादक अध्ययन की अङ्गता मानना उचित होगा। एवञ्च उपनयनम् अध्ययनाङ्गम् अर्थात् उपनयन अध्ययन का ही अङ्ग है।

शंका— स्मृतिवचन और तदनुमित श्रुतिवचन दोनों से उपनयन में अध्यापनाङ्गत्व सिद्ध है, फिर भी केवल अन्तरंगत्व को बताकर उपनयन में अध्यापनाङ्गत्व का त्याग क्यों किया जा रहा है?

समाधान— यथैव हि अध्ययनस्याऽऽचार्यकसिद्धिप्रयोजनतामनादृत्य वेदमधीत्य स्नायात् इत्यादि द्वारा आचार्यत्वसिद्धि और अर्थज्ञान इन दोनों में अध्ययननिरूपित अन्तरङ्गता के होने पर भी अर्थज्ञानार्थता को ही अन्तरङ्ग माना गया है। जैसे अध्ययन का आचार्यत्वसिद्धिरूप फल आचार्य को, वैसे ही अर्थज्ञानरूप फल बटु को भी प्राप्त है, तथापि अध्ययन का (आचार्यत्वसिद्धि) को फल मानने पर वेदमधीत्य स्नायात् यह स्मृतिवचन भी अनुकूल रहता है; क्योंकि अक्षरमात्रग्रहणात्मक अध्ययन से आचार्यत्व की भी सिद्धि हो जाती है और वाक्यार्थ-विचार में प्रवृत्ति नहीं होने से उक्त स्मार्त स्नान भी बाधित नहीं हो रहा है।

शंका— उक्त स्मार्तस्नान का बाध करके अध्ययन के फलरूप में अर्थज्ञानार्थता को ही क्यों मान रहे हैं? इसलिये मान रहे हैं कि अर्थज्ञान माणवकगत होने से अन्तरंग है और आचार्यत्व अध्यापकगत होने से बहिरंग है। उसी तरह उपनयन का फल अध्ययन भी है और अध्यापन भी फल है; किन्तु अन्तरङ्गता अध्ययन में होने से अध्ययन को ही फल के रूप में माना गया है, इसलिये उपनयन मे ही अध्ययनाङ्गत्व मानना उचित प्रतीत हो रहा है। उक्त अभिप्राय को ग्रन्थकार ने 'उपनयनस्यापि अध्ययनार्थता वेदितव्या' ग्रन्थ से व्यक्त किया है।

(व्याकरणस्मृतयोपनयनस्याध्ययनाङ्गत्वम्)

स्मरणादपि पाणिनीयादध्ययनाङ्गतैवोपनयनस्यावगम्यते। अध्ययनाङ्गता हि स्मरन्नाचार्यकरणे नयतेरात्मनेपदं विधत्ते, अध्यापनाङ्गत्वे हि कर्त्रभिप्रायत्वात् क्रियाफलस्य ञित्वादेवात्मनेपदं सिद्ध्येत् । उपनीय तु यः शिष्यम् इति क्त्वाप्रत्ययो हि कथञ्चित् दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा इतिवदसत्यप्यङ्गाङ्गिभावेऽवकल्प्यते पुनर्विधानं चात्मनेपदस्यात्यन्तानर्थकम्, तस्मादध्ययनाङ्गमुपनयनं स्यात् ।

स्मरणादपीति। उपनयन में अध्ययननिरूपित अङ्गत्व का समर्थन व्याकरणस्मृति (व्याकरण शास्त्र) ने भी किया है। 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इस पाणिनिसूत्र से क्रिया का फल जहाँ कर्त्ता को मिलता है, वहाँ स्वरितेत् (जिसका स्वरित् अच् इत् हो) और ञित् धातु से आत्मनेपदी प्रत्यय होता है। सूत्रस्थित स्वरितञितः पद का विग्रह इस प्रकार है— स्वरितश्च ञश्च = स्वरितञौ, तौ इतौ यस्य सः = स्वरितञित्, तस्मात् स्वरितञितः। दोनों में एकवचन जात्यभिप्राय से है। जहाँ क्रियाफल कर्तृगामी नहीं होगा, वहाँ शेषात् कर्तरि परस्मैपदम् सूत्र आत्मनेपद के निमित्त से रहित धातु से कर्त्तृवाच्य में परस्मैपद करता है। आत्मनेपदविधायक एक सूत्र और भी है— अनुदात्तङित आत्मनेपदम् = अनुदात्तेतो ङितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात्। अर्थात् जिसका अनुदात्त अच् इत् हो और ङित् धातुओं से आत्मनेपद (तङ्, शानच् और कानच्) प्रत्यय होते हैं। एध् धातु का धकारोत्तरवर्ती अकार अनुदात्त और इत् संज्ञक है, इसलिये इससे आत्मनेपद किया जाता हैं। इसी तरह शीङ् धातु का ङ् इत् होने से शीङ् धातु से आत्मनेपदी प्रत्यय किया जाता है। जिस धातु के साथ ङ् अनुबन्ध लगा है, उसे ङित् कहते हैं— 'इत्संज्ञया यस्य निवृत्तिर्भवति स अनुबन्धः'।

एवञ्च 'होता याज्यया यजति' यहाँ पर याग का फल जो स्वर्ग वह यजमान को मिलता है, होता को नही। उसी कारण उपर्युक्त वाक्य में आत्मनेपद नहीं किया। उसी तरह वेतनेन यज्ञदत्तभृतो देवदत्तः पचति में भी पाक का फल जो भोजन है, वह पक्तृगामी नहीं है अर्थात् पाचक को नहीं मिलता, अतः यहाँ पर भी आत्मनेपद नहीं हुआ।

'सम्माननोत्संजनाऽऽचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः' इस पाणिनि सूत्र से आचार्यत्वकरण अर्थ में णीञ् धातु से आत्मनेपद का विधान किया गया है। आचार्यकरण अर्थ में माणवकम् उपनयते— यहाँ उपनयते में उपपूर्वक समीपप्रापणार्थक णीञ् धातु है। सामीप्यं च प्रत्यासत्त्या प्रापयित्रपेक्षमेव। तच्च माणवकीयमात्मसमीपप्रापणं वैधमेव विवक्षितम्।

अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत यहाँ पर उपनयीत यह णीञ् धातु से निष्पन्न आत्मनेपद का रूप है। उपनयनकर्ता जो गुरु है, उस गुरु को यदि उपनयन क्रिया का फल प्राप्त हो रहा हो तो स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले इसी सूत्र से ञित् होने के कारण णीञ् धातु से आत्मनेपद तो प्राप्त ही है, तब पुनश्च सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः सूत्र से आचार्यत्वकरण अर्थ में आत्मने-पद का विधान करना व्यर्थ ही है। तब व्यर्थ होने के भय से वह ज्ञापन कर रहा है कि उपनयन का फल माणवक को ही मिलेगा। तथाच उपनयन का फल (अध्ययन) परगामी होने से 'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्' सूत्र से णीञ् धातु में परस्मैपद प्राप्त हुआ, उसको बाधनार्थ महर्षि पाणिनि ने सम्मान-नोत्सञ्जनाऽऽचार्यकरण सूत्र से णीञ् धातु से आत्मनेपद का विधान किया है। तब सूत्रार्थ यह हुआ—उपनयनफल माणवकगामी (परगामी) होने पर भी आचार्यकरण

अर्थ में णीञ् धातु से आत्मनेपद ही होगा।

माणवक को मिलने वाला (प्राप्त होनेवाला) उपनयनफल अध्ययन ही है। अतः उपनयन मे अध्ययनाङ्गत्व की सिद्धि व्याकरण शास्त्र से भी हो रही है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने व्यक्त किया है— 'अध्ययनाङ्गतां हि स्मरन् आचार्यकरणे नयतेरात्मनेपदं विधत्ते, अध्यापनाङ्गत्वे हि कर्त्रभिप्रायत्वात् क्रियाफलस्य ञित्वादेव आत्मनेपदं सिद्ध्येत्।' यदि उपनयन को अध्यापन का अङ्ग माना जाय तो उपनयन का फल उपनयनकर्तृभूत गुरुगत ही है। अत; कर्तृगामी फल होने से 'स्वरितञितः' सूत्र से ही आत्मनेपद हो जायेगा, तब सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरण सूत्र की आवश्यकता ही क्या है? अतः उक्त सूत्र को व्यर्थ ही कहना होगा; क्योंकि प्रभाकर के मत में उपनयनरूप क्रिया का फल जो अध्यापन है, वह कर्तृगामी (गुरुगामी) है ही। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने अध्यापनाङ्गत्वे हि कर्त्रभिप्रायत्वात् क्रियाफलस्य ञित्वादेवाऽऽत्मनेपदं सिद्ध्येत् द्वारा व्यक्त किया है।

शंका— 'उपनीय तु यः शिष्यम्' इति क्त्वाप्रत्ययो हि कथञ्चित् दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा इति' से उपनयन और अध्यापन दोनों में अङ्गाङ्गिभाव नहीं होने पर उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः इस वाक्य में जो क्त्वाप्रत्यय है, उसकी गति क्या होगी? उपनीय में क्त्वाप्रत्यय (ल्यप्) का प्रयोग किया गया है, उसी तरह उपनयन और अध्यापन दोनों में अङ्गाङ्गिभाव का बोध हो रहा है। उपनयन और अध्यापन दोनो ही शास्त्रप्रतिपादित हैं। अतः किसी को प्रबल-दुर्बल कहने में कोई युक्ति नहीं है।

समाधान— 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' इस वाक्य में इष्ट्वा कहने से दर्शपूर्णमास और सोमयाग में अङ्गाङ्गिभाव का बोध नहीं होता, किन्तु पूर्वापरकालिकत्वमात्र का बोध होता है। जैसे— 'सोमं चिकीर्षुः दर्शपूर्णमासौ कृत्वा तदनन्तरं सोमयागं कुर्यात्' अर्थात् जिस व्यक्ति को सोमयाग करने की इच्छा हो, वह व्यक्ति पहले दर्शपूर्णमास करे, तदनन्तर सोमयाग करे। निष्कर्ष यह है कि दर्शपूर्णमासयाग और सोमयाग दोनों में केवल पौर्वापर्य बताया है, अङ्गाङ्गिभाव नहीं। उसी तरह उपनीय तु यः शिष्यम् में भी यही बताया है कि अध्यापनेच्छु व्यक्ति अर्थात् गुरु प्रथमतः बालक का उपनयन करे, तदनन्तर अध्यापन करे। इस प्रकार पूर्वापरकालिकत्वमात्र ही क्त्वाप्रत्यय से बताया गया है, न कि अङ्गाङ्गिभाव को अर्थात् अङ्गाङ्गिभाव को नहीं कहा गया है। सम्माननोत्सञ्जन सूत्र से जो आत्मनेपद का विधान बताया है, वह उपनयन को अध्यापन का अङ्ग मानने पर सर्वथा अनर्थक ही हो जायेगा; क्योंकि ञित् होने से स्वरितञितः सूत्र से ही आत्मनेपद प्राप्त है।

किन्तु माणवकसंस्कारपक्ष में उपनयन का फल माणवकगामी अर्थात् माणवक को प्राप्त होने से परगामी है। अतः परस्मैपद प्राप्त है, उसका बाध करके सम्माननोत्सञ्जनाऽऽचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः सूत्र से पुनः आत्मनेपद का विधान करना

सार्थक है। तस्मात् पुनर्विधानवैयर्थ्य का प्रसङ्ग प्राप्त न हो, एतदर्थ उपनयन को अध्ययन का ही अङ्ग मानना उचित है। एवञ्च बटुकसंस्कारस्वरूप जो उपनयन है, वह अध्ययन का ही अङ्ग है, यह सिद्धान्त है।

न तु स्यात्, तज्जन्यः संस्कारो हि माणवकसमवायी। सत्यम्। माणवकसमवेतोऽपि न तदर्थः, कर्त्रर्थत्वं च फलस्य कर्त्रभिप्रायत्वं, न तु तत्समवायः। अन्यथा हि अग्नीनादधीत इत्यात्मनेपदं न स्यात्। आधानफलस्याऽऽहवनीयत्वादेरग्निसमवेतत्वेन कर्तृसमवायाऽभावात्। इयं च स्मृतिः— उपनीय तु यः शिष्यम् इति। अतो बलीयसी द्वितीया श्रुतिः, तस्मात् न अध्यापनाङ्गमुपनयनमिति— न तद्द्वारेणाऽध्यापनस्य प्रयुक्तिः।

शंका— न तु स्यादिति। उपनयन को अध्यापन का अङ्ग मानने पर भी सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरण सूत्र से पुनः आत्मनेपद का विधान करना अनर्थक नहीं होगा; क्योंकि उपनयनफलस्वरूप संस्कार बटुकगामी होने से परगामी है, उसी तरह प्राप्त हुए परस्मैपद का बाध करने के लिये आपके द्वारा कथित रीति से ही पुनः आत्मनेपद का विधान करना सार्थक हो रहा है। तथाच उपनयन में अध्यापनाङ्गत्व ही प्राप्त है। इस उक्त कथन में अंशतः कुछ स्वीकार करते हुए उसका (उक्त कथन का) खण्डन कर रहे हैं।

समाधान— सत्यमिति। उपनयनजन्य संस्कार माणवकसमवायी है (माणवक से सम्बन्ध रखता है)। आपकी कही हुई इतनी बात तो सत्य है; किन्तु वह उपनयन संस्कार माणवकसमवेत रहने पर भी स्वरूपतः माणवकार्थ नहीं कहलायेगा; अपितु उपनयन को अध्यापन का अङ्ग मानने पर वह अध्यापकार्थ ही कहा जायेगा, तब पुनः आत्मनेपद का विधान करना अनर्थक ही कहलायेगा। कहा भी है— 'अध्यापनाङ्गमुपनयनमितिपक्षे माणवकसमवेतोऽपि संस्कार उपनयनकर्तृभूताचार्यार्थ एव, आचार्यत्वरूपफलभागित्वेनाचार्यः प्रधानं फलं च पुरुषार्थत्वात् इति फलस्यापि पुरुषशेषत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्, तदर्थस्य (आचार्यत्वार्थस्य) अध्यापनस्य निर्वर्तकं यदध्ययनं तत्कर्तृसंस्कारोऽपि स्वाश्रयमाणवकनिष्पाद्याध्ययनाधीनाध्यापनजन्याचार्यत्वरूपफलशाल्याचार्यरूपकर्तृशेष एव कर्तृशेषत्वमेव क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वं तच्छेषत्वं च तदभिलषितफलोद्देशप्रवृत्तकृतिव्याप्यत्वं तच्च माणवकसमवेतस्यापि संस्कारस्य सम्भवतीति स्वरितञितः इत्येवात्मनेपदसिद्धेः पुनरात्मनेपदविधानं प्रभाकरमतेऽनर्थकमापद्यते इति। तस्मादध्ययनाङ्गत्वमेवोपनयनस्य युक्तं प्राप्तं च, नाध्यापनाङ्गत्वमित्यर्थः।

शंका— फल जिससे समवेत (सम्बद्ध) रहता है, वह उसी के लिये (तदर्थ) ही हुआ करता है। जैसे आत्मसमवेत सुख आत्मार्थ (आत्मा के लिये) होता है, वैसे ही उपनयनफलस्वरूप संस्कार माणवकसमवेत होने के कारण उसे माणवकार्थ ही मानना उचित है, उसे अध्यापकार्थ मानना उचित नहीं है। तथाच उपनयनफलरूप संस्कार

उपनयनकर्तृगुरुभिन्नगामी होने से सार्थक है, फिर भी आत्मनेपद का विधान किया गया है, इससे प्रतीत होता है कि उपनयन में अध्ययनाङ्गत्व नहीं है, किन्तु उसमें (उपनयन में) अध्यापनाङ्गत्व ही है।

समाधान— कर्त्रर्थत्वं च फलस्येति। अध्यापनाङ्गत्ववादी पूर्वपक्षी ने जो कहा कि 'फलं यत्समवेतं भवति, तदर्थमेव भवत्ति'। किन्तु यह कोई व्याप्ति नहीं है; क्योंकि छेदन का फल द्वैधीभाव (दो टूक होना) है। काष्ठसमवेत होने पर भी वह काष्ठार्थ नहीं है; किन्तु पाक आदि के लिये ही है। उसी तरह उपनयनसंस्कार, माणवकसमवेत रहने पर भी तुम्हारे (प्रभाकर के) पक्ष में उसे अध्यापकार्थ ही कहना होगा; क्योंकि तुम्हारे मतानुसार अध्यापक की ही प्रधानता है। तथाच उपनयनफल उपनयनकर्तृगामी होने से पुनरपि आत्मनेपद का विधान अनर्थक ही रहेगा। अत: स्वरितञित: सूत्र में जो कर्त्रर्थत्व कहा गया है, उसे (कर्त्रर्थत्व को) कर्ता में समवायरूप (सम्बन्धरूप) से नहीं समझना है; किन्तु कर्त्तृगामित्व अर्थात् कर्त्रभिप्रायविषयत्व रूप से समझना है। एवञ्च कर्त्रर्थत्व का तात्पर्य कर्त्तृगामित्व से है, कर्त्ता के अभिप्राय का जो विषय हुआ करता है, उसे ही कर्त्तृगामी कहा जाता है। अत: कर्त्रभिप्रायत्वमेव कर्त्रर्थत्वम्, न कर्तरिसमवायरूपं कत्रर्थ-त्वम्। उक्त कर्त्रर्थत्व को कर्त्ता में समवायरूप (कर्त्ता में सम्बद्ध) मात्र माना जाय तो स्वरितञित: सूत्र से आत्मनेपद का विधान वहीं पर होगा, जहाँ क्रियाफल कर्त्ता में समवेत (सम्बद्ध) हो। तथाच परिणाम यह होगा कि आधान के फलरूप जो आहव-नीयत्व आदि हैं, वे अग्नि से समवेत (सम्बद्ध) हैं, आधान करने वाले यजमान से सम्बद्ध नहीं हैं। ऐसी स्थिति में 'अग्नीन् आदधीत' इस वाक्य में आदधीत आत्मनेपदी प्रयोग हो ही नहीं सकता, किन्तु दृष्टिगोचर तो हो रहा है। उसी कारण यह निश्चय हो रहा है कि स्वरितञित: कर्त्रभिप्राये सूत्रगत कर्त्रभिप्रायत्व का तात्पर्य कर्त्रर्थत्व ही है, कर्त्तृसमवेतत्व नहीं। तथाच आधान के फलभूत आहवनीयादि में ही यजमान का अभि-प्राय है, अर्थात् यजमान के अभिप्राय का विषय आहवनीयादि ही है। उसी कारण आदधीत क्रिया में जो आत्मनेपद का प्रयोग किया गया है, वह उचित ही है। इसी तथ्य को माधवाचार्य ने षष्ठाध्याय के षष्ठ पाद में बताया है— 'आदधीतेत्यात्मनेपदमाधान-फलस्य कर्त्तृगामितां दर्शयति, तत्फलं चाग्नीनां कर्मयोग्यता इति'। एवञ्च फल का कर्त्रर्थत्व कर्त्रभिप्रायत्वरूप है, न कि कर्त्ता के साथ उसका सम्बन्ध होना। यदि कर्त्रर्थत्व को कर्त्तृसमवायरूप (कर्तृसम्बन्धरूप) कहा जाय तो अग्नीन् आदधीत वाक्य में आत्मने-पद का प्रयोग नहीं हो सकेगा; क्योंकि आधान के फलरूप जो आहवनीयत्वादि हैं, वे अग्नि से समवेत हैं, कर्त्ता के साथ उनका सम्बन्ध नहीं है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि कर्त्रभिप्रायत्वमेव कर्त्रर्थत्वम्, न तु कर्तृसमवाय: यह सिद्ध हुआ। तथाच संस्कार माणवकसमवेत रहने पर भी तुम्हारे मत में (प्रभाकर के मत में) अध्यापकार्थ ही समझना होगा; क्योंकि उसी की (अध्यापक की) ही प्रधानता है। अत: उपनयनरूप फल माण-वकसमवेत रहने पर भी संस्कार तो उपनयनकर्ता अध्यापक के अभिप्राय का विषय होने

से 'स्वरितञितः' सूत्र से ही निञ् में आत्मनेपद की प्राप्ति होने पर पुनः आत्मनेपद का विधान करना अनर्थक ही रहेगा। अतः उपनयन को अध्ययन का अङ्ग ही कहना होगा और उपनयन का फलस्वरूप अध्ययन परगामी होने से परस्मैपद की प्राप्ति होने पर, उसके बाधनार्थ पुनः आत्मनेपद का विधान करना सार्थक ही कहा जायेगा।

प्रभाकरमत की अपेक्षा हमारे (भाट्ट) मत में जो विशेषता है, उसे बता रहे हैं— **इयं च स्मृतिरिति**। उपनीय तु यः शिष्यम् यह स्मृतिवचन है और हम अष्टवर्षं ब्राह्मण-मुपनयीत श्रुतिवचन को बता रहे हैं। इस श्रुतिवचन में ब्राह्मणम् यह द्वितीया श्रुति है। स्मृति की अपेक्षा श्रुति की प्रबलता, अपौरुषेय होने से और स्मृति की मूलभूत होने से स्पष्ट ही है। उपनयन में जो अध्यापनाङ्गत्व है, वह स्मृति से ज्ञात हो रहा है। अतः प्रबलश्रुति से उसका बाध हो जाता है। **तस्मादिति**। उपर्युक्त विचार से निष्कर्ष यह निकला कि उपनयन में अध्यापन का अङ्गत्व नहीं है, अर्थात् अध्यापन का अङ्ग उपनयन नहीं है। इस कारण तद्द्वारेण उपनयन के द्वारा अध्ययन में अध्यापनप्रयुक्तत्व नहीं है। अध्यापनाङ्गम् अध्यापनस्य अङ्गम्, इस समास में अध्यापनगत षष्ठी का अर्थ निरूपितत्व है, अतः अर्थ इस प्रकार होगा— अध्ययनविषया अध्यापननिरूपिता प्रयुक्ति-र्नास्ति इति।

(प्राभाकरमतखण्डनम्)

यच्च उपनीतस्य व्यापारापेक्षायामुपनयनं प्रक्रम्य विहितमध्ययनं तद्व्यापारत्वेन अध्यवसीयते इति, तदपि अबुद्धिपूर्वकम्। एवं हि वदता अध्यापनाङ्गमध्ययनमित्युपपादितं भवति, यदा ह्यध्यापनार्थत्वेनोपनीतस्य माणवकस्य तदुपयोगिव्यापारापेक्षायामध्ययनविधिरध्ययनं तदुपयोगिव्यापारतया विधत्ते— त्रैवर्णिकैरुपनीतैरध्यापनौपयिकव्यापारापेक्षैरध्ययनव्यापारः कर्तव्य इति। तदापि स्पष्टमेवाध्यापनशेषोऽध्ययनमिति दूरनिरस्तमर्थज्ञानार्थत्वमिति सुनिरूपितो वाक्यार्थः।

पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि 'तदुपनयोऽपि न अकिञ्चित्करः अङ्गमिति तद्व्यापारापेक्षायाम् उपनयनं प्रक्रम्य विहितम् अध्ययनम् अध्यापनोपकारित्वादुपनीतस्य व्यापारत्वेन अध्यवसीयते' उसी को 'यच्च उपनीतस्य व्यापारापेक्षायाम्' आदि कहते हुए उपस्थित कर उसका खण्डन 'तदपि अबुद्धिपूर्वकम्' आदि ग्रन्थ से कर रहे हैं। **एवं हि वदतेति**। निष्कर्ष यह है कि प्रभाकर के मत से माणवक को जो उपनीत किया गया है, वह (उपनयन) अध्यापक उसे अध्यापन कर सके, इसीलिये किया गया है। अतः उपनीत माणवक का जो अध्ययनरूप व्यापार है, वह अध्यापक के अध्यापनसिद्धि के लिये ही है। इससे स्पष्ट है कि अध्ययन अध्यापन का ही अङ्ग है। उपनीत माणवक को अध्यापक, अध्यापन कर सके, तदर्थ माणवक का व्यापार क्या होना चाहिये? **यह**

जिज्ञासा होने पर अध्ययनविधि, अध्यापनोपयोगी (तदुपयोगी) व्यापार (अध्ययन) का विधान करता है। पूर्वपक्ष के अनुसार निष्पन्न हुए विधिवाक्यार्थ को बता रहे हैं— त्रैवर्णिकैरुपनीतैरध्यापनौपयिकव्यापारापेक्षैरध्ययनव्यापार: कर्तव्य: इति। इस प्रकार तुम्हें भी (प्राभाकरों को भी) यही अभीष्ट है कि अर्थज्ञानार्थ (अर्थज्ञान के लिये) ही अध्ययन की आवश्यकता है। अर्थज्ञानार्थ अध्ययन की आवश्यकता तुम्हें अभीष्ट रहने पर भी तुम स्वयं उसी का ही खण्डन कर रहे हो? प्राभाकरों ने ही यह कहा था— अध्यापनार्थत्वेन उपनीतस्य माणवकस्य तदुपयोगिव्यापारापेक्षायाम् अध्ययनविधि:, अध्ययनं तदुपयोगि-व्यापारतया विधत्ते। त्रैवर्णिकै: उपनीतै: अध्यापनौपयिकव्यापारापेक्षै: अध्ययनव्यापार: कर्तव्य:। इससे स्पष्ट है कि प्राभाकरों को भी अध्ययन का अर्थज्ञानार्थ होना ही अभीष्ट है। तथापि अपने अभीष्ट को अपने ही हाथों से भ्रष्ट कर रहे हो। तुम अध्ययन को अध्यापन का अङ्ग सिद्ध करने में तत्पर हो रहे हो अर्थात् अध्ययन को अध्यापनार्थ सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हो। अध्ययन को अर्थज्ञानार्थ सिद्ध करने का प्रयास नहीं कर रहे हो। अध्ययन की अर्थज्ञानार्थता को तो तुमने दूर फेंक दिया है। शास्त्रीय वाक्य का अर्थ, बहुत अच्छी तरह करना जानते हो। यहाँ पर आप बेढ़ब कलाकुशलता में महान् विद्वान् प्रतीत हो रहे हो।

शंका— हमारा (प्राभाकरों का) कहना यह नहीं है कि अध्यापनविधि अध्यापन की सिद्धि के लिये उपनीत माणवक के व्यापाररूप में अध्ययन का विधान कर रहा है, जिससे कोई कह सके कि अध्ययन अर्थज्ञानार्थ नहीं हो सकेगा, किन्तु अध्ययनविधि अर्थज्ञानार्थ ही अध्ययन का विधान कर रहा है। हमारा तात्पर्य इतना ही है कि अध्ययन-विधि के द्वारा अर्थज्ञानार्थ विधीयमान जो अध्ययन है, उसका अनुष्ठान अध्यापक के अध्यापनौपयिक व्यापार के रूप में होने से वह अध्ययन अध्यापनविधिप्रयुक्त ही समझना चाहिये।

अथाध्ययनविधिरध्ययनमर्थज्ञानार्थतया विधत्ते नाध्यापनौपयिकतया, तदाऽऽह्यध्ययनस्य तदौपयिकत्वं केन प्रमाणेन गम्यते? न ह्यत्र प्रत्यक्षा-दीनि क्रमन्ते। सन्निधानादिति चेत्। न सन्निधानं नाम स्वयं प्रमाणं शब्दस्य त्वर्थं प्रतिपादयत: सन्निध्यपेक्षायोग्यत्वानीतिकर्तव्यता नेत्र-स्येवोन्मीलनम्। शब्दश्चेदध्यापनौपयिकतयाऽध्ययनं विदध्यात् नार्थ-ज्ञानार्थता सिद्ध्येत्। अर्थज्ञानार्थतया विधानेऽध्यापनौपयिकता न सिद्ध्येत्। अतो नोपनयनसन्निधौ स्वाध्यायोध्येतव्य: इति विहित-स्याध्ययनस्योपनयनद्वाराऽध्यापनविधिना प्रयुक्तिसम्भव:।

समाधान— **अथाध्ययनविधिरिति**। भाट्टानुयायी प्राभाकरों की उक्त शंका पर उनसे पूछ रहे हैं कि जब अध्ययनविधि अर्थज्ञानार्थ ही अध्ययन का विधान कर रहा है, अध्यापनौपयिकता के रूप में नहीं कर रहा है, अर्थात् अध्यापनसाधनत्वेन रूपेण

अध्ययन का विधान नही कर रहा है, तब तो हम एक प्रश्न आपसे पूछ रहे हैं, उसका उत्तर दें। हमें प्रथमतः आप लोग अध्ययन में जो अध्यापनौपयिकत्व (अध्यापनसाधनत्व) है, उसे किस प्रमाण से आपने जान लिया? **न ह्यत्र प्रत्यक्षादीति क्रमन्ते इति।** उपर्युक्त कथन में कोई प्रमाण नहीं है। **न ह्यत्रेति।** अध्ययन के अध्यापनौपयिकत्व में, अध्यापन-साधनत्व में कोई प्रमाण नहीं है। अध्ययन में अध्यापनौपयिकत्व (अध्यापनसाधनत्व) तो अध्ययनविधि से ही प्राप्त हो सकता है; क्योंकि अध्ययन में अध्यापनौपयिकत्व बताने का सामर्थ्य अध्ययनविधि में ही है। अध्ययनविधि अध्यापनौपयिकत्वेन रूपेण अध्ययन का विधान नहीं कर रहा है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों में भी उस साध्य-साधनभाव को बताने की शक्ति नहीं है।

शंका— सन्निधानात् इति चेत्? जैसे भोजन के अङ्गभूत शाकादि प्रकरण में पठित जीरक-राई-मिर्च-हीग आदि में भी सन्निधिपठितत्व होने से भोजनाङ्गत्व की प्रतीति होती है, उसी तरह यहाँ भी सन्निधान (सन्निधि) के कारण ही अध्ययन में अध्यापनौ-पयिकत्व (अध्यापनाङ्गत्व) की प्रतीति हो सकती है। सन्निधान (सन्निधि) का स्वरूप यही है कि अध्यापन के अङ्गभूत उपनयन प्रकरण में पठित होना; क्योंकि उपनयन प्रकरण में अध्ययनविधि का पाठ किया गया है। उपनयन ही जब अध्यापन का अङ्ग है, तो तत्प्रकरण-पठित अध्ययन भी अध्यापन का अङ्ग क्यों नहीं होगा? अतः अध्ययन अध्यापन का अङ्ग ही है। अथवा इसे अन्य प्रकार से भी समझ सकते हैं— अध्यापयीत पद में अध्यापन तो णिच् प्रत्यय का अर्थ है और धात्वर्थ अध्ययन ही है। ये दोनों एक पदोपात्त होने से दोनों का परस्पर सान्निध्य (सन्निधि) है। उनमें से प्रत्ययार्थ जो अध्यापन है, उसकी प्रधान्नता रहने से धात्वर्थ (जो) अध्ययन (है, उस) में अध्यापनाङ्गत्व ही रहेगा। एवञ्च सन्निधिप्रमाण के बल पर अध्ययन में अध्यापनाङ्गत्व ही निश्चित हो रहा है।

समाधान— न सन्निधानं नाम स्वयं प्रमाणमिति। जैसे नेत्रोन्मीलन के बिना चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः चाक्षुष प्रत्यक्ष करने में नेत्रोन्मीलन को इतिकर्तव्यता-रूप माना जाता है, वह (नेत्रोन्मीलन) कोई प्रमाणान्तर नहीं है। इतिकर्तव्यता का अर्थ है— कर्तव्यस्य इति = प्रकारः, तदितिकर्तव्यं, तस्य भावः इतिकर्तव्यता, अथवा इतिकर्तव्यत्वम्— अर्थात् कार्य (काम) करने की पद्धति को इतिकर्तव्यता कहते हैं; उसी तरह सन्निधि-अपेक्षा-योग्यता— ये शाब्दबोध के होने में इतिकर्तव्यतारूप हैं, ये कोई पृथक् प्रमाणान्तर नहीं हैं, किन्तु आप सन्निधान को प्रमाण समझकर अध्ययन मे अध्यापनाङ्ग कह रहे हैं। एवञ्च परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः इस न्याय के अनुसार उभयः पाशारज्जुः कहने की स्थिति में आप आ गये हैं।

शब्दश्चेदध्यापनौपयिकतयेति। शब्द अर्थात् अध्ययनविधि स्वयं ही अध्यापनौ-पयिकतया अर्थात् अध्यापनसाधनत्वेन अध्ययन का विधान करता है, तो उसकी (अध्ययन की) अर्थज्ञानार्थता सिद्ध नहीं हो पाती, तथैव अर्थज्ञानार्थत्वेन अध्ययन का

विधान करते हैं तो उसकी (अध्ययन की) अध्यापनौयिकता (अध्यापनसाधनता) सिद्ध नही हो पाती। **अतो नोपनयनसन्निधाविति**। अत: उपनयन की सन्निधि में पठित स्वाध्यायोऽध्येतव्य: विधि से विहित अध्ययन की प्रयुक्ति उपनयन के द्वारा अध्यापनविधि से होना सम्भव नहीं है।

वस्तुतस्तु सन्निधान शब्द का तात्पर्य अङ्गत्वबोधक श्रुति-लिंगादिगत स्थानप्रमाण में है। इस स्थान-प्रमाण के दो भेद (प्रकार) हैं— (१) पाठसादेश्य और (२) अनुष्ठानसादेश्य। पाठसादेश्य के भी दो भेद हैं— (१) यथासंख्यपाठ और (२) यथासन्निधिपाठ।

यथासन्निधिपाठ का उदाहरण लौगाक्षिभास्कर ने बताया है— 'वैकृताङ्गानुवादेन विहितानां सन्दंशपतितानां विकृत्यर्थत्वं सन्निधिपाठात्, यथाऽऽमनहोमानाम्' इति। उसी तरह यहाँ भी अध्यापनविधायक श्रुति-स्मृति के द्वारा अनुमीयमान होने से अध्यापन का साक्षात् सांनिध्य नहीं रहने पर भी उपनयन द्वारा अध्यापन का सांनिध्य रहने से अध्ययन में अध्यापनाङ्गत्व का होना सम्भव है।

किन्तु उक्त कथन भी युक्तिरहित होने से असङ्गत ही है। असङ्गतता इस प्रकार है— पूर्वोक्त रीति से स्थान की प्रमाणों में गणना करना सम्भव नहीं है, उसी तरह उपनयन को भी अध्यापन का अङ्ग कहना नितान्त असम्भव है; क्योंकि उपनयन तो बटु (माणवक) के संस्कारार्थ है। यदि एकपदोपात्तत्व रूप सान्निध्य (सन्निधि) कहा जाय तो जैसे यजेत में प्रत्ययार्थभूत संख्या को ही धात्वर्थयाग का अङ्ग माना जाता है, उसी तरह यहाँ भी प्रत्ययार्थ अध्यापन को ही धात्वर्थरूप अध्ययन का अङ्ग कहना होगा। कहा भी है— 'यजेतेत्याख्याताभिहितसंख्याया अर्थभावनाङ्गत्वं समानाभिधानश्रुते:, एकपदश्रुत्या च यागाङ्गत्वम्' इति। एवंच उपनयन की सन्निधि मे अध्ययनविधि से विहित अध्ययन की प्रयुक्ति (प्रयुक्तत्व) उपनयन द्वारा अध्यापनविधि से होना सम्भव नहीं है।

यदि परमध्यापनस्याऽध्ययनमन्तरेणाऽसम्भवात् पदार्थस्वभावेनाऽध्ययनमाक्षिप्यते? तथा सत्यविहितेन लौकिकेनाऽध्ययनेन तत्सम्भवान्न विहितस्याऽध्ययनस्य नियोगतस्तत्प्रयुक्ति:। न च प्रयुक्तिलाघवादपि विहितोपजीवनम्।

शंका— अध्ययन को अध्यापन का अङ्ग मानने में अर्थापत्ति ही प्रमाण है। उसी का उपपादन कर रहे हैं जैसे परकर्तृक अध्ययन के बिना अध्यापन का होना सम्भव नहीं है; अत: अध्यापनसिद्ध्यर्थ अध्ययन का आक्षेप (कल्पना) करेंगे, अध्यापन की सिद्धि के लिये कल्प्यमान अध्ययन, तो अध्यापन का अङ्ग अर्थात् ही कहा जायेगा। जैसे भोजन के बिना पीनत्व (पुष्टता) का होना सम्भव नहीं है, उसी कारण पीनत्वसिद्ध्यर्थ कल्प्यमान जो रात्रिभोजन है, वह पीनत्व का अङ्ग (साधन) अर्थात् ही मान लिया जाता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि अध्ययन के बिना अध्यापन की सम्भावना नहीं हो सकने से पदार्थस्वभाव से (अध्यापनस्वभाव से) अर्थात् अध्ययन के बिना अध्यापन का होना कदापि सम्भव नहीं है। इस आकार से अध्ययन का आक्षेप (कल्पना) कर लिया जायेगा।

समाधान— तथा सति अविहितेन लौकिकेनेति। यदि अध्यापन सिद्धि के लिये ही अध्ययन की कल्पना करनी है तो न्याय-व्याकरण-वेदान्त आदि के अध्ययन से भी अध्यापन की सिद्धि हो सकती है; किन्तु विहित वेदाध्ययन की नियोगतः (नियोग (अपूर्व) सिद्ध्यर्थ) तत्प्रयुक्ति नहीं हो सकेगी। अर्थात् तेन अध्यापनेन प्रयुक्तिः (प्रयुक्त्व) अध्ययन में है, यह नहीं कहा जा सकेगा। प्रयुक्तिः में भाव अर्थ में क्तिन् प्रत्यय है।

अध्ययन को अध्यापन का अङ्ग मानने पर उसे (अध्ययन को) अध्यापनार्थ ही कहा जायेगा। उसे अर्थज्ञानार्थ तो नहीं कह सकेंगे। अतः अपूर्वफल की ही कल्पना करनी होगी, नियोगतः कहने का यही तात्पर्य है। वस्तुतः नियोगतः का अर्थ सङ्केतमात्रेण ही करना चाहिये, ऐसी इच्छा ग्रन्थकार की प्रतीत हो रही है। ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र ने ही कहा है— नियोगात् परतो वाऽपि शब्देन व्यज्यतामियम् के द्वारा वार्तिकस्थित नियोग शब्द की सङ्केतपरक व्याख्या की है। तथाहि 'स्मार्यत्वशक्तिरर्थस्य प्रागपि विद्यमानैव नियोगेन अर्थात् समयेन व्यज्यते। नियोगशब्देन प्रयोगवाचिना तत्कारणं समयो लक्ष्यते' इति। समयश्च सङ्केत एव। विहितस्य अध्ययनस्य अध्यापनप्रयुक्तत्वं प्रभाकर-संकेतेन न सम्भवति।

शंका— अविहित लौकिक अध्ययन किसी अन्य विधि से सिद्ध नहीं होने के कारण अध्यापनविधि से ही उसकी प्रयुक्ति मानने पर वही (अध्यापनविधि) उसका प्रयोजक कहलायेगा, तब तो गौरवदोष उपस्थित होगा और अध्ययनविधि से सिद्ध अध्ययन को स्वीकार करने पर अध्यापनविधि उसका (अध्ययन का) प्रयोजक भी नहीं कहलायेगा, किन्तु अध्ययनविधिसिद्ध अध्ययन को स्व-विषयभूत अध्यापन की सिद्धि के लिये आक्षेपकमात्र (कल्पकमात्र) स्वीकार करने में प्रयुक्तिलाघव ही होगा।

समाधान— न च प्रयुक्तिलाघवादपीति। प्रयुक्तिलाघव के लाभ से भी विहितोपजीवन अर्थात् विहित अध्ययन का आश्रय करना लाभकारक नहीं हो पायेगा। कहा भी है— 'ननु अध्यापनविधिः स्वविषयाध्यापननिर्वाहाये नियोज्यव्यापारमध्ययनमुदीक्षमाणो विहितमेवाध्ययनमध्यापनोपयोगित्वेन स्वीकरोति तदनुष्ठानस्य विध्यन्तरसिद्धत्वेन अध्यापन-विधेः स्वविषयानुष्ठानमात्रप्रयोजकत्वेन लाघवात्, नाऽविहितमध्ययनम्, तदनुष्ठानस्य विध्यन्तराऽसिद्धत्वेन अध्यापनविधेरेव तत्प्रयोजकत्वे गौरवात् इत्याशङ्क्य प्रभाकरमते अध्ययनस्य स्वविधिप्रयुक्तत्वाऽनङ्गीकरणेन प्रयुक्तिगौरवम् पक्षद्वयेऽपि तुल्यम्।

तदुपजीवनेऽपि प्रयुक्त्यनवलोपात्। विहितमप्यध्ययनमध्यापनविधि-नैव त्वन्मते प्रयुज्यते, न स्वविधिना। तस्माल्लौकिकमेवाध्ययनमुप-

नीतानामध्यापनविधिराक्षिपेत्। विधिविहितमध्ययनं परप्रयुक्त्यभावादधिकारं प्रकल्पयेत्।

पूर्वोक्त 'न च प्रयुक्तिलाघवादपि विहितोपजीवनम्' कथन के द्वारा परिहार करने में हेतु (कारण) बता रहे हैं— **तदुपजीवनेऽपीति**। तस्य उपजीवनं = तदुपजीवनं, तस्मिन्। तस्य अर्थात् अध्ययनविधि से विहित अध्ययन का उपजीवनेऽपि आश्रय करने पर भी अर्थात् अध्यापनविधि-विषयभूत अध्यापन की सिद्धि के लिये विहित अध्ययन का आश्रय करने पर भी तुम्हारे मत के अनुसार प्रयुक्ति का लोप (अभाव) होना सम्भव नहीं है; क्योंकि तुम्हारे मत से तो अध्यापनविधि से प्रयुक्त अध्ययन है; क्योंकि अध्ययनविधि से (स्वविधि से) अध्ययन की प्रयुक्ति को तुम मान नहीं रहे हो; क्योंकि अध्ययनविधि में नियोज्य (अधिकारी) का श्रवण नहीं होने से तुम्हारे मत के अनुसार अध्ययनविधि अध्ययन का प्रयोजक नहीं है और नियोज्य (अधिकारी) का अध्याहार करना तुम्हें स्वीकार नहीं है। **तस्मादिति**। अतः अध्यापनविधि से विहित अध्ययन का आश्रय करना भी तुम्हें सम्भव नहीं होने से लौकिक अध्ययन का ही आक्षेप उपनीत बालकों के लिये अध्यापनविधि कर सकेगा। स्व-विधिप्रयुक्त अध्ययन ही पर- प्रयुक्त्यभावात् अर्थात् अध्यापनविधि से प्रयुक्त नहीं होने के कारण अधिकारं अर्थात् नियोजविशेषणीभूत की कल्पना करेगा। कल्पना का स्वरूप यह होगा— 'अर्थज्ञानकामैः उपनीतैः अध्ययनं कर्तव्यम्'। तथाच निष्कर्ष यह हुआ कि अध्ययन अध्यापन का अङ्ग नहीं है।

किञ्च यद्युपनयनमध्यापनाङ्गं ततोऽध्ययनविधिरर्थज्ञानार्थः सन्नाऽध्यापनार्थतयोपनीतैस्त्रैवर्णिकैः सम्बध्येत, येऽध्यापनार्थतयोपनीतास्त्रैवर्णिकाः तदुपयोगिव्यापारमपेक्षन्ते, तेऽर्थज्ञानार्थमधीयीरन्, इत्यसम्बद्धमेव स्यात्। ततश्चोपनीतैरसम्बध्यमानोऽध्ययनविधिश्चतुर्णामपि वर्णानां स्यादिति शूद्राधिकारप्रसङ्गः। तस्मादुपनीतानां प्रयोजनाऽपेक्षिणामध्ययनकरणिकाऽर्थज्ञानभावना विधीयते इत्यध्ययनाङ्गमेवोपनयनम्, स्वविधिप्रयुक्तं चाऽध्ययनम्। प्रपञ्चेनाऽयं पक्षो न्यायरत्नमालायामेव निरस्त इत्युपरम्यते। तस्मात् पूर्वोक्त एव विचारः— किमदृष्टार्थमध्ययनम्, उत अक्षरग्रहणादिपरम्परयाऽर्थज्ञानार्थमिति।

किञ्च यद्युपनयनमध्यापनाङ्गमिति। अध्ययन के अध्यापनाङ्ग नहीं होने में अन्य कारण भी है। यदि उपनयन को अध्यापन का अङ्ग ही मानें, अध्ययन का अङ्ग नहीं मानें तो अध्यापनोपयोगि व्यापार की अपेक्षा करने वाले उपनीत माणवकों के साथ ही अध्ययन का सम्बन्ध नहीं हो पायेगा, किन्तु अध्यापनोपयोगी व्यापार की अपेक्षा करने वाले यच्च यावत् समस्त लोगों के साथ सम्बन्ध होने लगेगा, तब अध्यापनोपयोगी व्यापार की अपेक्षा तो शूद्र को भी हो सकती है, तब अर्थज्ञानार्थ अध्ययन करने में शूद्र

की भी प्रवृत्ति होने लगेगी; क्योंकि तुमने अर्थज्ञानार्थ अध्ययन करना स्वीकार किया है। शूद्रकर्त्तृक अध्ययन से अध्यापन की भी सिद्धि हो सकती है। अत: विधिविहित अध्ययन में शूद्र का भी अधिकार हो सकता है।

पीछे जो यह कहा गया था कि 'उपनयनं तु क्त्वाप्रत्ययात् तस्यैव अङ्गम्' इस कथन में एक और अन्य दोष प्रदर्शित कर रहे हैं— **किंचेति**। यदि उपनयन को अध्ययन का अङ्ग नहीं मानकर अध्यापन का अङ्ग मान लिया जाय तो अर्थज्ञानार्थ इस अध्ययनविधि का अध्यपनार्थ उपनीत त्रैवर्णिकमात्र से सम्बन्ध नहीं हो पायेगा, अपितु शूद्र के साथ भी सम्बन्ध होने लगेगा; क्योंकि केवल त्रैवर्णिकमात्र के साथ ही सम्बन्ध होने पर प्रतीयमान अर्थ इस प्रकार होगा— 'ये अध्यापनार्थतया उपनीतास्त्रैवर्णिका अध्यापनोपयोगिव्यापारमपेक्षन्ते, ते अर्थज्ञानार्थम् अधीयीरन्'। तब यह असम्बद्ध वाक्यार्थ ही निष्पन्न होगा— 'यत: अध्यापनार्थतया उपनीता अध्यापनोपयोगिव्यापारापेक्षिणो न अर्थज्ञानार्थमध्येष्यन्ते, किन्तु अध्यापनसिद्ध्यर्थमेव' अर्थात् जबकि अध्यापनार्थ ही उपनीत हुए बालक अध्यापनोपयोगि व्यापार की अपेक्षा उन्हें होती है तब वे अर्थज्ञानार्थ अध्ययन क्यों करेंगे? अर्थात् नहीं ही करेंगे; अपितु अध्यापनसिद्धि के लिये ही अध्ययन में प्रवृत्त होंगे। अध्यापनसिद्धि केवल उपनीत बालकों के अध्ययन करने मात्र से ही नहीं होती है; किन्तु शूद्रकर्त्तृक अध्ययन से भी हो सकती है। **ततश्चेति**। उसका परिणाम यह होगा कि केवल उपनीत बालकों से ही सम्बद्ध न होकर यह अध्ययनविधि चारों वर्णों से सम्बद्ध होने लगेगा। एवञ्च विधिविहित वेदाध्ययन में शूद्र को भी अधिकार प्राप्त होने लगेगा। **तस्मादुपनीतानामिति**। अत: उपनीतानां प्रयोजनाऽपेक्षिणाम् = उपनीत हुए हमलोगों का क्या कर्तव्य है? इस प्रकार उपनयन के उद्देश्य (प्रयोजन) की अपेक्षा रखनेवाले बालकों के लिये अध्ययनकरणिका अर्थज्ञानभावना का विधान किया जा रहा है। अर्थात् अर्थज्ञानभावना में, अध्ययन ही करण (साधन) है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि उपनीतस्त्रैवर्णिक: अध्ययनेन अर्थज्ञानं भावयेत् = सम्पादयेदिति यावत्। एवंच उपनयन ही अध्ययन का अङ्ग है। यह कहने से अभिप्राय यह निकला कि उपनीत बालकों को ही वेदाध्ययन करना चाहिये। अर्थात् वेदाध्ययन करना उनका (उपनीत बालकों का) कर्तव्य है। यह अर्थ उपलब्ध होने से स्पष्ट हो जाता है कि वेदाध्ययन करने का अधिकार शूद्र को नहीं है; क्योंकि शूद्रों का उपनयन नहीं हुआ है। उपनयन में अध्यापनाङ्गत्व नहीं होने से उसके (उपनयन के) द्वारा अध्यापनविधिप्रयुक्त अध्ययन है, यह नहीं कहा जा सकता, अपितु स्वविधिप्रयुक्त ही अध्ययन है। स्वविधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्य: विधि) से प्रयुक्त होने के कारण वह (वेदाध्ययन) अर्थज्ञानार्थ ही है। उसे (वेदाध्ययन को) अध्यापनसिद्ध्यर्थ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह (अध्ययन) अध्यापनविधि से प्रयुक्त नहीं है। **प्रपञ्चेनायं पक्ष इति**। उपर्युक्त पक्ष अध्ययनस्य अध्यापनविधिप्रयुक्तत्वपक्ष, उपर्युक्त पक्ष का सविस्तर विवेचन और खण्डन पार्थसारथि मिश्र निर्मित न्यायरत्नमाला में किया गया है।

यह जो कहता है कि अध्ययनविधि में नियोज्य श्रुत नहीं रहने से वह अध्ययनविधि अध्ययन का प्रयोजक नहीं हो सकता; किन्तु तुम (प्रभाकर) जो अध्यापनविधि को अध्ययन का प्रयोजक मान रहे हो, तो उसमें (अध्यापनविधि में) भी तो वही स्थिति है, अर्थात् नियोज्य का श्रवण कहाँ हो रहा है? अष्टवर्षं ब्रह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीत, उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्‌द्विजः— इन वाक्यों में भी कोई नियोज्य नहीं सुनाई दे रहा है। एवं च अध्यापनविधि और अध्ययनविधि दोनों विधिवाक्य समान ही हैं, अर्थात् नियोज्यश्रवणशून्य ही है। जब दोनों में ही नियोज्य नहीं सुनाई दे रहा है तो किसी एक को ही (अध्यापनविधि को ही) प्रयोजक माननें में, अन्य को (अध्ययनविधि को) प्रयोजक न मानने में नियामक (व्यवस्थापक) कौन होगा? अर्थात् कोई नियामक नहीं है तथा अध्यापनविधि में आचार्यत्व काम पुरुष की नियोज्य के रूप में कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। तथैव न अध्ययनविधि में अर्थज्ञान काम पुरुष की नियोज्य के रूप में कल्पना कर सकते हैं, क्योंकि दोनों में से किसी में भी नियोज्य कल्पना करने में कोई विनिगमक अर्थात् तर्क, युक्ति उपलब्ध नहीं हो रही है।

इसी तरह पूर्वपक्षी ने जो संशय उपस्थित किया था, वह भी ठीक नहीं है, उसने संशय का आकार यह उपस्थित किया था कि किम् आचार्यकसिद्धिरेव अध्ययनस्य प्रयोजनम् उत अर्थज्ञानम्? जब उभयकोटिक संशय को ही अच्छी तरह प्रदर्शित नहीं कर पाये तो आगे क्या होगा? अर्थात् कहाँ पूर्वपक्ष और कहाँ उत्तरपक्ष कर पायेंगे।

(तस्मात् पूर्वोक्त एव विचारः) इसी प्रकार प्राभाकरों का पक्ष सभी तरह से, सर्वात्मना सर्वथाच पराहत (खण्डित) हो जाता है। अतः अध्ययन स्वविधि (स्वाऽध्यायोऽध्येतव्यः) से ही प्रयुक्त होने के कारण हमें संशय इस प्रकार करना होगा कि किम् अध्ययनम् अदृष्टार्थम्? किंवा अर्थज्ञानार्थम्? इस प्रकार संशय उपस्थित करके विचार करना होगा। प्राभाकरों के द्वारा कल्पित प्रकार से विचार गतिशीलता ही नहीं प्राप्त कर पायेगी।

अतः हमने (भाट्टपक्षियों ने) विचारार्थ जिस प्रकार संशय उपस्थित किया है, उसी को सामने रखना होगा— अध्ययनं किम् अदृष्टार्थं? किंवा अक्षरग्रहणादिपरम्परया अर्थज्ञानार्थं (दृष्टार्थम्)?

(अध्ययनविध्युपसंहारः)

अथवा नाऽत्र किञ्चिद्विचार्यते, नावमिकन्यायेनैव अध्ययनस्य अक्षर-संस्कारादिपरम्परया अर्थज्ञानार्थत्वसिद्धेः। नवमे हि— साम्नामृगक्षराभिव्यक्तिद्वारेण स्तुत्युपयोगित्वदर्शनात् तादर्थ्यमेव न अदृष्टार्थत्वमिति वक्ष्यते। तेनैव न्यायेन अध्ययनस्य अर्थज्ञानार्थत्वसिद्धेरध्ययनानन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्तव्येति सिद्धमेवैतत् प्रयोजनविवक्षया सूत्रकारेण उच्यते।

यदाहुः— धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम् इति। न त्वत्र कस्यचिद् वेदवाक्यस्य अर्थो विचार्यते। तदप्याहुः— न चाऽत्र चोदना-व्याख्या गौरवं तत्र चोदितम् इति। तत् सिद्धम्, अध्ययनानन्तरं धर्म-जिज्ञासा कर्तव्येति। सा चतुर्विधा धर्मस्वरूप-प्रमाण-साधन-फलैः।

अथवा नाऽत्र किञ्चिद् विचार्यते इति। अथवा अध्ययन अर्थज्ञानार्थ है अथवा नहीं है— इस विचार को हम यहाँ नहीं कह रहे हैं; क्योंकि नावमिकन्याय से ही यह निर्णय किया गया है अर्थात् नवमाध्याय में बताया गया है कि साम्नां दृष्टप्रयोजनार्थ-त्वम् = साम का फल-दृष्ट होता है, अदृष्टफल नहीं। उसी न्याय से अध्ययन का भी दृष्ट फल (अर्थज्ञान) का होना ही मान लिया जाय। सभी का यह अनुभव है कि अध्ययन करने पर अर्थज्ञानरूप दृष्ट फल हुआ करता है। अत: इसी न्याय से दृष्टफल के सम्भव रहते अदृष्ट फल की कल्पना करके बैठना उचित नहीं है। इसीलिये दृष्ट फल के सम्भव रहते अदृष्ट फल कल्पना करने का निषेध किया गया है। उसी कारण अध्ययन के फल का विचार करने की आवश्यकता यहाँ पर नहीं है। यहाँ तो शास्त्र के आरम्भ करने का प्रयोजन (फल) प्रदर्शित करने के लिये नावमिकसिद्ध अर्थ को ही यहाँ पर बताया जा रहा है; क्योंकि अध्ययन का फल यदि दृष्ट न हो तो विचारशास्त्र का आरम्भ ही नहीं हो पायेगा। अर्थात् अध्ययन का कोई दृष्ट फल ही अनुभव में नहीं होगा तो विचार किस पर होगा? विचारणीय विषय ही कोई नहीं रहेगा।

जब अध्ययन का अर्थज्ञानरूप दृष्ट फल माना जायेगा, तब तो कोश-व्याकरण आदि की व्युत्पत्ति के बल पर आपातत: (सरसरी, स्थूलत:) अर्थप्रतीति (अर्थज्ञान) हो जाने पर भी कदाचित् जहाँ कहीं सन्देह उत्पन्न हो जाय तो उसका निरास (दूर) होना सम्भव नहीं होगा। अत: संदेहनिरासार्थ वेदवाक्यार्थ विचार करना ही होगा, वह तो कर्तव्य कोटि में ही आ जाता है। वह वेदवाक्यार्थविचार तभी हो सकेगा, जब विचार-शास्त्र का आरम्भ किया जाय। अत: विचार शास्त्रारम्भ करना (मीमांसारम्भ करना) अत्यन्त आवश्यक है। मीमांसाशास्त्रारम्भ की अत्यावश्यकता को प्रदर्शित करने के लिये यहाँ पर अध्ययन फल का विचार करना मात्र बताया गया है; क्योंकि वह नावमिक न्याय से ही सिद्ध है, इसलिये यहाँ पर उसके विस्तृत विचार की आवश्यकता नहीं है। अतएव पार्थसारथि मिश्र ने कह दिया— अथवा नाऽत्र किञ्चिद् विचार्यते, नावमिकन्यायेनैव अध्ययनस्य अक्षरसंस्कारादिपरम्परया अर्थज्ञानर्थत्वसिद्धे इति। उपर्युक्त नावमिकन्याय का तात्पर्य है कि नवमाध्याय के द्वितीय पाद का द्वितीय अधिकरण अर्थात् ९।२।२ में द्रष्टव्य है।

नवमे हीति। नवमे = नवमाध्याय के द्वितीय पाद के द्वितीयाधिकरण में। नावमिक-न्याय (न्याय = अधिकरण) में बताया है कि साम्नामृगक्षराभिव्यक्तिरिति कर्म वा विधि-लक्षणम् इस सूत्र में विचार करते हुए सन्देह प्रदर्शित किया है कि क्या साम अदृष्टार्थ

है अथवा स्तुतिलक्षण दृष्टार्थ है? यह सन्देह करने के पश्चात् सम्भवति दृष्टफलकत्वे अदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात् इस न्याय से स्तुतिलक्षण दृष्टफलकत्व को व्यवस्थापित (निश्चित) किया है। किन्तु साम के द्वारा स्वरूपत: तो स्तुति का होना सम्भव नहीं है; क्योंकि साम तो स्वरसंस्थानविशेष हैं, साम के आधार (आश्रय) भूत ऋग् (ऋचाओं) के द्वारा तो स्तुति की जा सकती है। कहा भी है— 'ऋगक्षराभिव्यक्तिद्वारेण' इति। एवं च सामों का उपयोग ऋगक्षराभिव्यक्ति द्वारा स्तुति करने में होता है। अत: साम्नां तादर्थ्यम् = साम स्तुत्यर्थ है अर्थात् साम दृष्टार्थ है; अदृष्टार्थ नहीं है। नवमाध्याय में भी स्वयं ही कहेंगे—

अक्षराणामभिव्यक्ति: साम्नां दृष्टं प्रयोजनम्। अक्षरैश्चाप्यभिव्यक्तै:
स्तुति: क्रत्वङ्गचोदिता ॥
एवं दृष्टे फले लब्धे नाऽदृष्टपरिकल्पना ॥ इत्यादि॥

माधवाचार्य ने भी कहा है—

सामर्चं प्रति मुख्यं स्याद् गुणो वा, बाह्यपाठत:।
मुख्यमभ्यसितुं पाठो गुणो गीताक्षरै: स्तुते:॥

गान से संस्कृत हुए ऋगक्षरों से स्तुति करना सम्भव भी है। आज्यै: स्तुवते, पृष्ठै: स्तुवते— आज्यस्तोत्रों से पृष्ठस्तोत्रों से स्तुति करे। इस प्रकार से स्तुति करने का विधान किया गया है। एवंच ऋचाओं के अक्षरों की स्वरविशिष्ट आकारों से अभिव्यक्ति होना दृष्ट फल (दृष्ट प्रयोजन) है। अत: अदृष्ट की कल्पना नहीं होने से गान को संस्कार-कर्म बताया गया है। तथाच जैसे गान से संस्कृत हुए ऋचाओं के अक्षरों का दृष्टफल स्तुति ही है, उसी तरह अध्ययन संस्कार से संस्कृत हुए वेदों का दृष्ट फल अर्थ-ज्ञान ही है।

अथवा जैसे सामों की स्तुत्यर्थता ऋगक्षरों की अभिव्यक्ति द्वारा होती है, वैसे ही अक्षरग्रहण द्वारा अध्ययन की अर्थज्ञानार्थता भी वक्ष्यमाण नावमिकन्याय से ही होने के कारण उसके दृष्टार्थत्व का निर्णय हो चुका है। उसी कारण यहाँ पर उसके विचार करने की आवश्यकता नहीं है। अर्थज्ञान भी धर्मविचार (धर्मजिज्ञासा) ही है। अत: वह (धर्मविचार) वेदाक्षरों के ग्रहण करने के (अध्ययन के) अनन्तर (पश्चात्) ही सम्भव हो सकता है। 'सिद्धमेवैतत्प्रयोजनविवक्षयेति'। यद्यपि नावमिकन्याय से यह सिद्ध हो चुका है कि अध्ययन का फल अर्थज्ञान है, तथापि एतत्प्रयोजनविवक्षया अर्थात् शास्त्रारम्भ करने की प्रयोजन-विवक्षा से (शास्त्र के आरम्भ करने का प्रयोजन अर्थज्ञान है, इस विवक्षा से) सूत्र की रचना की है।

सूत्रगत 'अथ' शब्द वेदाध्ययनाऽऽनन्तर्य को बता रहा है, तदनन्तर 'अत:' शब्द, वेदाध्ययन की दृष्टार्थता को बता रहा है, जबकि वेदाध्ययन अर्थज्ञानरूपदृष्टार्थ है, अत: = उसी कारण वेदार्थरूपधर्म की जिज्ञासा = विचार, कर्तव्य: पद का अध्याहार

करना होगा; क्योंकि जिज्ञासा का **अर्थ है**— जानने की इच्छा। किन्तु इच्छा की नहीं जाती अर्थात् प्रयत्नसाध्य नहीं है, वह तो (इच्छा तो) अपने-आप स्वयं हुआ करती है। इसलिये जिज्ञासा पद की विचार में लक्षणा की गई है। एवंच विचार अर्थ लाक्षणिक है। एवंच वेदार्थरूपधर्म का विचार करना चाहिये, तदर्थ विचारशास्त्र (मीमांसाशास्त्र) का **आरम्भ करना ही चाहिये; क्योंकि वह कर्तव्य की कोटि में आ गया है। तथाच निष्कर्ष** यह हुआ—

आनन्तर्यमथेत्युक्तमतो वृत्तस्य हेतुता।
वेदाक्षरगृहीत्यन्ते स्मृता धर्मविचारणा।।

एवंच— 'अध्ययनानन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्तव्या' **यह कहने में** प्रमाण यह है कि **धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्** अर्थात् धर्माख्य (धर्मसंज्ञक) **विषय का प्रतिपादन करना ही मीमांसाशास्त्र का प्रयोजन है।** मीमांसाशास्त्र का उद्देश्य ही धर्म-प्रतिपादन करना है। निष्कर्ष यह है कि यदि धर्म का विचार नहीं किया जायेगा तो मीमांसाशास्त्र (मीमांसादर्शन) ही निष्फल (निष्प्रयोजन) हो जायेगा। मूल ग्रन्थ में ग्रन्थ-कार ने 'धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्' इस उत्तरार्ध का ही उल्लेख किया है, किन्तु उसका पूर्वार्ध इस प्रकार है— 'अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्रमाद्यमिदं कृतम्'। पूर्वार्ध के साथ उत्तरार्ध को जोड़कर सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार पढ़ा जायेगा—

अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्रमाद्यमिदं कृतम्।
धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्।।

ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र ने धर्माख्यं विषयं वक्तुम् के पूर्व 'यदाहुः' कहा है। उसका अभिप्राय यही है कि प्रथम सूत्र अथातो धर्मजिज्ञासा तो शास्त्रारम्भप्रयोजनप्रदर्शक है, ऐसा वार्तिककार भट्टपाद ने कहा है। यह इसलिये बताना पड़ा कि कोई व्यक्ति इस आदिम (प्रथम) सूत्र से पूर्वपक्ष के उत्थान की शंका नहीं करे।

न त्वत्र कस्यचिद् वेदवाक्यस्यार्थो विचार्यते अर्थात् इस प्रथमसूत्र से वक्ष्यमाणसूत्रों के समान किसी वेदवाक्य के ऊपर विचार नहीं किया जा रहा है। यहाँ तो केवल इतना ही कह रहे हैं कि धर्मजिज्ञासा कर्तव्या न वा। क्योंकि सामान्यतया धर्मजिज्ञासा करनी चाहिये (कर्तव्यता)— यह सिद्ध हो जाने पर ही धर्मप्रतिपादक वेदवाक्यों का विशेष रूप से विचार करना सङ्गत समझा जायेगा; क्योंकि सामान्य रूप से सिद्ध हुए बिना विशेष रूप से सिद्धि नहीं हुआ करती, इस कथन में भी श्लोकवार्तिक का प्रमाण उपस्थित कर रहे हैं— **तदप्याहुः इति।**

न चात्र चोदनाव्याख्या गौरवं तत्र चोदितम्— अत्र = इस प्रथम सूत्र में चोदना = वेदवाक्यं अर्थात् वेदवाक्य का विचार नहीं करना है। अथवा चोदनाव्याख्या चोदनायाः व्याख्या। अर्थात् किसी वेदवाक्य की व्याख्या नहीं करनी है; क्योंकि ऐसा करने पर महान् गौरवदोष होगा। चोदना की व्याख्या करने में चोदना का भी विचार करना पड़ेगा और

साथ ही मीमांसारम्भलक्षण धर्मजिज्ञासा भी करनी होगी, अर्थात् धर्मजिज्ञासा की कर्तव्यता को भी कहना होगा। एवंच दोनों को बताने में गौरवदोष होगा। अभी तक के ऊहापोह से यह सिद्ध हो रहा है कि अध्ययनानन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्तव्या। वेदाध्ययन के पश्चात् धर्मजिज्ञासा (धर्मविचार) करनी चाहिये। फिर भी जिज्ञासा किस प्रकार से की जाय? यह प्रश्न उपस्थित होने पर कह रहे हैं— सा चतुर्विधा धर्मस्वरूप-प्रमाण-साधन-फलैः। अर्थात् वह जिज्ञासा (विचार) चार प्रकार से करनी होगी— (१) धर्मस्वरूपजिज्ञासा, (२) धर्मप्रमाणजिज्ञासा, (३) धर्मसाधनजिज्ञासा, (४) धर्मफलजिज्ञासा।

अभिप्राय यह है कि धर्मस्य स्वरूपं किम्? धर्म का स्वरूप क्या है। अत्र धर्मे प्रमाणं किम्? इसको धर्म होने में क्या प्रमाण है। अस्य धर्मस्य साधनं किम्? इस धर्म के अनुष्ठान का उपाय क्या है। अस्य धर्मस्य फलं किम्? इस धर्म के अनुष्ठान से फल क्या होगा। एवंच धर्मजिज्ञासा करने के उक्त चार प्रकार हैं।

(धर्मस्वरूपविचाराक्षेपपरिहारौ)

नन्वध्ययनविधिना वेदवाक्यार्थविचारमात्राक्षेपाद् धर्मस्वरूपप्रमाण-जिज्ञासयोः कः प्रसङ्गः? उच्यते— उपोद्घातत्वात् प्रसङ्गः। यदि हि वेदवाक्यार्थो धर्मः स्याद्, वेदश्च प्रमाणं, ततोऽसौ विचारः कर्तव्यो भवति। इतरथा काकदन्तपरीक्षावत् स्यात्, तदध्ययनविधिरेव प्रमाणादि-विचारमाक्षिपति। धर्मग्रहणं चोपलक्षणार्थम्— अधर्मस्याऽपि हानाय जिज्ञास्यत्वात्। अकार प्रश्लेषेण वा सूत्रमधर्मजिज्ञासायामपि व्याख्येय-मिति निरवद्यम्।।

इति प्रथमं जिज्ञासासूत्रस्य विवरणं समाप्तम्



शंका— पूर्वपक्षी ने जो आक्षेप किया है, वह केवल इस बात पर किया है कि अध्ययनविधि ने तो केवल इतना ही कहा है कि वेदाक्षरों का ग्रहण करने के पश्चात् वेदवाक्यों के अर्थ का विचार करना चाहिये। धर्मस्वरूप तथा धर्म में प्रमाण आदि के विचार पर उसने आक्षेप नहीं किया है, तब धर्मस्वरूप प्रमाण आदि का विचार इस मीमांसाशास्त्र में क्यों किया जा रहा है? इनके विचार करने का तो कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। अतः अप्रसक्त होने से धर्मस्वरूप तथा धर्म में प्रमाण आदि का विचार करना उचित नहीं है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र ने 'ननु अध्ययनविधिना' से लेकर 'कः प्रसङ्गः' तक के ग्रन्थ से अभिव्यक्त किया है।

समाधान— 'उच्यते— उपोद्घातत्वात् प्रसङ्गः'। 'चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थमुपोद्-घातं विदुर्बुधाः' अर्थात् प्रस्तूयमान विषय की सिद्धि के लिये जो चिन्ता की जाती है, उसे उपोद्घात कहते हैं। तथाच वेदवाक्यों के अर्थ का विचार तभी सङ्गत हो पायेगा

जब वेदवाक्यों का जो अर्थ है, उसे धर्म माना जाय और उस वेदवाक्यार्थरूप धर्म में जब वेद को ही प्रमाण माना जाय। अन्यथा वेदवाक्यार्थविचार करना निष्प्रयोजन कहलायेगा और वह (वेदवाक्यार्थविचार) काकदन्तपरीक्षा के ही तुल्य समझा जायेगा; क्योंकि विचारणीय विषय तो धर्म ही प्रस्तुत है। तथाच वेदवाक्यार्थ का विचार वेदवाक्यार्थ की धर्मस्वरूपता के अधीन है; क्योंकि धर्मस्वरूप के ज्ञान के बिना वेदवाक्यार्थनिष्ठ धर्मस्वरूपता को नहीं जाना जा सकेगा और धर्मस्वरूप का ज्ञान धर्मस्वरूप के विचार पर ही निर्भर है (धर्मस्वरूप के विचाराधीन है)। अत: प्रकृत वेदवाक्यार्थ का विचार करने के लिये धर्मस्वरूप का विचार करना परम आवश्यक है। धर्मस्वरूप और प्रमाण का विचार करना उपोद्घात के रूप में प्रसङ्गत: प्राप्त है। अत: यह अध्ययन विधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्य:) ही प्रमाणादि पदार्थों के विचार का आक्षेप करता है। निष्कर्ष यह है कि अध्ययनविधि ही स्वापेक्षित विचारों को अर्थात् (अर्थापत्ति प्रमाण से ही) करा रहा है; क्योंकि वेदवाक्यार्थ विचार, धर्मस्वरूप प्रमाण साधन और फल— इन सबके विचाराधीन होने से प्रकृत अध्ययन विधि ही स्वप्रतिपाद्य वेद वाक्यार्थविचारसिद्ध्यर्थ प्रमाणादि विचार का आक्षेप कर देता है। अर्थात् धर्मस्वरूप, साधन, फल और प्रमाण— इन सबका विचार करने के लिये प्रेरित कर रहा है। अनुष्ठानार्थ धर्म जैसे जिज्ञास्य है, वैसे ही अननुष्ठानार्थ (त्यागने के लिये) अधर्म भी जिज्ञास्य है। 'वेद प्रणिहितो धर्म: अधर्मस्तद्विपर्यय:' इति।

शंका— सूत्रकार ने तो अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्र से धर्म की जिज्ञासा करने के लिये कहा है, तब अधर्म भी जिज्ञास्य कैसे हो सकेगा?

समाधान— प्रथम सूत्र (धर्मजिज्ञासा सूत्र) में अकार का प्रश्लेष करने से त्यागार्थ अधर्म भी जिज्ञास्य हो सकेगा। अर्थात् अथात: अधर्मजिज्ञासा = अथातोऽधर्मजिज्ञासा। इस पक्ष में धर्मज्ञान के अनन्तर अधर्मजिज्ञासा (विचार:) कर्तव्या सूत्रार्थ सङ्गत हो जाता है। अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि अध्ययनानन्तरं धर्माऽधर्मयोर्जिज्ञासा (विचार:) कर्तव्या। इस प्रकार से सूत्रार्थ सर्वथा निर्दुष्ट (दोषरहित) हो जाता है। अतएव ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र ने स्वयं ही कह दिया है कि धर्मग्रहणञ्च उपलक्षणार्थम् अर्थात् सूत्रगत धर्म शब्द को अधर्म का उपलक्षक समझना चाहिये। ऐसा करने पर अध्ययनानन्तरं धर्माऽधर्मयोर्जिज्ञासा कर्तव्या यह सूत्रार्थ निर्बाध रूप से निष्पन्न हो जायेगा।

इति प्रथमजिज्ञासासूत्रस्य हिन्दीविवरणं समाप्तम्



द्वितीयं धर्मलक्षणाऽधिकरणम्

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।।२।।

प्रथमं तावत् को धर्मः? कथं लक्षणकः? इत्येतद् द्वयमनेन सूत्रेण श्रुत्यर्थाभ्यां निरूप्यते— यो धर्मः स चोदनालक्षणः, चोदनैव तस्य लक्षणम् प्रमाणं, चोदना च तस्य लक्षणमेवेति श्रुत्या प्रमाणविधावर्थाच्चोदनागम्य एवाऽग्निहोत्रादिधर्मो नाऽतल्लक्षणश्चैत्यवन्दनादिरिति स्वरूपमपि सिद्ध्यति। तथा यश्चोदनालक्षणः स धर्म इति स्वरूपविधावर्थात् प्रमाणसिद्धिर्वेदितव्या।

अध्ययन करने के पश्चात् धर्म का विचार करना चाहिये— यह निश्चित होने पर, सामान्यतः धर्मस्वरूप के ज्ञानार्थ अर्थात् धर्म के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये उपर्युक्त द्वितीय सूत्र (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः) उपस्थित हो रहा है। इस सूत्र से विचारणीय विषय को संक्षेपतः बता रहे हैं— **प्रथमं तावत् को धर्म इति**? अर्थात् धर्म के अस्तित्व में प्रमाण क्या है? यह प्रश्न होने पर धर्म के स्वरूप और धर्म के होने में प्रमा— इन दोनों को उक्त सूत्र के द्वारा बता रहे हैं।

प्रश्न— धर्म का स्वरूप और धर्म के अस्तित्व में प्रमाण— ये दोनों बातें एक ही सूत्र से बताना कैसे सम्भव हो सकेगा? क्योंकि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराऽभावात्' यह नियम है।

उत्तर— श्रुत्यर्थाभ्यामिति। अर्थात् श्रुत्या सूत्रगत अक्षरों से और अर्थेन अर्थापत्ति से बताना सम्भव है। स्वरूप और प्रमाण— इन दोनों में से किसी एक को (अन्यतर को) सूत्राक्षरों (सूत्रगत अक्षरों) से बताये जाने पर दूसरे (शेष) को (अन्यतर को) अर्थापत्ति प्रमाण से बताया जायेगा। निष्कर्ष यह है कि जब सूत्रभूत (सूत्रस्वरूप) श्रुति से धर्मप्रमाण को बताया जायेगा, तब धर्मस्वरूप को अर्थात् ही (अर्थापत्ति से ही) बताना होगा; क्योंकि प्रमेय के बिना प्रमाण की उपपत्ति नहीं हुआ करती और जब सूत्रभूत श्रुति से धर्म के स्वरूप को बताया जाता है, तब धर्मप्रमाण अर्थात् (अर्थापत्ति से) ही प्रतिपादित हो जाता है; क्योंकि 'प्रमाणं विना प्रमेयाऽनुपपत्तेः' प्रमाण के बिना प्रमेय की उपपत्ति नहीं हुआ करती।

ग्रन्थकार प्रथमतः सूत्रभूत श्रुति के द्वारा प्रमाण को और अर्थापत्ति से स्वरूप को बता रहे हैं— **यो धर्मः स चोदनालक्षणः**। यहाँ पर 'यो धर्मः स चोदनालक्षणः' इतना तो सूत्राक्षरों से उपलब्ध हुआ है। चोदनालक्षणः पद में दो प्रकार से विग्रह हो सकता

है। प्रथम प्रकार, जैसे— 'चोदना एव लक्षणं यस्य सः = चोदनालक्षणः'। इस विग्रह से अन्ययोग का व्यवच्छेद (निषेध) दिखाया गया है। चोदनैव तस्य लक्षणम् इत्यादि से अयोग तथा अन्ययोग का व्यवच्छेद एव कार के द्वारा प्रदर्शित करते हुए चोदना पद की व्याख्या कर रहे हैं— चोदनैव तस्य लक्षणं प्रमाणम् इस वाक्य में चोदनैव कहकर अन्ययोगव्यवच्छेद को दिखाया गया है। प्रस्तुत धर्म में अर्थात् धर्म का ज्ञान कराने में चोदना से भिन्न अन्य कोई प्रमाण समर्थ नहीं है। इस प्रकार चोदना भिन्न प्रमाणों का व्यवच्छेद (निषेध) अर्थात् असम्बन्ध बताकर यह स्पष्ट कर दिया है कि धर्म चोदना-मात्रगम्य अर्थात् बोध्य है। एवंच चोदनामात्रगम्यो धर्मः यहाँ अन्ययोग व्यवच्छेद (निषेध) बताया है। 'चोदना' शब्द का अर्थ क्या है? भट्टपाद ने श्लोकवार्तिक में उत्तर दिया है— 'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः' अर्थात् चोदना, उपदेश, विधि— ये पर्याय शब्द हैं।

इसके बाद अयोग व्यवच्छेद (द्वितीय प्रकार) जैसे— चोदनालक्षणमेव यस्य सः = चोदनालक्षणः। इस विग्रह से अयोग का व्यवच्छेद (निषेध) दिखाया गया है। एक ही 'एव'कार अन्य योग और अयोग दोनों प्रकार के व्यवच्छेदों को बता रहा है। 'चोदना च तस्य लक्षणमेव' अर्थात् चोदना को धर्म, धर्म में (धर्मबोधन में) लक्षणम् एव प्रमाण ही समझना चाहिये। यह कहने से चोदना में धर्मनिरूपित प्रमाणत्व के अयोग (असम्बन्ध) का व्यवच्छेद (निषेध) किया गया है। निष्कर्ष यह निकला कि चोदनाया धर्मनिरूपित-प्रामाण्यमस्त्येव अर्थात् धर्मनिरूपितप्रामाण्य चोदना में है ही, अर्थात् चोदना में धर्म-बोधकत्व है ही। चोदना च तस्य लक्षणमेव इति श्रुत्या = उक्त सूत्रभूत वाक्य से प्रमाण-विधौ = प्रमाण का प्रतिपादन करने पर अर्थात् उक्त सूत्र से यह बताया है कि 'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्' इस प्रकार धर्मबोधन में चोदना (विधि) से अभिन्न (भिन्न नहीं) प्रमाण का विधान करने पर यह प्रतीत होता है कि अग्निहोत्रादि वैदिक धर्म चोदना (विधि) से ही गम्य (बोध्य) है। एवंच चोदना (विधि) विहित जो हो, उसी को धर्म कहा जाता है। विधि (चोदना) विहित होना ही धर्म का स्वरूप है। यह तथ्य अर्थात् ही (अर्थापत्ति से ही) उपलब्ध हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि चोदना (विधिशब्द) प्रमाणक धर्म है, यह कहने पर विधिविहित होना ही धर्म का स्वरूप है— यह तथ्य अर्थात् ही सिद्ध हो जाता है।

द्वितीय प्रकार, जैसे— चोदना लक्षणमेव यस्य सः = चोदनालक्षणः। इस विग्रह से अयोग का व्यवच्छेद (निषेध) दिखाया गया है। एक ही एवकार अन्ययोग और अयोग दोनो प्रकार के व्यवच्छेदों को बता रहा है— **तथा यश्चोदनालक्षण इति।** जो चोदना लक्षण (स्वरूप) हो (विधिविहित हो) उसे धर्म कहते हैं। इस प्रकार स्वरूप का विधान (प्रतिपादन) करने पर चोदनैव धर्मे प्रमाणम् चोदनारूप धर्मविषयक प्रमाण की सिद्धि अर्थात् (अर्थापत्ति से ही) हो जाती है। निष्कर्ष यह है कि जब धर्म चोदनाप्रमाणक ही

है तब चोदनैव तत्र प्रमाणम् यह तथ्य अर्थात् सिद्ध हो जाता है। एवं च लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः इस न्याय (नियम) से धर्म पदार्थ (वस्तु) की सिद्धि करने के लिये धर्मलक्षण और धर्मप्रमाण दोनों का प्रतिपादन इस द्वितीय सूत्र ने किया है, यह समझना चाहिये। वार्त्तिककार भट्टपाद ने भी यही कहा है—

धर्मे सामान्यतः सिद्धिः प्रमाणं चोदनोच्यते।
स्वरूपादेस्ततः सिद्धेः स्वरूपं चेह सूत्र्यते॥
द्वयमेकेन सूत्रेण श्रुत्यर्थाभ्यां निरूप्यते।
स्वरूपेऽपि हि तस्योक्ते प्रमाणं कथ्यतेऽर्थतः॥
किमाद्यपेक्षितैः पूर्णः समर्थः प्रत्ययो विधौ।
तेन प्रवर्तकं वाक्यं शास्त्रेऽस्मिन् चोदनोच्यते॥
चोदनैव प्रमाणं चेत्येतद् धर्मेऽवधारितम्।
साकाङ्क्षमितिमन्वानो युक्तिलेशं द्वयेऽस्पृशत्॥
चोदनाजनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः।
कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिङ्गाप्तोक्त्यक्षबुद्धिवत् ॥

यहाँ तक द्वितीय सूत्र (चोदनासूत्र) का निरूपण भट्टपाद के मतानुसार किया गया।

(प्राभाकरमतं तत्खण्डनञ्च)

कश्चित्त्वाह— कार्यरूपो वेदार्थो न सिद्धरूप इत्येतदनेन सूत्रेणोच्यते, चोदनालक्षण-शब्देन कार्यमुच्यते, धर्मशब्देन वेदार्थ इति। तदयुक्तम्— यानि तावद्विधिवाक्यानि तेषां विधावेव प्रामाण्यम्, वस्तुस्वरूपे च अप्रामाण्यं विस्पष्टमेवेति न तत्र किञ्चिद् वक्तव्यम्। क्षेपिष्ठादिवाक्यानामपि विध्येकवाक्यतया तत्रैव प्रामाण्यम्। मन्त्राणामपि प्रकरणेन प्रधानविधिशेषत्वं द्वितीयपादे वक्ष्यत इति न तत्रापि वक्तव्यमस्ति। तेन कस्य अत्र सिद्धार्थतां निरस्य कार्यार्थतोच्यते? अविनाशी वा अरे अयमात्मा इत्यादीनामुपनिषद्वाक्यानामिति चेत्? न, तेषामपि यदि विध्येकवाक्यत्वमस्ति ततोऽर्थवादाधिकरणेन गतम्, अथ नास्ति? कथं तेषां कार्यार्थता स्यात्?

कश्चित् तु आहेति। भट्टपाद के प्रतिपक्षी मीमांसक महान् प्रभाकर हैं। कश्चित् शब्द से यहाँ प्रभाकर का ही संकेत किया गया है। उनके मत का खण्डन करने के पूर्व उनके मत का उपपादन कर रहे हैं। प्रभाकर का कहना है कि प्रथम सूत्र तथा द्वितीय सूत्र में प्रयुक्त धर्म शब्द वेदार्थपरक है और द्वितीय सूत्र में प्रयुक्त चोदनालक्षण शब्द कार्यपरक है। अतः वेदार्थरूप धर्म कार्यरूप ही है, सिद्ध पदार्थ (सिद्ध वस्तुरूप) नहीं है। यह तथ्य इस सूत्र से बताया जा रहा है। तथाच— 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि कार्य (अपूर्वबोधक)

बोधक वाक्यों का ही प्रामाण्य है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि सिद्धार्थ-बोधक वाक्यों का प्रामाण्य नहीं है। प्रभाकर मीमांसक ने इस प्रकार अपने मत को उपस्थित किया है।

उपर्युक्त प्रभाकर-मत का खण्डन भट्टपाद कर रहे हैं— तदयुक्तमिति। प्रभाकर ने जो कहा, वह, उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। **यानि तावद् विधिवाक्यानीति**। भट्टपाद का कहना है कि यजेत स्वर्गकाम: आदि विधिवाक्यों का तो विधौ एव = कार्य में ही प्रामाण्य है, न तु वस्तुस्वरूपे = यागादि के स्वरूप में उनका प्रामाण्य नहीं है। अत: विधिवाक्यों का सिद्धवस्तु के स्वरूपबोधन में अप्रामाण्य तो स्पष्ट ही है। तत्र = विधिवाक्यों का वस्तुस्वरूपनिरूपित अप्रामाण्य के विषय में तो कुछ कहने की बात ही नहीं है। **क्षेपिष्ठादिवाक्यानामपीति**। उसी तरह वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता: आदि अर्थवाद वाक्यों की भी विध्येक-वाक्यतया = विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता होने से तत्रैव प्रामाण्यम् = विधि में ही उनका प्रामाण्य है, किसी वस्तुस्वरूप में नहीं। अभिप्राय यह है— 'अर्थवादानाम्प्रामाण्यं विध्येकवाकयतया' भवति। मन्त्रों का प्रामाण्य भी प्रकरणेन प्रधानविधिशेषत्वात् = अङ्गत्वबोध प्रकरण प्रमाण के सहारे प्रधानविधि के अङ्ग रूप से विधि में ही प्रामाण्य है, इसे द्वितीय पाद में बताया जायेगा। मंत्रों का प्रामाण्य भी किसी सिद्ध वस्तु के स्वरूप में नहीं है। अत: तत्राऽपि = मन्त्रों के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है। इसी प्रकार नामधेयवाक्यों की भी विध्येकवाक्यता के कारण विधि में ही प्रामाण्य है। तथाच विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध, अर्थवाद— इन भेदों के कारण पञ्चविध वेद का प्रामाण्य, स्वतएव विधि में प्राप्त है। ऐसी स्थिति में आप प्राभाकर लोग किस की सिद्धार्थता का निराकरण कर रहे है? और किसकी कार्यार्थता को बता रहे हैं? ग्रन्थकार ने 'कस्य अत्र:' में जातौ एकवचनम् किया है, अत: कस्य का तात्पर्य केषां वाक्यानाम् में समझना चाहिये।

शंका— अविनाशी वा अरे अयमात्मा, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म आदि उपनिषद् वाक्यों को अन्य लोगों ने (वेदान्तियों ने) ब्रह्मबोधक माना है, तो क्या आप उनकी सिद्ध ब्रह्मबोधकता का निरसन करके कार्यार्थता बता रहे हैं? वे वाक्य भी दर्शनादि कार्यविधिपरक ही हैं, सिद्धब्रह्मस्वरूपमात्र के बोधक नहीं हैं। अतएव आप कहना क्या चाहते हैं?

प्राभाकरों का कहना है कि सम्पूर्ण वेद ही ज्ञेय कार्यात्मक अपूर्व का बोधक (प्रमाण) है, अतएव 'को वेदार्थ:' यह पूछनेवालों से द्वितीय सूत्र में कहा था कि कार्यरूप ही वेदार्थ है। क्या ब्रह्मरूप सिद्ध अर्थ भी वेदान्तवाक्यों से प्रतीत होता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं— व्युत्पत्ति की अपेक्षा रखने वाला शब्द अर्थ का ज्ञान कराता है और व्युत्पत्ति वृद्धों के व्यवहार से होती है और वृद्धव्यवहार कार्यप्रतीतिमूलक है, शब्दव्युत्पत्ति कार्यप्रतिपादकता पर निर्भर है। फिर भी कोई शब्द साक्षात् कार्य प्रतिपादक होकर ही ज्ञान कराता है और कोई शब्द कार्यान्वित स्वार्थ का बोधक होकर ज्ञान कराता है। कार्य का ज्ञान नहीं होने पर व्यवहार नहीं हो पाता, इसे वाक्यार्थमातृका में बतलाया गया है। इस

रीति से लोकव्यवहार में सिद्धार्थपरक शब्दों का जो प्रयोग किया जाता है, वह लाक्षणिक होगा; क्योंकि कार्यान्वय परस्पर पदार्थान्वयव्यभिचारी हुआ करता है। अत: उसकी (कार्यान्वय की) अविवक्षा करके परस्परपदार्थान्वय की विवक्षा से भी लोग शब्दोच्चारण करते हैं, विवक्षा के बल पर ही लक्षणा से कार्यान्वय परता का भी निर्वाह होता रहता है; किन्तु वेद में तो लक्षणा करने का कोई कारण ही नहीं है। अत: स्वाभाविक कार्यपरत्व को किसी प्रकार भी हटाया नहीं जा सकता। इस प्रकार सिद्धपरक वाक्य से जो ज्ञान होता है, वह भी कार्यपरक ही होता है। सभी शब्दों की वृद्धव्यवहार सिद्ध कार्यपरता स्वाभाविक है और उनकी सिद्धपरता लाक्षणिक है। सम्पूर्ण व्यवहार में कार्यान्वय का व्यभिचार नहीं रहने से कार्यान्विताभिधायिता का त्याग करना सम्भव नहीं है। इसलिये सामान्यतया अर्थान्तरमात्रान्विताभिधान का आश्रय नहीं किया जा सकता। अत: आत्मा ज्ञातव्य: इस अपुनरावृत्त्यर्थ पठित विधिवाक्य के साथ वेदान्तवाक्यों की एकवाक्यता करके उन वेदान्तवाक्यों को भी कार्यपरक ही समझना चाहिये; किन्तु प्राभाकरों का उपर्युक्त कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है।

तेषामपि यदीति। तेषामपि = अविनाशी वा: इत्यादि वाक्यां की भी आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: इत्यादि विधिवाक्य के साथ यदि एकवाक्यता मान ली जाय तो अर्थवादाधिकरण से ही उन्हें कार्यपरता प्राप्त है। इसलिये उनके कार्यपरत्वसाधन का प्रयास करना व्यर्थ ही होगा। उक्त अर्थवादाधिकरण द्वितीयपाद में देख सकते हैं। अथ नास्ति? कथं तेषां कार्यार्थता स्यात्? और यदि अविनाशी वा: इत्यादि वाक्यों की विधिवाक्य के साथ वाक्यता नहीं है, तब उन वाक्यों को कार्यार्थपरक कैसे माना जा सकेगा? स्वरूपत: भी उन वाक्यों में कार्यपरता प्रतीत नहीं है और विधि के साथ एकवाक्यता भी नहीं है, उस कारण उन वाक्यों में कार्यपरता की प्रतीति होना सम्भव ही नहीं है। अत: उन वाक्यों को कार्यपरक प्रतिपादन का प्रयास करना व्यर्थ ही है। इसीलिये ग्रन्थकार ने 'कथं तेषां कार्यार्थता स्यात्'? कहा है।

अथ तेषां विध्यश्रवणाद्विध्यन्तरेणैकवाक्यत्वाभावाच्च कार्यार्थत्वानुपपत्तेर्व्युत्पत्तिविरहाच्च सिद्धार्थे प्रामाण्याऽयोगादप्रामाण्यमेवाभिमतम्। किमिदानीमात्मादिवाक्यानामप्रामाण्यप्रतिपादनपरमिदं सूत्रम्? सुव्याहृतं तर्हि शास्त्रारम्भे प्रथमं तावत्सूत्रकारोऽप्रामाण्यमेव वेदवाक्यानां प्रतिपादयतीति।

शंका— अथ तेषां विध्यश्रवणादिति। अविनाशी वा इत्यादि वाक्यों में भले ही कार्यार्थता न रहे, किन्तु उनमें अप्रामाण्य तो रहेगा ही। जैसे— अविनाशी वा आदि वाक्यों में विध्यश्रवणात् अर्थात् विधायकप्रत्यय का प्रयोग नहीं होने से उन वाक्यों को कार्यपरत्व (कार्यार्थत्व) कहना तो सम्भव नहीं है। यदि यह कहें कि जैसे अर्थवाद वाक्यों का विधायकवाक्यों के साथ अन्वय होने से उन अर्थवादवाक्यों को भी कार्यपरक माना

जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी सम समझना चाहियए। किन्तु यह भी नहीं कह सकते; क्योकि वैसी स्थिति यहाँ नहीं है, क्योंकि अन्य विधिवाक्य के साथ अविनाशी वा आदि वाक्यों की एकवाक्यता नहीं है। उसी कारण अविनाशी वा आदि वाक्यो को कार्यपरक (कार्यार्थपरक) कहना सम्भव नहीं है और कार्यपरक नहीं होने से व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) का होना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि लौकिक व्यवहार में हम देखते हैं कि घटमानय इत्यादि वाक्यों का उच्चारण करने पर उक्त वाक्य की कार्यपरता (कार्यार्थता) इसीलिये प्रतीत होती है कि घट शब्द का शक्तिग्रह कार्यान्वित घट में हो रहा है। तथाहि— घटमानय कहने पर आनयनान्विते घटे घटपदस्य शक्तिग्रह: तथैव घटान्विते आनयने आनयपदस्य शक्तिग्रह:— यह अनुभव सभी को होता है।

अविनाशी वा अरे आदि वाक्यों का अप्रमाण इसीलिये माना जाता है कि उनमें कार्यपरत्व नहीं है और सिद्धार्थपरक (सिद्धार्थबोधक) वाक्यो का प्रामाण्य से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। एवंच सिद्धार्थ में शक्तिग्रह नहीं हो पाने से अविनाशी आदि वाक्यों में प्रामाण्य की सम्भावना नहीं कर सकते। अभिप्राय यह है कि सिद्धार्थपरक (सिद्धार्थबोधक) वाक्य अप्रमाण ही होते हैं।

समाधान— किमिदानीमिति। किम् = क्या इदानीं = आपके पक्ष में आत्मादि-वाक्यानाम् = अविनाशी वा आदि वाक्यों में अप्रामाण्य प्रतिपादनपरक यह सूत्र है? यदि आप आत्मादि वाक्यों में अप्रामाण्य प्रतिपादनपरक इस सूत्र को मान रहे हैं, तो यही कहना होगा कि शास्त्र के आरम्भ में ही सूत्रकार महर्षि जैमिनि सर्वप्रथम वेदवाक्यों के अप्रामाण्य को बता रहे हैं। यह बात तो आपने बहुत अच्छी कही।

कथं च कार्ये एव प्रामाण्यम्? तत्रैव व्युत्पत्तेः— प्रवृत्त्यधीना हि व्युत्पत्तिः, सा च कार्यावगमाधीनेति व्युत्पत्तिरपि तत्रैव भवतीति चेत्? नावश्यं प्रवृत्त्यधीनैव व्युत्पत्तिः— काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचतीत्यादि-वर्तमानापदेशेष्वपि प्रसिद्धतृतीयार्थानामप्रसिद्धकाष्ठप्रातिपदिकार्थानां च पुरुषाणां काष्ठार्थे व्युत्पत्तिदर्शनात्।

सिद्धान्ती पूछता है— **कथं चेति**। कथं च के आगे वाक्यस्य पद का अध्याहार कर लेना चाहिये। तब प्रश्न का आकार यह होगा 'वाक्यस्य कार्ये एव प्रामाण्यं न सिद्धार्थे इति कथं भवता उच्यते'? वाक्य का कार्यपरक अर्थबोध में ही प्रामाण्य है, सिद्धार्थ के बोधन में नहीं, यह आप कैसे कह रहे हैं?

इस पर पूर्वपक्षी उत्तर देता है— **तत्रैव व्युत्पत्तेः इति**। क्योंकि तत्रैव = कार्यपरक अर्थ में ही शक्तिग्रह होता है। जिस अर्थ में शक्तिग्रह होता है, उसी में वाक्य का प्रामाण्य भी होता है अर्थात् उसी अर्थ का बोध वाक्य से होता है। उक्त तथ्य का ही उपपादन कर रहे हैं— 'प्रवृत्त्यधीना हि व्युत्पत्ति:'। जैसे— घटमानय कहने पर समीप बैठा हुआ बालक घटकर्मक आनयन को देखता है, उससे उस बालक को आनयनान्वित घट में

ही घट पद की शक्ति का ज्ञान होता है। तब वह समझ जाता है कि 'आनयनविशिष्टः कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थो घटपदवाच्यः'। आनयनक्रियाविशिष्ट कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ, घट पद का अर्थ है। एवंच घट पद की शक्ति घट में है, यह ज्ञान (व्युत्पत्ति) कार्यपरक (कार्यबोधक) वाक्य से ही बालक को होता है। यह जो शक्तिग्रह (शक्तिज्ञान) है, वह प्रवृत्ति के अधीन होता दिखाई देता है और वह प्रवृत्ति भी कार्यज्ञान के अधीन होती है; क्योंकि घटम् आनय कहने पर भृत्य (सेवक) की प्रवृत्ति होती है; किन्तु दशरथ का पुत्र राम था, यदि यह कोई कहता है तो किसी की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती; किन्तु प्रवृत्ति के नहीं होने में कारण क्या है? यह विचार करने पर समझ में आता है कि उपर्युक्त वाक्य में किसी कर्तव्य का उपदेश नहीं रहने से प्रवृत्ति नहीं हो रही है; किन्तु 'घटम् आनय' कहने पर घट को ले आता है, इससे समझ में आता है कि प्रवृत्ति का होना कार्यज्ञान के अधीन है। उसी कारण कहना होगा कि व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) भी तत्रैव अर्थात् कार्य में ही (कार्यान्वित पदार्थ में ही) होती है। अतः मानना होगा कि वाक्य सुनने पर जो ज्ञान होता है, वह कार्यान्वित वाक्यार्थ का ही ज्ञान होता है और वाक्यार्थ ज्ञान होने में भी शक्तिज्ञान ही कारण रहता है। अतः वाक्य का प्रामाण्य कार्य में ही है, सिद्धार्थबोधन में नहीं है। **इतिचेत् इति**। ऐसा यदि आप कहते हैं, तो उस पर हमारा जो उत्तर है, उसे सुनिये।

सिद्धान्ती उत्तर दे रहा है— 'न अवश्यं प्रवृत्त्यधीनैव व्युत्पत्तिः इति'। सिद्धान्ती का कहना है कि यद्यपि कार्यान्वित में शक्तिग्रह हुआ करता है, तथापि कार्यान्वित में ही शक्ति ग्रह होने का कोई नियम नहीं है। सिद्ध पदार्थ में भी शक्तिग्रह होता दिखाई देता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं— **काष्ठैः स्थाल्यामिति**। काष्ठैः स्थाल्याम् ओदनं पचति इत्यादि वाक्यों में वर्तमानापदेशेषु पचति इत्यादि वर्तमानकालिक क्रियाबोधक शब्दघटित वाक्यों में विधायक शब्द के नहीं होने से उन वाक्यों का कार्यपरक होना सम्भव नहीं है। 'काष्ठैः स्थाल्याम् ओदनं पचति देवदत्तः' इस वाक्य को जिस आदमी ने सुना, सुननेवाले उस आदमी को स्थाली आदि सभी पदार्थ ज्ञात हैं। काष्ठैः में तृतीया विभक्ति का अर्थ जो करणत्व है, वह भी ज्ञात है। केवल काष्ठ पदार्थ का ज्ञान नहीं है। ऐसा आदमी भी समझ लेता है कि पाकसाधनत्व (पाक-करणत्व) की सम्भावना तो काष्ठ में ही हो सकती है; क्योंकि पाक साधन होने की योग्यता उसी में (काष्ठ में ही) है। अतः मानना होगा कि काष्ठ जैसे सिद्ध पदार्थ में भी काष्ठ शब्द की शक्ति का ज्ञान (शक्तिग्रह) होना सभी के अनुभव में है। उसी कारण स्वीकारना होगा कि यह आवश्यक नहीं है कि शक्तिग्रह (व्युत्पत्ति) प्रवृत्ति के अधीन ही हो, जिससे कार्य में ही शब्द का शक्तिग्रह (व्युत्पत्ति) स्वीकार करना पड़े। काष्ठैः स्थाल्याम् ओदनं पचति— जैसे स्थलों में विधायक पद (शब्द) के नहीं होने से प्रवृत्ति के नहीं होने पर भी शक्तिग्रह होने में कोई बाधा नहीं है, शक्तिग्रह तो होता ही है। एवंच काष्ठैः स्थाल्याम् ओदनं पचति में पचति यह वर्तमानापदेश होने पर भी (वर्तमान काल का प्रयोग रहने पर भी) जिन्हें तृतीया

विभक्ति का अर्थ (करणत्व) ज्ञात है, केवल काष्ठ प्रातिपदिक का अर्थ ज्ञात नहीं है, उन लोगों को भी काष्ठ अर्थ में काष्ठ शब्द से शक्तिग्रह अपने अनुभव से ही हो जाता है। एवंच केवल कार्यपरक अर्थ में ही शक्तिग्रह नहीं होता, अपितु सिद्ध पदार्थ में भी शक्तिग्रह होता ही है।

(प्रथमव्युत्पत्तिः)

अथ प्रथमव्युत्पत्तिः कार्यविषयैव, न हि तदा शब्दान्तरवशेन शब्दान्तरस्यार्थे व्युत्पत्तिः सम्भवति सर्वस्य धर्मस्य अप्रसिद्धत्वात् इति चेत्? अस्त्वेवम्, तथापि पश्चाद् बहुशः सिद्धार्थे शब्दप्रयोगदर्शनात् कोऽयं राजा? पाञ्चालः इत्यादिषु प्रश्नप्रतिवचनादिषु कार्यस्य व्यभिचारादव्यभिचार्यर्थमात्रं वाच्यमिति सुज्ञानम्। यथैव हि कस्याञ्चिद् व्यक्तौ प्रथमं गोशब्दस्य प्रयोगदर्शनात् सैव वाच्येत्यवगमे सत्यपि पश्चाद् व्यक्त्यन्तरे प्रयोगं दृष्ट्वा पूर्वव्यक्तिव्यभिचारादव्यभिचारिसामान्यमेवार्थ इत्यध्यवसीयते, तथा कार्यपरतामवगतामपि पश्चात् सिद्धार्थप्रयोगदर्शनेन बाधित्वार्थमात्रमेवाऽव्यभिचाराद् वाच्यमिति युक्तम्।

शंका— सिद्ध पदार्थविषयक भी बोध (ज्ञान) होता है और वह बोध व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) के पश्चात् ही होता है; किन्तु प्राथमिकी अर्थात् पहिले-पहल जो शक्तिग्रह होता है, उसे ही प्रथमा व्युत्पत्तिः अर्थात् पहिला शक्तिग्रह कहते हैं। वह प्रथमा व्युत्पत्ति प्रवृत्ति के अधीन होने से कार्यविषया ही है अर्थात् कार्यान्वित पदार्थविषया ही है। एवंच प्रथम व्युत्पत्ति, (शक्तिग्रह), कार्य को ही विषय बनाती है अर्थात् कार्यविषयिणी ही होती है। इसी का उपपादन ग्रन्थकार कर रहे हैं— **न हि तदा शब्दान्तरवशेनेति**। क्योंकि तदा अर्थात् प्रथम शक्तिग्रहकाल (समय) में शब्दान्तर अन्य शब्द (शब्दान्तर) के अधीन रहने से उसके अर्थ में शक्तिग्रह का होना सम्भव नहीं है। अर्थात् अन्यान्य शब्दों के अनुसार अन्य शब्द के अर्थ में शक्तिग्रह नहीं होता; क्योंकि वाक्यघटक सभी शब्द अप्रसिद्ध हैं, उसी कारण कहना होगा कि प्रथम व्युत्पत्ति कार्यविषयिणी ही होती है।

अभिप्राय यह है कि स्थाल्याम् ओदनं पचति काष्ठेन यहाँ पर स्थाली आदि शब्दों के अनुसार शब्दान्तर (अन्य शब्द) जो काष्ठ शब्द है, उसका अर्थबोध भी हो जाता है वैसा अर्थबोध प्रथम व्युत्पत्ति के (प्रथम शक्तिग्रह के) समय नहीं हो पाता; क्योंकि सर्वस्य धर्मस्य अप्रसिद्धत्वात् इति। अर्थात् सभी स्थाली आदि धर्म (पदार्थ) अर्थात् करणत्व आदि धर्म प्रसिद्ध (ज्ञात) रहते हैं, उसी कारण अप्रसिद्ध = अज्ञात जो काष्ठ पदार्थ हैं, उसमें काष्ठ शब्द का शक्तिग्रह (व्युत्पत्ति), प्रथम व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) के समय वाक्यघटक सभी पदों का अर्थ अज्ञात रहने से (ज्ञात नहीं रहने से) शब्दान्तर के (समीपवर्ती दूसरे-दूसरे शब्दों के) कारण अन्य शब्द के अर्थ में (शब्दान्तर के अर्थ में) शक्तिग्रह (व्युत्पत्ति) होना सम्भव ही नहीं है, जिससे व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) हो सके; किन्तु प्रवृत्ति

के अधीन रहने वाली (प्रवृत्ति से होनेवाली) व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) का होना कार्यान्वित पदार्थ में ही प्रथमत: सम्भव है। इस प्रकार पूर्वपक्षी कहता है। इसी अभिप्राय को **इति चेत्** से कहा गया है।

अंशत: स्वीकृति की सूचना अस्त्वेवम् से सिद्धान्ती देता है। भले ही पूर्वपक्षी के कथनानुसार वैसा भी कह सकते हैं। तदनन्तर सिद्धान्ती पूर्वपक्षी के कथन का खण्डन करता है— **तथापीति**। यद्यपि प्रथमत: व्युत्पत्ति प्रवृत्ति के अधीन ही रहती है और कार्य को ही अपना विषय बनाती है। अर्थात् प्रथम व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) कार्यविषयक भले ही होती हो तथापि उसके पश्चात् सिद्ध अर्थ में भी (कार्यान्वय रहित अर्थों में भी) शब्दों से अर्थबोध होता हुआ दिखाई देने से अव्यभिचारी अर्थमात्र को ही शब्द का वाच्य कहना उचित लगता है। कहने का अभिप्राय यह है— मान लीजिये कि किसी ने किसी से प्रश्न किया (पूछा)— कोऽयं राजा? यह राजा कौन है? तब उत्तर देनेवाले ने कहा— **पाञ्चाल:**। यह राजा पाञ्चाल (पंजाब) देश का राजा है। इन सम्वादवाक्यों में कार्यपरत्व का अभाव स्पष्ट ही है, तथापि दोनों (प्रश्न-उत्तर) वाक्यों से सिद्धार्थबोध भी होता है। अत: 'यो-यो बोध: स: स: कार्यविषयक एव' ऐसी व्याप्ति नहीं होने से कहना होगा कि शब्द अथवा वाक्य का वाच्य (अर्थ) केवल अर्थ ही होता है और वह अर्थ विधायक पदघटितवाक्य से कहीं कार्यान्वित जाना जाता है और कहीं अर्थात् विधायकपदघटित वाक्य नहीं रहने पर सिद्ध अर्थ में भी जाना जाता है। जैसे— नीलो घट:, पीत: पट:, पाञ्चाल: आदि वाक्यों से सिद्ध अर्थ का ही बोध होता है। एवञ्च— सिद्धार्थबोधक वाक्यों में कार्यान्वित पदार्थबोध का और कार्यान्वित पदार्थबोधक वाक्यों में सिद्धार्थबोध का व्यभिचार होता है; किन्तु केवल अर्थ ही ऐसा है, जिसका व्यभिचार कहीं नहीं होता। सर्वत्र ही वह अर्थ ज्ञायमान रहने से उसी में अर्थात् केवल अर्थ में ही शक्तिग्रह नियत होता है। उसी कारण क्वचित् सिद्धार्थविषयक व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) भी होती है— यह मानना ही उचित है।

पूर्वोक्त कथन के उदाहरण प्रदर्शित कर रहे हैं— **यथैव हि कस्याञ्चिदिति**। जैसे— जाति-शक्तिवाद में पिङ्गाक्षी गो व्याप्तिविषयक प्रयोग होता (किया जाता) है, उसी पिङ्गाक्षी गोव्यक्ति को ही बालक गो शब्द का अर्थ समझता है। अर्थात् पिङ्गाक्षी गोव्यक्तिरेव गो शब्दस्य वाच्या (गोशब्दस्य अर्थ:) यह ज्ञान (इत्याकारक ज्ञान) प्रथमत: बालक को सुनकर बालक अपने मन में समझने लगता है कि गो शब्द का अर्थ गोत्व ही है; किन्तु किस कारण से उसने ऐसा समझा? इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि व्यक्तियों का परस्पर व्यभिचार रहने से। इसी को शास्त्रीय भाषा में इस प्रकार कहा जायेगा— 'पिङ्गाक्षीगोव्यक्तिविषयकबोधोत्पत्त्यर्थप्रयुक्तगोशब्दजन्यबोधनिष्ठविषयितानिरूपितविषयताया: कृष्णाक्ष्यां गोव्यक्तावभावात्, कृष्णाक्षीगोव्यक्तिविषयकबोधोत्पत्त्यर्थप्रयुक्तगोशब्दजन्यबोधनिष्ठविषयितानिरूपितविषयताया: पिङ्गाक्ष्यां गोव्यक्तावभावात्, गोत्वे च

सर्वत्र अव्यभिचारेण बोधविषयता अस्तीति गोत्वमेव गोशब्दस्य वाच्यमिति स्थितम्'। तथा कार्यपरतामवगतामपीति। तथा उसी तरह प्रथमव्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) के समय गामानय इत्यादि वाक्यों से कार्यान्वित पदार्थ का ही बोध होने के कारण शब्दों की शक्ति कार्य में ही है, ऐसा निश्चित हो जाने पर भी तदनन्तर प्रकृत में भी उसी प्रकार जो कार्यपरता अवगत हुई है, उसका बाध करके सिद्ध पदार्थ में प्रयोग को देखकर अव्यभिचारी केवल अर्थ ही वाच्यं है, यही समझना उचित है। अभिप्राय यह है कि गामानय आदि वाक्यो को सुनकर कार्यान्वित पदार्थ का ज्ञान होता है, उससे मन में निश्चय कर लिया जाता है कि शब्द की अर्थबोधनशक्ति कार्य में ही अर्थात् कार्यान्वित में ही है। फिर भी 'गौः अस्ति' इस प्रकार का प्रयोग (कथन) सिद्ध वस्तु के लिये भी करते हैं और उससे सुनने वाले व्यक्ति को ज्ञान भी होता है। उसी कारण शब्द की कार्यपरता को त्यागकर केवल अर्थ को ही शब्द का वाच्य समझना उचित है; क्योंकि शब्द को कार्यपरक मानने में व्यभिचार भी उपस्थित होता है; किन्तु शब्द को केवल अर्थपरक मानने में कहीं भी व्यभिचार उपस्थित नहीं हो पाता। अतः सर्वत्र अर्थ ही बुध्यमान (ज्ञायमान) रहने से शब्द का वाच्य अर्थ ही मानना उचित है।

किञ्च प्रथमव्युत्पत्तौ कतिपयानामेव शब्दानां कार्यार्थत्वमवगतं न सर्वशब्दानाम्। अतः पश्चाद् व्युत्पाद्यमानस्य काष्ठादेः सिद्धार्थे व्युत्पत्तिः केन वार्यते। न च व्युत्पत्तौ शब्दानां पौर्वापर्यनियमोऽस्ति। अतः सर्वे शब्दाः पश्चाद् व्युत्पाद्यमानाः कैश्चित् सिद्धार्था भवन्ति। सर्वेषां तु कार्यार्थत्वे सिद्धार्थपरेषु लौकिकवाक्येषु सर्वशब्दानां लाक्षणिकत्वात् न कश्चिदन्विताभिधायी स्यात्। तत्र अन्वितप्रतीतिः कथं सिद्ध्येत्? वक्तृज्ञानानुमानादिति चेत्? न, यद्विषयं हि वाक्यं तद्विषयमेव वक्तृज्ञान-मनुमातव्यम्। न च अन्वितप्रतिपादकं वाक्यमुच्चारितमिति कथमन्वित-ज्ञानाऽनुमानम्?

अथ अर्थस्वरूपस्मारकैः पदैरन्वितज्ञानमनुमीयते? ततः कार्यवाचकेप्य-सिद्धेरन्विताभिधानं न स्यात्।

किं च प्रथमव्युत्पत्ताविति। और भी अन्याय कारण हैं; यथा— प्रथम व्युत्पत्ति शक्तिग्रह, गामानय, घटं नय इत्यादि विधायकपदविशिष्ट (विधायक पदसहित) कति-पयानामेव कुछ ही शब्द कार्यान्वित पदार्थबोधक अवगत होते हैं, सभी शब्द नहीं। जैसे— पुत्रस्ते जातः, कन्या ते गर्भिणी इत्यादि वाक्यों से सिद्धार्थ का ही ज्ञान होता है, कार्यान्वित पदार्थ का नहीं।

इस पर कोई कह सकता है कि पुत्र शब्द का अर्थ नहीं जानने वाला, किन्तु पुत्रोत्पत्ति को जिसने देखा है, ऐसा कोई व्यक्ति जो वार्ताहर दूत के साथ आया है, वह पुत्रस्ते जातः इस वाक्य के सुनते ही सुननेवाले पिता के विकसित हुए मुख को देखकर अनुमान

कर लेता है कि दूत ने पुत्रजन्म होने की वार्ता ही बताई है। इससे स्पष्ट होता है कि कार्य से अनन्वित सिद्ध पुत्र पदार्थ में ही पुत्र शब्द की शक्ति का उसे प्रथम निश्चय हो जाता है। उसके अतिरिक्त और जितने शब्द हैं, उन सभी शब्दों के साथ रहने पर भी उनका कार्य में अर्थात् कार्यान्वित पदार्थ में शक्तिग्रह नहीं होता। अर्थात् प्रथम शक्तिग्रहण के समय में कुछ (कतिपय) शब्दों के ही कार्यान्वितत्व का बोध होता है, सभी शब्दों का नहीं। **अतः सर्वे शब्दा इति**। जबकि प्रथम शक्तिग्रह के (व्युत्पत्ति के) समय भी कार्य (कार्यान्वित) में शक्तिग्रहण का नियम नहीं है, तब शक्तिग्रहण के पश्चात् व्युत्पाद्यमान (गृहीतशक्तिक) काष्ठ आदि शब्दों का सिद्धार्थ (कार्याऽनन्वित) काष्ठादि पदार्थविषयक शक्तिग्रह (व्युत्पत्ति) का निवारण कौन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं कर सकता। निष्कर्ष यह हुआ कि काष्ठैः स्थाल्याम् ओदनं पचति इत्यादि वाक्यगत काष्ठ आदि शब्दों से सिद्ध पदार्थ का बोध अवश्य ही होता है।

अथवा— किञ्च प्रथमव्युत्पत्तौ कतिपयानामेव शब्दानां आदि ग्रन्थपङ्क्तियों को अन्य प्रकार से भी लगा सकते हैं। प्रथम शक्तिग्रह के समय भी (प्रथमव्युत्पत्तिकालेऽपि) गाम् आनय इत्यादि में विध्यर्थबोधक आनय आदि शब्दों का ही कार्यबोधकत्व अवगत (ज्ञात) होता है, गो आदि शब्दों का नहीं। अतः काष्ठ आदि शब्दों का सिद्ध पदार्थ में शक्तिग्रह का निवारण कौन कर सकेगा?

न च व्युत्पत्तौ शब्दानामिति। प्रथम व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) तो नियमतः कार्य-विषयक ही हुआ करती है, सिद्ध पदार्थविषयक नहीं। न च व्युत्पत्तौ शब्दानाम् यहाँ व्युत्पत्तौ में सप्तमी विभक्ति का अर्थ विषयत्व है। शब्दों का शक्तिग्रह (व्युत्पत्ति) प्रथमतः कार्य विषयक ही होता है, कार्यविषयक शक्तिग्रह होने के पश्चात् ही सिद्ध पदार्थ का शक्तिग्रह होता है। इस प्रकार का शब्दव्युत्पत्ति (शब्दशक्तिविषयक) विषयक पौर्वापर्य नियम नहीं है। **अतः सर्वे शब्दाः पश्चादिति**। अतः सभी शब्द, जो व्युत्पाद्यमान अर्थात् गृहीतशक्तिक हैं (व्युत्पत्ति = शक्तिग्रह के विषय हैं), वे कैश्चित् = कतिपय उक्त प्रमाणों से सिद्धार्थाः सिद्ध अर्थ के बोधक होते ही हैं।

यद्यपि प्रथमतः कार्य में अर्थात् कार्यान्वित में ही व्युत्पत्ति = शक्तिग्रह होता है, तथापि व्युत्पत्तिग्रहण के पश्चात् = शक्तिग्रह के अनन्तर शब्दों से सिद्ध अर्थ का = सिद्ध (कार्याऽनन्वित) पदार्थों का भी ज्ञान होता ही है। इस तथ्य को मन में रखकर पश्चात् शब्द का प्रयोग किया गया है।

सर्वेषां तु कार्यार्थत्वे इति। दूसरी बात यह है कि सभी शब्दों को कार्यमात्र (कार्यान्वित) का ही बोधक मानने पर सिद्धपदार्थबोधक लौकिक वाक्य घटित शब्दों की सिद्धपदार्थबोधन में लक्षणा का ही आश्रय करना होगा। तब कोई भी शब्द अन्वित अर्थ को नहीं बता पायेगा। तब किसी भी शब्द को अन्विताभिधायक नहीं कहा जा सकेगा; क्योंकि जिस अर्थ में जो शब्द लाक्षणिक हो, उसी अर्थ में वही शब्द अभिधायक

(वाचक) यदि माना जायेगा तो अन्विताभिधानवाद को तिलाञ्जलि ही देनी होगी। अर्थात् अन्विताभिधानवाद का विषय ही (समाप्त) हो जायेगा। इस दोष का निवारण प्राभाकर नहीं कर पायेंगे। तब अन्वितप्रतीति कैसे सिद्ध होगी?

अभिप्राय यह है कि अन्विताभिधान शब्द से प्रतीति यह होती है कि अन्वित में शक्ति है। प्राभाकरों के मत में अन्वित का अर्थ कार्यान्वित ही होगा। कार्य से अन्वित होना सिद्ध पदार्थ को ही हो सकता है; क्योंकि कार्य से कार्य का अन्वय नहीं हुआ करता। प्राभाकरों के मत में शब्दों को केवल कार्यवाचक ही माना जाता है। वे सिद्ध पदार्थों के वाचक न होकर लक्षक ही माने जाते हैं। अत: सिद्धार्थ = सिद्धपदार्थ के अभिधान की शक्ति शब्द में है ही नहीं। उसी कारण किसी भी शब्द को अन्विताभिधायी भी नहीं कहा जा सकेगा। तब उन्हें (शब्दों को) अन्वितलक्षक ही कहना होगा। इस विपत्ति के निवारणार्थ प्राभाकरों को सिद्ध पदार्थों में भी शब्दों की शक्ति (अभिधायकत्व शक्ति) को स्वीकार अवश्य ही करना होगा। केवल कार्यान्वित में ही शब्द की शक्ति को मानकर काम नहीं चलेगा। अन्यथा अन्वित में किसी भी शब्द की शक्ति नहीं रहने पर सिद्धार्थ-बोधक लौकिक वाक्यों में अन्वितप्रतीति कैसे हो पायेगी? अर्थात् अन्वितप्रतीति हो जायेगी तो इसका निरसन शक्ति के अभाव से ही हो जायेगा। लक्षणा से भी प्रतीति का होना सम्भव नहीं है; क्योंकि प्राभाकारों ने लाक्षणिक शब्दों को अनुभावक नहीं माना है अर्थात् लाक्षणिक शब्दों को अननुभावक माना हैं। शाब्दबोध में लक्ष्यार्थ का प्रवेश होना भी तुम्हें स्वीकार नहीं है। दूसरी बात यह है कि गंगायां घोष: में गंगा शब्द से प्रवाह अर्थ की उपस्थिति होने पर उसका बाध हो जाने से तीर अर्थ की उपस्थिति लक्षणा से होती है और प्रवाह की उपस्थिति, प्रवाह में जब शक्तिग्रह (शक्तिज्ञान) होगा तब होगी। अर्थात् प्रवाह अर्थ की उपस्थिति प्रवाहविषयक शक्तिज्ञान के अधीन है; क्योंकि प्राभाकरों के मतानुसार सिद्धार्थ में शक्ति होती ही नहीं अर्थात् शक्ति का अभाव ही प्राभाकरों ने माना है, जिससे सिद्धार्थ की उपस्थिति होने पर उसका बाध होने से कार्यान्वित की लक्षणा से प्रतीति हो सके। इसी आशय से ग्रन्थकार मिश्र ने कहा— 'तत्र अन्वित प्रतीति: कथं सिद्ध्येत्'?

शंका— वक्तृज्ञानानुमानादिति। सिद्धार्थबोधक वाक्यों में भी अन्वित की प्रतीति वक्तृज्ञान का अनुमान करने से हो जायेगी। तथाहि— 'गौरस्ति' यह वाक्य कहने वाले व्यक्ति को जो शक्तिग्रह हुआ है, वह भी कार्यान्वित ही हुआ है। अत: वक्ता का ज्ञान भी कार्यान्वितविषयक ही है। इसीलिये कहनेवाले ने गौरस्ति तां पश्य यह वाक्य कार्यान्वित पदार्थ का बोध कराने के लिये ही कहा है। उससे कार्यान्वित पदार्थ का ज्ञान ही कराया गया है। इस प्रकार से वक्तृज्ञान से अनुमान किया जाता है। अनुमान का आकार यह होगा— **वक्तृज्ञानानुमानात्** अर्थात् वक्तृज्ञानस्य अन्वित विषयकत्वानुमानात्। वक्ता का वाक्य अन्वितार्थ प्रत्यायक है, यह अनुमान किया जाता है। तथा च अनुमान का

आकार यह होगा— वक्तृज्ञानम् अन्वितविषयकं वक्तृज्ञानत्वात्, गामानय इति वाक्य वक्तृज्ञानवत् इस रीति से वक्तृज्ञान के अन्वित विषयकत्व सिद्ध हो जाने पर अन्वित-विषयक ज्ञान की तरह उच्चरित वाक्य का अन्वित पदार्थ प्रत्यायकत्व (बोधकत्व) अपने-आप सिद्ध हो जाता है; क्योंकि अन्वितार्थ प्रत्यायन अन्वित अर्थ का बोधन कराने के अभिप्राय से उस वाक्य का उच्चारण किया गया है। गौरस्ति यह वाक्य अन्वितार्थ-प्रत्यायक है; क्योंकि उसे अन्वितार्थबोध कराने के अभिप्राय से ही कहा गया है। इस प्रकार से वक्ता के ज्ञान का अनुमान हो जाता है। उपर्युक्त कथन के द्वारा पूर्वपक्षी ने अपने अभिप्राय को अभिव्यक्त किया है। घट शब्द का कम्बुग्रीवादिमत् पदार्थ में शक्तिग्रहण करके शृङ्ग-सास्नादिमत् पदार्थ का बोध कराने के लिये कोई भी व्यक्ति घट शब्द का प्रयोग नहीं करता।

उपर्युक्त कथन से निष्कर्ष यह निकला कि कार्यान्वित पदार्थ का बोध कराने के लिये उच्चरित (प्रयुक्त) वाक्य से कार्यान्वित पदार्थ ही जाना जाता है। यह अनुमान वक्तृज्ञान से होता है। **इति चेत्, न इति**। पूर्वपक्षी से पूछा गया था कि अन्वितप्रतीति कैसे होगी? तब उसने कहा— वक्ता के ज्ञान का अनुमान करने से।

समाधान— तब सिद्धान्ती ने कहा— पूर्वपक्षी का उपर्युक्त कथन उचित नहीं है। **यद्विषयं हि वाक्यमिति**। क्योंकि कहे गये (उच्चरित) वाक्य का जो विषय है, वही वक्तृज्ञान का भी विषय है, यह अनुमान कर लेना चाहिये। कोई वक्ता घटविषयक वाक्य बोलता है, तो क्या यह अनुमान लगाया जाता है, कि वक्ता को पटविषयक ज्ञान है। तथाच— गौ: अस्ति यह वाक्य सिद्धार्थविषयक होने से वक्तृज्ञान भी सिद्धार्थविषयक ही है। यही अनुमान करना होता है। **न च अन्वितप्रतिपादकमिति**। गाम् आनय आदि अन्वित पदार्थबोधक वाक्यों से जो ज्ञान होता है, उसी से अवगत हो जाता है कि वक्ता का ज्ञान भी अन्वितविषयक है। अत: ऐसे स्थलों पर ही अन्वितज्ञान का अनुमान करना तो उचित माना जा सकेगा; किन्तु सिद्धार्थबोधक वाक्य जहाँ बोले जाते हैं, वहाँ भी अन्वितज्ञान का अनुमान करना कभी उचित नहीं कहा जायेगा; क्योंकि सिद्धार्थबोधक वाक्यों के बोलने में अन्वित अर्थ को बताने वाले वाक्य को नहीं बोला जाता, तब अन्वितार्थ ज्ञान का अनुमान कैसे किया जायेगा?

शंका— अथ अर्थस्वरूपस्मारकैरिति। यदि कोई यह कहे कि अर्थस्वरूप के स्मारक पदों से अन्वित वक्तृज्ञान का अनुमान हो जायेगा। जैसे— वक्तृज्ञानम् अन्वित-विषयकं पदै: स्मर्यमाणपदार्थस्व-रूपविषयकत्वात्, गामानयेति वक्तृज्ञानवत्। पदों को ही हेतु बनाने पर पदजन्यस्मृति विषय पदार्थस्वरूपविषयकत्वसम्बन्ध से वक्तृज्ञान में पदवत्त्व भी समझ लेना चाहिये।

समाधान— तत: कार्यवाचकेऽपीति। यदि पदों से ही अन्वितविषयकत्व का अनुमान कर लिया जाता है, तो घट: कार्य: इत्यादि कार्यवाचक वाक्य में भी अन्विता-

भिधान अर्थात् अन्विताभिधायित्व सिद्ध नहीं हो सकेगा। जैसे— सिद्धार्थ बोधक-वाक्यों में पदों से ही ज्ञान के अन्वितत्व का अनुमान किया जाता है, उसी तरह कार्य-वाचक शब्दघटित कार्यबोधक वाक्यों में भी पदों से ही ज्ञान के अन्वितत्व (अन्वित-विषयकत्व) का अनुमान हो ही जायेगा, तब कार्यवाचक में भी अन्विताभिधायित्व की सिद्धि नहीं हो पायेगी अर्थात् कार्यवाचक वाक्यों में भी अन्विताभिधान नहीं हो सकेगा। एवं च 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' के अनुसार कार्यवाचक वाक्य में भी अन्विताभिधान नहीं हो सकेगा। तथाच सिद्धार्थबोधक वाक्यजन्यज्ञान में अन्वित-विषयकत्व को सिद्ध करते-करते कार्यबोधक वाक्यों में भी अन्विताभिधायिता को नष्ट कर बैठे। अर्थात् कार्यबोधक वाक्यों में भी अन्विताभिधायिता को सिद्ध नहीं कर पाये।

किञ्च प्रथममेव कार्यव्यभिचारः शक्योऽवगन्तुम्, यदा हि पुत्रस्ते जात इत्युक्तस्य कस्यचिन्मुखविकासं पार्श्वस्थः पश्यति, तदा हर्षहेतुरनेन शब्देन प्रतिपादित इति हर्षहेतुभूतसिद्धार्थप्रतिपादने शब्दस्य सामर्थ्यं कल्पयति। यद्यपि च तदानीमर्थविशेषो न ज्ञायते, हर्षहेतूनां बहूनां सम्भवात्, तथापि सिद्धार्थता तावदवगता, तावतापि कार्ये व्यभिचारः सिद्धः। किञ्च बहुशः पुत्रजनने सति एवं शब्दप्रयोगादन्येषु हर्षहेतुष्व-प्रयोगात् पुत्रजननरूपार्थविशेषोऽपि सुज्ञान एव।

किञ्च— एक अन्य कारण यह भी है कि सिद्धार्थबोधक वाक्य के वक्ता का ज्ञान भी अन्वितविषयक ही है, यह निश्चित नहीं रहने से उक्त अनुमान में प्रयुक्त जो हेतु पदैः स्मर्यमाणपदार्थस्वरूपविषयकत्व है, वह सन्दिग्ध साध्याभावाधिकरण में वृत्ति (वर्त-मान) होने से सन्दिग्ध व्यभिचारी है और उक्त अनुमान में कार्यबोधकपदघटितवाक्य-जन्यत्व उपाधि भी है। इस कारण अनुमान सोपाधिक है।

किन्तु प्रकारान्तर से साक्षात् पदों से ही अन्वितत्व का अनुमान अभीष्ट होने पर पद (शब्द) के अधिकरणस्वरूप आकाश में ही ज्ञान सिद्ध होगा, आत्मसमवेत ज्ञान में उसकी सिद्धि नहीं हो पायेगी, यह भी एक दोष होगा; किन्तु वर्णात्मक शब्दों को विभुत्व स्वीकार करने पर सर्वत्र व्यापक वर्णात्मक पदों (शब्दों) का कोई अनुमापक नहीं हो सकेगा। इस तरह अव्याप्त्यादि दोषों की सम्भावना रहेगी।

यदि यह कहें कि जैसे— 'वायुर्हि स्पर्श-शब्द-धृति-कम्पैः अनुमीयते' में तृतीयान्त स्पर्शादिकों को पक्ष मानकर दिनकरी में इस तरह अनुमान प्रयोग किया है— 'योऽयं रूपवद् द्रव्याऽसमवेतस्पर्शः, स क्वचिदाश्रितः स्पर्शत्वात्, पृथिवीसमवेतस्पर्शवत्। उसी तरह यहाँ भी तृतीयान्त पद को पक्ष मानकर 'पदान्यन्वितविषयकज्ञानजनकानि, पदत्वात् गामानयेतिवत्। इस तरह प्रयोग (अनुमान) की रचना करें, तो वहाँ भी ततः कार्यवाचके-ऽपि इत्यादि उक्त दोष तदवस्थ ही (वैसे ही) समझना होगा।

किञ्च प्रथममेवेति। और भी दोष प्रदर्शित किया जा सकता है। प्रथमतः अन्वित

में शक्तिग्रहण करने के पश्चात् तदनन्तर ही सिद्ध अर्थ का शब्द से ज्ञान होता है, यह नियम है; किन्तु पुत्रस्ते जातः इत्यादि वाक्यों से प्रथमतः सिद्धार्थविषयक ही बोध होता है। यह प्रथमतः एवं कार्यव्यभिचार कार्याबोधकत्व का दोष समझ मे आता है। पुत्रस्ते जातः इत्यादि वाक्य कभी भी कार्यबोधक नहीं होते हैं। इसी तथ्य को ग्रन्थकार स्पष्ट कर रहे हैं— **यदाहीति**।

इत्युक्तस्येति। अर्थात् सेवक (वार्ताहर) ने जिसको उद्देश्य कर पुत्रस्ते जातः यह वाक्य कहा तब उस वाक्य को सुनते ही सुननेवाले का मुख हर्ष से प्रफुल्लित हो उठा, अर्थात् विकसित हुआ। समीप में बैठे हुए किसी व्यक्ति ने उसके मुख की प्रफुल्लता को देखकर मन में अनुमान किया कि इस वार्ताहर ने हर्ष की हेतुभूत कोई बात इसे सुनाई होगी, जिससे इसका मुख इतना विकसित हो उठा है। पुत्रजन्म की वार्ता को सुनकर उसे हर्ष हुआ, उसने हर्ष जतानेवाली कोई क्रिया भी नहीं की है। अतः समीप बैठे हुए व्यक्ति की हर्ष हेतुभूत सिद्ध अर्थ में शक्ति है, यह ज्ञान हुआ।

यदि उक्त वाक्य को कार्यप्रतिपादक कहा जाय तो सुनने वाला कोई किसी प्रकार की क्रिया (चेष्टा) अवश्य करता; किन्तु उसने कोई क्रिया प्रदर्शित नहीं की। इससे निष्कर्ष यह निकला कि किसी अर्थ-विशेष का ज्ञान नहीं होने पर भी वाक्य की सिद्धार्थ-बोधकता को तो उसने जान ही लिया है। अर्थविशेष का ज्ञान नहीं हो पाने पर भी पुत्रस्ते जातः यह वाक्य कार्यबोधक तो है ही नहीं, उसी कारण कार्य-बोधकत्व का व्यभिचार तो स्पष्ट ही है।

किञ्चेति। पुत्रस्ते जातः वाक्य से अर्थ विशेष का ज्ञान होना भी सम्भव है। पुत्रस्ते जातः यह वाक्य तभी कहा जाता है, जब पुत्र उत्पन्न होता है, उसके पूर्व नहीं। धन आदि की प्राप्ति होने पर पुत्रस्ते जातः कोई नहीं कहता। पुत्रस्ते जातः कहने से पुत्रोत्पत्तिरूप अर्थविशेष का भी बोध होता ही है। एवंच इससे विशेष अर्थ का अनायास ज्ञान होना बताया गया है।

किञ्च प्रवृत्त्यधीनाऽपि व्युत्पत्तिर्नावश्यं कार्यविषयैव भवति, तथाहि— यदा कश्चित् प्रवृत्तावत्यन्ताऽसमर्थं वृद्धमातुरं वा प्रतिविनोदार्थं वाक्यं प्रयुङ्क्ते— 'नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ति इति' तत्राऽन्यो दैवसङ्गतः कश्चिदर्थी तद्वाक्यमर्थाच्छ्रुत्वा नदीतीरं गत्वा फलान्याहरति, एवत्सर्वं पश्यन् अन्यो व्युत्पित्सुः फलसद्भावप्रतिपादने शब्दस्य सामर्थ्यं व्युत्पद्यते, तस्मान्नैकान्ततः कार्यार्थता शब्दानाम्।

शंका— किंच प्रवृत्यधीनापि व्युत्पत्तिरिति। व्युत्पत्ति = शक्तिग्रह प्रवृत्ति से होती है और प्रवृत्ति कार्यत्वज्ञान के बिना नहीं हुआ करती। अतः यह निश्चित है कि व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) भी कार्यविषयक ही होती है।

समाधान— जब गाम् आनय वाक्य को सुनकर मध्यमवृद्ध के गवानयनादि कार्य में प्रवृत्ति को देखकर समीप बैठा व्यक्ति को गो आदि शब्दों की शक्ति का ज्ञान गवादि पदार्थों में होता है, उस शक्ति को प्रवृत्ति के अधीन कहा जाता है। इस रीति से सभी शक्तिग्रह (व्युत्पत्ति) प्रवृत्ति के अधीन ही हैं, तथापि सभी प्रवृत्तियाँ कार्यविषयक ही नहीं हुआ करती; किन्तु गाम् आनय, घटं नय इत्यादि वाक्यों को सुनकर पश्चात् मध्यमवृद्ध की प्रवृत्ति से जो व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) होती है, वही कार्यविषयक हुआ करती है; क्योंकि गाम् आनय आदि मध्यमवृद्ध को प्रवृत्त कराने के लिये गाम् आनय आदि वाक्य कार्यबोधक आनय आदि शब्दों से घटित रहते हैं; किन्तु जब नद्यास्तीरे फलानि सन्ति इत्यादि वाक्य सुनकर कोई व्यक्ति प्रवृत्त होता है और फलों को वहाँ प्राप्त भी करता है। तथापि समीप स्थित व्यक्ति को फल आदि शब्दों से फलादि पदार्थों में जो व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) होती है, वह कार्यविषयक नहीं है; क्योंकि कोई कार्यबोधक शब्द वहाँ श्रुत नहीं है; किन्तु सिद्धार्थबोधक ही शब्द है। एवंच व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) प्रवृत्ति के अधीन रहने पर भी क्वचित् सिद्धपदार्थविषयक भी शक्तिग्रह होता ही है। इसी तथ्य को ग्रन्थकार स्पष्ट कर रहे हैं। **यदा कश्चित् प्रवृत्तावत्यन्ताऽसमर्थं वृद्धमातुरं वा प्रतिविनोदार्थं वाक्यं प्रयुङ्क्ते** इति। जब कोई व्यक्ति (प्रवृत्तौ) चलने में असमर्थ किसी वृद्ध अथवा आतुर अर्थात् रुग्ण व्यक्ति से विनोद करने के लिये नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ति = नदी तीर पर (तटपर) पाँच फल पड़े हैं कहता है, तब उस वाक्य को सुनकर कोई व्यक्ति— नदी तट पर जाने के लिये प्रवृत्त होता है अर्थात् तट पर पहुँचता है और गिरे हुए फलों को पाता भी है, तब समीप बैठा हुआ जो व्यक्ति है, उसे फलादि शब्दों का फलादि पदार्थों में जो शक्तिग्रह (व्युत्पत्ति) होता है, वह कार्यविषयक नहीं है; क्योंकि किसी कार्यबोधक शब्द का श्रवण नहीं हुआ है; किन्तु सिद्धपदार्थविषयक शब्दों को ही उसने सुना है। अत: व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) प्रवृत्ति के अधीन रहने पर भी क्वचित् सिद्ध पदार्थविषयक भी हुआ करती है। यदि चलने में समर्थ किसी व्यक्ति से उक्त वाक्य कहा होता तो कदाचित् वह नदी के तट पर चला भी जाता; किन्तु तब उक्त वाक्य विनोदार्थक नहीं कहलाता। एवंच विनोदार्थ कहे गये वाक्य से भी किसी अन्य व्यक्ति की प्रवृत्ति का होना भी सम्भव है और समीपस्थित अन्य बालक को भी शक्तिग्रह होता। ऐसी स्थिति में जबकि प्रवृत्ति के लिये ही कार्यबोधक शब्द के नहीं रहने पर भी कोई वाक्य कहा जाय, तो उससे भी व्युत्पत्तिग्रह (शक्तिज्ञान) अवश्य ही होगा। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि व्युत्पित्सु (जिज्ञासु) बालक को शक्तिग्रह हो जाता है कि फलों के अस्तित्व-प्रतिपादन में शब्द की शक्ति है। अत: सभी शब्द कार्यार्थपरक नहीं हुआ करते, अपितु सिद्धार्थ-परक भी हुआ करते हैं। अतएव ग्रन्थकार ने स्पष्ट कहा है— तस्मात् न एकान्तत: कार्यार्थता शब्दानाम् एकान्तत: = नियमेन। सभी शब्द कार्यपरक ही हों— ऐसा कोई नियम नहीं है। सिद्धार्थपरक शब्द भी हुआ करते हैं।

(प्रभाकरोक्तद्वितीयसूत्रार्थस्य खण्डनम्)

का चाऽस्य सूत्रस्य वचनव्यक्तिः? यदि तावद् यत् कार्यं तद् वेदार्थ एव— इति कार्यमुद्दिश्य वेदार्थता विधीयते, तथा सति उद्देश्यस्योपादेयेन स्वरसनियमात् सर्वस्य लौकिकस्यापि गवानयनादिकार्यस्य वेदार्थता स्यात्। किं चोपादेयस्य वेदार्थस्योद्देश्येन कार्यरूपेणाग्नेरिव धूमेनाव्याप्तेरकार्येऽपि वेदस्य प्रामाण्यमनिरस्तं स्यात्।

अथ यो 'वेदार्थः स कार्यरूप एव' इति, ततो 'यो धर्मः स चोदनालक्षण' इति वचनव्यक्तिः स्यात्, तत्रार्थशब्दोऽभ्युदयवाची कस्य विशेषणम्? यद्युपादेयस्य चोदनालक्षणपदार्थस्य? ततः सर्वस्य वेदार्थस्य कार्यत्वमर्थत्वं च विधीयते इति श्येनादिनियोगानामप्यर्थत्वं स्यात्।

प्रभाकर मीमांसक का कहना है कि वेदार्थ कार्यरूप ही हुआ करता है। प्रभाकर मीमांसक के उक्त कथन का खण्डन ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र करेंगे। पहले कह चुके हैं— 'कश्चित्त्वाह' 'कार्यरूपो वेदार्थो नसिद्धरूपः'। यहाँ से आरम्भ कर 'कार्ये एव शब्दस्य प्रामाण्यम्' इस मत का खण्डन करके, सिद्ध अर्थ में शब्द की शक्ति की स्थापना की गई है। अब प्रस्तुत में उसी के मतानुसार (प्रभाकर के मतानुसार) उसी से (प्रभाकर से ही) द्वितीय सूत्र का वाक्यार्थ पूछ रहे हैं— **का चास्य सूत्रस्य वचनव्यक्तिः? इति**। अर्थात् अस्य = चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः इस सूत्र के वाक्यार्ध (वचनव्यक्ति) का स्वरूप क्या है? प्रस्तुत सूत्र में उद्देश्य-विधेयभाव का प्रकार क्या है? (वचनव्यक्ति = वाक्यार्थ)। 'यदि तावदिति' पंक्ति से उसी को बता रहे हैं। पूर्वपक्षी पहले ही कह चुका है कि चोदनालक्षण शब्द से कार्य को और धर्म शब्द से वेदार्थ को कहा गया है। उसी को पुनरपि कह रहा है— यत् कार्यं तद् वेदार्थ एव। तथाच चोदनालक्षण शब्द से वाच्यरूप जो कार्य है, उसी को उद्देश्य करके धर्मशब्द से वाच्य जो वेदार्थ है, उसी का विधान सूत्र ने किया है। यद् यत् कार्यं तत् तद् वेदार्थः यह सूत्र का वाक्यार्थ है। सूत्र का इस प्रकार वाक्यार्थ करने में दोष (दूषण) दे रहे हैं— **तथा सति उद्देश्यस्योपादेयेनेति**। पूर्वपक्षी के द्वारा (प्रभाकर के द्वारा) किये गये सौत्रवाक्यार्थ में दोष यह है कि उद्देश्य का उपादेय (विधेय) के साथ स्वरस नियम अर्थात् नैसर्गिक नियम (सम्बन्ध) रहता है कि उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन उद्देश्य का विधेय के साथ अन्वय होता है। नि उपसर्गपूर्वक यम धातु का अर्थ सम्बन्ध कहा गया है। यह सम्बन्ध नैसर्गिक (स्वाभाविक) होता है, अर्थात् यह नित्य सम्बन्ध कहलाता है, इसी को व्याप्तिसम्बन्ध भी कहते हैं, यो धूमवान् स वह्निमान् के समान। एवं च उद्देश्य-विधेय का नित्य सम्बन्ध रहने से कार्यमात्र को वेदार्थ कहना होगा। तब लौकिक गवानयनादि कार्य को भी वेदार्थ मानना होगा; किन्तु इस प्रकार की स्थिति प्राप्त होना उचित नहीं है; क्योंकि लौकिक

गवानयनादि कार्य को वेदार्थस्वरूप कहना सम्भव नहीं है।

पीछे जो व्याप्ति बताई गई थी, उसके द्वारा भी अपनी बात को समर्थन दे रहे हैं— **किं चोपादेयस्येति**। जैसे 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान्' इस व्याप्ति के विद्यमान रहने पर भी 'यो वह्निमान् स धूमवान्' ऐसी व्याप्ति नहीं हुआ करती; क्योंकि अयोगोलक (लोहे का लाल तपा हुआ गोला) में वह व्याप्ति व्यभिचरित हो जाती है तथा 'यत् कार्यं तद् वेदार्थः एव' ऐसा नियम करने पर भी 'यत् कार्यं न, न तद्वेदार्थः' अथवा 'यो वेदार्थः, स कार्यमेव' यह नियम नहीं किया जा सकता। तथाच कार्य में वेदार्थत्व सिद्ध करने पर भी वेदों का प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। अर्थात् वेदवाक्य कार्यार्थ का बोध जैसा कराते हैं, वैसे ही सिद्धार्थ का भी बोध कराते हैं। जैसे कि वह्नि की धूम के साथ व्याप्ति नहीं है, अपितु धूम की ही वह्नि के साथ व्याप्ति रहती है, उसी तरह उपादेय (विधेय) रूप वेदार्थ (वेदार्थता) की कार्यरूप उद्देश्य के साथ व्याप्ति नहीं रहने से और तुम्हारे (प्रभाकर के) मतानुसार वेदार्थता से कार्यता ही व्याप्त होने के कारण अकार्यरूप सिद्धार्थ में भी वेदों का प्रामाण्य निरस्त नहीं हो सकता। अर्थात् पूर्वोक्त व्याप्ति के द्वारा प्रामाण्य निरस्त न होकर प्रामाण्य सिद्ध ही हुआ है।

अथ यो वेदार्थः स कार्यरूप एवेति। पूर्वपक्षी प्रभाकर कहता है कि हम ऐसा नियम नहीं कह रहे हैं कि यत् कार्यं तद्वेदार्थः, जिससे आप दोष प्रदर्शित कर सकें; किन्तु वेदार्थ को उद्देश्य कर कार्यत्व (कार्यता) का विधान कर रहे हैं— यो वेदार्थः स कार्यरूपः। ऐसा विधान करने से लौकिक गवानयना-दिकार्य में वेदार्थता की अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी।

इस पर सिद्धान्ती (भाट्ट सम्प्रदायी) का कहना है— **ततो यो धर्मः इति**। यो धर्मः = यो वेदार्थः, स कार्यरूपः इस प्रकार उद्देश्य-विधेयभाव बनाने पर यो धर्मः स चोदनालक्षणः यह सौत्रवाक्य का अर्थ निष्पन्न होगा। प्रभाकर के अनुसार चोदनालक्षण शब्द से कार्य और धर्म शब्द से वेदार्थ कहा गया है।

प्रस्तुत द्वितीय सूत्र में तीन शब्द हैं— (१) चोदनालक्षणः, (२) अर्थः, (३) धर्मः। इनमे से धर्म शब्द उद्देश्यवाचक है और चोदनालक्षण शब्द विधेयवाचक है। तृतीय (तीसरा) अर्थ शब्द अभ्युदय-वाचक किसका विशेषण है? इसका अन्वय (सम्बन्ध) किसके साथ होगा?

यद्युपादेयस्येति। यदि उपादेय अर्थात् विधेय का (चोदनालक्षण कार्य का) विशेषण अर्थ शब्द को बनाते हैं तो वेदार्थ को उद्देश्य बनाकर अर्थत्वविशिष्ट कार्यत्व का विधान करना होगा, जिससे सम्पूर्ण वेदार्थ में श्रेयःसाधनत्वरूप अर्थत्व और कार्यत्व प्राप्त होगा, उसी कारण तुम्हारे मत के अनुसार श्येनादि नियोगों में (श्येनजन्य अपूर्व में) भी श्रेयःसाधनत्वरूप अर्थत्व मानना होगा।

अर्थ शब्द को चोदनालक्षणरूप कार्य का विशेषण यदि बनाते हैं तो श्येनादि

नियोगों में (श्येना-दिजन्य अपूर्वों में) कार्यत्व रहने से उनमें अर्थत्व भी प्राप्त होने लगेगा।

अथोद्देश्यवेदार्थविशेषणम्, ततोऽयमर्थो भवति— योऽर्थात्मक: = अभ्युदयात्मको वेदार्थ: स कार्यरूप:। ततश्च श्येनादिनियोगानां निषिद्ध-फलत्वेन अनभ्युदयरूपाणां कार्यता न स्यात्।

अथोद्देश्यवेदार्थविशेषणमिति। किन्तु वेदार्थरूप उद्देश्य का विशेषण अर्थ शब्द को हम बना रहे हैं। अर्थ शब्द को वेदार्थरूप उद्देश्य का विशेषण बनाने में भी दोष उपस्थित होगा।

ततोऽयमर्थो भवतीति। सूत्रगत अर्थ शब्द अभ्युदयवाचक है। अभ्युदय एव अर्थ:, श्रेय:साधनमित्यर्थ:। इस प्रकार से अब कहना होगा कि जो अर्थ (अभ्युदय) रूप वेदार्थ है, उसी में कार्यरूपता है, अन्य में नहीं। तथाच— श्येनादि नियोगों में कार्यत्व नहीं हो पायेगा; क्योंकि उनके हिंसाफल का निषेध किया जाता है, उसी कारण उसमें अभ्युटयसाधनता (श्रेय:साधनता) नहीं है। श्येनादि नियोगो की अनभ्युदयात्मकता में कारण यह है कि उनके फलों को पाने का निषेध मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि आदि वाक्यों से किया गया है। भाष्यकार शबरस्वामी ने भी कहा है— कोऽनर्थ:? य: प्रत्यवायाय श्येनो वज्र इषुरित्येवमादि:, तत्राऽनर्थो धर्म उक्तो मा भूदिति अर्थग्रहणम्, कथं पुनरसा-वनर्थ:? हिंसा हि सा, हिंसा च प्रतिषिद्धा इति। हिंसा दो प्रकार की है अर्थात् उसके दो स्वरूप हैं— एक साधनरूप और दूसरा साध्यरूप। साधनरूप अर्थात् वेदविहित साधनरूप हिंसा पापोत्पादक नहीं होती; क्योंकि उससे तो हिंस्य = वध्य और हिंसक दोनों को स्वर्गप्राप्ति का होना निश्चित है। जिससे नरक प्राप्ति होती है, वह हिंसा पापो-त्पादक कहलाती है। जैसे— यवन (मुसलमान) बौद्ध आदि के द्वारा की जानेवाली हिंसा।

शंका— ज्योतिष्टोम आदि यागों में पशुहिंसा की जाती है; क्योंकि पशु के हृदयादि ग्यारह अङ्गों का अवदान (ग्रहण) करना पड़ता है और उन अङ्गों की आहुति देनी होती है। उन आहुतियों के परिणामस्वरूप पशु और यजमान दोनों को स्वर्ग-प्राप्ति होती है। इस तथ्य का साक्षी स्वयं भगवान् अपौरुषेय वेद हैं। अत: 'यज्ञीय हिंसा हिंसा न भवति' यज्ञीय हिंसा पापकारक नहीं है; क्योंकि वह साधनरूप हिंसा है; किन्तु यवनादिकृत हिंसा तो पापकारक ही है; क्योंकि वह साध्यरूप है, स्वर्ग-साधनरूप नहीं है। वह तो स्वयं की रुचि सम्पन्न करने के लिये है।

एवञ्च ज्योतिष्टोमादियागों की निष्पादक हिंसा में पाप की आशंका नहीं करनी चाहिये। अपनी तृप्ति के लिये की जानेवाली हिंसा ही अनर्थरूप (पापजनक) होती है; क्योंकि वह साध्यरूप है; किन्तु साधन-कोटि प्रविष्ट हिंसा पापकारक नहीं होती। ज्योतिष्टोम आदि यागों का फल हिंसा नहीं है, जिससे कि उन यागों को अनर्थरूप कहा जा सके। ज्योतिष्टोमादि याग तो स्वर्गसाधक ही होते हैं, अतएव आस्तिक धार्मिक

जनता ज्योतिष्टोमादि यागों का अनुष्ठान बराबर करती आ रही है। इन कतिपय यागों में परिगणित पशु ही होते हैं, उनसे अधिक नहीं। भारतीय संस्कृति के भारतीयों की भावना सर्वे च सुखिनः सन्तु की सर्वदा रहती आयी है। अतः वे वेद भगवान् की आज्ञा के अतिरिक्त किञ्चिन्मात्र भी मनमानी नहीं किया करते; किन्तु अहिंसा के अवतार अपने को माननेवाले अहिंसावादी बौद्ध खूब भरपेट तृप्ति पर्यन्त मांसभक्षण प्रतिदिन किया करते हैं। मांसभक्षण के बिना उनका पेट ही नहीं भरता। यदि वे वस्तुतः अहिंसावादी होते तो मांसभक्षण की बात को उनका मन कभी स्वप्न में भी सोचता क्या? बौद्धों के महन्त जब दलाईलामा भारत में शरण लेने के उद्देश्य से भारत में आये तो बौद्ध भक्त सरकार ने उन्हें इक्कीस प्रकार के मांस खिलाकर उनका स्वागत किया था, फिर भी हमारे बौद्ध भगवान् अहिंसावादी ही कहलाते हैं। हमारे बौद्ध भगवान् तो जल से निर्लिप्त पुष्कर पलाश के समान ही हैं। इससे स्पष्ट है कि इनकी कथनी-करनी में महान् अन्तर है। कहा ही **है**— मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्। प्रकृतमनुसरामः— यज्ञीय हिंसा, हिंसा न भवति, श्येनादीनां तु हिंसादीनां तु हिंसैव फलम् इति तेषामनर्थत्वम्।

मा भूदिति चेत्? न, तेषामपि लिङा कार्यताऽवगमात्। श्येनयागस्य कार्यता निवारयितुं शक्यते, न नियोगस्य। तस्य कार्यैकस्वभावत्वात्। असति च कार्यत्वे श्येनवाक्यस्य कार्यार्थत्वाऽभावात् सिद्धार्थतैव वक्तव्या स्यात्, न च तथा सम्भवति विधि प्रत्ययगोगात्। सिद्धे चार्थे व्युत्पत्तिविरहात् अप्रामाण्यमेव श्येनादिवाक्यानां स्यात्।

शंका— मा भूदिति चेत् इति। श्येनादि नियोगों में कार्यत्व नहीं हो पायेगा, तो भले ही न हो पाय?

समाधान— नहीं, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि तेषामपीति। श्येनादि वाक्यों में भी लिङ् का प्रयोग किया गया है, जो कार्यता का बोधक है। अर्थात् श्येनेनाभिचरन् यजेत इस वाक्य में भी लिङ् का श्रवण हो रहा है। अतः श्येन आदि यागों की भी कार्यत्व के रूप में प्रतीति होती है। श्येनयाग की कार्यता का निषेध किया जा सकेगा; किन्तु नियोग का निषेध नहीं किया जा सकता; क्योंकि नियोग कार्यैक स्वभाव है, अर्थात् अवश्य कर्तव्य होना उसका (नियोग का) स्वभाव है। नियोग को कार्य नहीं मानने पर श्येन वाक्य कार्यपरक नहीं हो सकेगा, उसे सिद्धार्थपरक ही कहना पड़ेगा।

न च तथा सम्भवतीति। किन्तु उसे सिद्धार्थपरक कहना सम्भव नहीं है; क्योंकि श्येनेनाभिचरन् यजेत इस वाक्य में विधिप्रत्यय (लिङ् लकार) का प्रयोग किया गया है। श्येनादि वाक्यों को सिद्धार्थपरक मानने पर प्राभाकरों के मतानुसार सिद्धार्थ में शब्द का शक्तिग्रह ही नहीं होगा, शक्तिग्रह नहीं होने से बोधकत्व भी नहीं होगा, तब श्येनादि वाक्यों का अप्रामाण्य ही कहना पड़ेगा।

अथ पूर्वसूत्राद् वेदार्थपरं धर्मपदमनुषज्य चोदनालक्षणो वेदार्थः इत्येकं वाक्यम्, अर्थो धर्मः इत्यपरं वाक्यम्। तदिदं स्वप्रज्ञाविलसितमात्रम्, अनुषङ्गवाक्यभेदयोर्विना फलमाश्रयणात्। अप्रतिज्ञातस्य च धर्मस्य लक्षणमसङ्गतम्।

शंका— अथ पूर्वसूत्रादिति। यदि ऐसा कहा जाय कि अथातो धर्मजिज्ञासा इस प्रथम सूत्र से वेदार्थपरक धर्म पद (शब्द) का अनुषङ्ग (अनुवृत्ति) (पूर्वत्र श्रुतस्य उत्तरत्र अनुसन्धानम् अनुषङ्गः) करके चोदनालक्षणो वेदार्थः यह एक वाक्य है और अर्थो धर्मः यह दूसरा वाक्य है, यह कहने पर कोई दोष नहीं होगा। अतः द्वितीय सूत्र की व्याख्या भी इसी प्रकार की जाय। अभिप्राय यह है कि प्रथम सूत्र से धर्म शब्द की अनुवृत्ति करके वाक्यभेद के द्वारा इस सूत्र की व्याख्या करेंगे। जैसे— चोदनालक्षणो वेदार्थः यह एक वाक्य और अर्थो धर्मः यह दूसरा वाक्य। इस वाक्यभेद का परिणाम यह होगा कि वेदार्थरूप श्येनादि वाक्य से चोदनादिकों में भी कार्यत्व प्राप्त हो सकेगा और अनर्थ-रूप हिंसा फल होने से द्वितीय वाक्य के द्वारा श्येनयाग में धर्मत्व का व्युदास (निषेध) भी हो सकेगा। जैसे— ज्योतिष्टोमादि जो वेदार्थरूप धर्म है, वह चोदनारूप होने से उसमें कार्यत्व भी है और अर्थत्व (प्रयोजन फल) होने से उसमें धर्मत्व भी है, उसी तरह श्येनादि वाक्यों को भी समझना चाहिये। इस प्रकार से सूत्र की दोषरहित व्याख्या हो जायेगी।

समाधान— तदिदमिति। शंकाकार का यह कथन प्रज्ञा (बुद्धि) का चमत्कारमात्र (बौद्धिक क्रीडामात्र) है। **अनुषङ्गवाक्यभेदयोरिति**। क्योंकि शंकाकार के अनुसार व्याख्या करने पर अनुषङ्ग करना, यही एक दोष है; क्योंकि अनुषङ्ग करने पर भी कोई फल नहीं है अर्थात् अनुषङ्ग करना निष्प्रयोजन होगा और दूसरा दोष वाक्यभेद है। वाक्यभेद करना भी निष्प्रयोजन ही है। अतः निष्प्रयोजन ही अनुवृत्ति तथा वाक्यभेद का आश्रय करने के कारण यह पक्ष भी समीचीन नहीं है। अब एक अन्य दोष भी बता रहे हैं— **अप्रतिज्ञातस्य चेति**। और जिस धर्मलक्षण की प्रतिज्ञा नहीं की, उसका लक्षण करना युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि शिष्ट लोग प्रतिज्ञात का ही लक्षण किया करते हैं। निष्कर्ष यह है— प्रथमसूत्र में धर्म शब्द को वेदार्थपरक माना है। अतः धर्म शब्द वेदार्थपरक होने पर निरूपणीय विषय वेदार्थ ही होगा। इसलिये प्रतिज्ञा उसी की की जायेगी, धर्म की प्रतिज्ञा नहीं। ऐसी स्थिति में इस द्वितीय सूत्र के द्वारा निरूपणार्थ प्रतिज्ञात वेदार्थ का लक्षण करना उचित है, धर्म का लक्षण बताना उचित नहीं। अतः अप्रतिज्ञात धर्म के निरूपणार्थ उसका लक्षण बताना असङ्गत है।

अथ प्रतिज्ञातस्यैव वेदार्थस्य कार्यत्वसिद्धये धर्मत्वमुच्यते। किं कार्य एव धर्मरूपो वेदार्थः, स एव जिज्ञास्यो नान्यः। तथा चेत्? य एव

जिज्ञास्यो धर्मस्तस्यैव सूत्राक्षराविनाशेन जिज्ञासा प्रतिज्ञातव्येति वेदार्थ-प्रतिज्ञावचनमनर्थकम्।

शंका— अथ प्रतिज्ञातस्यैवेति। प्रथम सूत्र में वेदार्थ-निरूपण करने की ही प्रतिज्ञा की गई है— 'वेदार्थं निरूपयिष्यामः' इति। धर्म शब्द वेदार्थपरक होने से उसी वेदार्थ में इस सूत्र के द्वारा कार्यत्व सिद्ध करने के लिये धर्मत्व बताया जा रहा है; क्योंकि धर्म कार्यरूप है। धर्मत्व उक्त होने पर कार्यत्व तो अनिवार्य रूप से वेदार्थ में प्राप्त हो ही जायेगा।

समाधान— किं कार्य एवेति। धर्मरूप होने से जो कार्यरूप वेदार्थ है, वही जिज्ञास्य होगा। अर्थवादादिसहित सम्पूर्ण वेदार्थ जिज्ञास्य नहीं होगा। **तथा चेत् इति।** यदि सम्पूर्ण वेद जिज्ञास्य नहीं होगा, तब उसी जिज्ञास्य कार्यरूप वेदार्थ की प्रथम सूत्रस्थित अक्षरों के अनुसार जिज्ञासा की प्रतिज्ञा करना उचित है; किन्तु सामान्यतया समस्त कार्य-अकार्यरूप वेदार्थ की जिज्ञासाविषयक प्रतिज्ञा, जो प्रथम सूत्र से की गई है, वह उचित नहीं होगी। तुमने तो प्रथम सूत्र में कहा है— धर्म शब्द वेदार्थपरक होने से सामान्यतः समस्त वेदार्थ के निरूपण की प्रतिज्ञा की है। यह तो पूर्वापर विरुद्ध बातें हो रहीं हैं। मूलगत वेदार्थप्रतिज्ञावचनम् में वेदार्थ शब्द सामान्यतः सर्ववेदार्थपरक ही समझना चाहिये। तब प्राभाकरों का वेदार्थ प्रतिज्ञावचन निरर्थक हो जायेगा; क्योंकि प्राभाकरों के अनुसार कार्यरूप वेदार्थ ही धर्म है, उसी की जिज्ञासा (विचार) करनी होगी, सम्पूर्ण वेदार्थ की नहीं। किन्तु जिज्ञास्य (विचारणीय) तो सम्पूर्ण वेदार्थ है। प्राभाकरों के अनुसार कार्यरूप वेदार्थ को ही धर्म मानने पर विप्लव हो जायेगा। अर्थात् धर्मप्रतिपादक सूत्राक्षरों में परिवर्तन करना होगा।

अथ त्वर्थशब्दमनादृत्य यो वेदार्थः स कार्यरूप इत्युच्यते, ततोऽर्थ-पदमनर्थकं वस्तुमात्रपर्यायमनुवादकं स्यात्। अनर्थव्युदासार्थता चाऽस्य भाष्यकारेणोक्ता, तस्माद् विशेषणमेवैतम्। विशेषणत्वे चाभ्युदयरूपस्य वेदार्थस्य कार्यत्वाभिधानादनभ्युदयरूपस्य वेदार्थस्य कार्यत्वं न स्यादिति सर्वस्य वेदस्य कार्य एव प्रामाण्यमिति नियमो न स्यात्। ततश्च अवि-नाशी वा अरे अयमात्मा इत्यादीनामात्मस्वरूपपरत्वं न निराकर्त्तव्य-मित्यास्तां तावत्। तस्माद्धर्मस्वरूपप्रमाणप्रतिपादनार्थमेवेदं सूत्रम्।

शंका— यदि यह कहा जाय कि अर्थ शब्द को छोड़कर जो वेदार्थ है, वह कार्यरूप है, तब कोई दोष नहीं होगा।

समाधान— उक्त कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि अर्थ शब्द का प्रयोग व्यर्थ हो जायेगा अथवा वस्तुमात्र का पर्याय होकर अनुवादक कहलायेगा; किन्तु भाष्यकार

शबरस्वामी ने कहा है कि अनर्थ के निवारणार्थ अर्थ शब्द का प्रयोग किया गया है— 'अनर्थो धर्म उक्तो मा भूदित्यर्थग्रहणम्'। अत: अर्थ शब्द को विशेषण ही मानना चाहिये। उसे विशेषण मानने पर अभ्युदयरूप वेदार्थ में ही कार्यत्व कहना होगा। तब अनभ्युदयरूप वेदार्थ में कार्यत्व नहीं कहा जा सकेगा। अत: समस्त वेदों का कार्य में ही प्रामाण्य है, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता। तब अविनाशी वा अरे अयमात्मा आदि उपनिषद् वाक्यों की आत्मस्वरूपपरकता का खण्डन जो आप कर रहे हैं, उसे असङ्गत कहना होगा। **तस्मादिति**। इसलिये यह द्वितीय सूत्र धर्म का स्वरूप और प्रमाण का निरूपण करने के लिये ही है। निष्कर्ष यह है कि यदि कोई यह कहे कि अर्थ शब्द न उद्देश्यरूप वेदार्थ का विशेषण है और न ही विधेयरूप कार्यत्व का विशेषण है, इसलिये अर्थ शब्द की चिन्ता नहीं कर (अनादृत्य) सूत्र के द्वारा यो वेदार्थ: स कार्यरूप: इतना ही केवल सूचित किया गया है। अर्थात् वेदार्थ को उद्देश्य करके कार्यत्व का विधान किया जा रहा है, ऐसा करने से उक्त दोषों में से कोई भी दोष नहीं हो पायेगा।

उक्त कथन का परिहार— **ततोऽर्थपदमनर्थकमिति**। अर्थ पद का अनादर करने पर उसे अनर्थक कहना होगा; किन्तु सूत्रप्रयुक्त पदों में से कोई भी पद अनर्थक नहीं माना जाता। अत: सूत्रों की व्याख्या ऐसी होनी चाहिये, जिससे सूत्र प्रयुक्त कोई भी पद अनर्थक नहीं हो पाये। अर्थ शब्द को विशेषण न मानने पर उसमें अनर्थकता आवेगी और वह (अर्थ शब्द) वस्तुमात्र का वाचक अर्थात् वस्तु शब्द का पर्याय ही कहा जायेगा। चोदनालक्षण पदार्थ भी वस्तु ही है, उसका वस्तुत्व लोकव्यवहार से ही जाना जाता है। इसलिये वह वस्तुत्व का अनुवादक ही कहा जायेगा।

अनर्थव्युदासार्थतेति। अस्य = अर्थ शब्द का प्रयोजन यही है कि अनर्थरूप श्येनादि यागों में धर्मत्व बुद्धि नहीं होने देना चाहिए। यह अर्थ शब्द चोदनालक्षण वेदार्थ का विशेषण ही है। अत: अर्थ शब्द का अनादर करने पर भाष्य के साथ विरोध भी होगा। इसलिये अर्थ शब्द को विशेषण ही मानना चाहिये।

विशेषणत्वे चेति। अभ्युदयवाचक अर्थ शब्द को विशेषण माना जाय तो किसका विशेषण माना जाय? अर्थ शब्द को वेदार्थ का ही विशेषण मानना उचित होगा। तब तुम्हें यही कहना होगा कि जो अभ्युदयरूप वेदार्थ है, जैसे— ज्योतिष्टोम आदि वही कार्यरूप है। तथाच अनभ्युदयरूप जो श्येन आदि हैं, उनमें कार्यता प्राप्त नहीं हो सकेगी; किन्तु वेदवाक्य तो श्येन आदि यागों के भी बोधक हैं। अन्यथा श्येनादि वाक्यों को अनर्थक कहना पड़ेगा। तथाच अकार्यरूप श्येन आदि यागों का भी प्रतिपादन करने के कारण अकार्यरूप अर्थ में भी वेद का प्रामाण्य तो मानना ही होगा। तब प्राभाकरों का जो यह नियम है— 'वेदस्य कार्ये एव प्रामाण्यम्' वह खण्डित हो जायेगा। ततश्च अविनाशी वा अरे प्रभाकरों के मतानुसार अकार्यरूप श्येनादि यागों के विषय में वेद का जैसा प्रामाण्य है, वैसे ही सिद्ध आत्मादि पदार्थों में भी अविनाशी इत्यादि वाक्यों का

भी प्रामाण्य है ही। पीछे जो यह कहा था कि किमिदानीमात्मादिवाक्यानामप्रामाण्य-प्रतिपादनपरमिदं सूत्रम्? उसी पर यह कहा गया है कि अविनाशी वा अरे आदि वाक्य आत्मस्वरूपप्रतिपादक हैं, उनका निराकरण नहीं करना है। इसके अतिरिक्त यह जो कहा था कि कश्चित्त्वाह— 'कार्यरूपो वेदार्थो, न सिद्धरूपः' इत्येतत् अनेन सूत्रेण उच्यते उसका खण्डन तो करना ही है। यह वेदार्थ सिद्धार्थपरक नहीं है, यह बताने के लिये यह सूत्र नहीं है; किन्तु धर्मस्वरूप धर्मप्रमाण का प्रतिपादन करने के लिये ही यह सूत्र है।

तदिह धर्मं विषयीकृत्य चिन्त्यते— किमस्य न किञ्चित् प्रमाणमस्ति? किं वा प्रत्यक्षादिकमेव प्रमाणम्? उत चोदनैव? अथवा विकल्पः? अथवा समुच्चयः? इति। तत्र शब्दस्य प्रमाणान्तरप्राप्तप्रापकत्वेन स्वयमप्रमाणत्वात् प्रत्यक्षादीनां चाऽसामर्थ्यादप्रमाणको धर्म इत्येकः पक्षः, प्रत्यक्षादिगम्य एवेत्येकः पक्षः, योगिनां प्रत्यक्षगम्यः, अर्वाचीनानां तु चोदनागम्य इत्यपरः, जगद्वैचित्र्यार्थापत्त्या किमप्यदृष्टमस्तीति सामान्येन प्रसिद्धो धर्मश्चोदनयाऽग्निहोत्रादिविशेषरूपेण गम्यते, तस्मात् समुच्चय इति पक्षान्तरम्, चोदनैव सा च प्रमाणमेवेति सिद्धान्तः। तदिह चोदनैव प्रमाणम्, सा च प्रमाणमेवेत्यवधारणद्वयं प्रतिज्ञायते।

पूर्वपक्ष का निराकरण करने के पश्चात् अपना मत प्रदर्शित कर रहे हैं— **तदिह धर्ममिति**। इह अर्थात् इस द्वितीय सूत्र में प्रकृत प्रमेयरूप जो धर्म है, उसके अस्तित्व में कोई प्रमाण भी है? अथवा कोई प्रमाण नहीं है। यह आशंका हो रही है; क्योंकि 'मानाधीना मेयसिद्धिः मानसिद्धिश्च लक्षणात्' प्रमाण के विना प्रमेय की सिद्धि नहीं हुआ करती— यह नियम है। उक्त आशंका के निराकरणार्थ पञ्चधा विकल्प उपस्थित कर रहे हैं— **किमस्य न किंचिदिति**।

(१) **प्रमाणाभाव**— अर्थात् धर्म के होने में कोई प्रमाण नहीं है। इसके अनन्तर जो चार पक्ष हैं, वे प्रमाणसत्तापरक ही हैं, अर्थात् प्रमाणास्तित्वपरक ही हैं।

(२) **किं वा प्रत्यक्षादिकमेवेति**? क्या धर्म के होने में प्रत्यक्षादिक ही प्रमाण हैं? अर्थात् यागादिक जो धर्म हैं, वे क्रियारूप होने से प्रत्यक्ष प्रमाण से ही जाने जाते हैं।

(३) **उत चोदनैवेति**। क्या चोदना ही प्रमाण है?

(४) अथवा विकल्प है? अर्थात् योगियों को अतीन्द्रिय पदार्थों का भी प्रत्यक्ष हुआ करता है। इसीलिये वे धर्म को भी प्रत्यक्ष कर सकते हैं। हम जैसे साधारण लोगों को धर्म का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होता है। हमें तो अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः आदि विधिवाक्यों से ही होता है। इसीलिये चौथा पक्ष विकल्प का है। इस पक्ष में धर्म का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से भी हो सकता है और धर्मचक्षु वाले हम जैसों को चोदना (विधि) प्रमाण से भी होता है। अतः व्यवस्थित विकल्प है।

(५) समुच्चयपक्ष है। धर्म के ज्ञान होने में प्रत्यक्ष, अर्थापति और चोदना (विधि)— ये बहुत से प्रमाण हैं। अत: धर्म का ज्ञान प्रमाणसमुच्चय से होता है। इस पक्ष में प्रमाणों का समुच्चय कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जगत् का जा वैचित्र्य है, उसका कोई कारण तो होना ही चाहिये, क्योंकि कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं हुआ करता, यह सामान्य तथ्य अनुमान अथवा अर्थापत्ति से समझ में आता है। उसी का विशेषरूप से ज्ञान विधिवाक्य से हुआ करता है। अर्थात् जगद् वैचित्र्य (जगत् में कोई अमीर है तो कोई गरीब है, कोई सुखी है तो कोई दु:खी है) का दृष्ट कारण तो हो नहीं सकता। अत: उसका कारण अदृष्ट को ही कहना होगा। यह सामान्य ज्ञान है और निर्विशेषं न सामान्यम् जो सामान्य होता है, वह विशेष से विशिष्ट ही रहता है। अर्थात् विना विशेष के सामान्य नहीं होता है। अत: पाँचवा पक्ष प्रमाणसमुच्चय का है। उक्त पक्षों में से तृतीय पक्ष चोदनैव प्रमाणम् चोदना ही प्रमाण है। चोदनैव में चोदना के साथ जो एवकार जुड़ा है, वह अन्ययोगव्यवच्छेदक है। तथा चोदना प्रमाणमेव में एवकार, जो प्रमाण के साथ जुड़ा है, वह अयोगव्यवच्छेदक है। इस प्रकार से द्वितीय सूत्र में दो प्रतिज्ञाएँ की गई हैं। यह तृतीय पक्ष ही सिद्धान्त पक्ष है। एवं च धर्म का ज्ञान चोदना (विधि-शब्द) प्रमाणक ही है यह सिद्ध हुआ। चोदना (विधिशब्द) के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण से धर्म का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से ज्ञात हुए पदार्थ का ही शब्द से ज्ञान होता है। इसलिये शब्द को स्वयं प्रमाण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अज्ञात अर्थ = पदार्थ का जो ज्ञापक (बोधक) होता है, उसे ही प्रमाण शब्द से कहा जाता है। 'अज्ञातार्थ-ज्ञापकत्वं प्रमाणत्वम्' यही प्रमाण का स्वरूप है। शब्द में धर्मबोधकता रहने पर भी प्रामाण्य नहीं होने के कारण उसे (शब्द को) धर्म में प्रमाण नहीं माना जाता। धर्म का प्रत्यक्ष इसलिये नहीं होता; क्योंकि धर्म में इन्द्रियगोचर (इन्द्रिय का विषय) होने की योग्यता नहीं है। इसलिये प्रत्यक्ष से धर्म का ज्ञान नहीं हो पाता। अनुमानादि प्रमाणों से धर्म का ज्ञान इसलिये नहीं होता कि अनुमानादि प्रत्यक्षमूलक रहते हैं। अर्थात् व्याप्ति-ज्ञानमूलक होते हैं। विना प्रत्यक्ष किये पदार्थ का अनुमान नहीं किया जाता। इसलिये अनुमान को प्रत्यक्षमूलक कहा जाता है। एवं च धर्म का ज्ञान होने में प्रत्यक्ष अनुमान आदि कोई भी प्रमाण उपयुक्त नहीं है। अर्थात् धर्म अप्रमाणक है— यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष— प्रत्यक्षादिगम्य धर्म है; क्योंकि यागादिरेव धर्म: कहा गया है। यागहोम आदि क्रियारूप होने से सर्वजन प्रत्यक्ष ही है। तीसरा पक्ष तो सिद्धान्त पक्ष ही है, जो उपर बता चुके हैं। अब चौथा पक्ष है— योगिनां प्रत्यक्षगम्य:। योगियों को अतीन्द्रिय-विषयक भी प्रत्यक्ष होता है। अत: धर्म का प्रत्यक्ष भी उन्हें होता है और जो योगी नहीं हैं, उन्हें यजेत इत्यादि चोदना (विधि) से ही जो बोध्य है, उसी का ज्ञान होता है। अब पञ्चम पक्ष यह है कि यत्कार्यं तत् सकारणकम् इस व्याप्ति के अनुसार संसार में कोई राजा है, तो कोई दरिद्र भिक्षुक है। इस वैचित्र्य का कारण तो कुछ होगा ही। वह अदृष्ट के सिवाय अन्य कुछ नहीं है, इसलिये अर्थापत्ति से सामान्यतया ज्ञात होने पर भी चोदना

(विधि) के द्वारा विशेष रूप से अर्थात् अग्निहोत्रादिरूप से ज्ञात होता है। अतः अग्निहोत्रादि कर्म ही धर्म है। इस रीति से प्रमाणसमुच्चय समझना चाहिये। इनमें से तृतीय पक्ष सिद्धान्त रूप होने से उसी को अर्थात् चोदनैव, सा च प्रमाणमेव यह कहा गया है। अन्य योगव्यवच्छेद के द्वारा चोदनैव यह कहा गया है और अयोग व्यवच्छेद के द्वारा सा च प्रमाणमेव यह कहा गया है और यही सिद्धान्त भी है। एवञ्च चोदनैव प्रमाणम्, सा च (चोदनाच) प्रमाणमेव इस प्रकार दो अवधारण (निश्चय) अर्थात् अन्ययोगव्यवच्छेद और अयोगव्यवच्छेद बताये गये हैं।

(प्रथमपादप्रतिपाद्यार्थसंग्रहः)

निमित्तसूत्रे तु प्रथमद्वितीयसूत्रमात्रालोचनया वेदो धर्ममूलमित्यादिवदुपदेशशास्त्रताशङ्का मा भूदिति परीक्षाशास्त्रमेवेदमितिज्ञापयितुं परीक्षाप्रतिज्ञानम्। यद्यपि चोपरितनव्यापारादेव परीक्षाशास्त्रत्वं गम्यते, तथापि वक्ष्यमाणमेव श्रोतृबुद्धिसमाधानाय कीर्तितम्।

अब वक्ष्यमाण कतिपय सूत्रों का अभिप्राय संक्षेपतः बता रहे हैं— **निमित्तसूत्रे त्विति।** प्रथम तथा द्वितीय सूत्र के द्वारा धर्मविचार नहीं किया गया है। अतः उन दो सूत्रों को देखने से किसी को यह आशंका नहीं हो कि वेदो धर्ममूलम् वाक्य के समान यह मीमांसाशास्त्र भी उपेदशशास्त्र ही है, यह विचारशास्त्र नहीं है। इस आशंका के निरसनार्थ ग्रन्थकार कह रहे हैं— **परीक्षाशास्त्रमेवेदम्**। यह विचार-शास्त्र ही है। इसी को बताने के लिये 'तस्य निमित्तपरीष्टि' इस तृतीय सूत्र के द्वारा परीक्षा की (विचार की) प्रतिज्ञा की गई है। यद्यपि अग्रिम सूत्रों से परीक्षा (विचार) ही की जा रही है, उसी से यह मीमांसाशास्त्र परीक्षा (विचार) शास्त्र ही है— यह निश्चय हो सकता है, जैसे वैष्णववेषधारी वैष्णव ही कहलाता है। जिस शास्त्र से जो प्रतिपादन किया जाता है, वह शास्त्र तद्विषयक ही कहा जाता है। तथापि धर्मपरीक्षण अद्यापि वक्ष्यमाण है। अतः विद्यार्थियों की उत्सुकता को सन्तुष्ट करने के लिये आचार्य धर्म परीक्षा का आरम्भ करेंगे— यह बोधन करने के लिये वक्ष्यमाण धर्मपरीक्षण का उल्लेख तृतीय सूत्र से किया गया है। जैसे नट (सूत्रधार) करिष्यमाण नाट्यकथा का ही आरम्भ में उल्लेख करता है।

प्रत्यक्षसूत्रे तु प्रत्यक्षस्य विद्यमानोपलम्भनत्वाद् भविष्यति धर्मे प्रामाण्यासम्भवात् तत्पूर्वकत्वेनेतरेषामप्यप्रामाण्यात् प्रमाणान्तरनियमविकल्पसमुच्चयनिराकरणाच्चोदनैवेत्ययमर्थः सिद्ध्यति ।

इस चतुर्थ सूत्र के अभिप्राय को बता रहे हैं— प्रत्यक्षप्रमाणवर्तमानकाल में विद्यमान पदार्थ का ही ग्राहक (बोधक) होता है। किन्तु धर्म पदार्थ अनुष्ठेय (अनुष्ठास्यमान) होने से भविष्यत्कालिक है। अतः वर्तमान में विद्यमान पदार्थ का बोधक प्रत्यक्ष प्रमाण भविष्यत्कालिक धर्म का बोधक नहीं हो सकता। इसलिये धर्म के विषय में प्रत्यक्षप्रमाण का होना कदापि सम्भव नहीं है। उत्तरवर्ती अनुमानादि प्रमाण तो प्रत्यक्षमूलक होने

से अनुमान आदि प्रमाणों का भी उपयोग धर्म के ज्ञान में नहीं हो सकेगा। उस कारण चोदना के अतिरिक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरों का धर्म में अर्थात् धर्म का बोधन कराने में नियम-विकल्प-समुच्चय का होना भी सम्भव नहीं है। उस कारण चोदना (विधि-शब्द) के अतिरिक्त सभी प्रमाणों का निराकरण हो जाने से चोदनैव धर्मे प्रमाणम्-चोदना (विधिशब्द) से ही धर्म में प्रमाण मानना होगा— यह चतुर्थ सूत्र से सिद्ध किया गया है।

औत्पत्तिकसूत्रे तु स्वतःप्रामाण्यमर्थान्यथात्वकारणदोषज्ञानाभ्यामप्रामाण्यमित्याश्रित्याग्निहोत्रादिचोदनाभ्योऽसन्दिग्धज्ञानोत्पत्तेः स्वतःप्रामाण्यं प्राप्तम्। न चाऽपवादकमर्थान्यथात्वज्ञानं साक्षादस्ति, नाऽपि कारणदोषज्ञानम्, पुरुषाश्रयत्वाच्छब्ददोषाणाम्। पदपदार्थसम्बन्धस्याकृत्रिमत्वात् तद्द्वारेण पुरुषानुप्रवेशाभावाच्चोदनानामिति स्थिते—

अब पंचम सूत्र 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' के अभिप्राय को बता रहे हैं— **औत्पत्तिकसूत्रे त्विति।** प्रमाण का प्रामाण्य स्वतः हुआ करता है। तथापि कारणदोष और बाधकज्ञान के होने पर अप्रामाण्य मानना पड़ता है। उस कारण अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः— इस चोदनावाक्य (विधिवाक्य) से सन्देहरहित (असन्दिग्ध) ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये विधिवाक्यों के सुनने पर उत्पद्यमान ज्ञान में स्वतः प्रामाण्य की प्राप्ति होती है, क्योंकि विधिवाक्योत्पन्न ज्ञान का साक्षात् बाधक अथवा अर्थान्यथात्वज्ञान साक्षात् नहीं हो रहा है। जैसे शुक्ति में रजत ज्ञान होने पर तदुत्तरक्षण में नेदं रजतम्— यह साक्षात् बाधक ज्ञान हुआ करता है। इसलिये (बाधक ज्ञान के होने से) शुक्ति-रजतज्ञान की स्वतः प्रमाणता नहीं मानी जाती।

नापि कारणदोषज्ञानमिति। तथा कारणदोषाज्ञान भी नहीं है; क्योंकि शब्द के दोष तो पुरुष के आश्रित (पुरुष में) रहते हैं। उस कारण पद-पदार्थसम्बन्ध (शब्द और अर्थ का सम्बन्ध) अकृत्रिम (नित्य = अर्थात् किसी के द्वारा बनाये गये नहीं है) है। अतः शब्दार्थ सम्बन्ध (पद-पदार्थ सम्बन्ध) नित्य होने के कारण विधिवाक्यों में पुरुष का प्रवेश नहीं है। एवञ्च विधिवाक्यों का स्वतः प्रामाण्य है— इस तथ्य को औत्पत्तिकसूत्र ने अर्थात् पंचमसूत्र ने बताया है।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है— (पंचमसूत्र का अभिप्राय) प्रमाण रूप से अभिमत पदार्थ का जो अप्रामाण्य हुआ करता है, उसमें कारण यह है अर्थान्यथात्व-ज्ञान। पूर्व प्रमाणित समझी जानेवाली वस्तु का अर्थान्यथात्वज्ञान होने पर वह अप्रमाणित समझी जाती है। जैसे— शुक्ति-रजतज्ञान में अर्थात् भ्रमज्ञान में ज्ञायमान रजत पदार्थ में अन्यथात्वज्ञान (शुक्तित्वज्ञान से अथवा रजताभाव ज्ञान) से शुक्ति-रजतज्ञान को अप्रमाण मानना पड़ता है। तथा— कारणदोषज्ञान से भी ज्ञान में अप्रमाण्य हुआ करता है। जैसे— इन्द्रियाँ दूषित होने पर अर्थात् इन्द्रियों के दूषित होने का ज्ञान होने पर भी (कारण-

दोषज्ञान से भी) ज्ञान का अप्रामाण्य माना जाता है। जैसे किसी वक्ता ने कोई बात कही, किन्तु कहनेवाला आप्त नहीं है अर्थात् अनाप्त है; अतः वक्ता के अनाप्तत्व दोष के कारण उसके कहने से सुनने वाले को जो ज्ञान हुआ, उसे प्रमाण नहीं माना जायगा। क्योंकि अनाप्तत्व दोष से वह ज्ञान दूषित है।

अग्निहोत्रविधायक विधिवाक्यों में अर्थान्यथात्वज्ञान तथा कारणदोषज्ञानरूप दोनों दोषों के होने की कोई संभावना ही नहीं की जा सकती; विसंवाद न रहने से एवं अपौरुषेय रहने के कारण विधिवाक्यों से असंदिग्ध ज्ञान ही हो पाता है। अतः उस ज्ञान को स्वतः प्रमाण ही मानना होगा। इस तथ्य को पंचम सूत्र के द्वारा बताया गया है। वैदिक विधि-वाक्यजनित ज्ञान का कोई बाधकवाक्य भी नहीं सुनाई देता, उसी तरह अर्थान्यथात्वज्ञान का होना साक्षात् किसी को भी नहीं हुआ है। जैसे ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत— इस वाक्य से जब अर्थज्ञान होता है तब वह वैसा नहीं है अर्थात् ज्योतिष्टोम से स्वर्ग नहीं मिलता— ऐसा किसी को भी आज तक अनुभव नहीं हुआ है।

उसी तरह कारणदोषज्ञान भी आज तक किसी को नहीं हो पाया है। अतः अप्रामाण्य की संभावना कैसे की जा सकेगी ? क्योंकि शब्द में दोष नहीं हुआ करते, किन्तु शब्दो-च्चारण करने वाले पुरुष (वक्ता) में जो भ्रम-प्रमाद-करणापाटव (इन्द्रियदोष) रहते हैं, उन्हीं दोषों को शब्द में लक्षित किया जाता है। वस्तुतः दोष तो वक्ता के हैं; किन्तु उन दोषों को लक्षणा से शब्द में आरोपित किया जाता है। तथापि ये वक्तृदोष अथवा शब्ददोषों के होने की संभावना भी वेदवाक्यों में नहीं कर सकते, क्योंकि वेद के वाक्य तो अपौरुषेय हैं, अतः उनमें कारणदोष के होने की संभावना तक नहीं कर सकते।

शंका— वेद को अपौरुषेय मानने पर भी पद-पदार्थसम्बन्ध अर्थात् शब्दार्थ-सम्बन्ध तो किसी ने बनाया ही होगा, जिससे व्यवहार सम्पन्न होता है। अतः शब्दार्थ सम्बन्ध कृत्रिम रहने से उस सम्बन्ध का कर्ता कोई अवश्य ही मानना होगा। एवंच पद-पदार्थ सम्बन्ध के द्वारा ही वेदवाक्यों की रचना से पुरुष का सम्बन्ध अवश्य ही रहा होगा। इसलिये वेद का अर्थात् ज्ञानराशिरूप वेद के प्रामाण्य को परतः ही कहना चाहिये। वेद के प्रामाण्य को स्वतः कहना उचित नहीं है। निष्कर्ष यह निकला कि चोदनावाक्यों (विधिवाक्यों अथवा सम्पूर्ण वेदवाक्यों) का स्वतःप्रामाण्य नहीं है, अपितु उनका प्रामाण्य परतः ही है।

समाधान— पद-पदार्थसम्बन्धस्य अकृत्रिमत्वादिति। पद-पदार्थ (शब्द और अर्थ) का सम्बन्ध कृत्रिम नहीं है अर्थात् किसी व्यक्ति (चाहे वह मनुष्य या ईश्वर ही क्यों न हो और न कोई यक्ष-गन्धर्व-किन्नर, देवता, ऋषि-महर्षि-ब्रह्मर्षि, गडरिया अथवा भूत-प्रेत-पिशाच आदि कोई भी व्यक्ति) ने सम्बन्ध बनाया नहीं है। शब्दार्थ सम्बन्ध (पद-पदार्थ सम्बन्ध) तो अकृत्रिम तथा अनादि काल से ही चला आ रहा है। अतः तद्द्वारा = पद-पदार्थ सम्बन्ध के द्वारा वेदवाक्यों के साथ पुरुष के सम्बन्ध की कल्पना करने का भी

सम्भव नहीं है। इसलिये भगवान् वेद के स्वत:प्रामाण्य का स्वीकार करने में कोई किसी प्रकार की भी बाधा नहीं है, न थी और न आगे होगी। अत: विधिवाक्यघटित सम्पूर्ण वेदों का प्रामाण्य स्वत: ही है— यह अकाट्य सिद्धान्त है।

शब्दस्यैवाऽनित्यत्वात् कुतः सम्बन्धनित्यता? इत्याक्षिप्य शब्दस्य नित्यतया शब्दाधिकरणे सम्बन्धनित्यत्वे समाहिते, माभूत् पदपदार्थ-सम्बन्धद्वारेण पुरुषानुप्रवेशः, वाक्यवाक्यार्थयोस्तु लोकेसम्बन्धा-ऽदर्शनान्निर्मूलोऽग्निहोत्रादिवाक्यार्थप्रत्यय इत्यतो व्यामोहः। साम-यिको वा। अतो न वाक्यार्थे वेदस्य प्रामाण्यमित्याशङ्क्य, पदार्थानां सम्बन्धग्रहणं समयं चानपेक्षमाणानामेव वाक्यार्थे प्रामाण्यं सम्भवतीति तद्भूताधिकरणेन प्रतिपादिते।

शंका— शब्दस्यैवाऽनित्यत्वादिति। सांसारिक घट-घटादि पदार्थ तो अनित्य ही हैं, तो उनका भूतल के साथ जो सम्बन्ध है, वह भी अनित्य ही रहेगा, उसे नित्य कैसे कहा जा सकेगा। उसी तरह जब शब्द ही अनित्य है, तब उसका पदार्थ के साथ सम्बन्ध नित्य कैसे कहा जायगा ? अतएव शब्दस्यैव अनित्यत्वात् कुत: सम्बन्धनित्यता? यह आक्षेप किया गया है।

समाधान— शब्दस्य नित्यतयेति। शब्द की नित्यता रहने से पद-पदार्थसम्बन्ध की नित्यता शब्दाधिकरण में युक्ति-प्रयुक्तिपूर्वक सिद्ध की गई है। फिर भी पूर्वपक्षी ने आक्षेप किया है— **मा भूत् पद-पदार्थसम्बन्धद्वारेणेति।** पद-पदार्थसम्बन्ध नित्य होने से उसके द्वारा पुरुष का प्रवेश वेद में भले ही न हो, किन्तु लौकिक व्यवहार में वाक्य-वाक्यार्थसम्बन्ध दृष्टिगोचर न होने से उसे कृत्रिम ही कहना होगा। अतएव अभिनव आधुनिक कविरचित वाक्य का क्वचित् बोध नहीं हो पाता है। यदि पद-पदार्थसम्बन्ध भी नित्य होता, तो अवश्य उससे अर्थबोध होता। इसलिये वाक्य-वाक्यार्थसम्बन्ध के द्वारा ही वेद में पुरुषप्रवेश होने की संभावना है, उस कारण वेद में स्वत: प्रामाण्य का कोई सम्भव ही नहीं है।

अपौरुषेयता की दृष्टि से भी यदि वेद के सम्बन्ध में विचार करें तो भी वैदिक वाक्य-वाक्यार्थ का सम्बन्ध जोड़नेवाला कर्ता कोई न होने से वेद को निर्मूल ही कहना होगा, तब वैदिक अग्निहोत्रादि-वाक्य से होनेवाला ज्ञान भी निर्मूल ही कहा जायगा। तब वैदिक अग्निहोत्रादि वाक्यों से भ्रम (व्यामोह) ही पैदा होगा, प्रमात्मक ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) तो होगा ही नहीं। अत: वेदवाक्यों में प्रामाण्य बुद्धि के होने की कोई संभावना ही नहीं है। अथवा वेदवाक्यों से सांकेतिक (सामयिक) ज्ञान ही होगा। तब सांकेतिक ज्ञान कराने वाली चेष्टा के समान वेद-वाक्यों का प्रामाण्य भी सम्भव नहीं हो सकेगा। सांकेतिक प्रत्यय-

जनक चेष्टाओं को प्रमाण नहीं माना जाता। उसी तरह वेदवाक्यों का प्रामाण्य भी मानने योग्य नहीं रहेगा।

समाधान— पदार्थानां सम्बन्धग्रहणमिति। वाक्य-वाक्यार्थ के सम्बन्ध के ग्रहण की और ईश्वर- संकेत (समय = ईश्वरेच्छारूप संकेत) की अपेक्षा (आवश्यकता) न चाहने वाले पदार्थों के ही प्रामाण्य की संभावना वाक्यार्थ में हो सकती है, इसलिये उक्त दोष यहाँ पर नहीं है— यह बात तद्भूताधिकरण के पच्चीसवें सूत्र से कही गयी है। अर्थात् वाक्य-वाक्यार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान और ईश्वरसंकेत (शक्ति) का ज्ञान— इन दोनों को तद्भूताधिकरण के पंचविंशतितम सूत्र से बताया गया है।

मीमांसा के मत में 'पदैः स्मृतानां पदार्थानामेव वाक्यार्थबोधे कारणत्वमस्ति' इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र ने कहा है— पदार्थानां सम्बन्धग्रहणं, समयं च, अनपेक्षमाणानामेव, वाक्यार्थे प्रामाण्यं सम्भवति। कहा भी है— 'पदैरहिभहिताः पदार्था एव वाक्यार्थं प्रतिपादयन्तीत्याचार्याः। किञ्च— दीर्घतमेषु वाक्येष्वशक्यमेवाऽनुसन्धानम्, असत्यपि च तस्मिन् पदार्थानुसन्धानमात्रेण वाक्यार्थः प्रतीयते इति सार्वजनीनमेतत्। तेन दृष्टानुगुण्यादपि पदार्थनिमित्तक एव वाक्यार्थो, न पदनिमित्ते दृष्टाद्यप्रसङ्गात्। तदाह—

पदार्थानां च सामर्थ्यं गम्यमानमपह्नुतम्।
आनन्तर्याद्धि वाक्यार्थस्तद्धेतुत्वं न मुञ्चति।।

पदार्थानां हि वाक्यार्थे स्पष्टताऽत्रबुद्धिं जनयन्ति, किन्तु पदस्वरूपाभिहितैः पदार्थैः संलक्ष्यतेऽसाविति सिद्धमेतत्।

पुनर्वेदानां वाक्यात्मकत्वात् काठकादिसमाख्यानाच्च पौरुषेयत्वात् तद्द्वारेण दोषसंस्पर्शमाशङ्क्य, स्मर्तव्यत्वे सत्यस्मरणात् योग्यानुपलब्धिनिरस्तस्य कर्तुरनुमानाऽसम्भवात् समाख्यायाश्च प्रवचननिमित्तत्वादपौरुषेया वेदा इति तदेकदेशानां चोदनानां सिद्धं प्रामाण्यमित्येवं समस्तः प्रथमः पादश्चोदनासूत्रप्रतिज्ञातार्थोपपादनेन तस्यैव परिकरः। सोऽयं भाष्यकारानुसारेण पादार्थोऽनुक्रान्तः। वृत्तिकारमतं तु पश्चादनुक्रमिष्यामः।

पहले कहा जा चुका है कि किसी प्रकार की अपेक्षा न करनेवाले अर्थात् निरपेक्ष रहनेवाले पदार्थों का ही वाक्यार्थ में प्रामाण्य है। मीमांसकों के सिद्धान्तानुसार पदों के द्वारा स्मर्यमाण पदार्थ ही वाक्यार्थ-बोध (वाक्यार्थज्ञान) कराते हैं। अर्थात् वाक्यार्थज्ञान कराने में स्मर्यमाण पदार्थ ही कारण (हेतु) हैं। इतना बताने पर भी प्रतिपक्षी तार्किक पुनरपि शंका कर रहा है—

शंका— पुनर्वेदानां वाक्यात्मकत्वादिति। 'यद् यद् वाक्यं तत् तत् पौरुषेयमेव' अर्थात् वाक्य तो पौरुषेय ही हुआ करते हैं, क्योंकि वे पुरुषों के द्वारा ही अर्थात्

जिस किसी के द्वारा ही उच्चरित होते हैं (बोले जाते हैं)। उस कारण वेद भी वाक्यात्मक होने से पौरुषेय ही हैं— यह स्वीकार करना ही होगा। किञ्च—**काठकादिसमाख्या-नादिति**। इयं कठशाखा, इयं कलापशाखा, इयं बाष्कलशाखा, इयम् आश्वलायनशाखा आदि तत्तत् नामपूर्वक (संज्ञापूर्वक) शाखाओं की प्रसिद्धि श्रुत होती है। उस कारण भी वेदों की पौरुषेयता स्पष्ट हो रही है। कठेन पुरुषेण (कठनामकेन पुरुषेण) अथवा कलाप-नामकेन पुरुषेण प्रोक्ता एव शाखा कठशाखा, कलापशाखा वा उच्यते। अर्थात् तत्तत् शाखाओं के साथ तत्तत् पुरुषों के नाम (संज्ञाएँ) जुडे हुए हैं। उसी से समझ में आ जाता है कि उनकी रची हुई तत्-तत् शाखायें हैं। शाखाओं के साथ पुरुषों के नाम जुड़ने में अन्य कोई कारण नहीं हो सकता। महाभारत, रामायण, रघुवंश, किरात आदि ग्रन्थों के साथ उनके रचयिताओं के नाम जुड़े हुए हैं, अतएव उन ग्रन्थ रचियिताओं के नाम सर्वजनप्रसिद्ध हैं। उसी तरह वेद जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी पुरुषरचित ही हैं, इसलिये वेदों को पौरुषेय ही मानना होगा। पौरुषेय होने से पुरुषगत दोषों का संक्रमण भी वेदों में अवश्य ही होगा। एवंच लौकिक पुरुष वाक्यों जैसी वेद की रचना भी महापुरुषों के द्वारा ही की गई है, इसलिये वेदों को पौरुषेय ही कहना होगा। तथा पौरुषेय दोष भी वेदों में अवश्य ही संक्रमित हुये होंगे— यह भी मानना होगा। पूर्वपक्षी के द्वारा यह आशंका की गई है। तब सर्वज्ञानमय वेद जैसे सर्वातिशायी महत्त्वपूर्ण ज्ञानराशिमय वेद के रचयिता के नाम भी सर्वजनविश्रुत अवश्य ही होने चाहिये थे, किन्तु अनादिकाल से आजतक किसी के भी कर्णगोचर नहीं हैं, क्योंकि वेद का रचयिता कोई व्यक्ति अथवा ईश्वर तक नहीं है, उसी कारण अर्थात् वेदों के योग्य कर्ता की अनुपलब्धि के कारण वेद का कर्ता कोई नहीं है। वेदों की अपौरुषयता ही प्रसिद्ध है।

समाधान— उपर्युक्त आशंका का समाधान सूत्रकार जैमिनि मुनि ने आख्याप्रवचनात् सूत्र पर किया है। उसी को ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र बता रहे हैं— 'स्मर्तव्यत्वे सति अस्मरणात्'। स्मर्तव्य रहने पर भी स्मरण नहीं हो रहा है। अर्थात् वेदाध्ययन की अविच्छिन्न परंपरा (अध्ययनाध्यापन परंपरा) चलती आ रही है। फिर भी इसलिये वदों को अपौरुषेय ही मानना होगा। किसी भी रचयिता का नाम आजतक किसी ने नहीं जान पाया। वेदा अपौरुषेया एव; काठक, कालापक आदि मनुष्य नाम पर जो शाखाओं के नाम पाये जाते हैं, वे तो प्रवचन करने के कारण पाये जाते हैं। अर्थात् कुशलता के साथ अध्यापन (प्रवचन) करने के कारण शाखाओं के साथ त्तत् मनुष्यों के (अध्यापकों के) नाम सुनाई देते हैं। अर्थात् समाख्या (नाम = संज्ञा) के श्रवण में प्रवचन (अध्यापन) ही कारण है। जिस शाखा (वेदशाखा) में जिस ऋषि का अधिक अभिनिवेश (अभिरुचि) था, उसी ऋषि के नाम से उस शाखा की प्रसिद्धि हो गई। जैसे— कठशाखा।

अनुपलब्धि के कारण वेदकर्ता के अभाव का निश्चय हो जाने पर वेदः सकर्तृकः वाक्यत्वात् भारतवत्— इस अनुमान से भी कर्ता की सिद्धि का होना सम्भव नहीं है, क्योंकि योग्यानुपलब्धि से बाधित है। अतः वेदैक और वेदक देशभूत चोदनाओं

(विधियों) का प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। इस तथ्य को भाष्यकर शबरस्वामी ने अपने भाष्य के प्रथम पाद के अन्तिम अधिकरण में बताया है। इस रीति से सम्पूर्ण प्रथम पाद ही चोदनासूत्र से प्रतिज्ञात अर्थ का उपपादनपरक होने से उसी का परिकर (उप-जीवक) है। इस प्रकार भाष्यकार के अनुसार पादार्थ संक्षेप से प्रदर्शित किया गया है। वृत्तिकार के मत को बाद में बताया जायगा।

प्रकृतमनुसमराम:— प्रतिज्ञातं तावच्चोदनैव प्रमाणं, सा च प्रमाणमेवेति। ननु प्रत्यक्षादेरन्यानपेक्षं प्रामाण्यं सम्भवतीति तस्यैव धर्मे प्रामाण्यम्, शब्दस्य तु सर्वदैव प्रमाणान्तरप्रमितविषयत्वान्न तदनपेक्षं प्रामाण्यं सम्भवतीति। उच्यते— प्रत्यक्षं तावत् संयुक्तविषयत्वेन विद्यमानोपलम्भनत्वाद् भविष्यति धर्मे न समर्थम्।

यद्यपि गोदोहनादिद्रव्यम्, यागादिक्रिया, नीचैस्त्वादिगुणश्च, फलसाधनत्वाद् धर्मशब्देनोच्यते, नाऽपूर्वादय इति श्रेयस्करभाष्ये वक्ष्यते, तथापि तेषां फलसाधनरूपेण धर्मत्वात्, फलस्य च जन्मान्तरादिभावित्वाद् धर्मस्वरूपेण प्रत्यक्षविषयत्वं न सम्भवति, तत्पूर्वकत्वाच्चानुमानादिकमपि न प्रमाणम्।

प्रसङ्गत: प्राप्त विषयो को बताकर पूर्व प्रतिज्ञात 'चोदनैव प्रमाणम् सा च प्रमाणमेव' यही सिद्धान्त स्थिर किया गया है।

शंका— दार्शनिकों द्वारा सम्मत सभी प्रमाणों में ज्येष्ठत्व और स्वतन्त्रत्व प्रत्यक्ष प्रमाण में माना जाता है। अन्य सभी प्रमाणों को येन केनापि प्रकारेण प्रत्यक्ष प्रमाण के परतन्त्र ही स्वीकार किया गया है। अत: उन प्रमाणों में वस्तुत: स्वत: प्रामाण्य का होना संभव नहीं है। इस कारण अन्याऽनपेक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण को ही धर्म में प्रमाण मानना उचित होगा; क्योंकि यागक्रिया ही तब धर्म कही जाती है, और वह यागक्रियाप्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध भी होती है। किन्तु शब्द तब प्रमाणान्तर से प्रमित (ज्ञात) विषय को ही बता पाता है, इसलिये उसमें प्रत्यक्षाऽनपेक्ष प्रामाण्य नहीं है। इस कारण शब्द में स्वत: प्रामाण्य मानना संभव नहीं है। प्रमाणान्तरानपेक्ष प्रमाण ही स्वत: प्रमाण कहा जाता है। ग्रन्थकार ने प्रत्यक्षादे: यहाँ पर आदि शब्द प्रत्यक्ष की अनेकविधता को सूचित करने के लिये कहा है? अथवा अनुमान के ग्रहण की सूचना के लिये कहा है?

समाधान— उच्यते प्रत्यक्षं तावदिति। जो वस्तु इन्द्रिय के संनिकृष्ट होती है, उसी वस्तु का इन्द्रिय से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। धर्म-पदार्थ तो अभी वर्तमान में सिद्ध ही नहीं है, आगे चलकर भविष्यकाल में वह होगा। वह अपनी सत्ता (विद्यमानता) काल में भी इन्द्रिय संनिकर्ष के योग्य नहीं हो पाता, इस कारण धर्म को अपना विषय बनाने में प्रत्यक्षप्रमाण समर्थ नहीं है। अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाण से धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। **यद्यपि गोदोहनादिद्रव्यमिति।** गोदोहनेन पशुकामस्य वाक्य के द्वारा उक्त गोदोहन शब्द

एक पात्रविशेष का नाम है। यद्यपि गोदोहनसंज्ञक पात्रविशेषरूप द्रव्य, यागादिक्रिया, नीचैस्त्वादि गुण— ये सभी फलप्राप्ति के साधन होने से धर्म शब्द से कहे जाते हैं, अपूर्व आदि को धर्म शब्द से नहीं कहा जाता— इस तथ्य को आगे चलकर श्रेयस्कर-भाष्य में अर्थ शब्द की व्याख्या करते हुए शाबरभाष्य में कहेंगे, तथापि यागादि क्रियाओ को फलसाधन के रूप में ही धर्म शब्द का व्यवहार करना होगा, अन्यथा लौकिक घट-पट आदि पदार्थों को भी धर्म शब्द से कहा जा सकेगा। फलप्राप्ति तो प्राय: जन्मान्तर में ही होती है, वर्तमान में फल का प्रत्यक्ष न हो पाने से याग आदि में भी फलप्राप्ति साधनता का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अत: यागादि क्रियाओं के प्रत्यक्ष होने पर भी धर्म के रूप में उसका प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि याग आदि क्रियाओं में धर्म स्वरूपसंपादक फल का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है। जैसे— स्वरूपत: दण्ड का प्रत्यक्ष होने पर भी घट का प्रत्यक्ष न होने के कारण घट-कारणत्वरूपेण अर्थात् घट निर्माण में दण्ड भी कारण है— इस रक्ष्य में उसका प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है, उसी तरह यागादि क्रियाओं में धर्म-साधनता के रूप में प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है। क्योंकि धर्म का ज्ञान कराने में प्रत्यक्षप्रमाण का सामर्थ्य नहीं है; अतएव प्रत्यक्ष पर आधारित अनुमानादि प्रमाणों में भी धर्म का बोध कराने का सामर्थ्य नहीं है। एवं च धर्म का ज्ञान कराने में प्रत्यक्ष प्रमाण जैसे असमर्थ है, वैसे ही अनुमान प्रमाण भी असमर्थ है।

भावनाबलजं तु योगिप्रत्यक्षं भविष्यत्यपि धर्मे समर्थमिति मनोरथ-मात्रम्। भावना ह्यनुभूतगोचरनियतानुभूतेष्वेव निश्चयरूपां स्मृतिं जनयेत् । न च सात्र प्रमाणं स्मृतित्वादेव, नितरां प्रत्यक्षमनिन्द्रियजत्वात्।

बौद्धों की आशंका— भावनाबलजं तु योगिप्रत्यक्षमिति। योगसाधना सम्पन्न योगियों को अपने भावना के बल से भी प्रत्यक्ष होता है। उस प्रत्यक्ष की शक्ति से भविष्यत्कालिक पदार्थ का भी ज्ञान होता है। इसलिये कहा जा सकता है कि धर्म योगियों के प्रत्यक्ष का विषय होता है, अर्थात् योगियों को धर्म का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होना संभव नहीं है। योगियों को प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिये इन्द्रिय सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं होती। उपर्युक्त कथन बौद्धमत के अनुसार वर्णित किया गया है।

समाधान— सिद्धान्ती का कहना है कि धर्म के विषय में उपर्युक्त कथन केवल मनोरथमात्र है अर्थात् मनगढन्त है = उचित नहीं है। क्योंकि भावना- अनुभूत पदार्थ विषय की ही हुआ करती है, अत: वह अनुभूत पदार्थ (वस्तु) की ही निश्चयात्मक स्मृति कराती है। उस भावना का विषय धर्म नही होगा। अर्थात् धर्मविषयक भावना नहीं होगी। मूल ग्रन्थ में अनुभूत गोचरनियता पद भावना का विशेषण है और अनुभूतेषु में सप्तमी विभक्ति का अर्थ विषयत्व है।

न च साऽत्र प्रमाणं स्मृतित्वादेवेति। बौद्ध यदि धर्म को भावना का विषय कहे तो उसका इस प्रकार कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि भावना तो स्मृति रूप है। उस

कारण भावना को प्रमाण मान ही नहीं सकते। अत: वह धर्म में प्रमाण कैसे हो सकेगी? एवं च भावना से (भावना के बल पर) धर्म का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता और वह (भावना) इन्द्रियजन्य न होने से प्रत्यक्ष स्वरूप भी नहीं है। जो इन्द्रियजन्य रहता है, उसी को प्रत्यक्ष शब्द से कहा जाता है। एवं च धर्म को भावना का विषय मानने पर भी वह भावना प्रत्यक्ष प्रमाण रूप न होने से उसका धर्म में प्रामाण्य नहीं है। अन्यत्र कहा भी है कि यच्च योगिज्ञानं प्रत्यक्षमुक्तं तदसत् प्रमाणविशेषो हि प्रत्यक्षं न च भूतार्थभावना प्रकर्षपर्यन्तजस्य योगिज्ञानस्य प्रमाणतैव संभवति स्मृतिरूपत्वात्। प्रमाणेन हि भूतार्थं परिच्छिद्य या भावना सा स्मृति-सन्ततिरेव, तत्प्रकर्षणमपि ज्ञानं, स्मृतिविशेष एवेति न प्रमाणं न च प्रत्यक्षम् इति।

नेन्द्रियजत्वं प्रत्यक्षलक्षणम्, अपि तु कल्पनापोढत्वमिति चेत्? सुतरां धर्मस्याऽप्रत्यक्षत्वं फलसाधनरूपस्याविकल्पग्रहणासम्भवात्। तस्माद-निमित्तं प्रत्यक्षम्। तत्पूर्वकत्वाच्चानुमानाद्यपि।

बौद्धों की आशंका— नेन्द्रियजत्वं प्रत्यक्षलक्षणमिति। बौद्ध अपने प्रतिपक्षी सिद्धान्तवादी से कहता है— प्रत्यक्ष का लक्षण इन्द्रियजत्व (इन्द्रियजन्यत्व) अर्थात् इन्द्रिय से जो ज्ञान हो, उसे प्रत्यक्ष कहा जाय तो धर्म इन्द्रियगोचर (इन्द्रिय का विषय) न हो पाने से प्रत्यक्ष का विषय भले ही न हो सके, किन्तु कल्पनाऽपाढ़त्वं प्रत्यक्षत्वम् यह प्रत्यक्ष लक्षण धर्म में घटित होता है। कल्पना का अर्थ है— जात्यादियोजना। कल्पनाऽपोढ़त्व का अर्थ है— कल्पनाशून्यत्व (कल्पनारहि तत्व)। इससे निष्कृष्ट लक्षण यह हुआ कि विशेष्यविशेषणभावनाऽनवगाहित्वं निर्विकल्पकत्वम्। हम बौद्धों के मत में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही वास्तविक प्रत्यक्ष कहा जाता है। तदनन्तर हो रहा सविकल्पक ज्ञान तो प्रत्यक्षभूत निर्विकल्पकज्ञान का कार्य है, उस कारण उसे (सवि-कल्पक ज्ञान के) प्रत्यक्ष शब्द से नहीं कहा जाता। विषय (वस्तु = पदार्थ) और इन्द्रिय— दोनों का संनिकर्ष (संबंध) होने पर प्रथमत: निर्विकल्पक ज्ञान ही उत्पन्न होता है और वही प्राथमिक है तथा कल्पनाऽपोढ भी है अर्थात् जात्यादि कल्पना से रहित भी है, इसलिये उसी को (निर्विकल्पक ज्ञान को) ही प्रत्यक्ष मानना चाहिये। एवं च धर्म निर्विकल्पक ज्ञान का विषय होने से ही प्रत्यक्ष का विषय वह (धर्म) स्वत एव हो जाता है। अत: धर्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं है— यह कैसे कहा जा सकता है? इसी कारण प्रत्यक्ष का लक्षण इन्द्रियजत्व नहीं है, अपितु कल्पनाऽपोढत्वम् है।

समाधान— सुतरां धर्मस्याऽप्रत्यक्षत्वं फलसाधनरूपस्याऽविकल्पग्रहणा-ऽसम्भवादिति। अर्थात् धर्मत्वं नाम इष्टफलसाधनत्वम्। एवं च यागादिकों का फलसाधन-त्वेन रूपेण जब प्रत्यक्ष हो तभी धर्म का प्रत्यक्ष संभव हो सकेगा, अन्यथा नहीं। यागादिकों को फलसाधन तभी कहा जा सकेगा जब विशेष्य-विशेषणभाव रहेगा और विशेष्य-विशेषण भाव तो सविकल्पक ज्ञान में ही हुआ करता है, अत: फलसाधनत्व

को सविकल्पक ज्ञान का ही विषय मानना होगा। उसे निर्विकल्पक ज्ञान का विषय समझना उचित नहीं है। इसलिये निर्विकल्पक ज्ञान से धर्म का ज्ञान (ग्रहण) होना कदापि संभव नहीं है, अतः धर्म के प्रत्यक्ष होने की आशा करना दुराशा ही है। एवं च धर्म ज्ञान में प्रत्यक्ष अनिमित्त है अर्थात् धर्म का ग्राहक (बोधक) प्रत्यक्ष को नहीं मान सकते। तथा प्रत्यक्षमूलक अनुमानादि प्रमाणों को भी धर्म का ज्ञान कराने में कारण नहीं कह सकते।

काश्यपीयाः पुनः प्रातिभज्ञानमृषीणां धर्मे प्रवर्तत इत्याहुः, तत्तु लिङ्गाद्याभासजत्वात् प्रमाणमेव न भवति किं पुनर्धर्मे। शब्दस्य तु बुद्धिजनकत्वादसत्यपवादे युक्तं प्रामाण्यम् । ननु न बुद्धिजननमात्रात् प्रामाण्यं युक्तम्, अयथार्थेष्वपि वाक्येषु बुद्धिजननविशेषात्। सत्यम्, तत्र तु कारणदोषबाधकप्रत्ययाभ्यां युक्तमप्रामाण्यं वेदे तु तदभावात् स्वतःप्राप्तं प्रामाण्यमनपोदितं भवति।

वैशेषिकों का कथन— काश्यपीयाः पुनरिति। काश्यपीयाः = वैशेषिकाः। वैशेषिकों का कहना है कि ऋषियों का जो प्रातिभ ज्ञान है, उससे धर्म का ज्ञान होता है। प्रातिभ का अर्थ है— प्रतिभा-जन्य अर्थात् प्रतिभा से उत्पन्न। जैसे— किसी ऋषि ने कह दिया कि तुम्हारा भाई कल आवेगा और उसका भाई दूसरे दिन आ भी गया। इससे निष्कर्ष यह निकला कि उसके भाई के आगमन का ज्ञान ऋषि को पूर्व से ही हो गया था— इसी को प्रातिभज्ञान कहते हैं। इस प्रातिभज्ञान का विषय धर्म है।

वैशेषिकों के मत का खण्डन— तत्तु लिङ्गाद्याभासजत्वादिति। प्रातिभज्ञान तो लिङ्गाद्याभास-जन्य होने से प्रमाण ही नहीं है। तब उसे धर्म के विषय में प्रमाण बताना तो बहुत दूर की बात है।

सिद्धान्त— शब्दस्य तु बुद्धिजनकत्वादिति। शब्द से धर्मविषयक बुद्धि (ज्ञान) उत्पन्न होती ही है, उस कारण धर्मविषयक बोधजनक शब्द (वाक्य) का यदि कोई बाधक (अपवाद) न हो, अर्थात् अर्थान्यथात्व अथवा कारण दोष ज्ञान से बाध (अपवाद) न हो रहा हो तो धर्मविषयक बोधजनक शब्द (वाक्य) को धर्म में प्रमाण मानना उचित ही होगा। इससे निष्कर्ष यह निकला कि धर्म में वेदवाक्यों को ही प्रमाण मानना चाहिये, प्रत्यक्षादि को नहीं।

शंका— ननु न बुद्धिजननमात्रात् प्रामाण्यं युक्तमिति। यत्किंचित् पदार्थविषयक ज्ञानजनकत्व होने मात्र से ही शब्द को प्रमाण माना जाय तो अनाप्त के वाक्यों में भी प्रामाण्य मान लिया जाय, तथा रजतमिदम् इत्यादि भ्रान्त के वाक्य को भी प्रमाण कहा जाय, क्योंकि इनसे भी ज्ञान होता ही है; किन्तु इन्हें कोई भी व्यक्ति प्रमाण के रूप में नहीं मानता। इस कारण वाक्य का प्रामाण्य ज्ञानोत्पत्ति मात्र से नहीं माना जाता।

समाधान— कारण दोष से तथा बाधक ज्ञान से वाक्य में अप्रामाण्य बताते हैं—

सत्यम् तत्र तु कारणदोष-बाधकप्रत्ययाभ्यां युक्तमिति। आपने ठीक ही कहा है। भ्रान्त पुरुषों के तथा अनाप्त लोगों के वाक्यों मे तो कारणदोष का ज्ञान होने से और बाधक ज्ञान से अप्रामाण्य मानना उचित ही है। जैसे— अनाप्तपुरुष के वाक्य में उन वाक्यों को बोलने वाले पुरुष में अनाप्तत्व-दोष के कारण और भ्रान्त पुरुष के वाक्यों में अर्थात् रजतमिदम् आदि में नेदं रजतम् इत्यादि बाधज्ञान से अप्रामाण्य माना ही जाता है।

वेद का स्वतः प्रमाण्य— किन्तु वेदवाक्यों में कारणदोष भी नहीं है, क्योंकि वेदवाक्य अपौरुषेय हैं, अर्थात् उन वेदवाक्यों का रचयिता ही कोई नहीं है और वेदवाक्यों से बोधित विषय का बाध भी नहीं है इसी कारण वेदों का स्वतः प्रामाण्य है। अर्थात् वेदों में प्राप्त हुआ स्वतः प्रामाण्य अनपोदित (अबाधित) है।

(प्रामाण्यविचारः)

कथं पुनः प्रामाण्यस्य स्वतःप्राप्तिः? तदर्थमिदं सर्वज्ञानान्यधिकृत्य चिन्त्यते— किं प्रामाण्यमप्रामाण्यं चोभयं स्वत एवाऽवगम्यते, अथ वाऽन्यतरदपि स्वभावेनाऽनिरूपितं कारणगुणदोषप्रत्ययाभ्यामवगम्यते, आहोस्विदप्रामाण्यं स्वतोऽवगम्यते, प्रामाण्यं तु कारणगुणज्ञानात् संवाद-ज्ञानार्थक्रियाज्ञानाद्वाऽवधार्यते, उतप्रामाण्यं स्वतःप्राप्तं सदर्थान्यत्व-कारणदोषज्ञानाभ्यामवगम्यमानेनाऽप्रामाण्येनाऽपोद्यते इति।

शंका— कथं पुनरिति। प्रामाण्य का स्वतस्त्व किस प्रकार है? संशय को त्यागकर सभी ज्ञानों को लेकर यह विचार किया जा रहा है। यहाँ चार पक्ष हैं, उनमें से प्रथमपक्ष सांख्य का है—

प्रामाण्य और अप्रामाण्य— दोनों ही स्वतः हैं, अर्थात् प्रामाण्य और अप्रामाण्य— दोनों का ज्ञान स्वतः होता है, यह सांख्य का सिद्धान्त है।

द्वितीय पक्ष— नैयायिकों का सिद्धान्त है कि **अथवा अन्यतरदपि स्वभावेन अनिरूपितमिति।** प्रामाण्य और अप्रामाण्य— दोनों स्वतः न होकर कारणगुणज्ञान तथा कारणदोषज्ञान से जाने जाते हैं, अर्थात् परतः होते हैं।

तृतीय पक्ष— बौद्धों का सिद्धान्त है कि अप्रामाण्य स्वतः प्रतीत होता है और प्रामाण्य- कारणगुणज्ञान, संवादज्ञान तथा अर्थ क्रिया ज्ञान से निश्चित होता है।

मीमांसकों का सिद्धान्त पक्ष— ज्ञान का प्रामाण्य तो स्वतः प्राप्त है, तथापि बाधकज्ञान अथवा कारणगत दोषज्ञान होने पर अप्रामाण्य से वह बाधित हो जाता है।

तत्र सर्वकारणानां स्वकार्यशक्तेः स्वाभाविकत्वादुभयमपि ज्ञानस्य स्वरसादेवावगम्यत इति केचित्, तदयुक्तम्— न हि ज्ञानं स्वविषयस्य

तथात्वमतथात्वं च युग-पच्छक्नोति वेदयितुं विरोधात् ।

अथ कापि ज्ञानव्यक्तिः स्वप्रामाण्यं स्वतो बोधयति काप्यप्रामाण्यमित्युच्यते, तथापि न युक्तम्। कारणान्तरनिरपेक्षस्य ज्ञानस्यैवोपलम्भहेतुत्वे किं क्व ज्ञाने भवतीति न शक्यं विवेक्तुम्। अतो द्वयमपि स्वस्वभावेनानिरूपितं कारणगुणदोषज्ञानाभ्यामवगम्यत इत्यपरे। तदप्यपेशलम् एवं हि गुणदोषावधारणात् प्रागन्यतरेणाप्याकारेणार्थमनवगमयद्विज्ञानं निःस्वभावं स्यात्। तस्मादप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यं तु संवादज्ञानादिभिरित्येतदेव युक्तम्।

उपर्युक्त चारों पक्षों का यथाक्रम खण्डन करने के लिये प्रथमतः सांख्यपक्ष का उल्लेख किया जा रहा है—

प्रथम पक्ष— (सांख्यमत) सांख्य के सत्कार्यवाद का है। सांख्य का कथन है— **तत्र सर्व-कारणानामिति।** सांख्यवादियों का कहना है कि कारणमात्र में अपना कार्य करने की शक्ति स्वभावतः विद्यमान रहती है। जैसे— माष = उडद परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध रहने वाले (विरोधी) पित्त और कफ (इन विरोधी पदार्थों) को उत्पन्न करता है। उसी प्रकार प्रामाण्य और अप्रामाण्य— ये दोनों ज्ञान के कार्य हैं, उस कारण स्वभावतः ही ज्ञात होते हैं। क्योंकि कार्य का जो कारण है, उस कारण के अतिरिक्त (भिन्न) कारण की खोज करना उचित नहीं है। उस कारण ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य— दोनों स्वतः ही होते हैं— यह सांख्य का सिद्धान्त है। इसी सांख्य पक्ष को उपस्थित करने वाले को इति केचित् शब्द से कहा गया है।

उपर्युक्त सांख्यमत का निराकरण— **तदयुक्तम्, न हि ज्ञानं स्वविषयस्येति।** प्रामाण्य और अप्रामाण्य— दोनों को स्वतः बताना अनुचित है। ज्ञान को प्रमाण तब माना जाता है, जब ज्ञान के अनुरूप विषय हो। ज्ञान अपने विषय को बाधित तथा अबाधित— दोनो को युगपत् अर्थात् एक कालावच्छेदेन बोधित नहीं कर सकता। प्रामाण्य— भावरूप है और अप्रामाण्य— अभावरूप है। अतः एक भावरूप है और दूसरा अभावरूप है, इसलिये दोनों का आपस में विरोध है।

शंका— अथ काऽपि ज्ञानव्यक्तिरिति। यदि ऐसा कहें कि एक ज्ञानव्यक्ति कोई ज्ञान विशेष अपने विषय का तथात्व (प्रामाण्य) और कोई ज्ञानव्यक्ति (ज्ञानविशेष) अपने विषय का अतथात्व (अप्रामाण्य) का ज्ञापन करते हुए अपने प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का स्वतः बोधन (ज्ञापन) करता है यह अभिप्राय हमारे कहने का नहीं है, किन्तु हम यह कर रहे हैं कि कोई ज्ञान व्यक्ति (ज्ञानविशेष) अपने प्रामाण्य को बताता है, जैसे— घटोऽयमिति। अर्थात् यह घट है, और कोई ज्ञान व्यक्ति (ज्ञानविशेष) अपने अप्रामाण्य को बताता है, जैसे— रजतमिदम् अर्थात् यह रजत (चांदी) है। इस प्रकार

कहने पर कोई दोष नहीं प्रतीत हो रहा है।

खण्डन— तथापि न युक्तमिति। उपर्युक्त कथन ठीक नहीं प्रतीत हो रहा है। क्योंकि किसी अन्य कारण की अपेक्षा न करने वाला अर्थात् कारणान्तरनिरपेक्ष ज्ञान ही उपलम्भ (उपलब्धि) का कारण हुआ करता है, इसलिये प्रामाण्य-अप्रामाण्यरूप विषयो-पलब्धि का भी हेतु ज्ञान को ही समझना होगा अर्थात् ज्ञान ही कहलायेगा। ऐसी परि-स्थिति मे प्रामाण्य-अप्रामाण्य निवेदक ज्ञानान्तर (अन्य = दूसरे ज्ञान) में भी प्रामाण्य का ज्ञान अन्यज्ञान (ज्ञानान्तर) से ही जाना जायेगा, उसके प्रामाण्याऽप्रामाण्य का ज्ञान भी अन्यज्ञान से होगा, इस रीति से तो अनवस्था दोष होने लगेगा, कहीं विश्रान्ति ही नहीं हो पायेगी, और उसी ज्ञान से स्वतः प्रामाण्य अथवा स्वतः अप्रामाण्य का ज्ञापन (बोधन) करने में किसी प्रकार की कोई युक्ति = तर्क (विनिगमना) के न होने से किस ज्ञान में क्या होगा अर्थात् प्रामाण्य किस ज्ञान में अथवा अप्रामाण्य किस ज्ञान में माना जाय— यह समझ में नहीं आ सकेगा। अभिप्राय यह है कि घटज्ञान में कोई मनुष्य यदि प्रामाण्य बतावेगा तो दूसरा मनुष्य उसी घटज्ञान में अप्रामाण्य भी बता सकेगा, क्योंकि अप्रामाण्य भी स्वतः है, यदि घटज्ञान में अप्रामाण्य बतावेगा तो दूसरा मनुष्य पूछेगा कि प्रामाण्य क्यों नहीं है? एवं च विनिगमना (युक्ति = तर्क) का अभाव (विरह) होने से उस घटज्ञान में (ज्ञान में) प्रामाण्य है अथवा अप्रामाण्य है— घटज्ञान को प्रमाण कहें या अप्रमाण कहें- यह विवेक नहीं कर पायेंगे। अतः प्रामाण्य-अप्रामाण्य- दोनों ही स्वाभाविक अर्थात् स्व-स्वभावेन निरूपित नहीं हैं अर्थात् कोई भी ज्ञान स्वयं होकर अपने प्रामाण्याऽ-प्रामाण्य को नहीं बताता है; किन्तु ज्ञानोत्पत्ति के कारणनिष्ठगुण के ज्ञान से प्रामाण्य का ज्ञान होता है तथा ज्ञान कारणनिष्ठ दोषज्ञान से अप्रामाण्य का ज्ञान होता है, इसलिये प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों ही परतः है, स्वतः नहीं यह तर्क उपस्थित किया गया है। कहा भी है— दोषोऽप्रमाया जनकः प्रमायास्तु गुणो भवेत्। एवं च नैयायिकों के प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों स्वतः नहीं हैं; किन्तु कारणगुणज्ञान और कारणदोषज्ञान इन दोनों में से किसी से अवगत होते हैं। अतः दोनों को परतः ही समझना चाहिये।

नैयायिक के परतः प्रामाण्य का खण्डन— तदप्यपेशलमिति। नैयायिकों का परतः प्रामाण्यवाद भी सुन्दर नहीं है अर्थात् तर्कसंगत नहीं है; क्योंकि इनके मतानुसार प्रामाण्य को भी परतः और अप्रामाण्य को भी परतः ही मानने पर ज्ञानकारणगत गुण-दोषों का अवधारणपूर्वक ज्ञान न प्रमाण होगा और न अप्रमाण होगा, क्योंकि ज्ञान के प्रामाण्याऽप्रामाण्य का ज्ञान कारण के गुण-दोषावधारण के अधीन होता है। एवं च न प्रामाण्य के रूप में और न ही अप्रामाण्य के रूप में पदार्थ का ज्ञान (बोधन) करा पायेगा। तब ज्ञान को निःस्वभाव अर्थात् स्वरूपरहित ही कहना होगा। क्योंकि ज्ञान का यह स्वभाव ही है कि अपनी उत्पत्ति के समय में ही विषय को निवेदन कर देता है। वस्तुतः ज्ञान विषय को निवेदित करते हुए ही उत्पन्न होता है। इसलिये विषय का निवेदन

यदि वह न करे तो ज्ञान को निःस्वभाव ही कहना पड़ेगा। क्योंकि ज्ञान के दो प्रकार हैं— (१) प्रमा और (२) भ्रम। जब ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उस क्षण में न प्रमा होती है, न भ्रम होता है। अतः ज्ञान की सिद्धि स्वरूपतः न होने से उसे स्वभावशून्य कहा जायेगा। अतः तार्किकों का मत उचित नहीं है। और विषय का निवेदन करने पर यदि वह (ज्ञान) प्रामाण्य को आकार से निवेदित करता है तो प्रामाण्य का स्वतस्त्व कहना चाहिये और अप्रामाण्य को परतः कहना चाहिये। दोनों को (प्रामाण्याऽप्रामाण्य को) ही परतः कहना उचित नहीं है, किन्तु वक्ष्यमाण युक्ति के बल पर अप्रामाण्य को ही स्वतः और प्रामाण्य को परतः कहना चाहिये; क्योंकि वह (प्रामाण्य) संवाद ज्ञान आदि के द्वारा जाना जाता है— ऐसा कहने पर तो बौद्धों के पक्ष को ही नैयायिकों ने उपस्थित किया, यह मानना होगा।

निष्कर्ष— यह निकला कि ज्ञान जब उत्पन्न होता है तब वह अप्रमाणरूप में ही उत्पन्न होता है, उस ज्ञान से विषय की उपलब्धि कर प्रवृत्त होने वाला आदमी उस विषय (पदार्थ) को वैसा ही पाता है तो उस संवाद ज्ञान से विषय निवेदक ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित करता है, इसलिये प्रामाण्य को परतः मानना ही उचित प्रतीत हो रहा है।

(युक्तिदर्शनम्)

तथाहि— न ज्ञानमुत्पन्नमित्येतावता अर्थतथात्वावधारणं युक्तं व्यभिचारादनिश्चयाच्च अप्रामाण्यमेव तस्यां वेलायां प्राप्तम्, पश्चात् कारणगुणज्ञानात्संवादज्ञानादर्थक्रियाज्ञानाद्वा प्रामाण्यावगमादपोद्यते। शब्दे चाप्तप्रणीतत्वं गुणः, न च वेदे तदस्त्यपौरुषेयत्वाभ्युपगमात्। 'वनस्पतयः' सत्रमासत 'शृणोत ग्रावाणः' इत्येवमादीनामुन्मत्तप्रलपितकल्पत्वात्, अप्रत्ययिततरप्रणीतत्वादप्रामाण्यमेव वेदानामिति प्राप्ते।

उक्त तथ्य का ही उपपादन कर रहे हैं— **तथाहीति।**

बौद्धों का पूर्वपक्ष— बौद्धों का कहना है कि अप्रामाण्य स्वतः होता है और प्रामाण्य संवाद ज्ञान, गुणज्ञान और अर्थक्रियाज्ञान (प्रयोजनवती क्रिया का ज्ञान) से होता है, अतः प्रामाण्यपरतः है यही उचित है।

ज्ञान उत्पन्न हुआ— इतना कहने मात्र से अतथात्व (प्रामाण्य) का निश्चय नही किया जा सकता। क्योंकि व्यभिचारदोष दृष्टिगोचर होता है। जैसे— इदं रजतं यह ज्ञान हुआ, किन्तु रजत की प्राप्ति नहीं हुई। उस कारण व्यभिचार स्पष्ट ही है। सामने दृष्टिगोचर होने वाले स्थाणु (ठूठ) में ऊँचाई आदि को दूर से देखकर सन्देह होने लगता है कि यह स्थाणु है या आदमी है? यदि उत्पद्यमान ज्ञान प्रमाण होकर ही उत्पन्न हुआ है तो व्यभिचार तथा संशय— दोनों के होने से अप्रामाण्य ही मानना होगा; क्योंकि ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् ही कारणनिष्ठ गुण के ज्ञान से अथवा संवादज्ञान से अथवा अर्थ

क्रिया के ज्ञान से प्रामाण्य का ग्रहण जब हो तब पूर्व प्राप्त अप्रामाण्य का अपोदन (बाध) हो जाता है।

शब्दे च आप्तप्रणीतत्वमिति। वेदवाक्यों में आप्तप्रणीतत्व गुण नहीं है, क्योंकि वेद तो अपौरुषेय हैं। उस कारण वेद में प्रामाण्य स्वतः नहीं है।

वेद का स्वतः प्रामाण्य न मानने में एक अन्य कारण भी है— वेदवाक्यों में अनाप्तप्रणीतत्व दोष भी है। जैसे— वनस्पतयः सत्रमासत = वृक्षों ने सत्र यज्ञ किया तथा शृणोत ग्रावाणः = हे पाषाणों (पत्थरों) सुनो। इस प्रकार के उन्मत्तप्रलपित वाक्य के सदृश वाक्य श्रुत होते हैं। इसलिये— **अप्रत्ययिततरप्रणीतत्वादिति**। अतः अत्यधिक अविश्वस्त पुरुषों के द्वारा रचे गये वेदवाक्यों को अप्रमाण ही मानना चाहिये। इस प्रकार बौद्धों ने पूर्वपक्ष उपस्थित किया है।

अभिधीयते— परापेक्षं प्रमाणत्वं नात्मानं लभते क्वचित् ।
मूलोच्छेदकरं पक्षं को हि नामाध्यवस्यति ।।

मीमांसकों का उत्तरपक्ष— मीमांसक के द्वारा सिद्धान्त के रूप में उत्तर दिया जा रहा है— **परापेक्षमिति।** प्रामाण्य का ग्रहण स्वतः[१] होता है, परतः नहीं। अन्यथा अनवस्था होगी। इसी आशय को उपर्युक्त श्लोक से बता रहे हैं। ज्ञान का प्रामाण्य अन्य ज्ञान (ज्ञानान्तर) की यदि अपेक्षा करेगा तो अन्यज्ञान भी तो ज्ञान ही है, उसका भी प्रामाण्य अन्य ज्ञान (ज्ञानान्तर) से मानना होगा, अर्थात् वह ज्ञान भी ज्ञानान्तर (अन्यज्ञान) के अधीन ही होगा। इसी तरह से सतत परम्परा चलती रहेगी, तब किसी भी ज्ञान में प्रामाण्य की उपलब्धि नहीं होगी, अर्थात् किसी भी ज्ञान को प्रमाण नहीं कह सकेंगे। उस कारण मूल (जड़) को ही उखाड़ देने वाले पक्ष का स्वीकार करना कौन बुद्धिजीवी व्यक्ति सोचेगा? अर्थात् कोई नहीं सोचेगा।

यदि हि सर्वमेव ज्ञानं स्वविषयतथात्वावधारणे स्वय समर्थं विज्ञानान्तरमपेक्षेत ततः कारणगुणसंवादार्थक्रियाज्ञानान्यपि स्वविषयभूतगुणाद्यवधारणे परमपेक्षेरन्, अपरमपि तथेति न कश्चिदर्थो जन्मसहस्रेणाप्यध्यवसीयेतेति प्रामाण्यमेवोत्सीदेत्।

ग्रन्थकार श्री पार्थसारथिमिश्र उक्त पद्य की व्याख्या स्वयं कर रहे हैं— **यदि हि**

---

१. स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ।।

श्रीभट्टपाद ने उक्त पद्य के पूर्वार्ध के द्वारा बताया है कि ज्ञान के कारणों का व्यापार प्रामाण्य में भी है और उत्तरार्ध से बताया है कि अन्य सामग्री के अभाव को प्रामाण्य में हेतु बताया है। पद्यगत अन्येन पद का अर्थ-ज्ञान सामग्री के अतिरिक्त यहाँ पर स्व शब्द-आत्मीयवाचक हैं।

सर्वमेव ज्ञानमिति। अपने विषय का प्रामाण्य (तथात्व) का निश्चय करने में सभी ज्ञान स्वयं असमर्थ होकर यदि ज्ञानान्तर (अन्य ज्ञान) की अपेक्षा करेंगे तो कारण गुण ज्ञान, संवादज्ञान, अर्थक्रिया ज्ञान (सफल क्रिया का ज्ञान) भी अपने गुणादि विषय का निश्चय करने के लिये ज्ञानान्तर (अन्यज्ञान) की अपेक्षा करेंगे, उसी तरह अन्य ज्ञान (ज्ञानान्तर) भी अपने प्रामाण्य का निश्चय करने के लिये अन्यज्ञान की अपेक्षा करेगा। इस तरह अन्यान्य ज्ञानों की अपेक्षा करते रहने से सहस्र जन्मों में भी प्रामाण्य का निश्चय नहीं हो पायेगा। तब प्रामाण्य का उच्छेद (नाश) ही हो जायेगा। एवं च अनवस्था दोष न हो जांय, इसलिये ज्ञान को स्वतः प्रमाण (ज्ञान में स्वतः प्रामाण्य) स्वीकार करना परम आवश्यक है— यही सिद्धान्त है।

उपर्युक्त कथन का आशय यह है कि सभी ज्ञान अपने विषय के तथात्व का निश्चय कराने में अर्थात् विषय (वस्तु = पदार्थ) को जिस रूप में देखा है, उस रूप का निश्चय कराने में ही ज्ञान का प्रामाण्य है। क्योंकि ज्ञान का प्रामाण्य अपने विषय के तथात्व के अधीन ही रहता है। इसलिये ज्ञान प्रामाण्य कारणीभूत तद्विषय तथात्व का निश्चय (अवधारण) करने में ही ज्ञानान्तर (अन्यज्ञान) की अपेक्षा करना बताया गया है। कारण गुण ज्ञानसंवादज्ञान, अर्थक्रियाज्ञान भी ज्ञान ही कहे जाते हैं। इसलिये कारणगुणज्ञान कारण गुण के तथात्वावधारण में और संवादज्ञान संवाद के तथात्वावधारण में, उसी तरह अर्थ ज्ञान भी अर्थक्रिया के तथात्वावधारण में ज्ञानान्तर (अन्य ज्ञान) की अपेक्षा कर सकता है, क्योंकि वह भी तो ज्ञान ही है। तब तो कहीं विश्राम का अवसर ही प्राप्त नहीं होगा। आन्यान्य ज्ञान की अपेक्षा का प्रवाह सतत चलता ही रहेगा, उसके चलते रहने से अनवस्था प्रसंग उपस्थित होगा। उसी तरह कारणगुणादि ज्ञान तथात्वावधारक रहने पर भी ज्ञानान्तर की अपेक्षा करेगा— इस रीति से तो किसी भी विषय का निश्चय हजारों जन्म में भी नहीं हो पायेगा। प्रामाण्य को अर्थाध्यवसाय के अधीन मानने पर प्रामाण्य की सिद्धि ही नहीं हो सकेगी; अपितु विपरीत ही होगा अर्थात् प्रामाण्य का उच्छेद हो जायेगा।

अथ— अर्थक्रियाज्ञानं स्वतःप्रमाणमिति चेत्? को विशेषः, अव्यभिचार इति चेत्? न, स्वप्नावस्थायामसत्यप्युदकारहरणेऽर्थक्रियाविज्ञानदर्शनात्।

अथ सुखज्ञानमेवार्थक्रिया तच्चाव्यभिचार्येव न हि क्वचिदप्यसति सुखे सुखज्ञानमस्ति। सत्यमेतत्, न तु तेन पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्यध्यावसानं सम्भवति, अप्रमाणेनापि प्रियासङ्गमविज्ञानेन स्वप्नावस्थायां सुखदर्शनात्। तस्मात् स्वतःप्रामाण्यं प्राप्तमर्थान्यथात्वकारणदोषज्ञानाभ्यामपोद्यत इत्यवश्यमङ्गीकरणीयम्।

शंका— अथ अर्थक्रियाज्ञानं स्वतः इति। संवादज्ञान अथवा अर्थक्रियाज्ञान से ही परतः प्रामाण्य का ग्रहण होता है। यहाँ पर अनवस्थादोष के भय से अर्थक्रियाज्ञान को स्वतः प्रमाण स्वीकार करते हैं। अर्थक्रिया ज्ञान = प्रयोजनवती (सफल) क्रिया का ज्ञान। अतः अर्थक्रिया ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानने पर अनवस्थादोष नहीं होता। क्योंकि ज्ञानान्तर (अन्य ज्ञान) की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती।

इस पर मीमांसक प्रश्न करता है कि अर्थक्रियाज्ञान को ही स्वतः प्रमाण और अन्य ज्ञान- स्वतः प्रमाण नहीं, अर्थात् प्रथम ज्ञान अथवा सभी ज्ञानों को स्वतः प्रमाण न मानने में विशेषता क्या है?

समाधान— अव्यभिचार इति। अर्थक्रियाज्ञान में व्यभिचार नहीं होता है— यही विशेषता है। प्रथम ज्ञान में तो व्यभिचार भी होता है, जैसे शुक्ति-रजत ज्ञान में व्यभिचार होता है। किन्तु अर्थक्रियाज्ञान में व्यभिचार नहीं होता, क्योंकि अर्थक्रिया ही तो फल है, अर्थक्रिया के होने पर उसके ज्ञान में अप्रामाण्य की शङ्का करने का अवसर ही नहीं मिलता।

परिहार— न स्वप्नावस्थायामिति। अर्थक्रियाज्ञान में भी व्यभिचार होता है, जैसे— स्वप्न में। स्वप्न में वस्तुतः उदक (जल) न लाये जाने पर भी जलानयनरूप अर्थक्रिया ज्ञान अथवा जलपान रूप अर्थक्रियाज्ञान होता है, उस कारण अर्थक्रिया ज्ञान में भी व्यभिचार स्पष्ट ही प्रतीत हो रहा है, क्योंकि यही तो ज्ञानव्यभिचार है, जो पदार्थ के न रहने पर भी उसका ज्ञान हो रहा है, जैसे— शुक्ति- रजत् ज्ञान में होता है।

शंका— जलानयन, जलपान आदि को अर्थक्रियाज्ञान कहना उचित ठीक नहीं है, किन्तु सुखज्ञान को ही अर्थक्रियाज्ञान समझना चाहिये। यह सुखज्ञान अव्यभिचरित ही होता है, क्योंकि सुख के विद्यमान रहने पर ही सुख का ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं।

अर्धस्वीकारोक्ति— सत्यमेतदिति। आप सत्य (सच) कह रहे हैं। यद्यपि सुखज्ञान सुखप्राप्ति के बिना नहीं होता है, क्योंकि सुख एक मानसिक पदार्थ है, उसमें किसी प्रकार के भ्रम का अवकाश नहीं है। तथापि सुखज्ञान के पूर्ववर्ती सुखोत्पादक (सुखजनक) ज्ञान को प्रामाण्य का निश्चय करना संभव नहीं है, क्योंकि स्वरूपावस्था में (स्वरूप में) प्रिया समागम के ज्ञान से सुख होता है, उस सुख का ज्ञान भी होता है; किन्तु उस सुखज्ञान से प्रिया समागमज्ञान को प्रमाण नहीं कहा जाता और न समझा ही जाता है। अर्थात् स्वरूप में अनुभूयमान प्रियासमागम मिथ्या है अर्थात् वास्तविक नहीं है; अतः वह ज्ञान अप्रमाण ही है। **तस्मादिति।** इसलिये ज्ञान में स्वतः प्राप्त प्रामाण्य का अर्थान्यथात्व ज्ञान से अथवा कारण दोष ज्ञान से बाध (निवृत्ति) हो जाता है। इस तथ्य को अवश्य ही स्वीकार करना ही होगा; अन्यथा प्रामाण्य को परतः मानने पर अनवस्था दोष उपस्थित होगा, उस कारण कदाचिदपि (कभी भी) ज्ञान को प्रमाण नहीं कहा जा सकेगा।

एवञ्च शब्देनाप्तपुरुषसंस्पर्शकृतत्वाद् दोषाणामपौरुषेये वेदे तदभावात् साक्षाच्चार्थान्यथात्वज्ञानाभावादनपोदितं प्रामाण्यं भवति। पौरुषेय-वचनानि तु पुरुषबुद्धिप्रभवत्वाद् भ्रान्त्या विप्रलिप्सया वा प्रयुक्तानि मूलदोषेण दुष्टत्वादयथार्थानि भवन्तीति वैषम्यम्।

सिद्धान्त— एवं च शब्देऽनाप्तपुरुषसंस्पर्शकृतत्वादिति। प्रामाण्य का स्वत-स्त्व सिद्ध हो जाने पर कारणगत दोष आदि के ज्ञान हो जाने से स्वत: प्राप्त प्रामाण्य का क्वचित् अपहार होने पर शब्द में अनाप्त पुरुष प्रणीतत्व ही दोष माना जाता है, किन्तु वेदों के अपौरुषेय रहने से उनमें अनाप्तपुरुष प्रणीतत्व रूप दोष का होना संभव नहीं है, क्योंकि उनसे अर्थान्यथात्व ज्ञान होना संभव है। अत: वेदों का प्रामाण्य अन-पोदित (अबाधित) ही सिद्ध हो रहा है। शब्द में पुरुष संस्पर्श के होने का तात्पर्य पुरुष के द्वारा प्रणीत (निर्मित) होना ही है।

वैदिक पदार्थों से अन्यथात्वज्ञान तो तब हो सकता है, जब कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष से जान सके कि योग के करने से स्वर्गप्राप्ति नहीं होती। किन्तु ऐसा ज्ञान अनादिकाल से आज तक किसी को भी नहीं हुआ है। अत: वेदवाक्य से होने वाले ज्ञान में अर्थान्यथात्व ज्ञान का होना संभव नहीं है तथा अनाप्तप्रणीत्वरूप कारणदोष भी नहीं है— इस कारण वेदों के स्वत: प्रामाण्य की सिद्धि अबाधित ही है— यह मानना होगा।

पौरुषेयवचनानि त्विति। पौरुषेय वाक्य तो पुरुष की बुद्धि में जैसे विचार चलते रहते हैं, तदनुसार ही वे विचार पुरुष के मुख से बाहर निकल पड़ते हैं। उन विचारों में भ्रमदोष, विप्रलिप्सा (वंचना करना) दोष आदि अनेक दोषों के रहने की संभावना भी की जा सकती है; इसलिये पौरुषेय वाक्य अयथार्थ भी हो सकते हैं। अत: वेदवाक्य और पौरुषेय वाक्य दोनों में परस्पर यही वैषम्य है। इस कारण लौकिक वाक्यों में प्रामाण्य स्वत: प्राप्त होने पर भी सर्वत्र अबाधित नहीं रहता है, अपितु बाधित भी हो जाता है और उसके बाधित होने में कारणदोषज्ञान और अर्थान्यथात्व ज्ञान ये दो कारण (हेतु) रहते हैं।

(शब्दस्यानुतमानेऽन्तभार्वपूर्वपक्षः)

केचित्त्वाहु:— न लोकेऽपि शब्दस्याऽयथार्थत्वमस्ति तदभावात्, न हि लोके शाब्दं प्रमाणमस्ति वक्त्रभिप्रायानुमापकत्वात् पुरुषवचसाम्, तेनानुमानस्यैवायं व्यभिचारो न शब्दस्य। न वा तस्यापि विवेकाग्रहणाद-लिङ्गे लिङ्गव्यवहारप्रवृत्ति:। यदि तु शब्दस्यैवायं व्यभिचारोऽभ्युपेयते स्वाभाविकमेवाप्रामाण्यं स्यात्, न हि पुरुषदोषेण शब्दस्य दोषो भवति यथावस्थितशब्दाभिव्यक्तिमात्रे पुरुषस्य व्यापारात्।

केचित्त्वाहु: इति। ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र के द्वारा प्रयुक्त केचित् शब्द से

प्राभाकरमतानुयायी (प्रभाकर गुरु) के साक्षात् शिष्य श्री शालिकनाथमिश्र की विवक्षा की गई है। प्रभाकरानुयायी मीमांसकगण लौकिक शब्दों को प्रमाण नहीं मानते, किन्तु वे शास्त्र (वेद के विधायक वाक्यों के शब्द) को प्रमाण मानते हैं; क्योंकि वे बाधित नहीं होते हैं, किन्तु वे विधायक होते हैं। इसलिये उनका प्रामाण्य माना जाता है। उनका कहना है कि लोकव्यवहार में शब्द जो बोले जाते हैं, वे तो बोलने वाले (वक्ता के) अभिप्राय का अनुमान कराते हैं अर्थात् वे वक्त्रभिप्राय के अनुमापक होते हैं, उस कारण उनमें प्रामाण्य ही नहीं है, इसलिये उन्हें अयथार्थ समझना उचित नहीं है। अयथार्थता तो उनमें होती है, जो प्रमाणत्वेन अभिमत हो (जो प्रमाण माना जाता हो), उसी में याथार्थ्य-अयाथार्थ्य का होना संभव हो सकता है। प्राभाकरों ने कहा भी है—

ननु अशास्त्रमपि शाब्दमस्ति लौकिकम्, तत् किमिति न लक्षितम्? उच्यते न शास्त्रव्यतिरिक्तं शाब्दमस्ति, शब्दाद्धि यद् विज्ञानमसंनिकृष्टे तच्छास्त्रं स्यात्, न च वेदव्यतिरेकेण तत् संभवति, लौकिकं हि वाक्यं नाऽर्थे स्वयं निश्चयमापादयति लौकिकवचसामनृतभूयिष्ठत्वादर्थव्यभिचारस्य शङ्कितत्वात्। तदेवं लौकिकाद् वचसो लिङ्गभूताद्वक्तृज्ञानमनुमीयते, ततोऽर्थं निश्चित्य व्यवहारः प्रवर्तते। एवं च निश्चिते अन्वये निवृत्तानन्वयाशङ्काद् वाक्यादप्यर्थनिश्चयो जायते, किन्तु तस्यां दशायामनुवादकतैव अत एव लौकिके वचने न शाब्दं प्रामाण्यम्।

न लोकेऽपि शब्दस्येति। लोकव्यवहार में भी यदि शब्द को प्रमाण माना होता तो उसे अयथार्थ (अप्रमाण) कहा भी जाता, किन्तु ऐसी बात नहीं है, इस कारण लोकव्यवहार में शब्द को प्रमाण नहीं माना जाता। और याथार्थ्य (यथार्थत्व) अथवा अयाथार्थ्य (अयथार्थत्व) तो जो प्रमाणत्वेन रूपेण अभिमत हो, उसी में संभव रहता है। जैसे प्रत्यक्ष प्रमाणत्वेन अभिमत है, अतः उसके यथार्थत्व और अयथार्थत्व का विचार किया जाता है। शब्द कोई स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह तो अनुमान के अन्तर्भूत है।

अतः जैसे तुम्हारे मत में कारण दोष ज्ञान, बाध ज्ञान- दोनों के न होने से वेदवाक्यों को अप्रमाण नहीं माना जाता, वैसे ही हमारे मत में सभी शब्द- अप्रमाण नहीं है। अर्थात् शब्दमात्र को अप्रमाण नहीं माना जाता, क्योंकि शब्दमात्र को प्रमाणत्वेन रूपेण (प्रमाण) नहीं माना जाता।

प्रभाकर के मत में— लौकिक वाक्यों के ही प्रामाण्य का अभाव माना जाता है, वेदवाक्यों के प्रामाण्य का अभाव नहीं माना जाता। उन्हें (वेदवाक्यों को) तो प्रमाण ही माना जाता है। पूर्वोक्त केचित् शब्द से प्राभाकरों के समान वैशेषिक भी विवक्षित हैं। अतः वैशेषिकों के मत को उपस्थित कर रहे हैं—

वैशेषिकों के मत में दो प्रमाणों को ही स्वीकृत किया गया है— प्रत्यक्ष और अनुमान। शब्दादिकों का तो प्रामाण्य ही नहीं है, क्योंकि उनका अनुमान में ही अन्तर्भाव

हो जाता है। इस तथ्य को वैशेषिक सूत्र ने बताया है— एतेन शाब्दं व्याख्यातम् अर्थात् इस लौकिक ज्ञान के कथन से शब्दजन्य ज्ञान की भी व्याख्या हो गई अर्थात् उसे भी बता दिया समझना चाहिये।

शंकरमिश्र ने कहा भी है— **प्रमाणं द्विविधं प्रत्यक्षं लैङ्गिकं च तथा शाब्दम्।** यह शब्दकरणक ज्ञान है, ऐसा नैयायिक कहते हैं। उसे भी इस लैङ्गिक होने से ही (लिङ्ग से उत्पन्न होने के कारण) बता दिया गया। क्योंकि जैसे लैङ्गिक ज्ञान व्याप्ति, पक्षधर्मता, प्रतिसंधान की अपेक्षा रखता है, वैसे ही शाब्दज्ञान भी सापेक्ष है। उसी को हम बता रहे हैं। ये पदार्थ परस्पर सम्बन्ध रखते हैं अर्थात् संसर्गवान हैं, अर्थात् एते पदार्थाः मिथः संसर्गवन्तः आकांक्षादिमद्भिः स्मारितत्वात् गामभ्याजेति पदार्थसार्थवत्। विवृतिकार ने भी कहा है— नैयायिकप्रभृतिभिः अन्वयबोधनामकं प्रत्यक्षानुमितिभिन्नमनुभवरूपं ज्ञानं मन्यते, वैशेषिकमते तु न तदङ्गीकारः। पदज्ञानस्थले पदार्थसंसर्गस्य अनुमितिरेव भवति, तथाहि— गौरस्तीति वाक्यश्रवणानन्तरं गौरस्ति तावान् स्वधर्मिकास्तित्वान्वयबोधा-नुकूलाऽऽकांक्षाश्रयपदस्मारितत्वात् घटवत्। अस्तिपदसमभिव्याहृता गौः पदस्मारितत्वाद्वा चक्षुर्वत् इत्यनुमानमेव। न तु शब्दजन्यो विलक्षणो बोधः पदानामेकवाक्यतापन्नत्वरूपसमभि-व्याहृतत्वनिश्चयं विना न्यायनयेऽपि अन्वयबोधस्य अनुपपत्त्या पूर्वं तस्य आवश्यक-त्वात् इति।

प्राभाकर और वैशेषिकों के मत में यही भेद है। एवं च पदों में यद्यपि पदार्थ स्मारकत्व है तथापि पदार्थसंसर्गज्ञान तो अनुमान से ही होता है। एवं च पदार्थसंसर्ग कराना का बोध कराना ही प्रमाण को प्रयोजन है, इस कारण शाब्द का अन्तर्भाव अनुमान में ही होता है, इसलिये शाब्द पृथक् प्रमाण नहीं है। और शाब्द को पृथक् प्रमाण न मानने में लाघव भी है।

शंका— शब्द को यदि प्रमाण नहीं मानते हैं तो घटमानय इत्यादि वाक्य को अनर्थक ही कहना होगा।

समाधान— पुरुषोच्चरित शब्द वक्ता के हृद्गत अभिप्राय के अनुमापक होते हैं, उस कारण उनकी सार्थकता है, वे निरर्थक नहीं हैं। जैसे— 'देवदत्तः गोकर्मकानयनानुकूल-कृतिविषयकाभिप्रायवान् गामानयेतिवाक्यवक्तृत्वात् यज्ञदत्तवत्' इस रीति से शीघ्र ही वक्ता के अभिप्राय का अनुमान हो जाता है, क्योंकि वक्ता का अभिप्राय पदार्थसंसर्गविषयक ही है।

सिद्धान्त— इतना विचार करने के अनन्तर सिद्धान्त रूप से निष्कर्ष बता रहे हैं— **तेनाऽनुमानस्यैवाऽयं व्यभिचारो न शब्दस्येति**। शब्द में स्वयं प्रमाणता (स्वतः प्रामाण्य) न रहने से यो वै व्यभिचार जो अप्रामाण्य कहा जा रहा है, वह व्यभिचार (अप्रामाण्य) अनुमान को ही है। अर्थात् अनुमान ही अप्रमाण है।

वह अप्रामाण्य (व्यभिचार) शब्द ज्ञान (शाब्द) का नहीं है। क्योंकि उसके प्रामाण्य

को तो स्वीकार ही नहीं किया है। वस्तुतः अनुमान में भी व्यभिचार नही है; क्योंकि विवेकाऽग्रहणात् = विवेक न हो पाने से। जैसे धूलिपटल में धूमत्व का भ्रम होने पर धूम और धूलिपटल दोनो में विवेक (भेद) ज्ञान न हो पाने से अहेतु में (वह्नि का जो हेतु नहीं है, उसमें) अर्थात् धूलिपटल में लिङ्गव्यवहार (धूमव्यवहार) किया जाता है, उसी तरह शाब्द स्थल में भी तत्तत् अभिप्राय के आलिंगभूत वाक्य में भी तत्तत् अभिप्राय के लिंगत्व का व्यवहार किया जाता है, उस कारण अनुमान में भी व्यभिचार नहीं है। एवं च विवेक ज्ञान होने के कारण (विवेकाऽग्रह के कारण) जो लिंग नही है उससे भी अर्थात् अलिंग से भी व्यवहार होने लगता है। अर्थात् लिंगरहित वाक्य को भी अनुमान समझकर वह्नि के आनयन में प्रवृत्ति होती दिखाई देती है। मूलगत तस्यापि का अर्थ है— अनुमानास्याऽपि। क्योंकि जो अनुमान, लिंग (हेतु) रहित है अर्थात् अलिंग है, उस अनुमान में लिंगव्यवहार जैसी प्रवृत्ति होती है और वही उस प्रवृत्ति में कारण है— विवेकाऽग्रह। इसलिये विवेकाऽग्रह होने से लिंग के न रहने पर भी (अलिंग से भी) व्यवहार (प्रवृत्ति) होता है।

यदि तु शब्दस्यैवायमिति। विपक्ष में बाधक यह है कि यदि शब्द को प्रमाण मानकर उसका व्यभिचार मानें तो शब्द में स्वाभाविक अप्रामाण्य ही सर्वत्र रहेगा, उसका परिणाम यह होगा कि वेद में भी अप्रामाण्य मानना पड़ेगा। अप्रामाण्य की स्वाभाविकता में हेतु यह है कि यदि पुरुषगत दोष के कारण शब्द में दोष की संभावना की जाय तो दोष के सहेतुक होने से अप्रामाण्य को स्वाभाविक नहीं कहा जा सकेगा। क्योंकि अनाप्तत्वरूप पुरुषदोष से शब्द में दोष की संभावना नहीं की जा सकती। पुरुष सदैव शब्द की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न करता है अर्थात् शब्द की यथोचित् अभिव्यक्ति करने मात्र में उसकी प्रवृत्ति रहती है। इसलिये पुरुषगत दोष से शब्द में दोष आने की संभावना नहीं है, जिससे शाब्दव्यभिचार होने पर भी शाब्द ज्ञान में स्वाभाविक अप्रामाण्य न माना जा सके। इसलिये शाब्द ज्ञान में भी व्यभिचार नहीं है। एवं च शाब्द ज्ञान में प्रामाण्य न होने से उसका अर्थात् शाब्द ज्ञान का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जायेगा। प्राभाकरों ने कहा भी है—

ततोऽर्थे निश्चिते पश्चात् सोऽर्थो वाक्येन गम्यते।
तस्यां दशायां वाक्यस्य तस्य स्यादनुवादता।।
पूर्वं च लिङ्गभूतत्वं वक्तुर्ज्ञानावधारणे।
पौरुषेयमतो वाक्यं न शास्त्रमभिधीयते।।
एवं च सति लिंगस्य व्यभिचारोऽयमीक्ष्यते।
न शास्त्रस्येति तस्या स्यादर्थाऽसंस्पर्शिता कुतः।
लिङ्गस्यापि न चैवाऽयं व्यभिचारोऽस्ति किं तु यः।
लिङ्गाऽलिङ्गे न शक्नोति विवेक्तुं मूढचेतनः।।

तस्याऽलिङ्गे लिङ्गरूपसाधारण्यनिबन्धनः।
लिंगसंव्यवहारोऽयं विपरीतः प्रवर्तते।।
श्रुतिलिङ्गाधिकरणे विस्तरेणैवमीरितम्।
तेन न व्यभिचारोऽस्ति द्वयोर्लैङ्गिकशास्त्रयोः।।

तदिदमसारम्— यदि लोके शाब्दं नास्ति तदा वेदेऽपि कथं तत्स्यात्? 'न ह्यभिप्रायानुमानक्षीणस्य शब्दस्यार्थं प्रति वाचकत्वे प्रमाणमस्ति' इत्युक्तं न्यायरत्नमालायाम्। यच्च व्यभिचाराभ्युपगमे स्वाभाविकमप्रामाण्यं भवति पुरुषदोषस्य शब्देऽनवतारादिति, स्यादेतदेवं यदि यदीयं यद्वाक्यं तत्स पुरुषोऽभिव्यञ्ज्यात्, तत्तु तेनैव क्रियते— वर्णा नित्याः पदानि च, वाक्यानि तु पुरुषैरेव क्रियन्ते पौरुषेयत्वादेव। यथाऽवस्थितानि व्यज्यमानानि वेदवाक्यवदपौरुषेयाण्येव स्युः। ततश्च वक्त्रभिप्रायानुमापकत्वमपि न स्यात्, तद्यथाऽध्येतृभिरभिव्यज्यमानानि नाध्येतृणामभिप्रायं सूचयन्ति तथा पुरुषवाक्यान्यपि न सूचयेयुः। यदि हि व्यभिचारशङ्कया लोके शब्दस्य प्रामाण्यं न सम्भवतीत्युच्यते? तर्हि तद् वक्त्रभिप्रायानुमानेऽपि तुल्यम्, अन्यथासंविदानस्याप्यन्यथावाक्यरचनादर्शनात्।

शाब्दज्ञान के प्रमाण न होने से उसका अन्तर्भाव अनुमान में ही किया जाता है— इस पूर्वोक्त कथन का खण्डन करते हैं— **तदिदमसारमिति।** जो कुछ तुमने कहा उसे कहने में कोई सार नहीं है, अर्थात् तुम्हारा कथन निःसार है। यदि लोकव्यवहार में शब्द का प्रामाण्य ही न हो तो शब्दसमूहरूप वेद का भी प्रामाण्य नहीं कहा जा सकेगा; किन्तु वेद का अप्रामाण्य (प्रमाण न माना जाना) तो तुमको (प्राभाकरों को) भी अभीष्ट नहीं है; क्योंकि तुमलोग भी (प्रभाकरानुयायी विद्वान् भी) वेद को प्रमाण मानते हो।

प्रश्न— वेद को प्रमाण मानने में बाधक क्या है?

उत्तर— शब्द अनुमित अर्थ का बोधक होने से उस शब्द को प्रमाण समझना संभव नही हैं, ऐसा न्यायरत्नमाला में पार्थसारथि मिश्र ने कहा है— न हि अभिप्रायानुमानक्षीणस्य शब्दस्य अर्थं प्रति वाचकत्वे प्रमाणमस्ति इति। अर्थात् शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराऽभावात् इस नियम के अनुसार वक्ता के अभिप्राय का अनुमान करने में क्षीण शक्ति हुए (शक्तिहीन) शब्द में अर्थनिरूपित वाचकत्व मानने में कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् बलहीन हुए शब्द को अर्थ का वाचक नहीं कह सकते। तब तुम्हारे (प्राभाकरों के अनुसार) मत के अनुसार तो पदों (शब्दों) को वाचक कहना ही बन्द हो जायेगा। तब परिणाम यह होगा कि पदार्थ की उपस्थिति ही नहीं हो पायेगी। अर्थात् शब्द सुनने पर भी अर्थज्ञान ही नही हो सकेगा। इतना ही नहीं, अपितु पदार्थों के संसर्गविशेष (सम्बन्धविशेष) के ज्ञान का अनुमान भी नहीं हो सकेगा ऐसी स्थिति में जगदान्ध्य प्रसंग प्राप्त

होगा अर्थात् संसार अज्ञानान्धकार में डूब जायेगा। और शब्द को वक्ता के अभिप्राय का अनुमापक मानने पर उसे (शब्द को) पदार्थवाचक कहना व्यर्थ ही होगा, क्योंकि उसे वाचक कहने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। परिणाम यह होगा कि पदार्थोपस्थिति ही नहीं हो पायेगी और पदार्थों के संसर्गविशेष ज्ञान का अनुमान भी नहीं हो पायेगा, तब जगदान्ध्य प्रसंग प्राप्त होगा। शब्द को वक्ता के अभिप्राय का अनुमापक मानने पर उसे पर्यायवाचक मानने की आवश्यकता ही नही रहेगी।

न्यायमाला में इस प्रकार से बताया गया है— किं च स्वरूपमात्रमपि नामधेयं स्यात् पदविशेष-स्यैव वाचकत्वाद् विशिष्टार्थविषयेणैव विज्ञानेन व्याप्तिग्रहणसंभवात्। यथाहि वाचकत्वं प्रतिपदमर्थ- विशेषं प्रतिगृह्यते— गोपदं सास्नादिमतो वाचकम्, अश्व-पदं वाणिवाचकमिति, तथा तदन्वितार्थविषयविज्ञानव्याप्तिस्तस्य ग्रहीतुं शक्यते, आप्तस्य गोपदरचना आकांक्षितसंनिहितयोग्यार्थान्तरान्वितसास्नादिमद्विज्ञानपूर्विकेति वा। ततश्च पदानाम्—

अर्थस्वरूपवाचित्वमपि नैव प्रसिध्यति ।
प्रागेवान्वितवाचित्वमतो वेदाऽप्रमाणता ॥

नन्वनुमित्यर्थं पश्चादनुवद्वाक्यं वाचकं = शक्तं स्यात्? तन्न, अनुवादकत्वे प्रमाणाऽ-भावात्। न हि अनुवादकत्वमन्तरेण किंचिदनुपपन्नं, यतस्तत् कल्प्येत्। शक्तत्वादनुवाद-कत्वं चेत्? तदितरेतराश्रयम् शक्तेरनुवादस्ततश्च शक्तिरिति। तस्मान्न वाचकत्वं सिध्यति। यदि परम् अर्थविशेषविज्ञानानुमानसिध्यर्थं पुनर्वाचकत्वमवस्थाप्येत? तच्चान्तरेणाऽपि वाचकत्वं शब्दविशेषस्य ज्ञान विशेषेणैव व्याप्तिग्रहणसम्भवादनुपन्नम् (वाचकत्वव्यवस्था-पनम्)। तस्माल्लोकवचसामनुमानत्वेन प्रामाण्याऽङ्गीकरणे पदानां वाचकत्वाऽयोगादप्रति-पादकत्वेनाऽप्रामाण्यं वेदस्य स्यादिति तत्प्रामाण्यसिद्ध्यर्थं लोकेऽपि शब्दानां शब्दतयैव प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम्। इत्यादि। यदुक्तम्— यदि तु शाब्दस्यैवाऽयम् इत्यादि, तन्निराकरणाय स्मारयति— यच्च व्यभिचाराभ्युपगमे इति। अस्याभिप्रायः पूर्वमेव वर्णितो यदीत्यादिना।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि यह जो बताया गया है कि शब्द का व्यभिचार स्वीकार करने पर अप्रामाण्य स्वाभाविक होगा, क्योंकि शब्द में पुरुषगत सम्बन्ध शब्द में न होने से।

उपर्युक्त शंका का निराकरण— स्यादेतदेवं यदि यदीयमिति। उक्त दोष की संभावना तब हो सकती है, जब जिस किसी पुरुष का जो उच्चरित वाक्य है, उस वाक्य को वह अभिव्यक्त करे। किन्तु ऐसी स्थिति तो है नहीं। क्योंकि बोलने वाले पुरुष ने ही उस वाक्य की रचना की है।

वर्ण की नित्यता का तो सिद्धान्त हो चुका है। अतः वर्णात्मक पद भी नित्य है, किन्तु वाक्य तो नित्य नहीं हैं, वे तो (वाक्य तो) पदसमूहरूप हैं। अर्थात् क्रमविशिष्ट अर्थात् आनुपूर्वी विशिष्ट पदों को ही वाक्य कहा जाता है। वे वाक्य पुरुष के द्वारा ही

रचित हैं। अत: वे (वाक्य) पौरुषेय हैं। यदि कोई यह कहे कि पुरुष तो वाक्यों को केवल अभिव्यक्त करता है, बनाता नहीं है, तब उन वाक्यों को वेदवाक्यों के समान अपौरुषेय ही कहना होगा। ऐसा कहने पर वे वाक्य वक्ता के अभिप्राय के अनुमापक नहीं कहे जा सकेंगे। इसी कथन को दृष्टान्त से सुदृढ़ करने का प्रयत्न कर रहे हैं। जैसे अध्ययन करने वाले विद्यार्थीगण वेदवाक्यों को अभिव्यक्तमात्र किया करते हैं, उस कारण वेद-वाक्य अध्येताओं के अभिप्राय को सूचित नहीं किया करते, उसी तरह पौरुषेय वाक्य भी वक्ता के अभिप्राय के सूचक नहीं हुआ करते। अर्थात् बोलने वाले (वक्ता) के अभिप्राय को सूचित नहीं कर सकते। अत: लौकिक वाक्यों का भी अपौरुषेयत्व आपके मतानुसार सिद्ध हो जायेगा। अर्थात् लौकिक वाक्यों को भी अपौरुषेय कहना पड़ेगा।

शंका— यदि प्रभाकरानुयायी यह कहें कि लोकव्यवहार में तो शब्द का व्यभिचार दिखाई देता है, जैसे— 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इस वाक्य को सुनकर नदी के किनारे (नदी के तीर) पर पहुँचने पर भी फल न दिखाई दें, तब शब्द का व्यभिचार मानना ही होगा। इसीलिए लोकव्यवहार में शब्द को प्रमाण कहना कैसे सम्भव होगा? अर्थात् शब्द को प्रमाण मानना सम्भव नहीं है।

समाधान— तर्हि तद् वक्त्रभिप्रायानुमानेऽपि तुल्यमिति। व्यभिचार की आशङ्का से यदि लौकिक (लोकव्यवहार में प्रयुज्यमान) शब्दमात्र का अप्रामाण्य अर्थात् सभी लौकिक शब्दों को अप्रमाण कहा जायेगा, तब अप्रमाण माने गये शब्द से वक्ता के अभिप्राय का अनुमापक भी उसे कैसे कहा जायेगा? अनुमापक हेतु वही होता है, जो प्रामाणिक हो। अर्थात् प्रमाण माना गया हो। अथवा वक्त्रभि-प्राय के अनुमान का प्रामाण्य भी शब्द के समान नहीं हो सकेगा। लोकव्यवहार में अनुमान का व्यभिचार भी कभी-कभी दिखाई देता है।

शङ्का— धूलिपटल आदि से वह्नि के अनुमान में भले ही व्यभिचार हो; किन्तु शब्द से वक्त्रभिप्राय का अनुमान करने में तो व्यभिचार दिखाई नहीं देता; क्योंकि गाम् आनय वाक्य कहने वाले का अभिप्राय 'गोकर्मक आनयनानुकूल' ही दृष्टिगोचर होता है।

समाधान— 'अन्यथासंविदानस्य' यह एक पद है, उसी तरह 'अन्यथावाक्य-रचनादर्शनात्' यह भी एक पद है। व्यभिचार की आशङ्का होने मात्र से शब्द को अप्रमाण कह देना उचित नहीं है। अप्रामाण्य तो वक्त्रभिप्राय का अनुमापक है, इसे तो वादी-प्रतिवादी दोनों को मानना ही होगा। 'वक्त्रभिप्रायानुमापकत्व' दोनों के लिये समान ही है; क्योंकि कोई व्यक्ति किसी वस्तु को अन्य रूप से जानता है, तदनुसार वह वाक्यप्रयोग करता है। जैसे सामने पड़े हुए शुक्तिशकल (सीप के टुकड़े) को जानता हुआ भी अन्य लोगों की वञ्चना करने के लिये (दूसरे लोगों को मूर्ख बनाने के लिये) कहता है कि 'इदं रजतम्' यह चाँदी है। अतएव वक्त्रभिप्रायानुमापकत्व = वक्त्रा के अभिप्रायाऽनुमापकत्व पक्ष में भी शब्द के प्रामाण्य का व्यभिचार होना निश्चित ही है। एवञ्च दूसरों की प्रतारणा

करने के उद्देश्य से प्रयुक्त इदं रजतम् वाक्य को शुक्तिविषयक अभिप्राय का अनुमापक कैसे कहा जा सकता है? अतः वक्ता के अभिप्राय का अनुमापक मानने पर भी शब्द का व्यभिचार तुल्य ही है; क्योंकि रजतविषयक अभिप्राय के नहीं होने पर भी रजतमिदम् वाक्य का प्रयोग कर रहा है।

किञ्च शब्दस्य चक्षुरादेरिव स्वसामर्थ्येन बोधकत्वाद् व्यभिचारेऽपि न बोधकत्वहानिः। लिङ्गस्याव्यभिचारिण एव गमकत्वमिति व्यभिचारिणो लिङ्गत्वमनुपपन्नम्। अथ वक्तुराप्त्वाद् व्यभिचारशङ्कां निवर्त्यानुमानम्? तथा सति शाब्दमेवार्थे प्रमाणमस्तु प्रतिबन्धिकायाः शङ्काया निरस्तत्वात्। अवश्यं हि बुद्धिविशेषमनुमित्सता प्रथमं पदार्थास्तेषां चान्वययोग्यताऽऽलोचयितव्या, ते चालोच्यमाना द्रागेव वाक्यार्थं बोधयन्तीति नानुमानं प्रतीक्षन्ते।

किञ्च शब्दस्य चक्षुरादेरिवेति। जैसे प्रत्यक्ष में शुक्तिरजतादि विषयकत्वरूपेण व्यभिचार रहने पर भी उसके अर्थबोधकत्व की हानि कभी नहीं होती। उसी तरह नद्यास्तीरे फलानि सन्ति इस वाक्य से होने वाले अर्थज्ञान में व्यभिचार होने पर भी शब्द के अर्थबोधकत्व की हानि नहीं हो पाती। शब्द से अर्थबोध (अर्थज्ञान) तो होता ही है। शब्दजन्य ज्ञान व्यभिचारी (भ्रमात्मक) हो, चाहे अव्यभिचारी (प्रमात्मक = यथार्थज्ञान) हो— यह अन्यदेतत् = अन्य वस्तु है। एवं च शब्द का प्रामाण्य सुदृढ़ है और शब्दजन्यज्ञान में व्यभिचार (भ्रमात्मक) होने पर अप्रामाण्य भी है।

शङ्का— शब्द में अपने स्व-सामर्थ्य से बोधकत्व रहने पर भी वक्त्रभिप्राय का अनुमान करने में उसे लिङ्ग (हेतु) भी क्यों न कहा जाय?

समाधान— लिङ्गस्य अव्यभिचारिण इति। अर्थात् अव्यभिचारिलिङ्ग ही गमक हुआ करता है; किन्तु व्यभिचरित शब्द में लिङ्गत्व (हेतुत्व) नहीं होने के कारण वक्त्रभिप्रायानुमापकत्व की सम्भावना ही नहीं कर सकते। इसलिये शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण ही मानना उचित है।

शङ्का— यदि कहने वाला (वक्ता) आप्त (यथार्थवक्ता = सत्यवादी) हो तो व्यभिचार (भ्रम) की शङ्का ही नहीं होगी, तब उससे वक्ता के अभिप्राय का अनुमान किया जा सकता है, इसीलिए उक्त दोष की आशङ्का नहीं कर सकते।

समाधान— पूर्वपक्षी ने व्यभिचार की आशङ्का के भय से ही शब्द के स्वतन्त्र प्रामाण्य को न मानकर अनुमानविधया उसे बोधक बताया है; किन्तु अब तो वक्ता आप्त होने से व्यभिचार (भ्रम) की आशङ्का का प्रश्न ही नहीं है, अतः शाब्दज्ञान को ही अर्थ में प्रमाण मान लिया जाय, अर्थात् शब्द को ही अर्थबोधक स्वीकार करके उसे (शब्द को) पृथक् (स्वतन्त्र) प्रमाण मान लिया जाय। अनुमानविधया बोधक मानने से क्या

लाभ? अर्थात् व्यभिचार होने की आशङ्का का निरास न होने पर उक्त प्रकार से अनुमापकत्व भी उसमें (शब्द में) नहीं हो सकेगा। इसी अभिप्राय का उपपादन श्री पार्थ-सारथि मिश्र कर रहे हैं— **अवश्यं हीति**। 'बुद्धिविशेषम् अनुमित्सता त्वया' अर्थात् बुद्धिविशेषम् = वक्ता के अभिप्रायविशेष का अनुमान करने की इच्छा से तुम्हें प्रथमत: अर्थात् वक्त्रभिप्राय का अनुमान करने से पूर्व पदार्थों की आलोचना करनी चाहिये कि ये पदार्थ वस्तुत: विद्यमान हैं या नहीं हैं। अन्यथा शश-शृङ्गादि शब्द भी अनुमापक होने लगेंगे। तदनन्तर उन पदार्थों में परस्पर अन्वित होने की योग्यता भी है या नहीं, यह भी विचार करना होगा। अन्यथा वह्निना सिञ्चेत् इत्यादि वाक्य भी अनुमापक होने लगेंगे। एवं पदार्थों में अन्वययोग्यता का आलोचन करते समय वे आलोच्यमान पदार्थ शीघ्र ही अर्थात् वक्ता के अभिप्राय का अनुमान करने के पूर्व ही परस्पर संसर्गरूप वाक्यार्थ का ज्ञान करा देते हैं, वे वाक्यार्थ-बोधन कराने के लिये अनुमान की प्रतीक्षा नहीं करते। अत: शब्द स्वतन्त्र रूप से ही प्रमाण हैं और स्वसामर्थ्य से ही उसमें बोधत्व भी हैं।

किञ्चानुमिते बुद्धिविशेषे पश्चादनुवादभूतं वाक्यं वाक्यार्थमवबोधयतीति वः सिद्धान्तः, ततश्च यो नामाऽनाप्त एवाप्तबुद्ध्या गृहीतस्तद्वाक्यादयथार्थमेव ज्ञानमुत्पन्नमित्यभ्युपगन्तव्यं, ततश्च दोषाधीनत्वादप्रामाण्यस्य वक्तृदोषाणां च शब्दे संक्रान्त्यनभ्युपगमात् स्वारसिकमेव शब्दे दुष्टत्वमापन्नमिति बलादप्रामाण्यं वेदस्य प्रसज्यत इत्यास्तां तावत्। तस्मादनाप्तवचसां सत्येवाप्रामाण्ये वक्तृदोषाधीनत्वाद् वेदे च तदभावात् प्रामाण्यमेव वक्तव्यम्। तस्माच्चोदनालक्षण एव धर्मः श्रेयस्कर इत्यर्थः। यदेव श्रेयस्साधनरूपं यागहोमादि तदेव धर्म इत्युच्यते लोके, नाऽपूर्वमन्तःकरणवृत्त्यादि वा लोकप्रसिद्धिविरहात्।

किञ्चानुमिते बुद्धिविशेषे इति। प्रभाकर तथा वैशेषिकों के मतानुसार शब्द से वक्ता के अभिप्राय-विशेष का अनुमान करने के पश्चात् वक्ता का वाक्य अनुमित अर्थ का ही अनुवादक होकर वक्ता के वाक्यार्थ का बोधन कराता है— यह प्राभाकर तथा वैशेषिकों का मत है। ऐसी स्थिति में देवदत्त नामक व्यक्ति जो आप्त न होने पर भी उसे आप्त रूप से मान लिया गया है, उस देवदत्त के वाक्य से जो ज्ञान उत्पन्न हुआ, वह अयथार्थ ही उत्पन्न हुआ है, यह अवश्य मानना होगा; क्योंकि वक्ता में आप्तत्व का अनुमान न होने से व्यभिचार की आशङ्का का निरसन नहीं हुआ है, प्रत्युत वक्ता के अनाप्त होने से व्यभिचार की आशङ्का ही बनी हुई है। अत: उसके वाक्य में प्रामाण्यज्ञान नहीं हो पाया है, यह मानना ही होगा अर्थात् वह अप्रामाण्य दोष के कारण ही है, यह भी कहना होगा।

तुम्हारे (प्राभाकरों के) मत के अनुसार वक्ता के दोष शब्द में प्रतिफलित (संक्रान्त) नहीं होते हैं तथापि अप्रामाण्य सम्पादक दोषों का स्वीकार तो अवश्य करना ही होगा।

अत: शब्द में दोषों की प्राप्ति का होना निश्चित ही है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई सम्भावना नही की जा सकती। एवञ्च शब्द में दोषवत्त्व (दुष्टत्व) स्वाभाविक ही है— यह तुम्हें स्वीकार करना ही होगा। तथाच— वेद के भी शब्दरूप होने से उनमें दुष्टता स्वाभाविक ही रहेगी, उस कारण वेदों का अप्रामाण्य मानना ही होगा। निष्कर्ष यह निकला कि जिस कारण वेद में अप्रामाण्य प्रसक्त हो— ऐसा मत प्रदर्शित करना आपको शोभा नही देगा।

तस्मादनाप्तवचसामिति। इसलिये अनाप्तपुरुषों के वाक्य वक्तृदोषों से दूषित रहने के कारण उनमें अप्रामाण्य तो सिद्ध ही है; किन्तु वेदों के वाक्य वक्तृदोषों से दूषित नहीं रहने के कारण उनमें अप्रामाण्य की सम्भावना की जा सकती है। अत: वेदों का प्रामाण्य ही है, यह कहना होगा; क्योंकि वेद अपौरुषेय है, अर्थात् रामायण, महाभारत की तरह वेदों की रचना किसी पुरुष के द्वारा नही की गई है। शब्द का अप्रामाण्य वक्तृदोषकृत ही होता है। वेदों का अप्रामाण्य नहीं है, प्रत्युत वेदों का स्वत: प्रमाण्य ही मानना होगा। इसी तथ्य को प्राभाकरों ने भी प्रदर्शित किया है। अत: उनके मत में भी वेदों का स्वत: प्रामाण्य ही है।

प्राभाकर कहते हैं— तस्मात्तेष्वेव धर्मत्वं धर्माणीति च दर्शनात्।
लिङ्गसङ्ख्याविनिर्मुक्तो धर्मशब्दो निदर्शनम्॥
साङ्ख्यमतम्— अन्त:करणवृत्त्यादौ, वासनायां च चेतस:।
जैनमतम्— पुद्गलेषु च पुण्येषु, नृगुणेऽपूर्वजन्मनि।
प्रयोगो धर्मशब्दस्य न दृष्टो न च साधनम्।
पुरुषार्थस्य ते ज्ञातुं शक्यन्ते चोदनादिभि:॥ इति।

(धर्मलक्षणविचार:)

नन्वऽपूर्वमेव श्रेय:साधनम्? न, अवान्तरव्यापारमात्रत्वात्। तस्माद् यागादिरेव श्रेय:साधनरूपेण धर्म:, तद्रूपाभावाच्च न शूद्रकृतस्य धर्मतापत्ति:। चोदनालक्षणमात्रस्य धर्मत्वं मा भूदित्यर्थशब्देन विशेष्यते। चोदनाशब्देन च प्रवर्तकं निवर्तकं च वाक्यमुच्यते ततश्च निषेधवाक्यै: 'न हिंस्यात्' इत्यादिभिरनर्थत्वेन लक्ष्यमाणानां हिंसादीनामपि धर्मत्त्वं स्यात् तद्व्यवृत्त्यर्थं य एवार्थरूपेण प्रवर्तकवाक्यैर्लक्ष्यते तस्यैव धर्मत्वं वक्तुमर्थग्रहणम्।

शङ्का— कारण को कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वकाल में होना आवश्यक होता है। स्वर्गादि फल की प्राप्ति में कारणभूत धर्म ही है। तथाच स्वर्गरूप फलोत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वकालभावित्व जिसे हो, उसी को धर्म समझना चाहिये; किन्तु उक्त धर्मपरिभाषा यागादिकों में सङ्गत नहीं होती है; क्योंकि यागक्रिया क्षणविनाशिनी है, कुछ

ही काल तक चलती है और यागादिक्रिया से उत्पद्यमान अपूर्व स्वर्ग-फलप्राप्ति तक, स्वर्गभोग काल तक रहता है। अत: अपूर्व को ही धर्म कहना उचित है। यागक्रिया को धर्म कहना उचित नही है।

प्राभाकरों ने कहा भी है— 'क्रिया क्षणविनाशिनी, न कालान्तर भाविन: स्वर्गादि: साधनाय उपपद्यते इति कालान्तरावस्थायि क्रियातोभिन्नं कार्यम् अपूर्वं लिङ्गादयो बोधयन्तीति स्थितम्'। तथा—

क्रिया हि क्षणिकत्वेन न कालान्तरभाविन: ।
स्वर्गादे: साध्यमानस्य समर्थाजननं प्रति ।।
इष्टस्याऽजनिका सा च नियोज्येन फलार्थिना ।
कार्यत्वेन न सम्बन्धमर्हति क्षणभङ्गिनी ।।
तस्मान्नियोज्यसम्बन्धसमर्थं विधिवाचिभि: ।
कार्यं कालान्तरस्याऽपि क्रियातो भिन्नमुच्यते ।। इत्यादि ।

समाधान— न, अवान्तरव्यापारमात्रत्वात् इति। प्राभाकरों ने जो कहा है कि यागक्रिया को धर्मशब्द से कहना उचित नहीं— यह उनका कहना युक्ति रहित होने से ठीक नहीं है; क्योंकि यागादिकों द्वारा ही स्वर्गादिफल प्राप्ति की उत्पत्ति होती है। अत: याग और स्वर्गफल दोनों के मध्य (बीच) में याग से उत्पन्न होने वाले अपूर्व को अवान्तर व्यापाररूप मानना चाहिये।

व्यापार का लक्षण— 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापार:'। अतएव भाष्यकार शबरस्वामी ने कहा है— 'यागेन अपूर्वं कृत्वा स्वर्गं भावयेत्' इति। अर्थात् याग से अपूर्व उत्पन्न करके स्वर्गरूप फल को प्राप्त करें। वह अपूर्व याग से से जन्य और स्वर्ग का जनक भी है। इस कारण उसे अवान्तरव्यापार मानने से भी याग में कारणता (साधनता) उत्पन्न होती है। व्यापार से व्यापारी की अन्यथासिद्धि नहीं हुआ करती; क्योंकि करण (साधन) का लक्षण 'व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्' कहा गया है। अर्थात् व्यापारवान् कारण के ही साधन होने से उसी को कारण कहते हैं। इसीलिए यागजन्य अपूर्व को धर्म कहना उचित नहीं है।

अपितु 'यागादिरेव धर्म:' याग आदि को ही धर्म कहा जाता है। इसी तथ्य को ग्रन्थकार श्रीपार्थ-सारथि मिश्र ने कहा है— 'तस्माद् यागादिरेव श्रेय:साधनरूपेण धर्म:' अर्थात् यागादिकों में भी जो धर्मत्व है, यह श्रेय:साधन रूप से ही माना गया है। अतएव शूद्रकृत यागादिकों में श्रेय:साधनत्व के न रहने से धर्मत्व नहीं है। अर्थात् शूद्रकृत याग को धर्म शब्द से नहीं कहा जाता। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने कहा है— तद्रूपाभावाच्च न शूद्रकृतस्य धर्मतापत्ति:। 'तद्रूपाऽभावात्'— श्रेय:साधनरूपत्वाभावात् अर्थात् शूद्रकृत याग में श्रेय:साधनरूपत्व नहीं है (श्रेय:प्राप्ति में वह शूद्रकृतयाग श्रेय:साधन नहीं है) और धर्मत्व तो श्रेय:साधननिष्ठ ही होता है। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिये

सूत्रकार ने द्वितीयसूत्र— 'चोदनालक्षण' में अर्थ पद को धर्म के विशेषणरूप में सन्निविष्ट किया है। चोदनालक्षणमात्रस्य अर्थात् 'चोदनालक्षणत्वं' इतना ही धर्म का लक्षण यदि करें तो 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' आदि निषेधक वाक्यों से जो हिंसा प्रतीत होती है, उसे भी धर्म कहना होगा अर्थात् अधर्म में भी चोदनालक्षणत्व रूप धर्मलक्षण घटित होने लगेगा, तब धर्मलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। वह अतिव्याप्ति न हो, तदर्थ अर्थशब्देन विशेष्यते अर्थात् धर्म को विशेषित करने के लिये धर्म शब्द को उसका विशेषण बना दिया गया है। एवं च प्रवर्तक वाक्यों से अर्थरूपेण (श्रेयस्कर) जो प्रतीत होता है, उसे धर्म कहा जाता है। निष्कर्ष यह हुआ कि जो अर्थ हो अर्थात् श्रेय:साधन होता हुआ चोदनालक्षण हो— वही धर्म कहने योग्य है। हिंसा अर्थरूप = श्रेयस्कर नहीं है, वह (हिंसा) तो अनर्थरूप है। द्वितीय सूत्रगत चोदना शब्द से प्रवर्तक और निवर्तक वाक्य समझना चाहिये। एवंच प्रवर्तकवाक्य जिसमें प्रमाण हो वह धर्म हैं। जैसे याग आदि शब्द से दान, जप, होम समझना चाहिये। उसी प्रकार निवर्तक (निषेधक) वाक्य जिसमें प्रमाण हो, उसे भी धर्म समझना चाहिये, जैसे अहिंसा। अर्थ पद का सन्निवेश यदि चोदनालक्षण सूत्र में नही करेंगे तो हिंसा भी धर्म कहलायेगी। 'मा हिंस्यात्' आदि निषेधवाक्यों से अनर्थसूत्र हिंसा भी धर्म कहलायेगी; किन्तु अर्थ पद के विद्यमान रहने पर याग आदि कर्मों को श्रेय:साधन होने के कारण और अकरणप्रत्यवायपरिहाररूपश्रेयस्साधन होने के कारण नित्यकर्मों को और कृतपापप्रक्षालनादिरूप श्रेय:साधन होने के कारण प्रायश्चित्तादि नैमित्तक कर्म धर्म कहे जाते हैं। हिंसा अथवा हिंसा का अभाव, अथवा श्येनयाग आदि को धर्म शब्द से नहीं कहा जाता। हिंसा के अभाव को भी जहाँ धर्म शब्द से कहा जाता है, वह भी हिंसानिवृत्ति के रूप में श्रेय:साधन होने से ही उसे धर्म शब्द से कहा जाता है। अभाव में किसी प्रकार से भी श्रेय:साधनता न होने से और निवृत्ति में किसी की भी साधनता का होना सम्भव न रहने से द्रव्य, गुण में ही साधनत्व (ता) रहता है। अधिकरण की समाप्ति करते समय ग्रन्थकार स्वयं ही 'इदं चापरमेकदेशिन: द्रष्टव्या:' से आरम्भ करके 'यो हि हिंसायामुद्युक्त: प्रतिषेधवशान्निवर्तते, न तं धार्मिक इत्याचक्षते, किन्त्वधर्मान्नि-वृत्त इत्येतावत्'— यहाँ तक हिंसाऽभाव आदि में धर्माऽभाव को बतायेंगे। **तद्व्यावृत्त्यर्थं य एव अर्थरूपेण इति**। यहाँ पर अर्थरूपेण = श्रेयस्साधनरूपेण समझना चाहिये। प्रवर्तकवाक्यै: लक्ष्यते का अर्थ है— प्रवर्तक वाक्या-वयवभूतपदोपस्थापित पदार्थ; क्योंकि मीमांसक विद्वान् पदार्थों को ही वाक्यार्थलक्षक मानते हैं, अर्थात् वाक्य की वाक्यार्थ में शक्ति नहीं मानते। पद की पदार्थ में शक्ति रहती है, वाक्य की वाक्यार्थ में शक्ति नहीं रहती, इसलिये पदार्थ ही वाक्यार्थ के लक्षक हुआ करते हैं। ग्रन्थकार श्री पार्थसारथि मिश्र ने अपनी रचित 'न्यायरत्नमाला' में कहा है— 'तस्मान्न वाक्यं न पदानि साक्षात्, वाक्यार्थबुद्धिं जनयन्ति, किन्तु परस्वरूपाभिहितै: पदार्थै: संलक्ष्यतेऽसाविति सिद्धमेतत्' इति। असौ = वाक्यार्थ:। यद्यपि चोदना शब्द प्रवर्तक और निवर्तक दोनों प्रकार के वाक्यों को ही बताता है, तथापि अर्थ पद (शब्द) के सान्निध्य से ही 'य:

प्रवर्तकवाक्यैर्लक्ष्यते'— यह अर्थ उपलब्ध होता है; क्योंकि प्रवर्तक निवर्तक वाक्यरूप चोदना (विधि) प्रमाणक हिंसा और हिंसाऽभाव में अर्थत्व का अभाव है। तथा श्येनादि (इषु, वज्र) यागों में प्रवर्तक वाक्य (विधिवाक्य) रूप चोदनाप्रामाण्यकत्व रहने पर भी वे (श्येन आदि याग) अनर्थरूप होने से, उनमें धर्मत्व नहीं है, अर्थात् उन्हें धर्म नहीं कहा जाता— यह सिद्धान्त किया गया है।

भाष्ये च श्येनादिग्रहणं तत्साध्यहिंसादिलक्षणार्थम्। उपरिष्टात्— 'हिंसा हि सा सा च प्रतिषिद्धा' इति विवरणात्।

(प्रभाकरमतेनार्थपदसार्थक्यं तत्खण्डनञ्च ।

केचित्तु—लक्षणां परिहरन्तः श्येनादिस्वरूपमेवार्थपदस्य व्यावर्त्यं मन्यन्ते, तेषामेव 'नैष श्येनादयः कर्तव्या विज्ञायन्ते' इति विधेयत्वनिराकरणेन प्रतिषेधविषयत्व-समर्थनात्। कथं पुनस्तेषां विधेयत्वं निराक्रियते? तत्राहुः—यस्य हि विधिः स्वसिद्ध्यन्यथानुपपत्त्याऽनुष्ठानमाक्षिपति तद्विधेयमित्युच्यते, काम्येषु च कर्मसु कामनावशादेव प्रवृत्तिसिद्धे-स्तत एव विधिः सिद्ध्यन्नन्यथानुपपत्त्यभावान्न स्वयमनुष्ठानमाक्षिपति।

भाष्ये च श्येनादिग्रहणमिति। भाष्यकार शबरस्वामी ने कहा है— 'कोऽनर्थः? यः प्रत्यवायाय श्येनो वज्र इषुरित्येवमादिः', इस प्रकार भाष्य में जो श्येन का उल्लेख किया है, उससे श्येनादिसाध्य हिंसा को लक्षणा से समझना चाहिये; क्योंकि श्येनादियाग स्वरूपतः अनर्थरूप नहीं हैं, तथापि स्व-साध्य (श्येनयागसाध्य) हिंसा आदि के द्वारा अनर्थरूप है। भाष्यकार ने श्येन आदि का ग्रहण (उल्लेख) जो किया है, उसका अर्थ हिंसा तक करना चाहिये। श्येनयाग अनर्थ का कारण है। वह श्रेयस्कर नहीं है, इसलिये उसका निषेध किया है। कथं पुनरसौ अनर्थः— इस प्रश्नपरक भाष्य से श्येनयाग के अनर्थरूप होने में कारण क्या है? यह प्रश्न किये जाने पर उत्तर में कहा गया है कि 'हिंसा हि सा'। श्येन याग स्वयं हिंसारूप नहीं है। अतः वह श्येनयागसाध्य हिंसा का उपलक्षण है। अर्थात् श्येन शब्द से श्येनसाध्य हिंसा को लक्षणा से समझना चाहिये।

इस पर प्राभाकरों का कहना है कि श्येन याग भी चोदनालक्षण है, अर्थात् विधि-स्वरूप ही है। इसलिये श्येनादिस्वरूप की निवृत्ति करने के लिये अर्थ पद का सन्निवेश किया है। 'नैव श्येनादयः कर्तव्यता विज्ञायन्ते' इत्यादि भाष्य से हिंसा के साधनभूत श्येन आदि की व्यावृत्ति करने के लिये अर्थ पद है। यह स्वीकार करने पर यह लाघव होगा कि लक्षणा नहीं करनी होगी। भाट्टमत के अनुसार 'श्येन' शब्द का श्येनसाध्य हिंसादि रूप अर्थ लक्षणा से करना होगा, तब गौरव दोष प्राप्त होगा। इसलिये श्येनादिस्वरूप की व्यावृत्ति के लिये अर्थ पद देना चाहिये। उसी के निराकरणार्थ केचित् से अनुवाद किया गया है। यहाँ पर केचित् पद का प्रयोग प्राभाकर मीमांसक के निर्देशार्थ किया है।

प्राभाकरों का कहना है कि लक्षणा का परिहार करते हुए अर्थ पद का व्यावर्त्य श्येनादिस्वरूप ही है; क्योंकि 'नैव श्येनादयः कर्तव्यतया विज्ञायन्ते' (१।१।२) इत्यादि भाष्य से श्येनादि के विधेयत्व का निराकरण करके उसे निषेध का विषय बनाया है। अतः अर्थ पद श्येनादि स्वरूप की व्यावृत्ति के लिये है।

शङ्का— कथं पुनस्तेषां विधेयत्वमिति। श्येनादिस्वरूप के विधेयत्व का निराकरण कैसे किया जायेगा?

समाधान— विधि स्व-सिद्धि अर्थात् नियोगसिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति से जिसके अनुष्ठान का आक्षेप करती है, उसे विधेय कहा जाता है। अतः काम्य कर्मों में कामना के कारण ही प्रवृत्ति हुआ करती है, उसी से विधि की सिद्धि हो जाती है। एवंच अन्यथा अनुपपत्ति के न रहने से (अभाव से) वह स्वयं अनुष्ठान का आक्षेप नहीं करती; अतः श्येनादि का स्वरूप ही यहाँ पर अनर्थरूप है, इसलिये उसी का (स्वरूप का) निषेध किया गया है। अर्थात् श्येनादि जैसे यागों में रागतः ही प्रवृत्ति होती है, विधि के कारण प्रवृत्ति नहीं होती। नित्य-नैमित्तिक कर्मों में भी रागादि से प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये विधि स्वयं ही अपने अनुष्ठान का आक्षेप करती है, उसी को विधेय कहा जाता है और काम्य कर्मों में कामनावशात् ही प्रवृत्ति होने से उसी से विधि की सिद्धि हो जाती है।

ननु कर्तव्यताबोधनमेव प्रवर्तनं, कर्तव्यता च वेदे यागस्य लिङैव बोधितेति कथमविधेयत्वम्? सत्यम्, न तु यागस्य कर्तव्यता लिङाभिधीयते, स्वार्थस्य कर्तव्यतां लिङभिधत्ते, यागश्च तस्य विषयः करणं च, सोऽयं कर्तव्यतात्मा नियोगार्थोऽन्यथानुपपत्त्या स्वविषयस्य कर्तव्यतां बोधयन्ननुष्ठापक इत्युच्यते। श्येनादीनां तु रागादेवानुष्ठानसिद्धेर्न नियोगस्तेषामनुष्ठानमाक्षिपतीति न तेषां विधेयत्वम्। असति च विधेयत्वे तेषां निषेधविषयत्वादनर्थत्वमिति तद्व्यावृत्त्यर्थमर्थपदमिति।

शङ्का— ननु कर्तव्यताबोधनमेव प्रवर्तनमिति। भाट्टमतानुयायी शङ्का कर रहे हैं कि प्राभाकरों ने जो कहा— 'यस्य विधिः प्रवर्तकः तस्य विधेयत्वम्' जिस अनुष्ठान में विधि प्रवर्तक रहता है, उस अनुष्ठेय को विधेय कहते हैं। प्रवर्तक विधि विधेय में मनुष्य का प्रवर्तन करता है। प्रवर्तन का अर्थ है— 'कर्तव्यताबोधन'। वेदों ने कर्तव्यता तो याग की बताई है, जो लिङ् के द्वारा बोधित हो रही है। ऐसी स्थिति में श्येनादिकों का अविधेयत्व कैसे प्राप्त होगा?

समाधान— सत्यम् इति। आपका उक्त कथन सत्य है, कर्तव्यताबोधन ही प्रवर्तन है और कर्तव्यता भी लिङ् से ही बताई जाती है। तथापि लिङ् के द्वारा याग की कर्तव्यता नहीं बोधित की जाती है, किन्तु लिङ् के द्वारा स्वार्थ की अर्थात् अपूर्व की कर्तव्यता बोधित की जाती है; क्योंकि उसे अलौकिक अपूर्व, का ही सम्पादन करना है। याग तो

उस अपूर्व का विषय है तथा करण (असाधारण कारण) भी है और अपूर्वनिष्पादक के रूप में वह (याग) कृतिव्याप्य भी है अर्थात् कृति (आत्मनिष्ठ प्रयत्न) का विषय भी है। एवं च याग में करणत्व और कृत्यभिनिर्वर्त्य अपूर्वावच्छेदकत्वेन विषयत्व भी है। वह याग कर्तव्यस्वरूप है अर्थात् कर्तव्यतैव आत्मा स्वरूपं यस्य सः। अतः कर्त्तव्यतारूप अपने स्वरूप का त्याग करके अपूर्व का निरूपण करना असम्भव रहने से उसमें कर्तव्यतास्वरूप ही रहता है। वह कर्त्तव्यतारूप नियोग पदार्थ अर्थात् नियोगापरपर्यायरूप अपूर्व की उपपत्ति याग के विना होना शक्य नहीं है, अतः वह (अपूर्व) अपने विषयरूप याग की कर्तव्यता को बोधित करते हुए अनुष्ठापक कहलाता है। शत्रुमारणादि फल जिन यागों का है, उन श्येनादियागों का अनुष्ठान तो रागतः एव हुआ करता है, उसी कारण नियोग श्येनादियागों के अनुष्ठान का आक्षेप नहीं करता। इसलिये श्येनादियागों में विधेयत्व की सम्भावना नहीं की जाती। अतः श्येनादियागों में विधेयत्व नहीं है— यह स्पष्ट हो जाता है। उस स्थिति में श्येनादियाग हिंसाफलक होने से वे निषेध्य अर्थात् निषेध के विषय हो जाते हैं, उस कारण उनमें अनर्थत्व प्राप्त होता है, इसलिये उनकी व्यावृत्ति अवश्य होनी ही चाहिये। अतः अनर्थरूप श्येनादियागों के व्यावृत्त्यर्थ अर्थ पद का समावेश करना आवश्यक है।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' वाक्य से मीमांसक विद्वानों के मतानुसार फलीभूत (फलरूपसाध्य) हिंसा निषिद्ध होने के कारण श्येनयाग का फल शत्रुमरण ही है। अतः हिंसाफलक श्येनादियागों में भी निषेधविषयत्व अर्थात् निषेध की विषयता प्राप्त हुई। एवंच श्येनादियाग भी निषेध्य होने के कारण उनमें अनर्थत्व प्राप्त हुआ। उस कारण श्येनादियागों के निरासार्थ अर्थ पद को सन्निविष्ट किया गया है।

प्राभाकरों ने याग में विषयत्व और करणत्व अर्थात् साध्यत्व और साधनत्व दोनों बताये हैं। प्राभाकरों का कहना है कि क्रिया तो क्षणिक अर्थात् क्षणविनाशिनी हुआ करती है, उसी कारण वह कालान्तर में होने वाली स्वर्गप्राप्ति का साधन कैसे हो सकती है? अतः क्रिया से पृथक् कार्यरूप अपूर्व जो कालान्तर तक स्थायी (रहने वाले) रह सकता है, उसकी कल्पना लिङ् आदि (लोट्, लेट्, तव्य आदि) करा देते हैं। कार्य उसे कहा जाता है, जो कृति से ईप्सित (आप्तुं-प्राप्तुमिष्ट) रहता है और कृति का अर्थ है— आत्मव्यापार; जिसे पुरुषप्रयत्न भी कहते हैं। अतः आत्मव्यापार और पुरुषप्रयत्न; ये दोनों एक-दूसरे के परस्पर पर्याय हैं। लिङ् आदि से बोध्यरूप कार्य में चेतन आत्मा का बोध्यत्वेन रूपेण अन्वय किया जाता है। जो किसी दूसरे के व्यापार से उत्पाद्य (निर्वर्त्य) रहता है, उसे कोई अन्य (दूसरा) स्व-सम्बन्धि कार्यत्वेन रूपेण बोधित नहीं करा सकता— यह नियम है। अर्थात् किसी के किये हुए कार्य को कोई अन्य व्यक्ति अपना कार्य कहकर नहीं बता सकता। इसलिये आत्मा के मानस प्रत्यक्ष से जानने योग्य जो

प्रयत्न, उसी को स्व-व्यापार कहते हैं। अत: तन्निर्वर्त्य अर्थात् उसी से (उस व्यापार से) उत्पद्यमान अपूर्व को ही कार्य कहा जाता है। इस प्रकार साध्यरूप अपूर्व का प्रयोजक (कारण) भूत अर्थात् उत्पादक आत्मा के व्यापार (प्रयत्न) को ही भावना शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार उस कार्य का अवच्छेद (निश्चय) किसी न किसी भावार्थ (धात्वर्थ) से किया जाता है; क्योंकि कोई भी प्रयत्न भावार्थ (धात्वर्थ) के विना नहीं होता। सभी पुरुषप्रयत्न किसी न किसी भावार्थ (धात्वर्थ) के आश्रय की अपेक्षा रखते हैं। अर्थात् भावार्थ (धात्वर्थ) प्रयत्नाविनाभावी हुआ करता है। प्रयत्न का अविनाभावी जो भावार्थ (याग) वह प्रयत्न से अभिनिर्वर्त्य (जन्य-उत्पन्न) अपूर्व को पैदा करता है, अर्थात् अवच्छेदकतयैव विषयभाव (विषयत्व) रहता है; क्योंकि 'यत्रैव हि यो भवति, न अन्यत्र स तस्य विषय: इति विषयविद:' अर्थात् अनन्यत्र विषयार्थ:। अत एव भाव्य अर्थ ही विषय होता है; क्योंकि भाव्य पदार्थ ही पुरुषप्रयत्न का विषय हुआ करता है और वही विषयीभूत भावार्थावच्छिन्न विध्यर्थ कार्यरूप से प्रतीत होकर करण (साधन) की और इतिकर्तव्यता की (कर्तव्यस्य इति = प्रकार: इति कर्तव्यम्, तस्य भाव: इतिकर्तव्यता) अर्थात् साधन का उपयोग किस प्रकार करना है? उसे जानना चाहता है। अन्यत्र सभी साध्यों में यही प्रकार दिखाई देता है। वहाँ पर भी वही भावार्थ जो विषय बना है, उसी को करण (साधन) बनाया ज़ाता है; क्योंकि वही तो कृतिव्याप्य है अर्थात् कृति का विषय है। अन्यार्थ प्रवृत्त हुई जिस कृति से जो विषय बनाया जाता है, वही वहाँ पर करण हुआ करता है। जैसे— परशु = कुठार, उसने उद्यमन-निपतन रूप इतिकर्त्तव्यता के द्वारा काष्ठगत द्वैधीभावरूप कार्य करने के लिये प्रवृत्त हुए उद्यमन-निपतन के द्वारा व्याप्यमान पदार्थ उन्हीं दोनों का जो द्विधाभवनरूप फल, उससे लब्ध द्वैधीकरण के रूप में कहे जाने वाले भिद् धातु से वाच्य होने वाले का करण कहलाता है, उसी प्रकार यहाँ पर भी अपूर्वार्थ प्रवृत्त पुरुष के प्रयत्न से व्याप्यमान जो भावार्थ (धात्वर्थ), उसी अपूर्वभावनारूप प्रयत्न का करण बन जाता है। उस कारण भेदन की इतिकर्तव्यता के साथ उसका सम्बन्ध कैसे हो सकेगा?

यदि विषयीभूत पदार्थ को करण कहें, तो 'दर्शपूर्णमासाभ्याम् स्वर्ग' यहाँ पर तन्त्र से अभिहितों का तन्त्र से ही ज्ञान होने के कारण विषयता के एक होने से एक ही करण होगा। अत: इतिकर्तव्यता का भिन्न-भिन्न सम्बन्ध नहीं हो सकेगा।

उत्तर— उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं कि प्रश्नकर्त्ता ने अभी ठीक तरह से (ययार्थ रूप से) समझा नहीं है। वेदनिष्ठ वैदिकों का कहना है कि यदेव विषयीभूतं तदेव करणं नान्यत्। वैदिकों के कहने का यह अभिप्राय है कि जो विषय बनता है, वही करण कहलाता है, विषय से पृथक् (भिन्न) पदार्थ कभी करण नहीं कहलाता।

तत्रेदं वक्तव्यम्— कस्मिन्नंशे तेषां व्यावृत्तिरिति। धर्मत्वे इति चेत्? न, तत्स्वरूपानभिधानात्। इदं हि सूत्रं वेदार्थस्य कार्यत्वप्रतिपादनार्थं

न कर्मस्वरूपलक्षणाथम्। यतः श्येनादीनां धर्मत्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यर्थ पदेन व्यावृत्तिः क्रियेत।

यदि परं कार्यत्वव्यावृत्तिः स्यात्सा चायुक्तेत्युक्तं प्राक्। भवतु वा वाक्यभेदाङ्गीकारेण धर्मलक्षणार्थमपि सूत्रं तथापि चोदनालक्षणपदेन कार्यात्मकमपूर्वमुद्दिश्य तस्य धर्मत्वमुच्यत इति वो मतम्, तत्र श्येनादियागस्य कः प्रसङ्गो यद् व्यावृत्त्यर्थमर्थपदं स्यात्? न हि ज्योतिष्टोमादियागस्यापि धर्मत्वमस्ति, अपूर्वस्य धर्मत्वाभ्युपगमात्।

प्रभाकर के मत का खण्डन करने के लिये ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र शङ्का-समाधानपूर्वक खण्डन कर रहे हैं— **तत्रेदं वक्तव्यमिति**। प्रभाकर ने जो यह कहा था— तद्व्यावृत्त्यर्थम् अर्थपदम्, उसके सम्बन्ध में हमें यह कहना है अर्थात् हम आपसे (प्राभाकरों से) यह पूछते हैं कि किस अंश में श्येनादिकों की व्यावृत्ति आप करेंगे? अर्थात् श्येनयाग के स्वरूप की व्यावृत्ति के लिये अर्थ पद है— यह जो आपने कहा था, उसमें द्विविध विकल्प की सम्भावना हो रही है। क्या श्येनादिकों के धर्मत्व की व्यावृत्ति करने के लिये अर्थ पद है? अथवा श्येनादिकों के कार्यत्व की व्यावृत्ति के लिये अर्थ पद है? **धर्मत्वेति**। अर्थात् श्येनादिकों के धर्मत्व की व्यावृत्ति के लिये अर्थ पद दिया गया है; इसीलिए श्येनादि यागों को धर्म शब्द से नहीं कहा करते। एवं च उसके धर्मत्व की व्यावृत्ति के लिये अर्थ पद दिया गया है।

उत्तर— किन्तु आपका उपर्युक्त कथन उचित नहीं होगा। अर्थ पद धर्म की व्यावृत्ति के लिये नहीं हो सकता; क्योंकि उसने धर्म के स्वरूप को नहीं बताया है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि धर्म का स्वरूप यदि पूर्व में कहा गया होता तो श्येनायागों के धर्मत्व की व्यावृत्ति का होना कह सकते थे, किन्तु पूर्वग्रन्थ में धर्म के स्वरूप को नहीं बताया गया है। इसी को अब स्पष्टतया बता रहे हैं— **इदं हि सूत्रं वेदार्थस्येति**। अर्थात् यह सूत्र वेदार्थ की कार्यरूपता को बताने के लिये है, धर्मस्वरूप का लक्षण बताने के लिये नहीं है— यह अभिप्राय यदि आपका है तो श्येनादियागों में धर्मत्व घटित न हो जाय तभी तो अर्थ पद से श्येनादि की व्यावृत्ति का होना कहा जा सकता है।

शङ्का— यदि यह कहें कि अर्थ पद से श्येनादियागों के कार्यत्व की व्यावृत्ति होगी। जैसे— जो अर्थरूप वेदार्थ है, वह कार्यरूप है, यह अभिप्राय सूत्र का है, उसी कारण वेदार्थ जो श्येनादि, वह अर्थरूप न होने से उसमें कार्यत्व भी प्राप्त नहीं है। अर्थात् श्येनादि यद्यपि वेदार्थ हैं, तथापि अर्थरूप नहीं हैं। अतः उसमें कार्यत्व की प्राप्ति भी नहीं है। इस शङ्का का समाधान पूर्व में कर चुके हैं— अयमुद्देश्यवेदार्थविशेषणम् अर्थपदम्? तब तो उसका अर्थ यह होगा कि जो अर्थरूप (अभ्युदयरूप) वेदार्थ है, वह कार्यरूप है। तब श्येनादिनियोगों का फल निषिद्ध होने के कारण अनभ्युदयरूप जो होंगे, उनमें

कार्यता नहीं हो सकेगी। इस पर यदि कोई कहे कि भले ही कार्यता न हो, किन्तु यह कहना उचित नहीं होगा; क्योंकि उनमें भी लिङ् लकार का प्रयोग रहने से कार्यता का बोध होता है।

शङ्का— पूर्वसूत्र से (प्रथमसूत्र अथातो धर्मजिज्ञासा से) वेदार्थपरक धर्म पद का अनुषङ्ग करके 'चोदनालक्षणो वेदार्थः'— यह एक वाक्य और अर्थो धर्मः यह द्वितीय वाक्य यदि करते हैं तो वाक्यभेद दोष को स्वीकार करके बतायेंगे कि यह प्रस्तुत सूत्र धर्मलक्षण के लिये भी है। तथा च जैसे तुम्हारे मत में इसी सूत्र से धर्म के स्वरूप को जानकर अर्थ पद से हिंसा आदि की व्यावृत्ति हो जाती है, उसी तरह मेरे मत में भी इसी सूत्र से अर्थात्मक में धर्मत्व जानकर अर्थ पद से श्येनादिकों की व्यावृत्ति हो जायेगी।

समाधान— तथापि चोदनालक्षणपदेनेति। चोदनालक्षण पद से कार्यरूप अपूर्व को उद्देश्य कर उस अपूर्व को ही इस सूत्र से धर्म कहा जा रहा है। यह कथन तुम प्राभाकरों का है। जबकि अपूर्व को ही तुम धर्म कह रहे हो, तब अर्थपद से श्येनयागजन्य अपूर्व निष्ठ धर्मत्व की व्यावृत्ति करना ही तुम्हें उचित रहेगा, न कि श्येन की व्यावृत्ति करना; क्योंकि निषेध तो प्राप्तिपूर्वक हुआ करता है। तुम्हारे मत में तो याग में धर्मत्व ही नहीं है, अतः श्येनादियाग में धर्मत्व की प्राप्ति ही नहीं है, जिससे धर्मत्व की व्यावृत्ति हो सकेगी।

तत्र श्येनादियागस्य कः प्रसङ्ग इति। जबकि तुम्हारे मत के अनुसार प्रस्तुत सूत्र से अपूर्व को ही धर्म समझा जा रहा है, तब किसी एक अपूर्वविशेष में प्राप्त हुए धर्मत्व को अर्थ पद से व्यावृत्त किया जा रहा है— यही कहना उचित होगा। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत सूत्र से अपूर्व का ही प्रसङ्ग चल रहा है, याग का तो प्रसङ्ग ही नहीं है। तब श्येनादियाग का प्रसङ्ग ही कौन सा है? जिससे श्येनादियागों में धर्मत्व प्राप्ति की व्यावृत्ति करने के लिये अर्थ पद कहा जा सकेगा?

नहि ज्योतिष्टोमादियागस्यापीति। अर्थात् ज्योतिष्टोमादि यागों में भी धर्मत्व होने की बात नहीं कर सकते; क्योंकि आपने तो (प्राभाकरों ने तो) अपूर्व को धर्म माना है।

अथ श्येनाद्यपूर्वस्यैव धर्मत्वमर्थपदेन व्यावर्त्यते? ततो भाष्ये श्येनादिशब्देन कर्मनामधेयेन तत्साध्यमपूर्वं लक्ष्यते इत्यविशिष्टा लक्षणा स्यात्। यदि चापूर्वमेव प्रत्युदाहरणम् ततो 'हिंसा हि सा सा च प्रतिषिद्धा' इति भाष्यमसङ्गतं स्यात्। श्येनयागो वा तत्फलं वा हिंसा, न त्वपूर्वं कथंचिदपि हिंसापदास्पदम्। अस्मिंश्च कल्पे 'कथं पुनरसावनर्थः कर्तव्यतयोपदिश्यते' इति चोद्यम्। 'नैव श्येनादयः कर्तव्या विज्ञायन्ते' इति चोत्तरमपूर्वविषयं स्यात्। न च तस्य कर्तव्यत्वं शक्यते वारयितुं कार्यस्वभावत्वात्।

एवञ्च यागकर्तव्यतानिषेधार्थमिदं भाष्यमङ्गीकृत्य यत् तत्समाधानाय प्रयत्यते— 'कर्तव्यताविषयो हि नियोगो न पुनस्तस्य कर्तव्यतामाह' इति तदपार्थकम्।

शङ्का— अथ श्येनाद्यपूर्वस्यैव धर्मत्वमिति। यदि यह कहें कि श्येनयागजन्य अपूर्व के धर्मत्व का निवारण करने के लिये अर्थ पद की आवश्यकता है।

समाधान— उपर्युक्त शङ्का उचित प्रतीत नहीं हो रही है; क्योंकि इस पक्ष में 'नैव श्येनादयः कर्तव्यतया विज्ञायन्ते' इस भाष्य में कर्म के नामधेय (संज्ञा) रूप श्येन शब्द से लक्षणा के द्वारा श्येनयाग से साध्य अपूर्व का होना सिद्धान्ती को मान्य है। जब श्येन शब्द से श्येन-साध्य अपूर्व को लक्षणा से आप स्वीकार कर रहे हैं, तब तो हमारी लक्षणा का खण्डन करके आपने भी उसी का (लक्षण का) स्वीकार किया। अर्थात् आपकी स्वीकृत लक्षणा में कोई वैशिष्ट्य नहीं है। अर्थात् दोनों के मत में लक्षणा का स्वीकार समान ही है।

शङ्का— यदि च अपूर्वमेव प्रत्युदाहरणमिति। यदि आप यह कहें कि अपूर्व ही प्रत्युदाहरण है, अर्थात् श्येनसाध्य अपूर्व ही अर्थ शब्द से व्यावर्त्य (भिन्न) कहा गया है, तब तो आपके मत में 'हिंसा हि सा, सा च प्रतिषिद्धा' अर्थात् वह हिंसा है, अतः उसका प्रतिषेध किया गया है— यह भाष्य भी असङ्गत हो जायेगा; क्योंकि श्येनयाग को हिंसा कहिये अथवा उसके फल को हिंसा कहिये, तब भी अपूर्व को किसी भी स्थिति में हिंसा का विषय नहीं कहा जा सकेगा। **अस्मिंश्च कल्पे इति।** अर्थात् उक्त प्रतीक के द्वारा और भी एक अन्य दोष बता रहे हैं— श्येनजन्य अपूर्व की व्यावृत्ति के पक्ष में पूछ रहे हैं कि 'कथं पुनरसावनर्थः कर्त्तव्यतया उपदिश्यते'? 'नैव श्येनादयः कर्त्तव्या विज्ञायन्ते'— इस पूर्वपक्षोत्तरपक्षरूप दोनों भाष्यपंक्तियों को अपूर्वविषयक ही कहना होगा। किन्तु पूर्वोत्तरपक्ष रूप दोनों भाष्यों को अपूर्वविषयक मानना उचित नहीं है; क्योंकि 'नैव श्येनादयः कर्तव्या विज्ञायन्ते' इस भाष्य-वचन से श्येनजन्य अपूर्व का ही निरास (परिहार) करना पड़ेगा। किन्तु अपूर्व की कर्त्तव्यता का परिहार करना सम्भव नहीं है; क्योंकि अपूर्व का स्वरूप तो कर्त्तव्यतामात्र ही है। अर्थात् अपूर्व का स्वरूप कार्य (कर्त्तव्य) ही है। अपूर्व के कार्यत्व (कर्त्तव्यता) को कोई हटा नहीं सकता।

प्राभाकर मीमांसक के एक सिद्धान्त का निरास करने के पश्चात् अब दूसरे सिद्धान्त का खण्डन करते हैं— 'एवं च यागकर्त्तव्यतानिषेधार्थमिदं भाष्यमङ्गीकृत्य यत् तत्समाधानाय प्रयत्यते'— इत्यादि भाष्य श्येनयाग की कर्त्तव्यता का निषेध कर रहा है, यह स्वीकार करके 'नैव श्येनादयः कर्त्तव्या विज्ञायन्ते' इस भाष्य से हिंसाफलक श्येनादि यागमात्र की कर्त्तव्यता का ही निषेध नहीं किया जा रहा है, किन्तु यागमात्र की तथा अपूर्व की कर्तव्यता प्राप्त हो रही है। इस भाष्य को स्वीकार करके उक्त अभिप्राय के समाधानार्थ प्रयत्न कर रहे हैं— 'कर्त्तव्यताविषयो हि नियोगः' कर्त्तव्यता का विषय नियोग है। किन्तु

भाष्यकार उस नियोग की कर्त्तव्यता को नहीं बता रहे हैं। अतः यह सब निरर्थक है।

काम्येष्वपि विधिरेव प्रवर्तको न फलं, तस्य हि विध्यधीनोत्पत्तिकत्वेन यागापेक्षाभावात्। विधिस्तु यागाधीननिष्पत्तित्वाद् यागमनुष्ठापयतीति युक्तम्।

काम्येष्वपि विधिरेव प्रवर्तको न फलमिति। पूर्वपक्षी ने यह कहा था कि काम्य कर्मों में प्रवृत्ति कामना (इच्छा) के होने पर ही हुआ करती है। उस प्रवृत्ति को कराने वाला (अनुष्ठापक) विधि नहीं है— यह नहीं कहा जा सकता, इस कथन का खण्डन कर रहे हैं—**काम्येष्वपि विधिरेव प्रवर्तको, न फलम् इति**। काम्य कर्मों में भी विधि ही प्रवर्तक होता है। फल प्रवर्तक नहीं होता; क्योंकि फल की निष्पत्ति विधि के बल पर ही होती है। वह (विधि) याग की अपेक्षा नहीं रखता अर्थात् विधि के विद्यमान रहने से ही स्वर्गफल की प्राप्ति हो सकती है, विधि के अभाव में अर्थात् विधि के न रहने पर स्वर्गफल की प्राप्ति की आशा करना दुराशा ही है। विधि के स्वरूप की निष्पत्ति याग के अधीन होने से वह (विधि) याग का अनुष्ठान करता है— यही उचित हैं। निष्कर्ष यह है कि विधि के कारण उत्पन्न होने वाले याग को प्रवर्तक कहना उचित नहीं है।

(काम्येष्वपि कर्मसु विधेरेव, प्रवर्त्तकत्वम्)

यदि च विधिरप्रवर्तकः काम्येषु स्याद् इतिकर्तव्यताप्यविधेया स्यात् तस्यामपि फलत एव प्रवृत्तिसिद्धेः साङ्गप्रधानकसाध्यत्वात् फलस्य। वक्ष्यति हि— 'तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मत्सर्वचिकिर्षा' इति। ततश्चाग्नीषोमीयहिंसाया अपि विध्यभावेन निषेधविषयत्वात् तद्युक्तस्य ज्योतिष्टोमस्याप्यनर्थत्वापत्तेः 'कोर्थः यो निःश्रेयसाय ज्योतिष्टोमादिः' इतिभाष्यानुपपत्तिः।

यदि च विधिरप्रवर्तक इति। अन्यथा अर्थात् काम्यकर्मों में प्रवृत्ति का होना यदि विधि के कारण न मानें और फल को ही प्रवर्तक मानें तो सङ्कट यह उपस्थित होगा कि जैसे प्रधान याग विधेय नहीं होगा, उसी तरह उसकी अङ्गभूत इतिकर्तव्यता भी विधेय नहीं हो सकेगी; क्योंकि उसमें भी फल से ही प्रवृत्ति हो जायेगी। फलप्राप्ति तो साङ्ग-प्रधान के अनुष्ठान से ही होती है। इसी तथ्य को सूत्रकार जैमिनि ने तीसरे अध्याय में कहा है— 'तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात् सर्वचिकीर्षा' (मी०सू० ३।७।६) इति। अभिप्राय यह है कि फल की प्राप्ति पूर्वाङ्ग तथा उत्तराङ्गसहित प्रधान कर्म के अनुष्ठान से ही होती है। इसलिये यच्चयावत् सभी प्रधान कर्मों का अनुष्ठान सर्वाङ्गसहित किया जाता है। अत एव नित्य-नैमित्तिक काम्यादि कर्मों में प्रवृत्ति कराने वाला (प्रवर्तक) विधि ही कहा जाता है। यह स्वीकार करने पर 'अग्नीषोमीयहिंसाया अपि विध्यभावेन निषेधविषयत्वात्,

तद्युक्तस्य ज्योतिष्टोमस्याऽपि अनर्थत्वापत्तेः, 'कोऽर्थः'? यो निःश्रेयसाय ज्योतिष्टोमादि' इति भाष्यानुपपत्तिः।

(स्वार्थ के लिये जो हिंसा की जाती है अर्थात् साध्यरूप हिंसा का ही प्रतिषेध 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' से किया गया है। साधनरूप हिंसा का निषेध नहीं होता। अग्नीषोमीय पशुहिंसा क्रतु का उपकारक है, उस कारण उसे (उस हिंसा को) क्रत्वर्थ कहते हैं, उसे पुरुषार्थ नहीं माना जाता। एवं च 'अग्नीषोमीय पशुहिंसा' को अनर्थकारक नहीं कहा जाता। निष्कर्ष यह है कि साध्यरूप हिंसा और साधनरूप हिंसा दोनों के विषय भिन्न-भिन्न हैं, उसी कारण कोई विरोध नहीं है।)

(हिंसाप्रतिषेधवैरूप्यापत्तिः)

ननु 'न हिंस्यात्' इति निषेधोऽनारभ्याधीतत्वात् पुरुषार्थः, तेनानेन पुरुषार्था एव हिंसाः प्रतिषेद्धव्याः' क्रत्वर्थनिषेधे हि सोऽपि क्रत्वर्थः स्यात्। अविशेषे त्वेकस्य प्रतिषेधविधेः क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वापत्त्या वैरूप्यं स्यात्। तस्मात् पुरुषार्थानामेव हिंसानामिह प्रतिषेधो न क्रत्वर्थानामिति।

शङ्का— ननु 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'— यह वाक्य अनारभ्याधीत है। जो किसी के प्रकरण में नहीं पढ़ा गया है, उस वाक्य को अनारभ्याधीत कहते हैं (अर्थात् स्वतन्त्ररूप से पठित वाक्य), अतः उपर्युक्त निषेधवाक्य पुरुषार्थ है (पुरुष का उपकारक है, क्रतु का उपकारक नहीं)। अतः विधिविहित पुरुषार्थत्व हिंसा ही निषेध के योग्य है। इसलिये उपर्युक्त निषेधवाक्य (न हिंस्यात्) से क्रत्वर्थ हिंसा का निषेध नहीं किया जा रहा है। यदि यह कहें कि उक्त वाक्य पुरुषार्थ हिंसा की तरह क्रत्वर्थ हिंसा का निषेध कर देगा, तो निषेध को भी क्रत्वर्थ कहना होगा। दोनों में कोई भिन्नता (विशेषता) न होने से एक ही निषेध में विधि का क्रत्वर्थ होना और पुरुषार्थ होना माना जायेगा, तब एक ही में क्रत्वर्थत्व और पुरुषार्थत्व दोनों के रहने से वैरूप्य प्राप्त होगा। अभिप्राय यह है कि एक ही निषेध उभयार्थपरक होगा, अर्थात् अर्थ भी होगा और अनर्थ भी कहलायेगा। इस वैरूप्य के निवारणार्थ यह कहना होगा कि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस निषेध का विषय पुरुषार्थ ही है, क्रत्वर्थ नहीं है।

तदिदं बालसंम्मोहनम्, न ह्यविशेषेणापि प्रतिषेधे वैरूप्यम्। यदि हि क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वरूपं विशेषेणोद्दिश्य प्रतिषेधः क्रियेत ततः स्यादपि वैरूप्यं प्रतिषेध्योपस्थापितक्रतुपुरुषगोचरत्वात् प्रतिषेधस्य। यदा तु हिंसामात्रमुद्दिश्य प्रतिषेधः क्रियते तदास्य किं वैरूप्यम्। तद्यथा— या भोजनार्थं मांसोत्पादने हिंसा या च वैरिनिर्यातनार्थतया साक्षात् पुरुषार्था तस्यामुभय्यामविशेषेण प्रतिषिध्यमानायामपि नास्ति वैरूप्यम्,

एवमिहापि। इतरथा तत्रापि भोजनाङ्गता पुरुषार्थता च प्रतिषेधस्य स्यादिति वैरूप्यं स्यात्। तस्माद्यैव काचिद् येन केनापि प्रकारेण प्रसक्ता हिंसा सा सर्वा सामान्येन प्रतिषिध्यते। पुरुषार्थश्च प्रतिषेधोऽ-नारभ्याधीतत्वात्। तस्मादग्नीषोमीयहिंसाप्यसति विधेयत्वे प्रतिषेधगोचरः स्यात्। विधेयत्वे तु विधेर्विशेषविषयत्वात् सामान्यविषयो निषेधस्तद्विरोधाद् हिंसान्तराण्यवलम्बते।

समाधान— तदिदं बालसम्मोहनमिति। उपर्युक्त कथन 'बच्चों को भ्रम में डालने के समान है' अर्थात् आपका उत्तर अनुचित है; क्योंकि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' यह सामान्य निषेध है, इसमें कोई वैरूप्य नहीं है। वैरूप्य तो तब कहा जा सकेगा कि जब क्रत्वर्थ हिंसा तथा पुरुषार्थ हिंसा दोनों का नामग्रहणपूर्वक (दोनों का नाम लेकर) विशेष रूप से निषेध किया जाता। जब सामान्य हिंसा को उद्देश्य कर निषेध किया जाता है, तब उसे विशेष रूप से नहीं कहा जायेगा। यहाँ तो निषेध्य के रूप में दोनों की (क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ दोनों की) उपस्थिति हो रही है। तब वैरूप्य कैसे कहा जा सकेगा? वैरूप्या-ऽभाव को ही एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं—**तद्यथेति**। जैसे जो लोग मांसाहारी हैं, वे अपने उदरभरणरूप स्वार्थसिद्धि के लिये पशुहिंसा करते रहते हैं, जैसे यवनलोग प्रतिदिन पशुः-हिंसा करने में तत्पर रहा करते हैं, वैसे ही शत्रुता रखने वाले लोग किसी शत्रुता का बदला चुकाने के लिये जो हिंसा करते हैं, उसे भी साक्षात् पुरुषार्थ ही कहना होगा। 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस प्रतिषेध की प्रवृत्ति क्रतूपकारक (क्रत्वर्थ) हिंसा में नहीं होगी, उसकी प्रवृत्ति तो पुरुषार्थ हिंसा में ही होगी। एवं च निषेधवाक्य का विषय 'अग्नीषोमीय पशुहिंसा' नहीं होगी, इसलिये 'अग्नीषोमीय पशुहिंसाविशिष्ट याग' को अनर्थकारक कहना उचित नहीं है। निष्कर्ष यह है कि सामान्य हिंसा को उद्देश्य करके 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' यह निषेध किया गया है। इसीलिये कोई वैरूप्य नहीं है। अतः अग्नीषोमीय पशुहिंसा में भी प्रतिषेध लगने से उस अग्नीषोमीय पुशहिंसा को भी अनर्थकारक कहना होगा। लोकव्यवहार में दो प्रकार की हिंसा होती है। एक तो भोजन के लिये मांसोत्पत्त्यर्थ और दूसरी वैरनिर्यातनार्थ साक्षात् पुरुषार्थरूप और शत्रुमारणरूप फल के लिये। प्रतिषेध दोनों के लिये होने पर भी प्रतिषेध में वैरूप्य नहीं है। उसी तरह अग्नीषोमीयादि क्रत्वर्थहिंसा में भी प्रतिषेध का प्रवेश होने पर भी वैरूप्य नहीं है। एवं च क्रत्वर्थ पुरुषार्थोभयहिंसा का प्रतिषेध होने पर भी वैरूप्य नहीं है।

इतरथेति। ऐसा यदि न मानें तो भोजन में अङ्गत्व और पुरुषार्थत्व (तृप्तिरूप फल के लिये भोजन को स्वीकार करना) के कारण निषेध में वैरूप्य प्राप्त होगा। अतः सभी प्रकार की हिंसा का सामान्यतया ही निषेध किया गया है, विशेषतया निषेध नहीं और मा हिं स्यात् सर्वा भूतानि यह जो पुरुषार्थ निषेध है, वह अनारभ्याधीत (सामान्य विधि)

है। इसलिये अग्नीषोमीय पशुहिंसा भी विधेय न होने से निषेध-शास्त्र का विषय कही जायेगी; किन्तु विधेय होने पर तो विधिविशेष विशेषहिंसा को ही अपना विषय बनायेगा; क्योंकि विधि विशेषविषयक ही होता है। अतः सामान्यविषयक निषेध हिंसाविशेष को छोड़कर अन्यान्य हिंसाओं को अपना विषय बनायेगा। इसलिये वैरूप्य नहीं है और वैरूप्य के न होने से अग्नीषोमीय पशुहिंसाविशिष्ट ज्योतिष्टोम को धर्म कहा जायेगा और उक्त भाष्य की सङ्गति हो जायेगी, असङ्गति नहीं होगी।

(हिंसायां साङ्ख्यमतं तत्खण्डनञ्च)

ननु सत्यपि विधेयत्वे विधेः क्रत्वर्थत्वात् प्रतिषेधस्य च पुरुषार्थत्वाद्विषयभेदेनाविरोधान्न बाधः। न हीदं विरुद्धं क्रतोर्हिंसया भवितव्यं पुरुषस्य तु तद्वर्जनेनेति। सत्यम्— अङ्गविधिमात्रालोचनायां नास्ति विरोधः, ज्योतिष्टोमविधिस्तु साङ्गं प्रधानं पुरुषस्य विदधत् पुरुषार्थहिंसानिषेधमग्नीषोमीयहिंसायामवतरन्तं निरुणद्धि। न ह्यग्नीषोमीयहिंसां वर्जयता ज्योतिष्टोमः शक्यतेऽनुष्ठातुम्। तस्मादस्ति विरोध इति सामान्यस्य बाधः। विधौ त्वप्रवर्तके सत्यग्नीषोमीयहिंसापि प्रतिषिद्ध्येत।

शङ्का— ननु सत्यपि विधेयत्वे विधेः क्रत्वर्थत्वादिति। यद्यपि विधि क्रत्वर्थ (क्रतूपकारक) है और निषेध पुरुषार्थ (पुरुषोपकारक) है, अतः दोनों का विषय भिन्न रहने से कोई विरोध नहीं है। इसलिये विशेष से सामान्य का बाध कैसे होगा? अर्थात् बाध नहीं होगा। (यह शङ्का) मध्यस्थता करने वाले साङ्ख्या वादी की है। उसका कहना है कि जहाँ दोनों वाक्यों का विषय एक (समान) होगा, वहीं पर विशेष से सामान्य का बाध हुआ करता है, किन्तु यहाँ तो विरोध है ही नहीं; क्योंकि सामान्यशास्त्र का विषय पुरुषार्थ है और विशेषशास्त्र का विषय है— क्रत्वर्थ। एवं च दोनों का विषय पृथक्-पृथक् (भिन्न-भिन्न) रहने से परस्पर कोई विरोध ही नहीं है, तब बाध क्यों होगा? अर्थात् बाध नहीं होगा। इसी तथ्य को ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र बता रहे हैं— **न हीदं विरुद्धं क्रतोर्हिंसया भवितव्यम्, पुरुषस्य तु तद्वर्जनेनेति**। अर्थात् यहाँ कोई विरोध दृष्टिगत नहीं हो रहा है कि क्रतु में हिंसा होनी चाहिये और पुरुष को हिंसा छोड़नी चाहिये अर्थात् त्यागनी चाहिये। इस कारण यहाँ बाध नहीं होगा। प्रकाशव्याख्याकार श्री सुदर्शनाचार्य जी ने इस सन्दर्भ में पिष्ट पशु बनाने की नवीन कल्पित युक्ति जो बताई है— वह सर्वथा उपेक्षणीय ही है।

साङ्ख्यवादी के आक्षेप (शङ्का) का समाधान कर रहे हैं— **सत्यमिति**। आपका कथन उचित है कि केवल अङ्गविध (अग्नीषोमीयं पशुमालभेत) को देखने से तो विरोध की प्रतीति नहीं हो रही है, किन्तु 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'— यह विधिवाक्य पुरुष को उद्देश्य करके अङ्गसहित प्रधान याग करने का विधान कर रहा है। उसी तरह

पुरुष को सम्बोधित करते हुए हिंसा का निषेध भी कर रहा है। यह निषेध ज्योतिष्टोम में विहित अग्नीषोमीय पशुहिंसा को नहीं होने दे रहा है। बिना पशुहिंसा के ज्योति-ष्टोमयाग का अनुष्ठान ही असम्भव है, उस कारण क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ दोनों में विरोध हो रहा है। ऐसे विरोध के परिहारार्थ ही कह रहे हैं कि विशेषशास्त्र से सामान्यशास्त्र का बाध (सङ्कोच) किया जाता है। अतः साङ्ख्यवादी का आक्षेप अनुचित ही है।

ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र विधौ त्वप्रवर्तके सति से प्राभाकरमत में दोषप्रदर्शन कर रहे हैं। प्राभाकर विधि को प्रवर्तक नहीं मानते। काम्य कर्मों में जो प्रवृत्ति होती है, वह कामना से ही होती है; क्योंकि प्राभाकरों के मतानुसार विधि तो प्रवर्तक है ही नहीं। तब अग्नीषोमीय पशुहिंसाविशिष्ट याग को अनिष्टजनक ही कहना होगा। अग्निषोमीय पशु-हिंसा का भी निषेध होने लगेगा तब अङ्गरहित हुआ ज्योतिष्टोमयाग का अनुष्ठान व्यर्थ ही हो जायगा। उसका व्यर्थ होना तो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। इसलिये विधि को ही प्रवर्तक स्वीकार करना होगा। एवंच विधि को प्रवर्तक स्वीकार करने पर अग्नीषोमीय पशुहिंसः का निषेध भी नहीं किया जा सकता।

किमर्थं च श्येनस्य विधेयत्वं निराक्रियते? प्रतिषेधसिद्ध्यर्थमिति चेत्? कः प्रतिषेधः? 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति। नायं निषेधः श्येने प्रवर्तते हिंसाविषयत्वात्। श्येनफलं च हिंसा न श्येनः। तथा चोक्तम्— 'यो हि हिंसितुमिच्छेत्तस्यायमभ्युपाय इति हि तेषामुपदेशः' इति।

शङ्का— (निषेध) नहीं किया जा सकेगा। अतः उनके प्रतिषेधार्थ विधेयत्व का निराकरण किया जा रहा है। उसपर सिद्धान्ती पुनः पूछता है कि श्येनादि यागों के निषेध-सिद्ध्यथे उसके विधेयत्व का जिससे निराकरण कर रहे हैं, वह निषेधवाक्य कौन सा है? उस पर प्राभाकर उत्तर देता है कि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' यही निषेधवाक्य है, इसी के सिद्ध्यर्थ अर्थात् सफलता के लिये श्येनादियागों के विधेयत्व का निराकरण किया जा रहा है।

समाधान— सिद्धान्ती समाधान करता है कि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस निषेध के कारण 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस वाक्य को विधायक (श्येनयाग का विधायक) नहीं कह सकते। इस पर यदि कोई यह कह दे कि 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' यह निषेध श्येनयाग के लिये नहीं है; क्योंकि उक्त निषेध तो हिंसाविषयक है और हिंसा के स्वरूप की जिज्ञासा होने पर समझ में आता है कि हिंसा का स्वरूप श्येनयाग न होकर श्येनयाग का जो फल है, उसी को वस्तुतः हिंसा कहा जा सकता है। इसी तथ्य को भाष्यकार शबरस्वामी ने अभिव्यक्त किया है— 'श्येनो हि हिंसाया उपायः, न तु स्वरूपेण हिंसा-रूपः' इति भाष्यार्थः। जैसे— मारण-उच्चाटन आदि कर्मों के उपायों (साधनों) का निषेध करने पर भी उन उपायों को तन्त्रशास्त्र में बताया गया है, किन्तु उसे बताने का अभिप्राय यह नहीं है कि उसका अनुष्ठान (आचरण) करो। केवल जानकारी के लिये (ज्ञानार्थ) ही

उन उपायों को बताया गया है। उसी तरह वेद ने भी श्येनादि उपायों की जानकारी रहे, इस अभिप्राय से ही उन्हें कह दिया है। एवंच श्येनयाग स्वरूपतः हिंसा नहीं है अर्थात् श्येनयाग हिंसास्वरूप नहीं है, उस कारण श्येनेनाभिचरन् यजेत यह कथनमात्र है, अर्थात् उसे अभिचार का साधनमात्र बताने में तात्पर्य है। श्येनयाग किया करो— इस प्रकार आज्ञा देने में तात्पर्य कदापि नहीं है।

कश्चित्त्वाह— श्येनस्य कर्तव्यत्वे सति बलात्तत्फलमपि हिंसा कर्तव्या भवतीति न निषेद्धुं शक्यते, अतः फलकर्तव्यतानिरासार्थं श्येनकर्तव्यता बलान्निरस्यते इति। तदिदमसम्बद्धम्—यथैव हि श्येनापूर्वस्य कर्तव्यतायां सत्यामपि तत्साध्यफलस्य कर्तव्यता न प्रसज्यते तथा यागस्य कर्तव्यत्वे सत्यपि रागप्राप्तस्य फलस्य नास्ति कर्तव्यतापत्तिः। तस्मादनर्थकं श्येनकर्तव्यतानिराकरणम्। तस्माद्धिंसैवात्र प्रत्युदाहरणम्।

अब ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र किसी प्राभाकरविशेष शालिकनाथ मिश्र ने अपने गुरु की विरचित बृहती (शाबरभाष्य की व्याख्या) की टीका मे जो कहा है, उसका उल्लेख कर रहे हैं— **कश्चित्त्वाह**। उनका अभिप्राय यह है कि यदि श्येनयाग के विधेयत्व का निराकरण न किया गया तो श्येनयाग की फलरूप हिंसा में विहितत्व बलात् प्राप्त होगा, क्योंकि श्येनयाग में विधेयत्व प्राप्त होने के कारण उसमें (श्येनयाग में) इष्टजनकत्व (अभीष्टोत्पादकत्व) प्राप्त होगा अर्थात् श्येनयाग को अभीष्टफल प्रदायक कहा जायेगा और उसी तरह श्येनयागजन्य हिंसा में भी अभीष्टत्व प्राप्त होगा। किन्तु हिंसा की अभीष्टता तो किसी को भी इष्ट नहीं रहती। अर्थात् हिंसा करना किसी को भी अच्छा नहीं लगता। और हिंसा का अभीष्टत्वनिराकरण हिंसा के विधेयत्व निराकरण के अधीन है; किन्तु हिंसा के विधेयत्व का निराकरण श्येनयाग के विधेयत्वनिराकरण के अधीन नहीं है। अतः विवश होकर श्येन की विधेयता (कर्त्तव्यता) का निराकरण करना पड़ रहा है, अन्यथा श्येन की फलरूप हिंसा का भी प्रतिषेध (निषेध) नहीं हो पायेगा— यह आशङ्का श्री शालिकनाथ मिश्र ने उपस्थित की है।

सिद्धान्ती उसका समाधान इस प्रकार कर रहा है, 'तदिदम् असम्बद्धम्' अर्थात् शालिकनाथ का उपर्युक्त कथन असङ्गत है। असङ्गतता को ही बता रहे हैं 'यथैव हि श्येनाऽपूर्वस्य कर्त्तव्यतायां सत्यामपि तत्साध्यफलस्य कर्त्तव्यता न प्रसज्यते' इति। अर्थात् जैसे प्रभाकर के मत में किसी भी अपूर्व की कर्त्तव्यता का प्रत्याख्यान (निषेध) करना शक्य (सम्भव) नहीं है, उसी कारण श्येनजन्य अपूर्व की कर्त्तव्यता आवश्यक होने पर भी श्येनयाग से साध्य होने वाली फलरूप हिंसा की कर्त्तव्यता प्राप्त नहीं है; क्योंकि कर्त्तव्यता का स्वरूप तो अपूर्व ही है, उसी तरह हमारे मत में श्येनयाग की कर्तव्यता के रहने पर भी रागतः प्राप्त हुए हिंसारूप फल की कर्त्तव्यता प्राप्त नहीं है।

इसलिये श्येनयाग का तुम्हारे द्वारा विधेयत्व निराकरण करना व्यर्थ ही है। इसी कारण यहाँ प्रत्युदाहरण भी हिंसा ही है। अभिप्राय यह है कि 'नैव श्येनादयः कर्त्तव्या विज्ञायन्ते'— इस भाष्य से श्येनयागजन्य फलरूप हिंसा के विधेयत्व का ही निराकरण किया जा रहा है, उसी कारण अर्थ शब्द का प्रत्युदाहरण भी हिंसा ही है, न कि श्येनादियाग। अर्थ शब्द का प्रयोजन हिंसा की व्यावृत्ति करना है, श्येनयाग की व्यावृत्ति करना नहीं। अतः हिंसा ही यहाँ प्रत्युदाहरण है।

इदं चापरमेकदेशिनः प्रष्टव्याः— अर्थशब्देन किमुच्यते इति, यदि श्रेयः-साधनम्? नित्यानां धर्मत्वं न स्यात्। अथ यन्निषिद्धफलं न भवति तदर्थ-शब्देनोच्यते? तथा सति नञर्थविषयस्यापूर्वस्य धर्मत्वप्रसङ्गः, चोदना-लक्षणत्वान्निषिद्धफलत्वाभावाच्च। भवत्विति चेत्? न, लोकविरोधात्। यो हि हिंसायामुद्युक्तः प्रतिषेधवशान्निवर्तते न तं धार्मिक इत्याचक्षते किं त्वधर्मान्निवृत्त इत्येतावत्। तदाहुः— 'लोकसिद्धस्य लक्षणं परी-क्षकैर्वक्तव्यं न वृद्धादिवत् परिभाषणम्' इत्यास्तां तावत्।

इति चोदनासूत्रम्।।२।।



भाट्टानुयायी सिद्धान्ती कहते हैं कि हम प्रभाकरानुयायी एकदेशी विद्वानों से पूछना चाहते हैं कि अर्थ शब्द से क्या बताया जा रहा है? अभिप्राय यह है कि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' सूत्र में प्रयुक्त अर्थ शब्द का तुम प्राभाकरों के अनुसार क्या अर्थ है? यदि यत् श्रेयःसाधनं तत् अर्थशब्दस्य वाच्यम्— जो श्रेयःसाधन है, वही अर्थ शब्द का वाच्य (अर्थ) है— किन्तु इसे आप नहीं कह सकते; क्योंकि सन्ध्योपासनादि निप्यकर्मों में श्रेयःसाधनत्व का अभाव रहने से उनमें धर्मत्व नहीं कहा जायेगा; क्योंकि इस पक्ष में श्रेयःसाधन को ही धर्म कहा जा रहा है।

शङ्का— अर्थ शब्द श्रेयःसाधनत्त्वरूप अर्थ को नहीं बता रहा है; किन्तु जिसका फल निषिद्ध न हो, उसे अर्थ शब्द का वाच्य (शक्यार्थ) समझना चाहिये। यह कहने से नित्य-नैमित्तिक काम्य कर्मों का फल निषिद्ध न होने के कारण उनमें धर्मत्व की अव्याप्ति नहीं है और श्येनयागादिकों का फल निषिद्ध होने से उनमें धर्मत्व की अतिव्याप्ति की भी शङ्का नहीं की जा सकती। एवं च जिसका फल निषिद्ध न हो, वही अर्थ शब्द से वाच्य है।

समाधान— उपर्युक्त कथन के अनुसार तो मदिरापान (सुरापान) आदि की निवृत्ति से उत्पद्यमान जो निष्फल अपूर्व होगा, उसे भी धर्म कहा जायेगा; क्योंकि सुरापानादिनिवृत्ति के जन्य जो अपूर्व होगा उसका कोई फल ही नहीं है, उसी कारण निषिद्धफलकत्व का अभाव तो है ही। 'तथासति नञर्थ-विषयस्य अपूर्वस्य धर्मत्वप्रसङ्गः'। नञर्थविषयस्य—

'न सुरां पिबेत् न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि वाक्यों में नञ्-पदबोधजन्य निवृत्तिविषयस्य अर्थात् निवृत्तिजन्यस्य षण्डाऽपूर्वस्य। इस पक्ष में षण्डापूर्व में धर्मत्व की प्राप्ति होने में कारणीभूत चोदनालक्षणत्व और निषिद्धफलत्वाभाव भी है।

शङ्का— यदि सुरापानादिनिवृत्तिजन्य अपूर्व में भी धर्मत्व प्राप्त होता हो, तो कौन सी हानि है? अर्थात् कौन सा दोष है?

समाधान— उक्त आशङ्का उचित नहीं है; क्योंकि लोकव्यवहार के विरुद्ध हे। जो व्यक्ति हिंसा करने में अथवा सुरापान करने में लगा रहता है, वह 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'— 'न सुरां पिवेत्' आदि वाक्यों के सुनने पर हिंसा तथा सुरापान से निवृत्त हो जाता है तो लोग उसे धार्मिक शब्द से सम्बोधित नहीं करते; किन्तु इतना ही कह देते हैं कि वह अधर्म से निवृत्त हुआ है. किन्तु निवृत्तिजन्य अपूर्व को ही धर्म मानने पर सुरापान का त्याग करने वाले पुरुष को भी सोमयाजी पुरुष के समान धार्मिक कहना होगा, किन्तु उसे कोई भी धार्मिक शब्द से सम्बोधित नहीं करता। उसी कारण निवृत्तिजन्य अपूर्व को धर्म शब्द से नहीं कहा जा सकता। तथाच 'अथ यन्निषिद्धफलं न भवति'— यह पक्ष भी उचित नहीं है।

शङ्का— धर्म के विषय में लोगों को क्या (कौन-सा) अधिकार है? जिससे यह कह सकें कि लोकानुरोध से निवृत्तिजन्य अपूर्व को धर्म शब्द से न कहा जा सके।

समाधान— शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र कहते हैं— **तदाहुः इति**। 'लोकसिद्धस्य लक्षणं परीक्षकैर्वक्तव्यं, न वृद्ध्यादिवत् परिभाषणम्' अर्थात् विद्वान् परीक्षक लोग लोकव्यवहारप्रचलित पदार्थ का लक्षण ही बताया करते हैं, वे लौकिक पदार्थ की महर्षि पाणिनि के समान परिमाण नहीं किया करते। पाणिनि ने जैसे गुण, वृद्धि आदि की परिभाषा बना दी है, वैसी परिभाषा बनाना परीक्षक विद्वानों का काम नहीं है। इसलिये सुरापान आदि अपेय-अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करने वाले पुरुष को जनता धार्मिक नहीं कहा करती अर्थात् धार्मिकत्व की कोई किसी प्रकार की परिभाषा नहीं बनाते। अतः वैसी ही सूत्रव्याख्या करनी चाहिये, जिससे उस पुरुष को लोग धार्मिक न मान बैठें। अतः यहाँ पर अर्थात् चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः इस द्वितीय सूत्र में 'अर्थ' शब्द से हिंसा आदि की ही व्यावृत्ति की जा रही है।

निष्कर्ष— धर्मलक्षणाधिकरणक द्वितीय सूत्र 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' की व्याख्या हो चुकी। इस अधिकरण का विषय धर्म था। किन्तु पूर्वपक्षी को सन्देह हो रहा था कि उक्त धर्म के होने में कोई प्रमाण एवं लक्षण भी है या नहीं? क्योंकि लक्षण के द्वारा लक्ष्य का ज्ञान हो पाता है और 'मानाधीना मेयसिद्धिः' नियम के अनुसार किसी भी वस्तु (पदार्थ) का निश्चय प्रमाण से ही होता है। किन्तु धर्म पदार्थ का कोई लौकिक आकार (लोकप्रसिद्ध आकार) तो है नहीं और उसके न होने से उसका (धर्म का) लक्षण होना भी सम्भव नहीं है। अतः धर्म के बोधनार्थ किसी प्रमाण की प्रवृत्ति होनी भी असम्भव

है। एवं च धर्म का न कोई लक्षण है और न उसके बोधनार्थ कोई प्रमाण ही है। अत: लक्षण तथा प्रमाण से रहित धर्म का विचार करना उचित नहीं है— इस प्रकार पूर्वपक्षी के कहने पर सिद्धान्तवादी का कथन प्रस्तुत किया जा रहा है।

सिद्धान्त के रूप में उत्तरपक्ष— लौकिक आकार का ज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियों से हुआ करता है। धर्म का कोई लौकिक आकार (लोकबोध्य आकार) भले ही न हो, किन्तु उसका अलौकिक आकार तो है ही, जो विधिवाक्यों से जाना जाता है, वह आकार 'श्रेय:साधनता'रूप है। अत: धर्म को लक्षणशून्य (लक्षणरहित) कहना उचित नहीं है। उसी तरह उसे प्रमाणशून्य कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि धर्म का बोधक प्रमाण वेद-वाक्य ही है। भगवान् जैमिनि ने 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म:' कहकर धर्म को सूचित किया है। इस धर्मबोधक सूत्र को इतना दीर्घ न बनाकर केवल 'अर्थो धर्म:' ही कहते तो घट-पटादि अर्थ = पदार्थों में लक्षण की अतिव्याप्ति होती, उसके निवारणार्थ चोदनालक्षण: यह विशेषण अर्थ के साथ जोड़ना पड़ा। धर्मलक्षण में अर्थ पद अनर्थ की निवृत्ति के लिये दिया गया है। अर्थ = श्रेयस्कर अर्थात् कल्याणकारक। एवं च 'अर्थत्वे सति चोदनालक्षणो धर्म:' यह धर्मलक्षण निष्पन्न होता है। निष्कर्ष यह निकला कि धर्म पदार्थ लक्षण एवं प्रमाण से युक्त है, लक्षण-प्रमाण से रहित नहीं है। अत: धर्म का विचार करना ही चाहिये। यह समझकर ही भगवान् जैमिनि ने धर्मविचारशास्त्ररूप मीमांसाशास्त्र का आरम्भ 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र के द्वारा किया है।

धर्मलक्षणाधिकरण के द्वितीयसूत्र 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'
की व्याख्या समाप्त हुई



तृतीयं धर्मप्रमाणपरीक्ष्यताऽधिकरणम्

तस्य निमित्तपरीष्टिः।।३।।

अनेन सूत्रेण चोदनाख्यस्य निमित्तस्य परीक्षणमस्मिन् पादे वक्ष्यमाणम् 'अथातः शेषलक्षणम्' 'अथ विशेषलक्षणम्' इतिवत् सुखग्रहणार्थमनुकीर्त्यते।।३।।



सूत्रार्थ— तस्य = पूर्वोक्त धर्म का जो निमित्त है, उसकी परीष्टिः = परीक्षा अर्थात् अब प्रतिपादन करना आरम्भ कर रहे हैं— सूत्रगत निमित्त शब्द लक्षणपरक है। 'निमित्तं हेतुलक्ष्मणो' इस अमरकोष के अनुसार यहाँ पर लक्षण शब्द प्रमाणपरक ही समझना चाहिये।

इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार पार्थसारिथि मिश्र व्याख्या के द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं— **अनेन सूत्रेणेति**। इस तृतीय सूत्र से बताया जा रहा है कि चतुर्थ सूत्र से आरम्भ कर वक्ष्यमाण धर्मप्रमाणपरीक्षण किया जायेगा। जिससे वक्ष्यमाण परीक्षण करने की ओर शिष्य (छात्र) समूहवर्ग सावधान हो जाये। वक्ष्यमाण प्रमाण कथन की सूचना प्राप्त होने से शिष्यवर्ग यह जान सके कि अग्रिम ग्रन्थ प्रमाणपरीक्षापरक है। वक्ष्यमाण सूत्रों के अर्थ को विना सुने भी सूखपूर्वक अर्थात् अनायास ही समझयें। जैसे— वक्ष्यमाण शेषलक्षण का निश्चय कर पाने की सूचना अथातः पदों से दी जाती है। अथवा जैसे वक्ष्यमाण विशेष-लक्षण की सूचना अथ विशेषः आदि कहकर दी जाती है, उसी तरह यहाँ पर भी जान लेना चाहिये। धर्म जानने के लिये धर्मबोधक प्रमाण की परीक्षण करना इस तृतीय अधिकरण का विषय है।

इस अधिकरण में संशय यह प्रदर्शित किया है कि धर्मबोधन में जो प्रमाण है, उसकी परीक्षा होनी चाहिये अथवा नहीं? उस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रमाण का कथन करने से प्रमेय का यथार्थ ज्ञान स्वत एव हो जाता है, अतः प्रमाण की परीक्षा करना आवश्यक नहीं है। उसपर सिद्धान्ती कहता है कि धर्मज्ञानार्थ उसके प्रमाण की परीक्षा आवश्यक है; क्योंकि यह तो विचारशास्त्र है। मनु-याज्ञवल्क्य प्रोक्त धर्मशास्त्र के समान यह विचारशास्त्र कोई उपदेशशास्त्र नहीं है। इसीलिये धर्म के प्रमाण की परीक्षा करनी ही चाहिये।



चतुर्थं धर्मे प्रत्यक्षस्याऽप्रामाण्याधिकरणम्

चोदनैवेत्यस्याऽर्थस्य साधनाय प्रत्यक्षादीनामनिमित्तत्वमुच्यते—

सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म, तत् प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्।।४।।

सूत्रार्थ— इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों के, सत्सम्प्रयोगे = विद्यमान अर्थ (पदार्थ = वस्तु) के साथ सम्बन्ध = सम्पर्क होने पर, पुरुषस्य = मनुष्य की जो बुद्धिजन्म = ज्ञानोत्पत्ति होती है, तत् प्रत्यक्षम् = उसे प्रत्यक्ष कहते हैं, विद्यमानोपलम्भनत्वात् = विद्यमान (अस्तित्व के रूप में वर्तमान) वस्तु का उपलम्भक = ज्ञापक (बोधक) होने से, अनिमित्तम् = धर्म का ज्ञान कराने में निमित्त = कारण नहीं हो सकता।

ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र ने 'चोदनैव' कहकर चतुर्थसूत्र 'सत्सम्प्रयोगे' की अवतरणिका प्रदर्शित की है। धर्मबोध कराने में चोदना वाक्य अर्थात् विधिवाक्य ही प्रमाण है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है। इस तथ्य को सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अनिमित्तत्व (अप्रमाणत्व) बता रहे हैं— 'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्'।

प्रत्यक्षं तावदिन्द्रियार्थसम्प्रयोगजन्यत्वेन विद्यमानोपलम्भनत्वाद् भविष्यति धर्मे, न निमित्तम्। सत्सम्प्रयोगजन्यत्वमाभासेऽपि तुल्यत्वादलक्षणमिति नैयायिका दूषयन्ति, तत्तु लक्षणाऽनभिधानाददूषणम्। न हीदं लक्षणं प्रत्यक्षस्य, किन्त्वनिमित्तत्वकथनमात्रम्। तत्र हेतुः विद्यमानोपलम्भनत्वं तत्साधनं च, सत्सम्प्रयोगजम्। न हि सत्सम्प्रयोगजमविद्यमानोपलम्भनं सम्भवति।

'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्' धर्म में चोदना (विधि) ही प्रमाण है, यह कहकर जो अन्ययोग व्यवच्छेद किया है, वह (अन्यान्य प्रमाण के सम्बन्ध का निषेध) तभी हो पायेगा, जब चोदना (विधि) के अतिरिक्त किसी भी प्रमाण का विषय धर्म नहीं बनेगा। तथा च 'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्' इस अन्ययोग का व्यवच्छेद सिद्ध करने के लिये कहा जा रहा है कि प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों में धर्मरूप प्रमेय का ज्ञान कराने का सामर्थ्य (शक्ति) नहीं है— इस तथ्य को सत्सम्प्रयोगे सूत्र के द्वारा कहा जा रहा है। मनुष्य की इन्द्रियों का सता अर्थात् विद्यमान पदार्थ के साथ सम्प्रयोगे सति = सम्बन्ध होने पर यद् बुद्धिजन्म = जो ज्ञानोत्पत्ति होती है (ज्ञान उत्पन्न होता है) तत् प्रत्यक्षम् = उसे प्रत्यक्ष

शब्द से कहा जाता है। वह प्रत्यक्ष धर्म में प्रमाण नहीं है, अर्थात् वह (प्रत्यक्ष) धर्म का बोधक नहीं है (प्रत्यक्ष प्रमाण से धर्म का ज्ञान नहीं होता है); क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण तो विद्यमानोपलम्भकत्वात् = विद्यमान पदार्थ (वस्तु) का उपलम्भक = बोधक (ज्ञापक) हुआ करता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि— सता सम्प्रयोग: = सत्सम्प्रयोग: तस्मिन् अर्थात् विद्यमान पदार्थ (वस्तु) के साथ इन्द्रियों का सम्प्रयोग (सम्बन्ध = सन्निकर्ष) होने पर जो घटज्ञान होता है 'तत् प्रत्यक्षम्' उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। 'शुक्तौ इदं रजतम्' शुक्ति (सीप) में जो रजतज्ञान होता है, वहाँ रजत विद्यमान नहीं है। इसी कारण उसी ज्ञान को (रजत ज्ञान को) प्रत्यक्ष शब्द से नहीं कहा जाता। अपितु उसे भ्रम शब्द से कहा जाता है। अर्थात् शुक्ति को देखकर उसे रजत समझना भ्रम (भ्रान्ति) ही है। अत: भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं है और अनुमान आदि प्रमाणों में तो विषय (पदार्थ = वस्तु) के साथ इन्द्रिय-सम्प्रयोग ही नहीं है। इन्द्रियों के साथ पदार्थ का सम्बन्ध ही न हो पाने से अनुमान का निराकरण हो जाता है अर्थात् अनुमानादि प्रमाणों में भी अतिव्याप्ति नहीं है। प्रत्यक्षप्रमाण तो इन्द्रियसन्निकृष्ट = इन्द्रिय से सम्बद्ध हुए पदार्थ (वस्तु) का ही ज्ञान कराता है। इन्द्रिय से असम्बद्ध रहने वाली वस्तु का ज्ञान उससे नहीं हुआ करता। प्रस्तुत चर्चा धर्म पदार्थ की हो रही है। वह धर्म तो अभी भावी पदार्थ के रूप में है अर्थात् भविष्यत् कालिक है, उसी कारण उसे विद्यमान नहीं कर सकते। दूसरी बात यह भी है कि वह (धर्म) अतीन्द्रिय भी है अर्थात् इन्द्रिय से परे है। उसी कारण धर्म को प्रत्यक्षप्रमाण का विषय नहीं कह सकते। इसी तथ्य को विद्यमानोपलम्भनत्वात् से कहा गया है। निष्कर्ष यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से केवल विद्यमान (वर्त्तमान) वस्तु का ही ज्ञान हो पाता है। विद्यमानोपलम्भत्व में इन्द्रियार्थसंयोगजन्यत्व ही कारण (हेतु) है। धर्म की विद्यमानता की स्थिति में भी उसका (धर्म का) प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि वह अतीन्द्रिय है।

प्रश्न— नैय्यायिक विद्वान् 'सत्सम्प्रयोगे' इस चतुर्थ सूत्र को प्रत्यक्ष का लक्षण समझकर कह रहे हैं; किन्तु यह प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं हो सकता; क्योंकि सत्सम्प्रयोगजन्यत्व जैसा प्रत्यक्ष में हैं, वैसा प्रत्यक्षाभास (भ्रम) में भी है। एवंच इन्द्रियार्थसंयोग से उत्पन्न होने के कारण तथा विद्यमान अर्थ (विषय = पदार्थ) का ग्राहक होने के कारण प्रत्यक्ष को अनागत (भविष्यत्कालिक) धर्म का बोधक (प्रमाण) नहीं कह सकते।

उत्तर— नैयायिक विद्वान् सत्सम्प्रयोगे को प्रत्यक्ष का लक्षण समझकर जो अव्याप्ति दोष प्रदर्शित कर रहे हैं, वह यहाँ पर सङ्गत (उत्पन्न) नहीं हो रहा है; क्योंकि हम यहाँ पर प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं बना रहे हैं। सिद्धान्ती अपने इसी अभिप्राय को **न हीदं लक्षणं प्रत्यक्षस्य** कहकर स्पष्ट कर रहे हैं— सिद्धान्ती का कहना है कि हमलोग प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं बना रहे हैं। हमारा कहना तो यह है कि धर्म का ज्ञान (बोध) कराने में प्रत्यक्ष प्रमाण अनिमित्त है अर्थात् निमित्त नहीं है। एवंच प्रत्यक्ष प्रमाण से धर्म का

बोध (ज्ञान) नहीं हो सकता— यह बताने के लिये ही यह सत्सम्प्रयोगे सूत्र रचा गया है। प्रत्यक्ष से धर्म का ज्ञान न होने में हेतु (कारण) बताया है— 'विद्यमानोपलम्भनत्वात्'। निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्यक्ष से विद्यमान वस्तु (अर्थ = विषय) का ही ज्ञान (ग्रहण) हो सकता है। अतः यह समझना होगा कि जहाँ-जहाँ 'सत्सम्प्रयोगजत्व' होगा, वहीं पर विद्यमानोपलम्भनत्व होगा। एवंच विद्यमानोपलम्भनत्व में सत्सम्प्रयोगजत्व हेतु है। एवंच सत्सम्प्रयोगज (विद्यमान वस्तु के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होकर जो ज्ञान होगा) ज्ञान से अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण (ज्ञान) से अविद्यमानोपलम्भन (अविद्यमान पदार्थ (वस्तु) का ज्ञान) होना कदापि सम्भव नहीं है। अर्थात् प्रत्यक्ष से जो ज्ञान होगा, वह केवल विद्यमान पदार्थ का ही (ज्ञान) होगा। इसीलिये इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष भी अविद्यमान पदार्थ (वस्तु) का (धर्म का) ज्ञान नहीं करा पायेगा।

इन्द्रियार्थसंयोगजत्वं सुखादिज्ञानेष्वव्याप्तेरहेतुरिति चेत्? न, तेषामपि मनस्संज्ञकेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वात्। मनःसद्भावे च सुखादिज्ञानमेव प्रमाणम्, अपरोक्षावभासज्ञानस्येन्द्रियाधीनतया रूपादिज्ञानेषु व्याप्ति-दर्शनात् सुखादिविषयमपरोक्षज्ञानमिन्द्रियमनुमापयति। तत्र चक्षुरादीनाम-सम्भवात् तेभ्योऽन्यदवतिष्ठते।

प्रश्न— इन्द्रियार्थसंयोगजत्वमिति। इन्द्रियार्थसम्प्रयोगजत्व (इन्द्रियार्थसम्प्रयोग-जन्यत्व) रूप प्रत्यक्षलक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है। उपर्युक्त अव्याप्ति-अतिव्याप्ति आदि दोषों के परिज्ञानार्थ प्रथमतः यह समझना होगा कि जहाँ हेतु हो, वहाँ साध्य अवश्य ही रहा करता है। जैसे— 'यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः' अर्थात् जहाँ-जहाँ मूलतः अविच्छिन्न रूप से निकलने वाली धूमरेखा दिखाई दे, वहाँ अवश्य ही अग्नि का होना अनिवार्य है। धूम और वह्नि के इसी साहचर्य को व्याप्ति शब्द से कहा जाता है। इसीलिए 'यत्र-यत्र सत्सम्प्रयोगजत्वं तत्र-तत्र विद्यमानोपलम्भनत्वम्' यहाँ पर भी समझना होगा कि जहाँ-जहाँ सत्सम्प्रयोगजत्व (सत्सम्प्रयोगजन्यत्व) होगा, वहाँ-वहाँ अवश्य ही 'विद्यमानोपलम्भनत्व' रहेगा। एवंच विद्यमानोपलम्भनत्व साध्य का सत्यसम्प्रयोगजत्व हेतु है। निष्कर्ष यह है कि जहाँ सत्सम्प्रयोग हो और विद्यमानोपलम्भन न हो— यह हो ही नहीं सकता। सत्सम्प्रयोग होने पर विद्यमानोपलम्भन का होना अनिवार्य ही है। एवंच सत्सम्प्रयोगजन्य ज्ञान से अविद्यमान पदार्थ का ज्ञान नहीं होगा। धर्म पदार्थ तो अविद्यमान है, उसका ज्ञान सत्सम्प्रयोगजन्य प्रत्यक्ष से कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

भाष्यकार शबरस्वामी ने धर्म का प्रत्यक्ष न हो सकने में तीन अनुमान प्रदर्शित किये हैं—

(१) 'योगिप्रत्यक्षं, धर्मे न प्रमाणम्, प्रत्यक्षत्वात्, अस्मदादिप्रत्यक्षवत्' अर्थात् धर्म में योगियों का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्षत्व होने से अस्मदादिकों के प्रत्यक्ष के समान।

(२) 'प्रत्यक्षं धर्माऽधर्मगोचरम् विद्यमानोपलम्भनत्वात्' अर्थात् धर्माऽधर्म प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है; क्योंक वह विद्यमान वस्तु का ग्राहक (ज्ञापक = बोधक) हुआ करता है।

(३) 'प्रत्यक्षं विद्यमानोपलम्भकं वर्तमानेन्द्रियार्थसंयोगजन्यत्वात्' अर्थात् प्रत्यक्ष-प्रमाण विद्यमान पदार्थ का ही ग्रहण करता है; क्योंकि वह इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न होता है।

उक्त तीनों अनुमानों में योगिप्रत्यक्ष को ही पक्ष रखा गया है। अस्मदादिकों को प्रत्यक्ष साध्य का साधन करने में दृष्टान्तरूप है। इसलिये दृष्टान्ताऽसिद्धि अथवा सिद्ध-साधनता आदि दोषोद्भावन नहीं कर सकते।

प्रश्न— इन्द्रियार्थसंयोगजत्वमिति। इन्द्रियार्थसंयोजत्वं (इन्द्रियार्थसंयोगजन्यत्वम्) इस प्रत्यक्ष-लक्षण में अव्याप्ति दोष है; क्योंकि विद्यमानोपलम्भनत्व का साधन (हेतु) इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व है। उसी कारण सुख-दु:खादि के प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष-जन्यत्व रूप हेतु के न रहने से व्याप्तिदोष हो रहा है; क्योंकि सुखदु:खादि के प्रत्यक्ष होने में चक्षुरादि इन्द्रिय का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) नहीं है। उसी कारण प्रत्यक्ष ज्ञान होने में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को कारण (हेतु) नहीं कहते। अत: प्रत्यक्षलक्षण की (इन्द्रियार्थ-संयोगजत्व की) सुखादि के प्रत्यक्ष ज्ञान में अव्याप्ति हो रही है। इसी कारण 'इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्यत्वं प्रत्यक्षत्वम्' इस लक्षण को (ठीक) कहना कैसे उचित.हो सकता है?

उत्तर— न तेषामपीति। उपर्युक्त अव्याप्ति दोष का निरसन कर देते हैं। निरसन इस प्रकार है— सुख-दु:खादि का प्रत्यक्ष भी मन:संज्ञक जो इन्द्रिय है, उसी से होता है। अर्थात् मन:संज्ञक इन्द्रियसन्निकर्ष से ही सुख-दु:खादि का प्रत्यक्ष होता है। मन का सुख-दु:ख के साथ जब संयोग सम्बन्ध होता है, तभी उनका प्रत्यक्ष हो पाता है अन्यथ नहीं। यह जो मन है, वह भी इन्द्रिय ही है। एवंच सुख-दु:खादि के प्रत्यक्षज्ञानोत्पत्ति में भी सत् सम्प्रयोगजन्यत्व (सत्सम्प्रयोगजत्व) के रहने से अव्याप्ति दोष नहीं है।

प्रश्न— मन:संज्ञक इन्द्रियसन्निकर्ष से सुखादि का प्रत्यक्षज्ञान होता है, उसी कारण अव्याप्ति नहीं है— यह कहना तो ठीक है, किन्तु मन के अस्तित्व में कोई प्रमाण भी तो होना चाहिये। केवल मन शब्द के उच्चारणमात्र से तो मन का अस्तित्व नहीं हो पायेगा; क्योंकि 'मानाधीना मेयसिद्धि:' हुआ करती है। केवल कथनमात्र से प्रमेय सिद्धि नहीं हो पायेगी।

उत्तर— मन:सद्भावे चेति। मन के अस्तित्व में सुख-दु:खादि का ज्ञान होना ही प्रमाण है। यह नियम है कि जो भी प्रत्यक्षज्ञान होता है, वह इन्द्रियजन्य ही होता है। जैसे— रूपादि का प्रत्यक्ष चक्षुरिन्द्रियजन्य ही होता है। चक्षुरिन्द्रिय न होने पर नहीं होता। इसीलिये सूरदासों (अन्धों) को रूप का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। एवंच सुख-दु:खादि का प्रत्यक्षज्ञान भी इन्द्रियजन्य ही कहना होगा; क्योंकि वह अपरोक्षज्ञान है। अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान

है। जब-जब अपरोक्षावभासज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) हो, वह इन्द्रियाधीन ही होता है, जैसे— रूपज्ञान। यह व्याप्ति (नित्य सम्बन्ध) सर्वत्र दिखाई देती है। इस व्याप्ति के कारण अनुमान प्रयोग भी किया जा सकता है।

सुखादिविषयमपरोक्षज्ञानमिन्द्रियमनुमापयतीति। जैसे रूपादिप्रत्यक्ष इन्द्रिय-जन्य ही होता है, वैसे ही उक्त व्याप्ति के बल पर यह अनुमानप्रयोग किया जा सकता है— सुखादिसाक्षात्कार: (सुखादि-विषयमपरोक्षज्ञानम्) करण (इन्द्रिय) जन्य:, साक्षात्कार-त्वात्, रूपादिसाक्षात्कारवत्— इस अनुमान में सुखादिसाक्षात्कार पक्ष है, करणजन्यत्व साध्य है। साक्षात्कारत्वात् हेतु है। रूपादिसाक्षात्कारवत् दृष्टान्त है। इससे यह समझ में आता है कि करण के विना कोई कार्य नहीं हुआ करता। प्रस्तुत में सुखादि साक्षात्कार कार्य है, उसका कोई कारण तो होना ही चाहिये। जैसे— रूपसाक्षात्कार चक्षुरूप करण से होता है, उसी प्रकार सुख-दु:खादि साक्षात्कार भी कार्यरूप है, उसी कारण उसे भी करणजन्य कहना ही होगा। उसके करण चक्षुरादि तो हो नहीं सकेंगे, इसीलिये चक्षुरादि इन्द्रियों से भिन्न कोई करण होगा— यह अनुमान होता है। अत: मन के अस्तित्व में सुखादिज्ञान ही प्रमाण है। इस रीति से मन की सिद्धि निर्बाधरूप से हो जाती है।

अत्र कश्चित्— नित्यद्रव्यगतविशेषगुणत्वात् सुखादीनां द्रव्यान्तर-संयोगजत्वम्, पार्थिवपरमाणुगतरूपादीनामग्निसंयोगजत्वदर्शनात्, यच्च द्रव्यान्तरं तन्मन इत्याह।

प्रभाकर के अनुसार मन की सिद्धि— प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार मन का अस्तित्व इस प्रकार से सिद्ध किया जाता है— **अत्र कश्चिदिति**। ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र ने कश्चित् शब्द से प्रभाकरगुरु के शिष्य शालिकनाथ को निर्दिष्ट किया है। मन के अस्तित्व के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण यह है कि द्रव्यान्तर के संयोग से नित्य द्रव्य में विशेष गुण उत्पन्न होते हैं। जैसे पार्थिव परमाणुओं में रूपादिविशेषगुण अग्निसंयोग से उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार आत्मा में सुखादि विशेष गुण भी द्रव्यान्तर के संयोग से उत्पन्न हुआ करते हैं, यहाँ पर निर्दिष्ट जो द्रव्यान्तर है, वही मन है। एवंच 'सुखादय: आत्ममन:संयोगजन्या:' इस रीति से मन की सत्ता (अस्तित्व) का अनुमान किया जाता है।

मन की सिद्धि के विषय में प्राभाकर कहते हैं— या द्रव्यजातिगुणेष्विन्द्रियसंयोगोत्था सा प्रत्यक्षा प्रतीति:। कानि पुनरिन्द्रियाणि? घ्राण-नयन-रसनत्वक्-श्रवणानि बाह्यानि, आन्तरं च मन:। किं पुन: तेषामस्तित्वे भेदे च प्रमाणम्? उच्यते— विषयावबोधस्तावत् कादाचित्को दृश्यते, तस्य चात्मा समवायिकारणम्, असमवायिकारणेन च विना कार्यं न जायते इति। तच्च समवायिकारणप्रत्यासन्नं भवति, प्रत्यासत्तिश्च द्विधा दृष्टा— तत्सम-वायस्तत्कारणसमवायश्च। तत्र तावदात्मनो नित्यत्वात् तत्कारणसमवेतसमवायिकारणं न भवतीत्यात्मसमवेतमेव गुणान्तरसमवायिकारणमाश्रयणीयम्, तत्र च नित्यद्रव्यसमवायिनो

वैशेषिकगुणस्य द्रव्यान्तरसंयोग एवाऽसमवायिकारणत्वेनाऽवधारितः। तस्य च द्रव्यस्याश्रयभूतद्रव्यान्तरसद्भावे प्रमाणाऽभावाद्द्रव्यद्रव्यत्वं निश्चीयते, द्विविधं च अद्रव्यद्रव्यम्— परममहदाकाशा-दिकं परमाणुरूपं च। तत्राऽस्य द्रव्यान्तरस्य परममहत्त्वोपगमे संयोग एवं अनुपपन्नः संयोगकारणाऽ-भावात्, यो हि संयोगः साक्षात् प्रतीयते सोऽन्यतरकर्मजो वा उभयकर्मजो वा संयोगजो वा तेन नियतकारणत्वेन संयोगस्य अवगतत्वात्, तद्भावे संयोग एव नास्तीति निश्चीयते, न च परममहतोः साक्षात् संयोगो भवति, न चाऽप्यनुमातुं शक्यते इति पारिशेष्यात् अणुत्वमेव तस्य द्रव्यान्तरस्य आश्रीयते। अणुत्वे तत्कर्मवशादेव संयोगादयोऽनुपपन्न न भवति, तत्कर्मोत्पत्तौ प्रयत्नवदात्मसंयोग एव कारणम्। सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नानुभवे च तद् द्रव्यं मनःशब्दाभिधेयं निरपेक्षं कारणम्। सर्वार्थस्मृतौ च पूर्वजनितसंस्कारोद्बोधसहकार्याऽनुगृहीतमिति वेदितव्यम्। तथा तेनाऽभ्यन्तराणां सुखादीनां ग्रहणे सन्निकर्षद्वयं कारणम्, आत्ममनःसन्निकर्षः संयोगारब्धः, सुखादिमनःसन्निकर्षश्च संयुक्तसमवायलक्षणः। बाह्यरूपादिग्रहणे च सन्निकर्षचतुष्टयं कारणम्, आत्ममनःसन्निकर्षो, मन-इन्द्रियसन्निकर्षो, द्रव्येन्द्रियसन्निकर्षो, रूपादीन्द्रियसन्निकर्षश्च' इत्यादि।

तन्न युक्तम्। शरीरं हि भोगायतनम्, किञ्च तस्य भोगायतनत्वमन्यत् तत्संयोगापेक्षसुखाद्युत्पत्तेः? अशितपीताद्याधारत्वाच्च न बहिःशरीरात् सुखाद्युत्पत्तिः। अतः शरीरसंयोगादेव सिद्धेर्न द्रव्यान्तरानुमानम्।

किञ्च पार्थिवगुणानामेव द्रव्यान्तरसंयोगापेक्षा दृष्टा, न द्रव्यमात्रगुणानाम्। तेजःसंयोग एव च कारणतया दृष्टो न द्रव्यमात्रसंयोगस्तस्मान्नैवं मनःसिद्धिरिति सुखाद्यपरोक्षज्ञानमेव मनसो लिङ्गम्।

उपर्युक्त प्राभाकरमत का खण्डन— तन्न युक्तमिति। उपर्युक्त प्राभाकर मत उचित नहीं है। प्राभाकर मत का अनौचित्य बता रहे हैं— **शरीरं हि भोगायतनमिति**। भोगों का आयतन शरीर ही है। सुख-दुःख के साक्षात्कार को ही भोग कहते हैं और आयतन का अर्थ है— अवच्छेदक। आत्मा को जब भी सुख आदि का अनुभव होगा, तो शरीरावच्छेद से ही होगा। अर्थात् शरीर के माध्यम से ही होगा। शरीर के संयोग-सम्बन्ध से सुखादि की उत्पत्ति होती है। शरीर से भिन्न अन्य कोई भी भोगायतन नहीं हो सकता और यह शरीर ही अन्न-पान का अधिकरण (आधार) भी है। सुख आदि की उत्पत्ति, शरीर से बाहर नहीं हुआ करती। अर्थात् शरीरात्मसंयोगरूप असमवायिकारण से सुखादि की उत्पत्ति होती है और खाना-पीना आदि सहकारीकारण है। जहाँ सहकारीकारण रहते हैं, वहीं पर कार्य होता है। इन सहकारी कारणों का सम्बन्ध शरीरावच्छेद से (शरीर के माध्यम से) ही होना शक्य है। उसी कारण शरीर के भीतर ही शरीर आत्मा के संयोग से सुखादि उत्पन्न होते हैं, शरीर के बाहर नहीं। अतः शरीर के संयोग से ही सुख आदि की उत्पत्ति होने से द्रव्यान्तर का अनुमान नहीं किया जा सकता।

किञ्च पार्थिवगुणानामेव द्रव्यान्तरसंयोगापेक्षा दृष्टा, न द्रव्यमात्र गुणानाम् इति। द्रव्यान्तर का अनुमान न होने में और भी एक कारण है। पार्थिव गुणों की उत्पत्ति में ही द्रव्यान्तरसंयोग की अपेक्षा होती देखी गई है, द्रव्यमात्रगुणों की अपेक्षा नहीं की जाती। उसमें भी तेज का संयोग ही कारण के रूप में देखा जाता है, द्रव्यमात्र का संयोग कारण के रूप में नहीं। उसी कारण प्राभाकरों के उपर्युक्त कथनानुसार मन की सिद्धि नही हो पा रही है और मन के विना सुखादिसाक्षात्कार होना शक्य नहीं है। इसीलिये मन का अनुमापक हेतु सुखादिसाक्षात्कार ही है।

किञ्च— आत्मा के सुखादि गुणों की उत्पत्ति में द्रव्यान्तर संयोग की अपेक्षा नहीं हुआ करती। अन्यथा जलीय परमाणुगत रस में नित्यत्व नहीं हो सकेगा। किञ्च पार्थिवगुणों की उत्पत्ति में भी तेज:सयोग ही कारण हुआ करता है, न कि द्रव्यमात्र संयोग। अत: सुखादि की उत्पत्ति में मन:संयोग की अपेक्षा नहीं है। इसीलिये प्रभाकर के कथनानुसार मन:सिद्धि (मन के अस्तित्व की सिद्धि) का होना सम्भव नहीं है; किन्तु सुखादि का अपरोक्षज्ञान (प्रत्यक्ष अनुभव) मन के विना होना सम्भव ही नहीं है, इसीलिये सुखाद्यपरोक्षज्ञान ही मन के अस्तित्व में हेतु = कारण है।

(इन्द्रियलक्षणम्)

किं पुनरिन्द्रियलक्षणं चक्षुरादिषु मनसिचा नुस्यूतम्? उच्यते— यत् सम्प्रयुक्तेऽर्थे विशदावभासं विज्ञानं जनयति तदिन्द्रिय मित्युच्यते। तच्च द्विविधम्— बाह्यमाभ्यन्तरं च। बाह्यं पञ्चविधम्— घ्राणरसन-चक्षुस्त्वक्श्रोत्रात्मकम्। आन्तरं त्वेकं मनः। तत्र आद्यानि चत्वारि च पृथिव्यप्तेजोवायुप्रकृतीनीत्यक्षपाददर्शनवदभ्युपगम्यन्ते। श्रोत्रं त्वाका-शात्मकं तैरभ्युपगतं, वयं तु— 'दिशः श्रोत्रम्' इति दर्शनात् दिग्भाग-मेव कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं श्रोत्रमाचक्ष्महे। मनस्तु पृथिव्यादीनामेवा-न्यतमात्मकं तेभ्योऽन्यद् वा सर्वथा तावदस्ति मनः।

तच्चात्मतद्गुणेष्वेव स्वतन्त्रं प्रवर्तते, न बाह्येषु रूपादिष्वित्यान्तरमित्युच्यते। रूपादिज्ञानेष्वपि तच्चक्षुरादिसहायं प्रवर्तते। एवमनुमानादिष्वपि लिङ्गादि-सहायम्। अन्यमनस्कस्य सम्प्रयुक्तेष्वपि रूपादिषु ज्ञानानुत्पत्तेः। स्मृतावपि संस्कारपरतन्त्रं प्रवर्तते, न स्वतन्त्रम्।

प्रश्न— किं पुनरिन्द्रियलक्षणं चक्षुरादिष्विति। यदि ज्ञानजनक इन्द्रियों के समान मन को भी ज्ञानजनक इन्द्रिय कहा जाय तो इन्द्रिय का लक्षण बताइये, जो चक्षुरादि इन्द्रियों में तथा मन में अनुस्यूत (व्याप्त) हो सके। इस अभिप्राय से ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र कह रहे हैं— 'किं पुनरिन्द्रियलक्षणम् चक्षुरादिषु मनसि चानुस्यूतम्?

उत्तर— उच्यते, यत् सम्प्रयुक्तेऽर्थे विशदावभासमिति। इन्द्रिय का लक्षण यह

है कि स्वसंयुक्त विषय का विशदावभास अर्थात् अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान जो कराता है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। तथाच— 'अपरोक्षज्ञानजनकत्वमिन्द्रियत्वम्'। जैसे— चक्षुरादिकों में जो इन्द्रियत्व है, वह रूपादिविषयक अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान का उत्पादक होने के कारण ही माना जाता है, उसी तरह मन का इन्द्रियत्व भी सुखादिविषयक अपरोक्षज्ञान-जनक होने के कारण ही है।

तच्च द्विविधमिति। बाह्य और आभ्यन्तर भेद से वह इन्द्रिय दो प्रकार का होता है। उनमें से बाह्य इन्द्रियाँ पाँच प्रकार की होती हैं— घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र। और आन्तर इन्द्रिय एक मन ही है। इन परिगणित इन्द्रियों में से आद्य चार इन्द्रियाँ— पृथिवी, अप्, तेज, वायु कारण हैं, जिन्हें अक्षपाददर्शन (न्यायदर्शन) के समान ही स्वीकार किया गया है। न्यादर्शन ने श्रोत्र इन्द्रिय को आकाशात्मक (आकाशरूप) माना है। किन्तु मीमांसकों ने उसे दिशःश्रोत्रम् इस श्रुति के अनुसार कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न दिग् भाग को ही श्रोत्र के रूप में माना है।

मन को पृथिवी आदिकों में से ही अन्यतम अथवा उनसे अतिरिक्त ही मान ले तो भी कोई हानि नहीं है, कुछ भी हो मन का अस्तित्व तो है ही। मन के आन्तर (आभ्यन्तर) होने में कारण यह है कि 'तच्च श्रोत्रं तद्गुणेष्वेव स्वतन्त्रं प्रवर्तते, न बाह्येषु रूपादिषु इत्यान्तरमित्युच्यते। रूपादिज्ञानेष्वपि तच्चक्षुरादिसहायं प्रवर्तते'। आत्मा और आत्मगुणों के ग्रहण करने में परापेक्षा न होने से वह स्वतन्त्र है। किन्तु बाह्य रूप आदि के ग्रहण में उसे चक्षुरादि की अपेक्षा रहती है। उसी कारण वह पूर्ण स्वतन्त्र भी नहीं है— इसी कारण मन को आन्तर इन्द्रिय कहा जाता है।

प्रश्न— रूपादिकों के ग्रहण करने में केवल चक्षुरादिकों को ही कारण माना जाय, मन को कारण मानने की क्या आवश्यकता?

उत्तर— मनुष्य जब अन्यमनस्क रहता है तब रूपादि के साथ चक्षुरादि का संयोग रहने पर भी रूपादिविषयक ज्ञान नहीं हो पाता है, किन्तु तन्मनस्क होने पर रूपादि विषयों का ज्ञान होता है। इस अन्वय व्यतिरेक से स्पष्ट हो रहा है कि रूपादि विषयक के ग्रहण करने में मन भी कारण है। स्मर्यमाण विषय का स्मरण करने में भी मन संस्कारपरतन्त्र ही रहता है, वहाँ भी वह स्वतन्त्र नहीं है।

नन्वनुमानादीनां मनोजन्यत्वात् तेषां च भूतभविष्यतोरपि प्रवृत्तेरिन्द्रिय-जन्यत्वं विद्यमानोपलम्भनत्वेनाऽनैकान्तिकं स्यात्। न स्यात्— न हीन्द्रियजन्यत्वं हेतुः, किंत्विन्द्रियसम्प्रयोगजत्वम्। न चाऽनुमानेऽतीताया भविष्यन्त्या वा वृष्टेनुमीयमानाया मनसा सम्प्रयोगोऽस्तीत्यव्यभिचारः।

(अथ प्रत्यक्षम्)

तदेवं प्रत्यक्षं तावदनिमित्तं तत्पूर्वकत्वाच्चानुमानाद्यपि। न ह्यगृहीते

धर्मे तेन सह कस्यचित् सम्बन्धग्रहणं सम्भवति। सादृश्यविषयकत्वाच्चोपमानं दूरभ्रष्टम्। अर्थापत्तिरपि धर्मेण विनाऽनुपपद्यमानस्य कस्यचिददर्शनादसमर्था।

शङ्का— इन्द्रियसंयोगजन्यत्व और विद्यमानोपलम्भनत्व— दोनों की समव्याप्ति है, उसे दूषित करने के लिये पूर्वपक्षी 'नन्वनुमानादीनां मनो जन्यत्वात्' कहकर शङ्का कर रहा है कि अनुमानादि प्रमाण भी मनोजन्य है, अतएव उनकी प्रवृत्ति अतीत तथा अनागत (भविष्यत्) विषयों में भी होती है। अतीत (भूतकालिक) तथा अनागत (भविष्यत्कालिक) विषय के अनुमान में भी प्रवृत्ति होती है। एवंच अतीतानुमान में तथा भविष्यत् विषयक अनुमान में इन्द्रियजन्यत्व है; किन्तु विद्यमानोपलम्भनत्व नहीं है— इसीलिये पूर्वकथित अनुमान में व्यभिचार है। अर्थात् लिङ्ग आदि का सहायक मन अनुमान करने में प्रवृत्त होता है, उसी कारण अनुमानादि मनोजन्य हैं, अर्थात् उन अनुमान आदि की भूत-भविष्यत् के विषयों में प्रवृत्ति होती है। निष्कर्ष यह है कि अनुमानादि में भूत-भविष्यत् विषयों का ग्राहकत्व (बोधकत्व) भी है। उन भूत-भविष्यविषय-विषयक अनुमान में विद्यमानोपलम्भकत्व नहीं है, किन्तु मन इन्द्रिय होने से इन्द्रियजन्यत्व तो है ही, उसी कारण विद्यमानोपलम्भनत्वाऽभावविशिष्ट अनुमान में इन्द्रियजन्यत्व के रहने से इन्द्रियजन्यत्व में अनैकान्तिकत्व (व्यभिचारित्व) है।

समाधान— ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र 'न स्यात्' कहकर समाधान कर रहे हैं। पार्थसारथिमिश्र का कहना है कि पूर्वपक्षी के द्वारा जो व्यभिचार प्रदर्शित किया है, वह अनुचित है अर्थात् व्यभिचार नहीं है; क्योंकि 'इन्द्रियजन्यत्व' हेतु न होकर 'इन्द्रियसम्प्रयोगजत्व' हेतु है। अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय-जन्यत्व और विद्यमानोपलम्भनत्व— इन दोनों की व्याप्ति को हम नहीं बता रहे हैं, किन्तु इन्द्रियसम्प्रयोगजत्व और विद्यमानोपलम्भनत्व इन्हीं दोनों की व्याप्ति बता रहे हैं। तथाच— अनुमान में विद्यमानोपलम्भनत्व नहीं है, उसी कारण इन्द्रियसम्प्रयोगजत्व भी नहीं है। अत: व्यभिचार दोष का कोई ग्रन्थ तक नहीं है। अर्थात् भूत-भविष्यविषय-विषयक अनुमान में भूत-भविष्यत् विषय के साथ मन: संयोग नहीं है। नदी की बाढ़ होने से अतीतवृष्टि का अनुमान और पिपीलिका-(चीटी)ओं के अण्डसञ्चार के कारण भविष्यत् वृष्टि का अनुमान हो जाता है।

तदेवमिति। अत: उक्त रीति से विद्यमानोपलम्भनत्व के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म में निमित्त (प्रमाण = बोधक) नहीं है। तथा अनुमान आदि भी प्रत्यक्ष पूर्वक होने से धर्म में प्रमाण नहीं हो सकते; क्योंकि जब अग्नि (वह्नि) और धूम दोनों की व्याप्ति का ग्रहण (ज्ञान) होता है, तदनन्तर पुन: पर्वत पर धूम जब दिखाई दे, तब वहाँ अग्नि (वह्नि) का अनुमान हुआ करता है। किन्तु धर्म की तो किसी भी पदार्थ (वस्तु) के साथ व्याप्ति का ग्रहण (ज्ञान) ही नहीं है, उसी कारण अनुमानप्रमाण से धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। दूसरा कारण यह भी है कि धर्म वस्तु प्रत्यक्ष होने योग्य भी नहीं है, इसीलिये भी धर्म

का ज्ञान अनुमानादि प्रमाणों से होना कदापि सम्भव नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि अनुमान अथवा प्रत्यक्ष आदि से धर्म का ज्ञान होना कथमपि सम्भव नहीं है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र ने 'नहि अगृहीते धर्मे, तेन सह कस्यचित् सम्बन्ध ग्रहणं सम्भवति' कहकर बताया है। उसी तरह उपमान प्रमाण से भी धर्म का ज्ञान होना सम्भव नहीं है; क्योंकि उपमानप्रमाण से तो उपमान प्रतियोगिक उपमानानुयोगिक सादृश्यमात्र का ही ग्रहण हुआ करता है। अर्थात् उपमान प्रमाण तो सादृश्यविषयक होता है, उसी कारण उससे धर्म का ज्ञान होना सम्भव ही नहीं है। इस कथन से नैयायिकोक्त उपमान प्रमाण का शक्तिग्राहकत्व खण्डित हो जाता है। भट्टपाद कुमारिल कहते हैं—

एकस्मिन्नपि दृष्टेऽर्थे द्वितीयं पश्यता वने।
सादृश्येन सहैवास्मिँस्तदैवोत्पद्यते मतिः।।
तस्माद् यत् स्मर्यते तत् सादृश्येन विशेषितम्।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदोचितम्।। इति।

यहाँ तक नैयायिकोक्त प्रत्यक्षादि उपमानान्त प्रमाणों का धर्मज्ञान कराने में असामर्थ्य (अशक्तता) बताकर अब 'अर्थापत्तिरपि धर्मेण विनाऽनुपपद्यमानस्य कस्यचिद् अदर्शनात् असमर्था' इस ग्रन्थ से अर्थापत्ति प्रमाण से भी धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता— कहा है; क्योंकि अर्थापत्तिप्रमाण से तो अन्यथा अनुपपद्यमान पदार्थ की कल्पना कराई जाती है। जैसे– 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य में दिवा भोजन (दिन में भोजन) नहीं करता है— यह कहा गया है तथापि देवदत्त का पीनत्व (मुटापा) अर्थात् पुष्टत्व बताया जा रहा है। ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध प्रतीत हो रही है; क्योंकि भोजन बिना किये पुष्ट रहना सम्भव नहीं है अर्थात् अनुपपन्न है, उसी कारण रात्रिभोजन की कल्पना की जाती है, किन्तु धर्म के विना किसी पदार्थ (वस्तु) की अनुपपद्यमानता (असम्भवता) नहीं दिखाई देती, जिससे धर्मज्ञान की सम्भावना (कल्पना) की जाय। अर्थापत्ति शब्द का अर्थ है— कल्पना अर्थस्य आपत्तिः = कल्पना अर्थापत्तिः। एवंच धर्मस्वरूप का निश्चित (यथार्थ) ज्ञान कराने में अर्थापत्ति प्रमाण भी समर्थ नहीं है। अभिप्राय यह है कि अर्थापत्ति प्रमाण से भी धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता।

ननु जगद्वैचित्र्यमनुपपन्नम्? न, स्वाभाविकत्वेनोपपत्तेः। यद्यपि तदनुपपत्त्या किञ्चिददृष्टं कल्प्येत तथापि को धर्मः को वाऽधर्म इति विवेकाभावादवश्यं चोदनैवार्थनीया। सा चेदङ्गीकृता कृतमर्थापत्त्या, सामान्यतोदृष्टेन वा।

शङ्का— 'ननु जगद्वैचित्र्यम् अनुपपन्नम्' अर्थात् धर्म के विना कोई राजा है तो कोई भिक्षुक (दरिद्र) जगत् की विचित्रता कैसे सम्भव हो सकेगी?

समाधान— न, स्वाभाविकत्वेनोपपत्तेः। जगत् की विचित्रता को स्वाभाविक

मानने पर उसे असम्भवता दूर हो जाती है। अर्थात् जगत् का यह स्वभाव ही है कि वह सर्वदा विचित्र ही रहता है।

पूर्वपक्ष— कोई भी स्थिति स्वाभाविक नहीं हुआ करती। अन्यथा अर्थात् स्वाभाविक मानने पर स्वभाव का कभी विनाश नहीं होता। उसी कारण भिक्षुक सर्वदा ही रहेगा और राजा सर्वदा राजा ही रहेगा। किन्तु स्थिति सर्वदा एक सी नहीं रहती। भिक्षुक (भिखारी = दरिद्र) भी कदाचित् धनवान् हो जाता है। इसीलिये कहना पड़ेगा कि किसी भी कार्य का कोई कारण अवश्य ही रहता है। कारण का अन्वेषण करने पर स्वभाव को कारण कहना सम्भव नहीं है।

शङ्का— तब जगद्वैचित्र्य की उपपत्ति कैसे हो सकेगी? जब उसकी उपपत्ति नहीं हो पायेगी, तब जगद्वैचित्र्य का होना कभी सम्भव ही नहीं हो सकेगा। अत: उसके लिये धर्म की कल्पना (अदृष्ट कल्पना) करनी पड़ेगी। अर्थात् जगद्वैचित्र्यानुपपत्त्या जिस-किसी अदृष्ट की कल्पना की जायेगी, उसी को (उसी अदृष्ट को) धर्म शब्द से कहा जा सकेगा, तथापि अर्थापत्ति प्रमाण से धर्म के स्वरूप का निश्चय (अवधारण) करना सम्भव नहीं है; क्योंकि अर्थापत्ति से 'को धर्म:? को वा अधर्म:'? कौन सा धर्म है? कौन सा अधर्म है?— यह विवेक (विश्लेषण) करना सम्भव नहीं है। अत: धर्माऽधर्म के विवेकार्थ चोदना (विधिशब्द) का ही आश्रय करना होगा। एवंच 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम् अस्ति'। अर्थात् धर्म का ज्ञान कराने में एक मात्र विधि शब्द ही समर्थ है, अन्य कोई नहीं।

इसी प्रकार जब चोदना (विधिशब्द) को धर्म का बोधक अर्थात् धर्म के विषय में प्रमाण (बोधक) स्वीकार कर लिया गया तब अर्थापत्ति या अनुमान (सामान्यतोदृष्ट अनुमान) आश्रय करने की आवश्यकता ही क्यों होगी? सामान्य तो दृष्टानुमान से तो किसी भी पदार्थ का सामान्यरूप से (सामान्यतया) ज्ञान होता है, विशेषरूप (विशेषतया) से ज्ञान नहीं होता। सामान्यतोदृष्टानुमान का प्रयोग— जगद्वैचित्र्यं सकारणकं कार्यत्वात् घटवत्— इस अनुमानप्रयोग से सामान्यतया यह ज्ञात होता है कि जगद्वैचित्र्य का कोई कारण अवश्य ही है। इतना सामान्यरूप से ज्ञान होने पर विशेषज्ञान की जिज्ञासा जब हुई तब धर्माधर्म रूप विशेषज्ञान की प्रतीति हुई। उस धर्माधर्मरूप विशेषज्ञान को कराने वाली एक मात्र चोदना ही है, अर्थात् विधि शब्द ही है। निष्कर्ष यह है कि विधि शब्द से ही धर्माधर्म का ज्ञान विशेष रूप से होता है। अतएव 'धर्माधर्मस्वरूपस्य विशेषतो ज्ञाने चोदना एव प्रमाणम्' यह निश्चित किया गया है।

ननु विकल्पनिमित्तं सम्बन्धग्रहणं तत्कथं प्रत्यक्षपूर्वकत्वम्? सविकल्पकमप्यनुपरतेन्द्रियव्यापारस्य जायमानमपरोक्षावभासत्वात् प्रत्यक्षमेवेत्यदोष:।

'तदेवं प्रत्यक्षं तावदनिमित्तं तत्पूर्वकत्वाच्च अनुमानाद्यपि' यह जो कहा था उस पर

बौद्ध कहता है— ननु विकल्पनिमित्तं सम्बन्धग्रहणं, तत्कथं प्रत्यक्षपूर्वकत्वम्? इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है, एक निर्विकल्पक और दूसरा सविकल्पक। उनमें से पहिला जो निर्विकल्पक है वह विशेषण-विशेष्यभावाऽनवगाहि प्रत्यक्ष है। जैसे— घटघटत्वे। वही इन्द्रिय और अर्थ (पदार्थ) के संयोग (सम्बन्ध) के अनन्तर प्रथमतः हुआ करता है और विशेष्य-विशेषणभावावगाहि अर्थात् विशेष्य-विशेषणभाव (प्रकारता-विशेष्यता) के रूप में जो होता है, वह प्रत्यक्ष सविकल्पक होता है। जैसे— घटोऽयम्। इस सविकल्पक प्रत्यक्ष में घटत्वप्रकारक-घटविशेष्यकज्ञान होता है। एवंच— विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानत्वावच्छिन्न के प्रति विशेषण और विशेष्य का ज्ञान कारण होता है, सविकल्पक प्रत्यक्ष होने के पूर्व ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हुआ करता है, बौद्ध विद्वान् निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष कहते हैं। सविकल्पक को वे प्रत्यक्ष नहीं मानते; क्योंकि यह सविकल्पक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के पश्चात् (बाद) होता है, उसी कारण यह सविकल्पक-निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का कार्य कहलाता है। अतः वास्तविक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही है।

अन्य कारण भी है— प्रत्यक्ष को अनधिगत (अज्ञात) अर्थविषयक होना चाहिये। किन्तु सविकल्पक ज्ञान अनधिगतार्थविषयक नहीं हुआ करता; क्योंकि वह सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पाधिगत अर्थविषयक हुआ करता है और अनुमान कार्य-कारणभावादि सम्बन्धज्ञानपूर्वक साध्य-साधन का अनुमान हुआ करता है और सम्बन्धादि का ग्रहण (ज्ञान) सविकल्पक से ही होता है, निर्विकल्पक से नहीं। निर्विकल्पक से उसके स्वरूप का ज्ञानमात्र होता है अर्थात् निर्विकल्प तो स्वरूपमात्र का ज्ञान कराता है और स्वरूप-मात्र का ग्राहक जो प्रत्यक्ष है, वह निर्विकल्पक ही होता है। जिसके पश्चात् सविकल्पक का अनुमान किया जाता है। अतः सविकल्पक को प्रत्यक्ष शब्द से नहीं कह सकते। इसीलिये अनुमानादि को प्रत्यक्षपूर्वक कैसे कहा जाय? 'विकल्पनिमित्तं सम्बन्धग्रहणं तत् कथं प्रत्यक्षपूर्वकत्वम्'? यहाँ पर विकल्पनिमित्तम् का अर्थ है— सविकल्पकं ज्ञानं निमित्तं = कारणं यस्य तत् है। बौद्धों के प्रसन्नपदा ग्रन्थ में कहा भी है— 'कल्पनापोढस्यैव ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वाऽभ्युपगमात्'। इसीलिये प्रत्यक्ष तो निर्विकल्पक ही है, सविकल्पक को प्रत्यक्ष कहना उचित नहीं है।

समाधान— 'सविकल्पकमप्यनुपरतेन्द्रियव्यापारस्य जायमानपरोक्षावभासत्वात् प्रत्यक्ष-मेवेत्यदोषः'। अर्थात् सविकल्पकज्ञान इन्द्रियव्यापार करने वाले पुरुष को ही होता है, अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ (पदार्थ) के संयोग होने पर ही वह होता है और अपरोक्ष प्रकाशरूप होने से ही उसे प्रत्यक्ष शब्द से कहा जाता है। अतः सविकल्पक भी प्रत्यक्ष होने से अनुमान को जो प्रत्यक्षपूर्वक कहा गया है, वह उचित ही है। इसलिये कोई दोष नहीं है।

(प्रत्यक्षबौद्धमतम्)

विकल्पश्चापरोक्षावभासश्चेति चित्रम्, अपरोक्षमिति हि स्वलक्षणमुच्यते तद्विषयोऽवभासोऽपरोक्षावभासः। विकल्पस्त्वभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासत्वान्न स्वलक्षणं स्पृशति, न ह्यभिलापः स्वलक्षणं स्पृशति, यदि स्पृशेदभिलापमात्रेणापि विनाक्षव्यापारमपरोक्षावभासः स्यात्, न चाऽसावस्ति, तदुक्तम्—

अन्यथैवाग्निसंयोगाद् दाहं दग्धो हि मन्यते।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रकाशते।। इति।

तस्मादभिलापास्तावन्न विशदाकारमवभासयन्ति तत्समानविषया विकल्पा अपि।

बौद्ध पुनः शङ्का करता है कि सविकल्प कहना और अपरोक्षावभास भी कहना— यह तो नितान्त विरुद्ध है; क्योंकि सविकल्पकत्व और अपरोक्षावभासत्व ये दोनों एक ही स्थान में रहते, अर्थात् दोनों के अधिकार भिन्न-भिन्न रहते हैं (दोनों का वैयधिकरण्य है)। अपरोक्षावभास का पदकृत्य प्रदर्शित कर रहे हैं अपरोक्ष शब्द स्वरूपमात्र का वाचक है अर्थात् केवल स्वरूप का ही वाचक होता है। अतः स्वरूप मात्र ही जिसका विषय है, ऐसा जो अवभास (प्रकाश) उसे अपरोक्षावभास कहते हैं। ऐसा स्वरूपमात्रविषयकत्व निर्विकल्पक का ही हुआ करता है, सविकल्पक का नहीं; क्योंकि सविकल्पक विशेष्य विशेषणभावावगाही हुआ करता है। अतः सविकल्पक ज्ञान केवल स्वरूप का (स्वरूपमात्र का) परामर्शक नहीं होता; क्योंकि शाब्दबोध में (अभिलाप में) भासित होने वाला (भासमान) जो संसर्ग, उसके योग्य प्रतिभास होने से। अर्थात् शब्द से बताने योग्य विषय का प्रतिभास होने से। 'अभिलपसंसर्गयोग्यप्रतिभासत्वात्'— 'अभिलापे भासमानः यः संसर्गः, तद्योग्यश्चासौ प्रतिभासश्च' इति अभिलापसंसर्गयोग्य प्रतिभासः, तस्य भावः सत्त्वं, तस्मात्, अर्थात् शब्देन प्रतिपादन योग्यविषयविषयक प्रतिभासत्वात्, अभिलापसमानविषयकत्वात् इति यावत्। जैसे अभिलाप से संसर्ग को ही विषय किया जाता है, केवल स्वरूप को (स्वरूपमात्र को) नहीं, उसी तरह सविकल्पक से भी स्वलक्षण अर्थात् केवल स्वरूपमात्र को विषय नहीं किया जाता।

बौद्धों के प्रसन्नपदा ग्रन्थ में स्वलक्षण का स्वरूप बताया गया है— 'इह भावानामन्याऽसाधारणमात्मीयं यत् स्वरूपं, तत् स्वलक्षणम्। तद् यथा— 'पृथिव्याः काठिन्यं, वेदनाया विषयानुभवः, विज्ञानस्य विषयप्रतिविज्ञप्तिः'। अन्यत्र भी कहा है— 'एषा च मनीषा न स्वलक्षणं विषयीकरोति, तस्य (स्वलक्षणस्य) विशदावभासित्वात्, अस्याशाभिलापसंसर्गयोग्यार्थप्रतिभासत्वात्, अभिलापानां च विशदाकारमवभासितुमशक्तेः, अभिलापमात्रेण तथाविधप्रतिपत्त्यभावात्, तेनैषा न स्वच्छाकारावभासिनी' इति।

उपर्युक्त कथन में ग्रन्थकार ने हेतु (कारण) भी प्रदर्शित किया है— 'न हि अभिलाप: स्वलक्षणं स्पृशति, यदि स्पृशेत् अभिलापमात्रेणाऽपि विनाऽक्षव्यापारमपरोक्षावभास: स्यात्, न च असौ अस्ति, तदुक्तम्—

अन्यथैवाऽग्निसंयोगात् दाहं दग्धो हि मन्यते।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थ: सम्प्रकाशते।। इति।

शाब्दबोध (अभिलाप) स्वलक्षण को स्पर्श नहीं करता है, अर्थात् बोधित नहीं करता है। जब अभिलाप ही स्वलक्षण को बोधित नहीं कर पा रहा है, तब अभिलापसंसर्गयोग्य सविकल्पक स्वलक्षण को कैसे बता सकेगा? अत: सविकल्पक को प्रत्यक्ष कहना सम्भव नहीं है।

यदि स्पृशेदिति। यदि शब्द से ही स्वरूपमात्र को ज्ञान हो जाय तो इन्द्रियार्थ-सम्बन्ध के विना भी अर्थात् इन्द्रियव्यापार के विना भी शब्दमात्र से ही (केवल शाब्दोच्चारण करने मात्र से ही) अपरोक्षावभास हो जायेगा, किन्तु होता नहीं है। यदि अभिलाप शब्द से होने वाले बोध (शब्दाबोध) उसमें भासित होने वाला एक संसर्ग है, उसके योग्य प्रतिभास है जिसका उसी की संज्ञा विकल्प है। वह विकल्प स्वलक्षण को स्पर्श नहीं करता। अभिप्राय यह है कि तद्रूप होने के कारण जिस प्रतिभास का विषय शब्द के द्वारा बताये जाने योग्य है (अभिलाप के समान विषयकत्व होने से)। निष्कर्ष यह है कि जैसे शब्द संसर्ग को ही अपना विषय बनाता है, स्वरूप को नहीं, वैसे सविकल्पक अपना विषय स्वलक्षण को नहीं बनाते। बौद्धों के यहाँ स्वलक्षण का अर्थ इस प्रकार है— एवचं तत् लक्षणं च = स्वलक्षणम्, लक्षण का अर्थ है— आकार। 'धर्मे स्वत्वं च असाधारणत्वम्, असाधारणधर्म इति यावत्'। अतएव विकल्प स्व-लक्षण नहीं कहलाता। धर्मकीर्ति ने कहा भी है—

अशक्यसमयो ह्यात्मा सुखादीनामनन्यभाक्।
तेषामत: स्वसंवित्तिर्नाभिजल्पानुषङ्गिणी ।।

स्वलक्षण को स्पर्श (बोधित) करे, तो अग्नि से जला हुआ व्यक्ति जिस दाह का अनुभव कर रहा है, वह अग्निना दग्ध: इस शब्द को सुनकर उसे दाह शब्द का अन्य अर्थ बोधित होता है; क्योंकि पदों में पदार्थस्मारकत्व ही रहता है और वाक्य से स्मृत हुए पदार्थों का संसर्गज्ञान होता है। अत: दाह शब्द से दाह (जलने) का स्मरणमात्र होता है, उसका प्रत्यक्ष नहीं। निष्कर्ष यह हुआ कि अभिलाप (शब्द) विशद आकारों का अपरोक्ष रूप से (प्रत्यक्षरूप से) प्रतीति नहीं कराते। अर्थात् अक्ष (इन्द्रिय) व्यापार होने पर ही अपरोक्षावभास (प्रत्यक्षप्रतीति) होता है। अत: दाह शब्द से दाह का स्मरणमात्र ही होता है, प्रत्यक्ष नहीं। एवंच 'तत्समानविषया विकल्पा अपि' अर्थात् अभिलाप-समानविषय वाले विकल्प (सविकल्पक) ज्ञान भी स्लक्षण का अपरोक्षत्वेन रूपेण (प्रत्यक्षतया) अवभास: (प्रतीति:) नहीं कराते। अभिप्राय यह है कि शाब्द (वाक्य) का

विषय संसर्ग है, वह संसर्ग सविकल्पक का भी विषय रहता है। इसी कारण सविकल्पक को अभिलाप समानविषयकत्व प्राप्त है। एवंच सविकल्पक में विशदावभासकत्व और स्वलक्षणावभासकत्व कहने पर अभिलाप में भी विशदावभासकत्व हो सकता है— यह नहीं कहा जा सकता।

यस्त्वयं विस्फारिताक्षस्य— 'गौरयम्' इति विकल्पो विशदावभासः स समानकालविशदावभासनिर्विकल्पक संसर्गकृतः, तदभावेऽभिलाप-मात्रेऽनुमाने च विकल्पाकारप्रतिभासे वैशद्याभावात्। तस्मात् निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षम्। तत्रैव हि विशदस्य स्वलक्षणस्यावभासः।

उपर्युक्त कथन में **शङ्का**— सविकल्पक में भी गौः अयम् इस प्रकार का विशदावभास होता ही है। जैसे—खुले नेत्र वाले (उन्मीलित चक्षु नेत्र) पुरुष को गौः अयम् यह विकल्प हुआ, यह विशदावभास ही है, अर्थात् ज्ञान (प्रकाश) स्पष्ट ही है। किन्तु यह सविकल्पज्ञान का प्रकाश नहीं है, अपितु उसके अव्यवहित पूर्व काल में जो निर्विकल्पक ज्ञान हुआ, उसी के कारण उत्तरवर्ती सविकल्पज्ञान में विशदावभास प्रतीत होता है। जैसे साङ्ख्यसिद्धान्त में जड़ (अचेतन) बुद्धि भी आत्मा (चेतन) के सांनिध्य से (सम्बन्ध से) चेतन की तरह भासित होती है, उसी तरह सविकल्पक अविशदावभास रहने पर भी निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान के सम्बन्ध से विशदावभास के समान प्रतीत होने लगता है।

उपर्युक्त कथन को यदि न मानें तो एक कठिन समस्या उत्पन्न होगी। वह इस प्रकार है— यदि सविकल्पक ज्ञान की विशदता (वैशद्य) निर्विकल्पकज्ञान के संसर्ग से निष्पन्न न हुई हो तो निर्विकल्पक संसर्गरहित अभिलापमात्र में अर्थात् शाब्दज्ञान और अनुमान में भी वैशद्य होने लगेगा; क्योंकि उपर्युक्त दोनों अर्थात् शाब्दज्ञान और अनुमान भी सविकल्पक के मसान ही हैं। 'यदाकारज्ञानत्वं सविकल्पस्य अस्ति तदाकारज्ञानत्वमेव शाब्दबोधानुमानयोरपि अस्ति'। अर्थात् सविकल्पक ज्ञान जिस आकार का है, वही आकार शाब्दबोध तथा अनुमान से होने वाले ज्ञान का है। एवंच विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही है तथा स्वलक्षणाऽनवगाही भी है। यदि निर्विकल्पकसंसर्ग के न रहने पर भी (उसके अभाव में भी) वैशद्य की विद्यमानता मानी जाय तो वह अनुमान और शाब्दबोध में भी उसको (वैशद्य को) मानना होगा। किन्तु उनमें (अनुमान और शाब्दबोध में) वह वैशद्य है ही नहीं। इसीलिये कहना होगा कि सविकल्पक का वैशद्य निर्विकल्पकसंसर्ग (सम्बन्ध) कृत ही है; क्योंकि उसी में अर्थात् निर्विकल्पक में ही वैशद्य (विशद स्वरूप) का प्रकाश होता है। अर्थात् विशद स्वलक्षण का अवभास होता है। इसीलिये निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष कहना उचित है। सविकल्पक को प्रत्यक्ष कहना ठीक नहीं है। कहा भी है—

कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्।
विकल्पो वस्तुनिर्भासादसंवादादुपप्लवः।। (धर्मकीर्ति : न्यायविन्दु, पृ०-१४)

इस कारिका के द्वारा प्रत्यक्ष का लक्षण बताया गया है। श्रीधर्मकीर्ति की उक्त कारिका का अर्थप्रत्यक्ष यह लक्ष्य है। कल्पनापोढम् आदि उसका लक्षण है। कल्पना का अर्थ है— जाति, गुण और क्रिया आदि की कल्पना करना। उस कल्पना से युक्त हुए ज्ञान को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। यह लक्षण बौद्धाचार्य दिङ्नाग का है। ऊपर उल्लिखित कारिका में धर्मकीर्ति ने अभ्रान्त पद का सन्निवेश करके उसी को प्रत्यक्ष का लक्षण माना है तथा जिसमें जाति गुण और क्रिया आदि की कल्पना नहीं की जाती उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष बताया है। इसका सविस्तर वर्णन [1]न्यायमञ्जरी में किया गया है।

(बौद्धमतखण्डनम्)

मैवम्— उन्मीलितनेत्रस्य विकल्पोऽपि गौरयमित्यपरोक्षावभास एव प्रतीयते। न च असौ अन्यसंसर्गकृतः, प्रमाणाभावात्। अभिलापसंसर्गयोग्यस्यापि सामान्याकारस्याऽभिलापलिङ्गादिभिरवैशद्यम्, इन्द्रियैश्च वैशद्यमुपपद्यत एव। न हि अयं परोक्षाऽपरोक्षविभागो विषयकृतः, यदि हि तथा स्यात्, सर्वदैव सामान्यं परोक्षं स्यात्, स्वलक्षणं च अपरोक्षं स्यात्। न चैवमस्ति, सामान्याकारस्यापि परोक्षाऽपरोक्षविभागदर्शनात्।

तथा हि— दूराच्छ्वेतं स्वलक्षणं पश्यन्ननिर्द्धारितगवाश्वजातिविशेषो हेषाशब्दश्रवणादश्वत्वं तस्मिन्नेव स्वलक्षणेऽनुमिमानोऽपि परोक्षं बुध्यते, वदन्ति हि— 'अश्वोऽप्ययं न चक्षुषा तथाऽवभासते' इति। प्रत्यासन्नस्तु वदति— संप्रत्यश्वत्वमप्यस्य चक्षुषा पश्यामि न पूर्वम्' इति। स्वलक्षणं तु प्रागपि विशदमेवेति सामान्यांशगत एवायं दूरसमीपवर्तिनः परोक्षापरोक्षविभागः, तस्तात्कारणकृतोऽयं विभागः।

एकस्मिन्नपि हि विषयेऽक्षैर्जायमानं विज्ञानमापरोक्ष्यं जनयति लिङ्गादिजं तु नेति किं नोपपद्यते? ज्ञानजन्यो विषयगतः फलविशेषोऽयमापरोक्ष्यं नाम सर्वस्य संवेद्यः। यद्भावाभावाभ्यां लिङ्गाभ्यामक्षैः पश्यामि न पश्यामीति विस्फारिताक्षाणामेव व्यवहारः प्रवर्तते। अतोऽस्ति विकल्पस्यापि विशदावभासित्वमिति प्रत्यक्षत्वोपपत्तिः।

(ज्ञानस्य सविकल्पकनियमस्तत्खण्डनिञ्च)

केचित्तु सविकल्पकमेव सर्वं ज्ञानं न निर्विकल्पकं नाम किञ्चिदस्तीति मन्यन्ते। तत्तु प्रतीतिविरुद्धम्— प्रतीमो हि वयमक्षसंनिपातानन्तरम-

---

१. जगदभिभवधीरमः– न्यायमञ्जरी

विविक्तसामान्यविशेषविभागं संमुग्धवस्तुमात्रगोचरमालोचनज्ञानम्। तदभावे तु विकल्प एव न जायेत। विकल्पयता हि पूर्वानुभूतं जाति-विशेषं सञ्ज्ञाविशेषं चानुस्मृत्य तेन पुरःस्थितं वस्तु विकल्पयितव्यम्। न चार्थमदृष्टवतस्तत्स्मरणमाकस्मिकमेवोत्पद्यते? तस्मादस्ति निर्वि-कल्पकमपि ज्ञानम्।

समाधान— मैवम् इति। भाट्टमतानुयायी मीमांसक विद्वान् अब बौद्धसिद्धान्त का खण्डन करते हैं। उन्मीलित नेत्र वाले (खुले नेत्र वाले को) को इयं गौः यह गाय है, इत्याकारक जो सविकल्पक ज्ञान होता है, वह भी विशदावभास होने के कारण अपरोक्षज्ञान ही है। वह निर्विकल्पक ज्ञान के संसर्ग से होता है यह नहीं कर सकते; क्योंकि कोई प्रमाण नहीं है। शब्द से जो ज्ञान होता है, वह सामान्य आकार वाली वस्तु को विषय करता है। उस सामान्य आकार वाले शब्द के द्वारा अथवा हेतु के द्वारा उत्पन्न होने से उसमें वैशद्य नहीं है, किन्तु इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है। उसमें वैशद्य होना सम्भव है।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि कोई भी व्यक्ति (मनुष्य) गाय को देखकर कहता है— इयं गौः तो यह ज्ञान सविकल्पक है और वह भी अपरोक्षावभास ही है; क्योंकि सविकल्पक ज्ञान में भी स्वाभाविक वैशद्य (विशदावभास) होता है। यह जो पूर्व कहा था कि सविकल्पक ज्ञान का वैशद्य निर्विकल्पकसंसर्गकृत है— वह ठीक नहीं है; क्योंकि सविकल्पक की विशदावभासता अन्यसंसर्गकृत नहीं है; क्योंकि अन्य संसर्गकृत मानने में कोई प्रमाण नहीं है। पङ्क (कर्दम) से (कीचड़ से) होने वाले पङ्कज (कमल) का सौरभ्य (सुगन्ध) पङ्कसंसर्गकृत नहीं हुआ करता। एवंच जैसे जिज्ञासा के पश्चात् होने वाले निर्विकल्पक का वैशद्य (विशदता) जिज्ञासासंसर्गकृत नहीं है, अपितु स्वरूपकृत ही कहा जाता है, उसी तरह सविकल्पक का भी वैशद्य स्वरूपकृत ही है, निर्विकल्पक-संसर्गकृत नहीं है। वैशद्य और अवैशद्य का विभाग इसी प्रकार समझना चाहिये। अभि-लापसंसर्गयोग्य अर्थात् शाब्दबोधीय संसर्गयोग्य सामान्याकार (सामान्यरूप) गोत्वादि जाति का अवैशद्य अभिलाप (शाब्द) से और लिङ् आदि से होता है अर्थात् अविशदा-कार का अवभास होता है और उसी के वैशद्य (विशदाकारता) का अवभास भी इन्द्रियों से होता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वैशद्य निर्विकल्पकनियत ही हुआ करता है, किन्तु वह इन्द्रियज ज्ञाननियत रहता है। इसीलिये सविकल्पक का भी विशदावभास स्वभावतः एव है। अथवा वैशद्याऽवैशद्यविभाग को विषयकृत किंवा ज्ञानकरणकृत कहा जा सकता है। तथापि ज्ञानकरण कृत मानना ही उचित प्रतीत होता है। जैसे एक ही अग्नि का अनुमान से वैशद्याभाव और इन्द्रिय से वैशद्य की सम्भाव रहने से वैशद्याऽवैशद्य को विषयकृत कहना उचित नहीं है।

यदि पारोक्ष्य और अपारोक्ष्य को विषयकृत कहा जाय तो विषयस्वभाव का व्यभि-

चार न होने से सामान्य को सदैव परोक्ष ही कहना होगा और स्वलक्षण (व्यक्ति) को सदैव अपरोक्ष ही कहना पड़ेगा। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है; क्योंकि सामान्य में भी पारोक्ष्य और अपरोक्ष्य तथा स्वलक्षण में भी पारोक्ष्य और अपारोक्ष्य दिखाई देता है।

सामान्य का पारोक्ष्य तथा अपारोक्ष्य इस प्रकार से है— दूर से ही किसी व्यक्ति श्वेत वर्ण वाले किसी व्यक्तिमात्र अर्थात् स्वलक्षण को देखा, किन्तु यह गाय ही है अथवा घोडा (अश्व) ही है— यह निश्चय नहीं कर पा रहा है, तथापि घोडे की हिनहिनाहट को सुनकर उस स्वलक्षण (व्यक्ति) के विषय में अश्व होने का अनुमान तो कर लेता है, किन्तु उसे अश्वत्वज्ञान (अश्व = घोडा होने का ज्ञान) परोक्षरूप से ही हो रहा है, उसे अश्वत्व का प्रत्यक्ष, नहीं हो पा रहा है; क्योंकि लोग कहते हैं— अश्व रहने पर भी आँख से (नेत्र से) वैसा दिखाई नहीं दे रहा है। यह कहने से स्पष्ट हो रहा है कि सामान्य का ज्ञान, परोक्ष रूप से हो रहा है; किन्तु जब वह अश्व के पास जा पहुँचता है, तब वह बोल उठता है कि अरे! यह तो अश्वजातीय ही है, इसका अश्वत्व तो अब आखों से प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है। इसके पूर्व ऐसा स्पष्टतया नहीं दिखाई दे रहा था।

एवञ्च सामान्य का अपरोक्ष ज्ञान उपपन्न होने से उसका (सामान्य का) भी पारोक्ष्य और अपारोक्ष्य विभाग होना सम्भव है इसलिये कहना होगा कि पारोक्ष्य अपारोक्ष्य-विभाग विषयकृत न होकर ज्ञानकरणकृत (कारणकृत) ही है। एवञ्च दूरवर्ती अथवा समीपवर्ती पुरुष को प्रतीयमान जो परोक्ष और अपरोक्ष विभाग है वह सामान्यांश का ही है अर्थात् अश्वत्वगत ही है, व्यक्तिगत नहीं है। व्यक्ति का परोक्षत्व अनुमान आदि में जाना जाता है, किसी भी विषय (वस्तु) का ज्ञान जब इन्द्रिय से होता है, तब वह अपरोक्ष कहलाता है, और जब लिङ्ग (हेतु = कारण) से ज्ञान होता है, तब वह अपरोक्ष नहीं होता, अपितु परोक्ष ही होता है। जो सर्वसंवेद्य होता है। उसी को आपरोक्ष्य कहते हैं। अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान से उत्पद्यमान (प्रत्यक्षजन्य) विषयगत प्रत्यक्ष का जो फलविशेष, उसी को आपरोक्ष्य कहते है, और वह सर्वसंवेद्य ही रहता है। उसे बताने के लिये किसी विशेष युक्ति (विशेषतर्क) की आवश्यकता नहीं है। यह आपरोक्ष्य जो है, वह ज्ञान का फल है, ज्ञान से जन्य है और विषयनिष्ठ है। यह सर्वानुभवसिद्ध है।

इसी उक्त अभिप्राय को ग्रन्थकार ने व्यतिरेक से भी बताया है—जिसके भावाऽ-भावात्मक अन्वय-व्यतिरेक लिङ्ग से ही आदमी कहता है कि मैं इन्द्रियों से देखता-सुनता हूँ, और जिसके न रहने से मैं नहीं देख पाता हूँ—यह व्यवहार उन्मीलित नेत्र वाले लोगों का हुआ करता है। अभिप्राय यह है कि मीमांसकों के मतानुसार प्रत्यय होने पर विषय = (पदार्थ) में ज्ञातता अर्थात् आपरोक्ष्य उत्पन्न होता है, उस आपरोक्ष्य से उत्पन्न जो प्रत्यक्ष ज्ञान-उसका अनुमान किया जाता है; क्योंकि ज्ञान अप्रत्यक्ष है। जैसे—इयं घटनिष्ठा ज्ञातता, घटविषयक प्रत्यक्षजन्या, ज्ञाततात्वात् पटनिष्ठज्ञाततावत्।—इसी तरह को ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र प्रदर्शित कर रहे हैं—यद् भावाऽभावाभ्यां लिङ्गाभ्यां अर्थात् आपरोक्ष्य सत्त्वाऽसत्त्वरूप हेतुभ्याम् अक्षैः पश्यामि, न पश्यामि, इति प्रत्यक्ष-

व्यवहारः, पारोक्ष्यव्यवहारः उन्मीलित नेत्राणामेव भवति। एवञ्च सविकल्पक में भी विशदावभासकत्त्व (विशदप्रकाशकत्त्व) होता है, इसलिये सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं कहना होगा। तथा च अनुमानादिकों को प्रत्यक्षपूर्वकत्व जो कहा जाता है, वह अनुचित नहीं है, अपितु उचित ही है; क्योंकि सम्बन्धग्राहक सविकल्पक ज्ञान भी तो प्रत्यक्ष ही है।

वैयाकरणों ने उक्त कथन का समर्थन भी किया है। उनका कहना है कि निर्विकल्पक ज्ञान से कोई भी व्यवहार नहीं किया जा सकता, उस कारण निर्विकल्पक को मानने की आवश्यकता ही नहीं है। व्यावहर तो सविकल्पक से ही हुआ करता है, निर्विकल्पक से नहीं। अत एव महावैयाकरण श्रीभर्तृहरि का कहना है कि सभी ज्ञान सविकल्पक ही हुआ करते हैं, निर्विकल्पक नहीं। वे अपने वाक्यपदीय में करते हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।। (कारि. १२३)

अर्थात् कोई भी ज्ञान, जो हमें होता है, वह शब्द से ही होता है, शब्द के विना नहीं। इसी कथन का उल्लेख पार्थसारथि ने श्लोकवार्तिक की व्याख्या न्यायरत्नाकर में किया है। वैयाकरणों का सिद्धान्त है— सभी ज्ञान शब्दानुविद्ध = सविकल्पक ही हुआ करते हैं। रूप से रहित कोई भी रूपज्ञान नहीं हुआ करता। रूपवान् पदार्थ के रूप में जाति और गुण की ही प्रतीति हुआ करती है। एवञ्च शब्द का अर्थ जाति और गुण ही हैं। वे ही पदार्थों के प्रकार हैं, उन्हीं से (जाति और गुण से) होने वाली समस्त इन्द्रियजन्य प्रतीति है, उस कारण कल्पनापोढ पद निर्विषय ही समझना चाहिये। अतः निर्विकल्पक नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। एवञ्च सविकल्पक ही प्रत्यक्ष है— यह वैयाकरणों का मत (सिद्धान्त) है।

उपर्युक्त वैयाकरणमत अनुभव के प्रतिकूल (विरुद्ध) है; क्योंकि सभी लोग अहर्निश अनुभव करते रहते हैं कि इन्द्रिय-सन्निकर्ष होने के पश्चात् वस्तुमात्र का संमुग्धाकार ज्ञान होता है, इसमें (ज्ञान में) सामान्य अथवा विशेष का विभक्तज्ञान (पृथक्-पृथक् ग्रहण) नहीं होता, इसी को आलोचन ज्ञान (इन्द्रियज ज्ञान) कहा जाता है। इसी तथ्य को वार्त्तिक में भट्टपाद ने बताया है—

अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बाल-मूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजनम्।।
न विशेषो न सामान्यं तदानीमनुभूयते।
तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवाऽवगम्यते।।

निष्कर्ष यह है कि आलोचन ज्ञान के विना (निर्विकाल्पक ज्ञान के विना) सविकल्पक ज्ञान हो ही नहीं सकता; क्योंकि विशिष्ट ज्ञान के होने में विशेषण ज्ञान कारण हुआ करता है। कारण के विना कार्य नहीं होता— यह अकाट्य नियम है। अतः उक्त आलोचन ज्ञान

(इन्द्रियज ज्ञान) प्रथमत: होता ही है, इसी को निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। एवञ्च सविकल्पक ज्ञान के पूर्व निर्विकल्पक ज्ञान का होना, स्वीकार करना ही पड़ेगा। निर्विकल्पक ज्ञान के अभाव में निविकल्पक ज्ञान का होना सम्भव ही नहीं; क्योंकि सविकल्पक ज्ञानविशिष्ट वैशिष्ट्यावगाहि हुआ करता है। और विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाहि बुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति विशेष्य-विशेषणयोर्ज्ञानस्य कारणत्वं भवति— यह नियम है। जबतक घटघटत्वे इत्याकारक समूहालम्बनात्मक ज्ञान नहीं होगा, तबतक घटत्व-प्रकारक घटविशेष्यक सविकल्पकज्ञान का होना सम्भव ही नहीं है। अत: घट-घटत्व-विषयक निर्विकल्पक ज्ञान को अवश्य मानना ही होगा; क्योंकि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति का होना सम्भव ही नहीं है। एवञ्च निर्विकल्पकज्ञान को मानना अनिवार्य है। जो आदमी अपना सविकल्पक ज्ञान प्रकट करता है, वह पूर्ववर्ती निर्विकल्पक ज्ञान से जातिविशेष तथा संज्ञाविशेष का अनुभव किया रहता है, उसी का पुन:-पुन: स्मरण करके पुरोवर्ती व्यक्ति का विकल्प करता है। अर्थात् दूयं गौ:, गोत्वविशिष्टा अस्ति— इस प्रकार संज्ञाविशेष का स्मरण करके ही इयं गोपदवाच्या- इत्याकारक विकल्प होता है। अन्यथा नहीं; क्योंकि जिस व्यक्ति ने जिस वस्तु (पदार्थ) को पहले नहीं देखा हो, उस आदमी को इस वस्तु का स्मरण कैसे हो पायेगा? इसलिये यह मानना ही होगा कि सविकल्पक ज्ञान के पूर्व निर्विकल्पक ज्ञान का होना अनिवार्य (अवश्यंभावि) ही है। एवञ्च निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पकज्ञान— दोनों ही अनिवार्यरूप से मानने ही होंगे। न्याय-रत्नाकर में भी कहा है कि तदभावे हि निर्निमित्तं शब्दस्मरणं स्यात्, अस्मत् शब्दस्य च न शब्दानुविद्धो विकल्प: सम्भवतीति।

(अद्वैतमतेन निर्विकल्पकस्य सन्मात्रविषयत्वम्)

तच्च सन्मात्रविषयमिति केचित्। भेदस्य विकल्पवेद्यत्वात् अगृहीते च भेदे विशेषाणाम् अग्रहणात् । किञ्च इतरेतराभावो भेद:, न चाऽसौ प्रत्यक्षेण ग्रहीतुं शक्यते, नतरां निर्विकल्पेन । अतश्च नेह नानास्ति किञ्चन (बृ. उप. अध्या.४) इत्यादिनिषेधानां प्रत्यक्षादिविरोधाऽ-भावात् एकमेवाऽद्वितीयम् (छा. उप. अध्या.६.१.२) इत्यादि-श्रुतिभिरद्वितीयं ब्रह्म सिद्धम् ।

शङ्का— तच्च सन्मात्रविषयमिति। घट-पटादि आदि विशेष की ग्राहकता निर्विकल्पक ज्ञान में सम्भव नहीं हो सकती; क्योंकि भेद का ग्रहण किये बिना विशेष पदार्थों का ग्रहण कर पाना सम्भव नहीं है, और भेदग्रहण सविकल्पक ज्ञान से ही होता है। इसलिये भेदग्राहक जो सविकल्पकज्ञान है, उसी में घट-घटत्वादि विशेष की ग्राहकता होती है— यह कहना होगा। निर्विकल्पक ज्ञान तो सन्मात्र का अर्थात् शुद्ध चैतन्य का ही ग्राहक हो सकता है— यही कहना उचित है। एवञ्च निर्विकल्पक ज्ञान को मानना अनिवार्य ही है। सन्मात्र ब्रह्म ही (शुद्ध चैतन्य ही) निर्विकल्पक ज्ञान का विषय

है— इस तथ्य को अद्वैत वेदान्ती ज्ञानधनपाद ने तत्त्वशुद्धि में बताया है। उनके कहने का यही अभिप्राय है कि विशेष का ग्रहण (ज्ञान) सविकल्पक से ही होता है, निर्विकल्पक से नहीं। क्योंकि सविकल्पकज्ञान में विशेष्य-विशेषण और संसर्ग— इस त्रिपुटी का (तीनों का) ग्रहण होता है और शुद्धचैतन्य से भिन्न (इतर) पदार्थ मात्र का किंचिद्धर्मपुरस्कारेणैव ग्रहण होता है। अर्थात् शब्दवाच्य जो भी हो उसके ग्रहण का यही मार्ग है। अव एव वाक्यपदीयकार ने कहा है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

इसलिये यह निश्चित ही है कि शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ निर्विकल्पक ज्ञान का वेद्य नहीं हो सकता। एवञ्च शुद्धचैतन्य सन्मात्र ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है— इस प्रकार अद्वैतवेदान्ती ज्ञानधनपाद का सिद्धान्त है। क्योंकि भेद का ग्रहण सविकल्पक (विकल्प) से होता है। जहाँ भेद का ग्रहण नहीं होता, वहाँ विशेष का भी ग्रहण नहीं होता।

शङ्का— निर्विकल्पक जैसे स्वरूपमात्र का ग्राहक अथवा विशकलित पदार्थग्राहक है, वैसे ही उसे भेदस्वरूप का भी ग्राहक मानने में कौन सी कठिनाई है? क्योंकि इत्तरेतराभाव को ही भेद कहते हैं। इसका (भेद का) ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष से भी नहीं किया जा सकता; क्योंकि अनुपलब्धि का ग्राहक (बोधक) तो अभाव-प्रमाण होता है। इसलिये भेद का ग्रहण निर्विकल्पक से कैसे हो पायगा? भेद– का ज्ञान जब सविकल्पक से ही नहीं हो रहा है तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से उसके ज्ञान को सोचना तो बहुत दूर रहा, अर्थात् सम्भव ही नहीं है। भेद का ज्ञान तो स्वतः सिद्ध है। अत एव नेह नानास्ति किञ्चन आदि श्रुतियों के द्वारा उसे बताया गया है। उक्त कथन से ब्रह्म में नाना पद से वाच्य जो भेद है उसका निषेध किया गया है। अतः उक्त निषेध वाक्यों का प्रत्यक्ष आदि के साथ कोई विरोध नहीं है। यदि प्रत्यक्ष से भेद का ग्रहण होता, तो उक्त श्रुतियों का प्रत्यक्ष से विरोध कहा जा सकता था, किन्तु वैसा विरोध नहीं। इसीलिये एकमेव अद्वितीयम् इत्यादि श्रुतियों से अद्वितीय ब्रह्म की सिद्धि हो जाती है। एवमेवगत एव शब्द से ब्रह्म में सजातीय भेद का न होना बताया गया है। तथा अद्वितीय शब्द विजातीय भेद को और एव शब्द स्वगत भेद का निरासक है। एवञ्च तीनों (सजातीय, विजातीय-स्वगत) भेदों का निषेध होने से ब्रह्म की अद्वितीयता सिद्ध हो जाती है।

इसलिये निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय सन्मात्र ब्रह्म ही है— यह तत्त्वशुद्धिकार का मत है। अनुपलब्धि तो शब्दप्रमाण की अपेक्षा दुर्बल है। इसलिये अनुपलब्धि प्रमाण भेद का ग्राहक रहने पर भी वह श्रुति का बाधक नहीं हो सकता। किञ्च— प्रत्यक्ष में भेदग्राहकता रहने पर भी उसे व्यावहारिक भेद का ही ग्राहक मानना होगा। अतः व्यावहारिक भेद का ग्राहक जो प्रत्यक्ष है, उसका पारमार्थिक अभेद बोधक श्रुति के साथ कैसे विरोध हो सकेगा? विरोध तो समानविषयता होने पर हुआ करता है। एवञ्च विरोध

का अभाव होने से प्रत्यक्ष प्रमाण अभेदप्रतिपादक श्रुति का बाधक नहीं है। किञ्च— भेद का निरूपण करना भी शक्य नहीं है—

भेदोऽयं भिन्नधर्मिप्रतिभटविषयज्ञानजज्ञानवेद्यो
धर्म्यादेर्भेदसिद्धिः पुनरपि च तथेत्यापतच्चाऽनवस्था।
भेदे धर्म्याद्यभेदे वत भवति मृषा भेदबुद्धिर्विभेदे,
प्रादुःस्युः पूर्वदोषा न च गतिरपरा तेन भेदो मृषैव ।। इति ।।

अतः भेद का निरूपण करना शक्य न होने से प्रत्यक्ष-प्रमाण को सन्मात्र का ही ग्राहक (प्रकाशक) मानना चाहिये। इस प्रकार अद्वैतमत का निरूपण यहाँ तक किया गया है। एवञ्च निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय सन्मात्र ब्रह्म ही है। अद्वैतियों ने अपना मत, उक्त प्रकार से उपस्थित किया। तब अद्वैतियों के मत का खण्डन–तदिदमद्यति-साहसं कहकर सिद्धान्ती मीमांसक कर रहा है—

(अद्वैतमतखण्डनम्)

तदिदमतिसाहसम्— किं भवतो नीलपीतयोस्तिक्तमधुरयोः शीतोष्णयोः सुख-दुःखयोश्चाविलक्षणा बुद्धिः? यद्येवं नात्रोत्तरं वक्तव्यम्। न च सत्स्वरूपे सविकल्पेन विशेषग्रहणमिति वाच्यम्, अविकल्पेन विकल्पस्यापि विलक्षणस्योत्पत्त्यसम्भवात्।

सिद्धान्ती मीमांसक उन अद्वैतवादियों से पूछता है, पूछने से पहिले उनसे मीमांसक ने कहा कि आप बहुत साहसी प्रतीत हो रहे हैं। **तदिदमतिसाहसमिति।** क्या आपको नील और पीत की, तिक्त (कटु) और मधुर की तथा शीत और उष्ण की एवं सुख तथा दुःख की एक सी ही प्रतीति होती है? आप जैसे अद्वैतियों को यदि स्वभावत एव विरुद्ध पदार्थों में एक सी ही प्रतीति होती है तो हमें आप से कुछ कहना ही नहीं है। अतः उत्तर देना तो व्यर्थ ही है। अर्थात् उत्तर देने से मौनावलंबन करना ही अच्छा है। कहा भी है—

भद्रं कृतं कृतं भद्रं कोकिले जलदागमे।
मण्डूका यत्र गायन्ति तत्र मौनं हि शोभनम्।।

सर्वसाधारण लोगों को तो नील और पीत में विलक्षण बुद्धि (भेदज्ञान) ही हुआ करती है। क्योंकि नीलज्ञान का और पीतज्ञान का स्वरूप भिन्न-भिन्न रहता है, यदि आप यह कहें कि नील ज्ञान और पीतज्ञान समान नहीं हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न हैं, तो ज्ञान का भेद ग्राहकत्व आपने स्वयं ही अपने गले के नीचे उतार ही लिया।

शङ्का (वेदान्ती)— निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान से सन्मात्र का ग्रहण करने पर ततः पश्चात् सविकल्पक ज्ञान से उसी सत्स्वरूप में विशेष का ग्रहण होता है; क्योंकि घट-पटादि पदार्थ ब्रह्मसत्ताऽनतिरिक्त सत्ताक होते हैं अर्थात् ब्रह्म से अभिन्न रहने के कारण सत्स्वरूप से ही उनका ग्रहण सम्भव हो सकता है।

समाधान (मीमांसक)— निर्विकल्पक का कार्य ही सविकल्पक है। अतः सविकल्पक को निर्विकल्पक के सदृश होना चाहिये; क्योंकि 'कार्य-कारणयोः समानरूपत्वं भवति' अर्थात् कार्य-कारण दोनों का रूप समान हुआ करता है, यह नियम है। तथा च निर्विकल्पक यदि सन्मात्र का ग्राहक है, तो सविकल्पक भी निर्विकल्पक का कार्य-स्वरूप होने से वह भी सन्मात्र का ग्राहक ही होगा। अतः सत्स्वरूप में सविकल्पक के द्वारा विशेष का ग्रहण कैसे हो सकेगा? क्योंकि निर्विकल्पक से विलक्षण (भिन्न) सविकल्पक की उत्पत्ति का होना सम्भव नहीं है।

यच्चावश्यमिदमस्माद्भिन्नमित्येवं विकल्पेनैव भेदो ग्रहीतव्यो नाऽविकल्पेन तस्य ग्रहणं सम्भवतीति न ब्रूमो भेदस्य ग्रहणं किन्तु भिन्नानाम्। तेषामपि न भिन्नतया किं तु स्वरूपेण यदन्यस्माद्भिन्नं नीलं पीतं वा तद् गृह्यत इति ब्रूमः। न हि नीलं पीतं वा भेदः, तयोर्हि धर्मो भेदः, तद्ग्रहेऽपि धर्मिणां ग्रहणं नानुपपन्नम्।

यदि च सन्मात्रं प्रत्यक्षेण गृह्यते न नीलं पीतं वा ततो विकल्पेनापीदमस्माद्भिन्नमिति कथं भेदो गृह्येत? नहि सदेव सतो भिन्नमिति सम्भवति। तस्मान्नीलादिगुणानां पृथिव्यादिद्रव्याणां च प्रत्यक्षेण ग्रहणात् प्रपञ्चापलापः प्रत्यक्षविरुद्ध एव।

यच्चाऽवश्यमिदमिति। यह जो कहा जाता है कि इदम् अस्माद् भिन्नम् अर्थात् घटः पटाद् भिन्नः (घट पट से भिन्न है)— इस प्रकार के भेद का ग्रहण सविकल्पक ज्ञान से ही होता है, निर्विकल्पक ज्ञान से नहीं; क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान तो सन्मात्र का ही ज्ञान कराता है। अद्वैतियों का यह उपर्युक्त कथन भी उचित नहीं है।

उस पर अद्वैती वेदान्ती कह रहा है— **न ब्रूमो भेदस्य ग्रहणमिति।** भेद के ग्रहण न होने की बात हम नहीं कर रहे हैं। हम तो केवल इतना ही कह रहे हैं कि निर्विकल्पक से भिन्न का भेदविशिष्ट का ग्रहण होता है, वह भिन्न नहीं होता, अपितु वह स्वरूपेण होता है। अर्थात् यत् नीलम् अन्यस्मात् पीताद् भिन्नं, पीतं वा नीलाद् भिन्नं, तत् = पीत-भिन्नं नीलं, नीलभिन्नं पीतं च गृह्यते इति ब्रूमः। अभिप्राय यह है कि नील पीत–से भिन्न है, और पीत नील से भिन्न है— इस प्रकार स्वरूपेण (स्वरूपतः) भिन्न का ज्ञान होता है, भिन्नत्वेन रूपेण नहीं। क्योंकि भेद अनुपयोगी है, उस कारण नील के ग्रहण से पीतभेद का भी ग्रहण हो ही जाता है; तथा पीत का ग्रहण होने पर नीलभेद का भी ग्रहण हो ही जाता है। तब आप कैसे कह रहे हैं कि 'न भेदस्य ग्रहणम्' अर्थात् निर्विकल्प से भेद का ग्रहण नहीं होता है?

समाधान— उक्त आशङ्का का समाधान धर्मभेदवाद से कर रहे हैं— नहि नीलं पीतं वा भेदः, तयोर्हि धर्मो भेदः, तद् अग्रहेऽपि धर्मिणां ग्रहणं, न अनुपपन्नम्। अर्थात्

नील अथवा पीत— **यह** भेद नहीं है; किन्तु उन नील या पीत का जो धर्म है, वह भेद है। तथा च धर्म का ग्रहणत्व रहने पर भी धर्मिग्रहण की उपपत्ति तो हो ही जाती है। अतः निर्विकल्पक से धर्मभूत भेद का ग्रहण नहीं माना जाता। भेद का ग्रहण न होने पर भी भेदानुयोगी जो धर्मिपदार्थ नील-पीत आदि हैं, उनका स्वरूपेण ग्रहण होना सम्भव है, असम्भव नहीं है। एवञ्च धर्मग्रहण के न होने पर भी धर्मी का ग्रहण हो सकता है।

अब 'यदि च' से विपक्ष में बाधक बता रहे हैं। यदि अद्वैत वेदान्ती यह कहता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से सन्मात्र का ही ग्रहण किया जाता है नील या पीत का नहीं, तब तो कार्य-कारण दोनों की सामानरूपता का नियम रहने से निर्विकल्पक के कार्यरूप सविकल्प से भी वही प्राप्त होगा, जो निर्विकल्प से प्राप्त हुआ है। निर्विकल्प को सन्मात्र का ग्राहक मानने पर सविकल्प में भी सन्मात्र ग्राहित्व ही प्राप्त होगा, तब सविकल्पक से भी नीलं पीताद्भिन्नम्— यह ज्ञान स्वरूपत्वेन हो रहा है या धर्मत्वेन हो रहा है? इस भेद का ग्रहण कैसे हो पायगा? अर्थात् कभी नहीं हो पायगा।

शङ्का— सविकल्पक निर्विकल्पक के समान होने से सन्मात्र के ग्राहक के द्वारा सत्स्वरूप ही गृहीत किया जायगा और भेद जो है, वह स्वरूप ही है, वह धर्म नहीं है। इसलिये स्वरूप का ग्रहण करने वाले सविकल्पक से भेद का भी ग्रहण हो जायेगा।

समाधान— नहि सदेव सतो भिन्नमिति। सन्मात्र तो सन्मात्र से भिन्न नहीं हुआ करता, जिससे सन्मात्र का ग्रहण करने पर भेद का भी तत्स्वरूपत्वेन ग्रहण हो— यह कहा जाय।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि यदि सविकल्प में सन्मात्रातिरिक्त का ग्राहकत्व हो तो सदतिरिक्त प्रतियोगिक भेद भी सन्मात्रस्वरूप होने से गृहीत हो सके; क्योंकि भेदग्रहण प्रतियोगिज्ञान की अपेक्षा रखता है और सविकल्पक भी सदतिरिक्त का ग्रहण नहीं करता, इसलिये सदतिरिक्त प्रतियोगिक भेद का ग्रहण कर पाना सम्भव नहीं है। और सत्प्रतियोगिक भेद का ग्रहण कर पाना सम्भव भी नहीं है; क्योंकि सत् ही सत् से भिन्न नहीं हुआ करता। अतः सविकल्प को भेदग्राहक सिद्ध करने के लिये निर्विकल्पक की सन्मात्रग्राहकता के नियम का त्याग करना होगा और स्वरूपमात्र का ग्राहक उसे कहना होगा अथवा विशकलित पदार्थ ग्राहक मानना होगा। तथा च— निर्विकल्पक में पदार्थमात्र की ग्राहकता होने से सविकल्पक में भी पदार्थमात्र की ग्राहकता से प्राप्त हो जायेगी; क्योंकि भेद के प्रतियोगी का ग्रहण होने पर भेद का ग्रहण भी हो जाता है।

किञ्च— दूसरी बात यह भी है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से नील-पीत आदि का स्वरूपतः ग्रहण होने पर सविकल्पक से नील-पीत आदि धर्म के भेद का भी ग्रहण होना सम्भव हो सकता है।

शङ्का— निर्विकल्पक को स्वरूपमात्र का ग्राहक मानने पर अर्थात् स्वरूपमात्र का ग्राहक निर्विकल्पक रहने से उसका कार्य जो सविकल्पक है, उसमें स्वरूपातिरिक्त

भेदग्राहकता तुम्हारे मतानुसार भी कैसे हो सकेगी?

समाधान— ऐसी शङ्का मत करिये; क्योंकि कार्य-कारण दोनों का सर्वात्मना (सम्पूर्णतया) साम्य (समानता) नहीं हुआ करता। जैसे तन्तुओं से प्रावरण कर पाना सम्भव नहीं हो सकता, किन्तु तन्तु निष्पन्न कार्यरूप पट (वस्त्र) से प्रावरण करता जैसे निष्पन्न होता है। अथ च कार्य-कारणभाव के विनाश की भी यहाँ सम्भावना नहीं की जा सकती।

किन्तु निर्विकल्पक को सन्मात्र का ग्राहक मानने पर भेद कोई सन्मात्र का धर्म नहीं है, जिससे तुम्हारे मत के अनुसार भी सविकल्पक को भेदग्राहक कहा जा सके। जो यह समझता हो कि भेद नील-पीतादि का धर्म है, उसके मत में निर्विकल्पक से उसका (भेद का) ग्रहण नहीं होगा; क्योंकि वह निर्विकल्पक केवल सन्मात्र का ही ग्राहक माना जाता है। इसलिये नील-पीतादि धर्मभूत भेद का ग्रहण कैसे जो पायगा? यह विचारणीय है। **तस्मात् नीलादिगुणानां पृथिव्यादिद्रव्याणां चेति।** अत: निर्विकल्पक ज्ञान में नील-पीतादि स्वरूपग्राहकता का स्वीकार करना ही होगा; क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण को अन्य सभी प्रमाणो की अपेक्षा प्रबल माना जाता है, उस कारण भगवती श्रुति भी उसके विरुद्ध कुछ नहीं कह सकती । परमात्मा के प्रकरण में पठित 'नेह नानाऽस्ति किंचन' यह श्रुति तो प्रपञ्चनिर्माण में कारणीभूत परमात्मा (परमेश्वर) के नानात्व (अनेकता) की प्रतिषेधक है, प्रपञ्च भेद का निषेधक नहीं है। 'एकमेवाऽद्वितीयां ब्रह्म' यह श्रुति परमात्मा की समानता का निषेध करती है। अन्यत्र भी यही कहा गया है— 'न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते' इति।

निष्कर्ष यह है कि निर्विकल्पक और सविकल्पक— दोनों में कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है। निर्विकल्पक कारण है और सविकल्पक कार्य है। अत: सविकल्पक का भी वही कार्य होगा, जो निर्विकल्पक का है। निर्विकल्पक सन्मात्र का ग्राहक है, उस कारण सविकल्पक भी सन्मात्र का ही ग्राहक होगा। ऐसी स्थिति में 'इदमस्माद् भिन्नम्' यह इससे भिन्न है इत्याकारक ज्ञान में स्वरूपत: अथवा धर्मत: भेद का ग्रहण कर पाना सम्भव नहीं है; क्योंकि सत् कभी भी सत् (स्वत:) से भिन्न कैसे हो सकेगा? उस कारण नीलादि गुण और पृथिवी आदि द्रव्यों का प्रत्यक्ष होने के कारण प्रपञ्च का अपलाप करना प्रत्यक्षविरुद्ध ही कहा जायगा। इसलिये निर्विकल्पक को सन्मात्र का ही ग्राहक कहना उचित नहीं है अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान भी नील-पीतादि के भेद स्वरूप को बताता है, अर्थात् भेदग्राहक है— यह मानना ही होगा। 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' इत्यादि निषेध श्रुतियों का तात्पर्य प्रपञ्च का कारणीभूत परमेश्वर नानात्व का निषेध करने में है।

यदि तु पृथिव्यादिप्रपञ्चं नापह्नुमहे तद्धर्मं तु भेदमेवेति ब्रूयात्? तदप्यशक्यम्; नीलपीतयोरितरेतराभावस्य प्रत्यक्षानुपलब्धिसिद्धस्यापह्नवासम्भवात्। प्रत्यक्षाभावोऽपि हि प्रत्यक्षवदेव प्रमाणान्तरेभ्यो बलीयान्,

इतरथा शशे चतुष्पात्त्वाद्विषाणित्वमनुमीयेत, अतो भेदापलापो न सम्भवति।

शङ्का— अद्वैतवादी का कहना है कि पृथिव्यादि जो प्रपंच है, उसका अप्रलाप (अपह्नव) हम नहीं कर रहे हैं। हम तो केवल प्रपञ्चधर्मरूप भेद का अपलाप (अपह्नव) कर रहे हैं— **तदपि अशक्यम् नीलपीतयोरितरेतराभावस्येति**।

समाधान— भेद नाम की तो कोई वस्तु ही नहीं है, जिसका अपलाप किया जाय। **नीलपीतयोरितरेतराभावस्य प्रत्यक्षानुपलब्धिसिद्धस्य अपह्नवाऽसम्भवात् इति।** शङ्काकार का उक्त कथन भी उचित प्रतीत नहीं हो रहा है; क्योंकि नील और पीत के इतरेतराभावरूप भेद को तार्किक विद्वान् प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध करते हैं। जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण श्रेष्ठ होने से ही वह प्रबल भी है, उसी तरह प्रत्यक्षाभावरूप अनुपलब्धि भी अन्यान्य प्रमाणों की अपेक्षा प्रबल हैं। उस कारण अनुपलब्धि प्रमाण से श्रुति का बाध हो जायगा। एवञ्च तार्किकों के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध और तुम्हारे तथा हमारे मत से भी अनुपलब्धिप्रमाणं सिद्धं का अपलाप करना सम्भव नहीं है; इसलिये भेद का अपलाप किसी भी तरह नहीं किया जा सकता। अत: भेद का अस्तित्व तो स्वीकार करना ही होगा।

शङ्का— आपके मत में (अद्वैतियों के मत में) भेद प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है, किन्तु अनुपलब्धि प्रमाणगम्य ही हैं; किन्तु वह अनुपलब्धि प्रमाण शब्दप्रमाण की अपेक्षया निर्बल (दुर्बल) है। तब 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुति के द्वारा प्रतिपादित भेदाऽभाव की भेदग्राहिका जो अनुलब्धि है, उसके द्वारा बाध कैसे हो सकेगा?

समाधान— **प्रत्यक्षाभावोऽपि हि प्रत्यक्षवदेव प्रमाणान्तरेभ्यो बलीयान् इति।** प्रत्यक्षाऽभाव अर्थात् अनुपलब्धि भी प्रत्यक्षाऽभाव स्वरूप होने से प्रत्यक्षभिन्न (प्रत्यक्षेतर) प्रभाणान्तरों से (अन्य प्रमाणों से) प्रबल ही माननी होगी, इसलिये उस अनुपलब्धि का बाध श्रुति से होना सम्भव नहीं है। वस्तुत: देखा जाय तो अनुपलब्धि भी अभावविषयक प्रत्यक्षविशेष ही है, उस कारण अनुपलब्धि को शब्द प्रमाण की अपेक्षा निर्बल (दुर्बल) नहीं कहा जा सकता। विपक्ष में बाधक बता रहे हैं— 'इतरया शशे चतुष्पात्त्वाद् विषाणित्वमनुमीयेत, अतो भेदापलापो न सम्भवति'। इति।

यदि अनुपलब्धि को अन्य प्रमाणों की अपेक्षया दुर्बल जाना जाय तो अनुपलब्धि प्रमाण से शश (खरगोश) में विषाणाऽभाव के ज्ञात (अवगत) रहने पर भी शशो विषाणी (विषाणवान्) चतुष्पात्त्वात्, गोवत् ऐसा अनुमान शश में विषाणित्व का भी किया जा सकता है; किन्तु ऐसा अनुमान कोई करता नहीं है और आज तक किया भी नहीं है। इसलिये अनुपलब्धि प्रमाण को अन्य प्रमाणों की अपेक्षया प्रबल (बलवान) स्वीकारना होगा और उस अनुपलब्धि प्रमाण से गृहीत किये गये भेद का श्रुति से अपलाप करना कभी सम्भव नहीं है— इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र ने स्पष्ट कर दिया

है कि अतो भेदापलापो न सम्भवति इति।

यदि त्वितरेतराश्रयतया इतरेतराभावग्रहणस्य अनवक्लृप्तेरविद्यामात्र-निमित्तं तदित्युच्यते? तदपि— यदि भिन्नतया प्रतियोगिनमाश्रयं च गृहीत्वा तत इतरेतराभावो गृह्येत ततः स्यात्, नीलपीतयोस्त्वितरेतरा-भावानादरेण स्परूपेण गृहीतयोः पश्चादितरेतराऽभावग्रहणे किमित-रेतराश्रयत्वम्?

शङ्का— नील से पीत का भेदग्रहण करने में अर्थात् नीलात् पीतं भिन्नम्–इत्याकारक भेदज्ञान होने में पीत से नील के भेद ग्रहण की अपेक्षा रहती है, अर्थात् पीतात् नीलं भिन्नम्–इत्याकारक भेदज्ञान की अपेक्षा हुआ करती है।

उसी तरह पीत से नील का भेदज्ञान होने में नील से पीत के भेदग्रहण (भेदज्ञान) की अपेक्षा रहती है— यह अन्योऽन्याश्रय (इतरेतराश्रय) दोष प्राप्त होता है। उस कारण इतरेतराभावरूप भेद की अन- वक्लृप्ति अर्थात् असामञ्जस्य होने से अथवा इतरेतरा-भावरूप भेद की ग्रहण असम्भव होने से अथवा उसके ग्रहण करने में किसी उपाय के न होने से कहना पड़ेगा कि उस भेद के ग्रहण करने में एक एकमात्र अविद्या ही कारण है। अतः भेद— आविद्यक होने से उसे मिथ्या ही समझना चाहिये। कहा भी है— भेदोऽयं भिन्नधर्मिप्रतिभटविषयजानज्ञानवेद्यः इत्यादि। और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सन्मात्र को विषय करता है। अतः कोई विरोध नहीं है।

समाधान— तदपि–यदि भिन्नतया प्रतियोगिनमाश्रयं च गृहीत्वा तत इतरेत-राऽभावो गृह्येत ततः स्यादिति। भेदग्रहण होने पर अन्योऽन्याश्रय दोष तब होगा। जब भेद प्रतियोगी और अनुयोगी— इन दोनों के परस्पर भेद से भिन्न है— यह ज्ञान होने पर यदि भेद का ग्रहण होता हो तो अन्योऽन्याश्रय दोष लग सकता है। नील-पीतयोरिति; किन्तु यहाँ तो नीलात् पीतं भिन्नम् में प्रतियोगी अनुयोगी स्वरूप जो नील और पीत हैं, उनके इतरेतराऽभाव का ग्रहण किये बिना ही स्वरूपेणैव = स्वरूपतः एव गृहीत होने के पश्चात् अर्थात् स्वरूपमात्रेण ग्रहण करने के अनन्तर इतरेतराभावरूप भेद का ग्रहण होने पर कोई किसी प्रकार से भी अन्योऽन्याश्रयदोष नहीं हो रहा है। अर्थात् भेदज्ञान प्राप्त करने लिये प्रतियोगी- अनुयोगी में परस्पर भेदग्रहण की अपेक्षा ही नहीं है। अतः अन्योन्याश्रय दोष के प्राप्त होने का कोई अवसर भी नहीं है।

किंच— अन्य कारण यह भी है—धर्मभेदवाद में इस अन्योऽन्याश्रय दोष की सम्भावना कदाचित् हो भी सकती है, किन्तु स्वरूपभेदवाद में तो भेद के अनुपयोगी स्वरूप होने के कारण यहाँ अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं हो रहा है। धर्म भेदस्वरूप है— यह एक पक्ष है। इसे धर्मभेदवाद कहते हैं। दूसरा पक्ष है— भेद अनुयोगीस्वरूप ही है। इसी को स्वरूपभेदवाद कहते हैं। प्रकृत प्रसंग में धर्मभेदवाद की दृष्टि से अन्यो-

न्याश्रयदोष की संभावना हो भी सकती है, किन्तु स्वरूपभेदवाद में वह दोष (अन्यो-न्याश्रय) कैसे लग सकेगा? उसका आश्रय क्या है? क्योंकि स्वरूपभेदवाद में भेद ही अनुपयोगी स्वरूप है, उस कारण उन दोष की यहाँ संभावना ही नहीं है।

किञ्च— यहाँ पर अन्योऽन्याश्रयदोष के न होने में एक अन्य कारण यह भी है कि जैसे सामान्य को सामान्यान्तर (अन्य सामान्य) की अपेक्षा नहीं हुआ करती, विशेष को विशेषान्तर की अपेक्षा नहीं हुआ करती, ज्ञान को ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं होती, प्रकाश को प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं रहती, उसी तरह भेद को भी भेदान्तर की अपेक्षा नहीं है।

शङ्का— बौद्ध तो सामान्य (जाति) मानते ही नहीं, इसलिये सामान्य का स्वीकार न करने के कारण और ज्ञान के स्वयं प्रकाश रहने के कारण उक्त दृष्टान्त को विषम दृष्टान्त कहा जा सकता है। उस दृष्टान्त को प्रकृत प्रसंग में नहीं दिया जा सकता; अतः दृष्टान्त यह देना होगा कि जैसे रूप को स्व प्रत्यक्ष में रूपान्तर की अपेक्षा नहीं होती, उसी तरह भेद को भी भेदान्तर की अपेक्षा नहीं होगी।

यदि तु द्वित्वमपह्नूयते न पृथिव्यादयः तेषां च मिथो भेदः। तदपि प्रत्यक्षविरुद्धम्। संख्यायाः प्रत्यक्षत्वात्। सत्यपि प्रत्यक्षविरोधे तदुपमर्देन प्रवर्तमानस्तद्बाधेनैव आगमोऽद्वैतमवगमयतीति चेत्? न, प्रवृत्त्यसम्भवात्। प्रत्यक्षं हि निरपेक्षं शीघ्रं जायमानं स्वविरुद्धस्य आगमिकज्ञानस्य पद-पदार्थसन्निध्यपेक्षायोग्यत्वन्यायालोचनसापेक्षतया विलम्बितप्रवृत्तेः प्रवृत्तिमेव निरुणद्धि।

शङ्का— पूर्वपक्षी अद्वैतवादी वेदान्ती कह रहा है कि भले ही पृथिव्यादि प्रपञ्च और उसका परस्पर भेद भी रहे, उसके रहने से हमें कोई हानि नहीं है। हमारा कहना तो केवल इतना ही है कि प्रपञ्चगत द्वित्व नहीं है। हम तो प्रपञ्चगत द्वित्व का अपलाप कर रहे है अर्थात् द्वैत नहीं है— इतना ही कह रहे हैं। द्वैत के न रहने से (अभाव रहने से) अद्वैत स्वयं ही सिद्ध हो जायगा। इसी अभिप्राय का समर्थन श्रुति भी कर रही है— एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म। भेद अन्योन्याभाव रूप है और द्वित्व संख्यास्वरूप है; अतः पुन-रुक्ति भी नहीं है।

समाधान— तदपीति । प्रतियोगी और अनुयोगी— इन दोनों का परस्पर जो भेद है, उससे यह प्रकृत भेद भिन्न (पृथक्) है। यह ज्ञात होने के पश्चात् यदि भेद का ग्रहण (ज्ञान) होता है, तब पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय दोष होने की सम्भावना हो सकती है, किन्तु प्रकृत प्रसंग में वैसी स्थिति नहीं है; क्योंकि नील और पीत— इन दोनों के अन्योऽन्याभाव (इतरेतराभाव) का ग्रहण किये विना ही नील-पीत दोनों का ग्रहण (ज्ञान) स्वरूपतः (स्वरूपेण) ही हो जाता है, तदन्तर इतरेतराभाव का ग्रहण होता है। अतः अन्योऽन्याश्रय

दोष कैसे (क्यों) होगा? तथा च अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं हो रहा है।

उक्त दोष के न हो पाने में एक अन्य कारण और भी है; धर्मभेदस्वरूप है— यह एक पक्ष है—इस पक्ष को धर्मभेदवाद के नाम से कहते हैं। दूसा पक्ष है— अनुयोगी-स्वरूप भेद को ही स्वरूपभेदवाद के नाम से कहा जाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में धर्मभेदवाद की दृष्टि से अन्योन्याश्रय दोष की संभावना कर सकते हैं, किन्तु स्वरूपभेदवाद में अन्योऽन्याश्रयदोष की संभावना कैसे होगी? क्योंकि उसकी संभावना करने में कोई प्रमाण नहीं है।

शङ्का— पूर्वपक्षी अद्वैतवादी (अभेदवादी) यह शङ्का कर सकता है कि पृथिव्यादि प्रपञ्च तथा उसका परस्पर एक-दूसरे से भेद भी रहे तो भी हमें कोई हानि नहीं है, किन्तु प्रपञ्च में जो द्वित्व है, उसका हम निषेध कर रहे हैं अर्थात् द्वैत नहीं है— यह हमारा कहना है। तब द्वैत के न रहने पर अद्वैत की सिद्धि स्वत एव हो जाती हैं।

समाधान— किन्तु पूर्वपक्षी अद्वैतवादी का उक्त कथन प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। क्योंकि जैसे भेद का अपलाप (छिपाना) प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, वैसे ही द्वित्व का अपवाय भी प्रत्यक्ष के विरुद्ध है; क्योंकि द्वौ घट-पटौ आदि स्थलों में घट और पट— इन दोनों में द्वित्व संख्या प्रत्यक्षसिद्ध है। इसे कोई भी छिपा नहीं सकता। इसलिये अपका कहना अर्थात् हम द्वित्व का ही अपलाप कर रहे हैं।

यह संगत नहीं हो रहा है। भेद का स्वरूप है— अन्योन्याभाव। यह अन्योन्याभाव तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिक हुआ करता है। और द्वित्व संख्यारूप है, अत: पुनरुक्ति भी नहीं कह सकते। एवञ्च द्वित्व का अपलाप करना भी प्रत्यक्ष के विरुद्ध ही है। क्योंकि संख्याया: प्रत्यक्षत्वात्। सत्यपि प्रत्यक्षविरोधे तदुपमर्देन प्रवर्तमानस्तद् बाधेनैव आगमोऽद्वैतमवगमयतीति चेत्? न, प्रवृत्त्यसम्भवात् प्रत्यक्षं हि निरपेक्षं शीघ्रं जायमानं स्वविरुद्धस्य आगमिकज्ञानस्य पद-पदार्थसान्निध्यपेक्षा योग्यत्वन्यायालोचन-सापेक्षतया विलंबितप्रवृत्ते: प्रवृत्तिमेव निरुणद्धि।

द्वैती— द्वित्व का अपलाप करना भी प्रत्यक्ष के विरुद्ध ही है, क्योंकि द्वौ घट-पटौ आदि स्थलों में संख्यारूप जो द्वित्व है, वह भी प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, अत: उसका अपलाप (अपह्नव) करना असंभव है। भगवती श्रुति भी प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध किसी ज्ञात (अर्थ) को बताने में समर्थ नहीं होती।

शङ्का— सत्यपि प्रत्यक्षविरोधे तदुपमर्देनेति। अद्वैतवादी पूर्वपक्षी कहता है कि घट-पटौ यह प्रत्यक्ष द्वित्व को बताता है और एकमेवाऽद्वितीयम्— यह आगम द्वित्वाऽभाव को अर्थात् अद्वैत को बताता है। अत: प्रत्यक्ष प्रमाण से आगम का विरोध स्पष्ट हो रहा है। इस स्थिति में आगम प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षया प्रबल रहने के कारण प्रत्यक्ष का उपमर्दन करने अद्वैत का ही बोधन करेगा।

समाधान— जिस विषय में आगम और प्रत्यक्ष का विरोध होगा, वहाँ आगम प्रवृत्त ही नहीं होगा; क्योंकि प्रत्यक्ष तो समस्त प्रमाणों से प्रबल हुआ करता है और वह सायं निरपेक्ष (स्वतंत्र) हुआ करता है। अन्य प्रमाण (आगमातिरिक्त अन्य प्रमाण) प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखते हैं। इसलिये निरपेक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण अविलंब प्रवृत्त होकर अपने विरोधी आगम से उत्पन्न होने वाले ज्ञान की उत्पत्ति को ही अवरुद्ध कर देगा; क्योंकि आगम तो शब्दरूप होता है।

किञ्च— अशक्यमेव श्रुत्या प्रपञ्चस्य असत्यत्वं बोद्धुम्, बुध्यमाने हि श्रुतिरपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वादसती बोद्धव्या स्यात्। कथं च श्रुत्यैव श्रुतेरसत्त्वं बुध्येत? असत्त्वेन हि प्रतीयमाना न प्रमाणं स्यात्। प्रमाणत्वे त्ववस्थिते सत्तया प्रतीयमानाया: श्रुतेर्न मिथ्यात्वं शक्यं वक्तुम्। न हि एक स्यैव वस्तुनो युगपदेव सत्त्वमसत्त्वं च समुच्चित्य बोद्धुमशक्यम्। अन्यतरोपमर्देन हि अन्यतरद् बुद्धावारोहति। ततश्च श्रुतिरस्तीति चेत्? न प्रपञ्चस्याऽभाव: सम्भवति, श्रुतेरपि प्रपञ्चत्वात्। नास्ति चेच्छ्रुति? प्रमाणाभावादेव न प्रपञ्चापलाप: सम्भवति।

पूर्वोक्त विषय को ही किञ्च से बता रहे हैं। किञ्च अर्थात् अन्य कारण यह भी है कि एकमेवाऽद्वितीयम् इत्यादि श्रुतिवचन से प्रपञ्च का असत्त्व (मिथ्यात्व) बताना सम्भवनीय ही नही हे, क्योंकि श्रुति भी तो प्रपञ्च के ही अन्तर्गत है, इसलिये वह श्रुति भी असती (मिथ्या) है। एवञ्च मिथ्याभूत श्रुति से प्रपञ्च का मिथ्यात्व प्रामाणिक कैसे माना जायगा? इस पर भी दुराग्रह करके मिथ्यत्व को प्रामाणिक यदि कोई कहे, तो द्वैतापत्ति (भेद) का निवारण ही नहीं हो पायगा।

कथं च श्रुत्यैव श्रुतेरसत्त्वं बुद्ध्येतेति? पूर्वोक्त के अतिरिक्त अन्य कारण यह भी है कि श्रुति से ही श्रुति का मिथ्यात्व कैसे जाना जायगा? क्योंकि असत्त्व रूप से प्रतीत होने वाली श्रुति को प्रमाण कैसे कहा जायेगा? उसे भी यदि प्रामाणिक कहने का दुराग्रह ही कोई करे तो सद्रूप से प्रतीत होने वाली श्रुति को मिथ्या नहीं कहा जा सकेगा।

शङ्का— न ह्येकस्यैव वस्तुनो युगपदेवेति। अर्थात् एक ही वस्तु को एक ही समय में सत्त्व और असत्त्व (सत् और असत्) रूप में क्यों नहीं कह सकते?

समाधान— एक ही वस्तु का एक ही समय में सत्त्व और असत्त्व (होना और न होना) इसलिये नहीं कर सकते कि परस्पर विरुद्ध दो पदार्थों में अन्यतर (एक) का बाध हुए बिना दूसरा पदार्थ बुद्ध्यारूढ (ज्ञान का विषय) नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह है कि जब सत्त्व का बाध होगा, तभी उसका प्रतियोगी असत्त्व बुद्ध्यारूढ (ज्ञान का विषय) हो सकता है। उसी तरह असत्त्व का बाध होने पर ही सत्त्व बुद्ध्यारूढ

(बुद्धि का विषय) हो सकता है; क्योंकि परस्पर विरुद्ध पदार्थों का सामानाधिकरण्य नही हुआ करता।

शङ्का— ततश्च श्रुतिरस्तीति चेदिति। श्रुति जब विद्यमान है तो उसी से प्रपञ्च को मिथ्या जाना जा सकता है।

समाधान— उपर्युक्त कथन करना सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रपञ्च का अभाव होना तो सम्भव ही नहीं है; क्योंकि श्रुति भी प्रपञ्च से पृथक् नहीं है, वह भी प्रपञ्च के ही अन्तर्गत है। श्रुति भी प्रपञ्च के अन्तर्गत रहने से वह भी मिथ्या है, अतः श्रुति के मिथ्या रहने से प्रपञ्च को मिथ्यात्व को प्रामाणिक कैसे कहा जायगा?

किञ्च— मिथ्यात्व को यदि प्रामाणिक कहा जाय तो द्वैतापत्ति माननी होगी। यदि मिथ्यात्व को सत्यत्वाभावरूप कहें तो अभाव तो अधिकरणस्वरूप ही हुआ करता है। इसलिये मिथ्यात्व को ब्रह्मस्वरूप मानना होगा, तब तो द्वैतापत्ति कहनी होगी। तब द्वैत का परिहार करने के लिये तो उद्यत हुए किन्तु शून्य की ही स्थापना कर बैठे; क्योंकि सत्यत्वाऽभावरूप मिथ्यात्व को ब्रह्मस्वरूप कहने पर ब्रह्म में मिथ्यास्वरूपत्व की प्राप्ति होने से उसमें मिथ्यात्व ही होगा।

यदि यह कहें कि प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् शुक्तिरजतवत्— इस अनुमान प्रयोग से प्रपञ्च में मिथ्यात्व प्राप्त होगा; किन्तु इस प्रकार अनुमान प्रयोग नहीं कर सकते; क्योंकि उक्त अनुमान प्रयोग सोपाधिक है। प्रातिभासिकत्व में की और प्रतिभासमात्र शरीर में कार्याऽकारित्व में उपाधिंत्व रहता है। शुक्त रजत में कार्याऽकारित्व होता है, उस कारण साध्यव्याध्यकत्व–प्रपञ्च में नहीं है, अतः उसमें साध्यताऽव्यापकत्व है।

इस पर कोई यह शङ्का करे कि शुक्ति–रजत, सज्जु-सर्प आदि मिथ्या माने जाने पर भी उससें हर्ष-भय-कंप आदि कार्य होते हैं, उस कारण साध्यव्यापकत्व— नहीं है। ऐसा शङ्का करना ठीक नहीं है; क्योंकि हर्ष-भय आदि ज्ञान के कार्य हैं, शुक्ति-रजतादि तो अकार्य हैं, उस कारण शुक्ति-रजतज्ञान से हर्ष होता है, केवल शुक्ति-रजत से हर्ष नहीं होता। उसी तरह रज्जू-सर्प ज्ञान से भय होता है, केवल रज्जू सर्प से नहीं। वस्तुतः सत्य पदार्थों में भी स्वरूपतः हर्षादिजनकत्व सम्भव नहीं है, तब मिथ्याभूत पदार्थ में हर्षजनकत्व कहना दूर ही रहा। अन्यथा अपने आंगन में अज्ञात निधि से भी हर्ष होने लगेगा; किन्तु अज्ञात निधि से हर्ष नहीं होता है। अतः अभिलषित पदार्थों के ज्ञात होने पर ही वे हर्षजनक हुआ करते हैं; किन्तु द्वेष्य पदार्थों के तो ज्ञान से ही भय-कंपादि उत्पन्न होने लगते हैं, उस कारण शुक्ति रजतादि पदार्थों में कार्यकारित्व नहीं हुआ करता। तथापि शुक्ति-रजतज्ञान मिथ्या नहीं है; क्योंकि वह ज्ञान तो उत्पन्न हो ही चुका है।

किञ्च— श्रुति अपना असत्त्व बोधन करने में समर्थ नहीं है, अन्यथा आत्मव्याघात विरोध होगा। इसी आशय को ग्रन्थकार ने 'कथं च श्रुत्यैव श्रुतेरसत्त्वं बुद्ध्येत्'? **कहकर**

व्यक्त किया है। 'एकमेवाऽद्वितीयम्' इस श्रुति से प्रपञ्च के मिथ्यात्व (असत्त्व) को बताना सम्भव ही नहीं है; क्योंकि श्रुति भी प्रपञ्च के अन्तर्गत ही है, अत: उसे भी मिथ्या कहना होगा। मिथ्यात्त्व को यदि प्रामाणिक कहते हैं तो द्वैत की प्राप्ति होगी, उसका निवारण आप कैसे कर सकेंगे? कथं च श्रुत्यैव श्रुतेरसत्त्वं बुध्येत्? अर्थात् श्रुति से ही श्रुति का मिथ्यात्व कैसे समझा जायेगा? क्योंकि असत्त्व रूप से प्रतीयमान श्रुति को प्रमाण कैसे कहा जायगा? यदि उसे प्रामाणिक कहते हैं, तो सद्रूप से प्रतीयमान होने वाली श्रुति को मिथ्या नहीं कहा जात सकेगा।

शङ्का— एक ही वस्तु का एक ही काल में सत्त्व और असत्त्व दोनों क्यों नहीं समझा जा सकता?

समाधान— इसलिये नहीं समझा जा सकता कि एक का बाध किये बिना दूसरी वस्तु ज्ञान का विषय नहीं बन सकती अर्थात् सत्त्व का बाध करके ही असत्त्व का ज्ञान होता है। उसी तरह असत्त्व का बाध करके ही सत्त्व का ज्ञान हो पाता है। परन्तु इन दोनों का परस्पर विरोध होने से सामानाधिकरण्य की उपपत्ति नहीं हो सकती।

शङ्का— हम श्रुति प्रमाण के द्वारा प्रपञ्च को मिथ्या कह सकते हैं।

समाधान— उक्त श्रुति प्रमाण से प्रपञ्च को मिथ्या नहीं कह सकते; क्योंकि प्रपञ्च का अभाव होना तो सम्भव नहीं है। यदि आप अपने को बचाने के लिये कहें कि श्रुति भी प्रपञ्च के अन्तर्गत है, इसलिये वह श्रुति नहीं है तो भी प्रमाण के न रहने से अर्थात् प्रमाण के अभाव में प्रपञ्च का अपलाप करना कथापि सम्भव नहीं है।

ननु स्वयंप्रकाशं ब्रह्म किमस्यान्येन प्रमाणेन? भवतु ब्रह्म स्वयंप्रकाशं प्रपञ्चाभावस्य किमायाताम्? स हि प्रमाणमपेक्षत एव।

शङ्का— (वेदान्ती) ननु स्वयं प्रकाशं ब्रह्म किमस्यान्येन प्रमाणेनेति? ब्रह्म तो स्वयं प्रकाश है। अत: उसे बताने के लिये अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। आप तो प्रमाण की अपेक्षा कहकर अनिष्टापादन कर रहे हैं। एवञ्च ब्रह्म तो स्वयंसिद्ध है, उसके अतिरिक्त जो भी हो, वह सभी मिथ्या है।

मीमांसक— ब्रह्म स्वयं प्रकाश भले ही हो, उससे प्रपञ्चाभाव कहने में क्या उपलब्ध हुआ? अत: प्रपञ्चाऽभाव कहने के लिये तो प्रमाण की अपेक्षा तो करनी ही पड़ेगी। अत: ब्रह्म कहो स्वयं प्रकाश स्वीकार करने पर भी प्रपञ्च को अस्वीकार नहीं कर सकते। अन्य कारण यह भी है कि प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त करने के लिये विषय (पदार्थ) का कारण मानना होता है; क्योंकि विषयता सम्बन्ध से प्रत्यक्ष के प्रति तादात्म्येन विषय कारण होता है।

किञ्च— परस्परविरोधे ही न प्रकारान्तरस्थिति:— इस न्याय से प्रपञ्च का सत्त्व कहिये अथवा असत्त्व कहिये, दोनों में से किसी एक को तो स्वीकार करना ही होगा।

प्रपञ्च को मिथ्या नहीं कह सकते; क्योंकि वह तो उभयाविलक्षणस्वरूप का है। और आपने (वेदान्ती ने) सदसद्विलक्षण को ही मिथ्या माना है।

शङ्का— जैसे गोत्व और अश्वत्व परस्पर विरुद्ध है, तथापि गज में न गोत्व है और न अश्वत्व ही है, उसी तरह प्रकृत में भी सत्त्वाऽसत्त्व का परस्पर विरोध रहने पर भी उन दोनों की संभावना प्रपञ्च में नहीं की जा सकती, किन्तु गज में गोत्व-अश्वत्व से विलक्षण गजत्व के समान प्रपञ्च में भी सत्त्वाऽसत्त्व विलक्षण मिथ्यात्व की संभावना की जा सकती है।

समाधान— (मीमांसक) आपके द्वारा प्रदत्त दृष्टान्त विषम (अनुचित) है अर्थात् श्रीमधुसूदन सरस्वती का उक्त दृष्टान्त विषम है; क्योंकि चतुष्पाद (चार पैरों वाले) जाति के अन्तर्गत अनेक गो आदि पशु हैं ही और उनके गोत्वादि धर्म भी हैं। वे परस्पर विरुद्ध भी हैं, किन्तु उनमें से ही कोई एक धर्म किसी पशु में रहता है अत: गोत्व या अश्वत्व के न रहने पर भी गजत्व धर्म तो गज में रहता ही है, उसे किसी अनुमानादि प्रमाण से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। उसी तरह यदि मिथात्व सिद्ध ही है तब तो सिद्धसाधनता दोष मानना होगा और यदि मिथ्यात्व को सिद्ध न मानें तो प्रपञ्चमात्र का सत्त्व अथवा असत्त्व धर्म तो सिद्ध है ही। उक्त दोनों धर्मों में परस्पर विरोध रहने से या तो सत्व ही रहेगा अथवा असत्त्व ही रहेगा। यहाँ पर सत्त्व-असत्त्व की तरह कोई कत्त्व या खत्व अथवा मिथ्यात्व धर्म जैसा अन्य धर्म दृष्टान्त पक्ष में गजत्व के समान सिद्ध नहीं है, जिसके विरोध के कारण प्रपञ्च से सत्त्वाऽसत्त्व— दोनों ही धर्म निवृत्त हो जायँ? कहा भी है—

प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धविरुद्धार्थाऽभिधायिन: ।
वेदान्ता यदि शास्त्राणि बौद्धै: किमपराध्यते।। इति।

कथं चाऽविद्यमानस्य प्रपञ्चस्य प्रतिभासः? अविद्ययेति चेत्? कस्य पुनरियमविद्या? जीवानामिति चेत्? न, तेषामभावात्। भावे वा द्वैत-प्रसङ्गः। ब्रह्मणि तु विशुद्धविज्ञानात्मके निरवाकाशैवाऽविद्या।

शङ्का— मीमांसक का कहना है—**कथं चेति**। प्रत्यक्ष के प्रति विषय (पदार्थ = वस्तु) कारण (हेतु) हुआ करता है। अर्थात् कोई विषय हो तो प्रत्यक्ष होगा और न हो तो प्रत्यक्ष नहीं होगा। ऐसी स्थिति में अर्थात् प्रपञ्च का अभाव रहने पर (प्रपञ्च के न रहने पर) उसका (प्रपञ्च का) प्रत्यक्ष होना कथमपि सम्भव नहीं है। अत एव आपने प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति बताई है।

शङ्का— प्रातिभासिक प्रपञ्च की ही सत्यत्त्वेन (सत्य रूप से) प्रतीति होती है।

समाधान— उपर्युक्त शङ्का उचित नहीं है; क्योंकि प्रातिभासिक पदार्थ कार्यकारी

नहीं हुआ करता, और प्रपञ्च तो कार्यकारी है, उस कारण उसे (प्रपञ्च को) प्रातिभासिक कहना अनुचित है।

शङ्का— अविद्या के कारण ही प्रपञ्च का प्रतिभास हो रहा है। अविद्या से यदि प्रपञ्च का प्रतिभास हो रहा है तो बताओ कि यह अविद्या किसकी है? यह अविद्या जीव से सम्बद्ध है? या ईश्वर से सम्बद्ध है? अथवा शुद्ध ब्रह्म से सम्बद्ध है?

उक्त अविद्या को जीव से सम्बद्ध नहीं कर सकते; क्योंकि अद्वैत वेदान्तियों के मत में जीवों को मिथ्या माना गया है। यदि जीवों को सत्य कहते हैं, तो द्वैतापत्ति होगी। यदि अविद्या को ईश्वर से सम्बद्ध कहते हैं, तो ईश्वर भी अद्वैतियों के मत में मिथ्या ही है। यदि उसे मिथ्या न कहें तो द्वैत (भेद) मानना होगा।

यदि अविद्या को शुद्ध ब्रह्म से सम्बद्ध कहते हैं तो मध्याह्न में प्रकाशित होने वाले सूर्य में तम (अन्धकार) की तरह विशुद्ध विज्ञानरूप ब्रह्म में अविद्या का सम्बन्ध (समवाय) होना सम्भव ही नहीं है। अन्यथा ब्रह्म में ज्ञानस्वरूपता का सम्भव ही नहीं हो सकेगा। अविद्या के सबन्ध से अशुद्ध होने के कारण ईश्वर के समान उस ब्रह्म के भी मिथ्या हो जाने के कारण शून्यवाद का ही प्रवेश हो जायगा। एवञ्च विशुद्ध विज्ञानस्वरूप ब्रह्म में अविद्या के लिये कोई अवकाश ही नहीं है। इसलिये अविद्या से प्रपञ्च का मान कहना निरतां असंगत ही है।

शङ्का— अद्वैती कहता है—विद्यात्ममपि ब्रह्म, अविद्याशबलमिवेति। अर्थात् विशुद्ध ब्रह्म तो ज्ञान (चैतन्य) रूप है, उस कारण उसके साथ अविद्या का सम्बन्ध वास्तविक (परमार्थतः) नहीं है। फिर भी भ्रम के कारण अविद्या शबलमिव (अविद्या से चित्रित हुए) की तरह ज्ञात मात्र होता है। अतः कोई दोष नहीं है।

समाधान— कस्येयं भ्रान्तिरिति। मीमांसक पूछता है—यह भ्रम (भ्रान्ति) किसका है? इसके उत्तर में यदि आप कहें कि किसी का नहीं तो आप ठीक ही कह रहे हैं; किन्तु आपके कहने में वदतो व्याघात हो रहा है। अर्थात् आप भ्रान्ति तो मान रहे हैं, किन्तु वह (भ्रान्ति) किसी से सम्बद्ध नहीं है—इस विरोधपूर्ण (विरोधभरी) बात को तो हालिक (हल जोतने वाला=निपट मूर्ख) भी आसानी से जानता है।

यदि वह भ्रान्ति (भ्रम) क्वचित् समवेत है, तो क्या वह जीव से या ईश्वर से अथवा शुद्ध ब्रह्म में से किसी से समवेत (सम्बद्ध) नहीं है? जीव के साथ भ्रान्ति का सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है; क्योंकि आप अद्वैतियों के मतानुसार तो जीवों के भी कल्पित होने से वे जीव मिथ्या ही हैं। यदि ब्रह्म की भ्रान्ति कहें तो वह भी सम्भव नहीं हैं; क्योंकि वह ब्रह्म ज्ञानरूप (विद्यारूप) ही है। विद्यारूप (ज्ञानरूप) रहने पर भी ब्रह्म में अविद्यारूपा भ्रान्ति रहती है— कहें तो उस अविद्यारूप भ्रान्ति का उच्छेद (विनाश) किससे नष्ट किया जा सकेगा?

विद्यात्मकमपि ब्रह्माऽविद्याशबलमिव भ्रान्त्याऽवगम्यत इति चेत्? कस्येयं भ्रान्तिः? यदि न कस्यचित्, सूक्तम्। जीवानामिति चेत्? न, तदभावात्। यदि ब्रह्मणः? नाऽस्य भ्रान्तिः सम्भवतीत्युक्तम्। यदि च विद्यारूपेऽपि अविद्या स्यात्, केनाऽसावुच्छिद्येत? ध्यानादिभिरिति चेत्? न, तेषामप्यभावात्, भावे तु द्वैताऽऽपत्तिः। ब्रह्मणि तु सहाऽवस्था-नादविरुद्धाऽविद्या, न तेनोच्छेत्तुं सा शक्या। ततश्चाऽनिर्मोक्षप्रसङ्गः।

अद्वैती कहता है—ब्रह्म–विशुद्ध रहने पर भी अविद्या के कारण अपने को अशुद्ध जीवरूप समझता है, उस जीव की अविद्यानिवृत्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि से निवृत्ति होती है। अविद्यानिवृत्ति होने के बाद वह ब्रह्म तो शुद्ध ही है।

मीमांसक— हे वेदान्तियों! वे श्रवणादि भी तो आपके मतानुसार मिथ्या ही हैं। मिथ्याभूत ध्यानादि से अविद्या की निवृत्ति नहीं की जा सकती। क्योंकि मिथ्या पदार्थ कार्यकारी नहीं हुआ करता। यदि ध्यानादिकों को मिथ्या न कहते हों तो आपको छल मानना होगा। यदि आप कहें कि अविद्या की निवृत्ति स्वयं ही (अपने-आप) हो जाती है, तो यह भी आप नहीं कह सकते; क्योंकि वह (अविद्या) तो जड़ पदार्थ है। जड़ पदार्थ निवृत्तिरूप क्रियाशील नहीं हुआ करता और ध्यानादि पदार्थ सर्पादिरूप भय से उत्पादक होते हैं, जिस कारण अनादिकाल से आपना आसन जमाकर बैठी हुई अविद्या ध्यातादि के भय से स्वयं ही निवृत्त हो जाय। अतः ध्यानादि के द्वारा उसका निवृत्त होना कदापि सम्भव नहीं है। अन्यथा द्वैतापत्ति होगी।

किञ्च— यदि ब्रह्म में अविद्या का अस्तित्त्व मान ही लिया जाय तो ब्रह्म और अविद्या के सहावस्थान (एक साथ रहने से) से आपस में विरोध है ही नहीं—यह कहना होगा। और जब ब्रह्म और अविद्या—दोनों में विरोध है ही नहीं तो उस ब्रह्म के द्वारा अविद्या का उच्छेद (विनाश) कैसे किया जा सकेगा? अर्थात् उच्छेद करना कदापि सम्भव नहीं है। इस पर यदि आप यह कहें कि ध्यानादिरूप विद्या आदि पदार्थों का समुदाय (श्रवण, निदिध्यासन आदि) ब्रह्म में ही हैं तो ब्रह्म में ध्यानादि और अविद्या दोनों ही हैं— यह कहना होगा। तब ध्यानादिकों के साथ रहने से अविद्या के साथ ध्यानादिकों का अविरोध ही मानना होगा। जब विरोध ही नहीं है तब ध्यानादिकों के द्वारा अविद्या का अच्छेद (विनाश) होना कदापि सम्भव नहीं है। जब अविद्या का उच्छेद ही नहीं तब मोक्ष प्राप्ति की संभावना भी कैसे की जा सकेगी?

किञ्च— ब्रह्म तो ज्ञानस्वरूप और व्यापक है। ब्रह्म के व्यापक रहने से ज्ञान में ही व्यापकत्व प्राप्त है। तथा च जहाँ पर अज्ञान.है, वहाँ ज्ञान भी है ही। एवञ्च ज्ञान और अज्ञान दोनों में विरोध न रहने से ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवर्त्यता और ज्ञान की निवर्तकता नहीं हो सकेगी। और विरोध रहने पर ज्ञान के व्यापक होने से उसके विरुद्ध

अज्ञान की स्थिति कहीं भी सम्भव नहीं होगी। तथा च प्रपञ्च की प्रतीति नहीं हो पायगी।

किञ्च— यदि सम्पूर्ण (सकल) ब्रह्म में अविद्या का सम्बन्ध है, तो शुद्ध ब्रह्म का अभाव ही प्राप्त होगा और यदि ब्रह्म का किसी एक देश में अविद्या सम्बन्ध हो तो उसके सावयव होने के कारण उसमें (ब्रह्म में) अनित्यता आवेगी।

किञ्च— उक्त अविद्या (अज्ञान) को आपने ज्ञानाऽभावरूप माना है, किन्तु वह भावात्मक वस्तु (पदार्थ) ही है। ज्ञान का विरोध तो अपने अभाव के साथ ही हुआ करता है। भावरूपिणी इस अविद्या के साथ नहीं है। अन्यथा गो–घट–पट आदि पदार्थों के साथ भी ज्ञान का विरोध कहना होगा; अत: ज्ञान के द्वारा आपकी इस अविद्या की निवृत्ति नहीं हो सकती।

शङ्का— यद्यपि मृग पशु सिंहाऽभावरूप है, तथापि जैसे सिंह के द्वारा मृग मारा जाता है, वैसे ही ज्ञान के द्वारा अविद्या (अज्ञान) का नाश किया जाता है।

समाधान— उक्त आशङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि सिंह अपनी क्षुत् (भूख) मिटाने के लिये ही मृगादि पशुओं को मारता है अर्थात् हिंसा करता है। उस प्रकार की भूख ज्ञान को नहीं होती।

किञ्च— ज्ञानाऽभावरूप अज्ञान के निवर्तन से ही तृप्त हुआ ज्ञान किसलिये अविद्या (अज्ञान) को नष्ट करेगा? इस पर यदि आप कहें कि परस्पर विरोध के कारण ही प्रबल ज्ञान अज्ञान को विनष्ट कर देगा; किन्तु उक्त रीति से विरोध का उपपादन करना कठिन है।

किञ्च— अनादि काल से चला आया अज्ञान और ज्ञान दोनों ही हैं, किन्तु आज तक ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकी। यदि आप कहें कि आगे चलकर उसकी निवृत्ति होगी, तो यह कहना, प्रमाणशून्य ही है। अर्थात् प्रमाण से प्रमित नहीं है। भविष्यत् में होने का कोई प्रमाण न होने से विश्वासाई नहीं है। तस्मात् वेदान्तियों का यह अद्वैतवाद सर्वथैव लोक और वेद के विरुद्ध ही है।

तस्माद् ब्रह्मणः प्रशंसार्थैरस्थायित्वेन प्रपञ्चस्याऽसत्त्वमुपचरद्भिरौपनिषदैर्वादैस्तदनुसारिभिश्चेतिहासपुराणैर्भ्रान्तानां वाक्यतात्पर्यमजानानां न्यायाऽभियोगशून्यानां प्रलापोऽयमद्वैतवाद इत्युपेक्षणीयः। तत् सिद्धमविकल्पस्य प्रत्यक्षस्य विशेषविषयत्वम्।

एवञ्च 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य ब्रह्मप्राशस्त्य का प्रतिपादन करने वाले हैं, वे अद्वैत का प्रतिपादन करने के लिये नहीं हैं। उसी तरह 'तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किंचित् क्वचित् कदाचित् द्विज वस्तु जानताम्' इत्यादि पुराण-इतिहास के वाक्य भी प्रशंसापरक ही हैं। वे अद्वैतपरक नहीं है। प्रपंच की अनित्यता को देखकर उक्त कथन

जो भी है, वह लक्षणा के द्वारा प्रपञ्च की अनित्यता को ही बताता है। वह वास्तविक नहीं है।

जैसे औपनिषद्वाद अद्वैत का प्रतिपादक नहीं है, वैसे ही इतिहास-पुराणादि की कथाओं को सुनकर जो लोग भ्रान्त हो गये हैं, उनके द्वारा कहा जाने वाला यह अद्वैतवाद भी प्रलापमात्र है। अत: यह सिद्ध होता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सन्मात्रविषयक ही नहीं होता। उसे विशेषविषयक भी समझना चाहिये। अर्थात् विविध धर्मविशिष्ट नील-पीतादि ज्ञान विशेषविषयत्व ही है। यदि कोई कहता है कि निर्विकल्पक ज्ञान सविशेष वस्तु को ग्रहण करता हुआ भी विशेष्य-विशेषण भाव का अवगाहन नहीं कर पाता, तो यह पृथक् बात है; क्योंकि एक नियम बना दिया गया है कि विशेष्य-विशेषणभाव का अवगाहत्व सविकल्पक में ही होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तो सामान्य अथवा विशेष रूप से किसी वस्तु का ग्रहण नहीं करता, अपितु उसकी आधारभूत वस्तु का ग्रहण करता है। उसी कारण वह विशेष्य-विशेषणभाव का ग्राहक नहीं हो सकता।

उपर्युक्त कथन से निर्विकल्प ज्ञान की सन्मात्रग्राहकता का निराकरण तथा बौद्धोक्त निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षम्– इस नियम का भी निराकरण कर दिया गया। अब निर्विकल्पक में बौद्धोक्त स्वलक्षणमात्रगोचरत्व का निराकरण करने के लिये पुनरपि बौद्धमत को उपस्थित कर रहे हैं— अपरे तु स्वलक्षणमात्रगोचरं निर्विकल्पकमिच्छन्ति। तदपि प्रतीतिविरुद्धम् ।······ विविच्य विषयीकरोति। क्योंकि अद्वैतवादी वेदान्ती वाक्यतात्पर्य तथा पूर्वोत्तर मीमांसा के न्यायतात्पर्य को नहीं समझ पा रहे हैं।

किञ्च—न्याय-तात्पर्य को जानने की बात तो बहुत दूर है, इन अद्वैतियों ने तो स्वरस प्राप्त उचिततर, असाधारण और मीमांसानुकूल कर्मज्ञान के आनन्तर्य का भी परित्याग कर दिया है। उसी कारण इस अद्वैतवाद को उपेक्षणीय ही समझना चाहिये।

(निर्विकल्पकविषयकबौद्धमतखण्डनम्)

अपरे तु स्वलक्षणमात्रगोचरं निर्विकल्पकमिच्छन्ति । तदपि प्रतीतिविरुद्धम्— प्रतीयते हि सम्मुग्धाकारं वस्तु सहसैव, यत् पश्चाज्जातिद्रव्यगुणक्रियानामभि: पञ्चधा सविकल्पकेन विकल्प्यते— गौरयम्, दण्ड्ययम्, शुक्लोऽयम्, गच्छत्ययम्, डित्थोऽयम् इति। तत्र निर्विकल्पमनेकाकारं वस्तु सम्मुग्धं गृह्णाति, सविकल्पकं त्वेकैकाकारं जात्यादिकं विविच्य विषयीकरोति।

अपरे तु— कुछ अन्य विद्वान् अर्थात् विज्ञानवादी धर्मकीर्ति नामक बौद्ध समझना चाहिये। उनका कहना है कि निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहने योग्य है। वह ज्ञान स्वलक्षण को ही अपना विषय बनाता है। स्वलक्षणमात्र का अर्थ है— विशेषणांश से रहित। अर्थात् विशेष्य व्यक्तिस्वरूपमात्र ही है गोचर = विषय जिसका, उसे स्वलक्षण-

मात्रगोचर कहा जाता है। स्वलक्षणमात्रं = विशेषणांशरहितं विशेष्यव्यक्तिस्वरूपमात्रमेव गोचरो यस्य तत् स्वलक्षणमात्रगोचरम्।

धर्मकीर्ति बौद्ध का जो कहना है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्वलक्षण को ही ग्रहण करता है; किन्तु यह उक्त कथन मीमांसासिद्धान्त के विरुद्ध है। उसी तरह अद्वैत वेदान्तियों का सिद्धान्त निर्विकल्पक सन्मात्र का ग्रहण करता है भी मीमांसासिद्धान्त के विरुद्ध होने से दोनों के मतों का खण्डन कर चुके हैं। अब निर्विकल्पक ज्ञान सन्मात्र का ग्रहण करता है— इस बौद्धसिद्धान्त के खण्डन करने के लिये 'तदपि प्रतीतिविरुद्धम्' ग्रन्थ का आरम्भ किया जा रहा है।

तार्किकों की पद्धति के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान विशेष्य-विशेषणभाव आदि का ग्रहण नहीं करता; केवल इतना ही नहीं बतलाया जा रहा है; किन्तु विशेषण का ग्रहण स्वरूपत: भी नहीं किया जाता— यह कहा गया है; क्योंकि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावात्' इस नियम के अनुसार वह निर्विकल्पक ज्ञान स्वलक्षण का ग्रहण करने के पश्चात् विशेषणस्वरूप का ग्रहण नहीं कर सकता। निर्विकल्पक ज्ञान से भिन्न जो सविकल्पकज्ञान है, उससे विशेषणस्वरूप का ग्रहण होने पर निर्विकल्पक ज्ञान के लिये स्वलक्षणमात्र ही विषय रह जाता है। यदि एक ही ज्ञात से विशेष्य-विशेषण दोनों का ग्रहण माना जाय तो एक ही ज्ञान से गन्ध-रस— इन दोनों का ग्रहण भी होना चाहिये; किन्तु ऐसा होता नहीं है। अत: निर्विकल्पकज्ञान का विषय स्वलक्षणमात्र ही माना गया है। यहाँ तक विज्ञानवादी धर्मकीर्ति बौद्ध के विचार को प्रदर्शित किया गया है।

उपर्युक्त धर्मकीर्ति बौद्ध के मत का खण्डन करने के लिये ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र तदपि प्रतीतिविरुद्धम् कह रहे हैं— **तदपीति।** धर्मकीर्ति बौद्ध का कथन भी लोकानुभव के विरुद्ध ही है। क्यों विरुद्ध है? उसे बता रहे हैं— **प्रतीयते हि सम्मुग्धाकारमिति।** सहसैव अर्थात् अक्ष (इन्द्रिय)-पातानन्तर ही (इन्द्रियसन्निकर्ष होने के पश्चात् ही) संमुग्धाकार वस्तु की अर्थात् विशेष्य-विशेषण भावरहित वस्तु की प्रतीति होती है। उसके बाद जाति की दृष्टि से 'गौ: अयम्' यह जाति का ज्ञान (विकल्प) हुआ। द्रव्य की दृष्टि से यह दण्डी है— यह द्रव्य का ज्ञान हुआ। गुण की दृष्टि से यह शुक्ल है— यह गुण का ज्ञान हुआ। क्रिया की दृष्टि से गच्छति अयम् अर्थात् यह जाता है, नाम की दृष्टि से डित्थोऽयम् = यह डित्थसंज्ञक है। एवञ्च जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और नाम अर्थात् १. जातिविकल्प (ज्ञान), २. द्रव्यविकल्प (ज्ञान), ३. गुणविकल्प (ज्ञान), ४. क्रियाविकल्प (ज्ञान), ५. नामविकल्प (ज्ञान)— इन पाँच प्रकारों से सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

प्रथमत: निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान से संमुग्धाकार वस्तु का ग्रहण होता है, जिसमें अनेक आकार रहते हैं। उसके बाद जात्यादि एक-एक आकार को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार

से सविकल्पक ज्ञान होता है। अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से पदार्थ का ज्ञान संमुग्ध आकार से होता है; किन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष से जात्यंश, व्यक्त्यंश, उसके सम्बन्धांश का भी ज्ञान होता है। तथा च विकल्प का ग्रहण भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। इस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान अनेक आकार वाली वस्तु का ही संमुग्ध रूप से ग्रहण करता है। अतः उसे स्वलक्षण मात्रगोचर कहना उचित नहीं है; किन्तु विशकलित विशेष्यविशेषणोभय ग्राहक ही कहना चाहिये।

शङ्का— निर्विकल्पकज्ञान से भी यदि विशेष्य-विशेषण का ग्रहण होता है, तो सविकल्पक और निर्विकल्पक दोनों में भिन्नता कैसे कही जायगी?

समाधान— सविकल्पं तु एकैकाकारं जात्यादिकं विविच्य विषयीकरोति अर्थात् निर्विकल्पक से तो विशेष्य और विशेषण को विशकलितरूप से ही ग्रहण किया जाता है; किन्तु सविकल्पक के द्वारा विशेष्य-विशेषणभाव से ग्रहण किया जाता है।

किञ्च— अयं घटः इदं घटत्वम्— इन रूपों में विवेकपूर्वक ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार का विवेक निर्विकल्पक में होना सम्भव नहीं है; क्योंकि वह निर्विकल्पक के स्वरूपमात्र का ग्राहक रहता है, किन्तु सविकल्पक से तो यह जात्यंश है और यह व्यक्त्यंश है, और उन दोनों का यह सम्बन्ध है। इस रीति से पृथक्-पृथक् आकार में विवेचन करके सविकल्पक ग्रहण करता है और निर्विकल्पक तो उपर्युक्त विवेक विना किये ही संमुग्धाकार पदार्थ का ग्रहण किया करता है—यही दोनों में भेद है।

(प्रत्यभिज्ञायां बौद्धमतेन पूर्वपक्षः)

ननु षष्ठोऽपि विकल्पोऽस्ति— तदेवेदमिति तत्कथं पञ्चधा विकल्प इत्युच्यते? न त्वयं जातिविकल्पो व्यक्तिप्रत्यभिज्ञा हीयम्, न संज्ञाविकल्पः। अनवगतासंज्ञानामपि भावात्। तिर्यञ्चोऽपि ह्यद्य जाताः स्वमातरं प्रथममुपलभ्य क्षणान्तरे पुनरुपलभमानाः सैवेयमिति शब्दानुवेधशून्यमेव प्रत्यभिजानन्ति, तस्मादियं षष्ठी कल्पनेति पञ्चविधत्वानुपपत्तिः।

शङ्का— जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और नाम— यह पञ्चविध विकल्प आपने बताया; किन्तु प्रत्यभिज्ञाविकल्प नाम से एक षष्ठ (छठा) विकल्प (तदेवेदम्) भी लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है। इस तदेवेदम् को जातिविकल्प के नाम से नहीं कह सकते; क्योंकि उससे व्यक्ति की प्रत्यभिज्ञा हो रही है। उसी तरह तदेवेदम् को नाम विकल्प के नाम से भी नहीं कर सकते; क्योंकि यदि तदेवेदम् को संज्ञा (नाम) विकल्प कहें तो नाम (संज्ञा) से अपरिचित लोगों को 'तदेवेदम्' यह विकल्प (ज्ञानविशेष) नहीं होना चाहिये। जैसे अमुक आदमी देवदत्त नाम का है। यह जो नहीं जानता, ऐसा यज्ञदत्त नामक व्यक्ति देवदत्त को स्वरूपतः (प्रत्यक्ष) देखकर भी 'देवदत्तोऽयम्' यह देवदत्त है— ऐसा कह

नहीं पाता, किन्तु आज अभी उत्पन्न हुए पशु-पक्षी अपनी माता को एक बार प्रथमत: देखकर दूसरे क्षण में पुन: देखकर सा एव इयम् अर्थात् यह वही है— इस प्रकार के शब्द को विना कहे-सुने भी उन बच्चों को प्रत्यभिज्ञा अर्थात् अपने-अपने माता की पहिचान हो ही जाती है। अत: यह प्रत्यभिज्ञा विकल्प के नाम की छठी (षष्ठ) कल्पना है— यह कहना उचित प्रतीत हो रहा है। अत: पूर्वोक्त यह पञ्चधा विकल्पकथन उचित नहीं है।

उच्यते— इयमेवास्माभिर्नामकल्पनेत्युच्यते। तथाहि— डित्थोऽयमिति तावद् गौरयमितिवत् गवात्मना डित्थात्मना वस्तु विकल्प्यते, न दण्डीतिवत् तत्सम्बन्धितया मत्वर्थानुपादानात्। तत्र न डित्थशब्दो जातिवदर्थस्यात्मा अत्यन्तभिन्नत्वाद् यतस्तेनैवार्थोऽनुरज्येत। तदेतदेवं विज्ञेयम्— डित्थशब्देन तद्वाच्ये पूर्वावगतं डित्थमुपस्थाप्य तदात्मना पुर:स्थितोऽर्थो विकल्प्यते— डित्थोऽयमिति।

उपर्युक्त पूर्वपक्ष का उत्तर दे रहे हैं— तदेव इदम् यह षष्ठ विकल्प नहीं है, उसका तो नामविकल्प में अन्तर्भाव हो जाता है। अर्थात् प्रत्यभिज्ञा विकल्प का नाम विकल्प में अन्तर्भाव समझाना चाहिये। उसी को बता रहे हैं— **तथाहीति** । डित्थोऽयम् = यह लकड़ी का हाथी है। जैसे पूर्व से (पहले से) ज्ञात वस्तु (गौ) को ही गौ: अयम्— इस प्रकार गो के रूप में समझ रहे हैं, उसी प्रकार पूर्वावगत वस्तु को ही डित्थोऽयम्— डित्थ के रूप में जाना जाता है। अर्थात् गौरयम्— इस विकल्प (ज्ञान) से गौ को जान रहे हैं, उसी तरह डित्थोऽयम्— इस ज्ञान से डित्थ व्यक्ति को जान रहे हैं। उसी तरह पूर्वावगत वस्तु को ही तदेव इदम् इत्याकारक ज्ञान से जान रहे हैं। इसलिये तदेवेदम्- इस विकल्प (ज्ञान) का जिसे प्रत्यभिज्ञा शब्द से (दूसरे नाम से) कहा जा रहा है, नामविकल्प में ही अन्तर्भाव हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि डित्थोऽयम् सुनने पर यह काष्ठ का हाथी है यह ज्ञान होता है, उसी तरह इयं गौ: कहने पर गाय का ज्ञान होता है। दण्डी अयम् यह दण्डवान् है, इस प्रकार (सम्बन्धी के रूप में) डित्थोऽयम् अथवा इयं गौ:- सुनने पर सम्बन्धी के रूप में डित्थ अथवा गो का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि दण्डी अर्थात् दण्ड: अस्य अस्ति इति दण्डी = दण्डवान् की तरह इयं गौ: अथवा डित्थोऽयम् में मत्त्वर्थ का ग्रहण नहीं है। अर्थात् सम्बन्धी के रूप में ग्रहण नहीं है। उसी कारण (मत्वर्थ का ग्रहण न करने से) डित्थ शब्द पदार्थ का स्वरूप नहीं है, जाति तो पदार्थ का स्वरूप ही है। एवञ्च जाति के समान डित्थ शब्द की स्थिति नहीं है। क्योंकि डित्थ व्यक्ति और जाति दोनों भिन्न-भिन्न हैं। डित्थ संज्ञा को सुनने पर वह उसके वाच्यरूप अर्थ को अर्थात् पूर्वावगत डित्थ को उपस्थित कर देता है। निष्कर्ष यह है कि जैसा वाच्यरूप अर्थ उपस्थित किया है, उसी रूप में वह डित्थ शब्द से उसका ज्ञान करा देता है। अर्थात् यह डित्थ ही है, उससे भिन्न कोई अन्य नहीं है।

किमुक्तं भवति? योऽसावस्माकं डित्थः, सोऽयं पुरस्स्थितो नान्य इति सेयं व्यक्तिप्रत्यभिज्ञैव पञ्चमी कल्पना। सा च शब्दविदां नामरूपितैव भवतीति नाम विकल्पनेति व्यवह्रियते। एतेन यदाहुः— डित्थोऽयमित्यशब्दाकारस्यार्थस्य शब्दा-कारेण विकल्पनादप्रमाणं सविकल्पम् इति तदपि निरस्तम्। न ह्यत्र शब्दाकारेणार्थः प्रतीयते किं तु पूर्वावगतार्थस्मरणमात्रे शब्दस्य व्यापारः, तेन च स्मृतेनार्थेन तादात्म्येन पुरस्स्थितार्थविकल्पनात्। आह च—

यदा तु यादृशः पिण्डः पूर्वं शब्दात् प्रतीयते।
तादृशस्मरणे हेतुः शब्दस्तत्र यथार्थता।। इति।

तस्मान्नामविकल्पेऽपि जात्यादिवन्नास्त्यतद्रूपारोपः। किं पुनर्जात्यादिभिर्विकल्प्यते? द्रव्यम्। किं पुनरिदं द्रव्यं नाम? पृथिव्युदकतेजोवायुप्रभृति।

डित्थोऽयम्— यह कहने से यह विश्वास होता है कि यही डित्थ है, दूसरा नहीं। **किमुक्तं भवतीति**। अर्थात् डित्थ शब्द के कहने से वही–वाच्य है— यह कहने का अभिप्राय क्या है? यह पूछने पर कहते हैं— यः असौ अस्माकं डित्थः सोऽयं पुनरस्थितः, नाऽन्यः इति। सेयं व्यक्तिप्रत्यभिज्ञैव पञ्चमीकल्पना। अर्थात् डित्थोऽयम् यह पाँचवी (पंचमी) नामकल्पना व्यक्ति प्रत्यभिज्ञा ही है तदेवेदम् यह भी व्यक्तिप्रत्यभिज्ञा ही है। अतः तदेवेदम् इस विकल्प (ज्ञान) का पञ्चम (पाँचवें) नामविकल्प में ही अंतर्भाव हो जाता है। सा च शब्दविदां नामरूपितैर्न भवतीति, नामविकल्पनेति व्यवह्रियते। अर्थात् व्यक्तिप्रत्यभिज्ञारूप जो पाँचवीं कल्पना है, वह नाम (संज्ञा) से सम्बद्ध होने के कारण वैयाकरण (शाब्दिक) विद्वान् उसे नामकल्पना के नाम से कहा करते हैं। इसलिये इस प्रत्यभिज्ञा को षष्ठ (छठा) विकल्प कहना उचित नहीं है। वह व्यक्तिप्रत्यभिज्ञा ही है। तदेवेदम् यह भी व्यक्तिप्रत्यभिज्ञा ही है। जो रहस्य वक्तव्य था, उसे बता दिया गया। तथापि सिंहावलोकन न्याय से पुनरपि बौद्धमत के समूल निरसनार्थ 'एतेन यदाहुः' से स्मरण करा रहे हैं। बौद्ध विद्वान् निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में मानते हैं। वे सविकल्पक को प्रत्यक्ष के रूप में नहीं मानते। उनका कहना है कि सविकल्पक तो निर्विकल्पक का अनुवादरूप है। अयं डित्थः अथवा अयं देवदत्तः आदि सामने उपस्थित व्यक्ति को इदं शब्द से उपस्थापित कर उसका बोध डित्थ शब्द देवदत्त शब्द से कराया जाता है। यह उपस्थापित डित्थ अथवा देवदत्त व्यक्ति शब्दरूप नहीं है। अतः अशब्दाकार अर्थात् शब्दभिन्न पदार्थ को शब्दाकार से (शब्दत्वेन रूपेण) ज्ञान (विकल्पन) कराने के कारण सविकल्पक डित्थोऽयम् अथवा देवदत्तोऽयम् ज्ञान अप्रमाण है। जैसे— शुक्ति (सीप) का रजत (चाँदी) के रूप में (रजतत्वेन रूपेण) होनेवाला ज्ञान (रजतमिदम्

इत्याकारक ज्ञान) जैसे अप्रमाण समझा जाता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त सविकल्पक ज्ञान भी अप्रमाण है— यह बौद्धों का कथन है।

इस पर ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र कह रहे हैं— **इति तदपि निरस्तमिति।** अर्थात् बौद्धमत का खण्डन हमने पूर्वोक्त कथन से ही अच्छी तरह से कर दिया है। बौद्धमत का खण्ड्न इसलिये करना पड़ा कि वे बौद्ध विद्वान् सविकल्पक ज्ञान को नहीं समझ पा रहे हैं। बौद्धों के साथ हमारा कोई द्वेषभाव नहीं है। हे बौद्धों! हम जो कह रहे हैं, उसे ध्यान से सुनो। डित्थोऽयम् कहने से शब्द और अर्थ के अभेद की प्रतीति नहीं होती है। सर्वथा भिन्न रहने वाले शब्द और अर्थ में अविद्यमान अभेद की प्रतीति यदि होती तो सविकल्पक ज्ञान को अप्रमाण कहा जा सकता था। न हि अत्र शब्दाकारेण अर्थः प्रतीयते किन्तु पूर्वावगतार्थस्मरणमात्रे शब्दस्य व्यापारः तेन च स्मृतेन अर्थेन तादात्म्येन पुरस्स्थ-तार्थविकल्पनात् डित्थोऽयम् कहने पर केवल इतना ही बोध होता है कि यह डित्थ शब्द का वाच्य है— डित्थशब्दवाच्यत्वं प्रतीयते, किन्तु पहिले से ही अवगत हुए पदार्थ के स्मरणमात्र में ही शब्द का सामर्थ्य और व्यापार का होना सम्भव है, उसी कारण स्मृत होने वाले पदार्थ के साथ पुरस्थित पदार्थ का तादात्म्येन (तद्रूप से) ज्ञान (विकल्प) होता है। जैसे— डित्थ शब्द के कहने पर जिस पदार्थ का स्मरण हुआ है, वही यह पदार्थ (वस्तु व्यक्ति) सामने स्थित है। उस स्मृत पदार्थ के साथ ही सामानाधिकरण्य समझना चाहिये। अर्थात् शब्दाकार अर्थ का शब्दाकार से ज्ञान (विकल्प) होने के कारण डित्थोऽयम्— यह डित्थ है— इत्यादि सविकल्पक ज्ञान अप्रमाण है। इस बौद्ध कथन का निरसन कर दिया गया— **न हि अत्र शब्दाकारेण अर्थः प्रतीयते इति।**

डित्थोऽयम्— इस स्थल में शब्दाकार से अर्थ की प्रतीति नही हो रहीं है, किन्तु पूर्वावगत अर्थ के स्मरण मात्र में शब्द का व्यापार है। उस कारण स्मरण विषयभूत अर्थ के तादात्म्य से सामने की वस्तु का ज्ञान (विकल्प) हो रहा है। इसी आशय को कुमारिलभट्टपाद ने अपने श्लोकवार्तिक में बताया है—

यदा तु यादृशः पिण्डः पूर्वं शब्दात् प्रतीयते।
तादृशस्मरणे हेतुः शब्दस्तत्र यथार्थता॥

अर्थात् शाब्दबोध होने से पहिले प्रत्यक्ष में जैसा पिण्ड (व्यक्ति) दीखता है, उस दृश्यमान पिण्ड का जब शब्द सुनने पर स्मरण होने लगता है, तब वह स्मरण शब्द-प्रमाण से होता है। अर्थात् शब्द का ग्रहण होने पर ही उससे (शब्द से) उक्त अर्थ का स्मरण होता है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि भट्टपाद ने भी यही स्वीकार किया है। पदार्थस्मरण में ही शब्द का सामर्थ्य (व्यापार) है, इसलिये डित्थोऽयम् कहने पर शब्दाकारेण विकल्प (ज्ञान) नहीं होता है। इसी आशय को पार्थसारथि मिश्र ने भी कहा है— सम्बन्धागमवेलायां ततः प्राक् काले च यादृशमर्थरूपं तादृशमेव शब्दः स्मारयति, न तु आत्मानमर्थे अध्यस्यति। इसलिये नामविकल्प में भी जाति आदि के समान अतद्रूप का

आरोप (अध्यास) नहीं किया जाता। इसलिये शब्द और अर्थ में तादात्म्याध्यास नहीं है। इसी कारण अर्थ का मिथ्यात्व बताना अनुचित है।

प्रश्न— गौरयं शुक्लो गच्छति, डित्थोऽयम्— यह सामानाधिकरण्य कैसे उपपन्न होगा?

उत्तर— जातिवाचक शब्द जाति का स्मरण कराता है और उस स्मरण के द्वारा तादात्म्येन व्यक्ति का बोध होता है। तब व्यक्तिबोधक अयं शब्द से सामानाधिकरण्य होता है। उसी तरह गुण और क्रिया का भी उसके साथ सामानाधिकरण्य होता है। उसी तरह डित्थ शब्द भी जिस पिण्ड का वाचक होकर सुना जाता है उसका स्मरण करके तत्तादात्म्येन रूपेण पुरःस्थित पिण्ड का ही वह ज्ञान करा देता है, न की अपना ज्ञान।

डित्थोऽयम्— कहने का अर्थ यह नहीं है कि डित्थशब्दोऽयम् किन्तु अर्थ यह है— डित्थ इति नाम अस्य अर्थात् इस व्यक्ति (पिण्ड) का नाम डित्थ है। **तस्मात् नामविकल्पेऽपीति**। इसलिये नाम विकल्प में भी जाति आदि के समान अतद्रूप का आरोप नहीं हुआ करता। इसलिये शब्द और अर्थ में तादात्म्याध्यास नहीं है; अतः अर्थ को मिथ्या कहना उचित नहीं है।

(द्रव्याभावे बौद्धमतेन पूर्वपक्षः)

ननु रूपादिव्यतिरिक्तं द्रव्यं नाम न किंचिदुपलभामहे। न च तस्योपलम्भकमस्ति, चक्षुरादीनां पञ्चानां रूपादिष्वेवोपक्षीणत्वात्। गन्धरूपरसस्पर्शसंघातः पृथिवी, रसरूपस्पर्शसंघात आपः, रूपस्पर्शसंघातस्तेजः, शब्दस्पर्शसंघातो वायुः। एवं रूपादिसंघातभेदादेव पृथिव्यादिविभागो, न द्रव्यं नाम किञ्चिदिति सौगताः।

शङ्का— बौद्ध शङ्का करता है कि रूपादि से अतिरिक्त (पृथक्) किसी अन्य की प्रतीति नहीं होने से द्रव्य नाम की कोई वस्तु (पदार्थ) है ही नहीं; क्योंकि यदि प्रमाण होता तो उसकी प्रतीति अवश्य होती। अर्थात् रूप की प्रतीति होने पर ही सर्वप्रतीति की उपपत्ति हुआ करती है। बौद्ध का कहना है कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ तो रूप आदि का ज्ञान कराने में ही क्षीण हो जाती हैं। अतः किसी प्रमाण के न होने से भी कहना होगा— रूपादिव्यतिरिक्तं द्रव्यं नाम, न किञ्चित् उपलभामहे और न च तस्य उप-लम्भकमस्ति, चक्षुरादीनां रूपादिष्वेव उपक्षीणत्वात् अर्थात् रूपादि से पृथक् तथा द्रव्यनामक किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं हो और न ही उसकी प्रतीति कराने वाला अन्य कोई है; क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियाँ तो रूपादि गुणों का बोध कराने में क्षीण हो चुकी हैं। उसी तरह द्रव्यत्वेन रूपेण द्रव्य का ग्रहण (बोध) कराने वाला कोई हो तो वह भी कोई नहीं है; क्योंकि उसके होने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है यदि कोई द्रव्यवादी यह कहें कि प्रत्यक्षतया उपलभ्यमान पृथिवी-जल आदि पदार्थ ही तो द्रव्य शब्द से कहे जाते है। अतः बौद्ध-

विद्वान् अपना सिद्धान्त बता रहे हैं— गन्धरूपरसस्पर्शसंघातः— पृथिवी। रसरूपस्पर्शसंघात आपः। रूपस्पर्शसंघातः तेजः। शब्दस्पर्शसंघातः वायुः, अर्थात् गंध रूप रस स्पर्श के समूह से अन्य (भिन्न) पृथ्वी नामक पदार्थ कोई नहीं है अर्थात् गंध-रूप-रस-स्पर्श समूह ही पृथ्वी पदार्थ है। गंधादि तो गुण हैं, वे द्रव्य नहीं हैं। उसी कारण उनके समूह को भी द्रव्य शब्द से नहीं कहा जायगा। घटों के समूह में पटत्व व्यवहार नहीं किया जाता। आकाश तो अभावरूप ही है, अतः उसकी संघातरूपता (समूहरूपता) होना सम्भव ही नहीं है।

एवञ्च— रूपादिसंघात (समूह) भेद से ही पृथिवी आदि का विभाग सिद्ध हो जाता है। इसलिये द्रव्य नाम की कोई वस्तु (पदार्थ) है ही नहीं— यह बौद्धों का कहना है।

तदयुक्तम्। आगमापायिषु रूपादिषु यदनुयायिप्रत्यभिज्ञा जायते तद्द्रव्यम्। दर्शनस्पर्शनाभ्यां चाऽस्य ग्रहणम्। प्रत्यभिज्ञा च— यथा बदरफलं श्यामावस्थायां रक्तावस्थायां च यथा वा घटपिण्डकपालावस्थासु मृद्द्रव्यम्। अस्ति हि तत्र पिण्डावस्थाभेदे श्याम-रक्तरूपभेदेऽपि द्रव्यप्रत्यभिज्ञा— मृदियं पिण्डावस्थामपहाय घटावस्था संजाता, श्यामिमानं च त्यक्त्वा पक्वा सत्यरुणिमानं गृहीतवती। अनन्तरं घटावस्थामपहाय कपालिका जातेति। एवं तन्तुपटाद्यवस्थास्वपि द्रष्टव्यम्।

उपर्युक्त बौद्धमत का खण्डन— ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र का कहना है कि उपर्युक्त बौद्ध सिद्धान्त अनुचित है— **तदयुक्तमिति**। पूर्वोक्त बौद्ध सिद्धान्त उचित नहीं है। आगमापायी अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशाली रूप आदि में जिसका आश्रय कर प्रत्यभिज्ञा होती है, उसे द्रव्य कहते हैं। अर्थात् द्रव्य पदार्थ (वस्तु) का अस्तित्व है। उसे नकारना ठीक नहीं है; क्योंकि रूप आदि की उत्पत्ति और विनाश हुआ करते हैं— वे आगमापायी हैं। उनमें (रूपादिकों में) जो अनुयायिप्रत्यभिज्ञा अर्थात् सर्वानुगत प्रत्यभिज्ञा होती है। अभिप्राय यह है कि प्रथमतः जो घट नीला देखा था और कुछ समय के बाद उसे अरुण (रक्त) देखा, तब भी 'स एवाऽयं घटः' यह प्रत्यभिज्ञा होती है। उस घट में कुछ समय पूर्व जो नील रूप का अनुभव हुआ था, वह नीलरूप अब उसमें नहीं है, जिससे उसकी (नीलरूप की) प्रत्यभिज्ञा हो सके। कुछ समय पूर्व अरुणरूप का अनुभव नहीं हुआ था, उसी कारण उस अरुण रूप की प्रत्यभिज्ञा का होना भी सम्भव नहीं है। तथापि 'स एवाऽयम्' यह प्रत्यभिज्ञा तो होती ही है। अतः कहना होगा कि रूपादिकों से अतिरिक्त (पृथक्) जिसकी प्रत्यभिज्ञा हो रही है, वही द्रव्य नामक पदार्थ है।

बौद्धों ने 'न च तस्योपलम्भकम्' उस द्रव्य का ग्राहक (बोधन) कोई नहीं है— यह जो कहा था, उसका उत्तर पार्थसारथिमिश्र दे रहे हैं— **दर्शनस्पर्शनाभ्यामिति**। चक्षु (नेत्र) से और त्वगिन्द्रिय (त्वचा) से द्रव्य का ग्रहण (बोध) होता है। यही सिद्धान्त

नैयायिकों का भी है। स एवाऽयम्, यही प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप है। इस प्रत्यभिज्ञा से द्रव्य का ग्रहण होता है। जैसे श्याम (हरा) रहने पर तथा लाल रंग (रक्तवर्ण) का होने पर तदेव इदं बदरफलम्— इस प्रत्यभिज्ञा के द्वारा बदरफल का ग्रहण होता है तथा जैसे घट की अवस्था में कपालरूप अवयव की अवस्था में पिण्डावस्था में सैव इयं मृद्— वही यह मिट्टी— इस प्रकार मृद् द्रव्य का ग्रहण होता है। यहाँ ग्रंथकार उक्त आशय को 'अस्ति हि तत्र पिण्डावस्थाभेदे' ग्रन्थ से स्पष्ट कर रहे हैं। उपर्युक्त ग्रन्थगत तत्र का अर्थ है— घटादि अवस्थाओं में, पिण्डावस्थाभेदे श्यामरक्तरूपभेदेऽपि द्रव्यप्रत्यभिज्ञेति। घट बनने के पूर्व यह मृत्पिण्ड के रूप में था, किन्तु अब वर्तमान में घट के रूप में हो गया है। इस प्रकार पिण्डावस्था से भेद रहने पर और प्रथमत: श्यामवर्ण का था, किन्तु अब रक्तवर्ण (लालरंग) का हो गया है— इस प्रकार रूप (रंग) भिन्न होने पर भी उसमें द्रव्यप्रत्यभिज्ञा होती है। यदि द्रव्य पदार्थ रूपादिकों से पृथक् न होता तो रूपादि के भिन्न होने पर किसकी प्रत्यभिज्ञा होती? द्रव्यप्रत्यभिज्ञा का स्वरूप इस प्रकार है— **मृदियं पिण्डावस्थामपहायेति।** घट के विनष्ट होने पर भी मृद्द्रव्य की प्रत्यभिज्ञा होती है। घट का विनाश होने पर यह मिट्टी कपालिक के रूप में रहती हुई भी मृदेव मिट्टी के रूप में ही प्रत्यभिज्ञात होती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी द्रव्य प्रत्यभिज्ञा को जान लेना चाहिये। एक ही घट के अथवा पट के क्रमश: अनेक वर्णभेद होते रहने पर भी स एवाऽयं घट: अथवा स एवाऽयं पट:- यह द्रव्य की प्रत्यभिज्ञा हुआ करती है। एवं तन्तु तटाद्यवस्थात्त्वपि द्रष्टव्यम्- इसी प्रकार तन्तु और पट आदि की अवस्था के भिन्न रहने पर भी यह वही पट है— इस प्रकार द्रव्य की प्रत्यभिज्ञा हुआ करती है।

शङ्का— कार्य-कारणभेदवादी तार्किक— हमारे मत के अनुसार कारण के विद्यमान रहने पर उसमें कार्य की उत्पत्ति हुआ करती है। जैसे— दो कपालों में घट की उत्पत्ति तथा तन्तुओं में पट की उत्पत्ति होती है। अत एव कारणे कार्यं समवायसम्बन्धेन तिष्ठति अर्थात् कारण में कार्य समवाय सम्बन्ध से रहता है।

यदि कार्य और कारण का अभेद होता, तो कारण में कार्य की स्थिति कैसे हो पाती? क्योंकि आश्रयाऽऽश्रयिभावस्य भेदव्याप्यत्वात् अर्थात् आश्रयाऽऽश्रयिभाव भेद रहने पर ही हुआ करता है, अभेद में नहीं। इसलिये तन्तुओं में पटरूप द्रव्यान्तर की (अन्य द्रव्य की) उत्पत्ति को ही माना गया है। अन्यथा द्रव्यान्तर की उत्पत्ति को यदि न माना जाय तो अवयवी का अपलाप हो ही जायगा। तन्तु तो अवयवरूप है। अत: उन्हें अवयवी के रूप में मानना संगत नहीं होगा। इसलिये अवयवी को द्रव्यान्तर के रूप में स्वीकारा जाय अथवा उसका अभाव ही मान लिया जाय; किन्तु अभाव मानना तो उचित नहीं है; क्योंकि अवयवी पदार्थ तो सर्वलोकप्रसिद्ध है।

(तर्कमतेनावयवेष्व्युत्पत्तिः)

ननु तन्तुपटादिषु द्रव्यान्तरोत्पत्तिरेवाभिमता, अन्यथा ह्यऽवयव्यपलापः

स्यात्? नाऽवयविनमपह्नुमहे द्रव्यान्तरोत्पत्तिं तु नेच्छामः प्रतिपत्त्यभावात्। तन्तव एव हि संयोगविशेषादेकद्रव्यतामापद्यन्ते, अवयवी च भवन्ति, तादृशाश्च पटजातिं स्थौल्यं च बिभ्रत एकपटस्थूलबुद्ध्या गृह्यन्त इति लौकिकी प्रतिपत्तिः। अतो न द्रव्यस्य कदाचिदागमोऽपायो वा घट-पटगवाश्वशुक्लरक्ताद्यवस्थानामेवागमापायौ। आह च—

आविर्भावतिरोभावधर्मकेष्वनुयायि यत्।
तद्धर्मि यत्र च ज्ञानं प्राग्धर्मग्रहणाद्भवेत् ।। इति।

उपर्युक्त तार्किकों के कथन का उत्तर देते हुए मीमांसक कहता है— **न अवयविनम् अपह्नुमहे इति।** हम अवयवी का अपलाप नहीं कर रहे हैं; अपितु द्रव्यान्तर की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं कर रहे हैं; क्योंकि तन्तु ही संस्थानविशेष विशिष्ट होने पर पट के रूप में प्रतीत होते हैं। अर्थात् यह पट तन्तुओं से भिन्न, द्रव्यान्तररूप अन्य अवयवी नहीं है; क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती है। अर्थात् तन्तुओं में तन्तुओं के अतिरिक्त कोई अन्य पट उत्पन्न हुआ हो— ऐसी प्रतीति नहीं हो रही है; जिससे द्रव्यान्तर (अन्य द्रव्य) की उत्पत्ति को माना जाय; किन्तु तन्तुसमूह ही पट के रूप में प्राप्त हो रहे हैं। अतः उनकी प्रतीति पट के रूप में (पटत्वेन रूपेण) हो रही है। इसलिये दृश्यमान पटरूप अवयवी तन्तुओं के अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य नहीं है, किन्तु संयोगविशेष विशिष्ट हुए तन्तु-समूह ही पटत्व जाति को तथा स्थूलता (स्थौल्य) को धारण किये हुए। अयम् एकः पटः— इस प्रकार स्थूल वुद्धि से गृहीत होते हैं। यह सर्वसाधारण लोगों की निश्चित रूप से प्रतीति हुआ करती है। अतः द्रव्यान्तरभूत पट की उत्पत्ति तन्तुओं में होती है— यह क्यों माना जाय? तन्तुओं का ग्रहण एकत्वादि विषयक ज्ञान से नहीं होता है। अतः न द्रव्यस्य कदाचिदागमोऽपायो वा घटपटगवाऽश्व शुक्लरक्ताद्यवस्थानामेवागमापायौ। अर्थात् मृदादि द्रव्य का न उत्पत्ति (आगम) और न विनाश (अपाय) होता है, किन्तु रूपदिकों का आकार आगम और अपाय होता है। इसी तरह पटा-दिकों में भी समझ लेना चाहिये।

उपर्युक्त कथन में श्रीभट्टपाद की भी सम्मति प्रदर्शित की जा रही है—

आविर्भावतिरोभावधर्मके त्वनुयायि यत् ।
तद्धर्मि यत्र च ज्ञानं प्राग्धर्मग्रहणाद्भवेत् इति ।।

अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशाली धर्मों में जो अनुयायी (अनुस्थूल) हो, उसे धर्मी कहा जाता है, जैसे— श्याम-रक्त (लाल) रूपवाली पिण्ड-कपालादि आकृतियों में अनुस्यूत रहनेवाला मृद् द्रव्य ही धर्मी है। अन्य कारण यह भी है कि धर्मज्ञान (धर्मग्रहण) होने के पूर्व यद्विषयक ज्ञान हो, उसे धर्मी कहा जाता है। जैसे- मन्द अन्धकार में रूपादि ज्ञान होने के पूर्व ही जिसका ज्ञान होता है, वही घट द्रव्य धर्मी कहा जाता है। इस विषय

में श्रीपार्थसारथीमिश्र ने भी कहा है—रक्तत्वहरितत्वादिधर्मेषु आविर्भावतिरोभावधर्मकेषु यद्वदरफलमवस्थाद्वयानुयायि प्रत्यभिज्ञायते, यद्वा पिण्डघटकपालाद्यवस्थास्वनुगतमवस्थावत्, यद्वा सन्तमसे बलाकापङ्क्तौ प्रागेव शुक्लरूपग्रहणात् गृह्यते तद् धर्मि, नहि तद्भावे प्रत्यभिज्ञा सम्भवति धर्माणां भिन्नत्वात् इति।

महाभाष्यकारैरप्युक्तम्— द्रव्यं हि नित्यम्, आकृतिरनित्या, सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाऽऽकृत्या युक्तः–खदिराङ्गारसदृशे कुण्डले भवतः, आकृतिरन्या चाऽन्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवाऽवशिष्यते इति।

तथा यादृशमस्माभिरभिहितं द्रव्यं, तादृशस्यैव हि सर्वस्य गुण एव भिद्यते, न स्वरूपम् इति। तत्सिद्धं द्रव्यम् । तच्च जात्यादिभिः पञ्चधा सविकल्पेन विभज्यते। अतः सविकल्पकमपि प्रत्यक्षम्, तत्पूर्वकं चानुमानादीति सिद्धं तेषामप्यनिमित्तत्वम्।

इति प्रत्यक्षसूत्रम्।।४।।



उपर्युक्त कथन के समर्थन में अन्य प्रमाणान्तर भी बता रहे हैं— **यादृशमस्माभिरिति।** उत्पत्ति– विनाशशाली धर्मों में अनुस्यूत द्रव्य के सम्बन्ध में हमने जो कहा, उसी तरह उसके समान ही (तादृशस्यैव) सभी द्रव्यों के गुणादि का ही भेद होता है। उन द्रव्यों के स्वरूप का भी भेद नहीं हुआ करता। इस प्रकार से द्रव्य की सिद्धि में कोई किसी प्रकार की बाधा नहीं है।

तच्च जात्यादिभिरिति। उस द्रव्य का विभाग जाति आदि के द्वारा अर्थात् जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया, और नाम (संज्ञा)— इन पाँचों के द्वारा (पञ्चधा = पाँच प्रकार के) सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान से विभज्यते = विकल्प्यते विभक्त होता है। जैसे– गौरयम्, दण्डी अयम्, नीलोऽयम्, गच्छत्ययम्, डित्थोऽयम्। इस कारण (अतः) सविकल्पक भी प्रत्यक्ष ही है। सविकल्पक प्रत्यक्ष के बल पर ही अनुमान आदि प्रमाणों की प्रवृत्ति हुआ करती है। अतः प्रत्यक्ष ही जब धर्म का बोधक नहीं है, तो अनुमान आदि प्रमाण धर्म के ग्राहक (बोधक) कैसे होंगे? अतः स्पष्ट है कि धर्म में प्रमाण विधिवाक्य ही होता है, प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं। अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से धर्म का ज्ञान नहीं हो पाता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि—प्रस्तुत चतुर्थ सूत्रोक्त प्रत्यक्ष प्रामाण्याधिकरण का विषय धर्म नहीं है। अधिकरण का स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये—

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्।।

अर्थात् प्रथमत: विचारणीय विषय वाक्य होता है, तदनन्तर उक्त विषय वाक्य में सन्देह उत्पन्न होता है। तदनन्तर पूर्वपक्ष होता है, पश्चात् उत्तरपक्ष होता है और पुन: निर्णय किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक अधिकरण के उक्त पाँच घटक हुआ करते हैं।

प्रस्तुत अधिकरण में संशय इस प्रकार किया गया है कि धर्म का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से हो सकता है या नहीं? तदनन्तर पूर्वपक्ष इस प्रकार किया गया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण लोकव्यवहार में प्रसिद्ध हैं, प्रमेय का ज्ञान कराना ही प्रमाण का काम (कार्य) है। धर्म तो प्रमेय है। अत: प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी उसका ज्ञान होना असम्भव नहीं है। अर्थात् सम्भव है—यह पूर्वपक्ष करने पर सिद्धान्त किया गया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय धर्म नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण तो वर्तमानकालिक तथा इन्द्रियसन्निकृष्ट (इन्द्रिय सम्बद्ध) विषय को ही बताता है। धर्मरूप प्रमेय (पदार्थ) तो अनागत (भविष्यत्कालिक) है। अर्थात् धर्म तो अनुष्ठेयरूप है। इसलिये वह (धर्म) प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। प्रत्यक्ष का विषय न होने से प्रत्यक्षमूलक अनुमानादि प्रमाणों का भी वह (धर्म) विषय नहीं हो सकता। अत: पारिशेष्यात् विधिवाक्य ही धर्म का बोधक होता है। अर्थात् वह विधिवाक्य ही धर्म में प्रमाण माना जाता है। अर्थात् विधिवाक्य के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण से धर्मरूप प्रमेय का ज्ञान नहीं हो सकता।

इति चतुर्थप्रत्यक्षसूत्रस्य व्याख्यानं समाप्तम्



पञ्चमं धर्मे वेदप्रामाण्याऽधिकरणम्

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ।।५।।

सूत्रार्थ— शब्द का अर्थ के साथ जो प्रत्याय्य-प्रत्यायकभाव सम्बन्ध है, अर्थात् शाब्दबोध होने में जिसकी आवश्यकता रहती है, वह औत्पत्तिक (स्वाभाविक=नित्य) है। सूत्रकार ने 'तु' शब्द का प्रयोग पूर्वपक्षी के कथन (शब्द को प्रमाण न माननेवाले के कथन) के निरसनार्थ किया है। अभिप्राय यह है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध (प्रत्याय्य-प्रत्यायकभाव=बोध्य-बोधकभाव) अनादिकाल से चला आ रहा है, अतः वह नित्य है।

तस्य ज्ञानमुपदेशः— तस्य अर्थात् उस अग्निहोत्रादि लक्षण का ज्ञानम् अर्थात् ज्ञापक (बोधक) है। ज्ञान शब्द में ज्ञा धातु से करण अर्थ में करणाधिकरणयोश्च सूत्र से ल्युट् प्रत्यय किया है, अर्थात् ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्। वही ज्ञान (ज्ञापक) उपदेशः- विधिवाक्यरूप जो विशिष्ट वाक्य है, उसी को धर्म में प्रमाण माना जाता है। अर्थात् साध्य-साधन इतिकर्त्तव्यता— इन तीनों से विशिष्ट रहनेवाली प्रवृत्ति का बोधक (ज्ञापक) होता है। एवञ्च लिङ्-लेट-लोट्-तव्य-अनीयर् आदि प्रत्ययों से युक्त हुआ जो प्रवर्तक वाक्य है, उसी को धर्म में प्रमाण माना जाता है।

अनुपलब्ध्णे अर्थे=अज्ञात अर्थ में, अव्यतिरेकः=(व्यतिरेक=बाध है) अबाधित। सूत्रकार ने अव्यतिरेकश्च कहा है, अतः चकार असन्दिग्ध अर्थ को सूचित कर रहा है। निष्कर्ष यह है कि अनधिगत तथा अबाधित एवं असंदिग्धार्थविषयक जो ज्ञान, उसी को प्रमाण शब्द से कहा जाता है। इसी आशय को भट्टपादकुमारिल ने स्पष्ट कर दिया है—

तस्माद् दृढं यदुत्पन्नं नाऽपि संवादमृच्छति।
ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत् प्रमाणं प्रतीयताम्।।

(श्लो. वा. चो. सू. का. ८०)

श्रीभट्टपाद ने अपनी उक्त कारिका से प्रमाण का लक्षण बतलाया है। प्रमाण का प्रामाण्य अथतथात्वरूप (अबाधितार्थकत्वरूप) इस कारण है कि उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं हुआ करती। इसी को अनपेक्षत्वात् से सूचित किया है। अतएव मीमांसकों के स्वतःसिद्ध स्वतःप्रामाण्य का डिण्डिमघोष सर्वत्र गूंज रहा है।

शङ्का— धर्म का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों से यदि नहीं होता है, तो धर्म

का ज्ञान प्राप्त करने में और कौन सा प्रमाण हो सकता है?

समाधान— उपर्युक्त शङ्का के समाधानार्थ ही औत्पत्तिक सूत्र की रचना सूत्रकार ने की है।

सूत्र की व्याख्या— वृत्तिकार उपवर्ष (बौधायन) ने औत्पत्तिकस्तु: इस पंचमसूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है— 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' इस नित्य वेदघटक शब्द का तत्प्रतिपाद्य अर्थ से जो शक्तिरूप सम्बन्ध है, वह औत्पत्तिक अर्थात् स्वाभाविक (नित्य) है।

अत: धर्म का ज्ञान अर्थात् ज्ञानसाधन (यथार्थज्ञान का कारण) विधिघटित वाक्य ही है। वही धर्म में प्रमाण माना जाता है। यह बादरायणाचार्य का मत है।

सूत्रगत ज्ञान शब्द में ज्ञा धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय किया गया है, जिससे ज्ञाप्ति का अर्थात् यथार्थ ज्ञान का कारण— यह अर्थ प्रतीत होता है। सूत्रगत अनुपलब्धे अर्थे = प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुपलब्ध (अज्ञात) अर्थ का उपदेश, अव्यतिरेक: = अर्थाऽव्यभिचारी दृष्टिगोचर होता है। अत: तत् = विधिघटितवाक्य धर्म में प्रमाण है। अर्थात् धर्म का बोधक होता है; क्योंकि अनपेक्षत्वात् = इतराऽनपेक्षत्वात् अर्थात् प्रत्यक्षाद्यनपेक्षत्वात् = प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपेक्षा न रखने से एवञ्च विधिघटित वाक्य को धर्म में प्रमाण मानना बादरायणाचार्य को सम्मत है।

सूत्रगत शब्दों का अन्वय इस प्रकार से किया जायगा— तस्य = धर्मस्य ज्ञानं = ज्ञानकरणम्—उपदेश: वेदवाक्यमेव, यत: आद्योच्चारणस्य उपदेशात्मकत्वात्, तस्य च अनुपलब्धे अर्थे अव्यतिरेको दृष्ट: अन्यप्रमाणाऽनपेक्षत्वं च। अत: शब्दार्थयो: वाच्यवाचकभाव: सम्बन्ध: नित्य एव। तस्मात् चोदनावाक्यामेव = विधिवाक्यमेव धर्मे प्रमाणम्, इति बादरायणसम्मतम्।

शब्दार्थयो: सम्बन्धस्य अनित्यत्वे सम्बन्धसम्पक्षये प्रमाणान्तरापेक्षायां धर्मे शब्दस्य प्रामाण्यम् अन्याऽनपेक्षं न स्यात्— इस उक्त आशय को औत्पत्तिक सूत्र से बताया गया है।

उक्तं प्रत्यक्षादीनामनिमित्तम्। तत एव तन्मूलपुरुषवचनस्याप्यनिमित्तत्वम्। एवं तर्हि शब्दस्य सर्वत्र प्रमाणान्तरापेक्षयैव प्रामाण्यदर्शनात् तदभावे तस्याप्यप्रामाण्यादभावागम्यत्वमेवायातं धर्मस्येत्याशङ्कानिराकरणाय चोदनाया: प्रामाण्यमुच्यते। सत्यम्— लोके प्रमाणान्तरमूलानां प्रामाण्यम्, अतन्मूलानां चाप्रामाण्यं दृश्यते, न त्वेवमपि साक्षेपं प्रामाण्यं किं तु स्वत एव। अनाप्तवाक्यस्य त्वऽप्रामाण्यं न मूलविरहात् किं तु दुष्टमूलतया शब्दस्य दुष्टत्वात्स्वाभाविकस्य प्रमाणयस्यापवादात्। अपौरुषेये तु वेदे यद्यप्याप्तप्रणीतत्वं नास्ति तथापि प्रामाण्यस्य तदपेक्षा-

भावादनाप्तस्पर्शनिमित्तदोषाभावाच्चानपोदितं प्रामाण्यं भवति।

शास्त्रदीपिकाकार श्रीपार्थसारथिमिश्र उक्त सूत्र की व्याख्या स्वयं कर रहें हैं—**उक्तं प्रत्यक्षादीनामिति।** (पृ. १४१) धर्म में प्रत्यक्षादि प्रमाणों के प्रामाण्य की संभावना नहीं कर सकते; क्योंकि धर्म पदार्थ तो भविष्यत्कालिक (भावी) होने से प्रत्यक्ष होने के योग्य ही नहीं हैं। अर्थात् धर्म को प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं कह सकते। जब प्रत्यक्ष प्रमाण ही धर्म में प्रमाण नहीं है तब प्रत्यक्षमूलक पुरुषवाक्य भी धर्म में प्रमाण कैसे हो सकेगा? अर्थात् उसे भी (पुरुषवाक्यरूप शब्द को भी) प्रमाण नहीं कह सकते। लोगों की प्रामाण्य बुद्धि आप्त वाक्य में ही हुआ करती है, अनाप्त वाक्य में नहीं। यथार्थवक्ता को ही आप्त शब्द से कहा जाता है। आप्त पुरुष स्वयं प्रत्यक्ष न किये हुए वस्तु को कभी भी नहीं बतलाता है। धर्म वस्तु (पदार्थ) भावी (भविष्यत्कालिक) होने से प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय बनने योग्य ही नहीं है। अत: आप्तवाक्य (आप्त शब्द) भी धर्म के स्वरूप को नहीं बता सकता। शेष रहा अनाप्तवाक्य, तो वह स्वयं ही अप्रमाण है, अत: वह धर्मत्व रूप को कैसे बता सकता है? अर्थात् नहीं बता पायेगा।

शङ्का— यदि प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्षमूलक अन्यान्य प्रमाणों का प्रामाण्य होना धर्म में सम्भव नहों है, तो लोकव्यवहार में सर्वत्र प्रामाणान्तरमूलक शब्द को ही प्रमाण माना जाता है। धर्म का बोध कराने में प्रत्यक्षादि प्रमाणों का भी जब सामर्थ्य नहीं है तो धर्मबोधन में शब्द का भी प्रामाण्य कैसे हो सकेगा? एवञ्च धर्मबोधन में शब्द का प्रामाण्य नहीं होने से धर्म को अभाव प्रमाणगम्य मानना होगा। अर्थात् अनुपलब्धिगम्य ही कहना होगा। एवञ्च धर्म का अभाव ही सिद्ध हुआ; क्योंकि अनुपलब्धिगम्य तो अभाव ही हुआ करता है।

समाधान— उपर्युक्त आशङ्का के निराकरणार्थ ही सूत्रकार जैमिनि ने चोदना (विधि) को ही धर्म में प्रमाण बतलाया है।

शङ्का— एवं तर्हि शब्दस्य सर्वत्रेति। इस परिस्थिति में सर्वत्र ही शब्द का प्रामाण्य प्रमाणान्तरमूलक ही रहता है। अत: धर्म के बोधन में प्रत्यक्षादि प्रमाणों का प्रामाण्य नहीं रहने पर शब्द का भी प्रामाण्य धर्मावबोधन में नहीं होगा। तब धर्म को अभावगम्य अर्थात् अनुपलब्धिगम्य ही कहना होगा। निष्कर्ष यह हुआ कि धर्म का अभाव ही सिद्ध हुआ; क्योंकि अभाव पदार्थ ही अनुपलब्धि से गम्य (बोध्य) हुआ करता है।

समाधान— इस आशङ्का के निराकरणार्थ विधिवाक्य (चोदनावाक्य) का प्रामाण्य बतलाया गया है। लोकव्यवहार में प्रमाणान्तरमूलक वाक्यों को प्रमाण माना जाता है। जो वाक्य प्रमाणान्तर मूलक नहीं है, उन्हें अप्रमाण कहा जाता है।

शङ्का— वाक्य का प्रामाण्य प्रमाणान्तरमूलक रहने पर भी वाक्य का प्रामाण्य किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। अर्थात् परत: उसका प्रामाण्य नहीं है। अपितु उसका प्रामाणों का प्रामाण्य स्वत: ही हुआ करता है। धर्म में प्रत्यक्षादि प्रमाणों के प्रामाण्य का

जो अस्वीकार किया गया है, वह किसी द्वेष के कारण नहीं किया गया है, किन्तु धर्म पदार्थ भावी (भविष्यत्कालिक) होने के कारण उसमें (धर्म में) प्रत्यक्षादि प्रमाणों के प्रामाण्य की सम्भावना नहीं कर सकते। अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विषय नहीं होने वाले धर्म का ज्ञान (बोधन) वेदवाक्यों से हो सकता है, इसीलिये वेदवाक्यों को प्रमाण माना जाता है।

शङ्का— प्रामाण्य को यदि स्वत: माना जाय तो अनाप्तवाक्य को भी प्रमाण कहना होगा।

समाधान— ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र कहते हैं— 'अनाप्तवाक्यस्य तु अप्रामाण्यं न मूलविरहात्, किन्तु दुष्टमूलतया शब्दस्य दुष्टत्वात् स्वाभाविकस्य प्रामाण्यस्य अपवादात्।' इसका अभिप्राय यह है कि यदि वाक्य को प्रत्यक्षादिमूलक नहीं होने से अप्रमाण कहा जायगा तो अनाप्त वाक्य को भी प्रत्यक्षादिमूलक होने से प्रमाण कहना होगा अर्थात् उसे अप्रमाण नहीं कहना होगा।

किन्तु ऐसा तो नहीं कहा जाता। अनाप्त वाक्य तो दुष्टमूलक होने से उसमें दुष्टता रहती है। अत: प्राप्त हुए स्वाभाविक (नैसर्गिक) प्रामाण्य का बाध (अपवाद) हो जाता है। अनाप्तवाक्य तो भ्रमादि दोषमूलक होता है। उस कारण प्राप्त हुंए प्रामाण्य का कारणगत दोषज्ञान से बाध (निवृत्ति) हो जाता है। उसी कारण अनाप्त वाक्य में प्रामाण्य का होना सम्भव ही नहीं है।

उपर्युक्त प्रकार से प्रत्यक्षादि प्रमाणों में भी कारण दोष ज्ञान के होने पर प्राप्त हुआ प्रामाण्य बाधित हो ही जाता है; किन्तु वेदवाक्यों के अपौरुषेय रहने से उनमें किसी भूल की सम्भावना ही नहीं है। उसी कारण उनमें दुष्टमूलकत्व है ही नहीं, जिससे अप्रामाण्य की आशङ्का उत्पन्न हो सके। वेदवाक्य किसी आप्तपुरुष के द्वारा प्रणीत नहीं हैं। अत: वे अपौरुषेय ही हैं। अर्थात् आप्त के द्वारा प्रणीत नहीं होने में (आप्ताऽप्रणीतत्व में) अपौरुषेयत्व ही हेतु है।

प्रामाण्य आप्तप्रणीतत्व से व्याप्य नहीं है। अर्थात् यत्र-यत्र प्रामाण्यम् अस्ति, तत्र-तत्र आप्त-प्रणीतमस्ति— इस प्रकार कोई व्याप्ति नहीं है। जो व्याप्ति का विषय होता है, उसे व्याप्य कहते हैं। अन्यथा प्रत्यक्षादि में व्यभिचार होगा। इसलिये प्रामाण्य में आप्तप्रणीतत्व की अपेक्षा नहीं हुआ करती। उसी कारण आप्तप्रणीतत्व के अभाव में भी वेद का प्रामाण्य अनपोदित (अबाधित) ही रहता है। अन्य कारण यह है कि अनाप्तस्पर्श अर्थात् अनाप्तसम्बन्ध जो कहा जा रहा है, वह अनाप्तकर्तृक ही होगा, तन्निमित्त जो दोष अर्थात् अयथार्थ प्रत्यायकत्व, उसके नहीं होने से वेद का प्रामाण्य अनपोदित (अबाधित) ही रहेगा। एवञ्च वेद के अप्रामाण्य का साधक कोई भी हेतु नहीं है। अत: प्रामाण्य स्वत एव ही है। इस रीति से वेद का प्रामाण्य स्वत एव सिद्ध हो रहा है।

त्रेधा ह्यत्र पुरुषाऽनुप्रवेशः— पदपदार्थसम्बन्धद्वारेण, वाक्यवाक्यार्थ-सम्बन्धद्वारेण ग्रन्थस्यैव वा भारतादिवत् पौरुषेयत्वात्। न त्वेतत् त्रयमप्यस्ति। पदपदार्थसम्बन्धस्य नित्यत्वमत्रौत्पत्तिकशब्देनोक्तम्, वाक्यार्थस्य च पदार्थमूलत्वं, वेदस्य चाऽपौरुषेयत्वमुपरिष्टाद् वक्ष्यते।

(सामान्यतः प्रमाणलक्षणम्)

न च साक्षाद् बाधकमस्तीत्य-व्यरेकशब्देनोच्यते। अनुपलब्धार्थत्वाच्च नानुवादलक्षणम प्रामाण्यमस्तीति अर्थेऽनुपलब्धे इत्यनेनोक्तम्। एतच्च विशेषणत्रयमुपादानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीत-ग्राहिज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं सूचितम्।

शङ्का— वेद को पौरुषेय (मनुष्यरचित) ही क्यों नहीं मान लिया जाय? क्योंकि **त्रेधा ह्यत्र पुरुषाऽनुप्रवेशः इति**। अत्र अर्थात् वेद में त्रिधा = तीन प्रकार से पुरुषाऽनु-प्रवेशः = पुरुषसम्बन्ध की सम्भावना की जा सकती है। इसी अभिप्राय का उपपादन ग्रन्थकार कर रहे हैं— (१) पद-पदार्थसम्बन्ध- द्वारेण, (२) वाक्य-वाक्यार्थसम्बन्धद्वारेण, (३) ग्रन्थस्यैव वा भारतादिवत् पौरुषेयत्वात्। अर्थात् पद और पदार्थ— दोनों के सम्बन्ध की रचना द्वारा, वाक्य और वाक्यार्थ के सम्बन्ध की रचना द्वारा एवं ग्रन्थ की रचना के द्वारा पुरुष सम्बन्ध को बताया जा सकता है। जैसे— महाभारत की रचना श्री वेदव्यासजी ने की है। अतः उसको (महाभारत को) पौरुषेय कहा जाता है।

किन्तु वेद में पुरुषप्रवेश अर्थात् पुरुषसम्बन्ध के इन तीनों कारणों की कल्पना नहीं की जा सकती, जिससे वेद को पौरुषेय कहा जा सके। इसी आशय को ग्रन्थकार ने कहा है— 'न त्वेतत् त्रयमपि अस्ति। पद-पदार्थसम्बन्धस्य नित्यत्वम्, अत्र औत्पत्तिकशब्देन उक्तम्, वाक्यार्थस्य च पदार्थमूलत्वं वेदस्य च अपौरुषेयत्वम् उपरिष्टाद् वक्ष्यते'।

अभिप्राय यह है कि (१) पद-पदार्थ दोनों का सम्बन्ध तो नित्य ही माना गया है। अतः तद्रचना द्वारा पुरुष प्रवेश (पुरुष सम्बन्ध) का होना सम्भव नहीं है।

(२) पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध (संसर्ग) ही वाक्यार्थ कहलाता है। अतः अपनी उपस्थिति के द्वारा पदार्थ ही अपने परस्पर सम्बन्ध होने में कारण हैं, इस कारण यहाँ भी पुरुष सम्बन्ध नहीं है। एवञ्च वाक्य-वाक्यार्थ सम्बन्ध के द्वारा भी पुरुष सम्बन्ध होने की (पौरुषेयता की) कल्पना नहीं कर सकते। निष्कर्ष यह हुआ कि वाक्यरचना के द्वारा भी वेद को पौरुषेय नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह तो अपौरुषेय है, अर्थात् पुरुषरचित नहीं है।

(३) इसलिये ग्रन्थरचना के द्वारा भी पुरुष सम्बन्ध की (पौरुषेयता की) कल्पना नहीं की जा सकती।

शङ्का– वेद को पौरुषेय कहने में उक्त तीनों प्रकारों से पुरुष सम्बन्ध के नहीं होने पर भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अप्रामाण्य के समान वेद का भी अप्रामाण्य क्यों नहीं मान लिया जाय?

समाधान– न च साक्षादिति । प्रत्यक्ष आदि का अप्रामाण्य तो तब माना जाता है, जब कोई साक्षात् बाधक हो; किन्तु वेदवाक्यजन्य ज्ञान का कोई बाधक दृष्टगोचर नहीं हो रहा है; क्योंकि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' वाक्य से ज्योतिर्याग याग के करने पर स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो पाई, ऐसा ज्ञान आजतक किसी को भी नहीं हुआ है। इसी बात को सूत्रकार ने भी 'अव्यतिरेकश्च' शब्द का प्रयोग करके कहा है।

शङ्का– चोदनात्मक विधिवाक्यों का अप्रामाण्य उनके अनुवादकत्व होने के कारण ही क्यों नहीं कहा जाय? यह आशङ्का सूत्रकार ने ही अर्थेऽनुपलब्धे कहकर व्यक्त की है। मूलोक्त अर्थेऽनुपलब्धे का अर्थ है– अनुपलब्धः = अज्ञानः अर्थः यस्य सः अनुपलब्धार्थः, अर्थात् अज्ञातार्थकत्वात् ।

एतच्च विशेषणत्रयमिति । सामान्य रूप से प्रमाण का लक्षण 'एतच्च' आदि से बता रहे हैं– औत्पत्तिकस्तु शब्दस्याऽर्थेन सम्बन्धः, अव्यतिरेकश्च, अर्थेऽनुपलब्धे— ये तीनों विशेषण हैं। इन तीन विशेषणों से प्रथम विशेषण से कारण दोषराहित्य की आवश्यकता बतलायी गई है तथा द्वितीय विशेषण से बाधक ज्ञान राहित्य (बाधकज्ञान का अभाव) की आवश्यकता बतायी गई है। और तीसरे विशेषण से अगृहीतग्राहित्व होने की (अज्ञान पदार्थ (अर्थ) का ग्रहण (ज्ञान) कराने की आवश्यकता बताई गई है। उक्त कथन से निष्कर्ष यह निकलता है कि कारणदोषरहित अथवा कारण दोष के ज्ञान से रहित तथा बाधक ज्ञान से रहित जो अगृहीतग्राहि ज्ञान हो, उसे ही प्रमाण माना जाता है। इस प्रकार से प्रमाण का लक्षण ग्रन्थकार मिश्रजी ने सूचित किया है।

जहाँ बाधकज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, वहाँ केवल कारणदोष के ज्ञान से ही अप्रामाण्य होता है। जैसे– 'नद्यास्तीरे पंचफलानि सन्ति' इस वाक्य को सुनकर नदी के किनारे बिना गये ही उक्त वाक्य कहने वाला व्यक्ति, वञ्चक है, यह ज्ञान यदि हो जाय, तो वहाँ केवल कारणदोषज्ञान से ही उसके उक्त वाक्य में अप्रामाण्य बुद्धि हो जाती है। वहाँ बाधक ज्ञान होने की आवश्यकता नहीं रहती तथा शुक्तौ इदं रजतम् इत्यादि स्थलों में इदं रजतं न इस बाधक ज्ञान के उत्पन्न होने से शुक्तौ इदं रजतम्— इस ज्ञान को अप्रमाण माना जाता है। भ्रमात्मक सभी ज्ञानों में कारण दोष तो हुआ ही करता है। अतः भ्रमात्मक ज्ञान (भ्रम = भ्रान्ति) को अप्रमाण ही कहा जाता है और अनुवादक वाक्य को गृहीतग्राही होने से अर्थात् कथित = उक्त का ही पुनः कथन करने के कारण अप्रामाण्य (अप्रमाण) माना जाता है। निष्कर्ष यह हुआ कि कारणदोष बाधक ज्ञानरहित अगृहीत–ग्राहि ज्ञान ही प्रमाण माना जाता है।

(प्रभाकरमतेन प्रमाणलक्षणम्)

नन्वेवं धारावाहिवषूत्तरेषां पूर्वगृहीतार्थविषयकत्वादप्रामाण्यं स्यात्। तस्मात् अनुभूतिः प्रमाणम् इति प्रमाणलक्षणम्। स्मृतिव्यतिरिक्ता च प्रतीतिरनुभूतिः। स्मृतिश्च संस्कारमात्रजं ज्ञानमभिधीयते। मात्रग्रहणं च संस्कारसध्रीचीनेन्द्रियजस्य प्रत्यभिज्ञानस्य स्मृतित्वप्रसङ्गेनाऽप्रामाण्यं मा प्रसाङ्क्षीदित्येवमर्थम्। तदेवम्— संस्कारातिरिक्तकारणजन्यं ज्ञानं प्रमाणमित्युक्तं भवति, तदिदं स्वप्नदर्शने तावदव्यापकम्, संस्कार-मात्रजस्यापि ज्ञानस्य स्वरूपे कर्तरि च प्रामाण्यमिष्टं भवताम्।

व्याख्या— नन्वेवं धारावाहिकेष्विति । भाट्टोक्त प्रमाणलक्षण में प्राभाकर शङ्का करते हैं कि घटोऽयं घटोऽयम् इस आकार का जहाँ पर एकविषयक चिरकाल तक ज्ञान होता रहता है, वहाँ पर ज्ञान तृतीय क्षणवृत्तिध्वंस प्रतियोगि होने से अनेक ज्ञानों को घटविषयक कहना होगा। उनमें द्वितीयादि ज्ञान को पूर्वगृहीतार्थविषयक होने से प्रामाण्य-लक्षण में अगृहीतग्राही विशेषण के जोड़ने पर भी प्रामाण्य नहीं हो सकेगा, किन्तु प्रामाण्य तो अभीष्ट है। इसलिये उक्त लक्षण (भाट्टोक्त प्रामाण्य लक्षण) समुचित नहीं है। अत: प्रभाकरमत के अनुसार 'अनुभूतित्वं प्रमाणत्वम्' यही प्रमाणलक्षण उचित प्रतीत होता है।

स्मृतिव्यतिरिक्ता चेति। अनुभूति का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं— स्मृतिव्यतिरिक्ता च प्रतीतिरनुभूति: तथा स्मृति का स्वरूप यह है कि स्मृतिश्च संस्कारमात्रजं ज्ञानमभिधीयत। अर्थात् स्मृति के अतिरिक्त जो प्रतीति हो उसे अनुभूति कहते हैं, और केवल संस्कार से होनेवाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं।

प्रश्न— संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः— इतना ही लक्षण स्मृति का यदि किया जाय तो क्या हानि है? स्मृति के लक्षण में मात्र पद का उपन्यास करने की क्या आवश्यकता?

उत्तर— प्रत्यभिज्ञा ज्ञान को भी प्रमाण माना जाता है। उस प्रमाणभूत प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान के निवृत्त्यर्थ मात्र पद का ग्रहण स्मृतिलक्षण में किया गया है; क्योंकि प्रत्यभिज्ञा भी संस्कारजन्य हुआ करती है। तथापि प्रत्यभिज्ञा संस्कारमात्रजन्य नहीं हुआ करती, वहाँ इन्द्रिय भी कारण माना जाता है। अत: संस्कारमात्रजन्यत्व न होने से प्रत्यभिज्ञा को अप्रमाण नहीं कह सकते। इसी अभिप्राय को शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथिमिश्र ने कहा है— मात्रग्रहणं च संस्कारसध्रीचीन-(संस्कारसहित)-इन्द्रियजस्य प्रत्यभिज्ञानस्य, स्मृतित्व-प्रसंगेन अप्रामाण्यं मा प्रसांक्षीत् इत्येवमर्थम् ।

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा में संस्कारमात्रजन्यत्व न होने से उसे (प्रत्यभिज्ञा को) अप्रमाण नहीं माना जाता। प्रत्यभिज्ञा का उदाहरण सोऽयं देवदत्त: है। यहाँ तत्तांश में संस्कार का

ही व्यापार रहता है और इदंत्वांश में इन्द्रिय का ही व्यापार हुआ करता है। इसलिये प्रत्यभिज्ञा केवल इन्द्रियजन्य भी नहीं है और न केवल संस्कारजन्य ही है; किन्तु संस्कारसहित (सध्रीचीन = सहित) इन्द्रियजन्य है। अर्थात् संस्कार और इन्द्रिय दोनों से जन्य हुआ करती है। अर्थात् उभयजन्य रहती है।

शङ्का— अगृहीत अर्थग्राही अर्थात् अज्ञात रहनेवाले अर्थ का ग्राहक जो ज्ञान, उसे प्रमाण कहा गया है; किन्तु यह प्रमाणलक्षण द्वितीय–तृतीय-चतुर्थक्षण में धारावाहिक ज्ञान में अव्याप्त हो रहा है; क्योंकि प्रथम क्षणिक ज्ञान का विषय ही, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आदि क्षणिक उत्तर ज्ञान का भी है। इसलिये उक्त प्रमाणलक्षण की अव्याप्ति हो रही है; क्योंकि द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आदि ज्ञान का विषय वहीं है, जो प्रथम ज्ञान का था। उसी कारण द्वितीयादि ज्ञानों को अप्रमाण कहना होगा। इस प्रकार उक्त लक्षण मानने पर धारावाहिक ज्ञान स्थल में द्वितीयादि ज्ञान पूर्वगृहीत अर्थविषयक होने के कारण उसमें अप्रामाण्य प्राप्त होगा। धारावाहिक ज्ञान उसे कहते हैं, जहाँ घटादिविषयक एक ही ज्ञान दीर्घ काल तक प्रवाहित होता रहता है। उसमें प्रथम ज्ञान का विषय घटादि ही उत्तरोत्तर ज्ञानों में अनुस्यूत रहता है और वह गृहीतार्थ ग्राही होने से प्रमाण भी माना जाता है। इसलिये उक्त लक्षण की अव्याप्ति है। अत: इससे द्वितीय-तृतीयादि ज्ञान उसमें प्रमाण होंगे। अत: अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्— यह लक्षण उचित नहीं है। इस प्रकार यही कहना उचित होगा कि संस्कारातिरिक्तकारणजन्यं ज्ञानं प्रमाणम् । इस लक्षण से एक अन्य बात अर्थत: सिद्ध हो जाती है कि संस्कारमात्रजं ज्ञानमप्रमाणम् इति, किन्तु यह भी स्वाप्नज्ञान में अव्याप्त हो रहा है; क्योंकि केवल संस्कार मात्र से उत्पद्यमान स्वाप्नज्ञान अपने स्वरूप में तथा कर्ता में अर्थात् आत्मा में आपके मतानुसार प्रामाण्य है ही, किन्तु उसमें संस्कारातिरिक्त कारणजन्यत्व न होने पर भी प्रमाण का लक्षण घटित हो रहा है; क्योंकि स्वाप्नज्ञान केवल संस्कारमात्र से ही उत्पन्न होता है, इस कारण अव्याप्ति हो रही है। सभी स्वाप्नज्ञान प्रकाशरूप हुआ करते हैं, अत: स्व-स्वरूप प्रकाशनार्थ, उन्हें अन्य ज्ञान (ज्ञानान्तर) की अपेक्षा नहीं हुआ करती; क्योंकि स्व-स्वरूप परामर्शक होने के कारण स्वरूप में प्रामाण्य तो है ही, कारणस्वरूप में व्यभिचार होने का भी सम्भावना ही नहीं है। इसी तरह उसे (स्वाप्नज्ञान को) आत्मा का अपरामर्शक मानने पर स्वप्नकाल में अहं पश्यामि और प्रबोधकाल में मया दृष्टम्— यह प्रतीति नहीं होनी चाहिये; किन्तु प्रतीति तो होती है। इसलिये स्वाप्नज्ञान आत्मपरामर्शक होने से आत्मा के विषय में भी प्रामाण्य है ही, अत: उसी कारण आत्मा में भी व्यभिचार होने की सम्भावना नहीं है। आत्मा और स्वरूप में संशय (सन्देह) का होना कदाचिदपि किसी के दृष्टिगोचर नहीं है। अत: स्वाप्नज्ञान को भी प्रमाण मानना ही चाहिये; क्योंकि प्राभाकरों का कहना है—

प्रमाणमनुभूतिः सा स्मृतेरन्या स्मृतिः पुनः।
पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते।।
न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्तिव्यपेक्षणात्।। इति ।।

तथा– न चैवं धारावाहिकोत्तरज्ञानानां स्मृतित्वम्, इन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्वात् पूर्ववत्। मात्रग्रहणात्र प्रत्यभिज्ञानस्य न स्मृतित्वम्, इन्द्रियार्थसंनिकर्षसचिवसंस्कारजत्वात् । यद्यनुभूतिः प्रमाणं ततो रजतमिदमिति नैकं ज्ञानं, किन्तु द्वे एते विज्ञाने, तत्र रजतमिति स्मरणं, तस्य अननुभवरूपत्वात् न प्रामाण्यप्रसङ्गः। इदम्– इत्यपि विज्ञानमनुभवरूपं प्रमाणमिष्यते एव। भ्रान्तिरूपता च अत्र रजतज्ञानस्य स्मरणरूपस्यैव ग्रहणव्यवहारप्रवर्तकतया व्यवहारकाले विसंवादकत्वात् इत्यादि।

प्राभाकरैः सर्वेषामेव ज्ञानानां विषयवत् स्व-स्वरूपात्मनो परामर्शकत्वस्याऽपि स्वीकारात्। तदुक्तम्– यावती काचित् ग्रहण-स्मरणरूपा प्रतीतिस्तत्र साक्षादात्मा प्रतिभाति, प्रकाशस्तु प्रकाशात्मकत्वात् नाऽन्यमपेक्षते। इदमहं स्मरामि, गृह्णामीति वितथमेवाऽवभासते इत्यादि।

अथ स्मर्तव्यापेक्षयैव स्मृतेः स्मृतित्वं तद्विषयसंस्कारजत्वात्, स्वरूपकर्त्रपेक्षया त्वनुभूतिरेव, अतः सिद्ध्यति प्रामाण्यमित्युच्यते। एवं तर्हि मात्रग्रहणमनर्थकम्, प्रत्याभिज्ञनस्यापि पूर्वानुभूतांशापेक्षयैव स्मृतित्वात् तत्र चाप्रामाण्यमिष्टमेव, यत्र त्वंशे प्रामाण्यं तत्राऽनुभूतिरेव सा।

शङ्का— स्मृतिस्वरूप स्वप्नादि ज्ञानों को स्मर्यमाण विषयों की अपेक्षा रहती ही है। इसलिये उनमें स्मृतित्व (स्मृतिरूपता) रहना ठीक ही है; क्योंकि स्मर्यमाण विषयविषयक संस्कारजन्यत्व उनमें है, किन्तु स्वरूप की दृष्टि से तथा कर्तृभूत आत्मा की दृष्टि से (अपेक्षया) स्मृतित्व नहीं रहने पर भी अनुभूतित्व तो होता ही है। इस प्रकार स्वरूप और कर्ता में प्रामाण्य का स्वीकार करना उचित ही है। अतः अनुभूतित्व होने से ही स्वरूप और कर्ता में प्रामाण्य मानना होगा।

समाधान— एवं तर्हि इति । यदि स्मरण में दो अंश होते हैं, तब स्मर्तव्य विषय की अपेक्षा से स्मृतित्व और स्व-स्वरूप की अपेक्षा से अनुभूतित्व मानना होगा, तब प्रत्यभिज्ञा में भी दो अंश होंगे– (१) स्मृतित्व और (२) अनुभूतित्व। यहाँ पर सोऽयं देवदत्तः में पूर्वानुभूत जो तत्तांश है, उस दृष्टि से ही प्रत्यभिज्ञा में स्मृतित्व है। अतः तत्तांश में अप्रामाण्य तो अभीष्ट है ही, और जो पूर्वानुभूत इदंत्वांश है, उसकी अपेक्षया तो प्रत्यभिज्ञा में अनुभूतित्व ही है। अतः इदंत्वांश में प्रामाण्य का होना उचित ही है। इसी कारण से संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः— इस स्मृतिलक्षण में मात्र पद का ग्रहण करना व्यर्थ (निष्प्रयोजन) है। संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः— इतना मात्र कहने पर भी स्मृति के स्वरूप में और कर्ता में प्रामाण्य रहता है, उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा भी संस्कारजन्य होने

से उसमें भी स्मृतित्व की प्रसक्ति होने पर भी इदंत्वांश में प्रामाण्य रहेगा ही; क्योंकि अनुभूतित्व है और तत्तांश में संस्कारजन्यत्व है, अत: उसमें प्रत्यभिज्ञा का प्रामाण्य भी अभीष्ट नहीं है और जिस अंश में प्रामाण्य इष्ट है, वहाँ हमारी अभीष्ट अनुभूति ही है।

किञ्चानुवादानम्— 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीम्' इत्यादीनामपि संस्कार-मात्रजत्वाभावात् प्रामाण्यं स्यात्। भवतु इति चेत्? न, लोकविरोधात् । तथा लौकिकमपि वाक्यं वक्तृज्ञानानुमित्तेऽर्थेऽनुवादकतया प्रवर्तमानं प्रमाणं स्यात्। न चैतदिष्टं भवताम्। असंनिकृष्टग्रहणमनुवादानां शास्त्रत्व-निवृत्त्यर्थमित्यङ्गीकरणात्।

एक और अन्य दोष बता रहे हैं— **किञ्चेति।** उक्त रीति से 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानमप्रमाणम्' यही निश्चित है, तथा 'च य एवं विद्वान् पौर्णमासीम्' अनुवादवाक्यों में भी संस्कारमात्रजन्यत्व न होने से प्रामाण्य होने लगेगा, किन्तु अनुवादों को प्रामाण्य मानना अभीष्ट नहीं है। यहाँ प्राभाकरों का कहना है कि अनुवादवाक्यों का प्रामाण्य मानने में कौन सा दोष है?

प्राभाकरों के उक्त कथन का खण्डन करते हैं— **न लोकविरोधादिति ।** लोकव्यवहार में तथा आपके मत में भी अनुवादवाक्यों का प्रामाण्य मान्य नहीं है; अर्थात् अनुवादवाक्यों का प्रामाण्य संमत नहीं है। साथ ही एक अन्य दोष भी प्रसक्त होगा। अभिप्राय यह है कि आपके (प्राभाकरों के) मत में लौकिक वाक्य वक्तृज्ञानानुमितार्थ-प्रत्यायक हुआ करते हैं, उसी कारण उनमें प्रामाण्य नहीं है। उनको प्रमाण नहीं मानने में कारण यही है कि प्राभाकर मत के अनुसार वक्ता के ज्ञान से अनुमित अर्थ के अनुवादरूप से लौकिक वाक्य प्रवृत्त होता है। आपके मतानुसार उसमें भी प्रामाण्य होने लगेगा। अत: उसे इष्टापत्ति के रूप में नहीं कहा जा सकता; क्योंकि शास्त्र-प्रमाण का प्रारम्भ करके 'शास्त्रं शब्दविज्ञानात् असन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः' अर्थात् पद का ज्ञान होने पर असन्निकृष्ट अर्थविषयक बुद्धि (ज्ञान) होती है– भाष्यकार शबरस्वामिपाद ने शास्त्र का यह लक्षण किया है। लौकिक वाक्य में उक्त लक्षण घटित नहीं होता है, और अनुवाद वाक्यों में शास्त्ररूपता नहीं है। इसी रहस्य को बताने के लिये शास्त्र के लक्षण में असन्निकृष्ट यह विशेषण दिया गया है। यद्यपि प्राभाकरों ने वेधायक देववाक्यों का प्रामाण्य स्वीकार किया है, तथापि लौकिक वाक्यों के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं किया है; क्योंकि लौकिक वाक्य तो अनुवादक रहते हैं। अत: वैशेषिकों ने भी लौकिक वाक्यों को प्रमाण नहीं माना है।

शब्दप्रमाण का उपक्रम करके प्राभाकर ने कहा भी है— 'शास्त्रं शब्दविज्ञानद-सन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः' अर्थात् पदज्ञान से असन्निकृष्टार्थविषयक ज्ञान (बुद्धि) होता है। भाष्यकार ने ऐसा ही शास्त्रलक्षण किया है। उक्त लक्षण लौकिक वाक्य में नहीं संगत होता है। अनुवाद को ही कोई शास्त्र नहीं मान लें— इस रहस्य को बताने के लिये

शास्त्रलक्षण में असन्निकृष्ट विशेषण दिया गया है। अर्थात् शास्त्रलक्षण में असन्निकृष्ट पद से अनुवाद को प्रमाण नहीं माना जाता— यह शाबरभाष्य में बतलाया गया है। इसलिये अनुवाद का प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। यथा— 'असन्निकृष्ट इति किमिदम्? प्रमाणान्तरेण अप्रतीत इति = असन्निकृष्ट' पद से क्या कहा गया है? यह प्रश्न होने पर उत्तर यह दिया गया है कि प्रमाणान्तर से जो अज्ञात है, उसी को कहा गया है। इसलिये अनुवाद को प्रमाण मानने पर आपका कथन भाष्यविरुद्ध हो जायगा। आपके द्वारा विरचित बृहती टीका के साथ भी विरोध होगा। इसलिये प्रमाण का लक्षण अनुभूतिः प्रमाणम्– नहीं हो सकेगा। अर्थात् अनुभुति को प्रमाण के रूप में नहीं कह सकते। अभिप्राय यह है कि शब्दज्ञान की अपेक्षा होने से आत्मसन्निकर्ष से होनेवाले अदृष्टार्थविषयक जो ज्ञान, उसी को शास्त्र संज्ञकप्रमाण कहते हैं।

शङ्का— लोकव्यवहार में अशास्त्र को भी शाब्दप्रमाण के नाम से कहा जाता है। उसे क्यों नहीं बता रहे हैं?

समाधान— शास्त्र से पृथक् किसी को भी शाब्दत्व नहीं है। शब्द से होनेवाला जो विज्ञान असन्निकृष्ट विषयक होता है, उसी को शास्त्र कहते हैं। इसप्रकार का शास्त्र तो, वेद के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं हो सकता। लौकिक वाक्य तो अपने स्वार्थ का निश्चय ही नहीं कर पाता; क्योंकि लौकिक वाक्यों में मिथ्यात्व (अनृत्त्व) अधिक रहता है। अतः अर्थव्यभिचार की शङ्का अधिक रहती है।

शङ्का— लौकिक वाक्यों में अर्थव्यभिचार की शङ्का यदि अधिक रहती है, तो लौकिकवाक्यों से व्यवहार प्रवृत्ति क्यों हुआ करती है?

समाधान— अर्थसंशय रहने पर भी लोग व्यवहार करते ही हैं। जैसे वर्षा (वृष्टि) के सन्दिग्ध रहने पर भी वृष्टि के अधीन रहनेवाले फल की प्राप्ति के लिये कर्म में लोगों की प्रवृत्ति होती ही है।

अथवा निश्चय कर लेना ही एकमात्र उपाय (साधन) है। जिस मनुष्य के विषय में किसी ने निश्चय कर लिया हो कि यह मनुष्य असमर्थ नहीं है तथा प्रमादी (लापरवाह) भी नहीं है, वह सम्भाव्य कार्य करने में प्रामाणिक है, तथा सकल आशयदोषों से रहित भी है। ऐसा आदमी पदार्थ (वस्तु) को विना जाने अन्वित पदार्थों का प्रयोग नहीं करेगा। उसके उच्चरित वाक्य अन्वय ज्ञानपूर्वक हैं; अतएव अन्वयज्ञान का अनुमान किया जाता है। अन्वयज्ञान से अन्वय का भी अनुमान किया जाता है। जैसे– ज्ञानं हि ज्ञेयाऽ-विनाभावि। इसी को ज्ञेय का अनुमान करने में लिङ्ग (हेतु) बना लिया जाता है। इस रीति से लौकिक शब्दात्मक वाक्यों को लिङ्ग (हेतु) बनाकर वक्ता के ज्ञान का अनुमान किया जाता है। उससे अर्थ (वस्तु) का निश्चय किया जाता है। तदनन्तर व्यवहार किया जाता है। एवञ्च अन्वय के निश्चित होने पर अनन्वय की शङ्का निवृत्त हो जाती है। तब वाक्य के अर्थ का निश्चय हो जाता है; किन्तु इस स्थिति में अनुवादकता ही रहती है। अतएव

लौकिक वाक्यों से होनेवाले शाब्दज्ञान को प्रमाण नहीं माना जाता। अभिप्राय जानने में शब्द लिङ्ग (हेतु) है, अभिप्राय भी अर्थ बोध कराने में लिङ्ग (हेतु) है। उसके पश्चात् शब्द के द्वारा अर्थविषयक निश्चय होता है, तथापि अनुवादक होने से उसे (शब्द को) प्रमाण नहीं माना जाता।

शङ्का– शब्द को प्रमाण नहीं मानने पर भी ऐसा मान लाया जाये कि किसी अन्य प्रमाण से अनवगत (अज्ञात) जो वक्तृज्ञान है (बोलने वाले का ज्ञान है), उसका अवगमक (बोधक) पौरुषेय वाक्य ही है, उसके शब्दात्मक होने से शाब्दप्रमाण को मान लीजिये।

समाधान– उक्त युक्ति ठीक नहीं है। उक्त परिस्थिति में अनुमान की ही प्रतीति हो रही है; क्योंकि वक्तृज्ञान में निश्चित सम्बन्ध प्रत्यायित वचन (आप्त के शब्द) हैं और वक्ता धर्मी है। ये दोनों ज्ञानविशेष से सम्बन्धित वाक्य के प्रयोग में एकदेशरूप हैं। अतएव वेदों को पौरुषेय माननेवाले भगवान् काश्यप ने शब्द का अन्तर्भाव अनुमान में किया है। और कहा है— तस्येदं कारणं कार्यम् इति लैङ्गिकमुक्त्वा एतेनैव शाब्दमपि उक्तम् इति। वक्तृज्ञानकारण है और वाक्य— कार्य है, इसीलिये किसी ने कहा भी है वक्तुरभिप्रायं तु सूचयेयुः इति स एव तथा प्रतिपद्यमानतया आश्रयः इति। अत्र सः = वक्ता इति बोध्यम्।

विपक्षी के कथन में बाधक तत्त्व को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि 'शास्त्रं शब्दविज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्' यह भाष्य है, उक्त भाष्य का अर्थ यह है कि शब्दविज्ञानात् = वाक्य को सुनने पर, असंनिकृष्टेऽर्थे= अनधिगत अर्थ का जो ज्ञान होता है, उसी को शास्त्रसंज्ञक प्रमाण कहते हैं। उक्त वाक्य में प्रयुक्त असंनिकृष्ट पद से अनुवादवाक्यों को ही अप्रमाण कहा गया है इस प्रकार भाष्यार्थ करने पर अनुवाद वाक्यों में अप्रामाण्य की संभावना नहीं कर सकते।

उक्त आशय को प्राभाकर ने भी कहा है— असंनिकृष्ट इति किमिदम्? प्रमाणान्तरेण अप्रतीत इति। स पुनः असंनिकृष्टोऽर्थो नियोगार्थ एव, नियोगो हि प्रमाणान्तराऽनवगतम् अपूर्वम् अर्थम् अबोधयति इति। अर्थात् प्रमाणान्तर से अप्रतीयमान जो असंनिकृष्ट अर्थ है, वह नियोग ही है। वही प्रमाणान्तर से अप्रतीत (अज्ञात) अपूर्व अर्थ का बोधन करता है।

अथाऽनपेक्षं प्रमाणम् यत्स्वविषये प्रमाणान्तरं नापेक्षते तत् प्रमाणम्। अनुवादानां तु पुरोवादसापेक्षत्वादप्रामाण्यमिति। एवं तर्हि लौकिकं वाक्यमप्यनुमितेऽर्थे प्रवर्तमानमनुमानस्य शङ्कानिराकरणमात्रोपयिकत्वादर्थप्रतिपादने तदपेक्षा भावात् प्रमाणं स्यात्।

शङ्का– प्रभाकर के अनुसार यदि या अनपेक्षाऽनुभूतिः, तत्प्रमाणम् अर्थात् यत् =

वाक्य आदि अपने विषयबोधनार्थ अन्य प्रमाण (प्रमाणान्तर) की अपेक्षा नहीं रखता, उसे प्रमाण कहते हैं। यदि ऐसा कहा जाय तो लौकिक वाक्य को भी प्रमाण कहना होगा। अर्थात् लौकिक वाक्य में भी प्रामाण्य मानना होगा; क्योंकि प्रभाकर के मतानुसार वक्ता के ज्ञान से अनुमित होने वाला जो अर्थ, उसी का अनुवाद करने के लिये लौकिक वाक्य प्रवृत्त होता है, उसे भी प्राभाकर मत के अनुसार प्रमाण कहना होगा, किन्तु वह भी आपको (प्रभाकर को) अभीष्ट नहीं है; क्योंकि शास्त्र-प्रमाण का आरम्भ करके भाष्यकार शबरस्वामी ने शास्त्र का लक्षण–शास्त्रं शब्दविज्ञानात् असंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिः = अर्थात् पद्ज्ञान से असंनिकृष्टार्थविषयक ज्ञान (बुद्धि) होता है किया है।

किन्तु उक्त लक्षण लौकिक वाक्य में अव्याप्त है (संगत नहीं होता है) और अनुवाद को ही कोई व्यक्ति शास्त्र नहीं समझ ले, यह बताने के लिये शास्त्र के लक्षण में असंनिकृष्ट पद विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है। अभिप्राय यह है कि शास्त्र के लक्षण में असंनिकृष्ट पद का प्रयोग करने से अनुवादवाक्य को प्रमाण नहीं माना जायगा। एवञ्च अनुवादवाक्य में प्रामाण्यबुद्धि का होना भाष्यकार को अभीष्ट नहीं है। अतः अनुवादवाक्य को प्रमाण नहीं कहा जा सकता।। भाष्यकार शबरस्वामी कहते हैं—

असंनिकृष्ट इति किमिदम्? प्रमाणान्तरेण अप्रतीत इति। अर्थात् असंनिकृष्ट पद से क्या बतलाया है? यह प्रश्न करने पर उत्तर दिया गया है कि प्रमाणान्तर से जो अज्ञात है— यह बतलाया गया है। ऐसी स्थिति में भी यदि अनुवाद को प्रमाण कहते हैं तो भाष्य के साथ विरोध होगा। इतना ही नहीं, प्राभाकर की बृहतीटीका के साथ भी विरोध होगा। अतः प्रमाण का लक्षण अनुभूतित्वम् नहीं कर सकते। निष्कर्ष यह है कि अनुभूति को प्रमाण शब्द से नहीं कहा जा सकता।

शङ्का– अब प्रमाण का अन्य (दूसरा) लक्षण कर रहे हैं— **अथ अनपेक्षं प्रमाणमिति**। जो अनपेक्ष (अपेक्षारहित) अनुभूति हो, उसे प्रमाण माना जाय। उसे प्रमाण मानने पर अनुवाद वाक्यों में प्रमाण लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पायगी; क्योंकि अनुवाद वाक्य पुरोवादसापेक्ष होते हैं। अर्थात् अनुवाद्य वाक्यसापेक्ष हुआ करते हैं।

उक्त कथन का उपपादन स्वयं ग्रंथकार कर रहे हैं **यत्– स्वविषये प्रमाणान्तरमिति**। अर्थात् यत्= जो वाक्य अपने विषय का बोधन कराने के लिये प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं करते हैं, उन वाक्यों को प्रमाण माना जाता है।

किन्तु उपर्युक्त कथन के अनुसार लौकिक वाक्य को भी प्रमाण कहना होगा अर्थात् लौकिक वाक्यों में भी प्रामाण्य की प्रसक्ति होने लगेगी। आपके (प्राभाकर) मत के अनुसार अनुमित अर्थ का बोधक लौकिक वाक्य भी स्व (अपने) विषय का बोधन (प्रत्यायन) कराने में अनुमान प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। अतः अनुमितार्थ बोधक लौकिक वाक्य को भी अनुमान की अपेक्षा नहीं रहने से उस लौकिक वाक्य को भी अपने विषय बोधन में प्रमाण ही कहना होगा; क्योंकि उसे प्रमाणान्तर (अन्य प्रमाण) की अपेक्षा

नहीं है। अनुमान से शब्द में अप्रामाण्य की शङ्का हो जाय, तो उसका निराकरण मात्र किया जाता है। शब्द के अर्थ का प्रतिपादन करने में अनुमान की कोई सहायता नहीं लेनी पड़ती, अथवा वाक्य से प्रतिपाद्य अर्थ का प्रतिपादन अनुमान से नहीं किया जाता।

शङ्कानिराकरण करने में हेतु के रूप में अनुमान का उपयोग किया जाता है, एवञ्च अपने विषयबोधन में लौकिक वाक्य को भी प्रमाण कहना पड़ेगा, तब प्रमाण लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।

प्रभाकर ने भी देवदत्तो घटाऽऽनयविषयक तात्पर्यवान् घटमानय इति वाक्योच्चारयितृत्वात् इत्याकारक लौकिक शाब्दबोध स्थलों में अनुमान को ही प्रमाण माना है, शब्द को प्रमाण नहीं माना है; क्योंकि शब्द तो उस अनुमित अर्थ का बोधक है, उसी कारण वह (शब्द) अनुमानसापेक्ष है, अर्थात् उसे (शब्द को) अनुमान की अपेक्षा रहती है।

एवञ्च प्रभाकरोक्त अनुभूतिः प्रमाणम् इत्याकारक प्रमाण लक्षण नहीं बनाया जा सकता। यह कहने पर प्रभाकर ने प्रमाण का अन्य लक्षण बनाया—अनपेक्षं प्रमाणम् अर्थात् ना अनपेक्ष (किसी अन्य की जो अपेक्षा नहीं रखता) हो, वही प्रमाण कहलाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जो वाक्य अपने विषय में अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता, उसे ही प्रमाण कहना चाहिये।

इस प्रमाणलक्षण की अनुवादवाक्य में अतिव्याप्ति नहीं है; क्योंकि अनुवादवाक्य को पुरोवाद की अपेक्षा रहती है। हमने तो निरपेक्ष को प्रमाण कहा है। इसलिये अनुवादवाक्य को प्रमाण नहीं कहा जा सकता। अतः यत् स्वविषये प्रमाणान्तरं नाऽपेक्षते, तत् प्रमाणम्— यही प्रमाणलक्षण उचित प्रतीत हो रहा है।

तथा अनुमानस्य प्रामाण्यं न स्यात्, तद्धि नियमग्रहणमपेक्षते। न च गृहीतमर्थं मात्रयाऽप्यधिकं गृह्णातीति भवतां दर्शनम्। पीतशंखज्ञानमपि अनुभूतित्वात् प्रमाणं स्यात्। इष्टमेव वदतो लोकविरोधः। तस्माद् यथार्थमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम् इति वक्तव्यम्। धारावाहिकेष्वप्युत्तरोत्तरेषां कालान्तरसम्बन्धस्यागृहीतस्य ग्रहणात् युक्तं प्रामाण्यम्।

इस प्रकार प्रमाणलक्षण की लौकिकवाक्य में अतिव्याप्ति का निराकरण करके अब अव्याप्ति दोष को भी बतलाते रहे हैं—**तथा अनुमानस्य प्रामाण्यं न स्यादिति।** उक्त प्रमाणलक्षण की अनुमान में अव्याप्ति होगी; क्योंकि अनुमान अपने विषय का बोधन करने में नियम ग्रहण (व्याप्तिग्रहण = व्याप्तिज्ञान) की अपेक्षा रखता है; क्योंकि व्याप्तिग्रह = व्याप्तिज्ञान के विना अनुमान की निष्पत्ति होना कदापि सम्भव नहीं है। व्याप्तिग्रह (व्याप्तिज्ञान) भूयः भूयः = पुनः पुनः सहचारलक्षण प्रत्यक्ष से ही हुआ करता है, इसलिये अनुमान प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखता है अर्थात् अनुमान प्रत्यक्ष सापेक्ष है। उसी कारण अनुमान में प्रामाण्य का होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार अनुमान को प्रमाण नहीं

कह सकते। अनुमान का प्रामाण्य तो आपको अभीष्ट है, किन्तु प्रमाण का लक्षण उसमें संगत नहीं होने से उक्त लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित हो रहा है।

शङ्का–जैसे आपके मत में धारावाहिक ज्ञान के स्थल में उत्तरोत्तर ज्ञानों को पूर्व-पूर्वज्ञान की अपेक्षा रहने पर भी प्रामाण्य माना जाता है, उसी तरह अनुमान के व्याप्ति-ग्रहांश में प्रत्यक्ष की अपेक्षा रहने पर भी प्रामाण्य मान लेना चाहिए।

समाधान– न च गृहीतमर्थं मात्रयाऽप्यधिकं गृह्णातीति भवतां दर्शनम् इति। ज्ञान का प्रामाण्य अगृहीतार्थ ग्राहित्व होने से ही (अगृहीत अर्थ का ग्राहक होने के कारण ही) माना जाता है। धारावाहिक ज्ञान के स्थल में उत्तरोत्तर ज्ञानों में पूर्व-पूर्व ज्ञानों से अगृहीत उत्तरोत्तर क्षणविषयकत्व होने से प्रामाण्य माना जाता है। यह स्थिति अनुमान स्थल में नहीं है; क्योंकि व्याप्तिग्रहण के समय धूम सम्बन्ध का ज्ञान होने पर जो वह्निसम्बन्ध गृहीत (ज्ञात) होता है, वही अन्यूनाऽनतिरिक्त (न अधिक और न न्यून = कम) रूप से अनुमान के द्वारा ग्रहण किया जाता है—यह आपका ही सिद्धान्त = दर्शन है। अतः प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखने के कारण (प्रत्यक्षसापेक्ष रहने के कारण) और गृहीतार्थग्राहिता के भी होने के कारण अनुमान में प्रामाण्य की संभावना नहीं की जा सकती। अर्थात् अनुमान को प्रमाण के रूप में नहीं माना जा सकता।

अन्यत्र भी इसी प्रकार कहा गया है— नन्वेवं सम्बन्धनियमाऽवसायसमये एव यावद्धूमादिभावितया वह्न्यादिसम्बन्धस्याऽवगतत्वाद् धूमादिसत्तानिश्चयादधिकं निश्चेतव्यं नावशिष्यते इत्यनुमानमप्रमाणं स्यात्? सत्यं स्याद्, यद्यनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं स्यात्, अनुभूतिस्तु प्रमाणमित्युक्तम् इति युक्तमेवाऽनुमानस्य प्रामाण्यम् इति।

अनुमान अपने विषय का ज्ञान कराने के लिये व्याप्ति (नियत सम्बन्ध) ग्रहण की अपेक्षा रखता है। विना व्यप्तिज्ञान के अनुमान का होना सम्भव ही नहीं है। व्याप्तिज्ञान भी भूयः (पुनः पुनः) सहचारदर्शन से ही होता है। इस कारण अनुमान को प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखने के कारण प्रमाण नहीं माना जा सकता। आपके मतानुसार (प्राभाकर-मतानुसार) ज्ञात हुए अग्नि पदार्थ का ज्ञान अनुमान से पूर्णतया (ज्यों का त्यों) ग्रहण किया जाता है। अर्थात् न न्यून और न अधिक।

उक्त कथन को मानने पर पीतः शंखः— इत्याकारक ज्ञान में अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि पीत शंख ज्ञान भी अनुभूतिरूप ही है, और अनपेक्ष भी है। उसे भी प्रमाण कहना होगा।

शङ्का— पीतशंखज्ञान प्रमाण है जो हमें अभीष्ट ही है। हमने कहा भी है कि पीत-शंखज्ञानं तर्हि प्रमाणं प्रसक्तम्? तत्र हि पीतिमा शंखस्परूपं च द्वयमपि अनुभूयत एव। नयनगतपित्तवर्ती हि पीतिमा अनुभूयत एवेति नयवीथ्यां निपुणतरमुपपादितम्, शंखस्वरूपे च अनुभूतिर्निर्विवादमेव।

नायं दोष:—को नाम पीतशंखज्ञानमप्रमाणमाह? प्रमाणमेव हि तत्, यथार्थविषयत्वात्, विज्ञानद्वयं चैतत्, एकं साधारणरूपं, तत्र एकविज्ञानसाधारणरूपावमर्शात् एकमिव ज्ञानं, सदृशव्यवहार- प्रवर्त्तकतया व्यवहारदशायां विसम्वादमावहत् प्रमाणमपि सद् भ्रान्तमित्युच्यते इति।

समाधान— यदि उसे इष्ट (अभिष्ट) कहते हैं, तो लोकविरोध होगा; क्योंकि पीत: शंख: इत्याकारक ज्ञान को लोग प्रमाण मानते हैं। यह बताकर मीमांसक अपना मत बतला रहे हैं— तस्माद् यथार्थम् अगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम् इति वक्तव्यम्।

यथार्थम् इत्यादि लक्षण की अनुवाद आदि में अगृहीतार्थग्राहित्व नहीं होने से तथा भ्रम आदि में भी यथार्थत्व के नहीं रहने से अतिव्याप्ति भी नहीं है। उसी तरह अनुमान आदि भी में अव्याप्ति भी नहीं है। इस प्रकार धारावाहिक स्थल में भी उत्तरोत्तर क्षण के ग्रहण में पूर्व-पूर्व ज्ञान से अगृहीतत्व होने के कारण अगृहीतग्राहिता भी है, अत: उत्तरोत्तर ज्ञान में प्रामाण्य का स्वीकार करना समुचित ही है। अत: धारावाहिक ज्ञान भी प्रमाण है। इसलिये यथार्थम् अगृहीतग्राही ज्ञानं प्रमाणम्–इसी प्रमाणलक्षण को स्वीकार करना उचित प्रतीत हो रहा है।

(कालप्रत्यक्षनिरूपणम्)

सन्नपि कालभेदोऽतिसूक्ष्मत्वान्न परामृष्यते इति चेत्? अहो सूक्ष्मदर्शी देवानां-प्रियः। यो हि समानविषयया विज्ञानधारया चिरमवस्थाय उपरतः, सः अनन्तरक्षणसम्बन्धितयाऽर्थं स्मरति। तथाहि—किमत्र घटोऽवस्थित? इति पृष्टः कथयति— अस्मिन् क्षणे मयोपलब्ध इति। तथा प्रातरारभ्यैतावत्कालं मयोपलब्ध इति। कालभेदे त्वगृहीते कथमेवं वदेत्। तस्मादस्ति कालभेदस्य परामर्शः। तदाधिक्याच्च सिद्धमुत्तरेषां प्रामाण्यम्।

शङ्का— सन्नपि कालभेद इति। यद्यपि उत्तरोत्तर कालभेद हुआ करता है, उस कारण धारावाहिक ज्ञान के विषयभूत घट आदि पदार्थ का कालान्तर के साथ सम्बन्ध है, तथापि वह कालभेद अत्यन्त सूक्ष्म होने से उसका ग्रहण (ज्ञान) नहीं हो सकता। अर्थात् काल का ग्रहण (ज्ञान) कैसे हो सकता है?

समाधान— भाट्टमीमांसक शङ्का करने वाले प्रभाकर को उपहास का पात्र समझकर अहो सूक्ष्मदर्शी देवानां प्रिय: कहकर उसकी हँसी उड़ा रहे हैं। अर्थात् आप (प्रभाकर) जैसे सूक्ष्मदर्शी बहुत बड़े मूर्खसम्राट् प्रतीत हो रहे हैं। ऐसा कहकर भाट्टमीमांसक काल परामर्श का होना सिद्ध कर रहे हैं। **यो हि समानविषयेति।** जो देवदत्त अथवा यज्ञदत्तादि व्यक्ति घटोऽयं, घटोऽयम् इत्याकारक समानविषयक ज्ञान धारा के द्वारा चिर (दीर्घ) काल तक ज्ञान होते रहने से घट का अनुभव करके उपरत: = घट विषयक ज्ञान

परम्परा को उसने त्याग दिया, उसी देवदत्त अथवा यज्ञदत्त को अनन्तर क्षणसम्बन्धितया = उत्तरक्षणसम्बन्धित्वेन रूपेण उसी अर्थ = पदार्थरूप घट का स्मरण होता है। इस प्रकार उत्तरक्षण से सम्बन्धित घट का स्मरण होने पर उत्तरक्षण के स्मरण को भी स्वीकार करना ही पड़ेगा। स्मरण भी अनुभूत पदार्थ का ही हुआ करता है, इसलिये क्षणादि कालभेद का परामर्श भी सिद्ध हो जाता है।

उपर्युक्त काल परामर्श का उपपादन तथाहि से कर रहे हैं—किमत्र घटोऽवस्थित इति पृष्टः कथयति—अस्मिन् क्षणे मया उपलब्ध इति। अर्थात् क्या यहाँ पर घट था? यह पूछने पर दूसरा व्यक्ति उत्तर देता है कि इसी क्षण में मैने घट उपलब्ध किया (**अस्मिन्नेव क्षणे घटो मया उपलब्धः**) इस कथन से निश्चित होता है कि वक्ता (उत्तर देनेवाले) ने अवश्य ही क्षणपरामर्श का अनुमान किया है, यदि उसे क्षणपरामर्श नहीं हुआ होता, तो वह– 'अस्मिन् एव क्षणे घटो मया उपलब्धः' यह नहीं कहता।

इसी तरह एक अन्य प्रमाण भी है— **तथा प्रातरारभ्येति**। प्रातः काल से लेकर अभी तक मैंने घट को देखा है। यदि कालविशेष का ग्रहण (ज्ञान) नहीं हो तो वह ऐसा कैसे कह सकेगा? अतः स्वीकार करना ही होगा कि कालभेद का परामर्श होता है। काल के विषय में वृद्धों का कहना है कि न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते– अर्थात् इस सृष्टि में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, जहाँ काल की प्रतीति नहीं होती हो काल तो षडिन्द्रियों से वेद्य है। शब्दनित्यत्वाधिकरण में इस पर बहुत कुछ कहा गया है। तदाधिक्याच्च सिद्धमुत्तरेषां प्रामाण्यम्—तदाधिक्यात् = कालधिक्यादित्यर्थः। उत्तरोत्तर ज्ञान से उत्तरोत्तर काल का अर्थात् पूर्वज्ञान के विषय की अपेक्षा अधिक रूप से ग्रहण हुआ करता है। इससे स्पष्ट है कि धारावाहिक ज्ञान स्थल में उत्तरोत्तर ज्ञानों का प्रामाण्य है। अर्थात् काल की अधिक प्रतीति होने के कारण उत्तरोत्तर ज्ञानों में अज्ञातार्थ ज्ञापकत्त्व होने से प्रामाण्य निश्चित रूप से है ही— यह स्वीकार करना ही होगा।

ननु यथार्थतापि चेत् प्रमाणलक्षणम्, उष्णजलज्ञानमप्रमाणं स्यात्। इष्टमेव एतत्। ननु लोकविरोधः स्यात्? स्याद् यदि अयथार्थतां जानन्त एव लौकिकाः प्रामाण्यं मन्वीरन्। ते तु यथार्थतामेव एतस्य मन्वानाः प्रामाण्यं अभ्रान्तत्वं च मन्यन्ते। ये तु अयथार्थतां जानन्ति, ते नैव प्रामाण्यं मन्यन्ते, नाऽप्यभ्रान्तताम्, तस्मान्नास्ति विरोधः।

शङ्का— प्राभाकर पुनः शङ्का कर रहे हैं—**ननु यथार्थताऽपि चेदिति**। प्रमाण का लक्षण यदि यथार्थत्व को माना जाय अर्थात् यथार्थत्वं प्रमाणम्—ऐसा प्रमाण लक्षण करने पर उष्णजलज्ञानम् अप्रमाणं स्यात् अर्थात् जल उष्ण (गरम) है—इत्याकारक ज्ञान को अप्रमाण कहना होगा; क्योंकि जल तो स्वभावतः ही शीतल होता है, जल में

स्वाभाविक उष्णता नहीं हुआ करती। उसमें उष्णता तो औपाधिक हुआ करती है।

यदि यद् यथार्थं तदेव प्रमाणम्—ऐसा कहें तो जल में स्वाभाविक रूप से शीतलता रहने के कारण उसकी उष्णता तो औपाधिक है। इसलिये उष्णं जलम्—इस ज्ञान को अप्रमाण ही कहना होगा; क्योंकि जल में यथार्थ (वास्तविक) उष्णता नहीं है। अत: उष्ण जल के ज्ञान को अप्रमाण ही कहना पड़ेगा—यह प्राभाकर की शङ्का है।

भाट्टानुयायियों का समाधान— जलम् उष्णम् इत्याकारक ज्ञान का अप्रामाण्य तो हमें अभीष्ट ही है।

उक्त कथन पर प्राभाकर की शङ्का— लोकव्यवहार की दृष्टि से तो उष्णं जलम्—इस ज्ञान को प्रमाण ही माना जाता है। सरदी के दिनों में उष्ण जल मिलने पर स्नानार्थ, हाथ-पैर प्रक्षालनार्थ, लोग प्रवृत्त हो जाते हैं। अत: उष्णजल के ज्ञान को अप्रमाण कहने पर लोकव्यवहार के साथ विरोध प्रसक्त होगा।

समाधान— स्यात्, यदि अयथार्थतां जानन्त एवेति। अर्थात् लोकविरोध तो तब होगा, जब लौकिक लोग उष्णं जलम्—इत्याकारक ज्ञान की अयथार्थता को जानते हुए भी यदि उसे प्रमाण कहेंगे, किन्तु ऐसा नहीं कहते। जलम् उष्णम्—इस ज्ञान को लोग यथार्थ ही समझते हैं, किन्तु लोकव्यवहार में जल शीतल ही समझा जाता है, जल का उष्णत्व (गरमपना) तो औपाधिक है—यह शास्त्रीय व्यवहार प्रसिद्ध है। यथार्थता का ज्ञान होने पर उसे प्रमाण कहना उचित ही है। अत: कोई लोकविरोध नहीं है। इस प्रकार उष्णं जलम्—इत्याकारक ज्ञान को प्रमाण मानना उचित ही है। उष्णं जलम्—इस प्रकार समझनेवाले (ज्ञानवान्) व्यक्ति को अभ्रान्त (भ्रमरहित) ही माना जाता है। अत: शास्त्रीय मर्यादा की दृष्टि से उष्ण जलज्ञान में अप्रामाण्य रहने पर भी लोकविरोध नहीं है। लोकव्यवहार में उष्णं जलम्-इत्याकारक ज्ञान को प्रमाण भी माना जाता है और वह ज्ञान यथार्थ भी है। इसलिये कोई दोष नहीं है।

ये तु अयथार्थतां जानन्तीति। अर्थात् जो शास्त्रीय (शास्त्रदृष्टि के) लोग हैं वे उष्णं जलम्-ज्ञान को अयथार्थ समझते हैं वे उष्णं जलम्-इत्याकारक ज्ञान को प्रमाण भी नहीं मानते तथा उष्णजलज्ञानवान् मनुष्य को अभ्रान्त भी नहीं मानते। इस प्रकार ग्रन्थकार ने व्यतिरेक भी प्रदर्शित किया है। अत: किसी प्रकार का भी लोक विरोध नहीं है।

उष्ण जलज्ञान को अभ्रान्त (भ्रमरहित) समझने वाले प्राभाकर का कहना है कि 'यत्र तु व्यवहारविसंवादो नास्ति, तत्र भ्रान्तिरपि न व्यपदिश्यते, यथा उष्णजलज्ञाने। तत्रापि हि न जलगतमौष्ण्यमनुभूयते, किन्तु बह्न्यवयवगतमेव जलगतस्य औष्ण्यस्य वह्नि-संयोगेनोत्पादनाऽनभ्युपगमात्, पाकजो हि गुण: पाकान्तरेणैव निवर्तते। जलगतस्य च औष्ण्यस्याऽनपेक्षित पाकस्यैव अग्निसंयोग विच्छेदेनैव निवृत्ति:। गत्वरा हि- तेजो-

ऽवयवा: सञ्चारितास्तेष्वन्यत्र गतेश्वपरतेजोऽवयवसञ्चरण विच्छेदे युक्तैव औष्ण्यस्य निवृत्तिरिति पीतशंखादिज्ञानतुल्यत्वमुष्णजलज्ञानस्य। यस्तु विपरीतख्यातिवाद्युष्णजलज्ञानमप्रमाणं भ्रान्तमाह, तस्य सर्वलोकविरोध:' इति।

पीतशङ्खज्ञानस्यापि स्मृतित्वाभिमानादनुभूतित्वापरिज्ञानादप्रामाण्यं मन्यन्ते, अतोऽस्माकमपि नास्ति विरोध इति चेत्? तदयुक्तम्। न हि लौकिका: शुक्तिरजतज्ञानेऽपि स्मृतित्वं मन्यन्ते, नतरां पीतशङ्खज्ञाने। तस्मात् सूक्तम्—अर्थेऽनुपलब्धे इति।

सिद्धान्ती अर्थात् भाट्टमीमांसक ने अपने प्रमाणलक्षण में पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित लोकविरोध का निरसन किया गया देखकर प्रतिवादी प्रभाकर ने भी अपने उक्त लक्षण अनुभूति: प्रमाणम् में भी लोकविरोध का परिहार प्रदर्शित किया हैं—**पीतशङ्खज्ञानस्याऽपीति।** अर्थात् पीतशंख आज भी अनुभूति रूप होने से उसे भी प्रमाण कहा जा सकेगा। यदि उसे आप इष्टमेव कहें, तो लोकविरोध होगा। उस लोकविरोध का निरास करने के लिये कह रहे हैं—**पीतशंखज्ञानस्यापीति** अर्थात् पीत: शंख: में लोगों को पीतिमा (पीतवर्ण) की स्मृति (स्मरण) हुआ करती है, न कि पीतशंखज्ञान अनुभूतिरूप है। इस प्रकार अनुभूतित्व ग्रह कभी नहीं होता। उसी कारण उसे अप्रमाण मानना उचित ही है। उसी तरह लोग भी उसे अप्रमाण ही मानते हैं। अत: किसी प्रकार का कोई लोकविरोध नहीं है।

यत्र-यत्र अनुभूतित्वं तत्र-तत्र प्रमाणत्वं (प्रामाण्यम्)—इसी तथ्य को मैंने (प्रभाकर ने) अनुभूति: प्रमाणम् कहकर बतलाया है। उपर्युक्त व्याप्ति का पीतशंखज्ञान में व्यभिचार भी नहीं है। पदार्थ (वस्तु) के ज्ञात रहने पर ही उसमें प्रामाण्य का आपादन अनुभूति के द्वारा किया जाता है।

लोगों को पीतशंखज्ञान में अनुभूतित्व ज्ञान होने पर यदि अप्रामाण्यज्ञान हो जाय तब लोकविरोध हो सकता है, किन्तु वैसा दृष्टिगोचर नहीं होता है। अत: प्रभाकर कहते हैं कि हमारे प्रमाणलक्षण में कोई लोकविरोध नहीं है।

तदयुक्तमिति। प्रभाकर मीमांसक ने भी कहा था कि हमारे (प्रभाकर के) प्रमाणलक्षण में भी कोई दोष नहीं है; किन्तु भट्टपाद का कहना है कि प्रभाकर ने जो कहा कि उनके (प्रभाकर के) कथन में कोई दोष नहीं है—यह कहना उन्हें उचित नहीं है। भट्टपाद उचित नहीं होने में हेतु को भी प्रदर्शित कर रहे हैं—**न हि लौकिका: शुक्तिरजतज्ञानेऽपि स्मृतित्वं मन्यन्ते, नतरां पीतशंखज्ञाने इति**। अर्थात् पीतशंखज्ञान को यदि लोग स्मृतिरूप समझें, तो आपके कथनानुसार लोकविरोध नहीं हो सकेगा, किन्तु लौकिक (प्राकृत) लोग तो शुक्ति-रजतज्ञान में रजत स्मरण (स्मृति) होने पर भी उसे

स्मृति नहीं मानते, तब पीतशंखज्ञान के बारे में कहना ही क्या है? अर्थात् पीत-शंखज्ञान में स्मृतित्त्व भी नहीं मानते। इस प्रकार पीत-शंखज्ञान में स्मृति (स्मरण) का अभिमान नहीं रहने से आपके कथन में लोकविरोध बना ही रहेगा। उसी को बता रहे हैं कि अनुभूतित्व ज्ञान है और प्रामाण्य नहीं है। अनुभूतित्व ज्ञान से प्रामाण्य होगा। **तस्मादिति**। इसलिये अगृहीतग्राहि ज्ञान-प्रमाण है—यहाँ से लेकर नन्वेवं धारावाहिकेषु तक के ग्रन्थ से जो आक्षेप किय गया है, उसका समाधान उक्त कथन से हो गया है, अतः अर्थे अनुपलब्धे इत्यादि कथन उचित ही है।

वृत्तिकारस्तु अन्यथेदं वर्णयाञ्चकार इत्येवमादिना उपवर्षमतेन। तस्य निमित्तपरीष्टिः— इत्येवमादिसूत्रत्रयमन्यथावृत्वा व्याचष्टे भाष्यकारः, तत्र निमित्तसूत्रेण तावत् प्रतिज्ञातस्य चोदनाप्रामाण्यस्य परीक्षापदेशेन स्वतःप्रामाण्यं हेतुरित्युच्यते।

भाष्यकार शबरस्वामी के व्याख्यानुसार ग्रन्थकार श्रीपार्थसारथि मिश्र ने भी बताया है। अर्थात् भाष्यकार शबरस्वामी ने 'वृत्तिकारस्तु' आदि ग्रंथ से जो प्रतिपादन किया है, उसी को शास्त्रदीपिकाकार भी बता रहे हैं—वृत्तिकारस्तु इत्यादि ग्रन्थ से ।

मीमांसासूत्रों के वृत्तिकार भगवान् श्री उपवर्षाचार्य के मतानुसार उक्त तस्य निमित्त-परीष्टिः आदि तीनों सूत्रों की व्याख्या करते हैं—**वृत्तिकारस्तु**। यहाँ पर तु शब्द से सूचित किया गया है कि भाष्यकार की व्याख्या से वृत्तिकार की व्याख्या में वैलक्षण्य है, अर्थात् भिन्नता है। वृत्तिकारस्तु अन्यथा इदं ग्रन्थं वर्णयाञ्चकार—यहाँ इमं (इदम्) शब्द (पद) से उक्त तीनों सूत्रों की उपवर्ष के मतानुसार व्याख्या की गई है। तस्य निमित्त-परीष्टिः इत्यादि सूत्र की व्याख्या भाष्यकार शबरस्वामी ने अन्य प्रकार से की है। जैसे—उक्त परिस्थिति में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'तस्य निमित्तपरीष्टिः' इत्यादि सूत्र-त्रय की व्याख्या भाष्यकार ने अपने मतानुसार (अपने विचारानुसार) की है और उसके पश्चात् वृत्तिकारकृत व्याख्या को भी बता रहे हैं। ऐसा करने में उनका प्रयोजन (उद्देश्य) क्या है?

भाष्यकार के मत में दोषप्रदर्शनार्थ किया हो, यह कहना संगत नहीं है; क्योंकि भाष्य तो समुचित अर्थ को बतलाता है। दूसरा प्रश्न यह है कि यहाँ पर वृत्तिकार का नाम ग्रहण क्यों किया है? इत्यादि प्रश्नों को बृहतीकार ने उपस्थित किया गया है।

ऐसी संभावना की जा सकती है कि भाष्यकार के मत में दोषप्रदर्शन करना और भाष्यकार के द्वारा जो प्रमेय अनुक्त है, उनका प्रतिपादन करना। भाष्यकार के प्रतिपादन में दोष यही है कि तस्य निमित्त-परीष्टिः सूत्र में नञ् का अध्याहार करना पड़ता है। निरालम्बमवाद आदि अर्थान्तर का निराकरण करना है; लेकिन वृत्तिकार भगवान् उपवर्ष

ने प्रत्यक्षादि षट् प्रमाणों का तथा अन्यान्य आवश्यक प्रमेयों का भी उपपादन किया है।

उक्त बातें भाष्यकार की व्याख्या में उपलब्ध नहीं हैं। उन्हीं को प्रकृत में बतलाना उद्देश्य है। जैसे—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम (शब्द), अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रामाण्य का स्वतस्त्व सिद्ध करना लोकव्यावहारिक वाक्यों के प्रामाण्य में वक्ता के ज्ञान की अपेक्षा रहती है; किन्तु वेद का कोई वक्ता नहीं होने से उसकी अपेक्षा नहीं होती। इन दोनों तथ्यों को सूत्र के अनपेक्षत्वात् अंश से बतलाया गया है, किन्तु वार्तिककार ने चोदनासूत्र से ही इसका निराकरण कर दिया है।

उपर्युक्त कथन का सारांश यही है कि 'तस्य निमित्तपरीष्टिः' इत्यादि ३,४,५ सूत्रों की व्याख्या वृत्तिकार भगवान् उपवर्ष ने अन्य प्रकार से की है और भाष्यकार श्री शबरस्वामी ने वृत्तिकार उपवर्ष के विपरीत अन्य प्रकार से की है। 'वृत्तिकारस्त्वन्ययेदम् ······ व्याचष्टे भाष्यकारः' तक भाष्यकार के अभिप्राय के अनुकूल व्याख्या की गई है। इसके आगे भाष्यकार के द्वारा वृत्तिकार का अभिप्राय जैसा प्रतिपादित किया गया है, तदनुसार उसे 'तत्र निमित्तसूत्रेण तावत्······ हेतुरुच्यते' तक बतलाया गया है।

तत्र निमित्तसूत्रेण में तत्र से अभिप्राय है—सूत्रत्रयमध्ये। निमित्त सूत्र (तस्य निमित्तपरीष्टिः) से द्वितीयसूत्र चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः से प्रतिज्ञात चोदनाप्रामाण्य (धर्मे चोदनैव प्रमाणम्) रूप अर्थ की सिद्धि में उसका स्वतः प्रामाण्य ही हेतु (कारण) है। इसी तथ्य (रहस्य) को परीक्षापदेशेन=परीक्षण का आरम्भ करने के मिष (व्याज = बहाना) से चोदना का स्वतः प्रामाण्य ही हेतु (कारण) है, यह बतलाया गया है।

यदि प्रमाणों का स्वतः प्रामाण्य नहीं होता तो परतः प्रामाण्य को स्वीकार करने पर चोदना (विधि) के द्वारा उक्त विषय का किसी अन्य प्रमाण से संशोधन होना सम्भव नहीं होने के कारण चोदनाओं (विधियों) का प्रामाण्य ही नहीं हो पायेगा, किन्तु स्वतःप्रामाण्य को स्वीकार करने से चोदनाओं के द्वारा उक्त विषयों का बाध दृष्टिगोचर नहीं होने के कारण तथा अपौरुषेयता के कारण किसी कारणदोष की भी संभावना नहीं रहने से चोदनाओं (विधियों में) में प्राप्त जो स्वतः प्रामाण्य है, उसे अबाधित ही स्वीकारना होगा इस प्रकार चोदना (विधि) के प्रामाण्य की सिद्धि होने में एकमात्र उसका स्वतः प्रामाण्य ही हेतु (कारण) है। श्री कुमारिलभट्टपाद ने कहा भी है—

तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः ।
अप्रामाण्यद्वयऽसत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनयोदितः ।। (उत्सर्गः प्रामाण्यम्)।
प्रत्ययोत्पत्तिहेतुत्वात् प्रामाण्यं नाऽपनीयते ।। इति।।

उक्त कथन को ही विशद (स्पष्ट) कर रहे हैं—

प्रसिद्धानि हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि तदन्तर्गतं च शास्त्रम्, अतस्तदपि प्रसिद्धमेव। न च प्रसिद्धस्य प्रमाणस्य प्रामाण्यमन्येन परीक्षितव्यम्,

स्वत एव तस्य स्वविषयोपस्थापनसामर्थ्यात्। यदि च परीक्ष्येत, ततो येन परीक्ष्येत तस्याप्यन्येन परीक्ष्येत तस्याप्यन्येनेत्यनवस्था स्यात्। तस्मात्प्रसिद्धत्वात् प्रामाण्यस्य चोदनाऽपि प्रमाणमिति।

तस्य निमित्तपरीष्टिः सूत्र में नञ् का अध्याहार करके उसकी (सूत्र की) व्याख्या करनी चाहिये। अर्थात् निमित्त की परीक्षा नहीं करनी चाहिये। प्रतिज्ञात विधि वाक्य ही धर्म का ज्ञान प्राप्त करने में प्रमाण माना जाता है। अर्थात् निमित्तसूत्र से प्रतिज्ञात विधिप्रामाण्य की परीक्षा के व्याज से स्वतः प्रामाण्य ही हेतु (कारण) है—यह बतलाया गया है।

प्रसिद्धानि हि प्रत्यक्षादीनीति। प्रत्यक्षादि प्रमाण प्रसिद्ध हैं, अर्थात् वे स्वतःप्रमाण हैं। उन्हीं के अन्तर्भूत शास्त्र है। इसलिये शास्त्र भी स्वतःप्रमाण ही है। अतःस्वतः सिद्ध प्रमाणशास्त्र के प्रामाण्य की परीक्षा किसी अन्य से नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वह स्वयं ही अपने विषय को उपस्थित करने की योग्यता रखता है। यदि उसकी (प्रामाण्य की) भी परीक्षा करें तो उसका भी प्रामाण्य दूसरे से सिद्ध करना होगा तथा उसका भी प्रामाण्य किसी दूसरे से सिद्ध करना होगा। यदि ऐसा करने लगेंगे तो अनवस्था होगी। इस कारण प्रसिद्ध होने के कारण विधिवाक्य भी प्रमाण ही है। अर्थात् उसका प्रामाण्य स्वतःसिद्ध ही है।

अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है। उन्हीं प्रमाणों में से शास्त्र– प्रमाण (शब्द प्रमाण = विधिवाक्य) भी प्रमाण होने के नाते वह भी स्वतः प्रमाण ही है। इतना बतलाकर ग्रन्थकार श्री पार्थसारथिमिश्र परतः प्रामाण्य का निराकरण कर रहे हैं—न च प्रसिद्धस्य प्रमाणस्य प्रामाण्यमन्येन परीक्षितव्यम्, स्वतः एव तस्य स्वविषयोपस्थापनसामर्थ्यात्। अर्थात् प्रसिद्ध प्रमाण के प्रामाण्य की परीक्षा किसी अन्य से नहीं की जा सकती; क्योंकि स्वविषय को उपस्थित करने का सामर्थ्य प्रसिद्ध प्रमाण में स्वत एव रहता है।

विपक्ष में बाधक बता रहे हैं—**यदि च परीक्ष्येत इति**। अर्थात् यदि प्रमाण के प्रामाण्य की प्रमाणान्तर से परीक्षा की जाय तो उस प्रमाणान्तर के प्रामाण्य की भी प्रमाणान्तर से परीक्षा करनी होगी, तब तो अनवस्था दोष ही प्रसक्त होने लगेगा। **तस्मात् प्रसिद्धत्वात् इति**। इसलिये प्रामाण्यस्य प्रसिद्धत्वात्—अर्थात् प्रामाण्य स्वतः सिद्ध होने से चोदना (विधि) का भी प्रामाण्य, स्वतः सिद्ध ही समझना चाहिये; क्योंकि चोदना (विधि) भी प्रमाण ही है, अतः उसके स्वतः सिद्ध होने से उसमें प्रामाण्य की परीक्षा किसी अन्य हेतु से नहीं करनी चाहिये। श्री कुमारिलभट्टपाद ने कहा भी है—

जातेऽपि यदि विज्ञाने तावन्नार्थोऽवधार्यते ।
यावत् कारणशुद्धत्वं न प्रमाणान्तराद् भवेत् ।।

तत्र ज्ञानान्तरोत्पादः प्रतीक्ष्यः कारणान्तरात् ।
यावद्धि न परिच्छिन्ना शुद्धिस्तावदसत् समा ॥
तस्याऽपि कारणे शुद्धे तज्ज्ञाने स्यात् प्रमाणता ।
तस्याप्येवमितीच्छाँश्च न क्वचिद् व्यवतिष्ठते ॥
यदा स्वतः प्रमाणत्वं तदाऽन्यन्नैव गृह्यते ।
निवर्तते हि मिथ्यात्वं दोषाऽज्ञानादयत्नतः ॥
तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता ।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥ इति ॥

ननु न ज्ञानमुत्पन्नमित्येवार्थतथात्वमध्यवसातुं शक्यम्। प्रसिद्धतरस्याऽपि प्रत्यक्षस्यायथार्थस्योत्पत्तिदर्शनात्। यथा— शुक्तिकायां रजतमिति प्रत्यक्षमेवा-यथार्थम्। न शुक्तिकायां रजतज्ञानस्य, प्रत्यक्षाभासत्वात्।

शङ्का— ज्ञान की उत्पत्ति होने मात्र से ही उसके (ज्ञान के) विषय का अर्थतथात्व अर्थात् यथार्थत्वरूप प्रामाण्य का निश्चय नहीं किया जा सकता; क्योंकि अत्यन्त प्रसिद्ध प्रत्यक्ष के उत्पन्न होने पर भी अयथार्थत्व, दृष्टिगोचर होता है। जैसे—शुक्ति-रजतज्ञान अर्थात् शुक्ति (सीप) में रजत का ज्ञान होना (सीप को चाँदी समझना) यह प्रत्यक्ष है, किन्तु यह प्रत्यक्ष यथार्थ नहीं है। वह अयथार्थ ही है। अतः उसे यथार्थ नहीं कह सकते। इस कारण व्यभिचारी प्रत्यक्ष को स्वतः प्रमाण कैसे कहा जा सकता है? इस प्रकार प्रमाणान्तर (अन्य प्रमाण) से ही ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करना होगा। इसलिये ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य की उपपत्ति नहीं हो पा रही है।

समाधान— न, शुक्तिकायामिति। उपर्युक्त कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। शुक्ति को देखकर जो इदं रजतम् ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष नहीं समझना चाहिये, वस्तुतः वह प्रत्यक्ष ही नहीं है, अपितु वह प्रत्यक्षाभास है। अर्थात् प्रत्यक्ष की तरह लग रहा है; क्योंकि जिसे प्रत्यक्ष शब्द से कहा जाता है, वह अयथार्थ कभी-भी नहीं हुआ करता। अतः जो अव्यभिचारी होता है, उसे ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। जैसे— रजत को देखकर रजत का ज्ञान होता है। उसी तरह अन्यान्य प्रमाणों को भी समझना चाहिये; क्योंकि जो प्रमाण होता है, वह कभी भी व्यभिचरित नहीं हुआ करता और जो व्यभिचरित होता है, उसे प्रमाण शब्द से नहीं कहा जा सकता। शुक्ति-रजत ज्ञान में प्राप्त हुए स्वतः प्रामाण्य का नेदं रजतम्—इस बाधक ज्ञान से बाध हो जाता है।

प्रामाण्य का बाध ही नहीं होता—यह कहीं भी नहीं कहा गया है। अतः स्वतः प्रामाण्य को स्वीकार करना समुचित ही है। शुक्ति (सीप) को देखकर उसमें जो रजत का आभास होता है। अर्थात् प्रतीति हो रही है, उसका तो नेदं रजतम् अर्थात् यह रजत नहीं है, इत्याकारक ज्ञान से बाध हो जाता है। इस कारण यह प्रत्यक्ष न होकर प्रत्यक्षाभास है।

अथ प्रत्यक्षखण्डारम्भः

(प्रत्यक्षलक्षणम्)

किं पुनराभासासङ्कीर्णं प्रत्यक्षलक्षणम्? तद् दर्शयति— तत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्मसत्प्रत्यक्षम् यदाभासं विज्ञानं, तेन इन्द्रियाणां सम्प्रयोगे यद्विज्ञानं तत् सत्प्रत्यक्षम्। तत्सतोर्व्यत्यादाभासासंकर-सिद्धिः। तदिति चाव्ययं तृतीयान्तं तेनेत्यर्थे।

पूर्वपक्षी पूछ रहा है कि प्रत्यक्षाभासों में जिसकी अतिव्याप्ति न हो सके, वैसा प्रत्यक्षलक्षण कौन सा है?—किं पुनराभासाऽसङ्कीर्णं प्रत्यक्षलक्षणम्? इति।

उत्तरपक्षी वृत्तिकार भगवान् उपवर्ष के मतानुसार 'तद् दर्शयति' कहकर उत्तर दे रहा **है—तत्सम्प्रयोगे इति।** तत् = प्रत्यक्षाभास में सङ्कीर्ण = अतिव्याप्त न होने वाले प्रत्यक्षलक्षण को सूत्र के द्वारा ही वृत्तिकार प्रदर्शित कर रहे हैं— तत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम् अर्थात् यदाभासं विज्ञानं तेनेन्द्रियाणां सम्प्रयोगे यद् विज्ञानं तत् सत्प्रत्यक्षम्।

यहाँ पर वृत्तिकार भगवान् उपवर्ष ने सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्य इस सूत्र में सत् पद की जगह (स्थान में) तत् पद की योजना और तत् पद की जगह सत् पद की योजना करके यथार्थ प्रत्यक्ष का लक्षण निर्मित किया है।

तथाहि— प्रत्यक्षाभास में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति चतुर्थसूत्र गत (प्रत्यक्ष-सूत्रगत) तत् और सत् दोनों पदों (शब्दों का व्यत्यास (अदल-बदल) करके प्रत्यक्षा-भास में सङ्कीर्ण न होनेवाले प्रत्यक्षलक्षण को स्थिर कर दिया है। सूत्रगत तत् पद तृतीयान्त अव्यय है। अतः उसका अर्थ यह होगा—तेन अर्थात् उस विषय से इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने पर जो उत्पद्यमान ज्ञान है, उसी को सत् प्रत्यक्ष कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि जिस विषय का ज्ञान होता है, उसी विषय के साथ इन्द्रियसंयोग, होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे ही- सत्प्रत्यक्ष कहा करते हैं। जैसे—रजत (चाँदी) के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष (संयोगसम्बन्ध) होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वही रजत ज्ञान है और वही सत्प्रत्यक्ष है, किन्तु जब ज्ञान का विषय रजत हो अर्थात् रजत का तो ज्ञान हो और चक्षुः संयोग शुक्ति के साथ हो रहा हो, तब सत्प्रत्यक्ष न होकर प्रत्यक्षाभास कहलाता है। निष्कर्ष यह है कि प्रत्यक्षसूत्र में तत् और सत् का व्यत्यास (स्थान-परिवर्तन) करके वास्तविक प्रत्यक्ष का लक्षण निर्मित होता है। तब प्रत्यक्षाभास में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। अर्थात्—यद्विषयकं ज्ञानं भवति, तेन सम्प्रयोगे यद् बुद्धिजन्म (ज्ञानोत्पत्तिः) भवति, तत् सत्प्रत्यक्षम् इत्युच्यते।

ननु असत्यपि व्यत्यये नास्ति संकरः; इन्द्रियसम्प्रयोगजं ज्ञानं प्रत्यक्षम्— इत्येतावदेव वक्तव्यम्। न हि शुक्तिकायां रजत ज्ञानमिन्द्रियसम्प्रयोगजम्।

किं तर्हि? इन्द्रियसम्प्रयोगाच्छुक्तिशकलं रजतसाधारणेन भास्वरत्वादि-रूपेण गृहीतम्, असाधारणं तु शुक्तिकात्वमिन्द्रियदौर्बल्यादगृहीतम्, अनन्तरं च संस्कारोद्बोधाद्रजतं स्मृतम्। ततः स्मृतरजतात्मना शुक्तिव्यक्ति-र्दोषवशाद् गृह्यते। अतो नेन्द्रियसम्प्रयोगजं रजतविज्ञानमिति नातिप्रसङ्गः।

उपर्युक्त प्रत्यक्षलक्षण में तत् और सत् का व्यत्यास (स्थानपरिवर्तन) नहीं करने पर भी सांकर्य नहीं है। अतः इन्द्रियसम्प्रयोगजं ज्ञानं प्रत्यक्षम् इतना ही प्रत्यक्ष लक्षण करना पर्याप्त है। इस लक्षण की प्रत्यक्षाभास में अतिव्याप्ति नहीं होगी; क्योंकि शुक्तिका में रजत का जो ज्ञान होता है; वह रजत और चक्षुरिन्द्रिय के सन्निकर्ष से नहीं हो रहा है।

प्रश्न— किं तर्हि तब किस कारण से वह ज्ञान (शुक्ति में रजतज्ञान) हो रहा है?

उत्तर— **इन्द्रियसम्प्रयोगाच्छुक्तिशकलमिति।** अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय के सन्निकर्ष से शुक्तिखण्ड का जो भास्वरत्व है, वह रजत साधारण है। (शुक्ति शकल और रजत का भास्वरत्व (चमकना) एक सा ही है। उस भास्वरत्व का ग्रहण उसी सामान्य धर्म से हुआ है। अर्थात् शुक्ति और रजत—दोनों का जो भास्वरत्व धर्म है, वह उभय साधारण है। उस धर्म का ग्रहण नहीं करनेवाले को उसी रूप से गृहित हुआ है। असाधारणं तु शुक्तिकात्वमिन्द्रियदौर्बल्यादगृहीतमिति। अर्थात् शुक्ति में शुक्तिकात्व रूप जो असाधारण धर्म है, उसका ग्रहण, इन्द्रिय की दुर्बलता के कारण नहीं हो पाया। तदनन्तर जब किसी कारणवश जब संस्कार उद्बुद्ध हुआ, तब रजत का स्मरण हुआ। उसके पश्चात् स्मर्यमाण रजत के रूप में पुरः स्थित शुक्ति प्रतीत होने लगी। शुक्ति में जो रजत प्रतीति हो रही है, वह इन्द्रिय सन्निकर्ष से नहीं हो रही है। इसलिये पूर्वोक्त दोष यहाँ संगत नहीं हो रहा है।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि शुक्तिका को देखकर उसमें जो रजतबुद्धि हो रही है, वह चक्षुरिन्द्रिय संयोग के कारण नहीं हो रही है, किन्तु दोषवशात् तथा संस्कारवशात् हो रही है। संस्कार के उद्बुद्ध होने का कारण यह है कि आपण (बाजार) में जो रजतानुभव हुआ है, उस अनुभव से उत्पन्न संस्कार का इस समय शुक्तिगत चाकचिक्यादि का दर्शन होने से संस्कारोद्बोधन हुआ, उसी कारण अर्थात् रजत-विषयक संस्कारोद्बोधन से रजत स्मरण हुआ है। रजतस्मरण के पश्चात् स्मृतरजता-त्मना = रजतत्वेन रूपेण चान्दी के रूप में शुक्ति का ज्ञान हो रहा है। अतः शुक्ति-रजतज्ञान, इन्द्रियसम्प्रयोगजन्य नहीं होने के कारण उक्त प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो रही है।

प्रणाड्यस्तीन्द्रियसम्प्रयोगजत्वमिति तद्व्यावृत्त्यर्थं तत्सम्प्रयोगजत्वमिति विशेषणं वक्तव्यमिति चेत्? तन्न। न हि इह यथाकथञ्चित् सम्प्रयोगजन्यत्वं लक्षणम्, किन्तु साक्षात् तज्जन्यत्वम्। यदि च यथाकथञ्चित् इत्याश्रीयेत,

ततो विशेषणे सत्यपि अतिव्याप्तिमल्लक्षणं स्यात्। आरादग्निमध्यक्षयतो यदौष्ण्यविषयमनुमानम्, तदपि प्रत्यक्षं स्यात्, प्रणाड्येन्द्रियसम्प्रयोगजत्वात्। सम्प्रयुक्तविषयत्वाच्च। अस्ति ह्यौष्ण्यस्येन्द्रियसम्प्रयोगः संयुक्तसमवायलक्षणः। तस्मादवश्यं साक्षात् सम्प्रयोगजत्वं लक्षणमित्यङ्गीकर्तव्यम्। अतः शुक्तिरजतवेदनेऽपि व्यभिचाराऽभावादनर्थकः तत्सतोर्व्यत्यायः।

प्रश्न— प्रणाड्येति। पुरःस्थित = सामने पड़े हुए शुक्तिखण्ड को देखकर इदं रजतम् यह प्रत्यक्षप्रतीति रूप से इदम् होती है। यह प्रत्यक्षप्रतीति इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर ही हुई है। शुक्तिखण्ड का प्रत्यक्ष होने पर ही रजत का स्मरण हुआ है, उसी कारण शुक्तिखण्ड के ज्ञान द्वारा रजत ज्ञान में भी परम्परया इन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्व है ही। इसलिये शुक्ति रजत ज्ञान में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निरसनार्थ चतुर्थसूत्र—सत्सम्प्रयोगे के द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्षलक्षण में सत्सम्प्रयोगजत्व इस प्रत्यक्ष विशेषण का सन्निवेश करना आवश्यक है।

उपर्युक्त कथन का परिहार पूर्वपक्षी प्रभाकर 'तत्र' कहकर कर रहे हैं—तत्र, न हि इह यथाकथञ्चित् सम्प्रयोगजन्यत्वं लक्षणम्, किन्तु साक्षात् तज्जन्यत्वम्।

उत्तर— प्रभाकर का कहना है कि प्रत्यक्ष लक्षण में साक्षात् सत्सम्प्रयोगजत्व विशेषण अवश्य देना चाहिये। प्रणाड्या अर्थात् परम्परया तत्सम्प्रयोगजत्व लक्षण विवक्षित नहीं है, अतः रजतज्ञान में अतिव्याप्ति नहीं है। यदि यथाकथञ्चित् सम्प्रयोगजत्व को प्रत्यक्षलक्षण कहें तो शुक्तिरजतज्ञान में भी प्रणाडी के द्वारा अर्थात् परम्परया सम्प्रयोगजत्व होने से उसमें प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति भी हो सकती है किन्तु परम्परया सम्प्रयोगजत्व नहीं होने से प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। अतः साक्षात् सम्प्रयोगजत्व ही प्रत्यक्षलक्षण है। यह साक्षात् सम्प्रयोगजत्त्व शुक्ति–रजतज्ञान में नहीं होने से वहाँ अतिव्याप्ति नहीं हो रही है।

प्रत्यक्षलक्षण में साक्षात् शब्द यदि नहीं रखें, अर्थात् प्रत्यक्षलक्षण में साक्षात् सम्प्रयोगजत्व को सन्निविष्ट नहीं करके यथा कथंचित् सम्प्रयोगजत्व इतना ही कहें तो तत्-सत् का व्यत्यास करके अर्थात् तत्सम्प्रयोगे सत्त्प्रत्यक्षम् इस प्रकार तत्सम्प्रयोगजम्- इस विशेषण के रहने पर भी प्रत्यक्षलक्षण, अतिव्याप्तिदोष से दूषित ही रहेगा।

अतिव्याप्ति दोष इस प्रकार होगा—आरादग्निमध्यक्षयतो यदौष्ण्यविषयमनुमानं, तदपि प्रत्यक्षं स्यात्, प्रणाड्येन्द्रियसम्प्रयोगजत्त्वात् सम्प्रयुक्तविषयत्वाच्च। अर्थात् आरात् = दूसरे अग्नि का प्रत्यक्ष होने पर जब औष्ण्यविषयक (उष्णता का) अनुमान होता है—अयम् अग्निः उष्णः अग्नित्वात् सम्प्रतिपन्नवत् इति। इत्याकारक अनुमान को भी प्रत्यक्ष कहना होगा। अर्थात् इस अनुमान मे प्रत्यक्षत्व की अतिव्याप्ति होगी। अर्थात्

अनुमानविषयभूत औष्ण्य प्रत्यक्ष का विषय होने लगेगा; क्योंकि प्रणाड्या इन्द्रियसम्प्रयोगजत्वात्, सम्प्रयुक्तविषयत्वाच्च। अर्थात् प्रणाड्या = अग्नि के द्वारा उसके औष्ण्य से भी इन्द्रियसम्प्रयोग है ही, उसी कारण औष्ण्य से जिस प्रकार यथाकथंचित् इन्द्रियसम्प्रयोग होने पर उत्पन्न हुआ जो उक्त अनुमानात्मक ज्ञान वह भी प्रत्यक्ष ही कहना होगा; क्योंकि वह परम्परया इन्द्रियसम्प्रयोगज है। दूसरा हेतु यह है कि सम्प्रयुक्तविषयत्वात् अर्थात् इन्द्रिय सम्प्रयुक्त जो औष्ण्य है, तद्विषयक ही उक्त अनुमान भी है। अतः उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति का होना सत्य ही है। अस्ति हि औष्ण्यस्येन्द्रियसम्प्रयोगः संयुक्तसमवायलक्षणः।

शङ्का—इन्द्रिय से संयुक्त तो अग्नि ही है, औष्ण्य नहीं। इसलिये अतिव्याप्ति नहीं है, यह शङ्का कर सकते हैं।

समाधान—अस्ति हि औष्ण्यस्येति। इन्द्रियसंयुक्त जो अग्नि है, उसमें समवायसम्बन्ध से औष्ण्य– विद्यमान है। उसी कारण इन्द्रिय का औष्ण्य के साथ संयुक्त-समवाय लक्षण संयोग (सम्बन्ध) ही है, तस्मादिति। उक्तदोष का परिहार करने की इच्छा से साक्षात् सम्प्रयोगजत्वम् इत्याकारक प्रत्यक्षलक्षण करना ही होगा। साक्षात्विशेषण देने पर तत् और सत् का व्यत्यास करने की आवश्यकता (अपेक्षा) नहीं पड़ेगी। अतः शुक्तिरजतवेदनेऽपि व्यभिचाराऽभावात् अनर्थकः तत्सतोर्व्यत्ययः। अर्थात् साक्षात् इन्द्रियसम्प्रयोगजं प्रत्यक्षम् इस प्रत्यक्षलक्षण की शुक्ति–रजतज्ञान में भी व्यभिचार (अतिव्याप्ति) नहीं हो पायगा तथा अनुमान आदि में भी अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी; क्योंकि साक्षात् इन्द्रियसंयोग नहीं है। इसलिए तत् और सत् का व्यत्यास करना अनर्थक ही है।

सत्यम्—साक्षात् सम्प्रयोगजत्वं लक्षणम् सत्यं च। शुक्ति-रजतज्ञानेऽपि नातिप्रसङ्गः, पीतशंखद्विचन्द्रादिज्ञानेष्वतिव्याप्तिः स्यात् साक्षात् सम्प्रयोगजत्वात्।

अपि च स्मृतेन रजताकारेण यत् संनिहितस्य शुक्तिशकलस्य तादात्म्यग्रहणं तदनुपरतेन्द्रियव्यापारस्य भवत् साक्षात्सम्प्रयोगजमेवापरोक्षत्वात्। तस्मादाभासनिवृत्त्यर्थस्तत्-सतोर्व्यत्यय इति सूक्तम्। भाष्ये त्वाभासप्रदर्शनार्थं शुक्तिकारजतज्ञानोदाहरणमित्यनवद्यम्।

मीमांसक उत्तर दे रहे हैं— **सत्यमिति**। यद्यपि प्रत्यक्ष का लक्षण साक्षात् सम्प्रयोगजत्वम् हो सकता है और उस लक्षण की यद्यपि औष्ण्यानुमान में तथा शुक्ति–रजतज्ञान में अतिव्याप्ति भी नहीं हो रही है, तथापि पीतशङ्खज्ञान में और द्विचन्द्रादिज्ञान में अतिव्याप्ति तो हो ही रही है; क्योंकि साक्षात् सम्प्रयोगजन्यत्व है अर्थात् पीतशंखज्ञान सत्प्रत्यक्ष नहीं है वह तो प्रत्यक्षाभास ही है, वहाँ पर भी साक्षात् इन्द्रियसम्प्रयोगजत्व है ही। एवं द्विचन्द्रज्ञान भी जो प्रत्यक्षाभास है, उसमें साक्षात् इन्द्रियसम्प्रयोगजत्व भी है,

उसी कारण अतिव्याप्ति दोष प्रसक्त हो रहा है।

उक्त दोष का निरसन करने के लिये उक्त रीति से तत् और सत् का व्यत्यास करना आवश्यक ही है। इसके अनन्तर शुक्ति-रजतज्ञान में भी अपि च स्मृतेन रजताकारेण ग्रन्थ से अतिव्याप्ति दोष की प्रसक्ति को प्रदर्शित कर रहे हैं—तथाहि स्मृत-रजत के साथ तादात्म्य होने से जो शुक्तिखण्ड (शुक्तिशकल) का ज्ञान हो रहा है, वह अनुपरत इन्द्रिय व्यापार वाले पुरुष को ही हो रहा है। अर्थात् शुक्तिखण्ड में इदं रूप से प्रत्यक्ष हो रहा है, वह प्रत्यक्ष इन्द्रिय संनिकर्ष से ही हुआ है। शुक्तिखण्ड का प्रत्यक्ष होने पर रजत का स्मरण हुआ। उसी कारण शुक्ति खण्ड का ज्ञान होने से रजत-ज्ञान में परम्परया इन्द्रिय-संनिकर्षजन्यत्व है—यह मानना ही होगा। इसलिये शुक्ति-रजतज्ञान में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है, उसके निराकरणार्थ तत्सम्प्रयोगे इस सूत्र के द्वारा प्रोक्त प्रत्यक्षलक्षण में सत्सम्प्रयोगजत्व विशेषण देना आवश्यक है—ऐसा यदि कोई कहता है, तो उस पर उत्तर दे रहे हैं—

तन्न, नहि इह यथाकथञ्चिदिति। अर्थात् यदि कदाचित् किसी प्रकार से प्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष का लक्षण सम्प्रयोगजत्व यदि हो तो शुक्ति-रजतज्ञान भी परम्परया सम्प्रयोगजन्य होने से उसमें प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति हो सकेगी, किन्तु ऐसी स्थिति नहीं है। हम तो प्रत्यक्ष का लक्षण साक्षात् सम्प्रयोगजत्व कर रहे हैं। तब शुक्ति-रजतज्ञान में साक्षात् सम्प्रयोगजत्व यह लक्षण घटित नहीं होने से अतिव्याप्ति नहीं है। प्रत्यक्षलक्षण में साक्षात् सम्प्रयोगजत्व न कहकर यथाकथञ्चित् सम्प्रयोगजत्व कहें, तो तत् और सत् का व्यत्यास करके तत्सम्प्रयोगे सत्प्रत्यक्षम् यह लक्षण होगा, तब तत्सम्प्रयोगजत्व विशेषण के रहने पर भी लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त ही रहेगा।

आरादग्निमध्यक्षयतो यदौष्ण्यविषयमिति। इस ग्रन्थ से उपर्युक्त अतिव्याप्ति को बता रहे हैं। दूर से अग्नि का प्रत्यक्ष होने पर जब औष्ण्यविषयक अनुमान करते हैं—अयमग्निरुष्णोऽग्नित्वात् सम्प्रतिपन्नवत्—इस अनुमान को भी प्रत्यक्ष कहना होगा। अर्थात् अनुमान में प्रत्यक्षत्व की अतिव्याप्ति होगी। अभिप्राय यह है कि अनुमान का विषयभूत औष्ण्य प्रत्यक्ष का विषय होने लगेगा; क्योंकि प्रणाड्या इन्द्रियसम्प्रयोग-जत्वात् सम्प्रयुक्तविषयत्वाच्च, अस्ति हि औष्ण्यस्य इन्द्रियसम्प्रयोगः संयुक्तसमवाय-लक्षणः। अग्नि के द्वारा उसके औष्ण्य के साथ भी इन्द्रियसम्प्रयोग विद्यमान है ही, उसी कारण औष्ण्य के साथ यथाकथञ्चित् इन्द्रियसम्प्रयोग होने पर उत्पन्न हुआ जो अनु-मानात्मकज्ञान उसे भी प्रत्यक्ष कहना होगा; क्योंकि वह परम्परया इन्द्रियसम्प्रयोगज है तथा एक अन्य हेतु और भी है—सम्प्रयुक्तविषयत्वात् अर्थात् इन्द्रियसंयुक्त जो औष्ण्य है, तद्विषयक ही यह अनुमान है। इसलिये उक्त प्रत्यक्षलक्षण की यहाँ अतिव्याप्ति हो रही है।

शङ्का— यदि कोई यह शङ्का करे कि यहाँ तो इन्द्रियसंयुक्त अग्नि है, उसमें

समवाय सम्बन्ध से औष्ण्य रहता है, उसी कारण इन्द्रिय का औष्ण्य के साथ संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध है ही। **तस्मादिति**। अत: उक्त दोष के परिहारार्थ साक्षात् संयोगजत्व को ही प्रत्यक्षलक्षण कहना होगा। साक्षात् विशेषण के देने से तत् और सत् के व्यत्यास की आवश्यकता नहीं रहेगी और साक्षात् इन्द्रियसम्प्रयोगजं प्रत्यक्षम् इस प्रत्यक्षलक्षण की शुक्ति-रजतज्ञान में भी व्यभिचार (अतिव्याप्ति) नहीं होगा तथा अनुमानादि में भी साक्षात् इन्द्रिय सम्प्रयोग नहीं होने से अतिव्याप्ति नहीं होगी।

तत्सम्प्रयोगजत्वातत्सम्प्रयोगजत्वे कथं विविच्येते। उच्यते—ज्ञानस्वरसादेव विषयस्य तथात्वमध्यवसीयते, तदन्यथात्वं तु कारणदोषज्ञानादर्थान्यथात्वज्ञानाद् वाऽवगन्तव्यम्। अतो यत्र प्रयत्नेनान्विष्यमाणोऽपि कारणदोषो बाधकज्ञानं वा नोपलभ्यते तत् प्रमाणम्, इतरच्चाप्रमाणम्। चोदनार्थज्ञानस्य तूभयाभावात् सिद्धं प्रामाण्यम्।

इत्यौत्पत्तिकसूत्रम्

****

शङ्का— 'तत्सम्प्रयोगजत्वातत्सम्प्रयोगजत्वे कथं विविच्येते' अर्थात् अमुक स्थल में तत्सम्प्रयोग-जत्व है और अमुक स्थल में तत्सम्प्रयोगजत्व नहीं है, यह विवेक कैसे हो पायेगा?

समाधान— उपर्युक्त शङ्का पर सिद्धान्ती के द्वारा किये जाने वाले समाधान का उपपादन ग्रंथकार कर रहे हैं—**उच्यते इति। ज्ञानस्वरसादिति**। अर्थात् ज्ञानस्वरसादेव = ज्ञानस्वभावादेव विषयस्य तथात्वम् अध्यवसीयते। विषय का अबाधित्व निश्चित करना ही ज्ञान का स्वभाव है। अर्थात् विषय जिस रूप से ज्ञात हुआ है, उसी रूप से उसका ज्ञान होना ही तद्रूपत्त्व कहलाता है और तदन्यथात्व अर्थात् विषयाऽन्यथात्व तो कारणगत दोषज्ञान से और अर्थान्यथात्वज्ञानात् = बाधकज्ञान से जाना जाता है। कारणदोषज्ञान से होने वाले अर्थान्यथात्व का उदाहरण; जैसे—नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ति अर्थात् नदी के किनारे = तट पर पाँच फल पड़े हैं। इस वाक्य को सुनने वाला नदी तट पर बिना गये ही समझ रहा है कि उक्त वाक्य को कहनेवाला वञ्चक अर्थात् ठगिया = धूर्त है। अर्थात् यह ठगिया धूर्त सफेद झूठ (मिथ्या) बोल रहा है। इत्याकारक ज्ञान कारणगत दोष (कारणदोष) ज्ञान से ही हो रहा है। अर्थात् कारणदोषज्ञान से ही अर्थान्यथात्व का ज्ञान हो रहा है; क्योंकि नदीतीर (नदीतट) पर बिना गये ही बाधक ज्ञान की उपपत्ति होना सम्भव नहीं है। श्रूयमाण जो उक्तवाक्य है, उसका कारणीभूत ही वक्ता है, उसके वञ्चकत्व दोष का ज्ञान कारणान्तरवशात् हो चुका है।

अब बाधकज्ञान से होनेवाले अर्थाऽन्यथात्व का उदाहरण दे रहे हैं जैसे—शुक्तौ इदं रजतम् शुक्ति को देखकर जहाँ रजत (चाँदी) का ज्ञान हो जाता है, वहाँ रजत का

अन्यथात्व जाना जाता है। यहाँ पर यह रजत नहीं है, इस बाधकज्ञान से अर्थान्यथात्व का ज्ञान होता है। **अतो यत्र प्रयत्नेनेति।** अतः यत्र = ज्ञान अथवा प्रमाण में सावधानी से खोजने पर भी (अन्वेषण करने पर भी) कारणदोष (कारणगत दोष) अथवा 'इदं न' इत्याकारक कोई बाधक वाक्य का ज्ञान उपलब्ध नहीं हो पाता तब तक तत् प्रमाणम् उसी को प्रमाण माना जाता है। अभिप्राय यह है कि वेद वाक्य से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान का कारण वेदवाक्य ही है, वह (वेदवाक्य) अपौरुषेय (मनुष्यादि किसी प्राणधारी जीव से रचा हुआ नहीं) है अतः उसमें भी किसी दोष के होने की सम्भावना नहीं की जा सकती; क्योंकि वह अपौरुषेय है।

तथैव बाधकज्ञान की भी सम्भावना नहीं कर सकते; क्योंकि प्रायशः फलप्राप्ति शरीरान्तर (देहान्तर) लभ्य हुआ करती है। इसलिये वेदवाक्य से होनेवाले ज्ञान को प्रमाण ही कहना होगा। अर्थात् अब यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ कहीं कारणदोष अथवा बाधकज्ञान उपलब्ध होता है, उसी को अप्रमाण ज्ञान कहते हैं।

चोदनार्थज्ञानस्येति। चोदना (विधि) अथवा सम्पूर्ण वेद से बोध्यविषयविषयक ज्ञान में उपर्युक्त अर्थात् कारणदोष और बाधकज्ञान दोनों के नहीं होने से (अभाव से) अर्थात् चोदनाजन्य (विधिवाक्य या सम्पूर्ण वेद से होनेवाले) ज्ञान में कारणदोष भी नहीं है; क्योंकि वह अपौरुषेय है तथा कोई बाधकज्ञान भी नहीं है, अर्थात् अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः इस वेदवाक्य को सुनकर आजतक और आगे भी कल्प-कल्पान्तर तक (महाप्रलय तक) भी उपर्युक्त अग्निहोत्र और स्वर्ग का प्रतीयमान जो साध्य-साधनभाव सम्बन्ध है, उसे कोई नकार भी नहीं सकता। इस प्रकार चोदना (विधि अथवा सम्पूर्ण वेद) से उत्पद्यमान ज्ञान सर्वथैव प्रमाण है—यह स्वीकार करना ही होगा। अर्थात् वेद का प्रामाण्य स्वतः ही है। वेद स्वयं ही प्रमाण है, उसे अपने प्रामाण्य की सिद्धि के लिये किसी अन्य साधन की आवश्यकता (अपेक्षा) नहीं हुआ करती। अतः वेद का स्वतः प्रामाण्य सिद्ध ही है।

स्वतः प्राप्त (स्वभाव से ही रहनेवाला) ज्ञान प्रामाण्य का बाध तो तब होता है, किन्तु कारणदोषज्ञान अथवा 'इदम् एवं न' इत्याकारक बाधकज्ञान जब तक नहीं उत्पन्न होता, तबतक उसे प्रमाण ही माना जाता है; क्योंकि कारणदोषज्ञान तथा बाधक ज्ञान के पूर्वतक प्रत्यक्ष को तत्सम्प्रयोगज ही समझा जाता है। अन्यत्र तो कारणदोषज्ञान अथवा बाधकज्ञान होने पर ही अतत्सम्प्रयोगजन्यत्व जाना जाता है। भट्टपाद ने कहा भी है—

तत्र दोषान्तरज्ञानं बाधधीर्वा परा न चेत्। इति।
तदुद्भूतौ द्वितीयस्य मिथ्यात्वादाद्यमानता॥ इति च॥

इस प्रकार औत्पत्तिकसूत्र की व्याख्या समाप्त हुई।

ननु सर्व एव निरालम्बनः इत्यादिना पूर्वोक्तहेतुद्वयक्षेपनिमित्तमिथ्यात्वाऽऽक्षेपेण शून्यवादी प्रत्यवतिष्ठते। तथाहि— यत्र कारणदोषज्ञानं, बाधकज्ञानं वा तत्र मिथ्यात्वम्, अन्यत्र सत्यत्वमिति व्यवस्था नोपपद्यते, सर्वज्ञानानां मिथ्यात्वात्।

(बाह्यार्थशून्यवादेनाक्षेपः)

सर्वमेव हि ज्ञानामात्मांश पर्यवसिमनादिवासनावशादात्मानमेव वा बाह्यतयाऽध्यवस्यन् मिथ्यैव।

सूत्रसम्बद्ध विषयों को समाप्त कर भाष्य-वार्त्तिकोक्त अन्यान्य विषयों को भी स्पष्ट कर रहे हैं—**नन्विति**। भाष्यकार शबरस्वामी चतुर्विध बौद्धों में बाह्यार्थशून्यवादी योगाचार बौद्ध की ओर से (तत्पक्षानुसार) पूर्वपक्ष कर रहे हैं—**ननु सर्व एव निरालम्बनः, स्वप्नवत् प्रत्ययः इति**। प्रत्ययस्य हि निरालम्बनता स्वभावस्वप्ने इस ग्रन्थ के द्वारा बाह्यार्थ शून्यवादी योगाचार बौद्ध ने विप्रतिपत्ति (विरोध) प्रदर्शित किया है।

प्रश्न— योगाचार आदि बौद्धों के मत प्रदर्शन करने का यह कौन सा अवसर है? मीमांसादर्शनस्वरूप धर्म विचार (धर्ममीमांसा) शास्त्र धर्म का विचार करने के लिये प्रस्तुत हुआ है। अत: इसके साथ बौद्धसिद्धान्त के निराकरण करने का सम्बन्ध ही कुछ नहीं है।

उत्तर—उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि शबरस्वामी ने ननु सर्व एव निरालम्बन: प्रत्यय: इत्यादि भाष्य के द्वारा बाह्यार्थ = (बाह्य = व्यावहारिक पदार्थो) की विद्यमानता = अस्तित्त्व बतलाया है। कारण यह है कि मीमांसा अर्थात् विचार बाह्यार्थ को लेकर ही हुआ करता है; किन्तु योगाचार तथा माध्यमिक बौद्ध बाह्यार्थ को मानते ही नहीं हैं। योगाचार ज्ञान को मानते हैं; किन्तु बाह्यपदार्थ को नहीं मानते। राज्यवादी माध्यमिक तो ज्ञान को भी नहीं मानते और बाह्य पदार्थ को भी नहीं मानते। उनका कहना है कि सर्व शून्यम् यही उक्त दोनों बौद्धों में अन्तर है, तथापि सिद्धान्त एक समान ही हैं। वार्त्तिककार ने कहा भी है—तत्र बाह्यार्थशून्यत्वं तुल्यं तावत् द्वयेरपि तत्र बाह्यार्थशून्यत्वं योगाचारा: समाश्रिता:। तस्याऽप्यभावमिच्छन्ति ये माध्यमिकवादिन: ।। इति ।

अतएव बाह्यार्थ बाह्यपदार्थ = बाह्यवस्तु का अस्तित्व सिद्ध करना ही होगा, उसके विना मीमांसा के द्वारा प्रदर्शित विचार की संगति ही नहीं बैठ पाएगी। अत एव बौद्धसिद्धान्तों का खण्डन करके बाह्यार्थ = बाह्य पदार्थ (घट-पटादि-पदार्थ) का अस्तित्व सिद्ध करना परम = नितान्त आवश्यक है। इसी अभिप्राय को वार्त्तिककार बता रहे हैं—

प्रमाणत्वाऽप्रमाणत्वे पुण्य-पापादि तत्फलम् ।
विध्यर्थवाद मन्त्रार्थनामधेयादिकल्पना ।। १ ।।

सर्वेषु लक्षणेष्वेवं स्वप्रमाणगणैः स्थितिः ।
वचनव्यक्तिभेदेन पूर्वसिद्धान्त पक्षता ॥ २ ॥
कर्मभ्यः फलसम्बन्धः पारलौक्यैहलौकिकः ।
सर्वमित्याद्ययुक्तं स्यादर्थशून्यासु बुद्धिषु ॥ ३ ॥
तस्माद्धर्मार्थिभिः पूर्वं प्रमाणैर्लोकसम्मतैः ।
अर्थस्य सदसद्भावे यत्नः कार्यः क्रियाम्प्रति ॥ ४ ॥

(श्लो० वार्ति० निरालम्बनवादः)

प्रसंगप्राप्त अन्य विचारों को यहीं पर विश्रान्त करके प्रस्तुत विचार को पुनः प्रदर्शित कर रहे हैं। शबरभाष्य में बाह्यशून्यार्थवादी योगाचार बौद्ध ने 'ननु सर्व एव निरालम्बनः स्वप्नवत् प्रत्ययः' कह कर यह स्वसिद्धान्त कर दिया था कि 'प्रत्ययस्य हि निरा-लम्बनतास्वभावः उपलक्षितः स्वप्ने' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा विप्रतिपति (विरोध) की थी। उसका कहना है कि कारणदोष और बाधकज्ञान इन कारणों (हेतुओं) से ही ज्ञान = प्रत्यय का मिथ्यात्व = अयथार्थत्व हुआ करता है। यह कथन समुचित नहीं है; क्योंकि ज्ञानमात्र = अर्थात् यच्च–यावत् ज्ञान मिथ्या ही है, अयथार्थ ही है; क्योंकि अविद्यमान विषय का ग्रहण ही ज्ञान का मिथ्यात्व कहा जाता है। जबकि बाह्यार्थ = बाह्य पदार्थ है ही नहीं, ऐसी स्थिति में असत् = अविद्यमान विषय का ज्ञान के द्वारा ही ग्रहण किया जाता है, उसी कारण सर्वमेव ज्ञानं मिथ्या शुक्ति-रजतज्ञानवत् स्वाप्नज्ञानवच्च। अतः यह कहना कि कारणदोष से और बाधकज्ञान से ही ज्ञान का मिथ्यात्व होता है, यह व्यवस्था करना अनुचित है। इस प्रकार आक्षेप करता हुआ शून्यवादी = बाह्यार्थ शून्यवादी भाष्य में ननु सर्व एव निरालम्बनः ग्रन्थ से शङ्का कर रहा है। ज्ञान मिथ्या नहीं होता, यह आक्षेप का अभिप्राय नहीं है; किन्तु सर्वमेव ज्ञानं मिथ्या = सभी ज्ञान मिथ्या है। कारण दोष और बाधकज्ञान—इन दोनों कारणों के रहने पर भी ज्ञान को मिथ्या समझना उचित नहीं है—यह अभिप्राय है। इसी उक्त अभिप्राय को तथाहि यत्र कारण दोषज्ञानं बाधकज्ञानं वा तत्र मिथ्यत्वम्, अन्यत्र सत्यत्वम् इति व्यवस्था नोपपद्यते, सर्वज्ञानानां मिथ्यात्वात् के द्वारा बताया गया है।

शून्यवादी ने ज्ञानमात्र को मिथ्या बतलाया है। उसी का उपपादन अग्रिम ग्रन्थ से 'सर्वमेव हि ज्ञानम्, आत्मांशपर्यवसितम्, अनादिवासनावशात् आत्मानमेव बाह्यतया अध्यवस्यन् मिथ्यैव' किया गया है। अर्थात् घट-पटादि सभी ज्ञान आत्मांश में अर्थात् स्वरूप में ही पर्यवसित है = स्वरूप के ही ग्राहक होते हैं; क्योंकि घट-पटादि बाह्य पदार्थों की विद्यमानता (अस्तित्व) नहीं रहने से ज्ञान ही घट-पटादि बाह्य वस्तुओं के रूप में परिणत होता है, अर्थात् ज्ञान का ही घट-पटादि के रूप में परिणाम हो जाता है। अतः यही समझना है कि घट-पटादि पदार्थ ज्ञानरूप ही है। उन ज्ञानरूप (ज्ञानात्मक) घट-पटादि पदार्थों (बाह्य वस्तुओं) का ज्ञान के द्वारा ग्रहण किये जाने से ज्ञानेन स्वांश

एव गृह्यते अर्थात् ज्ञान अपने अंश का ही (स्वांश का ही) ग्रहण करता है। अत एव शास्त्रदीपिकाकार ने कहा है कि सर्वमेव हि ज्ञानम्, आत्मांशपर्यवसितम्, अनादिवासना-वशात् आत्मानमेव, बाह्यतया अध्यवस्यन् मिथ्यैव इति।

एवञ्च ज्ञान स्वात्मांशपर्यवसायी कहलाता है। अतः शून्यवादी बौद्ध के मतानुसार कोई भी ज्ञान अर्थात् ज्ञानमात्र मिथ्या है। घट-पटादि सभी बाह्य पदार्थ ज्ञान अपने आत्मांश में स्वरूप में ही पर्यवसित होते हैं; अर्थात् अपने स्वरूप के ही ग्राहक हुआ करते हैं; क्योंकि घट-पटादि बाह्य पदार्थों का तो उनके मतानुसार अभाव ही है। बौद्धों का कहना है कि ज्ञान ही घट-पटादि के आकार में परिणत होता है। ये घट-पट आदि सभी पदार्थ ज्ञानरूप ही हैं। उन ज्ञानरूप घट-पटादिकों का ज्ञान के द्वारा ही ग्रहण होने से समझ में आता है कि ज्ञान अपने अंश (स्वांश) का ही ग्रहण करता है। इसीलिये ज्ञान को स्वात्मांशपर्यवसायी कहते हैं।

शङ्का— यदि बाह्यपदार्थ का अस्तित्व है ही नहीं, तो यही समझना होगा कि ज्ञान जो अपने स्वरूप का ग्रहण करता है, वह ग्रहण ज्ञानत्वेन रूपेण ही करता है, न कि घट-पटादि के रूप से; क्योंकि घट-पटादि के रूप से परिणाम मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार ज्ञान अपने स्वरूप का ग्रहण ज्ञानत्वेन रूपेण ही करता है। उक्त कथन में ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र ने हेतु (कारण) प्रदर्शित किया है—**अनादिवासनावशात् आत्मानमेव बाह्यतया अध्यवस्यन् मिथ्यैव इति**। ज्ञान अपने स्वरूप का ग्रहण ज्ञानत्व रूपेण ही करता है—इस कथन में अनादिकालीन वासना ही कारण है। अर्थात् अनादि वासना (संस्कार) वशात् ज्ञान अपने स्वरूप को ही बाह्य घट-पटादि रूप से जानता है = (अध्यवस्यति)। एवञ्च बाह्य पदार्थों के अभाव (न रहने पर) भी बाह्य रूप से उनका अध्यवसाय (निश्चय) करने के कारण सभी ज्ञान मिथ्या ही है। यद्यपि ज्ञानस्वरूप का अस्तित्व है, तथापि विषय के मिथ्या रहने से उसका (विषय का) ग्राहक जो ज्ञान है, वह भी मिथ्या कहलाता है।

कथं पुनः आत्मांशपर्यवसायित्वं गम्यते? अनुमानात्, बाह्ये च प्रवृत्त्य-सामर्थ्यात्। यथाचाऽसामर्थ्यं तथा वक्ष्यामः। सम्प्रत्यनुमानमुच्यते—स्तम्भादिप्रत्ययाः स्वांशमेव बाह्यतयाऽध्यवस्यन्तो मिथ्याभूताः प्रत्यय-त्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्, शुक्तिका-रजतादिप्रत्ययवच्च। स्वप्नादिप्रत्यया हि यथाऽवगम्यमानबाह्यार्थाभावाद् देशान्तरकालान्तरवर्त्तिनां च संनि-हितदेशकालतया प्रतिभासाऽसम्भवात्, क्वचित् कदाचिदप्यसम्भवतां स्वशिरश्छेदादीनां स्वप्ने प्रतिभासादवश्यं स्वात्मानमेव बहिर्वद् गृह्णन्तीत्य-भ्युपगन्तव्यम्। अतस्तत्सामान्याज्जाग्रज्ज्ञानानामपि स्वांशपर्यवसायि-त्वान्मिथ्यात्वम्—इति प्राप्ते।

प्रश्न—बौद्धों ने जो कहा था कि ज्ञान आत्मांश (स्वात्मांश) में पर्यवसित होता है अर्थात् ज्ञान अपने स्वरूप का ही ग्राहक होता है—इस कथन में (ज्ञान के आत्मांश-पर्यवसायी होने में) क्या प्रमाण है? अर्थात् ज्ञान का आत्मांश में पर्यवसन्न होना आपने (बौद्ध ने) कैसे जाना?

उत्तर—बौद्ध उत्तर देता है कि अनुमानात्, बाह्ये च प्रवृत्त्यसामर्थ्यात्। अर्थात् अनुमान-प्रमाण से हमने जान लिया। ज्ञान का आत्मांशपर्यवसायित्व होने में हेतु दे रहे हैं—**बाह्ये च प्रवृत्त्यसामर्थ्यात् इति**। अर्थात् बाह्य पदार्थ जो घट-पदादि हैं, उनके साथ आन्तरिक ज्ञान का सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है। अर्थात् बाह्य घट-पटादि का ग्रहण करने में 'अयं घट:' इत्याकारक ज्ञान समर्थ नहीं है। इसे शून्यवाद के निरूपण-प्रसंग में बतायेंगे।

निष्कर्ष यह है कि बाह्य पदार्थ को स्वीकार कर भी लें, तथापि ज्ञान में उस बाह्य पदार्थ को ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं है। अर्थात् बाह्य पदार्थ का ग्रहण अथवा बाह्य प्रतिभास कराने का सामर्थ नहीं है; क्योंकि ज्ञान ही घट-पटादि के आकार में भासित होता है। इसलिये ज्ञायते ज्ञानमेव अर्थात् ज्ञान का ही ज्ञान होता है। ज्ञान ही घट-पटादि के आकार से परिणत होकर घटादि के आकार में अपना ही ग्रहण करता है। ज्ञान का घटादि के आकार से परिणत होना अवश्य ही स्वीकार करना होगा। अत: बाह्य पदार्थ के स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार ज्ञान से भिन्न अर्थात् ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ नाम की कोई वस्तु नहीं है। बाह्य पदार्थ का ग्रहण आन्तरिक ज्ञान में नहीं है। यथा च असामर्थ्यं तथा वक्ष्याम:– उक्त असामर्थ्य को आगे बतलाया जायगा।

सम्प्रति अनुमानम् उच्यते अब अनुमान प्रयोग बता रहे हैं—स्तम्भादीति। स्तम्भादि-प्रत्यया: स्वांशमेव बाह्यतया अध्यवस्यन्त: मिथ्याभूता: प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्, शुक्तिका-रजतादि प्रत्ययवच्च।

प्रदर्शित अनुमान प्रयोग में स्तम्भादि प्रत्यय (ज्ञान) (पक्ष) है, वह पुरोवर्ती पदार्थ के रूप में भान करते हुए मिथ्या (अप्रमाण) है, अर्थात् मिथ्यात्व साध्य है। प्रत्ययत्वात् यह हेतु है अर्थात् प्रत्यय = ज्ञान होने के कारण और दृष्टान्त है— स्वप्नप्रत्ययवत्। एक अन्य दृष्टान्त भी है— शुक्तिका-रजतादिप्रत्ययवत् अर्थात् शुक्ति में रजतज्ञान।

अत: उक्त अनुमान प्रयोग के द्वारा स्तंभादि प्रत्यय को मिथ्या सिद्ध कर रहे हैं, उसके मिथ्या होने में हेतु दे रहे हैं—**स्वांशमेव**। स्वांश को ही बाह्यरूप से समझ रहे हैं; इसलिये स्तंभादि प्रत्यय मिथ्या है। स्वप्न में जैसे ज्ञान ही स्वाप्न पदार्थ के रूप में परिणत होता है।

दूसरा दृष्टान्त भी है—शुक्तिका-रजतादिप्रत्ययवत्। जैसे शुक्तिका-रजतज्ञान के स्थल में ज्ञान ही रजताकारेण परिणत होता है, उसी तरह समझना चाहिये।

अन्यथा स्वप्न में स्वाप्निक ज्ञान में जैसे सत् रूप पदार्थ प्रतीत होते हैं, वैसे बाहर नहीं हुआ करते। अत: स्वप्नदेश में और स्वप्नकाल में जैसे पदार्थ ज्ञात होते हैं, वैसे बाहर प्रतीत नहीं होने पर भी अन्यदेश में तथाा कालान्तर में रहनेवाले पदार्थों का सन्निहित देश में अथवा सन्निहित काल में उनका भान (प्रतीति) होना सम्भव नहीं है, जो कहीं-कभी भी सम्भव नहीं है, ऐसे अपने शिरश्छेद आदि का स्वप्न में भान होता है। उसी प्रकार अवश्य ही स्वाप्निक ज्ञान अपने को भी बाह्य पदार्थों की तरह ग्रहण करता है, यह स्वीकार करना होगा। अत: इसी समानता को लेकर सभी ज्ञानों का भी स्वात्मांश में पर्यवसान होने से सभी जाग्रत ज्ञान मिथ्या है। अर्थात् जब सभी ज्ञान स्वांश में पर्यवसित होने के कारण मिथ्या (अप्रमाण) है, तब दोनों कारणों से ही (कारणदोष और बाधक ज्ञान से) मिथ्यात्व होता है— यह व्यवस्था नहीं की जा सकती। इस प्रकार से पूर्वपक्ष उपस्थित किये जाने पर सिद्धान्त कहा जा रहा है।

अभिधीयते—न तावत् स्वप्नादिप्रत्यया: स्वांशावलम्बना:, तेऽपि बाह्यार्थमेवाऽन्यथासन्तमेवाऽन्यथा गृह्णन्ति इति वक्ष्याम:। भवतु वा तत्राऽऽत्मख्यानं, नैतावता नीलादिप्रत्ययास्तथा भवितुमर्हन्ति, तत्र हि नीलमिदं, पीतमिदं, स्तम्भोऽयं, घटोऽयमित्येवमिदमाकारास्पदीभूतं बाह्यं नीलादि प्रत्यक्षेणाऽवगम्यमानं न शक्यमनुमानेनाऽपह्नोतुम्। आत्मग्राहित्वे ह्यहं नीलमिति स्यात्।

अब सिद्धान्ती (मीमांसक) सिद्धान्त पक्ष को बता रहा है—**न तावत् स्वप्नादि-प्रत्यया इति**। बौद्धों का जो कहना है कि 'ज्ञानमेव विषयाकारेण परिणम्य स्वयमेव स्वात्मानं गृह्णाति इति न युक्तम्' अर्थात् ज्ञान ही विषयाकार में परिणत होकर वह स्वयं ही अपने को ग्रहण करता है—यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि बाह्य पदार्थ का अस्तित्व है। स्वाप्नज्ञान का जो दृष्टान्त बौद्धों ने प्रदर्शित किया है, अर्थात् ज्ञान ही विषय के आकार में परिणत होकर अपने को ग्रहण करता है—यह कहना अनुचित ही है; क्योकि यह आन्तरिक ज्ञान अन्यथादृष्ट बाह्य पदार्थ को अन्यथा ग्रहण करता है। इस विषय की चर्चा आगे शून्यवाद में करेंगे। यहाँ तो इतना ही बता रहे हैं कि स्वाप्नज्ञान अपने को ही ग्रहण नहीं करता; किन्तु स्वातिरिक्त अर्थ (पदार्थ) को ग्रहण कराता है। अर्थात् जो अन्यथा है, उसे अन्य रूप से ग्रहण कराता है। जैसे मांस विक्रय करनेवाले कसाईयों के द्वारा बकरे आदि पशुओं का शिर काटते हुए दिखाई देता है, उसी कारण स्वप्न में किञ्चित् अन्यथारूप से स्व-सम्बन्धित रूप से अर्थात् अपना ही शिरश्छेद होता हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार अन्यथाभूत का अन्यथा ग्रहण होने से ही स्वाप्नज्ञान को अप्रमाण माना जाता है; क्योंकि अन्यथाग्रहण जो होता है, वह दोष के कारण होता है। यदि स्वप्न में अन्यथा ग्रहण नहीं हो तो स्वाप्नज्ञान को भी प्रमाण मानना होगा। तब जाग्रत् ज्ञान और स्वाप्नज्ञान में कोई भेद ही नहीं हो पायगा; क्योंकि दोनों में स्वात्मांश

का ही ग्रहण हो रहा है। वस्तुतः दोनों भिन्न-भिन्न हैं। जाग्रत् में विषयोपलब्धिरूप विशेष ग्रहण होता है। किञ्च— यज्ञदत्त के धूर्त होने से सभी लोगों को धूर्त नहीं समझा जाता। यदि स्वप्न में आत्माख्यान होता है, अर्थात् विषयाकार में परिणत हुए ज्ञान का ज्ञान से ग्रहण होता है, तो वहाँ भले ही हो, अर्थात् स्वाप्निक ज्ञान का ग्रहण ज्ञान से होने पर भी जाग्रत्काल के प्रत्ययात्मक ज्ञान (नील-पीतादि प्रत्यय) भी स्वात्मांशग्राहक नहीं होंगे। यदि उक्त नील-पीतादि ज्ञानों को भी आत्मग्राहक (आत्मग्राही) कहा जाय तो 'अहं नीलम्' यह अनुभव होने लगेगा; क्योंकि बौद्धमत में नील-पीत आदि पदार्थ ज्ञान से भिन्न नहीं हैं। इस कारण 'इदं नीलम्' यह प्रत्यक्ष (ज्ञान) अपने को ग्रहण नहीं कर सकता। इस प्रकार ज्ञान अपने को (स्वयं को) ग्रहण नहीं कर सकता; किन्तु बाह्य पदार्थ को उपस्थित कराकर उसके अपलाप के लिये प्रवृत्त होनेवाले अनुमान की उत्पत्ति को ही रोक देता है। अर्थात् 'स्तम्भादिप्रत्ययाः मिथ्याभूताः प्रत्ययत्वात्' यह अनुमान प्रत्यक्ष से बाधित हो जाता है। अतः निरालम्बनत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत में तो इतना ही बता रहे हैं कि ज्ञान स्वाकार को ग्रहण नहीं करता।

किञ्च— यदि मान भी लें कि ज्ञान अपने स्वरूप का (आत्मख्यान का) ही ग्रहण करता है, तो इतना कहने मात्र से ही नीलादि प्रत्यय स्वात्मांश का ग्रहण नहीं करा सकते। जाग्रत् में 'इदं नीलम्, इदं पीतम्, अयं स्तम्भः, अयं घटः' आदि इदमाकार के विषय बाह्य नीलादि जो प्रत्यक्ष से ज्ञात हो रहे हैं, उनका अपलाप अनुमान से आप नहीं कर सकते।

तदेवं प्रत्यक्षमेव बाह्यार्थमुपस्थाप्य तदपह्नवप्रवृत्तस्यानुमानस्योदयं निरुणद्धि। स्वप्नादिषु तु बाधकेन ज्ञानान्तरेण बाह्यसद्भावनिराकरणाद् युज्येतात्मख्यातिः। न त्विह तथा बाधकमस्त्यन्यत् भवदुक्तादनुमानात्। न चानुमानमलं बाधितुमित्युक्तम्। दूषणसहस्रं चास्यानुमानस्य वार्त्तिके प्रपञ्चितमित्युपरम्यते।

इति निरालम्बनवादनिराकरणम्

बौद्धों के मत में अनुपपत्ति यह होगी कि यदि ज्ञान नीलाकार से अपने को ही ग्रहण करता है तो अहं नीलम्—यह अनुभव होना चाहिये; क्योंकि बौद्धमतानुसार नील-पीतादि पदार्थ ज्ञान से अभिन्न है। इस कारण 'इदं नीलम्' कहकर जो प्रत्यक्ष ज्ञान प्रदर्शित किया गया है, वह प्रत्यक्ष अपने (स्वयं) को ग्रहण नहीं कर सकता। **तदेवं प्रत्यक्षमेवेति।** यद्यपि ज्ञान स्वयं अपने को ग्रहण नहीं कर सकता, तथापि बाह्यार्थ को उपस्थित कराकर उस बाह्यार्थ का अपलाप करने के लिये प्रवृत्त होनेवाले अनुमान की उत्पत्ति को रोक देता है; क्योंकि तुम्हारे मत में आत्मा से ज्ञान अभिन्न है, जैसे दुष्यन्त के रूप में उपस्थित हुआ नट अपने को दुष्यन्त ही समझता है और वैसा ही बोलता भी है। एवम् अर्थात् ज्ञान में स्वात्मांशग्राहित्व का होना असम्भव है। प्रत्यक्षरूप से ही बाह्यपदार्थ को उपस्थित

कर (विषय बनाकर) उसे बाह्य पदार्थ का अपह्नव (अपलाप) करने के लिये प्रवृत्त होनेवाले अनुमान की उत्पत्ति को अर्थात् 'स्तम्भादिप्रत्यया मिथ्याभूताः प्रत्ययत्वात्' इस अनुमान की उत्पत्ति को रोक देता है। अर्थात् अनुमान बाधित हो जाता है। **स्वप्नादिष्विति।** किन्तु स्वप्न में बाह्यपदार्थ की प्रतीति का होना सम्भव ही नहीं है; क्योंकि बाधकस्वरूप जाग्रत् प्रत्यय के द्वारा बाह्य पदार्थ के सद्भाव (रहने) का निराकरण कर दिया जाता है। अथवा स्वप्न में साक्षात् बाह्यपदार्थ के सद्भाव का ही निराकरण होने से आत्मख्याति अर्थात् विषयाकार से परिणत हुए अपने को ही ज्ञान ग्रहण कर लेता है— यह कहना संगत हो भी सकता है; किन्तु जाग्रत् में यह सभी संगत नहीं हो सकता। **न त्विह तथेति।** किन्तु जाग्रत् प्रत्यय में कोई अन्य बाधक नहीं है। आपके द्वारा प्रदर्शित अनुमान तो बाधक हो ही नहीं सकता; क्योंकि वह स्वयं ही बाधित हो चुका है। अर्थात् 'स्तम्भादिप्रत्ययाः मिथ्याभूताः प्रत्ययत्वात्' यह अनुमान प्रत्यक्ष से बाधित है। इस कारण निरालम्बनत्व का अनुमान नहीं कर सकते। प्रस्तुत प्रसंग में जाग्रत् प्रत्यय का आपके अनुमान के अतिरिक्त अन्य कोई बाधक नहीं है किन्तु अनुमान प्रत्यक्ष का बाध कभी भी नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त उक्त अनुमान में अनेक दोषों का प्रदर्शन वार्त्तिक में किया गया है।

वार्त्तिककार भट्टपाद ने पक्षादि दोषों द्वारा उक्त अनुमान का सर्वथा निराकरण किया है। यहाँ पर 'सहस्र' शब्द अनेक संख्या का वाचक है। निरालम्बनवादी के अनुमान में प्रत्यय को पक्ष बनाया है। प्रत्ययसामान्य को पक्ष बनाने पर सिद्धसाधनता दोष होगा और दृष्टान्त की भी असिद्धि होगी। अत एव जाग्रत् विशेषण दिया गया है। तथा बाह्याऽनालम्बनत्व साध्य है और प्रत्ययत्व हेतु है। यहाँ पर मीमांसक की दृष्टि से प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त—इन तीन अवयवों का उल्लेख किया गया है। इसमें विपक्ष के नहीं होने से व्यतिरेक का उल्लेख नहीं किया है। वार्त्तिककार ने अपने वार्त्तिक में इस प्रकार उक्त अनुमान को दूषित किया है—

प्रत्यक्षादेश्च विषयो बाह्य एवावतिष्ठते।
तन्निषेधकृतस्तस्य तैर्भवेत् पक्षवाधनम्।।
वक्तृश्रोत्रोश्च यज्ज्ञानं विशेषण-विशेष्ययोः।
तन्निरालम्बनत्वेन स्व-वाग्बाधो द्वयेरपि।।
निरालम्बनता नाम न किञ्चिद्वस्तु गम्यते।
तेन तद् व्यतिरेकादौ प्रश्नो नैवोपपद्यते।।

यहाँ जो प्रत्यय शब्द है, उसका विशेषण है—निरालम्बनत्व। यहाँ जो विशेष्य और विशेषण है, उनका ज्ञान निरालम्बन है? अथवा सालम्बन? प्रथम प्रकार में पक्ष नहीं बन सकता। अतः अनुमान प्रयोग में पक्ष का अभाव होगा और सालंबनत्व पक्ष में विशेषण के अप्रसिद्ध रहने से अप्रसिद्धत्व दोष होगा।

द्वितीय प्रकार में व्यभिचार दोष होगा। इसलिये प्रत्यय का निरालम्बनत्व सिद्ध नहीं हो सकता। किञ्च—प्रत्यय में जो निरालम्बनत्व है, वह पक्ष से भिन्न है या अभिन्न है? द्वितीय पक्ष में विशेषणत्व सम्भव नहीं है और प्रथम पक्ष में भेदग्राहि ज्ञान के अप्रमाण रहने से भेद की सिद्धि नहीं होगी। अत्यन्त असत् की कल्पना नहीं की जाती। अन्यत्र प्रसिद्धि का अन्यत्र निषेध हुआ करता है। अतः बौद्धों का निरालम्बनत्व आकाशपुष्प के तुल्य अलीक (मिथ्या) है। इसका अनुमान नहीं किया जा सकता; क्योंकि अर्थक्रियाकारी को ही आप वस्तु मानते हैं। यदि इसमें अर्थक्रियाकारित्व है, तो यह भी सत् कहलायेगा।

इस प्रकार प्रतिज्ञादोष, साध्यदोष, हेतुदोष, दृष्टान्तदोष आदि अनेक दोष 'अग्राह्यत्वाच्च भेदेन' इत्यादि वार्त्तिक से ग्रन्थकार ने प्रदर्शित किया है।

(योगाचारसौत्रान्तिकयोः कलहः)

एवमनुमाने प्रत्यक्षविरोधेन निराकृते प्रत्यक्षस्य बहिःप्रवृत्तौ सामर्थ्यं नास्ति इत्येवं पूर्वोक्ताक्षेपेण शून्यस्तु इत्यादिना स एव शून्यवादी पुनः प्रत्यवतिष्ठते। तदिहैवं चिन्त्यते—यदिदं नीलमिदं पीतमिदमिति नीलाद्याकारं वस्तु प्रथते, तत् किं विज्ञानमेव तथा प्रथते? किंवा बाह्यं वस्तु इति। तदर्थमिदं विचार्यते—किं विज्ञानं प्रत्यक्षम्, उत अनुमेयमिति? प्रत्यक्षत्वे सति निराकारस्य प्रत्यक्षग्रहणायोगात्, साकारस्य चैकस्यैव ग्रहणात् गृह्यमाण आकारो ज्ञान एवाऽवतिष्ठत इत्यार्थस्याऽगृह्यमाणत्वादसत्त्वमेव भवति। अनुमेयत्वे तु बाह्यार्थं विनाऽनुमानाऽसम्भवाद्बाह्यार्थसिद्धिः। तत्र—

ज्ञानमेवैवमाकारमात्मना प्रथते कुतः? ।
नाऽप्रत्यक्षस्य तस्याऽस्ति प्रमाणान्तरतो गतिः ।।८।।
संवेद्यत्वाच्च नीलादेर्ज्ञानाकारत्वनिश्चयः ।
अर्थान्तरस्य च ग्राह्यलक्षणं न हि युज्यते ।।९।।

यो हि विज्ञानमप्रत्यक्षमिच्छति, तस्य ज्ञानमेव न सिध्येत्, प्रमाणान्तराऽसम्भवात्। अनुमानमिति चेत्? न, लिङ्गाऽभावात्। न तावदर्थो लिङ्गम्, विनाऽपि तेन सुषुप्त्याद्यवस्थायामर्थसद्भावाऽभ्युपगमात्। अर्थव्यवहारो लिङ्गम्—स हि कादाचित्कं कारणं कल्पयतीति चेत्? एवं तु प्राग् व्यवहाराज्ज्ञानप्रतिभासो न स्यात्। अव्यवहरन्नपि घटं पश्यन् जानेऽहं घटम् इति ज्ञानमनुसन्धत्ते इति प्रतीतिसाक्षिकम्। अर्थधर्मो ज्ञानजन्मा लिङ्गमिति चेत्? न, तत्सद्भावे प्रमाणाभावात्। अतीतानागतयोश्चार्थयोर्धर्मासम्भवादतीताद्यनुमाने ज्ञानसिद्धिर्न स्यात्। तस्मादवश्यं विज्ञानं

प्रत्यक्षमेषितव्यम्। एवञ्च तस्यैवाऽयमाकार इति निष्प्रमाणकोऽर्थः।

एवमनुमाने प्रत्यक्षविरोधेनेति । उपर्युक्त रीति से प्रत्यक्ष के साथ विरोध होने के कारण स्तम्भादिप्रत्यया: मिथ्याभूता:—इस उक्त अनुमान का निराकरण किये जाने पर भी बाह्य पदार्थ का ग्रहण करने में प्रत्यक्ष का सामर्थ्य (शक्ति) नहीं है। इस ज्ञान के आत्मांशपर्यवसायित्व में जो हेतु दिया गया था, उसी का आश्रय कर वही बाह्यार्थशून्य-वादी योगाचार बौद्ध पूर्वोक्त आक्षेप के द्वारा ही 'शून्यस्तु' इत्यादि भाष्य से वही शून्यवादी बौद्ध योगाचार (निरालम्बनवादी) पुन: पूर्वपक्ष कर रहा है।

भाष्यकार के द्वारा प्रदर्शित 'शून्यस्तु' इस भाष्य में विशेष्य को निर्दिष्ट नहीं किया है। अत: निरालम्बन से प्रत्यय का अनुषङ्ग किया गया है। तब अर्थ यह होता है कि प्रत्ययशून्य ही है अर्थात् नील-पीतादि बाह्यपदार्थ है ही नहीं; क्योंकि यह घट है, यह नील है—इत्यादि वाक्यों से एक ही आकार की प्रतीति होती है, दो आकारों की प्रतीति नहीं होती।

पूर्वपक्षी ज्ञान को प्रत्यक्ष मानता है। उसी कारण गृह्यमाण नील-पीतादि आकार ज्ञानरूप ही है। उक्त दोनों वाक्यों का पृथक् (भिन्न-भिन्न) अर्थ नहीं है। किन्तु मीमांसकों का सिद्धान्त है कि ज्ञान अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं है। उसी कारण उसका आकार से ज्ञान होना कदापि सम्भव नहीं है। नीलादि बाह्य पदार्थ अपने ही आकार से प्रतीत होता है। इसी वास्तविकता को स्वीकार करते हुए ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र उन्हीं के विचारों को बतला रहे हैं—**तदिहैवं चिन्त्यते इति यदिदं नीलम्, इदं पीतम् इति नीलाद्याकारं वस्तु प्रथते इति।** अर्थात् जो यह नील है, यह पीत है—ऐसे नील-पीतादि के आकार में जो वस्तु प्रकाशित होती है, उसमें ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है? अथवा वस्तु का प्रत्यक्ष होता है? **तदर्थमिदं विचार्यते इति।** उक्त प्रश्न के विचारार्थ यह भी विचार करना होगा कि विज्ञान (ज्ञान) प्रत्यक्ष है, या अनुमेय है? प्रत्यक्षत्वे सतीति इति। अर्थात् यदि निराकार ज्ञान का प्रत्यक्ष स्वीकारते हैं; किन्तु निराकार का ग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं हो सकेगा। नील-पीतादि के आकार में परिणत हुए ज्ञान का प्रत्यक्ष से ग्रहण तो होता है, जैसे—नीलोऽयम् और स्वरूप से भी उसका प्रत्यक्ष होता है। जैसे घटविषयकज्ञान-वान् अहम्—इस प्रत्यक्षज्ञान में ज्ञान ही विषय है। इसलिये ज्ञान को साकार ही कहना चाहिये। साकार मानने पर भी नीलमिदम् आदि में एक ही आकार का ग्रहण होता है, दोनों आकारों का ग्रहण नहीं। जिससे एक आकार को बाह्य माना जाय। किञ्च ज्ञान का प्रत्यक्ष होने से उसे अवश्य साकार ही कहना चाहिये। गृह्यमाण आकार ही विषय के रूप से परिणत हुए ज्ञान में ही रहता है। अत: वह आकार ज्ञान का ही है, न कि बाह्य का तथा च बाह्यार्थ का ग्रहण नहीं है। तब अगृह्यमाण होने से बाह्य का सत्त्व (अस्तित्व) नहीं है। यदि बाह्य पदार्थ का सत्त्व (अस्तित्त्व) होता तो कदाचित् ज्ञान से उसका ग्रहण भी हुआ होता, किन्तु उसका ग्रहण नहीं होता और न ही ग्रहण किया जा सकता है;

क्योंकि ज्ञान तो आन्तर (भीतर) रहता है। अतः उसका बाह्य (बाहरी) पदार्थ से सम्बन्ध होना कभी सम्भव ही नहीं है। अतः बाह्य पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं है। तथा च— ज्ञान की बाह्य प्रवृत्ति में शक्ति (सामर्थ्य) न होने से उसका स्वात्मांशपर्यवसायित्व सिद्ध हो जाता है। बौद्धों ने कहा भी है—

नाऽन्योनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नाऽनुभवोऽपरः ।
ग्राह्य-ग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ।।
सहोपलम्भनियमादभेदो नील-तद्धियोः ।। इत्यादि।

किन्तु ज्ञान के अनुमेयत्वपक्ष में किसी लिङ्ग (हेतु) को स्वीकार करना होगा और लिङ्ग-लिङ्गिभाव (हेतु-हेतुमद्भाव) भेदव्याप्य होने से, अनुमेयज्ञान की अपेक्षया भिन्न किसी लिङ्ग (हेतु) से ही होगा। अतः स्पष्ट है कि ज्ञान के अतिरिक्त (भिन्न) बाह्य पदार्थ भी अवश्य है।

दूसरी बात यह है कि उत्पद्यमान ही ज्ञान अनुमेय होता है और ज्ञान सविषयक ही उत्पन्न होता है। तब विषय के विना ज्ञान सविषयक कैसे कहलायेगा? इस प्रकार ज्ञान को अनुमेय तो मानना ही होगा, तब सर्वथैव बाह्य-पदार्थ का अस्तित्त्व स्वीकार करना ही होगा। उक्त अभिप्राय को ही ग्रन्थकार पार्थ-सारथिमिश्र ने 'अनुमेयत्त्वे तु बाह्यार्थं विना अनुमानाऽसम्भवात् बाह्यार्थ सिद्धिः' ग्रन्थ से कहा है।

इस प्रकार पूर्वोत्तरपक्षों को संक्षेप से बताकर उसे ही सविस्तार बताने के लिये प्रथमतः पूर्वपक्ष को दो पद्यों के द्वारा संगृहीत करते हैं—

ज्ञानमेवैवमाकारमात्मना प्रथते कुतः?
नाऽप्रत्यक्षस्य तस्यास्ति प्रमाणायन्तरतोगतिः।।

अर्थात् एवमाकारम् = नीलादि-आकार से परिणत हुआ ज्ञान ही आत्मना = ज्ञान से प्रथते = भासित होता है। क्यों भासित होता है? यह प्रश्न करने पर उत्तर दे रहे हैं— **नाऽप्रत्यक्षस्येति** । अर्थात् यदि ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं माना जाय तो तस्य गतिः = ज्ञान की गति प्रमाणान्तरतः = अनुमानादि से भी नहीं हो सकेगा; क्योंकि प्रत्यक्ष होने वाले वह्नि के साथ धूम का सम्बन्ध ज्ञात होने पर ही धूम से वह्नि का अनुमान हुआ करता है। सर्वदा अप्रत्यक्ष रहनेवाले ज्ञान के साथ किसका सम्बन्ध गृहीत्त होगा? जिससे ज्ञान का अनुमान हो सके? अतः ज्ञान को प्रत्यक्ष ही मानना होगा। उसे अनुमेय कहना उचित नहीं है।

अब बाह्यपदार्थ का निराकरण कर रहे हैं। **संवेद्यत्वाच्चेति**। नील-पीतादि ज्ञान के ही आकार अर्थात् परिणाम है—यह रहस्य अनुमान प्रमाण से भी अवगत होता है। जैसे—नीलादिः ज्ञानस्यैव आकारः सम्वेद्यत्वात्, सम्प्रतिपन्नशुक्तिरजतवत् । एवञ्च नीलादि कपदार्थ आन्तरज्ञान के ही आकार = परिणाम है—यह निश्चित होता है। अथवा इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि नीलादिकं सम्वेद्यं = ज्ञान-विषयो भवति अर्थात् नीलादि

पदार्थों को जाना जाता है, इस कारण उन्हें ज्ञान विषय कहते हैं; क्योंकि बाह्य पदार्थ (वस्तु) मानने पर उसे ज्ञान का विषय नहीं कहा जा सकेगा। इससे भी स्पष्ट होता है कि नीलादि ज्ञान के ही आकार हैं।

अर्थान्तरस्य चेति। क्योंकि अर्थान्तरस्य = बाह्यस्य पदार्थस्य च ग्राह्यलक्षणं = ग्राह्यत्वं नैव युज्यते अर्थात् बाह्य पदार्थ को ग्राह्य कहना उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। अभिप्राय यह है कि ग्राह्यत्व– ज्ञानप्रयुक्त होता है। इसलिये बाह्य के साथ ज्ञान का सम्बन्ध होना सम्भव ही नहीं है; क्योंकि ज्ञान तो आन्तर (भीतर) रहता है। शास्त्रदीपिकोक्त दो पद्यों का अर्थ जो संक्षेप से बतलाया गया है, उसी की सविस्तार व्याख्या स्वयं ग्रन्थकार ही कर रहे हैं—**यो हि विज्ञानमप्रत्यक्षमिच्छतीति।** विज्ञानवादी बौद्ध का कहना है कि जो मीमांसक विज्ञान (ज्ञान) को अनुमेय कहता है, उस मीमांसक के मत में विज्ञान = ज्ञानसाधक किसी प्रमाण की उपलब्धि नहीं हो पाने से विज्ञान की सत्ता ही (विज्ञान = ज्ञान का अस्तित्व ही) सिद्ध नहीं हो पायेगी; क्योंकि विज्ञानसाधक प्रमाणान्तर भी विज्ञान ही है, उसकी सत्ता भी प्रमाणान्तर से ही सिद्ध होगी। उस प्रमाणान्तर की सत्ता भी प्रमाणान्तर से ही सम्भव है। इस प्रकार अनवस्था का ही प्रसङ्ग (विश्राम का अभाव ही) प्राप्त होगा। इस प्रकार की अनवस्था को देखकर किसी ज्ञान की स्वयं प्रत्यक्षता को स्वीकार कर लें तो प्रथमज्ञान की ही प्रत्यक्षता को स्वीकार कर लेने में कौन सी हानि है? अर्थात् प्रथम ज्ञान की ही प्रत्यक्षता मानना उचित है।

शंका—ज्ञानसाधक अनुमानरूप प्रमाणान्तर से ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध करेंगे?

समाधान—न इति। अनुमान प्रमाण से ज्ञान का अस्तित्व नहीं सिद्ध कर पायेंगे; क्योंकि लिङ्ग = हेतु का अभाव है। अर्थात् अनुमापक हेतु के रहने पर ही अनुमान हुआ करता है; किन्तु यहाँ तो ज्ञानाऽनुमापक किसी हेतु के होने की सम्भावना ही नहीं है।

शङ्का—बाह्य पदार्थ को ही ज्ञानानुमापक लिङ्ग = हेतु मान लीजिये।

समाधान—न तावदर्थो लिङ्गम् इति । अर्थात् लिङ्ग (हेतु) तो उसी को कहते हैं, जो साध्य के विना कभी अकेला रहता ही नहीं। अन्यथा अर्थात् हेतु = लिङ्ग में व्यभिचारिता (अनियमितता) आ जाने से अनुमापकत्व ही नहीं हो पायेगा।

शङ्का—ज्ञान का अनुमापक लिङ्ग (हेतु) बाह्य पदार्थ को मान लीजिये?

समाधान—बाह्यपदार्थ को ज्ञान का अनुमापक लिङ्ग नहीं माना जा सकता; क्योंकि साध्य का अविनाभावी (निश्चित रूप से रहनेवाला) हेतु हुआ करता है। अर्थात् साध्य के विना हेतु नहीं रह सकता। इसलिये व्यभिचार दोष है; किन्तु आप जैसे मीमांसकों ने बाह्य पदार्थ को ज्ञान के विना भी सुषुप्ति अवस्था में स्वीकार किया है। अर्थ को तो आप मान रहे हैं; किन्तु अर्थ के व्यभिचारी होने से ज्ञान का अनुमान नहीं किया जा सकता। अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान तो नहीं रहता, तथापि बाह्य पदार्थ तो रहता ही है। इस

प्रकार बाह्यपदार्थ ज्ञानव्यभिचारी होने से उसे ज्ञानानुमापक नहीं कह सकते।

बाह्य पदार्थ को ज्ञान का अनुमापक लिङ्ग नहीं कह सकते; क्योंकि हेतु साध्य का अविनाभावी हुआ करता है। अर्थात् विना साध्य के हेतु नहीं रह सकता। इसलिये व्यभिचार है। बाह्यार्थवादी मीमांसकों ने ज्ञान के विना भी सुषुप्ति अवस्था में उसे माना है। अर्थ को तो आप मानते हैं, किन्तु व्यभिचारी अर्थ से ज्ञान का अनुमान नहीं किया जा सकता।

शङ्का—अर्थ भले ही अनुमापक न हो, किन्तु अर्थव्यवहार को तो हेतु कह सकते हैं। जैसे— घटव्यवहार घटज्ञान के विना नहीं हो सकता; क्योंकि अर्थव्यवहार तो कार्यरूप है, वह कभी-कभी (कदाचित्) होता है। वह कादाचित्कारण की ही कल्पना कराता है। इसलिये अर्थव्यवहार से ज्ञान का अनुमान किया जा सकता है।

समाधान—इस प्रकार अर्थव्यवहार से ही ज्ञान का अनुमान किये जाने पर अर्थव्यवहार के पूर्व, ज्ञान की प्रतीति नहीं हो पायेगी; क्योंकि व्यवहार नहीं करते हुए भी घट को देखकर मैं घट को जानता हूँ (अहं घटं जानामि)—ऐसा अनुसंधान किया जाता है। यह प्रतीतिसाक्षिक अर्थात् इसमें अनुभव ही साक्षी है। इस कारण ज्ञान को प्रत्यक्ष ही मानना चाहिये। उसे अर्थव्यवहार से अनुमेय कहना उचित नही है।

शङ्का—अर्थधर्मो ज्ञानजन्मा लिङ्गम् इति चेत्? अर्थ (बाह्य पदार्थ) के धर्म को ही ज्ञान का अनुमापक हेतु यदि कहें, तब ज्ञान होने पर घट आदि पदार्थ (विषय) में एक अतिशय उत्पन्न होता है, जो ज्ञानजन्य होता है और वह अर्थ (पदार्थ) में रहता है, उसी से ज्ञान का अनुमान होता है। पदार्थ में उत्पद्यमान जो ज्ञानजन्य अतिशय है, वह प्रत्यक्ष हैं। ज्ञानजन्य जो अर्थधर्म (पदार्थ धर्म) है, इसी को ज्ञातता कहते हैं और वही लिङ्ग है। ज्ञान का विषय के साथ विषय–विषयिभाव सम्बन्ध जोड़ता है। ज्ञानजन्य फल (ज्ञातता) के आधार को विषय कहते हैं और विषयनिष्ठ फल (ज्ञातता) के जनक (ज्ञान) को विषयी कहते हैं। ज्ञातो घटः—यह अनुभव सिद्ध है। इस प्रकार विषय में होनेवाली जो ज्ञान जन्यज्ञातता है, वही ज्ञान का अनुमान कराने में लिङ्ग (हेतु) मानी जाती है। यहाँ पर अनुमान को अर्थापत्ति के रूप में समझना चाहिये। यह विचार कतिपय विद्वानों का है। इसे स्मृत्यधिकरण में वार्त्तिककार भट्टपाद ने कहा है।

समाधान— न, तत्सद्भावे प्रमाणाऽभावात् इति । अर्थात् उपर्युक्त कथन उचित नहीं है; क्योंकि उसके सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् ज्ञानजन्यज्ञातता–रूप धर्म के सद्भाव में (होने में) कोई प्रमाण नहीं है। अतः साधनाऽप्रसिद्धि ही दोष है। अन्य दोष भी है— **अतीताऽनागतयोरिति** । अर्थ (बाह्यपदार्थ) के रहने पर ही उस अर्थ के धर्म की भी सम्भावना हो सकती है। उस कारण अतीत-अनागत (भूतकालिक और भविष्यत्कालिक) कालिक अर्थों (बाह्यार्थों) का अभाव रहने से उनके ज्ञाततरूप धर्म की भी सम्भावना नहीं की जा सकेगी। तब अतीताद्यनुमाने = अतीत और अनागत अर्थ-

विषयक अनुमान स्थल में ज्ञानज्ञापक जो ज्ञाततारूप धर्म है, उसके अभाव के कारण ज्ञान की सिद्धि ही नहीं हो सकेगी। अर्थात् अतीतादि अर्थविषयक ज्ञानविषयक अनुमान होगा ही नही; क्योंकि अनुमापक हेतुभूत ज्ञातता का ही अभाव है। अभिप्राय यह है कि अर्थधर्म वर्तमान स्थल में सम्भव है; क्योंकि वहाँ विषय भी रहता है और जहाँ अतीत विषय का अथवा अनागत विषय का ज्ञान होता है, वहाँ अर्थ के नहीं रहने से ज्ञातता‌रूप धर्म के असम्भव होने से अतीतादि अनुमान में ज्ञान की सिद्धि नहीं होगी। इसलिये ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना चाहिये। ज्ञान के प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर जो नीलादि आकार है, वह ज्ञान का ही है। अर्थात् आन्तर ज्ञान ही बाह्य नीलादि के आकार में भासता है, यह स्वीकार करना ही होगा। दृष्टो मया घट:, द्रक्ष्यामि घटम् आदि अतीतादि अर्थविषयक ज्ञान भी होता है। इसलिये ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना आवश्यक है। इस प्रकार ज्ञान की प्रत्यक्षता सिद्ध हो जाने पर यह नील-पीत आदि आकार ज्ञान के ही है। अर्थात् ज्ञान ही बाह्याकार से भासित होता है, यह स्वीकार करना होगा। इसलिये बाह्य पदार्थ है ही नहीं, वह स्वीकार्य ही नही है; क्योंकि उसके होने में कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार बाह्यपदार्थ को निष्प्रमाणक ही मानना होगा।

किञ्च वेद्यत्वादपि नीलादेर्ज्ञानाकारत्वम्, न ह्यनात्मनो नीलस्य पीतवद् वेद्यता सम्भवति। यदि चार्थान्तरं नीलं ततोऽस्य किं लक्षणं वेद्यत्वम्? यद्यर्थत्वलक्षणं स्यात्, सर्वं सर्वस्य वेद्यं स्याद् व्यवस्थाहेत्वभावात्। अथ हेतुत्वं व्यवस्थापकम्— य एवार्थो ज्ञानस्य हेतुः स एव वेद्यो नान्य इति चेत्? न, नेत्रादेरपि वेद्यत्वप्रसङ्गात्। सादृश्यं हेतुत्वं च विषयत्वं नीलार्थश्च नीलज्ञानेन सदृशो न नेत्रमिति चेत्? एवमपि समनन्तरप्रत्ययस्य हेतुत्वाद् विज्ञानत्वेन च सादृश्याद्विषयत्वं स्यात्।

उक्त अभिप्राय का उपपादन प्रकारान्तर से भी कर रहे हैं—**किंच वेद्यत्वादपि नीलादेरिति।** अर्थात् नील-पीतादि विषय वेद्य (ज्ञेय) होने से ही उनमें ज्ञानाकारता स्पष्ट है; क्योंकि **यद् यत् वेद्यं, तत् तज्ज्ञानाकारमेव** यह व्याप्ति है। जैसे—शुक्ति रजत आदि वेद्य होने से उनकी ज्ञानाकारता उभयवादि सम्मत है। अर्थात् यह स्वीकार नहीं करने पर नील आदि विषयों में पीत आदि के समान वेद्यता नहीं हो पायेगी। अभिप्राय यह है कि नील यदि ज्ञानाकार नहीं हो तो ज्ञानाकार पीत के समान नील में वेद्यता नहीं कही जा सकेगी। इसी कारण नील आदि की ज्ञानाकारता नीलादि के वेद्य होने से सिद्ध होती है।

शङ्का—यदि चाऽर्थान्तरं नीलमिति । यदि नील अर्थान्तर है, तो उसकी वेद्यता का स्वरूप क्या है? जो वेद्य होता है, वह ज्ञानाकार ही हो—ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है, जिससे नील के वेद्य हो जाने से नील को ज्ञानाकार कहा जाय। यदि नील को अर्थान्तर (ज्ञान से भिन्न) माना जाय, तब नील के वेद्यत्व का स्वरूप क्या होगा?

वेद्यत्व में अर्थत्वस्वरूपता रहने पर भी एक व्यवस्थापक हेतु भी होना चाहिये, जिससे सभी सभी के वेद्य नहीं हो सकें। तब ग्रन्थकार कहते हैं कि ज्ञाननिरूपित हेतुत्व ही व्यवस्थापक है।

समाधान—अर्थ ही वेद्य है—यदि कहें तो वेद्यता का नियामक (व्यवस्थापक) किसी हेतु (कारण) के नहीं होने के कारण सभी वस्तुएँ, सभी की वेद्य होने लगेंगी; क्योंकि तुम्हारे मत के अनुसार सर्वत्र ही बाह्य अर्थ विद्यमान है। अमुक पदार्थ ही अमुक ज्ञान का वेद्य है, अमुक नहीं है—इस व्यवस्था में कोई हेतु नहीं है। निष्कर्ष यह है कि वेद्यत्वापादक अर्थत्व की विद्यमानता सभी में रहने से सभी वस्तुएँ सभी ज्ञान की वेद्य कहलायेंगी।

शङ्का—यदि यह कहें कि जो अर्थ (वस्तु) नीलादिज्ञान का उत्पादक (हेतु) है; वही उस ज्ञान का वेद्य कहलायेगा उससे भिन्न, कोई दूसरा वेद्य नहीं कहलायेगा। निष्कर्ष यह निकला कि ज्ञान-निरूपित हेतुता ही वेद्यत्व की व्यवस्थापिका है। अत: नीलज्ञान के प्रति नील ही कारण (हेतु) होने से (नील ही) वेद्य कहा जाता है, उससे भिन्न कोई अन्य नहीं।

समाधान—उक्त कथन समुचित नहीं है; क्योंकि रूपादि के ज्ञान में चक्षु (नेत्र) भी तो कारण होते हैं, इसलिये उन्हें (चक्षुओं को) भी वेद्य कहना होगा; किन्तु यह सम्भव नहीं है; क्योंकि इन्द्रियों की अतिसूक्ष्मता के कारण वे प्रत्यक्ष के विषय नहीं हो सकते।

शङ्का—सादृश्यं हेतुत्वं च विषयत्वमिति । हमारा कथन केवल इतना ही नहीं है, कि जो ज्ञान का हेतु हो, वह वेद्य कहा जाय। जिससे उक्त दोष दिया जा सकता है; किन्तु जो ज्ञान के सदृश होता हुआ हेतु भी हो, वही उस ज्ञान का वेद्य कहलायेगा, उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं। सादृश्यं हेतुत्वं च विषयत्वं नीलार्थश्च नीलज्ञानेन सदृशो न नेत्रमिति चेत्? अर्थात् सादृश्य और हेतुत्ब—ये दोनों ही विषयत्व वेद्यत्व में कारण हैं। अर्थात् उक्त दोनों ही विषय=वेद्यता के प्रति कारण हैं। तथा च—नेत्र और नील दोनों ही नील ज्ञान के प्रति समान (एक से) कारण रहने पर भी नील ज्ञान के सदृश नील पदार्थ ही होता है, न कि नेत्र भी, जिससे नेत्र को भी नीलज्ञान का विषय कहा जा सके? अर्थात् नीलज्ञान का विषय नेत्र नहीं है। इसलिये वेद्यत्व (वेद्यता) के प्रयोजक (कारण) सादृश्य और कारणता दोनों ही को मान लिया जाय। नेत्र और नील दोनों को नील-ज्ञान के प्रति हेतु (कारण) मानने पर भी सादृश्य (सदृशत्व) ही नीलज्ञानविषयता का प्रयोजक होगा।

समाधान—एवमपि समनन्तरप्रत्ययस्य हेतुत्वादिति । एवं अर्थात् सदृशत्वे सति हेतुत्वस्यैव वेद्यत्वसम्पादकत्वे सति सविकल्पज्ञानं प्रति समनन्तरप्रत्ययस्य = पूर्व जातस्य निर्विकल्पकज्ञानस्य हेतुत्वात्, ज्ञानत्वेन सदृशत्वाच्च समनन्तरप्रत्ययस्य सविकल्पकज्ञानविषयत्वं स्यात् ।

किन्तु यह अभीष्ट नहीं है; क्योकि सविल्पकज्ञान के प्रति विशिष्ट अर्थ ही विषय

हुआ करता है। अर्थात् वेद्यत्व को प्रयोजक (कारण) मानने पर समनन्तर प्रत्यय भी वेद्य माना जायेगा। निष्कर्ष यह है कि निर्विकल्पकज्ञान प्रथमतः हुआ करता है, उसी को समनन्तर प्रत्यय कहते हैं। वही सविकल्पकज्ञान का कारण कहलाता है। निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों में ज्ञानत्व समान रूप से है। अर्थात् ज्ञानत्व रूप सादृश्य (समानधर्म) है। उसी कारण निर्विकल्पक ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान का विषय कहना पड़ेगा; किन्तु यह कहना अभीष्ट नहीं है; क्योंकि सविकल्पकज्ञान विशिष्ट अर्थ को अपना विषय बनाता है; निर्विकल्पकज्ञान को अपना विषय नहीं बनाता।

शङ्का—हमारे कहने का आशय यह नहीं है कि ज्ञान का जो हेतु हो, वही ज्ञान का वेद्य कहलाता है। इतना ही यदि हमने कहा होता तो आपको दोष देना उचित होता, किन्तु हम तो यह कह रहे हैं कि जो ज्ञान के सदृश होता हुआ हेतु भी हो, वही उस ज्ञान का वेद्य हुआ करता है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं। सादृश्य और हेतुत्व दोनों ही विषय हैं, अर्थात् वेद्य हैं। अतः दोनों ही वेद्य होने में कारण हैं। नेत्र और नील दोनों ही नील ज्ञान के प्रति समान रूप से कारण रहने पर भी नील ही नीलज्ञान के सदृश रहता है, न कि नेत्र भी। जिससे नेत्र को भी नीलज्ञान का विषय कहा जाय; किन्तु जो ज्ञान के सदृश होता हुआ हेतु भी हो, वही उस ज्ञान का वेद्य होगा; अन्य नहीं। अर्थात् सादृश्य और हेतुत्व— दोनों ही विषय = वेद्य कहलाते हैं, दोनों ही वेद्यत्व में कारण है। यद्यपि नेत्र और नील-दोनों ही नील ज्ञान के प्रति समान रूप से हेतु है, तथापि नील ही नीलज्ञान के सदृश है, नेत्र नहीं, जिससे नेत्र को भी नीलज्ञान का विषय कहा जा सके। हेतु होकर सादृश्य रहने से ही नीलज्ञान की विषयता बनने में उसे कारण कहा जाता है।

उपर्युक्त आशङ्का का निराकरण एवमपि समनन्तर प्रत्ययस्य हेतुत्वात् विज्ञानत्वेन च सादृश्याद् विषयत्वं स्यात् । अर्थात् सादृश्य होते हुए हेतुता रहने पर ही वेद्यता सम्पन्न होती है। अतएव सविकल्पकज्ञान के प्रति समनन्तर प्रत्यय हेतु होने के कारण और ज्ञानत्वेन सदृश होने के कारण समनन्तर प्रत्यय में सविकल्पक ज्ञान की विषयता बन सकेगी; किन्तु यह इष्ट नहीं है; क्योंकि सविकल्पक ज्ञान के प्रति विशिष्ट पदार्थ ही विषय होता है; निर्विकलपक ज्ञान नहीं।

शङ्का—वेद्यता के प्रयोजक (कारण) में असाधारण को विषय का विशेषण बनाया जाय। असाधारण विषय के आकार से सादृश्य और कारणत्व दोनों विवक्षित हैं। ज्ञानत्व तो सभी ज्ञानों में रहनेवाला साधारण धर्म है और नीलादि आकार किसी-किसी का असाधारणधर्म है। असाधारण विषय नीलादि आकार से सादृश्य को विषय कहते हैं, तब क्या दोष है?

अथाऽसाधारणेन विषयाकारेण सादृश्यं विषयलक्षणम्—ज्ञानत्वं हि सर्वज्ञानसाधारणं नीलाद्याकारस्तु केषाञ्चिदेवाऽसाधारणस्तेन तदाकारेण सादृश्यं विषयत्वम्। एवमपि धारावाहिकेषु पूर्वमुत्तरस्य विषयः स्यात्—

उभयोर्नीलरूपत्वाद्धेतुत्वाच्च। स्यान्मतम्—न सादृश्यं विषयत्वं किन्तु यो ज्ञाने नीलाद्याकारविशेषसमर्थको हेतुः स विषयः, समनन्तरप्रत्ययस्तु न नीलाद्याकाराणां समर्पकः? तथा सति नीलज्ञानानन्तरं सर्वदैव नीलविज्ञानं स्यात्। तत्रैकस्मिन् सन्ताने नीलपीतादिविचित्राकारोदयो न स्यात् कारणाऽवैलक्षण्ये कार्यवैलक्षण्यायोगात्। नीलपीतादिविचित्रार्थसन्निधिविशेषकृतश्चायं विचित्राकारोदय इत्यर्थस्यैव ग्राह्यत्वम्।

समाधान—अथाऽसाधारणेनेति । असाधारण रूप से सादृश्य ही विषयता का प्रयोजक है। यह स्वीकार करने पर यह नील है, यह नील है, यह नील है—इस धारावाहिक ज्ञान में पूर्वज्ञान उत्तर ज्ञान का वेद्य = विषय होने लगेगा; क्योंकि दोनों नीलरूप हैं और कारण भी है। इसलिये स्पष्ट है कि ज्ञान ही विषयाकार से भासित होता है। इस कारण बाह्य अर्थ के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है।

शङ्का—बाह्यार्थ (बाह्य पदार्थ) को क्षणिक माननेवाला सौत्रान्तिक बौद्ध शङ्का कर रहा है कि सादृश्य को विषय के रूप में नहीं मान सकते, किन्तु ज्ञान में जो नीलादि आकार विशेष को अर्पित करता है तथा कारण भी हो, वही विषय कहलाता है। समनन्तर प्रत्यय तो उत्तरज्ञान में नील आदि आकार विशेषों का समर्पक नहीं है। यह मानने पर आपत्ति यह होगी कि एक बार नीलज्ञान होने पर सदा-सर्वदा के लिये नीलज्ञान ही होता रहेगा। वहाँ एक ज्ञान सन्तान (ज्ञान धारा) में नील-पीत आदि भिन्न-विभिन्न आकारों का उदय भी नहीं हो सकेगा; क्योंकि कारण में वैलक्षण्य होने पर कार्य में विलक्षणता हुआ करती है। कारण में विलक्षणता के नहीं होने पर कार्य में वैलक्षण्य नही होता। नील-पीत आदि विचित्र पदार्थों की सन्निधि विशेष से यह ज्ञान भेद (विचित्र पदार्थों) का उदय हुआ करता है। अत: अर्थ (पदार्थ) ही ग्राह्य है।

अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति को प्रथमत: नीलमिदम् इत्याकारक नीलज्ञान हुआ है, वह समनन्तर होने से उत्तरज्ञान जो होगा, वह नीलज्ञान ही होगा। यह ज्ञान नीलज्ञान होने से इसके अर्थात् उत्तर ज्ञान भी नीलज्ञान ही होगा। इस प्रकार आमरण (मरणपर्यन्त) कभी भी पीतज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं होगी।

किञ्च—विद्यमान जो समनन्तर प्रत्यय, वह उत्तर ज्ञान के प्रति हेतु (कारण) नहीं बन सकता; क्योंकि एक ही क्षण (समय) में ज्ञानद्वय (दो ज्ञानों) का होना सम्भव नहीं है। इस कथन का अभिप्राय यह हुआ कि द्वितीयक्षणवृत्तिप्रध्वंसप्रतियोगित्वेन विनष्टस्यैव समनन्तरप्रत्ययस्य उत्तरज्ञानम्प्रति हेतुत्वं वक्तव्यम्। अर्थात् दूसरे क्षण में होने वाला जो प्रध्वंस, उसकी प्रतियोगिता विनष्ट समनन्तर प्रत्यय में ही रहेगी। अत: उसे ही उत्तर ज्ञान का हेतु (कारण) क्यों नहीं मानते? उसे ही कारण मानो। ऐसा मानने में हेतुभूत जो समनन्तरप्रत्यय है, उसका विनाश सदा-सर्वदा ही रहने से सर्वदैव नीलज्ञान

ही होता रहेगा, पीत आदि अन्य ज्ञान कभी होगा ही नहीं।

इसलिये समनन्तरप्रत्यय में आकारसमर्पकत्वरूप हेतुत्व नहीं है, जिससे समनन्तर-प्रत्यय मे उत्तरज्ञान की विषयता हो पायेगी, किन्तु बाह्य क्षणिक पदार्थ ही विषय होगा और वही ज्ञान नीलादि आकार का समर्पक होने पर हेतु कहलायेगा। एवञ्च नील-पीतादिविचित्रार्थसंनिधिविशेषकृतश्चायं विचित्राकारोदयः इति अर्थस्यैव ग्राह्यत्वम् अर्थात् ज्ञान में जो नील-पीतादि विचित्र आकार का उदय (उत्पत्ति) हुआ है, वह नील-पीतादि विचित्र पदार्थ संयोगविशेष के कारण ही है। अतः नील-पीतादि विचित्र जो क्षणिक बाह्य पदार्थ हैं, उसी को ग्राह्य = वेद्य समझना चाहिये; क्योंकि नील आदि पदार्थों के नहीं रहने पर उनका संयोग = इन्द्रियार्थ संयोग नहीं हो पायेगा। उस संयोग के नहीं हो पाने पर ज्ञान वैचित्र्य नहीं हो पायेगा। ग्रंथकार ने नील-पीतादिविचित्रार्थसंनिधिः कहा है, अतः उसका = संनिधि का अर्थ होगा—ज्ञान और अर्थ (बाह्य पदार्थ) का अथवा इन्द्रिय और अर्थ (बाह्य पदार्थ) का संयोग समझना चाहिये।

(पुनर्योगाचारशङ्का)

ननु कार्यभूतज्ञानसमये कारणभूतस्यार्थस्य क्षणिकत्वेनातीतत्वात् कथं प्रत्यक्षग्राह्यत्वम्? एतदेवार्थस्य ग्राह्यत्वं यज्ज्ञानाकारार्पणक्षमहेतुत्वम्। यथाहुः— भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेत्? ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव तद्युक्तं ज्ञानाकारार्पणक्षमम् ।। इति।

शङ्का—ननु कार्यभूतज्ञानसमये इति। ज्ञानरूप कार्य के प्रति तुम्हारे मत के अनुसार क्षणिक पदार्थ ही कारण है, तब ज्ञान से प्रथम उत्पन्न हुआ पदार्थ क्षणिक होने से बाह्य पदार्थ पहिले ही विनष्ट हो चुका है। अतः कार्यभूत ज्ञान के समय उसकी स्थिति का होना सम्भव ही नहीं है, तब वह ग्राह्य कैसे हो सकेगा? यह योगाचार बौद्ध का प्रश्न है।

उक्त प्रश्न का उत्तर सौत्रान्तिक दे रहा है—**एतदेवाऽर्थस्य ग्राह्यत्वमिति।** अर्थात् ज्ञान के समय स्थिति होना—यह ग्राह्यत्व का लक्षण नहीं है। ज्ञानकाले स्थितिमत्त्वं ग्राह्यत्वम् यह लक्षण यदि होता तो आप दोष दे सकते थे; किन्तु हमारा ग्राह्यत्वलक्षण तो यह है कि यज्ज्ञानाकारार्थणक्षमहेतुत्वम् अर्थात् जो पदार्थ ज्ञान में अपना आकार अर्पण करने में कारण (हेतु) बन सके, उसी को ग्राह्य शब्द से कहा जाता है। स्वाकारार्पण-क्षमत्व तो क्षणिक पदार्थ का भी हो सकता है। जैसे—चपला (विद्युत्) स्वाकार अर्पण करने में क्षम होती है। उपर्युक्त कथन में प्रमाण बताते हैं—

भिन्न कालं कथं ग्राह्यमिति चेद्? ग्राह्यतां विदुः ।
हेतुत्वमेव तद्युक्तं ज्ञानाकारार्पणक्षमम् ॥

अर्थात् ज्ञानकाल में जो सत् (विद्यमान) पदार्थ होता है, उसी का ज्ञान से ग्रहण होता है, न कि अतीत-अनागत (भूत-भविष्यत्कालिक) कालिक पदार्थ का। अन्यथा कल्पान्तरीय

पदार्थ का भी प्रत्यक्ष हो सकेगा, किन्तु अतीत (भूतकालिक) पदार्थ का भी ज्ञान होता है। अतः भासमान (भासित होने वाला) जो आकार है, उसे ज्ञान का ही समझना चाहिये। अतः बाह्य पदार्थ कोई नहीं है—यह बौद्ध का कहना है।

इस पर उत्तर दे रहे हैं—इति चेत् अर्थात् इति चेत् न। उक्त कथन उचित नहीं है; क्योंकि हेतुत्वमेव ग्राह्यतां विदुः– अर्थात् ज्ञानोत्पादक होने से विषय में जो ज्ञानहेतुत्व है, वही तो उसका ग्राह्यत्व है। हेतुत्व का स्वरूप बताते हैं—तद् युक्तं ज्ञानाकारार्पणक्षमम् इति। अर्थात् तद् = हेतुत्वं च ज्ञानाकारार्पणक्षमम्– इति युक्तम्। भिन्नकाल में गृहीत होनेवाले विषय की वेद्यता कैसे हो पायेगी? उत्तर यह होगा कि स्वाकार को ज्ञान में अर्पण करने में समर्थ होता हुआ जो कारण भी होता है, उसी को ग्राह्य कहते हैं। अतः यही उचित प्रतीत होता है। तब तो अतीव एवं अनागत में भी स्वाकारार्पणक्षमत्वेन अर्थात् स्वाकार का अर्पण करने में समर्थ होने के कारण हेतुत्व का होना भी सम्भव हो सकता है। किंवा ज्ञानाकाराऽर्पणक्षमहेतुत्व को ही ग्राह्य समझना चाहिये।

उपर्युक्त पद्य 'भिन्नकालं कथं ग्राह्यम्' पूर्वपक्ष है और उसके आगे उत्तरपक्ष है।

यद्येवम्? कस्यायमाकारो यो वर्तमानः प्रथते? यदि ज्ञानस्यैव तर्हि अर्थस्या-प्रथमानस्य सद्भावे ज्ञानं प्रति हेतुत्वे च किं प्रमाणम्?

शङ्का—यद्येवमिति। यदि यह कहें कि अतीतकालिक क्षणिक बाह्य पदार्थ के ज्ञान में स्वाकारार्पण क्षमत्व है, तो नीलमिदम् इत्यादि ज्ञान में जो वर्तमान काल से सम्बन्धित नीलाकार प्रकाशित हो रहा है, वह आकार किसका है? वह अर्थ (बाह्य पदार्थ) का तो हो नही सकता; क्योंकि बाह्य पदार्थ के नष्ट हो जाने से उसका आकार भी नष्ट हो चुका है, उसी कारण वर्तमान कालसम्बन्धितया उसका प्रकाशित होना कदापि सम्भव नहीं है। यह योगाचार बौद्ध की शङ्का है।

यद्येवम्? कस्यायमिति । ज्ञान में प्रकाशित होनेवाला आकार ज्ञान का ही है, जैसे—घटनिष्ठ आकार घट का ही कहलाता है। यदि ज्ञान में प्रकाशित होनेवाला आकार ज्ञान का ही है, तो ज्ञान में बाह्य पदार्थ का आकार प्रकाशित नहीं है, यह कहना होगा। बाह्य पदार्थ का प्रकाशन भीतरी (आन्तर) ज्ञान में होना अत्यन्त असम्भव है, उसी कारण बाह्य पदार्थ के सद्भाव (विद्यमानता) में क्या प्रमाण है? और ज्ञान के प्रति असत् = अविद्यमान पदार्थ को हेतु (कारण) मानने में भी क्या प्रमाण है? अर्थात् कोई प्रमाण नहीं है।

ज्ञानवैचित्र्यमेव, न हि तत्समनन्तरप्रत्ययमात्रात् सम्भवतीत्युक्तम् । एवं तर्ह्यनुमेयोऽर्थः कथं प्रत्यक्षग्राह्य इति उच्यते। एतदेव हि प्रत्यक्ष-ग्राह्यत्वमर्थस्य यत् साक्षादाकारसमर्पणेन हेतुत्वम्, यस्तु परम्परया ज्ञानाकारसमर्पको हेतुश्च सोऽनुमेयः। तद् यथा—वह्निस्वलक्षणं

धूमस्वलक्षणतद्दर्शनतद्विकल्पप्रणाड्या वह्निज्ञानं जनयदनुमेयम् । अत एव प्रत्यक्षमनुमानं च द्वे एव प्रमाणे, ज्ञानार्थयोर्भिन्नत्वात्। असति तादात्म्ये तदुत्पत्तिनिबन्धन एव ज्ञानादर्थनिश्चयः। तत्र साक्षादुत्पत्तौ प्रत्यक्षं प्रणाड्या त्वनुमेयमिति द्वे एव विधे। अत एव विषयसादृश्यमेव प्रामाण्यं तदधीनत्वादर्थविशेषव्यवस्थापनस्य। न हि ज्ञानमित्येव नील-वेदनं भवति, पीतादावपि तुल्यत्वात् । नीलिम्ना तु नीलवेदनसिद्धिः। यथाऽऽहुः—न हि संवित्तिसत्तयैव तद्वेदना युक्ता, तस्याः सर्वत्रा-ऽविशेषादविशेषप्रसङ्गात् । तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयितुं घटयेत् इति। तस्मात् साकारे विज्ञाने सिद्धमर्थस्य सत्त्वं ग्राह्यत्वलक्षणं चेति सौत्रान्तिकाः।

सौत्रान्तिक बौद्ध अपने प्रतिद्वन्द्वी योगाचार बौद्ध को अर्थ = बाह्यार्थ के सद्भाव = अस्तित्व में तथा ज्ञान के प्रति उसे हेतु मानने में प्रमाण बतला रहा है—**ज्ञानवैचित्र्य-मिति।** ज्ञानवैचित्र्य ही है। अर्थात् बाह्यार्थ = बाह्यपदार्थ के सद्भाव (अस्तित्व) में और ज्ञान के प्रति कारण होने में अर्थात् इदं नीलं, इदं पीतम्—इत्याकारक ज्ञानवैचित्र्य ही प्रमाण है; क्योंकि यह समनन्तर प्रत्यय (निर्विकल्पक ज्ञान) से होना सम्भव नहीं है। यह पहले बता चुके हैं।

शङ्का—यदि आप ऐसा कहते हैं, तो अर्थ = बाह्य पदार्थ को अनुमेय मानना होगा, तब आप उसे प्रत्यक्ष से ग्राह्य कैसे कह रहे है?

समाधान—अर्थ = पदार्थ की यही प्रत्यक्षग्राह्यता है। साक्षात् आकार का अर्पण करते हुए हेतु होना और जो परम्परया ज्ञान में स्वाकार का अर्पण करता हुआ हेतु है, वह अनुमेय कहलाता है। इसी रहस्य को 'तद् यथा' कहकर उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं। जैसे धूम ज्ञान द्वारा ज्ञान में स्वाकार समर्पक होने से वह्नि की अनुमेयता होती है, जैसे—पर्वतो वह्निमान् धूमात् में समझी जाती है। वस्तुतस्तु सौत्रान्तिक बौद्ध के मत में बाह्यार्थ (बाह्य पदार्थ) के क्षणिक होने पर भी उसे अनुमेय ही माना जाता है। अभिप्राय यह है कि वह्निस्वलक्षणं (अर्थात् वह्निव्यक्ति वह्नि का स्वरूप) और धूम स्वलक्षणं (अर्थात् धूम व्यक्ति धूम का स्वरूप) तद्दर्शन अर्थात् उसका पर्वत पर दिखाई देना, तद्विकल्प उसका विकल्प अर्थात् धूम दिखाई देने के अनन्तर होनेवाला जो ज्ञान (अर्थात् वह्निव्याप्यो धूमः) धूम वह्नि से व्याप्य है और तद्वान् यह पर्वत है। अर्थात् वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः—इत्याकारक ज्ञान इस परम्परा से (इस = प्रणाली से) वह्नि-ज्ञान को उत्पन्न कराता हुआ वह्निव्यक्ति स्वलक्षण से अनुमेय कहा जाता है। यही कारण है कि बौद्धदार्शनिक प्रत्यक्ष और अनुमान—इन दो प्रमाणों को ही मानते हैं। ज्ञान और अर्थ—दोनों भिन्न-भिन्न हैं, उसी कारण यह प्रमाणभेद किया गया है। अतः ज्ञान और अर्थ

में भेद होने से उनमें तादात्म्य नहीं है। इस कारण तदुत्पत्तिः = ज्ञान से अर्थ का निश्चय करने में कार्य-कारणभाव ही निमित्त है। इसी कारण साक्षात् ज्ञानोत्पत्ति में प्रत्यक्ष को प्रमाण माना जाता है और परम्परा से होनेवाले ज्ञान में अनुमान को प्रमाण माना जाता है। ये दो ही प्रकार हैं। न एकं प्रत्यक्ष मात्रं प्रमाणम्। **असति तादात्म्ये इति।** ज्ञान और अर्थ (पदार्थ) में तादात्म्य नहीं होने पर अर्थात् ऐक्याभाव की सिद्धि होने पर तदुत्पत्ति-निबन्धन एव = ज्ञानोत्पत्तिकारणक एव = ज्ञान से ही अर्थ का निश्चय हुआ करता है; क्योंकि नीलविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी कारण नीलरूप बाह्यपदार्थ है यह मानना ही होगा। अन्यथा नीलज्ञान (इदं नीलम्) इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो पायेगा। जहाँ ज्ञानोत्पत्ति में अर्थ (बाह्य पदार्थ) साक्षात् कारण हो वहाँ प्रत्यक्षात्मक (प्रत्यक्ष) ज्ञान होता है और जहाँ पदार्थ परम्परया कारण होता है, वहाँ ज्ञान अनुमानात्मक होता है। अतः ज्ञान होने के ये दो ही प्रकार हैं। अभिप्राय यह है कि जहाँ विषय से साक्षात् ज्ञानोत्पत्ति होती है, वहाँ उस विषय का प्रत्यक्ष होता है और जहाँ परम्परया ज्ञानोत्पत्ति होती है, वहाँ वह विषय अनुमेय होता है। जैसे धूमपम्परा से वह्निज्ञानोत्पत्ति में वह्नि अनुमेय कहलाता है।

अत एव विषयसादृश्यमेव प्रामाण्यमिति। अत एव = जबकि अर्थ = विषय ही साक्षात् अथवा परम्परया ज्ञानोत्पादक है, उसी कारण ही ज्ञान में जो विषयसादृश्य है, वही उसका प्रामाण्य है, अन्यथा शुक्ति-रजत ज्ञान को भी प्रमाण कहना होगा; किन्तु शुक्ति-रजतज्ञान में प्रामाण्य क्यों नहीं माना जाता? न मानने का क्या कारण है? यह प्रश्न होने पर उत्तर यही दिया जायेगा कि विषयसादृश्य नहीं होने से शुक्ति-रजतज्ञान को प्रमाण नहीं माना जाता। विषयसादृश्य क्यों नहीं है? इसलिये नहीं है कि शुक्ति पदार्थ, चक्षुस्संयुक्त होने से विषय है, और ज्ञान रजत के आकार में हो रहा है। यही सादृश्याऽभाव है अर्थात् सादृश्य नहीं है। अतः मानना होगा कि ज्ञान का प्रामाण्य विषयसादृश्य ही है।

यदि अर्थ = विषय को ज्ञानोत्पादक नहीं माना जाय तो अर्थ = बाह्य पदार्थ का अभाव रहने पर उसके सादृश्य का होना भी असम्भव रहेगा, तब विषयसादृश्यरूप प्रामाण्य नहीं हो पायेगा। तथा च दोष और बाध ज्ञान का भी असम्भव रहने से शुक्ति-रजतादि ज्ञानों का अप्रामाण्य होगा ही नहीं; किन्तु यह इष्ट नहीं है। इस प्रकार विषयसादृश्यमेव प्रामाण्यं तदधीनत्वादर्थविशेषव्यवस्थापनस्येति अर्थात् विषयसादृश्य ही प्रमाण है, वही अर्थविशेष का व्यवस्थापक है। नहि ज्ञानमित्येव नीलवेदनं भवति इति– ज्ञान होने से ही नील का वेदन = ज्ञान नहीं होता। यदि प्रामाण्य का प्रयोजक विषयसादृश्य नहीं होता तो पीत आदि में भी ज्ञानत्व समान ही है, तब व्यवस्था कैसी बन पायेगी? नीलिम्ना तु नीलवेदनसिद्धिः अर्थात् नील से तो नीलज्ञान की सिद्धि होती है। ज्ञान का नीलत्व भी नीलविषयसादृश्य ही है। यही कारण है कि नीलसादृश्य से ही

नील ज्ञान की निष्पत्ति होती है, अतएव प्रामाण्य का स्वरूप विषयसादृश्य ही है। प्रामाण्य के विषयसादृश्य रूप होने में हेतु बता रहे हैं—**तदधीनत्वात् अर्थविशेष-व्यवस्थापनस्य इति।** तदधीनत्वात् का अर्थ है—विषयसादृश्याधीनत्वात्। विषय-सादृश्य के अधीन रहने से। यादृशमेव ज्ञानं भवति तादृश एव बहिर्विषयोऽस्तीत्यसति बाधके व्यवस्थाप्यते। अर्थात् जैसा भी ज्ञान हो, वैसा ही बाह्य विषय (बाह्य पदार्थ) रहता है, यदि कोई बाधक नहीं हो अत: यत्र ज्ञाने विषयसादृश्यं तस्यैव प्रामाण्यम्—इसके अनुसार जिस ज्ञान में विषयसादृश्य रहे, उसी ज्ञान में प्रामाण्य समझा जायेगा। इसलिये विषयसादृश्यमेव प्रामाण्यम्—यह कहना होगा। अथवा इस प्रकार से भी कहा जा सकता है कि बहिरर्थव्यवस्थापन ज्ञानप्रामाण्य के अधीन रहने से जैसा ज्ञान होगा, वैसा ही उसका विषय भी बाह्य रहेगा। इसलिये ज्ञानविषय की व्यवस्था ज्ञानाप्रामाण्य के अधीन रहने से यह कहना ही होगा कि ज्ञान प्रामाण्य के अभाव में उक्त व्यवस्था का होना भी सम्भव नहीं होगा। यदि विषयसादृश्यरूप प्रामाण्य नहीं हो तो ज्ञानप्रामाण्य में विषयव्यवस्थापकत्व भी नहीं रहेगा। अर्थात् विषयसादृश्य के अभाव में भी ज्ञानप्रामाण्य यदि माना जाय तो शुक्तिरजतज्ञान को भी प्रमाण कहना पड़ेगा; किन्तु यह भी इष्ट नहीं है। क्यों इष्ट नहीं है? यह प्रश्न करने पर कहना होगा कि शुक्तिरजतज्ञान में विषयसादृश्य का अभाव है। अत: विषयसादृश्य ही प्रामाण्य का स्वरूप है। तथा च शुक्ति-रजतज्ञान में इन्द्रिय-संयुक्तता होने से साक्षात् ज्ञानोत्पादकता है। उसी कारण विषयीभूत शुक्ति का सादृश्य नहीं होने के कारण उसमें प्रामाण्य उपपन्न नहीं हो रहा है।

किञ्च प्रामाण्य का बहिरर्थव्यवस्थापकत्व जो बताया गया है, उसमें प्रामाण्य की विषयसादृश्यरूपता के विना अन्य कारण क्या हो सकता है? यह विचारणीय है। विषयसादृश्यरूप प्रामाण्य ही अर्थविशेष का व्यवस्थापक होता है। न हि ज्ञानमित्येव नीलवेदनं भवति, पीतादावपि तुल्यत्वात्। नीलिम्ना तु नीलवेदनसिद्धि:। अर्थात् केवल ज्ञान होने मात्र से ही नील का वेदन (ज्ञान) नहीं होता। यदि प्रामाण्य का प्रयोजक विषयसादृश्य नहीं हो, तो पीत आदि में भी ज्ञानत्व समान होने के कारण व्यवस्था नहीं बन पायेगी। नील से तो नीलज्ञान की ही सिद्धि होती है। ज्ञान का नीलत्व भी नीलात्मक विषयसादृश्य ही है। यही कारण है कि नीलसादृश्य से ही नीलज्ञान की उत्पत्ति होती है। अत एव प्रामाण्य का स्वरूप विषयसादृश्य ही है। 'यथाहु:' कहकर उक्त अर्थ को प्रमाण के द्वारा पुष्ट कर रहे हैं। न हि संवित्तिसत्तयैव तद्वेदना युक्ता, तस्या: सर्वत्राऽविशेषादविशेषप्रसङ्गात्। तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयितुं घटयेत् इति। तस्मात् साकारे विज्ञाने सिद्धमर्थस्य सत्त्वं, ग्राह्यत्वलक्षणं चेति सौत्रान्तिका:। यदि विषय-सादृश्यरूप प्रामाण्य नहीं हो तो नीलसादृश्य के नहीं रहने पर भी केवल ज्ञान को नील में प्रमाण मानना होगा; किन्तु ऐसा अनुभव किसी को नहीं है। ज्ञानत्व तो पीत आदि ज्ञान में भी है। अत: नीलिम्ना = नीलत्वेन नीलज्ञान की ही सिद्धि होती है—यही कहना होगा कि ज्ञान का नीलत्व क्या होगा? नीलविषयसादृश्य ही होगा। तथा च नील-

सादृश्येनैव नीलज्ञानसिद्धिः– अर्थात् नीलसादृश्य से ही नीलज्ञान की सिद्धि होती है। उसी कारण विषयसादृश्यमेव ज्ञानस्य प्रामाण्यम् अर्थात् विषयसादृश्य ही ज्ञान का प्रामाण्य है। 'यथाऽऽहुः' कहकर उक्त अर्थ में प्रमाण बता रहे हैं—**नहि संवित्तिसत्तयैव तद्वेदना युक्तेति।** अर्थात् केवल ज्ञान होने मात्र से ही तद्वेदना = नील वेदना = नीलज्ञान नहीं होता है = इदं नीलाज्ञानम् यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि संवित्तिसत्ता = ज्ञान की सत्ता = अस्तित्व तो सर्वत्र पीतादि ज्ञानों में भी समानरूप से (अविशेषेण) है। अर्थात् ज्ञान की सत्ता होने मात्र से ही नीलसादृश्य के विना भी ज्ञान में नीलविषयता रहे तो ज्ञानसत्ता के समान रहने से ज्ञान जैसे नीलविषयक हो सकता है, वैसे ही घटविषयक, पटविषयक भी हो सकता है, उसी प्रकार पीतविषयक ज्ञान भी नीलविषयक हो सकेगा। तब इदं ज्ञानं नील विषयकम्, इदं ज्ञानं पीत विषयकम् इस प्रकार की कोई विशेषता ही नहीं रह सकेगी; क्योंकि ज्ञानत्व तो सर्वत्र समान = एक सा ही है। अतः ज्ञान की सत्तामात्र से ही नीलादि का ज्ञान युक्त नहीं है; किन्तु विषय अपने आकार से ज्ञान को साकार बना देता है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञानसदृश विषय, ज्ञान में स्वाकार का (अपने आकार का) अर्पण करता हुआ अर्थात् अपने आकार से उस ज्ञान को स्व-समानाकार बनाकर उसे निरूपण के योग्य (निरूपणीय) कर देता है। इस प्रकार जब विज्ञान साकार बन जाता है, तब बाह्यार्थ की सत्ता भी (अस्तित्व) सिद्ध हो जाती है। और वह बाह्यार्थ ही ग्राह्य = वेद्य कहलाता है। सौत्रान्तिक बौद्धों का यही कहना है। कल्पतरुकार ने इस वाक्य की व्याख्या, तद् बाह्यं वस्तु, स्वेन रूपेण सरूपां वित्तिं कुर्वद् घटयेत् = वित्त्या सह विषयभावेन (स्वरूपम्) योजयेदित्यर्थः की है।

(योगाचारेण सौत्रान्तिकखण्डनम्)

अत्र वदामः—स्यादिदं ग्राह्यलक्षणं, यद्यर्थस्याऽऽकारसमर्पकत्वे हेतुत्वे वा प्रमाणं स्यात्; न तु तदस्ति, समनन्तरप्रत्ययविशेषादेव विचित्राऽऽकारोदयसम्भवात्। तथाहि—त्वयाऽपि हि स्वप्नावस्थायामसत्यप्यर्थसंनिधौ ज्ञानवैचित्र्यदर्शनादवश्यं समनन्तरप्रत्ययकृतत्वमङ्गीकर्तव्यम्। एवञ्चेज्जाग्रत्प्रत्ययानामपि तथैवाऽस्तु किमर्थग्रहणेन। अतो न हेतुत्वं ग्राह्यलक्षणम्।

अब योगाचार नामक बौद्ध के द्वारा सौत्रान्तिक नामक बौद्ध के मत का खण्डन कर रहे हैं—**अत्र वदामः** इत्यदिग्रन्थ से। सौत्रान्तिकमत के खण्डनार्थ अब हमारा कहना यह है कि **स्यादिदमिति**। इदम् = स्वाकारसमर्पकत्व और हेतुत्व का होना—यह लक्षण ग्राह्य का तब हो सकेगा, जब ज्ञान में विषय का स्वाकारसमर्पकत्व अथवा ज्ञानोत्पत्ति के हेतुत्व = होने में कोई प्रमाण उपलब्ध होता हो, तब उसे ग्राह्यत्व अर्थात् वेद्यत्व का

लक्षण कहा जा सकता था; किन्तु वैसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

शङ्का—बाह्य पदार्थ का अभाव रहने पर ज्ञानवैचित्र्य = भिन्न-भिन्न ज्ञान नहीं होगा।

समाधान—समनन्तरप्रत्ययविशेषादेवेति। विचित्र = भिन्न-भिन्न ज्ञान की उत्पत्ति में समनन्तर प्रत्यय ही कारण होता है। उसी से नील-पीत आदि भिन्न-भिन्न ज्ञान (विचित्रज्ञान) उत्पन्न होते रहना सम्भव है। इसी आशय को 'तथाहि' से बतला रहे हैं। तुम्हें (सौत्रान्तिक को) भी स्वप्नदशा में बाह्य पदार्थ का सामीप्य (सन्निधान) नहीं रहने पर भी ज्ञानवैचित्र्य दिखाई देता है, उसी कारण यह ज्ञान- वैचित्र्य समनन्तरप्रत्यय = निर्विकल्पक ज्ञान से होता है—यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा। इसी तरह जाग्रत अवस्था के ज्ञानों का भी वैचित्र्य समनन्तर = प्रत्यय से ही होता है, तब अर्थ = बाह्य पदार्थ को मानने की क्या आवश्यकता है? अतो न हेतुत्वं ग्राह्यलक्षणम् क्योंकि बाह्य अर्थ = पदार्थ तो है ही नहीं। अत: वह हेतु हो ही नहीं सकता। इस कारण न हेतुत्वं ग्राह्यलक्षणम् हेतुत्व (हेतुता) अर्थात् कारणता को ग्राह्यत्व (वेद्यत्व) का लक्षण नहीं कहा जा सकता।

अथ ज्ञाननिबन्धनो यत्रोपादानादिव्यवहार: स विषय इत्युच्यते? तथा सति नीलज्ञानस्य नीलान्तर्गता: परमाणवो रसादयश्च विषयभावमश्नुवीरन्, उपादीयमानत्वात् ।

शङ्का—सौत्रान्तिक बौद्ध का कहना है कि जहाँ ज्ञानमूलक उपादानादि व्यवहार होता है, वहीं विषय = वेद्य होता है। जैसे—रजत का ज्ञान होने पर रजतविषयक उपादानव्यवहार होता है, उसी कारण रजत को विषय कहते हैं।

समाधान—तथा सतीति। यदि उपादानादिव्यवहार गोचरत्वमेव विषयत्वम् = यदि ज्ञान होने पर उपादानादि (ग्रहण आदि) व्यवहार का गोचर होना ही विषय कहलाता है, तब यह रजत है—ऐसा ज्ञान होने पर रजत ग्रहणरूप व्यवहार हुआ करता है, इसिलये रजत को ही विषय माना जाता है तो नीलद्रव्य के साथ उसके परमाणुओं का और उसके रस आदि का उपादान (ग्रहण) होता ही है। उसी कारण उन्हें भी नीलज्ञान का विषय मानना होगा।

अथ द्रव्यस्यैवोपादानं न गुणानां रसादीनाम्? एवं तर्हि रूपस्यापि विषयत्वं न स्यात्। किञ्च—सुखार्थ: सर्वो व्यवहार:, अतोऽनुभूते सुखे न कश्चित् सुखविषयो व्यवहारोऽस्ति। न च सम्भवति, यत: सुखप्रतिबद्धव्यवहारानुगुण्यं तद्वित्ते: स्यात्, तथा घ्राणगृहीते गन्धे न कश्चिदुपादानादिव्यवहारोऽस्तीति कथं तस्य विषयत्वम् ?

शङ्का—द्रव्य का ही उपादान (ग्रहण) हुआ करता है, रसादिगुणों का नहीं। जिससे

वे भी नीलज्ञान के विषय कहलायें। द्रव्यसमवेत पदार्थों की द्रव्य के साथ स्वयमेव प्राप्ति हो जाती है।

समाधान—एवं तर्हि रूपस्यापीति। यदि यह कहते हैं कि द्रव्य का ही ग्रहण होता है। रसादिगुणों का ग्रहण नहीं होता, तो इदं रूपम् = यह रूप है, इत्याकारक रूप भी ज्ञान का विषय नहीं बन पायेगा; किन्तु रूप पुरस्कारेणैव चाक्षुषज्ञान (प्रत्यक्ष-ज्ञान) का होना सम्भव होने से रूप में भी चाक्षुषज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) की विषयता होना आवश्यक हो है, अन्यथा रूप का ज्ञान नहीं होने पर रूपिज्ञान होगा ही नहीं।

किञ्च—सभी व्यवहार सुखप्राप्ति के लिये किये जाते हैं। सुख का अनुभव हो जाने पर सुखविषयक कोई व्यवहार नहीं किया जाता। सुख आन्तर होता है, उसका उपादानादि व्यवहार सम्भव नहीं है। जब जलपानादि करने से सुख अनुभूत हुआ, तदनन्तर पुनः तदर्थ कोई व्यवहार भी नहीं किया जाता। उसी कारण जलविषयक उपादानादि व्यवहार नहीं होने से जलज्ञान रहने पर भी वह जल जलज्ञान का विषय नहीं हो सकेगा। यही अभिप्राय ग्रन्थकार के द्वारा प्रकट किया जा रहा है— न च सम्भवति यतः सुखप्रति-बद्धव्यवहारानुगुण्यं तद्वित्तेः स्यात्, तथा घ्राणगृहीते गन्धे न कश्चिदुपादानादिव्यवहारोऽ-स्तीति कथं तस्य विषयत्वम् इति। अर्थात् सुखानुभव कर चुकने पर उक्त व्यवहार की सम्भावना भी नहीं रहती, जिससे कि सुखप्रतिबद्धव्यूवहारानुगुण्य उस सुखज्ञान में हो सके। 'सुखप्रतिबद्धव्यवहारानुगुण्यं तद्वित्तेः स्यात्' इस ग्रन्थपङ्क्ति का अर्थ इस प्रकार लगाना चाहिये— सुखप्रतिबद्धः = सुखप्रयोज्यः = सुख की प्राप्ति के निमित्त, जल आदि का उपादान आदि व्यवहार; तदानुगुण्यम् = उस व्यवहार का आनुकूल्य = तद्व्य-वहारप्रयोजकत्व, तद्वित्तेः = जलादिज्ञान में हो सके।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि जहाँ जलादि का उपादानादि व्यवहार होता है, वहाँ जलादि ज्ञान तो उपादानादिव्यवहार का प्रयोजक होता ही है; क्योंकि जलादिज्ञान के होने पर ही उसके उपादान आदि व्यवहार का सम्भव होना रहता है। यदि सुख का अनुभव कर चुकने पर भी जलादिज्ञान में सुख-प्रतिबद्ध व्यवहार (ग्रहणादि) की प्रयोज-कता हो, तो तादृश प्रयोजक के होने से अथवा तत्प्रयुक्त होने से व्यवहार भी हो सकता है। तथा च उपादानादि व्यवहार का विषय होने से जल आदि में जलादि ज्ञानविषयता हो भी सकती है, किन्तु यह सम्भव नहीं है। तथा च सुखानुभव हो चुकने पर जलादि ज्ञान में सुखप्रतिबद्धव्यवहार प्रयोजकत्वाभावेन उपादानादि व्यवहाराभावात् जलादीनां तत्र जलादिज्ञान विषयत्वं न स्यात्, इसलिये अव्याप्ति हो रही है। तथा घ्राणगृहीते गन्धे इति; किन्तु घ्राणगृहीत गन्ध में, कथमपि उपादानादि व्यवहार का होना सम्भव ही नहीं है। इस कारण उसकी विषयता (गन्ध में विषयता) कैसे हो पायेगी? तब उसे (सुख) विषय नहीं कहा जा सकेगा। यह भी सम्भव नहीं कि सुख-सम्बद्धव्यवहार का उत्पादक वह ज्ञान भी हो सके। **तथा घ्राणगृहीते गन्धे इति।** उसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय से आघ्रात = ग्रहण

किये गये गन्ध में कोई ग्रहणादि व्यवहार नहीं किया जाता, तब गन्ध में विषयता कैसे हो पायेगी?

ननु नोपादानमेव व्यवहारः, शब्दप्रयोगस्याऽपि व्यवहारत्वात्, अतो नीलज्ञाननिबन्धनशब्दप्रयोगगोचरत्वान्नीलिम्नो विषयत्वम्, एवं सुखादेरपि। एवमप्युपादानस्यापि व्यवहारत्वात् तद्विषयभूतानां परमाणूनां विषयत्वापत्तिस्तदवस्थैव।

शङ्का—उपादान ही (ग्रहण करना मात्र ही) एकमात्र व्यवहार नहीं है। भक्षण-पान-आघ्राण-दर्शन आदि भी व्यवहार ही कहे जाते हैं। इस कारण जहाँ उपादान (ग्रहण) का सम्भव नहीं है, वहाँ अन्य कोई व्यवहार सम्भव होगा। शब्दप्रयोग का व्यवहार तो सर्वत्र ही सम्भव हो सकता है। अतः गन्ध आदि में अनुभूत सुख में भी शोभनोऽयं गन्धः, सुन्दरं नीलम्, पारमार्थिकं सुखम्—इत्यादि शब्द प्रयोग लक्षण व्यवहार किया जाता है। इसीलिये उनमें भी विषयत्व है। **अतो नीलज्ञाननिबन्धनेति**। अर्थात् नीलज्ञान्-हेतुक जो शब्दप्रयोग, उसका विषय होने से नीलिमा में विषयत्व उपपन्न होता है। इसी प्रकार सुखादिकों में भी समझना चाहिये।

समाधान—एवमप्युपादानस्येति। उपादान भी व्यवहार ही है। उसी कारण द्रव्योपादानव्यवहार के विषय परमाणु भी होंगे, तब द्रव्यज्ञानविषयता उनमें भी होगी। अतः अतिव्याप्ति हो रही है। अर्थात् परमाणुओं में भी विषयता रहेगी। अतः परमाणु भी विषय कहलायेंगे। सुखादि भी पारमार्थिकं सुखम् इस प्रकार का शब्दप्रयोगरूप व्यवहार विषय होने से वे भी विषय कहलायेंगे।

किञ्च न शब्दप्रयोगवशेन ज्ञानस्य विषयनिरूपणं शक्यं विपरीतत्वात्। अर्थसम्बद्धशब्दप्रयोगे हि लक्षणं न शब्दमात्रप्रयोगः, प्रत्याय्यप्रत्यायकत्वमेव हि शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽतो यदर्थविषयं ज्ञानं यः शब्दो जनयति स एव वाच्यः। अतो ज्ञानविषयनिरूपणपूर्वकं शब्दविषयनिरूपणं, तदधीने तु तस्मिन् दुरुत्तरमितरेतराश्रयमापद्येत।

ज्ञानजन्यातिशयभाक्त्वमेव ग्राह्यत्वमिति चेत्? नासावुपलभ्यते, न च सम्भवति भूतभविष्यतोरित्युक्तम्। अथ यत्संप्रयुक्तेन्द्रियजं ज्ञानं यद्व्याप्तलिङ्गजं वा स विषय इति मतम्? ततो नेत्रजन्यस्य नीलज्ञानस्य स्पर्शो विषयः स्यात्, अस्ति च स्पर्शस्यापि रूपस्येव संयुक्तसमवायलक्षणः सम्बन्धो नेत्रेण। तथा गन्धलिङ्गस्य रसानुमानस्य रूपमपि विषयः स्यात्, रूपेणापि रसेनेव तस्य व्याप्तत्वात्। तस्माज्ज्ञानात्मकत्वमेव नीलादेर्विषयलक्षणमिति सिद्धं तादात्म्यम्।

किञ्चेति। अन्य दोषों को भी बतला रहे हैं। केवल शब्दप्रयोग के द्वारा ही ज्ञान का विपरीत विषयनिरूपण करना सम्भव नहीं है; क्योंकि शब्दप्रयोग अर्थ से सम्बद्ध रहता है। विषय के स्वरूप का प्रतिपादक जो शब्दप्रयोग है, वही विषय का लक्षण है। शब्दमात्र का प्रयोग नहीं; क्योंकि शब्द प्रत्यायक होता है और अर्थ प्रत्याय्य होता है। इसलिये प्रत्याय्यप्रत्यायकभावसम्बन्ध ही शब्दार्थ का सम्बन्ध है। ज्ञान जिस अर्थ को अपना विषय करता है, शब्द उस ज्ञान का जनक होता है।

इसलिये वही अर्थ उस शब्द का वाच्य होता है। अत: ज्ञान के विषय का निरूपण करने के कारण शब्द के विषय का निरूपण हो जाता है और शब्द के विषय का निरूपण करने से ज्ञान के विषय का निरूपण हो जाता है। इस रीति से अन्योन्याश्रय दुरुत्तर = अनिवार्य होगा।

शङ्का—अब प्रकारान्तर से ज्ञान के विषय का निरूपण कर रहे हैं। जहाँ ज्ञान से उत्पद्यमान अतिशय होता है, वही ग्राह्य (वेद्य) कहलाता है। जैसे—घटज्ञान होने पर घट में कोई अतिशय होता है, वह घटज्ञान काल में घट में नहीं होता है। इस आशय को लेकर यह शङ्का की जा रही है कि ज्ञानजन्याऽतिशयभाक्त्वमेव ग्राह्यत्वम् इति चेत्? ज्ञान से जिस अर्थ (पदार्थ) में अतिशय होता है, वही ग्राह्य = विषय होता है। अर्थात् ज्ञान से जन्य अतिशय को प्राप्त करने वाला विषय कहलाता है- ज्ञानजन्यफलाधारत्वं विषयत्वम्। इसलिये पूर्वोक्त दोष नहीं है—ऐसा यदि कहें तो क्या हानि है?

समाधान—नाऽसौ उपलभ्यते। न च सम्भवति भूत-भविष्यतोरित्युक्तम्। अर्थात् यह ज्ञानजन्य अतिशय उपलब्ध नहीं होता और कथित विषयता वर्तमान स्थल में होती है, अतीत तथा अनागत में नहीं होती—इसे पूर्व कह चुके हैं। ज्ञानकाल में भूत तथा भविष्यत् का ही अभाव रहता है, इसलिये ज्ञानजन्य अतिशय कहाँ हो सकेगा?

शङ्का—अथ यत्सम्प्रयुक्तेन्द्रियजं ज्ञानं यद्व्याप्तिलङ्गजं वा स विषय इति मतम्? अर्थात् जिस पदार्थ के साथ इन्द्रिय का संयोग-सम्बन्ध होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है, जो प्रत्यक्ष कहलाता है, उसे विषय कहते हैं। जैसे घट के साथ नेत्रेन्द्रिय संयोग होने पर घटज्ञान उत्पन्न होता है, उस कारण घटज्ञान का घट विषय होता है। तथा यद्व्याप्तिलिङ्गजं वा स विषय इति मतम् = व्याप्तिविशिष्ट लिङ्ग से (हेतु से) लिङ्गी = साध्य का जो ज्ञान होता है, वही उस ज्ञान का विषय होता है। ऐसा क्यों माना जाय?

समाधान—उक्त कथन के अनुसार 'ततो नेत्रजन्यस्य नीलज्ञानस्य स्पर्शो विषय: स्यात्। अस्ति च स्पर्शस्याऽपि रूपस्यैव संयुक्तसमवायलक्षण: सम्बन्धो नेत्रेण। तथा गन्धलिङ्गस्य रसानुमानस्य रूपमपि विषय: स्यात्, रूपेणाऽपि रसेनेव तस्य व्याप्तत्वात्। तस्माज्ज्ञानात्मकत्वमेव नीलादेर्विषयलक्षणमिति सिद्धं तादात्म्यम्'। नेत्र के साथ रूप का संयुक्त समवाय लक्षण सम्बन्ध है, उसी तरह स्पर्श का भी है, इसलिये नेत्रजन्य नीलज्ञान का स्पर्श भी विषय होने लगेगा। अत: अतिव्याप्ति होगी। इस प्रकार

प्रत्यक्ष में दोष प्रदर्शित करके अब अनुमान में दोष प्रदर्शन कर रहे हैं—यद्व्याप्तलिङ्गजं वा स विषयः। जहाँ गन्ध से रस का अनुमान किया जाता है, वहाँ जैसे गन्ध रसव्याप्य है तथा वह रूपव्याप्य भी होता है, इसलिये गन्धलिङ्गक रसानुमान का विषय रूप भी हो सकता है; क्योंकि रस भी रूपव्याप्य गन्धजन्य है अर्थात् रस के समान रूप की व्याप्ति है। आम्र के मधुर गन्ध से माधुर्यानुमान के समान ही रक्त-पीत रूपानुमान भी सम्भव है ही। इसलिये उक्त लक्षणों में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों के रहने से विषयता का अनुगत लक्षण कोई बन नहीं रहा है। अतः ज्ञानात्मकमेव नीलादेर्विषयलक्षणम् = विषयत्वम्। अर्थात् नील आदि पदार्थों में जो विषयत्व है, वह ज्ञानात्मक अर्थात् ज्ञानाकारत्व ही है—यही मानना उचित है। इसलिये ज्ञान और विषय दोनों का तादात्म्य = ऐक्य अथवा विषय का ज्ञान से तादात्म्य सिद्ध हो रहा है—यह मत योगाचार बौद्ध का है।

सहोपलम्भनियमोऽपि ज्ञानार्थयोरनियमव्याप्तं भेदं व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या प्रतिषेधन् अभेदमुपस्थापयति, भिन्नानां घटपटादीनामनियतसहोपलम्भत्वात्। न चाऽसिद्धो वेद्योपलम्भसमये वित्तेरुपलम्भ इति वाच्यम्, उत्तरकालं सहैव ज्ञानेन विषयस्मरणदर्शनात् ज्ञातो घटः इति। न चाऽननुभूतस्य स्मरणं सम्भवति, तस्मादुत्पत्तिवेलायामेव ज्ञानस्य प्रकाशनमङ्गीकर्तव्यम्। न च निराकारस्योपलब्धिरस्तीति सिद्धं ज्ञानात्मकत्वं नीलादेः। अवश्यं च स्वप्नादिबोधे वन्ध्यासुतो याति, अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमित्यादौ चाऽत्यन्ताऽसम्भवाद् बाह्यस्य ज्ञानात्मकत्वमेवाऽऽकाराणामभ्युपगन्तव्यम् तथाऽन्यत्राऽप्यस्तु, तस्मान्न बाह्यमस्ति इति प्राप्ते।

योगाचार बौद्ध ज्ञान और अर्थ दोनों के अभेद का ही उपपादन कर रहा है—**सहोपलम्भनियम इति।** ज्ञान और उसके विषय की उपलब्धि कालभेद से (भिन्न-भिन्न काल में) नहीं हुआ करती, किन्तु ज्ञानकाल में ही उसका विषय भी उपलब्ध होता है। इसलिये ज्ञान और अर्थ दोनों का सहोपलम्भनियम है। अर्थात् ज्ञान और अर्थ दोनों के भेद का निषेध करते हुए योगाचार बौद्ध कह रहा है कि सहोपलम्भनियम भी अभेद का उपस्थापन करता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जब ज्ञान होता है, तब अर्थ उपलब्ध होता है और जब अर्थोपलब्धि होती है, तब ज्ञान होता है। अतः ज्ञान और उसका विषय दोनों की उपलब्धि भिन्न-भिन्न काल में नहीं होती, किन्तु ज्ञानकाल में ही अर्थ (विषय) की उपलब्धि होती है। इस कारण ज्ञान और अर्थ का सहोपलम्भ नियमसिद्ध है। वह व्यापकविरुद्धापलब्धि से भेद का निषेध करते हुए अभेद को स्थापित करता है। जहाँ-जहाँ भेद है, वहाँ-वहाँ सहोपलम्भ का अनियम है। इसलिये भेद अनियमव्याप्त है। उस भेद का व्यापक है—सहोपलम्भनियमाभाव। उसके विरुद्ध है—सहोपलम्भनियमा-

भावाभाव अर्थात् सहोपलम्भ, उसकी उपलब्धि से व्याप्य भेद का निराकरण होता है। अर्थात् ज्ञान और अर्थ दोनों का अभेद प्राप्त होता है। अत एव भिन्न-भिन्न घट-पट आदि का नियमत: सहोपलम्भ नहीं होता; किन्तु ज्ञान और अर्थ का तो नियम से सहोपलम्भ होता है, इस कारण ज्ञान और अर्थ का तादात्म्य ही होना चाहिये। सहोपलम्भनियम से भी ज्ञान और अर्थ का तादात्म्य सिद्ध होता है। जैसे–ह्रदो वह्निमान् धूमात्–यहाँ पर व्यापकविरुद्ध जल की उपलब्धि होने से वह्नि का बाध हो जाता है, उससे धूमाभाव भी हो जाता है, उसी तरह यहाँ का व्यापकविरुद्ध की उपलब्धि से सहोपलम्भ के अनियम का बाध हो जोने से ज्ञान और अर्थ का भेदाऽभाव = अभेद प्राप्त होता है। घट-पटादि जो भिन्न पदार्थ है, उनका नियमत: सहोपलम्भ नहीं होता। इस कारण विपक्ष में बाधक बता रहे हैं—भिन्नानां घट-पटादीनामनियतसहोपलम्भत्वात्; किन्तु ज्ञान और पदार्थ (अर्थ) दोनों का नियमत: सहोपलम्भ होता है। उस कारण ज्ञान और अर्थ (पदार्थ) दोनों का ऐक्य ही प्राप्त है। उक्त अनुमान में हेतु असिद्ध है; क्योंकि विषय की उपलब्धि के समय में ज्ञान का उपलम्भ नहीं होता—यह नहीं कह सकते। उत्तरवर्ती काल में ज्ञान के साथ ज्ञातो घट: = घट ज्ञात हुआ—इस तरह विषय के स्मरण (समृति) का अनुभव होता है; क्योंकि जो अनुभूत न हो, उसका स्मरण नहीं होता। इसलिये उत्पत्तिकाल में ही ज्ञान का प्रकाशन अवश्य स्वीकारना ही चाहिये। अनियतसहोपलम्भत्वात्—अनियत: सहोपलम्भो येषांते अनियतसहोपलम्भा: तेषां भाव: तत्त्वं, तस्मात् ।

शङ्का—प्रथमत: अयं घट:- इत्याकारक घटज्ञान होता है, तदनन्तर ज्ञातो घट:, किंवा घटज्ञान वानहम्- ऐसा घटज्ञान का ज्ञान होता है। इस कारण विषयज्ञान के समय वित्ति = ज्ञान का ज्ञान होना सम्भव नहीं है, इस कारण सहोपलम्भ- हेतु असिद्ध है अर्थात् पक्ष में न होने के कारण वह साध्य का साधक नहीं है। इस आशय को ग्रंथकार ने कहा है—न च असिद्धो वेद्योपलम्भसमये वित्तेरुपलम्भ: इति वाच्यम्। उक्त हेतु को असिद्ध नहीं कह सकते, उत्तरवर्ती ज्ञान के साथ घट ज्ञात हुआ—इत्याकारक विषय-स्मरण का अनुभव होता है; क्योंकि अननुभूत का स्मरण नहीं हुआ करता; किन्तु ज्ञान और विषय दोनों का एकदैव स्मरण होता है ज्ञातो घट: के रूप में। उस कारण अयं घट: कहने पर ज्ञान और घट दोनों का ही अनुभव होता है—यह स्वीकार करना ही होगा। तथा च ज्ञान और अर्थ दोनों का सहोपलम्भ प्राप्त है, इसलिये उक्त हेतु (सहोपलम्भात्) को असिद्ध नहीं कह सकते। अत: उत्पत्ति वेला में = विषयप्रकाश समय में ही ज्ञान का प्रकाशन होता है—यह स्वीकार करना ही होगा।

शङ्का– न च निराकारस्योपलब्धिरस्तीति सिद्धं ज्ञानात्मकत्वं नीलादे: अर्थात् निराकार की उपलब्धि होना कभी सम्भव ही नहीं है; किन्तु ज्ञान की उपलब्धि होने से उसे (ज्ञान को) साकार मानना ही होगा। ज्ञान को साकार मान लेने पर प्रकाशमान जो घटाद्याकार है, वह ज्ञान का ही है, उस कारण विषय ज्ञानाकार ही है इस कारण विषय

(अर्थ) ज्ञानाकार ही (ज्ञान के आकार (रूप) में ही) भासता है, बाह्यपदार्थ तो है ही नहीं। एवञ्च नीलादि पदार्थ, ज्ञानात्मक (ज्ञानरूप) ही हैं, यह सिद्ध हो जाता है। **अवश्यं च स्वप्नादिबोधे इति।** उक्त कथन में दृष्टान्त देते हैं कि स्वप्नज्ञान में बाह्यार्थ के विना भी विषय का प्रकाश होता है। और बन्ध्यासुतो याति, अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतम् इत्यादि स्थलों में भी बाह्यार्थ के नितान्त असम्भव बाह्य आकारों की ज्ञानात्मकता अवश्य माननी ही चाहिये। अत: अन्यत्र जाग्रत् प्रत्यय में भी बाह्यार्थ ज्ञानात्मक ही है। बाह्यवस्तु नहीं। 'इति प्राप्ते' योगाचार बौद्ध के द्वारा इस प्रकार कहने पर—

(योगाचारमतखण्डनम्)

अभिधीयते—

नीलादिवित्तेरात्मांशग्राहित्वं केन गृह्यते?।
नात्मना नान्यसंवित्त्या साऽपि ह्यात्मावसायिनी।।
अज्ञानस्थिरचित्रत्वबाह्यत्वादेरनात्मनः ।
असतो वा सतो वाऽपि कथं विज्ञान वेद्यता?।।

विज्ञानवादी हि सर्वमेव विज्ञानमात्मानमेव गृह्णाति, नाऽन्यत्, आत्मनैव च गृह्यते नाऽन्येन, तस्याऽप्यन्यस्य स्वात्मपर्यवसायित्वादिति वदति। यथोक्तम्—

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्याऽस्ति तस्या नाऽनुभवोऽपरः।
ग्राह्य-ग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते।। इति।

योगाचार बौद्ध के द्वारा सौत्रान्तिक बौद्ध के मत का खण्डन कराकर अब ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र स्वयं 'अभिधीयते' कहकर योगाचार बौद्ध के मत का खण्डन कर रहे हैं। वक्ष्यमाणार्थ का दो पद्यों द्वारा संक्षेपत: संग्रह किया है—**नीलेति।** अर्थात् नीलादिज्ञान बाह्य पदार्थ का ग्रहण नहीं करता, किन्तु अपने को ही पुरोवर्त्तित्वेन ग्रहण करता है। तब विषय का किस ज्ञान से ग्रहण किया जाता है? यह हमारा प्रश्न बौद्धों से है। अपने से गृहीत होता है—ऐसा वे नहीं कह सकते और अन्य किसी दूसरे ज्ञान से गृहीत होता है—यह भी वे नहीं कह सकते; क्योंकि वह ज्ञान भी ज्ञानत्वावच्छिन्न होने से आत्मा में ही पर्यवसित होता है। यदि उसे स्वात्मभिन्न ग्राहक से गृहीत कहते हैं तो बाह्यग्राहकत्व भी प्रसक्त हो सकता है। इसी रहस्य को नाऽन्यसंवित्त्या से कहा गया है।

किञ्च—अज्ञातो घट: इत्यादिस्थल में ज्ञानविषयीभूत अज्ञान की ज्ञानाकारता बताना सम्भव नहीं है; क्योंकि ज्ञान और अज्ञान में परस्पर विरोध है। तदेवेदम् = यह वही है—इस प्रत्यभिज्ञास्थल में ज्ञान का विषय स्थायी नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान क्षणिक है। इसलिये स्थायित्व का विरोध है। और समूहालम्बन ज्ञान में चित्रता ही विषय है। नाना आकाररूप चित्रता को ज्ञान का आकार नहीं कह सकते। क्योंकि ज्ञान का आकार एक

ही रहता है, उसके अनेक आकार नहीं होते। एवं बाह्यमस्ति–बाहर है– इस ज्ञान में बाह्यत्व विषय है। उसे भी ज्ञानाकार बताना सम्भव नहीं; क्योंकि ज्ञान तो आन्तर है। आन्तर और बाह्य का विरोध स्पष्ट ही है। और यह बाह्यत्व सत् है कि असत्? आपके मत में भी सत् और असत् दोनों का ज्ञान वेद्य होना कैसे सम्भव हो सकता है? क्योंकि इन सबका ज्ञानाकार होना कदापि सम्भव नहीं हैं। पूर्वोक्त विज्ञानवाद को ही अत्यन्त संक्षेप से पुनः ग्रन्थकार बता रहे हैं--**विज्ञानवादीति**। विज्ञानवादी हि सर्वमेव विज्ञानम् आत्मानमेव गृह्णाति, नान्यत्। यहाँ नान्यत् कर्मपद है। अन्यज्ञान से अन्य ज्ञान का ग्रहण करना सम्भव नहीं है; क्योंकि वह अन्यज्ञान भी स्वात्मपर्यवसायि अर्थात् स्वात्ममात्र का ग्राहक है। विज्ञानवादी बौद्ध का कहना है कि सभी ज्ञान अपने को ही ग्रहण करते हैं, दूसरे को नहीं, अर्थात् सभी ज्ञान स्वयं अपने से ही गृहीत होते हैं, अन्य ज्ञान से नहीं; क्योंकि वे भी आत्मांश में ही पर्यवसित होते हैं। इसी कथन का समर्थन श्री धर्मकीर्ति नामक बौद्ध विद्वान् के वचन से करते हैं—'यथोक्तम् इति'। जैसा कि कहा गया है—

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्याऽस्ति तस्या नाऽनुभवोऽपरः।
ग्राह्य-ग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥ (प्रमाणवार्तिक)

ज्ञानस्य अन्यः अनुभाव्यः नास्ति, किन्तु स्वात्मैव तस्य अनुभाव्यः = ग्राह्यः। तथा तस्याः = बुद्धेः अन्यः अनुभवोऽपि नास्ति, किन्तु स्वात्मनैव प्रकाशते। तथा च ग्राह्य-ग्राहकयोः अन्ययोरभावात् सैव = बुद्धिरेव स्वात्मना स्वयं प्रकाशते घटाद्याकारेणेति बाह्यो नास्त्यवेत्यर्थः। अर्थात् बुद्धि अपने से भिन्न किसी अन्य विषय को ग्रहण नहीं करती। अभिप्राय यह है—ज्ञान का अनुभाव्य, कोई दूसरा नहीं है; किन्तु उसका अपना स्वरूप ही उसका विषय है और उस बुद्धि का कोई दूसरा पृथक् अनुभव भी नहीं होता, उस कारण ग्राह्य और ग्राहक दोनों न होने से बुद्धि स्वयं ही अपने स्वरूप से प्रकाशित होता है। अर्थात् वह (बुद्धि) स्वयं प्रकाश है। घट आदि का आकार लेकर वह, बाह्य विषय के रुप में नहीं है—

तमेवंवादिनं प्रति उच्यते— नीलज्ञानस्याऽऽत्मावसायित्वं नीलस्य च विज्ञानाकारत्वं केन ज्ञानेन गृह्यते? न तावदात्मनैव। न हि नीलमिदमित्यत्र स्वात्मपर्यवसायित्वं नीलाकारस्य च ज्ञानात्मकत्वं प्रकाशते, नीलमात्र-प्रकाशनात्। संवेद्यत्वग्राह्यलक्षणायोगसहोपलम्भनियमादिलिङ्गनिमित्त-केन त्वनुमानेनैव तदवगन्तव्यम्। तदपि त्वनुमानमात्मांशग्राहि चेत् ? न ज्ञानान्तरस्य स्वात्मपर्यवसायितां ग्रहीतुमलम्।

उक्त कथन कहने वाले बौद्ध को बाह्यार्थवादी उत्तर दे रहा है—**नीलज्ञानस्येति**। नीलादिज्ञान का आत्मावसायित्व = स्वात्मग्राहकत्व किस ज्ञान से गृहीत होता है? और नील की ज्ञानाकारता किस ज्ञान से गृहीत होती है? न तावदात्मनैव। स्वयं अपने से ही होती है—यह नहीं कहा जा सकता। न हि नीलमिदमिति = यह नील है—इस ज्ञान में

स्वात्मपर्यवसायिता और नीलाकार ज्ञानात्मक है—यह प्रतीत नहीं होता; क्योंकि नील स्वरूपमात्र ही प्रकाशित होता है, न कि नील का ज्ञानाकारत्व और ज्ञान का स्वात्मग्राहकत्व भी सम्वेद्यत्वग्राह्यलक्षणायोगसहोपलम्भनियमादिलिङ्गनिमित्तकेनत्वनुमानेनैव तदवगन्तव्यम् = बौद्ध ने वेद्यत्व हेतु प्रदर्शित कर नील पदार्थों को जो ज्ञानाकार बताया था, वह उचित नहीं है; क्योंकि सम्वेद्य होना ही अर्थात् सम्वेद्यत्व ही ग्राह्यत्व है—यह अभी नहीं कह सकते; क्योंकि विषय बाह्यपदार्थ का कोई लक्षण अभी बन नहीं पा रहा है तथा सहोपलम्भ नियम को हेतु (लिङ्ग) मानकर जो अनुमान होता है, उसी से स्वाकार का ग्रहण होता है जैसे—विषयो ज्ञानाऽभिन्नः सम्वेद्यत्वात् सहोपलम्भनियमात् ज्ञानभिन्नस्य बाह्यस्य ग्राह्यत्वाऽत्र सम्भवात्—यह अनुमान भी स्वात्मांश को ही ग्रहण करता है। एवञ्च विषय का ज्ञानाकारत्व और ज्ञान का आत्मावसायित्व ही जानना चाहिये। उक्त अनुमान भी यदि स्वात्मग्राहक ही हो तो उससे ज्ञानान्तर की स्वात्मग्राहकता कैसे गृहीत हो सकेगी? अनुमान भी ज्ञानात्मक (ज्ञान) होने से वह भी स्वात्ममात्र का ही ग्राहक होगा। तब वह ज्ञानान्तर (दूसरे ज्ञान) की स्वात्मपर्यवसायिता का ग्रहण करने में समर्थ नहीं है।

अथाऽनुमानं न स्वात्मांशग्राहि? ततो नीलादिविज्ञानैः किमपराद्धम्? येन तानीदङ्कारास्पदीभूतबाह्यनीलादिप्रकाशकत्वेनावभासमानान्यपि स्वात्मन्येवाऽवरुध्यन्ते। न हि तदैतद् वक्तुं शक्यम्—नानात्मनः संवेदनं ग्राह्यलक्षणं सहोपलम्भनियमो वा सम्भवतीति। तेषां सर्वेषामेवैतस्मिन्नेव भवदीयेऽनुमाने व्यभिचारात्। तत् खल्वात्मानमतिक्रम्य नीलादिवित्तेर्नीलाद्यात्मभूतस्वात्मांशावसायितां गृह्णातीत्यभ्युपगन्तव्यम्। तस्यापि स्वात्मपर्यवसायित्वे नीलबुद्धेस्तद्वशेन स्वात्मांशग्राहिता न सिद्ध्येत्। आह च—

चैत्रादिप्रत्ययानां च निरालम्बनता यदि।
धर्मभूता न गृह्येत साधनोत्थितया धिया।।
ततो विषयनानात्वात् प्रतियोग्यनिराकृता।
रूपात् सालम्बनप्राप्तिः सती केन निवार्यते।। इति।

किञ्च अज्ञानमित्यस्य ज्ञानस्य ज्ञानाभावो ग्राह्यो न च ज्ञानाभावस्य ज्ञानात्मता सम्भवति, अत्यन्तविपरीतत्वात्। तथा तदेवेदम् इति ज्ञाने पूर्वापरकालावस्थायित्वं प्रकाशते, न च क्षणिकस्य ज्ञानस्य स्थायित्वमात्मा सम्भवति। तथा चित्रबुद्धौ नानाऽऽकारणामवभासः। न चैकस्य ज्ञानस्य नानाकारता सम्भवति।

शङ्का—अनुमान, स्वात्मग्राहक (स्वात्मांशग्राहक) नहीं है, किन्तु ज्ञानान्तर की

स्वात्मग्राहकता का ग्राहक ही है, इस कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुमान से नीलादिज्ञान स्वात्मग्राहक है।

समाधान—ततोनीलादिविज्ञानैरिति। तब नीलादिज्ञानों ने कौन सा अपराध किया है? क्योंकि नीलादिज्ञान भी पुरोवर्ति बाह्य नीलादि पदार्थों के प्रकाशक होने से भी वे स्वात्मांश के ही ग्राहक हैं—ऐसा क्यों कहते हैं? अभिप्राय यह है कि नीलज्ञान भी ज्ञान है और अनुमान भी ज्ञान है। दोनों की समानता रहने पर भी अनुमान स्वांश का ग्रहण नहीं करता; किन्तु अन्य ज्ञानों को अपने आकार में ढलवा लेता है। ऐसा यदि मानें तो क्या हानि है? और नीलज्ञान स्वांशमात्र का ही ग्रहण करता है—यह वैषम्य क्यों है? यह वैषम्य उपपन्न नहीं हो रहा है?

समाधान—तातो नीलादिविज्ञानैः किमपराद्धम्? येन तानीदङ्कारास्पदीभूतबाह्य-नीलादि प्रकाशकवेनाऽवभासमानान्यपि स्वात्मन्येवावरुध्यन्ते। अर्थात् ऐसी स्थिति में नीलादि ज्ञानों ने क्या अपराध किया है? क्योंकि नीलादि ज्ञान भी पुरोवर्त्ति बाह्यनीलादि के प्रकाशक होने पर भी स्वात्मांश के ही ग्राहक हैं—ऐसा क्यों कह रहे हैं? अर्थात् नीलादिज्ञान भी ज्ञान है और अनुमान भी ज्ञान है। ऐसी समानता रहने पर भी अनुमान स्वांश को ग्रहण नहीं करता और नीलादिज्ञान स्वांशमात्र का ही ग्रहण करता है— इस वैषम्य की उपपत्ति न हो पा रही है। न हि तदैतद् वक्तुं शक्यम्–नानात्मनः सम्वेदनं ग्राह्यलक्षणं सहोपलम्भनियमो वा सम्भवतीति। सर्वेषामेवैतस्मिन्नेव भवदीयेऽनुमाने व्यभि-चारात्। तत् खल्वात्मानमतिक्रम्य नीलादिवित्तेर्नीलाद्यात्मभूतस्वात्मांशावसायितां गृह्णातीत्य-भ्युपगन्तव्यम्। तस्यापि स्वात्मपर्यवसायित्वे नीलबुद्धेस्तद्दर्शने स्वात्मांशग्राहिता न सिध्येत्। अर्थात् तब यह कहना सम्भव नहीं हो सकेगा कि अनात्मा का = बाह्य पदार्थ का सहो-पलम्भनियम अथवा सम्वेद्यत्वरूप लक्षण भी अनुमान शक्य नहीं है। क्योंकि आपके द्वारा कथित सभी कथनों का आप ही के अनुमान में व्यभिचार हो रहा है। **तत् खल्वात्मान-मतिक्रम्येति**। इसलिये वह अनुमान ज्ञान स्वांश को त्यागकर नीलादिज्ञान का जो आकार है, उसी का ग्रहण करने में चरितार्थ हो जाता है—यह स्वीकार करना ही होगा।

यदि उक्त अनुमान भी स्वात्मग्राहक ही हो अर्थात् स्वाकारमात्र में उसका भी पर्यवसान हो तो भी उस अनुमान के बल पर नीलादि ज्ञान का स्वात्मांश ग्रहण सिद्ध नहीं हो पायेगा। इसी अभिप्राय का समर्थन भट्टपाद कुमारिल ने भी किया है—

चैत्रादिप्रत्ययानां च निरालम्बनता यदि ।
धर्मभूता न गृह्येत साधनोत्थितया धिया ।।
ततो विषयनानात्वात् प्रतियोग्यनिराकृता ।
रूपात् सालम्बनप्राप्तिः सतो केन निवार्यते ।। इति।

(श्लोकवार्तिक, निरालम्बनवाद, कारिका–६५)

यह चैत्र है—इत्यादि ज्ञानों की धर्मरूप निरालम्बनता अर्थात् स्वांशग्राहकता का

ग्रहण अनुमान से नहीं हो सकता; क्योंकि वह स्वात्मग्राहकता (निरालम्बनता) यदि साधनोत्थितया धिया अर्थात् उक्त अनुमान ज्ञान से चैत्रोयम् इत्यादि ज्ञानों की धर्मभूत निरालम्बनता = स्वात्मग्राहकता का ग्रहण नहीं होता है; क्योंकि वह निरालम्बनता स्वात्ममात्र की ग्राहक है। यदि उक्त अनुमान से निरालम्बनता का ग्रहण होता तो ज्ञान के सालम्बनत्व का निराकरण हो सकता था। इसलिये नीलादि ज्ञानों में स्वात्मांश का ग्राहकत्व सिद्ध नहीं हो पा रहा है। एवञ्च विषयनानात्वरूप हेतु से प्रतियोगी का निराकरण न हो पाने के कारण सालम्बनता की प्रसक्ति का निवारण कोई भी नहीं कर सकता; क्योंकि नीलादिज्ञान का विषय स्वात्मा ही है। इसका अभिप्राय यह है कि नीलादिज्ञान में रहने वाली स्वात्म-ग्राहकता आपके अनुमान का विषय है। इस प्रकार विषयभेद होने से ज्ञान भी निरालम्बन ही होगा।

उपर्युक्त दोनों श्लोकों की व्याख्या श्री पार्थसारथीमिश्र ने इस प्रकार की है—उक्त अनुमान के द्वारा यदि निरालम्बनता का ग्रहण होता तो ज्ञान की सालम्बनता का निराकरण किया जा सकता था; किन्तु ऐसी स्थिति है नहीं। इस कारण नीलादिज्ञान स्वात्मांश के ग्राहक सिद्ध नहीं हो रहे हैं। इस प्रकार प्रथम श्लोक की व्याख्या की है। द्वितीय श्लोक की व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है—**किञ्च अज्ञानमिति।** 'किञ्च अज्ञानम् अस्ति' यह कहने से ज्ञान का विषय अज्ञान ही प्रतीत हो रहा है। अतः ज्ञानाऽभावरूप अज्ञान की ज्ञानाकारता कभी सम्भव ही नहीं हो सकती; क्योंकि ज्ञान और अज्ञान—दोनों का परस्पर विरोध है। अभिप्राय यह है कि ज्ञानाभाव ज्ञान का आकार कैसे हो सकेगा? क्योंकि दोनों में नितान्त विरोध है। **तथा तदेवेदमिति**। उसी प्रकार तदेवेदम् = यह वही है—इस ज्ञान में सन्निकृष्ट वस्तु का पूर्वपर कालस्थायित्व विषय के रूप में गृहीत होता है। उस स्थायित्व को क्षणिक ज्ञान का आकार नहीं कह सकते। **तथेति**। उसी प्रकार चित्र (समूहालम्बन) बुद्धि = ज्ञान में अनेक आकारों का ज्ञान हुआ करता है। अतः एक ज्ञान की अनेकाकारता होना असम्भव ही है। चित्रबुद्धि में = समूहालम्बन ज्ञान में घट-पटादि नाना (अनेक) आकारों का प्रकाश होता है। एक ज्ञान की नानाकारता होना सम्भव नहीं है। अतः एक ज्ञान से ज्ञान का विषय भिन्न ही हुआ करता है—यह स्वीकार करना ही होगा।

नन्वर्थस्यापि स्थायित्वमेकस्य च नानाकारत्वं न सम्भवत्येव? सम्भवतु वा, मा वा, ज्ञानात्मता तावन्न सम्भवति। तदसम्भवे चाऽर्थाकारौ वा स्थायित्वचित्रत्वे स्याताम्, अत्यन्ताऽसद्रूपे वा, द्वेधाऽपि ज्ञानाऽनात्मकयोर्ज्ञानेन ग्रहणात् सिद्धं नः समीहितम्।

शङ्का—अर्थ = पदार्थ भी क्षणिक होने से उसके स्थायित्व (स्थिरता) का होना कभी सम्भव नहीं है। और एक का नानाकार होना भी सम्भव नहीं। जैसे बाह्यपदार्थ के क्षणिक होने पर भी अविद्यावशात् उस पर स्थायित्व (स्थिरता) का आरोप और नाना आकारों का

आरोप किया जाता है, उसी तरह क्षणिक ज्ञान में भी स्थायित्व = स्थिरता का आरोप और नाना (अनेक) आकारों का आरोप क्यों नहीं किया जा सकता?

समाधान—मीमांसक समाधान (उत्तर) देता है—**सम्भवतु वा, मा वा इति।** अर्थात् सम्भव हो या न हो, किन्तु स्थायित्व और नानाकारता—इन दोनों में ज्ञानाकारता अर्थात् ज्ञानतादात्म्य—तो सम्भव हो ही नहीं सकता। क्योंकि ज्ञान में क्षणिकत्व (क्षणिकता) निश्चित है और बह्य पदार्थ में क्षणिकत्व का सन्देह है, उस कारण निश्चय नहीं है, अर्थात् क्षणिकत्व सन्दिग्ध है। **तदसम्भवे चार्थाकारौ वेति।** तदसम्भवे अर्थात् स्थायित्व और नानाकारत्व इन दोनों की ज्ञानाकारता का सम्भव न रहने पर स्थायित्व चित्रत्व ये दोनों अर्थ (पदार्थ) के ही आकार हैं। अन्ततोगत्वा यही कहना पड़ता है (पारिशेष्यात् यही कहना पड़ता है)।

अन्यन्ताऽसद्रूपे वेति। स्थायित्व और चित्रत्व सद्रूप हों, अथवा अत्यन्त असद्रूप हों, दोनों ही ज्ञानरूप नहीं हैं, तथापि उन स्थायित्व-चित्रत्व दोनों का ज्ञान के द्वारा ग्रहण होता है, अत: ज्ञानाकारता उनमें सम्भव ही नहीं है। एवञ्च ज्ञानात्मकता (ज्ञानाकारता) सम्भव न होने से स्थायित्व और चित्रत्व- दोनों पदार्थ के ही आकार कहने होंगे।

शङ्का—असद्रूप (अविद्यमानरूप) वाले स्थायित्व और चित्रत्व दोनों का ज्ञान से ग्रहण होता है, तब यह कैसे कहा जायगा कि असद्रूप स्थायित्व और चित्रत्व बाह्य पदार्थ के धर्म हैं?

समाधान—स्थायित्व और चित्रत्व दोनों सद्रूप हों अथवा अत्यन्त असद्रूप हों, दोनों अवस्थाओं में ज्ञानात्मक (ज्ञानाकार) स्थायित्व चित्रत्व दोनों का ग्रहण ज्ञान से ही होता है, उस कारण स्थायित्व चित्रत्व का ज्ञानाकार होना सम्भव ही नहीं है। प्रकाशमान रहने वाले स्थायित्व और चित्रत्व दोनों का कोई आकार तो स्वीकार करना ही होगा तब परिशेषात् बाह्यकारता ही स्वीकार की जाती है, अत: बाह्य पदार्थवादी हम लोगों का अभीष्ट सहज ही सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार मीमांसकों ने निरालम्बनवादी बौद्धों का मुखस्तम्भन कर दिया और बाह्य पदार्थ को सिद्ध करके बाह्यपदार्थवादी मीमांसकों ने विजय प्राप्त किया।

तथा बाह्यं नास्तीति निषेधयताऽवश्यं बाह्यं बुद्धावारोपयितव्यम्, ज्ञानातिरिक्तं च बाह्यम्। न च ज्ञानाकारता तस्य सम्भवति, तस्मादेवमादिसिद्ध्यर्थमवश्यं विज्ञानानामनात्मग्राहित्वं बलादभ्युपगन्तव्यम्, भवदीयानुमानार्थं च। तदेवं संविद् बलसिद्धस्य बाह्यस्य सम्भवे वेद्यत्वादिभिर्नापह्नव: सम्भवति, बाह्यस्यैव हि तदा संवेद्यत्वं दर्शनबलादभ्युपगम्यते। प्रत्युतात्मन एव संवेद्यत्वं सम्भवति, नीलादिवित्तीनाम् इदं नीलमिदं पीतम् इत्यनात्मावभासित्वात् आत्मावभासित्वाभावात्।

तथा बाह्यमिति। अब बाह्य पद की व्याख्या कर रहे हैं—प्राप्तस्य हि प्रतिषेधो भवति = प्राप्त का ही प्रतिषेध हुआ करता है—इस नियम (न्याय) के अनुसार बाह्यं नास्ति अर्थात् बाह्य पदार्थ नहीं है, इस प्रकार निषेध करने वाले को बाह्य निषेधार्थ बाह्यपदार्थ (विषय) का आरोप अपनी बुद्धि में अवश्य ही करना होगा, अर्थात् ज्ञान से ही जानना होगा। एवञ्च बाह्यं ज्ञानातिरिक्तमेव—यह कहना होगा, अन्यथा उसका प्रतिषेध करना सम्भव नहीं होगा।

ज्ञानातिरिक्त पदार्थ का ज्ञानाकार होना कभी सम्भव नहीं है, उस कारण तुम्हारे मत में बाह्यनिषेध उपपन्न ही नहीं हो पायेगा। ज्ञान से अभिन्न (ज्ञान से अतिरिक्त न रहने वाले) रहने वाले बाह्य पदार्थ का निषेध करने पर ज्ञान का ही निषेध करने के समान कहा जायगा और बाह्य पदार्थ का प्रतिषेध करने के लिये उस बाह्यपदार्थ के स्वरूप का स्वीकार करने पर भी बाह्यार्थ की सिद्धि स्वतः एव हो जाती है, अतः ज्ञानाकार मानने पर भी तथा न मानने पर भी उभयतः पाशारज्जुः जैसी अवस्था आपकी (बौद्धों की) हो रही है। **तस्मादेवमादिसिद्ध्यर्थमिति**। अर्थात् एवमादिसिद्ध्यर्थम् = स्थायित्व, चित्रत्व आदि में ज्ञान-विषयता होने के लिये ज्ञान की अनात्मग्राहिता अर्थात् स्वभिन्न (ज्ञानभिन्न) बाह्य नील-पीतादि पदार्थग्राहकता को इच्छा न रहने पर भी अर्थात् बलात् अनिच्छा से ही क्यों न हो, अवश्य स्वीकार करना ही होगा। किसी प्रकार से भी आप उसे अस्वीकार नहीं कर सकते। **भवदीयाऽनुमानार्थं चेति**। बाह्य पदार्थ को ज्ञानाकार न मानना आपके द्वारा किये जाने वाले अनुमानार्थ भी श्रेयस्कर होगा। अभिप्राय यह है कि यदि ज्ञान अपने से पृथक् (भिन्न) पदार्थ को ग्रहण नहीं करता है तो आपका अनुमान भी अपने को ही ग्रहण करेगा। वह (अनुमान) नील-पीतादि बाह्य पदार्थों को ज्ञानाकार के रूप में नहीं बता पायेगा। एवञ्च इस प्रकार के अनुभव बल से सिद्ध बाह्य पदार्थ के सम्भव होने पर वेद्यत्व आदि हेतुओं से बाह्य पदार्थों का प्रतिषेध = अपह्नव अर्थात् अपलाप = ज्ञानाकार कहना सम्भव नहीं हो सकेगा। बाह्य पदार्थ की स्वीकृति की जाने पर 'अतः बाह्य पदार्थ ही वेद्य है' यह अनुभव के बल पर स्वीकार किया जाता है, ज्ञान का वेद्यत्व होना सम्भव ही नहीं है। अन्यथा–आत्मन एव सम्वेद्यत्वं न सम्भ्ववति आत्मनः अर्थात् ज्ञान की वेद्यता का होना ही सम्भव नहीं हो पायेगा। वेद्यत्व तो इन्द्रिय सन्निकृष्ट वस्तु का हुआ करता है। ज्ञान तो इन्द्रिय सन्निकृष्ट नहीं है; क्योंकि वह आत्मसमवेत है। आत्मसमवेत इस कारण है कि इदं नीलम्, इदं पीतम् इत्याकारक ज्ञान ज्ञानातिरिक्त (ज्ञानभिन्न) बाह्यपदार्थ को ही प्रकाशित करता है, न कि अपने को। इदं नीलम् इदं पीतम् = यह नील है, यह पीत है–इत्यादि ज्ञान अपने से भिन्न पदार्थ को ही प्रकाशित करते हैं, अपने को प्रकाशित नहीं कर सकते।

अहं प्रत्ययस्तर्हि ज्ञानाबलंबनो भवतु? सोऽपि कर्त्रवलम्बनो न ज्ञाना-वलम्बन इत्यात्मवादे वक्ष्यामः। तथा ग्राह्यलक्षणमपि बाह्यस्यैव किंचि-

देष्टव्यम्। अन्यथा नीलादिवित्तीनां स्वांशपर्यवसायित्वसाानार्थस्य त्वा-दीयानुमानस्य नीलादिवित्तिगतं स्वां शविषयत्वं ग्राह्यं न स्यात्, स्थायि-त्वादयश्च तद्बुद्धीनाम्।

शङ्का—ज्ञान जैसे बाह्य पदार्थ को प्रकाशित करता है, उसी तरह वह (ज्ञान) स्वयं का (अपना) भी भासक = प्रकाशक क्यों नहीं होता?

समाधान— आत्मावभासित्वाऽभावात्। वह = ज्ञान अपने को (स्वयं को) प्रकाशित नहीं कर सकता।

शङ्का—यह जो आपने कहा कि ज्ञान बाह्य पदार्थ को ही प्रकाशित करता है, स्वयं को = अपने को प्रकाशित नहीं कर सकता—यह कहना उचित नहीं है। यद्यपि नील-पीतादि ज्ञानों में बाह्य प्रकाशकत्व स्वीकार करने पर भी अहं प्रत्यय: = अहं विषयक अयमहम् इत्याकारक ज्ञान तो अपनी आत्मा को ही प्रकाशित करता है; क्योंकि वह = आत्मा ज्ञानरूप है। अत: अहंप्रत्यय ज्ञान को ही विषय कर ले। भाट्टमीमांसकों के मतानुसार आत्मा ज्ञान से भिन्न है। भाट्टमीमांसक ज्ञान को आत्मा नहीं मानते। इस कारण अहं जानामि, अहं गच्छामि = मैं जानता हूँ, मैं जाता हूँ– इत्यादि स्थलों में अहं पद से कर्ता का ही परामर्श किया जाता है। यदि अहमर्थ आत्मा नहीं है, तो आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होगा। बुद्धि से तथा परामर्श = बाह्य पदार्थ से अहमर्थ (प्रत्यगर्थ) ज्ञाता भिन्न (पृथक्) होता है। अत: अहमर्थ ही ज्ञाता है, कहा भी है—

ज्ञातुरन्यश्च विषयस्तस्य न स्यात् स्वभावत: ।
अहं प्रत्ययविज्ञेयो ज्ञाता न: सर्वदैव हि ।।
अहमर्थो हि ज्ञातैव प्रत्यगात्मेति निश्चितम् ।

(श्लोकवार्त्तिक, आत्मवाद, कारि०-१२६)

समाधान— **सोऽपीति**। स:=अहं प्रत्यक्ष भी कर्त्रवलम्बन: = कर्तृभूत आत्मा अर्थात् कर्ता को ही प्रकाशित (विषय) करता है, ज्ञान को प्रकाशित (विषय) नहीं करता (इसे आत्मवाद में बताया जायगा)। आत्मा ज्ञान से भिन्न ही है। ज्ञान ही आत्मा नहीं है। अहं जानामि, अहं गच्छामि, सर्वत्र अहम् पद से कर्ता का परामर्श होता है, अत: अहं प्रत्यय के द्वारा ज्ञान भिन्न जो कर्ता उसी का परामर्श किया जाता है। कहा भी है—

अहमर्थो न चेदात्मा प्रत्यक्त्वं नाऽऽत्मनो भवेत् ।
अहं बुद्ध्या परागर्थात् प्रत्यगर्थो हि भिद्यते ।।
अतोऽहमर्थो हि ज्ञातैव प्रत्यगात्मेति निश्चितम् ।।

तथा ग्राह्यलक्षणमपीति। वेद्यत्व के समान ग्राह्यत्व लक्षण के समान बाह्य पदार्थ का भी कोई लक्षण करना होगा। अन्यथा नीलादिज्ञान स्वांश को ही ग्रहण करते हैं— इस कथन के उपपत्त्यर्थ जो आपने अनुमान प्रस्तुत किया है, उसके विषय नीलादि-ज्ञान के स्वांश: नहीं हो पायेंगे। तथा स्थायित्व ज्ञान के विषय स्थायित्वादि भी नहीं बन

सकेंगे। किञ्चिदेष्टव्यम् अर्थात् ग्राह्यत्व का जो स्वरूप होगा, वह बाह्यपदार्थ का ही है— यह स्वीकार करना होगा; किन्तु किंस्वरूपं च ग्राह्यत्वम् इसे यहाँ नहीं कहा गया है। **अन्यथा नीलादिवित्तीनामिति**। यदि ज्ञानभिन्न बाह्य पदार्थ का ग्राह्यत्व न माना जाय, तो नीलादिज्ञान का स्वात्मांशग्राहितासिद्ध्यर्थ प्रयुक्त सहोपलम्भादि हेतुक तुम्हारा अनुमान स्वात्मांश मात्र का ही ग्राहक रहने से नीलादिज्ञाननिष्ठस्वात्मांशग्राहिताग्राहक नहीं हो सकेगा; क्योंकि तुम्हारे मत के अनुसार नीलादिज्ञाननिष्ठस्वात्मांशग्राहिता रहने पर ज्ञानभिन्नत्वेन रूपेण ग्राह्यत्व नहीं रहेगा, उस कारण अनुमान में तद्विषयकग्राहकत्व भी असम्भव हो जायगा; क्योंकि ग्राहकत्व तो ग्राह्यत्वनिरूपित रहता है।

नीलादिज्ञाननिष्ठस्वात्मांशग्राहिता को ग्राह्यत्व मानने पर ज्ञानभिन्न रहने पर भी बाह्य पदार्थ में ग्राह्यत्व प्राप्त हो जाता है; क्योंकि नीनलादिज्ञाननिष्ठ स्वात्मांशग्राहिता भी ज्ञान से भिन्न है, यह आक्षेप है। **स्थायित्वादयश्च तद्बुद्धीनामिति** । इसी प्रकार तदेवेदम् इत्यादि स्थायित्वादि विषयक ज्ञानों का ग्राह्य भी स्थायित्वादि नहीं बन सकेंगे; क्योंकि स्थायित्वादि भी ज्ञान से भिन्न ही हैं। उस कारण तुम्हारे मत में उनमें ग्राह्यत्व नहीं बन सकेगा। तद्बुद्धीनाम् = तदेवेदम् इत्याकारक स्थायित्वविषयक ज्ञानों के ग्राह्य नहीं हो सकेंगे; किन्तु स्थायित्व आदिकों का ग्राहत्व तो होता है, इसलिये बाह्य पदार्थों का ही ग्राह्यत्व स्वीकार करना उचित है। एवञ्च स्थायित्व बुद्धि के अथवा प्रत्यभिज्ञा के विषय स्थायित्व आदि नहीं हो पायेंगे।

(ज्ञानानुमेयत्वस्थापनम्)

तल्लक्षणं चेतरेषामुक्तदोषात् ज्ञानजन्यफलभागित्वमेवाऽऽश्रयितव्यम्। ज्ञानक्रिया हि सकर्मिका कर्मभूतेऽर्थे फलं जनयति पाकादिवत्। तच्च फलमैन्द्रियकज्ञानजन्यमापरोक्ष्यम्, लिङ्गादिज्ञानजन्यन्तु पारोक्ष्य-मित्युच्यते। अस्ति हि विषयाऽविषयविभागः, विषयेष्वपि परोक्षाऽ-परोक्षविभागः सार्वजनीनः।

न च फलमन्तरेणाऽयं विभागः सम्भवतीति तदाऽऽश्रीयते। तदेव च फलं कार्यभूतं कारणभूतं विज्ञानमुपकल्पयतीति सिध्यत्यप्रत्यक्षमपि ज्ञानम्।

मीमांसकों के मतानुसार विषय ही ग्राह्य होता है अर्थात् विषयत्वमेव ग्राह्यत्वम्, अतः उसका लक्षण बता रहे हैं इसलिये कहना पड़ रहा है कि अन्यान्य शास्त्रकारों ने जो लक्षण किये हैं, वे प्रायः अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषों से दूषित हैं।

इतरेषामिति। किसी ने सदृशत्वे सति हेतुत्वं विषयत्वम् किया है, तो किसी ने यत्सम्प्रयुक्तेन्द्रियजं ज्ञानं यद्व्याप्तलिङ्गजं वा स विषयः, इत्यादि सभी लक्षण अति-व्याप्ति आदि दोषों से दूषित हैं। अतः विषयत्व का लक्षण—ज्ञानजन्यफलभागित्वं

विषयत्वम् करना ही उचित प्रतीत हो रहा है। अर्थात् ज्ञानजन्य फलभागित्व ही विषयत्व है और ग्राह्यत्व है।

ज्ञानक्रिया हीति। इस ग्रन्थ से ज्ञानजन्य फलभागित्व का ही उपपादन कर रहे हैं। जैसे पाक के द्वारा तत्कर्मभूत तण्डुलों में विकृतिरूप फल उत्पन्न होता है, उसी तरह ज्ञान के द्वारा भी तत्कर्मभूत अर्थ में कुछ फल = अतिशय उत्पन्न होता हैं; क्योंकि ज्ञानक्रिया सकर्मक है, अत: कर्म में फल उत्पन्न करना उसका स्वभाव ही है। वह फल ऐन्द्रियकज्ञानजन्यमापरोक्ष्यम् अर्थात् इन्द्रिय से उत्पद्यमान (उत्पन्न होने वाले) ज्ञान से होने वाला आपरोक्ष्य = प्रत्यक्ष है। लिङ्गादिज्ञानजन्यन्तु पारोक्ष्यमित्युच्यते और वहीं आपरोक्ष्य लिङ्गादि के ज्ञान से उत्पन्न होने पर पारोक्ष्य = परोक्ष कहलाता है। ये पारोक्ष्य और आपरोक्ष्य दोनों प्रकाशविशेष हैं। ज्ञातो घट: कहने पर ज्ञाननिरूपित विषयत्व घट में ही प्रतीत होता है, घट में नहीं। (यही विषय और अविषय का विभाग है)। अन्यथा पदार्थमात्र एक ही ज्ञान के विषय होने लगेंगे। विषयेष्वपि परोक्षाऽपरोक्षविभाग: सार्वजनीन: = विषयों में भी घट (विषय) के साथ नेत्रेन्द्रिय संयोग होने पर अयं घट:–घट का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) होता है। और धूमदर्शन से वह्नि का ज्ञान होने पर वह्नि को परोक्ष ही कहा जाता है—यह सर्वजनप्रसिद्ध ही है अर्थात् सकल लोकप्रसिद्ध है।

विपक्ष में बाधक बता रहे हैं—**न च फलमन्तरेणाऽयंविभाग: सम्भवति, इति**। अर्थात् फल के विना पारोक्ष्याऽपारोक्ष्यविभाग हो ही नहीं सकता, इसीलिये फल को स्वीकार किया गया है। वही फल स्वयं कार्य होकर अपने कारणीभूत ज्ञान की कल्पना कराता है। इस कारण ज्ञान को अप्रत्यक्ष माना जाता है। पारोक्ष्य-अपारोक्ष्य-सम्पादक ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता। **तदेव च फलमिति**। वही पारोक्ष्याऽपारोक्ष्यरूप ज्ञानकार्यभूत फल स्वकारणीभूत विज्ञान की कल्पना करता है, इस कारण से ज्ञान अप्रत्यक्ष है- यह भी सिद्ध होता है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञान से उत्पद्यमान पारोक्ष्याऽपारोक्ष्यरूप फल से ज्ञान का अनुमान किया जाता है। ज्ञानोत्पन्न जो पारोक्ष्याऽपारोक्ष्यरूप फल है, उसी को अतिशय, ज्ञातता, प्राकट्य आदि शब्दों से कहा गया है—**'ज्ञानजन्य: अर्थगत: कश्चिदतिशय: प्रकाशनभासनादिपर्यायशब्दवाच्य:, स च पाकजन्यौदनादिगतातिशयवदनवगतेऽपि ज्ञानेशक्यतेऽवगन्तुम्, अतो ज्ञानस्य कल्पक: इति'** (न्याय-रत्नाकर)। इसी अतिशय को ज्ञातता शब्द से भी कहा जाता है। इसी से ज्ञान की कल्पना की जाती है। एवञ्च ज्ञान अनुमेय ही है, प्रत्यक्ष नहीं। नैयायिक, प्राभाकर तथा वेदान्ती ज्ञान को प्रत्यक्ष एवं स्वप्रकाश बताते हैं, किन्तु श्रीकुमारिलभट्टपाद के मत में ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु ज्ञातता से ज्ञान का अनुमान किया जाता है। अत: ज्ञान अनुमेय है।

ज्ञातता से ज्ञान की कल्पना को कुछ लोग अनुमान समझते हैं। शबरस्वामी ने भी अपने भाष्य में उक्त कल्पना के लिये अनुमान शब्द का ही प्रयोग किया है। वार्त्तिककार श्रीभट्टपाद ने अनु पश्यान्मानमनुमानमर्थापत्ति:- यह अर्थ वार्त्तिक के स्मृत्यधिकरण में

किया है। मानमेयोदयकार नारायणभट्ट ने भी प्राकट्य निरूपण प्रसंग में अर्थापत्ति को ज्ञान की कल्पना में प्रमाण माना है। वे कहते हैं—'**बुद्धिः पुनरर्थप्रकाशापरनामधेयप्राकाट्यान्यथानुपपत्ति प्रसूतार्थात्तिगम्या**' (मानमेयोदय) और प्रमाकरणं प्रमाणम्–यहाँ पर प्रमा शब्द से लक्षणावृत्ति के द्वारा उसका अर्थ प्राकट्य किया गया है। प्राकट्यरूप प्रमा का करण होने से ज्ञान को भी प्रमाण कहते हैं। इस कारण भाट्टमीमांसक फलप्रमाणवादी– कहे जाते हैं। जिस प्रकार धूम से तत्कारणीभूत अग्नि का अनुमान होता है, प्रत्यक्ष नहीं, अथवा जैसे इन्द्रियादिकों का अनुमान ही होता है, प्रत्यक्ष नहीं, उसी प्रकार ज्ञान का भी ज्ञानजन्य आपरोक्ष्यपारोक्ष्य के द्वारा अनुमान ही होता है। इस कारण ज्ञान का प्रत्यक्ष न होना सिद्ध होता है। अर्थात् ज्ञान अप्रत्यक्ष है। अभिप्राय यह है कि ज्ञान अनुमेय ही है। एवञ्च फल के द्वारा ज्ञान को बताकर ज्ञान का अनुमान करने के लिये अन्य प्रकार भी बता रहे हैं—

अथवा ज्ञानक्रियाद्वारको यः कर्तृभूतस्याऽऽत्मनः कर्मभूतस्य चार्थस्य परस्परं सम्बन्धो व्याप्तृव्याप्यत्व लक्षणः स मानसप्रत्यक्षावगतो विज्ञानं कल्पयति, नह्याऽऽगन्तुककारणमन्तरेणाऽऽनोऽर्थं प्रति व्याप्तृत्वमुत्पत्तुमर्हति। तच्च कारणं लोके ज्ञानशब्देनाऽभिधीयते।

ज्ञान का और एक अन्य अनुमापक बता रहे हैं—**अथवेति**। आत्मा कर्त्ता है और अर्थ (बाह्यपदार्थ) कर्म है। इन दोनों का व्याप्तृत्व और व्याप्यत्व सम्बन्ध ज्ञानरूप क्रिया के द्वारा ही होता है। अर्थात् ज्ञानक्रिया के द्वारा ज्ञानक्रिया के कर्तृभूत आत्मा का और कर्मभूत विषय का जो व्याप्तृ-व्याप्यत्वरूप परस्पर सम्बन्ध होता है, वह मानसप्रत्यक्षावगत होता हुआ अपने कारणभूत ज्ञान की कल्पना करता है। अर्थात् मानस प्रत्यक्ष से गृहीत सम्बन्ध के द्वारा ही ज्ञान की कल्पना होती है। कल्पना शब्द से यहाँ पर अनुमान अथवा अर्थापत्ति को समझना चाहिये। उस सम्बन्ध की सम्भावना ज्ञान के विना नहीं होती। ज्ञान के द्वारा आत्मा विषय को व्याप्त करता है, उस कारण आत्मा में व्याप्तृत्व है और विषय में व्याप्यत्व है। जबकि आगन्तुक अर्थ के प्रति आत्मा का व्याप्तृत्व है तो कारण भी अवश्य आगन्तुक ही होना चाहिये, वह कारण कौन सा होगा? ज्ञान ही होगा। ज्ञातो घटः, जानामि देवदत्तम् आदि व्यवहार में धात्वर्थ जो ज्ञान है, उसी को कारण मानने में औचित्य प्रतीत होता है।

येऽपि स्वप्रकाशां संविदमातिष्ठन्ते तैरप्ययं सम्बन्धो मानसप्रत्यक्षगम्योऽवश्यमभ्युपगमनीयः। अन्यथा ज्ञातो मया घटः इति ज्ञानज्ञेयसम्बन्धो ज्ञातृज्ञेयसम्बन्धो वा न व्यवहर्तुं शक्यते। यन्मात्रं हि प्रकाशितं तन्मात्रमेव व्यवहर्तुं शक्यते, नान्यत्।

प्रभाकर और वेदान्तियों की **शङ्का**—भाट्टमीमांसक ज्ञान को अनुमेय बताते हैं,

किन्तु वह उचित नहीं है; क्योंकि ज्ञान तो स्वयम्प्रकाश है, उस कारण उसे अनुमेय नहीं कहना चाहिये।

समाधान—यऽपि स्वप्रकाशामिति। जो= वेदान्ती और प्राभाकर संविदम् = ज्ञान को स्वप्रकाश कहते हैं अर्थात् ज्ञानं स्वप्रकाशम्—ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं, उन्हें भी यह व्याप्त-व्याप्यत्व सम्बन्ध अवश्य ही मानना होगा। क्योंकि यह सम्बन्ध बाह्य प्रत्यक्ष से गम्य नहीं है, किन्तु मानस प्रत्यक्षगम्य है। किसी कारण के विना ही घटादि बाह्यवस्तुओं का प्रकाश मानने पर उसे नित्य कहना होगा।

विपक्ष में बाधक बताते हैं—**अन्यथेति**। जितना प्रकाशित होता है, उतना ही व्यवहर्तुं = शब्द से कहा जा सकता है, नान्यत् अर्थात् जो प्रकाशित नहीं हुआ, उसे नहीं कहा जा सकता। इस कारण ज्ञान-ज्ञेय-सम्बन्ध का अथवा ज्ञातृ-ज्ञेयसम्बन्ध का ज्ञातो मया घट:—इस ज्ञान में प्रकाश न रहने पर वह सम्बन्ध ज्ञातो मया घट:—यह व्यवहार नहीं कर सकेगा। ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध और ज्ञातृ-ज्ञेय सम्बन्ध भी व्याप्तृ-व्याप्यत्वलक्षण ही समझना चाहिये। इसमें हेतु दिखाते हैं—**यन्मात्रामिति**। उक्त सम्बन्ध का व्यवहार तो होता ही है, अत: वह भी प्रकाशित होता है। स्वयं प्रकाशवादियों को भी यह सम्बन्ध मानना ही होगा। ज्ञान ही विषय को व्याप्त करता है—इस मत के अनुसार ज्ञातृ-ज्ञेय सम्बन्ध को बताया गया है।

इह च संविन्मात्रं स्वयं प्रकाशितम्, अर्थोऽपि तद्वशात्, ज्ञानसम्बन्धस्तु केन प्रकाशित:? सोऽपि तयैव संविदा प्रकाशते इति चेत्? न, तदुत्पत्त्यवस्थायां सम्बन्धस्याऽनिष्पन्नत्वात्। प्रकाशकत्वमेव हि संविदा विषयेण सम्बन्धो नाऽन्य:, तेन जातायां संविदि विषये च प्रकाशिते निष्पद्यमान: सम्बन्धो न तया संविदा शक्यते विषयीकर्तुम्, विरम्य व्यापाराऽसम्भवात्। न हि प्रथममर्थं प्रकाश्य पुन: सम्बन्धं प्रकाशयितु-मर्हति क्षणिकत्वात्।

पूर्वोक्त ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध और ज्ञातृ-ज्ञेय सम्बन्ध अर्थात् व्याप्तृ-व्याप्यत्वलक्षण सम्बन्ध मानस प्रत्यक्षगम्य है, उसे बता रहे हैं— **इह चेति।**

शङ्का— इह = ज्ञातो घट: इत्यादि स्थल में तुम्हारे मत के अनुसार संबित् मात्र अर्थात् ज्ञान मात्र स्वयंप्रकाश होने से ही प्रकाशित है और अर्थ = घट-पटादि पदार्थ भी तद्वशात् = ज्ञानवशात् प्रकाशित हैं, किन्तु विषय के साथ अर्थात् ज्ञेय के साथ जो ज्ञान का सम्बन्ध है, वह किससे प्रकाशित होता है? अथवा मूल प्रयुक्त इह का अर्थ 'यह' भी कर सकते हैं— ज्ञान को स्वयंप्रकाश मानने वालों के मत में। ज्ञेय-ज्ञान सम्बन्ध भी उसी संवित् = ज्ञान से प्रकाशित होता है—यह नहीं कर सकते। क्योंकि **तदुत्पत्त्य-वस्थायामिति**। दो विद्यमान वस्तुओं का ही परस्पर सम्बन्ध होता है। अत: ज्ञानोत्पत्ति

के पूर्व उसका होना सम्भव नहीं है; क्योंकि उस समय ज्ञान का ही अभाव है। इस कारण ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर (पश्चात्) ही वह होगा। एवञ्च ज्ञानोत्पत्ति की अवस्था में सम्बन्ध निष्पन्न ही नहीं हुआ था अर्थात् उत्पन्न ही नहीं हुआ था। उस कारण से उसका प्रकाश होना सम्भव नहीं है।

इसी का उपपादन 'प्रकाशकत्वमेव हि' से कर रहे हैं। ज्ञान का विषय के साथ प्रकाश्यप्रकाशकत्व सम्बन्ध ही है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं। अत: ज्ञान उत्पन्न होने पर ही उससे विषय का प्रकाश होता है, तदनन्तर उन ज्ञान और विषय का सम्बन्ध उत्पन्न होता है। तथा च उस ज्ञान से विषय का प्रकाश होता है। उसके अनन्तर उत्पद्यमान सम्बन्ध को वह ज्ञान अपना विषय नहीं बना सकता; क्योंकि शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराऽभावात्- यह न्याय है अर्थात् शब्द, बुद्धि, और कर्म—ये तीनों एक बार कार्य करके दुबारा कार्य में प्रवृत्त नहीं हुआ करते। इस नियम के अनुसार विषय प्रकाश करके ही ज्ञान का विराम हो जाने पर उस विरत हुए ज्ञान से सम्बन्ध को प्रकाशित करना सम्भव नहीं है। इसी अभिप्राय को न हि प्रथममर्थं प्रकाश्य पुन: सम्बन्धप्रकाशयितुमर्हति, क्षणिकत्वात् । ज्ञान का विरम्य व्यापार नहीं होता है; क्योंकि ज्ञान क्षणिक होता है। प्रथम क्षण में ज्ञान उत्पन्न होता है तथा द्वितीयक्षण में उसकी स्थिति रहती है और तृतीय क्षण में वह नष्ट होता है। अत: क्षणिक ज्ञान से सम्बन्ध का प्रकाशन नहीं हो सकता।

क्षणिक ज्ञान से अपने स्थिति काल में एक ही वर्तमान वस्तु का प्रकाशन होना सम्भव है किं वा अपने स्थितिकाल में वर्तमान अनेक का भी प्रकाशन सम्भव हो सकता है; किन्तु स्वस्थिति के अनन्तरक्षण में निष्पन्न उक्त सम्बन्ध का भी प्रकाशन उसके द्वारा होना सम्भव नहीं है। प्रकाशन एक क्रिया है। एक क्षण में एक ही क्रिया का होना सम्भवनीय है। एकक्षण में अनेक क्रियायें होनी सम्भव नहीं हैं।

अथ सम्बन्धोऽपि स्वयं प्रकाशत इति मन्येथा:? नाऽत्र प्रमाणमस्ति। तस्मान्मानसप्रत्यक्षगम्योऽर्थेन सहाऽऽत्मन: सम्बन्धो ज्ञानं कल्पयतीति रमणीयम्। अस्ति हि कोऽपि सम्बन्धोऽर्थेन सहात्मनो मानसप्रत्यक्षगम्य: सर्वजनीना: स ज्ञानस्य कल्पक:।

शङ्का—अथ सम्बन्धोऽपीति। सम्बन्ध भी स्वयं प्रकाशित होता है—यही माना जाय तो क्या हानि है?

समाधान—सम्बन्ध के स्वयं प्रकाशित होने में कोई प्रमाण नहीं है। जबकि सम्बन्ध अपने सम्बन्धी ज्ञान के द्वारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता और न स्वयं प्रकाश है, और न अन्यविषयक ज्ञानान्तर के द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है। ज्ञान के अन्यविषयक होने से सम्बन्ध के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध का होना भी सम्भव नहीं है। जिससे

प्रत्यक्ष हो सकेगा। और न ही सम्बद्ध लिङ्ग उपलब्ध हो रहा है, जिससे अनुमान हो सकेगा। इसलिये यह ज्ञातृ-ज्ञेय सम्बन्ध व्याप्तृ–व्याप्यत्वरूप है और वह मानस प्रत्यक्षगम्य ही है। वह जो सम्बन्ध है, उसका होना ज्ञान के विना सम्भव नहीं है। ज्ञानक्रिया के द्वारा ही आत्मा विषयव्यापृत होता है। बिना ज्ञानक्रिया के आत्मा का विषय-व्यापृत होना अनुपपन्न है। इस अनुपपत्ति के कारण वह अपने कारणीभूत ज्ञान की कल्पना करता है। इसलिये ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना उचित नहीं है—अतः यही पक्ष निर्दोष है अर्थात् रमणीय = सुन्दर है।

उक्त कथन को ही 'अस्ति हि कोऽपि' इत्यादि से विशद कर रहे हैं। अर्थ (विषय) के साथ आत्मा को जोड़ने वाला कोई सम्बन्ध है। और वह मानस प्रत्यक्ष से जाना जाता है, अर्थात् वह मानस प्रत्यक्ष का विषय है। और सर्वलोक प्रसिद्ध है तथा वही ज्ञान की कल्पना कराता है, अर्थात् ज्ञान का कल्पक है। अस्ति हि कोऽपि में कोऽपि का अर्थ है—व्यप्तृ–व्याप्यत्वरूप सम्बन्ध।

अर्थगतो वा ज्ञानजन्योऽतिशयः कल्पयति ज्ञानम्, अवश्यमङ्गीकरणीय-श्चायमतिशयस्त्रितयप्रतिभासवादिभिरपि। त्रितयं प्रतिभासत इति वदता ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृषु त्रिष्वप्यनुगतं प्रकाशनपदवाच्यमवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । तत्र ज्ञानत्वं तावन्नाऽनुगतम्— तद्धि ज्ञाने एव, न ज्ञातृ-ज्ञेययोः। ज्ञेयत्वमपि ज्ञेय एव, न ज्ञातृ-ज्ञानयोः। ज्ञातृत्वं ज्ञातर्येव, न ज्ञान-ज्ञेययोः।

अर्थगतोवेति । पूर्वोक्त अर्थ को ही अन्य प्रकार से बता रहे हैं। ज्ञानोत्पत्ति विषय एवं इन्द्रिय सन्निकर्ष से होती है। उसी ज्ञान से अर्थ में कोई अतिशय उत्पन्न होता है। यहाँ पर ज्ञानजन्य अतिशय से प्रकाशन, भासन आदि पर्याय को समझना चाहिये। ज्ञानजन्य होने से ही वह स्वकारणीभूत ज्ञान का कल्पक है। इसी बात को न्याय रत्नाकर में भी कहा गया है—ज्ञानजन्यऽर्थगतः कश्चिदतिशयः प्रकाशनभासनादिपर्यायपदवाच्यः, स च पाकजन्यौदनादिगताऽतिशयवदनवगतेऽपि शक्यतेऽवगन्तुमतो ज्ञानस्य कल्पकः इति। **अवश्यमिति**। यदि इस अतिशय को स्वीकार नहीं करेंगे तो ज्ञात घट और अज्ञात पट में कोई भेद (विशेष) ही नहीं रहेगा; किन्तु भेद तो रहता है। इसे त्रितयप्रतिभास-वादियों को भी मानना होगा, वही ज्ञानजन्य अतिशय है और वही ज्ञानजन्य अतिशय ज्ञान की कल्पना करता है।

शङ्का— 'ज्ञातो घटः' इत्यादि में ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता—ये तीन तत्त्व प्रतिभासित होते हैं, तुम्हारे कथित अतिशय का तो कहीं भास तक नहीं होता, तब आप अतिशय को क्यों मानते हैं?

समाधान— त्रितयप्रतिभासवादी प्राभाकर को भी ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता तीनों में अनुगत

प्रकाशन शब्द के द्वारा वाच्य धर्म का स्वीकार अवश्य ही करना होगा। और वह धर्म न ज्ञानत्व है, न ज्ञेयत्व है और न ही ज्ञातृत्व है; क्योंकि ये सभी धर्म एक-एक में ही रहते हैं अर्थात् एकमात्रवृत्ति हैं। अभिप्राय यह है कि ज्ञानत्व धर्म ज्ञान में ही रहता है, ज्ञातृ-ज्ञेय में नहीं रहता। ज्ञेयत्व धर्म भी ज्ञेय में ही रहता है, ज्ञातृ-ज्ञेय में नहीं रहता। उसी तरह ज्ञातृत्व धर्म ज्ञाता में ही रहता है, ज्ञान-ज्ञेय में नहीं। अतः ऐसा कोई धर्म स्वीकार करना चाहिये, जो तीनों में रहे अर्थात् त्रितयानुगत हो।

व्यवहारविषयत्वं प्रकाशमानत्वमिति चेत्? न, संविदि व्यवहाराऽभावाद् विनष्टत्वात्। शब्दप्रयोगो व्यवहार इति चेत् ? न, उक्तदोषत्वात्। तदवश्यं प्रकाशन-भासनादि-पर्यायो धर्मविशेषस्त्रिष्वप्यनुवृत्तो गोत्व-मिव गोव्यक्तिष्वस्ति। स च धर्मो ज्ञातरि, ज्ञेये च ज्ञानवशाज्जायते, ज्ञानस्य तु स्वाभाविकोऽग्नेरिवौष्ण्यमिति स्वप्रकाशं ज्ञानम्। इतरौ परप्रकाश्यावित्याश्रयणीयम्। तन्निमित्तं च विषयस्य विषयत्वम्, व्यव-हारादीनां हि विषयलक्षणत्वं प्रागेव दूषितम्।

शङ्का—व्यवहारविषयत्वमिति। व्यवहार का विषय होना ही प्रकाशमानत्व है, उसी को धर्म मानिये, अतिशय को धर्म नहीं मानना हो तो मत मानिये। तब क्या दोष है?

समाधान—न, संविदि व्यवहाराभावादिति। शङ्काकार का कथन उचित नहीं है। संवित् में अर्थात् ज्ञान में व्यवहार नहीं होता; क्योंकि ज्ञान तो नष्ट हो चुका।

शङ्का—शब्दप्रयोग इति। शब्द प्रयोग को ही व्यवहार माना जाय। जैसे— शब्दव्यवहार का विषय विनष्ट घट, पट आदि भी होते हैं, उसी तरह विनष्ट ज्ञान भी शब्दप्रयोग (शब्दव्यवहार) का विषय हो सकता है। अतः शब्दप्रयोग को ही व्यवहार मान लिया जाय, तो क्या हानि है?

समाधान—न, अर्थात् शब्दप्रयोग को भी व्यवहार नहीं कह सकते। पहले ही कह चुके हैं कि शब्दप्रयोग के अनुसार ज्ञान के विषय का निरूपण नहीं कर सकते, विपरीत होने के कारण। यथा- किञ्च न शब्दप्रयोगवशेन ज्ञानस्य विषय निरूपणं शक्यम्, विपरीतत्वात् इति। तदवश्यं प्रकाशन-भासनादिपर्याय इति। अर्थात् प्रकाशनपदवाच्य अथवा भासन पदवाच्य कोई भी धर्मविशेष त्रिषु अपि = ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय—इन तीनों में अनुवृत्त रहता ही है, जैसे—गो व्यक्तियों में गोत्व अनुवृत्त रहता है। प्रकाशनादि पद वाच्य वह धर्म विशेष ज्ञाता में अर्थात् आत्मा में और ज्ञेय में अर्थात् घट में ज्ञान के कारण उत्पन्न होता है। ज्ञान होने पर ही उन दोनों का प्रकाश होता है। ज्ञान का यह धर्म स्वाभाविक ही है, इसलिये ज्ञान को स्वप्रकाश मानाना चाहिये। जैसे—औष्ण्य धर्म अग्नि का स्वाभाविक धर्म कहलाता है। अन्य जो ज्ञातृ-ज्ञेय हैं, वे परप्रकाश्य हैं, अर्थात् ज्ञान

से प्रकाशित होते हैं—यह मानना चाहिये। **तन्निमित्तं चेति।** विषय का विषयत्व धर्म तन्निमित्तक ही है, अर्थात् उक्त धर्मनिमित्तक ही है। अत: विषय की विषयता अर्थात् प्रकाशमानता सिद्ध होती है। एवञ्च प्रकाशमानत्व अथवा भासभानत्व ही विषयत्व है—यही उचित प्रतीत होता है। व्यवहारादिकों की विषयरूपता बताना कथमपि उचित नहीं है, उसमें अनेक दोषों को पूर्व बता चुके हैं।

एकदेशिनां तु—व्यवहारनिबन्धनविषयताङ्गीकरणे रजतवित्तेः शुक्तिका विषयः स्यात्, न चैवमिच्छन्ति। तदेवमविवादसिद्धेऽर्थगतेऽतिशये तेनैव ज्ञानस्यानुमानं पूर्वोक्तेन वा मानसप्रत्यक्षगम्येन सम्बन्धेन सम्भवति। अतिक्रान्तदिवसगतदशत्वादिसंख्यावच्चासतोर्भूतभविष्यतोरविद्यमान-त्वेऽपि धर्मिणः प्रकाशनधर्मो जायत इति प्रमाणबलादभ्युपगम्यते। अतो न प्रत्यक्षत्वं संविदोऽभ्युपगन्तव्यम्।

अब एकदेशिनां तु व्यवहार निबन्धनत्वंविषयत्वम्। प्राभाकर मीमांसक विषय का लक्षण व्यवहार- निबन्धत्वं विषयत्वम् अर्थात् व्यवहार का विषय होना ही विषयत्व है। इस प्रकार विषय का लक्षण करने पर रजत ज्ञान का विषय शुक्ति खण्ड होने लगेगा; किन्तु प्राभाकरों को वह अभीष्ट नहीं है। प्राभाकरों ने कहा भी है—

सर्वाश्च प्रतीतय: स्वयं प्रत्यक्षा: प्रकाशन्ते, तासां च युक्तमेव स्वात्मनि प्रत्यक्षत्वं मानत्वं च, मेय-मातृप्रमाणानात्वेष प्रतीतिविशेष:- मे ये मातरि च व्यतिरिक्ता प्रतीति: साक्षात्कारवती, मितौ तु अव्यतिरिक्ता, इदमह स्मरामि, गृह्णामीति त्रितयमेव अवभासते, मेयमात्र्युभयरूपा संविदेका, न तस्या: संविदन्तं चकास्ति, न च सा नाऽवभाति, तदन-वभासे सर्वानवभासप्रसंगात्, प्रकाशात्मकत्वान्नान्यमपेक्षते। प्रकाशस्यत्वप्रकाशमानस्य सत्रैव नाऽभ्युपेयते, किञ्च- स्वत एव यद्युपपद्यते न तत्र परापेक्षा युक्ता, मेयानां मातुश्च स्वत:प्रकाशो नोपपद्यते इति युक्ता तयो: परापेक्षा, मितौ च काचिदनुपपत्तिर्नास्ति इति स्वयंप्रकाशैव मिति: इति। अत्र तस्या: इति विषयत्वं षष्ठ्यर्थ:। त्रितयमित्याहारस्य ग्रन्थकृता प्रभाकरमतं प्रतिपादितं, तदनेन प्रतिपादनेन प्रभाकरमतेऽपि ज्ञानजन्योऽतिशयो विषये उत्पद्यते एवेत्यंगीकारित: तेन चातिशयेन ज्ञानानुमानं सम्भवत्येव। एतदभिप्रायेणैव अग्रेवदति—तदेवमविवादसिद्ध इत्यादिना, ज्ञानस्य अनुमेयत्वे च प्राप्ते, स्वप्रकाशत्वं तु स्वयमेव उक्तवक्ष्यमाणरीतिभ्यां च पराहतमेवेत्येवमत्र ग्रन्थसंगतिरनुसन्धेया, प्रकारान्तर-स्याऽभावात् ।

तदेवमिति। इस प्रकार घटादिविषयगत जो अतिशय निर्विवाद सिद्ध हो रहा है, उसी से ज्ञान का अनुमान हो जाता है। अथवा पूर्वकथनानुसार जो सम्बन्ध मानसप्रत्यक्ष से जाना जा रहा है।

शङ्का—ज्ञानजन्य अतिशय जो विषयनिष्ठ है, वह विषय के वर्तमान होने पर तो

सम्भव है, किन्तु जो अतीत (भूतकालिक) हैं या अनागत (भविष्यत्कालिक) हैं, उन विषयों के वर्तमानकालिक न कहने से उक्त अतिशय कैसे सङ्गत हो सकेगा? अत: अतिशय पक्ष को स्वीकार करना उचित नहीं है। इसलिये ज्ञान का प्रत्यक्ष होना स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अभिप्राय यह है कि प्राभाकर मत में व्यवहारभाक्त्वं अर्थात् व्यवहार निबन्धनत्वं विषयत्वम्—यह लक्षण विषय का किया गया है, उसमें भी अन्य दोष प्रदर्शित कर रहे हैं—**एकदेशिनांतु इति**। व्यवहारनिबन्धनविषयता अर्थात् विषमता के निर्णय में व्यवहार को ही कारण मानने में रजतज्ञान का विषय शुक्ति भी होने लगेगा; क्योंकि रजतमिदम्–यह ज्ञान होने पर पुरोवर्ती द्रव्य, जो रजतत्वेन (रजत के रूप में) ज्ञात हुआ है, उसके ग्रहण करने पर शुक्ति ही उपलब्ध होती है। अर्थात् शुक्ति ही उपादान व्यवहार का विषय होती है। उस कारण रजतज्ञान का विषय शुक्ति ही हो गया। **न चैव मिच्छन्ति** अर्थात् रजतज्ञान का विषय शुक्तिका को नहीं माना जाता। अत: व्यवहारभात्त्वम् को विषय का लक्षण कहना उचित नहीं है।

समाधान—अतिक्रान्तेति। जो दिन, व्यतीत हो चुके हैं, उनका दशत्वादि संख्या के समान धर्मी के विद्यमान न रहने पर भी अनुभव प्रमाण के सामर्थ्य से उपर्युक्त अतिशय को स्वीकार किया जाता है।

तदेवमिति। इस प्रकार निर्विवाद सिद्ध घटादि विषयगत जो अतिशय है, उसी से ज्ञान का अनुमान किया जाता है और मानस प्रत्यक्ष से जो सम्बन्ध जाता है, उसी से ज्ञान का अनुमान होना सम्भव है। अत: ज्ञान प्रत्यक्ष गम्य नहीं है; क्योंकि ज्ञान के साथ इन्द्रिय संयोग नहीं है। विज्ञानवादी के सहोपलभनियम का निरास करने के लिये जो उल्लेख किया गया है, वह तो निरस्त ही है, उस कारण नील और तज्ज्ञान के ऐक्य का सम्पादन करने के लिये जो सहोपलम्भनियम रूप हेतु बताया गया था, वह ऐक्य का साधक नहीं है, अपितु भेद का साधक है। अत: वह हेतु निरस्त है।

शङ्का—धर्मी के होने पर ही धर्म का सम्भव रहता है, धर्मी के विद्यमान न रहने पर धर्म की सम्भावना नहीं की जाती। अत: भूतकालिक तथा भविष्यत्कालिक धर्मिरूप विषयों के हीं न रहने पर उनके धर्म का प्रकाशन कैसे हो सकेगा?

तथा च भूत-भविष्यद्धर्मिक प्रकाशनधर्म के न होने से भूत भविष्य विषयक ज्ञान के अनुमान का होना तो सम्भव नहीं है, भूत–भविष्यविषयक ज्ञान की भी प्रतीति हुआ करती है। अत: ज्ञान का प्रत्यक्ष है, उसे स्वयं प्रकाश ही स्वीकार करना चाहिये।

शङ्का—ज्ञानजन्य विषय निष्ठ अतिशय विषय के वर्तमान रहने पर तो सम्भव हो सकता है, किन्तु जो विषय, अतीत हो चुके हैं या अनागत हैं उन विषयों का वर्तमान में अभाव रहने से अतिशय कैसे बनेगा? इसलिये अतिशयपक्ष को स्वीकार करना अनुचित है।

समाधान—अतिक्रान्तदिवसगतेति। जैसे अतिक्रान्त (बीते हुए) दिनों की (दिनों के नष्ट होने पर भी दशत्वादिसंख्या प्रकाशित होती है, (जैसे– दश दिवसागता:– इस दिन व्यतीत हो गये,) उसी तरह अविद्यमान भूत-भविष्य के विषयों के अविद्यमान न रहने पर भी धर्मिण:= भूत- भविष्यत् विषय का प्रकाशनाख्य धर्म का होना सम्भव रहता है अर्थात् प्रकाश होता हैं और वह सम्भव भी है– इस तथ्य को प्रमाण के बल पर स्वीकार भी किया जाता है। अन्यथा भूत-भविष्यत् की प्रतीति ही नहीं हो सकेगी। तथा च उस प्रकाशसंज्ञक धर्म के द्वारा भूत-भविष्यद् विषयक ज्ञान का अनुमान करना भी सम्भव है, अत: कोई भी दोष नहीं है। तथा च ज्ञान के प्रत्यक्ष होने का कोई प्रसङ्ग नहीं है। अत: संवित् (ज्ञान) के प्रत्यक्ष होने का स्वीकार करना अनुचित है।

(पुनर्विज्ञानवादखण्डनम्)

न च प्रतीतिबलादपि प्रत्यक्षत्वम्—अर्थावभाससमये संविद: प्रतिभास एव नास्ति, नतरामापरोक्ष्यम्। एवञ्च सहोपलम्भस्यैवाभावात् तन्नियमो य उक्त: स दूरापास्त इति प्रत्युक्तमेतत्—'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियो:' इति।

शङ्का—ज्ञान प्रत्यक्ष (ज्ञानं प्रत्यक्षम्) है—इतना ही प्रतीत होता है; क्योंकि ज्ञान के प्रकाशार्थ ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं है।

समाधान—न च प्रतीतिबलादिपीति। विज्ञानवाद का खण्डन कर रहे हैं—

शङ्का—ज्ञान की प्रतीति अनुभव के रूप में होती है। अत: ज्ञान के प्रकाशार्थ ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि अर्थावभास के समय (अर्थप्रकाश के समय) विषयमात्र ही प्रकाशित होता है, उस समय ज्ञान का प्रतिभास ही (मान ही) नहीं होता। नतराम् आपरोक्ष्यम्–तब आपरोक्ष्य की (प्रत्यक्षता की) चर्चा की वार्ता ही कहाँ होगी। अत: ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता।

सिंहावलोकनन्याय से पुनरपि विज्ञानवाद का निराकरण करने के लिये कहते हैं—**एवञ्चेति।** एवञ्च सहोपलम्भस्यैवाऽवात् तन्नियमो उक्त:, स दूरापास्त: इति प्रत्युक्तमेतत् सहोपलम्भनियमादभेदो नील-तद्धियो: इति।

यत्तु पश्चात् स्मरणस्य दर्शनाज्ज्ञानमपि प्रागनुभूतमिति 'तदप्यसिद्धम्'। अर्थ एव हि तदा स्मर्यते, तत्तत्स्मरणाच्च तदैवार्थव्याप्तिरात्मनो मनसाऽवगम्यते, तद्वशाच्च तदाऽर्थे तावज्ज्ञानं कल्पयति। तस्य च ज्ञानस्येन्द्रियादिकारणाभावात् स्मृतित्वं निश्चित्य स्मृतिकारणभूतं पूर्वज्ञानं तदैव कल्पयतीति नास्य स्मरणम्। इतश्च न नीलादेर्ज्ञानात्मकत्वम्, अनुमानादिषु विषयाकाराणां परोक्षत्वात्, ज्ञानस्य च सर्वत्र प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्, न हि परोक्षापरोक्षयोरेकत्वं सम्भवति। एवमत्यन्ता-

सद्रूपत्वेनाभिमतस्य स्थायित्वादेः सद्रूपज्ञानात्मकत्वमत्यन्तासम्भाव्यम्। तथा भूतानुमानेषु भूतत्वमवभासते। न च वर्तमानस्य ज्ञानस्य भूतत्वमात्मा सम्भवति।

शङ्का—अनुभूत वस्तु का ही स्मरण हुआ करता है। जो अनुभूत न हुआ हो, उसका स्मरण होना कदापि सम्भव नहीं है। ज्ञातो मया घटः- इसमें घट के समान ज्ञान का भी स्मरण होता है। स्मरण होने से ज्ञान का भी अनुभव प्राप्त है। इसलिये ज्ञान भी प्रत्यक्षगम्य ही है। तब ज्ञान को अनुमानमात्रगम्य कैसे कह रहे हैं?

समाधान—तदपीति। उपर्युक्त शङ्का भी ठीक नहीं है; क्योंकि उस समय अर्थ (विषय) का ही स्मरण होता है। उस कारण ज्ञान के विषय का स्मरण होने से तद्विशेषणतया अनुमित हुए ज्ञान का भी स्मरण होता है। उसके स्मरण से उसी समय आत्मा का घटादि अर्थ के साथ सम्बन्ध विशेष मन से ज्ञात होता है। वह सम्बन्ध मानस प्रत्यक्षगम्य है। उस कारण अर्थ का ही स्मरण होता है। जैसे- अनुभूतोऽयं मया स्मर्यमाणो घटः अर्थात् स्मर्यमाण घट का मैंने पूर्वानुभव किया है। इस प्रकार के ज्ञान की कल्पना कराता है। अर्थात् अनुमान कराता है, जैसे—सम्प्रति मयि पूर्वानुभूतघटादि-विषयकं ज्ञानं वर्तते, घटादिव्याप्तिमत्त्वात्। तद्वशात् = अर्थव्याप्तिवशात् तदा अर्थे तावज्ज्ञानं कल्पयति = स्मरणकाल में अर्थविषयक ज्ञान का अनुमान करता है। यह जो ज्ञान है, इन्द्रियादिकों से उत्पन्न नहीं हुआ है, उस कारण उस ज्ञान को स्मृति (स्मरण) मानकर भूतपूर्व अनुभव की कल्पना की जाती है; क्योंकि स्मृति तो पूर्वानुभूत की ही होती है। अतः स्मृतिकारणीभूत स्मर्यमाण विषय-विषयक पूर्वोत्पन्न अनुभवात्मक ज्ञान की कल्पना करता है, जैसे—अनुभूतोऽयं मया स्मर्यमाणो घटः। इससे स्पष्ट होता है कि विषय (अर्थ) का ही स्मरण होता है, ज्ञान का नहीं। तथा च ज्ञान को अनुमेय ही कहना चाहिये, प्रत्यक्ष नहीं। इस प्रकार से विज्ञानवाद का खण्डन मीमांसकों ने किया, तथापि मनस्तृप्ति न होने से पुनरपि विज्ञानवाद का खण्डन कर रहे हैं—**इतश्च न नीलादेरिति**।

शङ्का—अनुमानदिस्थल में अनुमेय विषय का आकार परोक्ष होता है और तुम्हारे (बौद्धों के) मत में ज्ञान सर्वत्र ही अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ही होता है। उस कारण परोक्ष और अपरोक्ष तथा अनुमेय और अनुमान—दोनों का ऐक्य होना तो असम्भव ही है। उसी प्रकार प्रत्यक्ष होने वाले नील पीतादिकों की भी ज्ञानात्मकता (ज्ञानरूपता), सम्भव नहीं है; क्योंकि अनुमान आदि में विषय का आकार परोक्ष होता है। **एवमिति**। तुम्हारे मत में नील-पीत आदि अर्थ असद्रूप रहने पर भी अत्यन्त असद्रूप नहीं है; क्योंकि नील-पीतादि के आकार में ज्ञान का परिणाम होता है, उस कारण ज्ञान का रूप स्थायी होने से परिणाम का होना भी सम्भव नहीं है। उस कारण अत्यन्त असद्रूप से अभिमत स्थायित्व आदि का और सद्रूप का ज्ञान के साथ ऐक्त का होना सम्भव नहीं है अर्थात् उनका परस्पर अत्यन्त विरोध है। **तथा भूतानुमानेषु इति**। जैसे नदी के पूर (भरती) को

देखकर भूतकालिक वृष्टि का अनुमान करने पर वृष्टि के विशेषण के रूप में भूतत्व भी भासित होता है, किन्तु वहाँ वृष्टिविषयक अनुमानात्मक ज्ञान तो वर्तमानात्मक ही है। वर्तमान ज्ञान को भूतत्वात्मा भूतकालिक स्वरूप देना उचित नहीं है, इसलिये ज्ञान और विषय दोनों की एकता होना सम्भव नहीं है।

भिन्नत्वेऽपि ग्राहकाद्ग्राह्यस्य ज्ञानमेवातीतमुत्तरस्य ग्राह्यं नार्थ इति चेत्? न, प्रमाणाभावात्। अत्र चाऽतीतं त्रेधा विकल्प्य— अतीतं यच्च विज्ञानम्— इत्यादिना दूषणमुक्तम्। उत्तरमपि त्रेधैव विकल्प्य द्व्याकार-कल्पनायां च इत्यादिना दूषणमुक्तमिति विवेचनीयम्। तस्मादिदमपि वैभाषिकमतमयुक्तमेव। तस्माद्बाह्यार्थाकार एव नीलादिर्न ज्ञानाकारः।

शङ्का—ग्राहकाद् ग्राह्यस्य भिन्नत्वेऽपि = ग्राह्य-ग्राहक दोनों में भेद का स्वीकार करने पर भी ज्ञान (ग्राहक) से भिन्न ग्राह्य (बाह्यपदार्थ) नहीं है; किन्तु भूतानुमानादि-स्थलेऽतीतम् = भूतकालिक ज्ञान ही उत्तरकालिक ज्ञान का ग्राहक होता है अर्थात् पूर्वज्ञान ग्राह्य माना जाता है और उत्तरवर्ती ज्ञान, ग्राहक माना जाता है। अतः बाह्यार्थ = बाह्यपदार्थ है ही नहीं। इसी प्रकार भविष्यद्विषयक अनुमानादि स्थल में भी समझना चाहिये। इति चेत् इस प्रकार यदि कोई कहे? तो—

समाधान—न, वह उचित नहीं है; क्योंकि प्रमाणाऽभावात् वैसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। अतीत (भूतकालिक) ज्ञानात्मक (ज्ञान) का ही ग्रहण किया जाता है, बाह्य पदार्थ का ग्रहण नहीं—यह कहने में कोई प्रमाण नहीं है; क्योंकि प्रकाशमान बाह्य पदार्थ का भी सम्भव हो सकता है।

अत्र च अतीतं त्रेधा विकल्प्य अतीतं यच्च विज्ञानम् इत्यादिना दूषणमुक्तम् । अत्र = इस प्रकरण में अतीतं यच्च विज्ञानम् इत्यादि पद्य से अतीत का तीन प्रकार से विकल्प करके कहा है कि तीनों प्रकर के अतीत का भी ज्ञानाकार होना सम्भव नहीं है—यह दूषण दिया है। श्लोकवार्त्तिककार ने अतीत ज्ञान के तीन विकल्प किये हैं—तथाहि—(१) यह ग्राह्य है अथवा (२) ग्राहक है अथवा (३) दोनों है—ये तीन विकल्प हैं—इतीतं यच्च विज्ञानं ग्राह्यत्वेन प्रकाल्पितम्। तस्माद् ग्राहक रूपं वा ग्राह्यं वोभय-थापि वा (श्लो. वा., शू. वाद, कारि०-१६३-१६४)।

तदनन्तर दोष प्रदर्शन किया है—अतीत ज्ञान ही उत्तरज्ञान का ग्राह्य कहा जाता है। अतीतकालीन और उत्तरकालीन दोनों विषयों को ग्राहक रूप मानने पर ग्राह्य का अस्तित्व ही नहीं रहेगा और ग्राह्य मानने पर उसे ग्राहक नहीं कह सकेंगे। दोनों के मानने पर परस्पर विरोध होगा। इस कारण ज्ञान और अर्थ को एक कहने वाला तथा ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने वाले योगाचार का मत उचित नहीं है। उपर्युक्त तीनों प्रकार के अतीत की ज्ञानाकारता का होना सम्भव नहीं है—यह दूषण दिया है। तथाहि—

अतीतत्वानुविद्धौ हि स्मृत्या ग्राह्योऽनुभूयते ।
तद्वदेव भवेत्तत्र स्वप्ने न स्याद्विपर्ययात् ।।
तत्र ह्यवर्तमानोऽपि गृह्यते वर्तमानवत् ।
बाधज्ञानादिदं भ्रान्तं न त्वत्रैवं विपर्ययः ।।
अतीतत्वेऽपि नाऽर्थोऽयं धीरेषेत्यत्र का प्रमा ।।

तथा उत्तरमपि = भावी, अर्थात् अनागत ज्ञान के भी तीन विकल्प करके द्व्याकार-कल्पनायां च इत्यादि से दोष प्रदर्शित किया गया है—ऐसा विवेक कर लेना चाहिये। इस मूल ग्रन्थ को समझने के लिये श्लोकवार्तिक के शून्यवाद की १६७-१७९ कारिकाएँ द्रष्टव्य हैं—

द्व्याकारकल्पनायां च परस्यात्मांश एव ते ।
प्रमापर्यवसानेन नाऽतीतो विषयो भवेत् ।।
पूर्वग्राह्यसरूपत्वे ग्राहकत्वं प्रहीयते ।
ग्राहकाकारमात्रत्वे स्याद् विषयो नाऽसरूपतः ।। इति।

अभिप्राय यह है कि अतीत और उत्तर विषयों को ग्राहकस्वरूप मानने पर ग्राह्यत्व ही नहीं हो सकेगा। ग्राह्य स्वरूप मानने पर तुम उसे विज्ञान कहते हो और हम उसे विषय कहते हैं। यहाँ पर केवल नाम का विवाद है और उभयाकारत्व तो परस्पर विरोध रहने के कारण सम्भव ही नहीं है। **तस्मादिदमपि वैभाषिकमतमिति।** इदम् अर्थात् ज्ञान और अर्थ का ऐक्य प्रतिपादक और ज्ञान का प्रत्यक्षत्व प्रतिपादक जो वैभाषिकमत है, वह युक्त = उचित नहीं है। यहाँ पर वैभाषिक पद की योगाचार बौद्ध में लक्षणा करनी चाहिये; क्योंकि दोनों में बौद्धत्व का सादृश्य है। वैभाषिक बौद्ध बाह्यार्थ को मानता है। अतः नील-पीत आदि बाह्यार्थ का ही आकार है, ज्ञान का आकार नहीं है।

कथं तर्हि स्वप्ने? तत्राऽपि बाह्यमेव देशकालान्तरगतमदृष्टोद्बोधित-संस्कारवशात् स्मर्यमाणं निद्रादूषितमनस्कतया भ्रान्त्या संनिहितदेश-कालमिव मन्यते। विस्पष्टं चैतदन्तरदिवसानुभूतस्य स्वप्ने वर्तमानाव-भासदर्शनात्, अन्यत्राऽपि स्वप्ने तथाऽङ्गीकर्तुं युक्तम्। शिरश्छेदोऽप्यन्यत्राऽवगतः स्वसम्बन्धितया दोषवशादवगम्यते। सर्वत्र संसर्गमात्र-मसदेवावभासते, संसर्गिणस्तु सन्त एव। सेयं विपरीतख्यातिरित्युच्यते मीमांसकैः। असत्ख्यातिवादिनस्तु संसर्गिणोऽप्यपलपन्तीति विशेषः।

शङ्का—स्वप्नावस्था में प्रतीयमान होने वाले नीलादि बाह्य पदार्थ के आकार की सम्भावना ही नहीं है; क्योंकि स्वप्नावस्था में बाह्यवस्तु का अभाव ही रहता है, उस कारण स्वप्न में जैसे नील-पीत आदि ज्ञान के ही आकार होते हैं, उसी तरह जाग्रदवस्था

में भी बाह्यवस्तु को ज्ञानाकार ही क्यों नहीं मानते?

समाधान—तत्रापीति। तत्रापि = स्वप्नावस्था में भी अन्य देश में अथवा अन्य काल में संस्कारों का उद्बोधन अदृष्ट के द्वारा हुआ करता है। उन उद्बुद्ध संस्कारों से स्मरण होने लगता है, किन्तु निद्रादोष के कारण मन दूषित रहता है, उससे दूर स्थान तथा दूरवर्ती काल को भी सन्निहित स्थान तथा सन्निहित काल के समान ही भ्रम से समझा जाता है। अत: वहाँ भी (स्वप्नावस्था में भी) नील-पीतादि बाह्य पदार्थ अन्यत्र विद्यमान रहते हैं, अत: नीलादि पदार्थों को ज्ञानाकार कैसे माना जा सकता है? उससे स्पष्ट होता है कि जैसे पूर्व दिन में अनुभव किये हुए विषय (वस्तु आदि) का दूसरे दिन रात्रि में जो स्वप्न पड़ते हैं, उन स्वप्नों में वर्तमान के समान उनकी प्रतीति होती है। अत: सभी स्वप्नों में इसी प्रकार समझना चाहिये।

सर्वत्र संसर्गमात्रमसदेवेति। सभी स्वप्नों में विद्यमान पदार्थों का केवल सम्बन्ध ही असत् भासता है, किन्तु सम्बन्धी पदार्थ तो सत् ही भासते हैं—यह सिद्धान्त है। इस स्वाप्निक ज्ञान को मीमांसकों ने विपरीत- ख्याति शब्द से (नाम से) कहा है। इस प्रकार अपने शास्त्र की मर्यादा को मीमांसकों ने बताया है। पदार्थों का वैपरीत्येन भान होने से जैसे अजादि पशुओं का दृश्यमान शिरश्छेद स्वसम्बन्धित्वेन (अपने से सम्बन्धित) भासित होता है, यही विपरीतख्याति कहलाती है।

असत्ख्यातिवादी अर्थात् शून्यवादी कहते हैं कि जिस प्रकार अविद्यमान संसर्ग ही भासित होता है, उसी प्रकार संसर्गी भी असत् ही भासित होता है। यह कहकर असत्ख्यातिवादी ने संसर्गी का भी अपलाप (निषेध) किया है—यही विशेष है। इस कथन से स्वमत और परमत अर्थात् मीमांसकमत और शून्यवादी बौद्धमतों में भेद (भिन्नता) प्रदर्शित किया गया है। असत: एव ख्याति: = प्रतीति: इति; इसीलिये इसे असत्ख्याति: शब्द से कहा जाता है।

शुक्तिरजतवेदनेऽपि विद्यमानैव रजतत्वजातिर्विद्यमानस्यैव शुक्तिकाशकलस्याऽनात्मभूतैवाऽऽत्मतयाऽवगम्यते। तथा वन्ध्यासुतादिष्वपि विद्यमान एव सुतशब्दार्थो वन्ध्यान्विततया तत्पदसंनिधिदोषादवगम्यते।

शङ्का—शुक्तौ इदं रजतम्– इत्याकारक ज्ञान होता है। इसकी उपपत्ति कैसे होगी?

समाधान—शुक्तिरजवेदनेऽपीति। अर्थात् शुक्ति में जो रजत ज्ञान होता है, वह भी विद्यमान रजत में रहने वाली रजतत्व जाति है, अर्थात् रजतत्व जो है, वह रजत का ही स्वरूप है, शुक्ति का स्वरूप नहीं है– तथापि रजत में विद्यमान रजतत्व ही शुक्तिशकल = शुक्तिखण्ड के रूप में भासित होता है। यह रजतत्व जाति विद्यमान शुक्तिशकल (शुक्तिखण्ड) का स्वरूप न होने पर भी दोषवशात् आत्मतया = रजताकारतया भासित होती है। वहाँ भी रजतत्व ज्ञानाकार नहीं है।

तथा वन्ध्यासुतादिष्वपीति । उसी प्रकार—

मृगतृष्णाम्भसि स्नातः स्वपुष्पकृतशेखरः ।
एष वन्ध्यासुतो याति शशशृंगधनुर्धरः ।।

अर्थात् बन्ध्यासुतो याति इत्यादि भ्रमस्थलों में भी विद्यमान होकर ही सुत आदि पदार्थों की सान्निध्य के कारण वन्ध्या आदि से सम्बन्धित होकर ही प्रतीति होती है। अतः वन्ध्यासुत में भी ज्ञानाकारता नहीं है। मूल स्थित तत् पद सन्निधिदोषात् कारणभूत दोष को बताया है, जैसे—स्वप्न में निद्रा दोष तथा शुक्ति-रजतादि ज्ञान में चाक-चिक्यादिदोष[1] हैं तथा वन्ध्यासुतप्रतीति में वन्ध्याशब्दसन्निधि ही दोष है। वन्ध्या शब्द के सान्निध्य दोष से ही वन्ध्या पदार्थ का और सुत पदार्थ का सम्बन्ध प्रतीत होता है।

भ्रमस्थलों में ग्रन्थकार ने अपना सिद्धान्त बताकर प्राभाकर मत का खण्डन किया है—

शङ्का—प्राभाकर मत में—शुक्तौ इदं रजतम् = शुक्ति को देखकर यह रजत है—यहाँ पर इदंत्वेन शुक्ति का प्रत्यक्ष हो रहा है और चाक्यचिक्य के कारण रजत का स्मरण हो रहा है और नेदं रजतम् से न तो ज्ञान का बाध हो रहा है और न ही विषय का बाध हो रहा है; किन्तु ज्ञान से प्रवर्तित व्यवहार का बाध हो रहा है। अतः शुक्तौ इदं रजतम् जानकर रजत ग्रहणार्थ जो प्रवृत्ति होती है, उसका कारण, अनुभव तथा स्मरण दोनों में विवेकाऽग्रह न होना ही है अर्थात् भेदज्ञान न हो पाना है (विवेक = भेद, अग्रह = ज्ञान न हो पाना अर्थात् भेद का ज्ञान न होना)।

एवञ्च प्राभाकर मत के अनुसार अनुभव और स्मरण—दोनों भेद ज्ञान का न हो पाना ही कारण है। इस भेदाऽग्रह को ही वे (प्राभाकर) भ्रम (भ्रान्ति) शब्द से कहते हैं; क्योंकि प्रभाकरानुयायी लोग सभी ज्ञानों को यथार्थ ही मानते हैं, इसका विशद विवेचन शालिकनाथकृत प्रकरणपञ्चिका के नयवीथी प्रकरण में किया गया है।

---

१. असत्ख्यातिवादी बौद्ध कहलाते हैं और मीमांसक विपरीतख्यातिवादी या अन्यथाख्यातिवादी कहलाते हैं। वार्त्तिककार श्री कुमारिलभट्टपाद ने निरालम्बनवाद का खण्डन करते हुए उपर्युक्त अभिप्राय का वर्णन सविस्तर किया है। तथाहि—

स्वप्नादिप्रत्यये बाह्यं सर्वथा न हि नेष्यते। सर्वत्राऽऽलम्बनं बाह्यं देशकालान्यथात्मकम्।।
जन्मन्येकत्र भिन्ने वा तथा कालान्तरेऽपि वा। तद्देशो वाऽन्यदेशो वा स्वप्नज्ञानस्य गोचरः।।
अलानचक्रेऽलातं स्याच्छीघ्रभ्रमणसंस्कृतम्। गन्धर्वनगरेऽभ्राणि पूर्वदृष्टं गृहादि च।।
पुर्वानुभूततोयं च रश्मितप्तोषरं तथा। मृगतोयस्य विज्ञाने कारणत्वेन कल्प्यते।।
द्रव्यान्तरे विषाणं च शशस्यात्मा च कारणम्। शशशृंगधियो मौण्ड्यं निषेधशिरसाऽपि च।।
वस्त्वन्तरैकसंसृष्टः पदार्थः शून्यताधियः। कारणत्वं पदार्थानामसद्वाक्यार्थकल्पने।।
अत्यन्ताऽननुभूतोऽपि बुद्ध्या योऽर्थः प्रकल्प्यते। तस्योत्पत्तौ कथञ्चित्स्युः पृथिव्यादिति कारणम्।।
(श्लोकवार्त्तिक, निरालम्बनवाद, कारिका-१०७-११४)

(स्वीयविपरीतख्यातिमतोपन्यासः)

यत्तु कैश्चिदेवमादिषु तदाकाशव भासमदह्नुत्य विवेकाऽग्रहणमेव भ्रान्तिरित्युक्तम्, तत् संविद्विरोधादेवोपेक्षणीयम्। को हि नामाङ्गुलि-निपीडितदृष्टिश्चन्द्रद्वित्वं न प्रकाशत इति ब्रूयात्। किञ्चैक एवाऽयं चन्द्रो न द्वावित्येवं द्वित्वविवेकं चन्द्रस्य विस्पष्टमनुसंदधानस्य चक्षुषा द्वित्वभ्रमो जायमनः कथं विवेकाऽग्रहणनिमित्तः स्यात्? एवमवगत दिक्कस्य दिग्भ्रमो नाऽग्रह निमित्तः सम्भवति।

उपर्युक्त प्राभाकरमत का खण्डन 'यत्तु कैश्चिदेवमादिषु:' ग्रन्थ से करते हैं। प्राभाकरों का कहना है कि इदन्त्वेन शुक्ति का प्रत्यक्ष होता है और चाकचिक्यवशात् रजत का स्मरण होता है तथा नेदं रजतम्—ऐसा बाधक ज्ञान का होने के कारण रजतार्थी की रजत की ओर प्रवृत्ति होती है—यह भ्रान्ति (भ्रम) की प्रक्रिया है। एवमादिषु अर्थात् रजतमिदम् इत्यादि ज्ञानों में तदाकारावभासम् अर्थात् शुक्ति के रजतत्वादि आकार के अवभास (प्रतीति) का अपह्नव (निषेध) करके विवेकाऽग्रहण (भेदाग्रह) को ही भ्रान्ति (भ्रम) कहते हैं। अर्थात् शुक्ति आदि की प्रतीति रजतत्वादि आकार में (रजत के आकार में) होता ही नहीं; किन्तु नेदं रजतम् इस प्रकार भेद ग्रहण (भेदज्ञान) के अभाव से ही रजतमिदम् यह ज्ञान और रजत ग्रहण की प्रवृत्ति होती है। इस स्थिति में भी रजतांश का स्मरण और इदमंश का प्रत्यक्ष होने से ही कहना पड़ता है कि सर्वं ज्ञानं यथार्थमेव = सभी यत्र यावत् ज्ञान यथार्थ ही है, कोई भी ज्ञान, अयथार्थ है ही नहीं। अपने इसी अभिप्राय को प्राभाकरों के शब्दों में कहते हैं—

अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्यां संविदि भासते।
वेद्यः स एव नान्यद्धि वेद्याऽवेद्यस्य लक्षणम्॥
इदं रजतमित्यत्र रजतं चावभासते।
तदेव तेन वेद्यं स्यान्न तु शुक्तिरवेदनात्॥
नन्वेवं रजता भासः कथमेष धरिष्यति।
उच्यते शुक्तिशकलं गृहीतं भेदवर्जितम्॥
शुक्तिकाया विशेषा ये रजताद् भेदहेतवः।
ते न ज्ञाता अभिभवाज्ज्ञाता सामान्यरूपता॥
अनन्तरं च रजते स्मृतिर्जाता तयाऽपि च।
मनोदोषात् तदित्यंशपरामर्शविवर्जितम्॥
रजतं विषयीकृत्य नैव शुक्तेर्विवेचितम्।
स्मृत्याऽतो रजताभास उपपन्नो भविष्यति॥
सन्निहितरजतशकले रजतमतिर्भवति यादृशी सत्या।
भेदाऽनध्यवसायादियमपि तादृक्परिस्फुरति॥

एवं स्वप्नेऽपि वस्तूनि सार्थमाणानि सन्त्यपि ।
अनुभूतांशशेषेण भासन्ते गृह्यमाणवत् ॥
पीतशङ्खावबोधे च पित्तस्येन्द्रियवर्त्तिनः ।
पीतिमा गृह्यते द्रव्यरहितोऽप्स्विव तिग्मता ॥
शङ्खस्येन्द्रियदोषेण शुक्तिमा च न गृह्यते ।
केवलं द्रव्यमात्रं तु प्रथते रूपवर्जितम् ॥
गुणे द्रव्यव्यपेक्षे च द्रव्ये च गुणकाङ्क्षिणि ।
भासमाने तयोर्बुद्धिरसम्बन्धं न बुध्यते ॥
मधुरे तिक्तधीरेवं व्याख्याता पित्तवर्त्तिनः ।
तैक्त्यस्य रसहीनस्य गुडस्य च परिग्रहात् ॥
तथा द्विचन्द्रबोधेऽपि भिन्नमेवैन्द्रियं महः ।
भिन्ने जनयति प्रख्ये एकस्मिन्नेव शीतगौ ॥
संवित्ती तेन भिद्येते तद्द्वित्वे सति मन्यते ।
भिन्नार्थबुद्धितुल्यत्वमत्रापि खलु पूर्ववत् ॥
दिङ्मोहे दृष्टसामर्थ्याद् दिक्स्वरूपाऽनवग्रहात् ।
दिगन्तरस्वरूपस्य स्मरणाच्च भ्रमो मतः ॥
अलातचक्रेऽलातस्य भ्रमतः सर्वतो द्रुतम् ।
निरन्तरं धियो जाताश्चक्रबुद्धिसमा मताः ॥
कालभेदस्तु शीघ्रत्वाद्धियां तासां न लक्ष्यते ।
चक्रधीव्यवहारश्च तेनाऽस्मिन्नपि युज्यते ॥
एतेनैव प्रकारेण सर्वभ्रान्तिषु पण्डितैः ।
ऊहनीया हेतुभेदा यथार्थज्ञानसिद्धये ॥
स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सन्देहेऽपि यदा द्वयम् ।
स्मर्यतेऽन्योन्यनिर्मुक्तं तदार्थविरहः कुतः ॥ इत्यादि ।

कथं पुनर्द्वित्वस्यावगमः? न संस्मरणं तद्धेत्वभावात्। न ग्रहणम्, अप्राप्तस्य चक्षुषा ग्रहणाऽसम्भवात्। उच्यते—देशद्वयं नेत्रेण प्राप्तं चन्द्रश्च। तयोश्च संसर्गो दोषवशादवगम्यते। देशद्वये चन्द्रं प्रतीत्यदेशगतं द्वित्वं दोषवशाच्चन्द्रेऽध्यवस्यति। तथैव पित्तवर्तिपीतत्वं शङ्खस्वरूपं च चक्षुषा गृह्णन् दोषवशात् सम्बन्धं बुद्ध्यत इत्यवगन्तव्यम्।

किञ्च यदि सम्यग् रजतबोधे तादात्म्यमवभासते, न शुक्तिरजतवेदने, ततोऽवभास्यभेदादवभासस्य वैलक्षण्यं प्रागेव बाधकादनुसन्धातुं शक्नुयात्, वैलक्षण्यावगमाच्च न प्रवर्तेत।

किञ्च यदि रजतार्थी शुक्तेरुपादानं कार्यतयाऽवगच्छेत्, ततोऽकार्यस्य

कार्यतया भानात् विपरीतख्यात्यापत्तिः। अथ नाऽवगच्छेत्? न प्रवर्तेत, तत्कार्याऽवगमाधीनत्वात् प्रवृत्तेः।

शङ्का—कथं पुनरिति। द्वित्वादि भ्रम का कारण यदि विवेकाऽग्रह (भेदाऽग्रह) न हो, तो द्वित्वादि की प्रतीति कैसे हो पायेगी? क्योंकि द्वित्व आदि का स्मरण तो हो नहीं सकता। स्मरण न होने का कारण यह है कि चन्द्र द्वित्व का अनुभव कदाचिदपि और किसी को भी नहीं हुआ है। अतः द्वित्व का ग्रहण = प्रत्यक्ष भी नहीं होता; क्योंकि अप्राप्तस्य चक्षुषा ग्रहणाऽसम्भवात् अर्थात् असन्निकृष्ट द्वित्व का चक्षु से = नेत्र से ग्रहण (प्रत्यक्ष) होना सम्भव नहीं है (यह दोष विवेकाऽग्रहवादी प्रभाकर के मत में ही है)। पीतशङ्खावबोधे च पित्तस्येन्द्रियवर्तिनः। पीतिमा गृह्यते द्रव्यरहितोऽप्स्विव तिग्मता। जैसे— तिग्मताश्रय द्रव्य तेज का ग्रहण न होने पर भी अप्सु तिग्मता अर्थात् जल में ताप (उष्णता) का ग्रहण त्वचा से होता है, उसी तरह इन्द्रियवर्ती पीतिमाधारभूत पित्त का ग्रहण न होने पर भी चक्षु से पीतिमा का ग्रहण होता ही है।

उक्त **शङ्का** का समाधान—**तत् संविद्विरोधादेव उपेक्षणीयम् इति**। क्योंकि तदाकारावभास भ्रम में होता ही है, अतः ज्ञानविरोध होने से उक्त मत की उपेक्षा ही करनी चाहिये, वह उपेक्षा के ही योग्य है।

प्रश्न—ज्ञानविरोध कैसे है?

उत्तर—ज्ञानविरोध इस प्रकार है—'अङ्गुलिनिपीडितदृष्टिः' अर्थात् जिस व्यक्ति ने अपने नेत्र के अग्रभाग पर अंगुलि से थोड़ा दबाया हो, वह व्यक्ति 'चन्द्रद्वित्वं न प्रकाशते' ऐसा कभी नहीं कहेगा। अतः चन्द्र के एक रहने पर भी द्वित्वरूप ये (दो चन्द्र का) भान (ज्ञान) होता है, तथैव शुक्ति का दोष के कारण रजतत्वेन (रजत के रूप में) भान होता है।

इसी अभिप्राय को 'किं चैक एवायम्' ग्रन्थ से विशद कर रहे हैं—**किञ्चैक एवाऽयमिति**। जो व्यक्ति 'एक चन्द्र है, दो चन्द्र नहीं है' ऐसा जानता है तो वह व्यक्ति चन्द्र में द्वित्व नहीं है—इस द्वित्वभेद का अनुसन्धान भी उसे रहता ही है, किन्तु द्वित्वविवेक का अनुसन्धान रहने पर भी उसे 'द्वौ चन्द्रौ' इत्याकारक द्वित्व भ्रम होता है, उस समय उसे विवेकाऽग्रह तो नहीं है, प्रत्युत चंद्रौ च द्वौ इत्याकारक विवेकाग्रह ही रहता है। अतः भ्रान्ति (भ्रम) का निमित्त विवेकाऽग्रह को कैसे कह सकते है? इसलिये तदाकारावभास को ही भ्रम (भ्रान्ति) कहना चाहिये, विवेकाऽग्रह को भ्रान्ति (भ्रम) कहना उचित नहीं है।

एवमवगतदिक्कस्य दिग्भ्रमो नाऽग्रहनिमित्तः सम्भवति अर्थात् इसी प्रकार जिस व्यक्ति को यह पूर्व दिशा है, इत्याकारक ज्ञान हुआ है, उसे भी कभी-कभी दिग् भ्रम हो जाता है। यहाँ भी विवेकाऽग्रह निमित्त (कारण) नहीं है। इस कारण विवेकाऽग्रह को भ्रान्ति

(भ्रम) का कारण कहना उचित नहीं है।

शङ्का—यदि विवेकाऽग्रह को द्वित्वादि भ्रान्ति के होने में कारण नहीं मानते हैं, तो द्वित्वादि की प्रतीति कैसे होती है?– 'कथं पुनर्द्वित्वस्याऽवगमः? न संस्मरणं तद्धेत्वभावात्'। द्वित्वादि का स्मरण तो होता नहीं; क्योंकि चन्द्र में द्वित्व का कदाचिदपि (कभी भी) अनुभव किसी को नहीं हुआ है। अतः अनुभवरूप कारण के विना स्मरण भी कैसे होगा? 'न ग्रहणम्, अप्राप्तस्य चक्षुषा ग्रहणाऽसम्भवात्' उसका कोई कारण न होने से द्वित्व का ग्रहण अर्थात् प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता; क्योंकि असन्निकृष्ट द्वित्व का चक्षु से ग्रहण हो पाना सम्भव नहीं है।

समाधान—अब सिद्धान्ती उत्तर दे रहा है—**उच्यते देशद्वयं नेत्रेण प्राप्तमिति**। दोनों देश नेत्रसम्बद्ध हैं तथा चन्द्र भी दोनों से सम्बद्ध है। इस प्रकार की प्रक्रिया से दो देशों में विद्यमान द्वित्व का ही चन्द्र में अवभास होता है। यह अवभास विवेकाऽग्रहण के कारण नहीं हो रहा है। एवञ्च दोष के कारण संसर्ग का ज्ञान होता है। दोनों देश और चन्द्रमा को जानकर देशगत द्वित्व के कारण चन्द्रमा में उसका आरोप होता है। अतः भ्रम (भ्रान्ति) का निमित्त (कारण) विवेकाऽग्रह नहीं है। **तथा पित्तवर्त्तिपीतत्वमिति।** इसी प्रकार पीतः शंखः में भी पित्त द्रव में विद्यमान जो पीतत्व है, वह चक्षु से गृहीत होता है और शङ्खस्वरूप का भी ग्रहण (प्रत्यक्ष) होता है। तब पित्त दोष के कारण ही इन दोनों के (पीतत्व और शङ्ख के) सम्बन्ध का 'पीतः शङ्खः' के रूप में व्यक्ति जानता है। इस कारण विवेकाऽग्रहण को भी भ्रम (भ्रान्ति) समझना ठीक नहीं है; किन्तु व्यधिकरण धर्म तादात्म्य प्रतीति को ही भ्रान्ति (भ्रम) शब्द से मानना चाहिये।

किञ्च—उपर्युक्त कथन की समर्थन में एक और भी युक्ति है—**किञ्च यदि सम्यग् रजतबोधे तादात्म्यमिति**। वास्तविक रजतज्ञान में यदि तादात्म्य का भान होता है, तो शुक्ति-रजत ज्ञान में तादात्म्य का भान (प्रतीति) नहीं होना चाहिये। अभिप्राय यह है कि आपणस्थ रजतज्ञान में तादात्म्य = रजतत्व तादात्म्य भासित होता है और शुक्तिरजतज्ञान स्थल में रजतत्वतादात्म्य भासित नहीं होता है। इससे निष्कर्ष निकला कि अवभास्य जो रजतत्वतादात्म्य और अतादात्म्य—दोनों का भेद होने से (विशेष = वैलक्षण्य होने से) अवभास्य अर्थात् शुक्तिरजतज्ञान का जो वैलक्षण्य = आपणस्थ रजतज्ञानापेक्षया जो अप्रामाण्यलक्षण वैलक्षण्य, उसकी प्रतीति नेदं रजतम्– इस बाधक ज्ञान के उत्पन्न होने के पूर्व ही होनी चाहिये अर्थात् इदं ज्ञानम् अप्रमाणम्—यह ज्ञान अप्रमाण है। तथा च ज्ञान के अप्रामाण्य का ज्ञान होने पर रजतार्थी व्यक्ति कभी प्रवृत्त होगा ही नहीं, भ्रान्ति (भ्रम) का उच्छेद ही हो जायेगा; किन्तु प्रवृत्ति तो होती है। इसलिये वास्तविक रजत के ज्ञान के सदृश शुक्तिरजत ज्ञान में भी रजतत्व का तादात्म्य का दोष के कारण भान होता ही है। अतः दोषकृत तादात्म्य ही भ्रान्ति (भ्रम) है, विवेकाऽग्रह नहीं अर्थात् विवेकाग्रहाभाव = विवेकाऽग्रहण न होना ही भ्रान्ति (भ्रम) है।

प्राभाकर के मत में प्रकारान्तर से विपरीतख्याति होने लगेगी, जो उसके लिये अनिष्टापत्ति कहलायेगी, उसे बता रहे हैं--**किञ्च यदि रजतार्थी शुक्तेरिति।** रजतार्थी यदि शुक्ति के उपादान = ग्रहण को कार्यतया = कर्तव्य के रूप में जानता है अथवा नहीं? यदि (रजतार्थी) शुक्तिग्रहण को अपना कार्य समझता है तो वास्तविकता तो यह है कि शुक्ति का उपादान (ग्रहण) करना रजतार्थी का कार्य नहीं है, तब अकार्य का कार्यरूप से भान होने के कारण उसके मत में कार्यतांश में विपरीतख्याति होने लगेगी। यदि वह अकार्य को कार्य के रूप में नहीं समझ रहा है, तो शुक्तिखण्ड को लेने के लिये प्रवृत्त ही होगा; क्योंकि प्रवृत्ति तो कार्यज्ञान के अधीन है; क्योंकि प्राभाकर के मतानुसार कार्यता का ज्ञान प्रवृत्ति होने में कारण माना जाता है। अत: कार्यता का ज्ञान न रहने से प्रवृत्ति नहीं हो पायेगी; किन्तु शुक्तिरजतज्ञान के होने पर प्रवृत्त तो होता ही है। इस कारण शुक्ति का उपादान अकार्यभूत रहने पर भी कार्यतया = कार्य के रूप में प्रतीत तो हो ही रहा है, अत: न चाहने पर भी विपरीतख्याति उसके गले प्रतीत हो ही गई।

अथ कार्यत्वाऽनवगमेऽपि तत्कार्यावगतिसादृश्यात् प्रवृत्तिः? ततस्तत्कार्यत्वाऽनवगमेनाऽकार्याऽवगतिसादृश्यमप्यस्तीति निवृत्तिरपि स्यात्, सादृश्ययोरविशेषात्। न चाऽसति कारणे कारणसदृशं तत्कार्यं साधयितुमर्हति, मा सीषधच्छुक्तिकारजतकार्यमाभरणम् ।

ननु व्रीहिकार्यमपूर्वं नीवाराः साधयन्ति? नैवम्, व्रीह्यंशा एव तत्र कार्यं कुर्वन्ति, ते च विकलाः सन्तोऽप्यशक्त्यवस्थायां तत्साधनत्वेन यथाशक्तिप्रयोगविधानादवगता इति नाऽकारणात् तत्सदृशात् कार्योत्पत्तिः।

अथ त्वकार्याऽनवगतिरेव प्रवृत्तेः कारणम्? ततो बाह्या अपि वेदार्थे प्रवर्तेरन्, अकार्यत्वाऽनवगमात्। अथ त्वकार्यमेव तेऽवगच्छेयुः? ततः कार्यस्याऽकार्यतयाऽवगमाद् विपरीतख्यातिरित्यास्तां तावत्। तस्मात्स्वप्नादिष्वपि बाह्यस्यैवाऽन्यथाभूतस्यैवाऽन्यथाऽवभासात् सिद्धं सर्वत्र बाह्यालम्बनत्वम्।

(योगाचारमतखण्डनम्)

अथ स्वप्नवत् प्रत्ययत्वात् स्तम्भादिज्ञानमन्यथाभूतमित्यनुमीयते? तदसत्, तथासति प्रत्ययत्वाऽविशेषात् त्वदीयमप्यनुमानं मिथ्या स्यात्। मिथ्यात्वग्राहिणोऽनुमानस्याऽमिथ्यात्वे वा तत्रैव हेतोर्व्यभिचारः। तस्मात् सूक्तम्—

यस्य च दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवाऽसमीचीनः

प्रत्ययो नाऽन्यः इति। तस्मादव्यभिचारात् प्रत्यक्षं न परीक्षितव्यम्।

इति शून्यवादः

****

शङ्का—अथ कार्यत्वाऽनवगमेऽपीति। शुक्ति का उपादान = ग्रहण करने में कार्यत्व की अथवा अकार्यत्व की प्रतीति = ज्ञान न रहने पर भी कार्यावगतिसादृश्यात् = कार्यत्वज्ञान के सादृश्य से प्रवृत्ति होती है—यदि कहें तो क्या हानि होगी? जैसे पुरोवर्ति द्रव्य का उपादान = ग्रहण कर्तव्य के तुल्य है।

समाधान—ततस्तत्कार्यत्वाऽनवगमेनेति। यदि कार्यत्व के सादृश्य ज्ञानमात्र से प्रवृत्ति का होना कहा जाय, तो जैसे कार्यत्वसादृश्यज्ञान है, उसी तरह कार्यत्वज्ञानं नास्ति—इस प्रकार का अकार्यत्व सादृश्यज्ञान भी हो रहा है, उस कारण निवृत्तिरपि स्यात् = निवृत्ति भी होनी चाहिये; क्योंकि निवृत्ति के प्रति भी अकार्यत्व सादृश्यज्ञान भी हेतु है। कार्यत्व-अकार्यत्व के सादृश्यों में कोई विशेष तो है नहीं, जिससे कार्यत्व सादृश्य से तो प्रवृत्ति हो और अकार्यत्व सादृश्य से निवृत्ति न हो। कार्यत्व सादृश्य के ज्ञान से प्रवृत्ति के होने में एक अन्य बाधक भी है। **न च असति कारणे इति।** दोनों सादृश्यों के समान होने से जब कारण का अभाव हो, तब कारण के सदृश अन्य पदार्थ (पदार्थान्तर) रूप कारण उस कार्य को नहीं कर पाता। जैसे रजत से निर्माण किये जाने वाले कार्य को शुक्तिका (सीप) रजत के सदृश होती हुई भी रजतकार्य को भी कभी नहीं कर सकती। अन्यथा रजत से किये जान वाले आभूषण (अलंकार) आदि को शुक्ति-खण्ड (शकल) से क्यों नहीं बनाया जाता? अतः स्पष्ट है कि कार्यत्वसादृश्यज्ञान से प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। निष्कर्ष यह है कि कारण के सदृश दूसरा पदार्थ उस कार्य की सिद्धि नहीं कर सकता।

इस पर कहते हैं- **मा सषिधच्छुक्तिका रजत कार्यमारभमाणमिति** । रजत से होने वाला कार्य, शुक्तिका से भने ही न हो, मासिषीधत्- यहाँ पर सिध् धातु से णिच् प्रत्यय करके लुङ् लकार का प्रयोग किया गया है। अतः अकार्यत्वसादृश्यज्ञान से प्रवृत्ति का होना सम्भव नही है।

शङ्का—ननु व्रीहिकार्यमपूर्वमिति। व्रीहिजन्य अपूर्व रूप कार्य की निष्पत्ति जैसे—नीवार धान्य से है। अतः कारण के समान ही दूसरा पदार्थ उस कार्य को निष्पन्न नहीं कर सकता—यह कहना उचित नहीं है।

समाधान—नैवम्, व्रीह्यंशा एव तत्र कार्यं कुर्वन्ति इति। अर्थात् नीवारों में भी व्रीहिसदृश कहा जाता है। अतः नीवारगत व्रीह्यंश ही अपूर्व को उत्पन्न करते हैं। नीवार से अपूर्वोत्पत्ति नहीं होती।

एक अन्य समाधान (उत्तर) दे रहे हैं—**ते च विकलाः इति।** यथाशक्ति यागादि-प्रयोगः कर्तव्यः—यह विधान उपलब्ध होता है। ते च अर्थात् व्रीह्यंश यद्यपि नीवारों में विकल हैं, तथापि अशक्ति की अवस्था में (व्रीहि के उपलब्ध न होने पर) तत्साधनत्वेन व्रीहि से सम्पन्न होने वाले अपूर्व के साधन के रूप मे व्रीह्यंश विकल उन नीवारों को ही समझा जाता है। अभिप्राय यह है कि व्रीहि के उपलब्ध न होने पर नीवार से ही हवि (चरु) का निष्पादन करना चाहिये। अतः अकारणात् अर्थात् कारण के सदृश प्रतीत होने वाले किसी अन्य द्रव्य से कार्य (अपूर्व) की उत्पत्ति नहीं हो सकती; किन्तु यहाँ तो व्रीहि के अभाव में नीवार द्रव्य का ग्रहण करना शास्त्र ने ही बताया है, उस कारण नीवारों में भी अपूर्व निष्पन्न करने की साधनता है। निष्कर्ष यह है कि जो कारण नहीं है; किन्तु कारण के सदृश है, उससे भी अपूर्व रूपकार्य उत्पन्न होता है।

शङ्का—'अथ त्वकार्याऽनवगतिरेव प्रवृत्तेः कारणम्?' अर्थात् कार्यऽवगतिसदृश्य प्रवृत्ति के प्रति हेतु भले ही न हो, किन्तु अकार्याऽनवगति को ही प्रवृत्ति के प्रति कारण मान लिया जाय? अर्थात् 'इदम् अकार्यं न' इत्याकारक ज्ञान से ही शुक्ति आदि के उपादान (ग्रहण) करने में प्रवृत्ति हो सकती है।

समाधान—ततो बाह्या अपि वेदार्थे प्रवर्तेरन् अकार्यत्वानवगमात् इति। अर्थात् यदि अकार्याऽनवगति को ही प्रवृत्ति होने में कारण मान लिया जाय तो बाह्य = बौद्ध आदि भी वेदार्थ = याग आदि वैदिक कर्मों में प्रवृत्त होने लगेंगे; क्योंकि उन बौद्धों को यागादिरकार्यमेव अर्थात् यागादिकर्म अकार्य ही हैं—ऐसा निश्चय न होने के कारण तद्विषयक अकार्यत्त्व ज्ञान उन्हें नहीं है।

शङ्का—बाह्य = बौद्ध आदि भी निश्चितरूप से वेदार्थ को अकार्य ही समझते हैं, उस कारण उनकी इसमें प्रवृत्ति नहीं होती।

समाधान—कार्य को अकार्य समझने के कारण गले पतित न्यायं से विपरीत-ख्याति ही उनके गले में लिपट जायेगी।

तस्मात् स्वप्नादिष्वपीति। जैसे जाग्रद्भ्रम में बाह्यपदार्थ ही आलम्बन रहता है, ज्ञान आलम्बन नहीं होता, उसी प्रकार स्वप्नादि भ्रमों में भी अन्यथा दृष्ट बाह्य पदार्थ का ही अन्यथा (अन्य प्रकार से) प्रतिभास हुआ करता है, उस कारण बाह्य पदार्थ ही आलम्बन हुआ करता है। इस प्रकार सर्वत्र भ्रम मात्र में बाह्य पदार्थ ही आलम्बन होता है, ज्ञान नहीं।

शङ्का—विज्ञानवादी बौद्ध ने अपने पक्ष के समर्थन में जिस अनुमान को बताया था, वह इस प्रकार है—बाह्यप्रत्यया मिथ्या प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्। इस अनुमान से स्तम्भादिज्ञान अन्यथाभूत है अर्थात् मिथ्याभूत (मिथ्या) है। इस कारण बाह्य पदार्थ आलम्बन नहीं हो सकता, किन्तु ज्ञान ही आलम्बन है, यह सिद्ध होता है।

समाधान—तदसत्, तथासति प्रत्ययत्वाऽविशेषादिति। अर्थात् विज्ञानवादी बौद्ध के द्वारा उपस्थित किया गया अनुमान असंगत है; क्योंकि उपन्यस्त अनुमान में भी प्रत्ययत्व हेतु समान ही है। इसलिये आपका अनुमान भी अप्रमाण ही कहा जायेगा।

शङ्का—यदि विज्ञानवादी बौद्ध कहे कि मिथ्यात्व को सिद्ध करने वाला अनुमान मिथ्या नहीं है, तो क्या दोष है?

समाधान—आपके द्वारा प्रदर्शित हेतु का आपके अनुमान में न होना ही दोष (व्यभिचार) है। यदि प्रत्ययत्व हेतु से ही बाह्यस्तंमादि ज्ञानों का मिथ्यात्व है तो उक्त अनुमान का भी मिथ्यात्व प्रत्ययत्व हेतु से ही हो सकता है। तथा च उससे ज्ञान का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता। और यदि स्तम्भादिप्रत्यय के मिथ्यात्व का ज्ञापक उक्त अनुमान का मिथ्यात्व नहीं होता है, तो मिथ्यात्वरूप के अभाव को सिद्ध करने वाले अनुमान में प्रत्ययत्व हेतु के रहने से व्यभिचारित्व दोष प्राप्त होगा उस कारण मिथ्यात्वाव्यभिचारी प्रत्यत्व हेतु में मिथ्यात्व की साधकता कैसे सम्भव हो सकती है?

शङ्का—उपर्युक्त कथन से क्या आप यह बताना चाह रहे हैं कि संसार (जगत) में मिथ्या प्रत्यय है ही नहीं?

समाधान—भाष्यकार शबरस्वामी ने उचित ही कहा है— यस्य च दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्यय: स एवाऽसमीचीन: प्रत्ययो नान्य:- इति।

तस्मादिति। जिस व्यक्ति का करण = इन्द्रिय दूषित हो, उसका प्रत्यय (ज्ञान) मिथ्या समझना चाहिये। जैसे- पीत: शंख: = पीला शंख, पीला शंख—इत्याकारक ज्ञान वाले व्यक्ति के नेत्र पित्तदोष से दूषित रहने के कारण उसे पीला शंख प्रतीत होता है। यत्र च मिथ्येति प्रत्यय: स एव असमीचीन: प्रत्ययो नाऽन्य: । और जहाँ यह मिथ्या है इत्याकारक प्रत्यय होता है, वही असमीचीन प्रत्यय है (मिथ्या प्रत्यय है); दूसरा नहीं। जैसे शुक्ति-रजत ज्ञान में मिथ्या- इत्याकारक प्रत्यय होता है; क्योंकि पश्चात् नेदं रजतम्- यह बाधज्ञान होता है, इस कारण शुक्ति-रजत प्रत्यय को असमीचीन = मिथ्या कहा जाता है। नाऽन्य: = रजतत्वावच्छिन्न रजत में रजतविषयक जो प्रत्यय होता है, वह मिथ्या नहीं है। **तस्माद् अव्यभिचारादिति।** जो व्यभिचरित होता है, वह प्रत्यक्ष ही नहीं है और जो व्यभिचरित नहीं होता वही प्रत्यक्ष है और वही प्रमाण भी है। इसलिये उसकी परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। परीक्षा तो व्यभिचारी की ही की जाती है। अत: व्यभिचारशून्य होने के कारण (व्यभिचार न होने कारण) प्रत्यक्ष प्रमाण की परीक्षा करना अनावश्यक है।

।। इति शून्यवादखण्डनं समाप्तम् ।। प्रत्यक्षखण्डश्च समाप्त: ।।

****

अथानुमानखण्डारम्भः

प्रत्यक्षस्य सत्सम्प्रयोगजन्यत्वलक्षणेन लोकसिद्धेनाव्यभिचारमुक्त्वा, इदानीमनुमानादेरप्यव्यभिचारार्थं लोकसिद्धमेव लक्षणमाह—'अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः' (शा० भा०)।

सूत्रकार महर्षि जैमिनि ने तो 'सत्सम्प्रयोगे' सूत्र से प्रत्यक्षमात्र का लक्षण किया है; किन्तु भाष्यकार शबरस्वामी ने प्रकरणवशात् अनुमान आदि का भी लक्षण कर दिया। वृत्तिकार उपवर्ष के मत का प्रतिपादन करने के प्रसङ्ग में प्रत्यक्ष का लक्षण भी बता दिया है। तदनन्तर क्रमप्राप्त 'अनुमानम्' इत्यादि ग्रन्थ से अनुमान का भी लक्षण कर दिया है।

'अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्य' इस भाष्यग्रन्थ को कतिपय लोगों ने जैमिनि का ही सूत्र समझकर व्याख्या की है; किन्तु यह ध्यान रखना है कि 'अनुमानं' यह सन्दर्भसूत्र नहीं है; बल्कि भाष्य ही है। श्रीविश्वेश्वरभट्ट (श्री गागाभट्ट) महोदय ने भी अपने भाट्ट-चिन्तामणि में 'इति सूत्रेणोक्तम्' कहा है। शास्त्र-लक्षण में भी श्री गागाभट्ट ने उक्त भाष्यांश को सूत्र समझकर 'सूत्र' शब्द से ही कहा है; किन्तु वस्तुतः वह अंश मूल भाष्य का ही अंश है। प्रस्तुत प्रसंगानुसार सभी प्रमाणों का लक्षण बताने के लिये भाष्योक्त अनुमान-लक्षण का अवतरण कर रहे हैं—**प्रत्यक्षस्येति**। सत्सम्प्रयोगे इत्यादि लौकिक लक्षण को ही सूत्रकार ने बताया है। इस लक्षण के द्वारा प्रत्यक्ष का कहीं भी व्यभिचार नहीं है, यह पूर्व में बता दिया गया है, जैसे—'अतो न निरालम्बनः प्रत्ययः, अतो नाऽभिचरति प्रत्यक्षम् इति'।

इदानीमनुमानादेरिति। 'यत्र व्यभिचरति तदेवाऽनुमानम् इति' जहाँ कार्य-कारण-भाव का विप्लव (व्यभिचार) नहीं होता, उसी को अनुमान कहते हैं। इसी तथ्य को बताने के लिये लोकव्यवहार-प्रचलित अनुमान का भी लक्षण भाष्यकार शबरस्वामी ने बतलाया है। भाष्योक्त अनुमान-लक्षण इस प्रकार है— 'अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः' अर्थात् जिस धूमरूप एकदेश का व्याप्तिरूप सम्बन्ध महानस आदि स्थलों में देखा गया है, उसे पर्वत आदि स्थानों में देखने से दूसरा (अन्य) जो एकदेश चक्षुरादि के सन्निकृष्ट नहीं है अर्थात् असन्निकृष्ट है, व्यापक साध्यविषयक ज्ञान है, उसी को अनुमान (अनुमिति) कहते हैं। जिन दो पदार्थों का सम्बन्ध ज्ञात है, जैसे—वह्नि-धूम का कार्य-कारणभाव सम्बन्ध ज्ञात है, उस सम्बन्ध के एकदेश के दर्शन से अर्थात् धूम के दर्शन से अर्थात् अविनाभावि दर्शन से असन्निकृष्ट अर्थात् प्रमाणान्तर से अबाधित और अज्ञात दूसरे एकदेश में स्थित वह्निविषयक जो ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् 'यहाँ वह्नि है' इत्यादि, उसी ज्ञान को 'अनुमान' शब्द से कहा जाता है।

शालिकनाथ मिश्र ने कहा भी है—

ज्ञातसम्बन्धनियमस्यैकदेशस्य दर्शनात् ।
एकदेशान्तरे बुद्धिरनुमानमबाधिते ।।
यः कश्चिद्येन यस्येह सम्बन्धो निरुपाधिकः ।
प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धः स तस्य गमको मतः ।।

ज्ञातः सम्बन्धनियमो यस्य, तस्यैकदेशस्य दर्शनादेकदेशान्तरे या बुद्धिः सा अनुमानमित्यर्थः । 'अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः'। उक्त अनुमानलक्षण में 'अनुमान' शब्द अनुमिति-परक है और 'ज्ञातसम्बन्धस्य' आदि उसका लक्षण है। लक्षणगत ज्ञातसम्बन्ध शब्द समस्त पद है । ज्ञातः सम्बन्धो येन अर्थात् जिस व्यक्ति ने पञ्चावयव वाक्यनिर्दिष्ट दृष्टान्त में व्याप्य और व्यापक—दोनों का व्याप्तिरूप सम्बन्ध जान लिया है, उसे ज्ञातसम्बन्ध व्यक्ति कहते हैं। उस व्यक्ति को एकदेशव्याप्ति से विशिष्ट हुए हेतु के दर्शन से चक्षु से असन्निकृष्ट दूसरे एकदेशी व्यापक वह्नि आदि पदार्थ का जो ज्ञान (बुद्धि) होता है, उसे अनुमिति कहते हैं।

यस्य यादृशस्य येन यादृशेन सह साक्षाद् वा प्रणाड्या वा यादृशः सम्बन्धः संयोगः, समवायः, एकार्थसमवायः कार्यकारणत्वमन्यो वा दृष्टान्तधर्मिषु नियतो ज्ञातः तं तादृशं साध्यधर्मिषु दृष्टवतस्तस्मिंस्तादृशे तादृशसम्बन्धसम्बन्धिनि प्रबलेन प्रमाणेन ताद्रूप्यतद्विपर्ययाभ्यामपरिच्छिन्ने या बुद्धिः साऽनुमानम्। यथा धूमस्याऽनुपरतोर्ध्वगमनस्याग्निसाहित्यं महानसादिषु नियतमुपलब्धवतः पर्वते तद्दर्शनादग्निज्ञानम्।

उक्त अनुमान लक्षण की व्याख्या इस प्रकार से भी कर सकते हैं– 'यस्य यादृशस्य येन यादृशेन सह साक्षाद् वा प्रणाड्या वा यादृशः सम्बन्धः– संयोगः, समवायः, एकार्थसमवायः कार्यकारणत्वमन्यो वा दृष्टान्तधर्मिषु नियतो ज्ञातः तं तादृशं साध्यधर्मिषु दृष्टवतस्तस्मिंस्तादृशे तादृशसम्बन्धसम्बन्धिनि प्रबलेन प्रमाणेन ताद्रूप्यतद्विपर्ययाभ्यामपरिच्छिन्ने या बुद्धिः साऽनुमानम्।' अर्थात् यस्य = धूमस्य, यादृशयस्य = अनुच्छिन्नमूलादेः, येन = वह्निना, यादृशेन = धूमसहकारिकाष्ठादिजन्येन, (इदं विशेषणम् अयोगोलकादिनिष्ठवह्निव्यावृत्त्यर्थम्) साक्षात् = यथा वह्निधूमयोः प्रणाड्या; यथा मीमांसकमते ज्ञानस्य अप्रत्यक्षत्वात्, ज्ञाततायाः प्रत्यक्षेण, प्रत्यक्षस्य च इन्द्रियेण सम्बन्धः इति ज्ञाततयाः प्रत्यक्षप्रणाड्या इन्द्रियानुमानं, प्रत्यक्षस्य अप्रत्यक्षत्वेन साक्षात् प्रत्यक्षेण इन्द्रियाऽनुमानाऽसम्भवात्।

संयोगेति। यथा यत्र दूरात् केनाऽपि मर्यादया गच्छन् हस्ती (गजः) पृष्ठतो दृष्टः, तत्र तेन हस्तिना (गजेन), यद् हस्तिपकाऽनुमानं, तत्र संयोग एव सम्बन्धः, अनुमेयेन अनुमापकस्य संयोगमात्रस्य सत्त्वात्, पक्षे हस्तिनि, हस्तिनोऽपि तादात्म्यसम्बन्धेन सत्त्वात्। एवं गच्छद्रथेन सारथ्यनुमाने वाहाऽनुमाने च संयोग एव ज्ञेयः।

समवायेति। यत्र बिले अर्धं प्रविष्टस्य मूषकादेर्दृश्यमानपुच्छेन अनुमानं, तत्र समवाय एव सम्बन्धः, मूषकादि शरीरस्य अवयवभूतेन पुच्छेन सह समवायस्यैव सम्बन्धस्य सत्त्वात्। केवलसंयोगसमवाययोर्व्याप्तिकारणत्वं दुर्लभं मत्वा आह—**एकार्थसमवाय इति । यथा गन्धेन रसाऽनुमाने, एतद्वृक्षत्वेन कपि-संयोगाऽनुमाने च साध्य-साधनयोरेकार्थ-**समवाय एव सम्बन्धः। कार्यकारणत्वम् = यथा वह्नि-धूमयोः कार्य-कारणभाव एव सम्बन्धः। अन्यः = प्रयोज्य-प्रयोजकभावादिर्यथा वह्न्यभावेन धूमाऽभावानुमाने। उक्तं च वैशेषिकोपस्कारेऽपि कार्याल्लिङ्गाद् धूमालोकादेरग्न्याद्यनुमानम्, कारणादपि यथा—बधिरस्य भेरी-दण्डसंयोगविशेषाच्छब्दानुमानम्, यथा वा धार्मिकस्य यथाविधियागस्नानाद्यनुष्ठाना-द्धर्मस्वर्गाद्यनुमानम्, यथाविधि कारीर्याद्यनुष्ठानाद् वा वर्षाऽनुमानम्, पयःपूर्णनद्यादौ खन्य-मानप्रवाहाद् वा जलनिस्सरणाऽनुमानम्, उपरि वृष्टिदर्शनाद् वा नदीवृद्ध्यनुमानम्, स चाऽयं कार्य-कारणभावलक्षण एकः सम्बन्धः प्रकारद्वयेनोक्तः। संयोगिनः शरीरस्य दर्शनात् त्वगिन्द्रियाऽनुमानम्, विरोधिनो विस्फूर्ज्जतोऽहेर्दर्शनात् झटाद्यन्तरितनकुलाऽनुमानम्, सम-वायिना जलौष्ण्येन तत्सम्बद्धतेजोऽनुमानम्। इति।

दृष्टान्तधर्मिष्विति। दृष्टान्तधर्मिषु = सपक्षेषु, नियतो ज्ञातः = नियमेन दृष्टः, यस्येत्य-नेनाऽन्वयः। तम् = धूमम्। तादृशम् = अविच्छिन्नमूलम्। साध्यधर्मिषु = पक्षेषु पर्वतादिषु दृष्टवतः जनस्य, या बुद्धिरित्यनेनाऽन्वयः। साध्यविशेषणान्याह—**तस्मिन् इत्यादिना**। तस्मिन् = वह्नौ। तादृशे = धूमसहकारिकाष्ठादिजन्ये । तादृशसम्बन्ध-सम्बन्धिनि = सपक्षे व्याप्येन सह यादृशः कार्य-कारणभावादिसम्बन्धो दृष्टः तादृशसम्बन्धवति, सर्वत्र सप्तम्यर्थो विषयत्वम् । **प्रबलेनेति**। प्रबलेन प्रमाणेन ताद्रूप्यतद्विपर्ययाभ्यां परिच्छिन्नत्वं यस्य न ज्ञातं तस्मिन्नित्यर्थः। **ताद्रूप्यापरिच्छिन्नेति**। तद्रूपस्य भावस्ताद्रूप्यं, यथा पर्वतस्थतापरिच्छेदो ज्ञानं पर्वतनिष्ठत्वेनाऽज्ञाते इत्यर्थः। ज्ञातस्यैवाऽनुमानेऽनुमानस्याऽगृहीतग्राहित्वरूपं प्रामाण्यं न स्यात् तथा तद्विपर्ययाऽपरिच्छिन्ने = ताद्रूप्यविपर्ययाऽपरिच्छिन्ने = येन रूपेण अनुमातु-मिष्यते तद्विरुद्धरूपेण च अज्ञाते वह्नौ या बुद्धिः सा अनुमानमित्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह—**यथेति**। तद्दर्शनात् = धूमदर्शनात्। 'अग्निज्ञानम्' इत्यत्राऽनुमानमिति शेषः । उक्तं च श्लोकवार्त्तिके—

> द्वयं वा ज्ञातसम्बन्धमुपलब्धं परस्परम् ।
> तस्यैकदेशशब्दाभ्यामुच्येते समुदायिनौ ।।
> सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना ।
> व्याप्यस्य गमकत्वं च व्यापकं गम्यमिष्यते ।।
> यो यस्य देशकालाभ्यां समो न्यूनोऽपि वा भवेत् ।
> स व्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाऽभ्यधिकोऽपि वा ।।
> तेन व्याप्ये गृहीतेऽर्थे व्यापकस्तस्य गृह्यते ।
> न ह्यन्यथा भवत्येषा व्याप्य-व्यापकता तयोः ।। इति ।।

तथा— असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम्।
तादूप्येण परिच्छित्तिस्तद्विपर्ययतोऽपि च ।।
प्रमितस्य प्रमाणे हि नापेक्षा जायते पुनः ।।
तादूप्येण परिच्छिन्ने प्रमाणं निष्फलं परम्।
वैपरीत्यपरिच्छिन्ने नाऽवकाशः परस्य तु ।। इति।।

न्यायरत्नाकरे तु ग्रन्थकृता साध्यविशिष्टत्वेन पक्षस्यैव अनुमेयत्वमाश्रित्य असन्निकृष्ट-पदस्य तद्विषणत्वमेवोक्तम्। भाष्यकारेण असन्निकृष्टे इति प्रतिज्ञातार्थस्य साध्यस्य विशेषण-मुपात्तं, तस्य व्यावर्त्यं दर्शयति— **असन्निकृष्टेति**। येन रूपेणाऽनुमातुमिष्यते तेनैव रूपेण तद्विपरीतेन वा रूपान्तरेण शीघ्रप्रमाणेन परिच्छिन्नो यो धर्मी स सन्निकृष्टः, तस्य पक्षत्वं व्यावर्तयितुमसन्निकृष्टग्रहणम्। धूमवान् अग्निमान् इति सामान्यतोऽवगतेऽपि पर्वतादे-र्देशविशेषस्य स्वरूपं व्याप्तिसमये नाऽवगतं, नतरामग्निमत्त्वं, तस्माद्देशकालाधिक्याद् युक्तमगृहीतग्राहित्वमनुमानस्य। स्मरणाभिमाननिरासार्थे च असन्निकृष्टग्रहणस्य विपरीतपरि-च्छिन्ने अनुमानप्रवृत्तिरनिरस्ता स्यात्, न हि तन्निरासस्यावयवान्तरमस्तीत्यलमनेन। इति।

(अनुमाने प्राभाकरमतम्)

ननु नियमावधारणाधीनत्वे कथं तादूप्येणापरिच्छिन्ने प्रवृत्तिः? ईदृशो हि नियमः— यत्र-यत्र धूमस्तत्र-तत्र अग्निः, यद्-यद् रसवत् तत्-तत् रूपवत् इति। एवञ्चेत्? यावद्धूममग्निसद्भावोऽवगत एवेति नाऽपरि-च्छन्नविषयत्वमनुमानस्य सम्भवतीति। अत एव चोद्याद् विभ्यतः केचिद-संनिकृष्टग्रहणं स्मरणाभिमाननिरासार्थं व्याचक्षते गृहीतग्राहित्वमेवा-ऽनुमानस्य स्वीकुर्वाणाः। तथापि नाऽप्रामाण्यम्, न हि अगृहीतग्रहणं प्रमाणलक्षणम्। अनुभूतिर्हि तल्लक्षणम्। अनुमानं च गृहीतग्राहित्वेऽपि प्रत्युत्पन्नलिङ्गकारणजन्यत्वेन संस्कारमात्रजन्यत्वाऽभावादनुभूतिरेवेति युक्तमस्य प्रामाण्यम्।

शङ्का—ननु नियमावधारणाधीनत्वे कथमिति। अर्थात् अनुमान को नियमा-वधारण (व्याप्तिनिश्चय) के अधीन मानने पर तादूप्येण = तद्वत्वेन अर्थात् अग्निमत्वेन, अपरिच्छिन्ने = प्रमाणान्तर से अज्ञात वह्नि में अनुमान की प्रवृत्ति कैसे हो पायेगी? क्योंकि यत्र धूमः तत्र वह्निः– इत्याकारक व्याप्तिज्ञान से ही धूम के अधिकरणभूत पर्वत पर वह्नि का ज्ञान होता है, उसी कारण तादूप्यपरिच्छिन्ने अर्थात् पर्वतस्थत्वेन ज्ञाते एव वह्नौ पर्वतीय वह्नि मे ही अनुमान की प्रवृत्ति होगी, तादूप्य से अपरिच्छिन्न वह्नि में नहीं। अर्थात् तद्रूपस्य भावः तादूप्यम्, जैसे पर्वतस्थता और परिच्छेदः = ज्ञानम् = पर्वतनिष्ठत्वेन रूपेण अज्ञात। ज्ञात पदार्थ का ही अनुमान करने पर अनुमान में अगृहीतग्राहित्व–रूप जो प्रामाण्य, वह नहीं हो पायेगा। उसी तरह तद्विपर्ययाऽपरिच्छिन्ने = तादूप्यविपर्यय से

अपरिच्छिन्न अर्थात् जिस रूप से अनुमान करना करना चाहते हैं, उसके विरुद्ध रूप से अज्ञात वह्नि को अपना विषय बनाने वाली बुद्धि = ज्ञान को ही अनुमान कहा जाता है। उसी को दृष्टान्त प्रदर्शन के द्वारा बता रहे हैं—यथा धूमस्य अनुपरतः इति। यदि व्याप्ति-ज्ञान होने पर ही अनुमान किया जाता है तो यावद्धूम अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम होगा, वहाँ-वहाँ अग्नि विद्यमान अवश्य ही होगी- यह व्याप्ति के बल पर ही ज्ञात होता है । अतः परिच्छिन्न विषयता रहने से अपरिच्छिन्न विषयत्व का होना अर्थात् अनुमान में अज्ञात विषयता का होना सम्भव ही नहीं है। इस आशङ्का से भयभीत होकर भाष्योक्त अनुमान लक्षण में असन्निकृष्ट पद का ग्रहण स्मृति के निराकरण करने के लिये किया गया है।

अभिप्राय यह है कि यदि असन्निकृष्ट पद को नहीं कहा जाय तो एकसम्बन्धिज्ञानात् अपरसम्बन्धिस्मरणं भवति—इस नियम के अनुसार एकदेशदर्शनात् एक-देशान्तरे अर्थे या बुद्धिः सा स्मृतिरूपा एव स्यात् । इस प्रकार अनुमान भी स्मृतिरूप हो जाने से उसमें (अनुमान में) भी अप्रामाण्य प्राप्त होगा। अतः स्मृतित्व की व्यावृत्ति करने के लिये असन्निकृष्ट पद का ग्रहण किया गया है। सन्निकृष्ट उसे कहते हैं, जो प्रमाणान्तर से प्रतीत (ज्ञात) होता है और असन्निकृष्ट उसे कहते हैं, जो प्रमाणान्तर से अप्रतीत (अज्ञात) रहता है। अतः स्मृति का विषय प्रमाणान्तर से ज्ञात ही हुआ करता है, उसी कारण स्मृति में सन्निकृष्ट विषयत्व है। यद्यपि अनुमान गृहीत ग्राही ही है, तथापि अनुमान का विषयभूत वह्नि आदि का ग्रहण अनुमान के अङ्गभूत व्याप्तिग्रह (व्याप्तिज्ञान) मात्र से ज्ञात होने के कारण किसी अन्य अतिरिक्त प्रमाण से अगृहीत होते रहने से उसमें असन्निकृष्टत्व उपपन्न हो जाता है। अतः अनुमान में गृहीतग्राहिता रहने पर भी असन्निकृष्ट विषयत्व का रहना भी सम्भव है। अथवा असन्निकृष्टे का अर्थ संस्कारमात्रजज्ञानाऽविषये भी किया जा सकता है। अर्थात् केवल संस्कार से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान का जो विषय नहीं है उसमें। इस अर्थ में वक्ष्यमण अनुमान इत्यादि ग्रन्थ का अनुकूल्य भी है। वस्तुतस्तु अनुमान की गृहीत-ग्राहित्ववादिता बतानेवाले प्रभाकर के मत से असन्निकृष्ट पद से स्मृतित्व निरास का उपपादन निश्चित नहीं किया जा सकता; क्योंकि उसका कोई प्रकार उपलब्ध नहीं हो पा रहा है।

शङ्का—अनुमान में गृहीतग्राहित्व रहने पर भी अर्थात् व्याप्तिग्रह (व्याप्तिज्ञान) के कारण सामान्यतया ज्ञान होने पर भी विशेषतया (विशेषरूप से) ग्रहण (ज्ञान) नहीं हो पाने से किन्तु अनुमान से विशेषतया (विशेष रूप से) असन्निकृष्टत्व हो सकता है?

समाधान—उपर्युक्त कथन उचित नहीं है; क्योंकि उसने विशेष ग्राहित्व का स्वीकार नहीं किया है (नहीं माना है)। उसके मत को उद्देश्य कर ग्रन्थकार ने अपने न्यायरत्नाकर में बताया है कि यश्च (प्रभाकरः) दृष्टस्यापि वह्न्यादेर्देशकालान्तरसम्बन्धमात्रमप्यगृहीतं नाऽनुमानेन गृह्यते, गृहीतविषयमेवाऽनुमानमिति वदति, अस्मिन् मते अनुमानस्य गृहीत-ग्राहित्वादसन्निकृष्टविषयत्वमेव नोपपद्येतेत्याद्यनुसन्धेयम्। यह उक्त ग्रन्थ सर्वात्मना (सभी

प्रकार से) प्रभाकर मत के अनुकूल रहने पर भी केचित् पद के ग्रहण करने से यह पूर्वपक्षी, प्रभाकर से पृथक् ही कोई प्रतीत हो रहा है।

अब पूर्वपक्षी अपना मत उपस्थित कर रहा है—**तथापि नाऽप्रामाण्यमिति**। अनुमान में गृहीत-ग्राहकत्व रहने पर भी उसमें अप्रामाण्य की कल्पना नहीं कर सकते; क्योंकि न हि अगृहीतग्रहणं प्रमाणलक्षणम्। प्रमाण का लक्षण अगृहीतग्रहणत्वम् उचित नहीं है; क्योंकि यदि अगृहीत–ग्राहित्व– प्रमाणलक्षण हो, तो अनुमान में उक्तरीति से गृहीत ग्राहकत्व के रहने से कदाचित् प्रामाण्य को भी नहीं मान सकते किन्तु प्रमाण का लक्षण अगृहीतग्राहित्व है ही नहीं। प्रमाण का लक्षण तो अनुभूतित्व ही है। तथा च अनुमान तो पक्ष में रहनेवाला जो प्रत्युत्पन्न लिङ्ग (वर्तमान लिङ्ग = हेतु), उसी से जन्य होने के कारण अनुभूति ही है। अर्थात् पक्षधर्मतया तत्कालज्ञान लिङ्गभूत जो कारण, उससे जन्य होने के कारण संस्कारमात्रजन्यत्व न होने से उसे स्मृति नहीं कह सकते। अतः स्मृतित्व के नहीं होने के कारण अनुमान में अनुभूतित्व ही मानना होगा। अतः अनुमान को प्रामाण्य मानना उचित ही है। संस्कारमात्र जन्यत्व तो स्मृति का लक्षण है। वह अनुमान में घटित नहीं होता है, इसलिये अनुमान को अनुभव ही समझना चाहिये। उस कारण अनुमान में प्रामाण्य का स्वीकार करना उचित ही है।

अथ स्मृतिप्रमोषः कस्मान्नाश्रीयते? प्रत्युत्पन्नकारणसद्भावात्, संस्कारातिरिक्तकारणासद्भावेन हि इदं रजतम् इत्यत्रानुभवरूपस्यापि रजतज्ञानस्य बलात् स्मृतित्वमाश्रित्य प्रमोषोऽङ्गीकृतः। अत्र तु लिङ्गस्याऽनुभवकारणस्य सद्भावादयुक्तं प्रतीतिसिद्धस्याऽनुभवरूपस्याऽपह्नवेन स्मृतिप्रमोषाऽङ्गीकरणमिति।

शङ्का—अथ स्मृति प्रमोषः कस्मान्नाश्रीयते? इति। जैसे शुक्ति रजतज्ञान में चाकचिक्यवशात् रजत की स्मृति (स्मरण) होती है और उस स्मृति का प्रमोष स्वीकार किया जाता है, उसी कारण शुक्ति रजत ज्ञान में स्मृतित्व की प्राप्ति नहीं हो पाती। अतः शुक्ति-रजत ज्ञान को स्मृति (स्मरण) नहीं कहा जाता, उसी तरह अनुमानस्थल में भी अनुभव ही है। अतः उसको प्रमाण मानना उचित है। शुक्तिरजत ज्ञान में जो चाकचिक्य के कारण रजत का स्मरण होता है, उसकी सत्ता का स्मरण छूट जाता है। तत् स्मरणम्– इत्याकारक स्मरण होना चाहिये किन्तु दोष के कारण उसका स्मरण छूट जाता है। अर्थात् स्मृति (स्मरण) का प्रमोष हो जाता है। इसी को स्मृति प्रमोष अथवा प्रमुष्टता का स्मरण भी कहा जाता है। उसी प्रकार अनुमान में भी स्मृतिप्रमोष क्यों नहीं स्वीकार किया जाय? निष्कर्ष यह है जैसे शुक्ति-रजत ज्ञान में चमक (चाकचिक्य) के कारण रजत की स्मृति हो उठती है और वहाँ स्मृति (स्मरण) का प्रमोष मान लिया जाता है, उसी तरह शुक्ति-रजतज्ञान को स्मृति शब्द से नहीं कहा जाता। उसी तरह अनुमानस्थल में भी एकसम्बन्धिज्ञानादपरसम्बन्धिस्मरणं भवति न्याय से धूमदर्शन से अग्नि (वह्नि) का

स्मरण होता है और उसी कारण (स्मृति) का प्रमोष हो जाता है, जिससे अनुमान को स्मृति शब्द से नहीं कहते। अभिप्राय यह है कि अनुमान स्थल में भी स्मृतित्व का प्रमोष ही है—ऐसा क्यों नहीं कहते? यह आशङ्का किसी मुरारिमार्गानुगामी की है। मुरारेस्तृतीय: पन्था:—यह आभाणक सर्वविदित ही है।

समाधान—अनुमान में गृहीतग्राहित्व माननेवाला पूर्वोक्त पूर्वपक्षी ही उक्त आशङ्का का परिहार कर रहा है—**प्रत्युत्पन्नकारणसद्भावादिति**। इदं रजतम् में जो रजत ज्ञान हो रहा है, उसका कारण संस्कार के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। इसलिये रजतज्ञान अनुभवरूप होने पर भी उसे (रजतज्ञान को) स्मृति मान लिया जाता है और सत्ता का प्रदोष भी माना जाता है। प्रकृत में धूमरूप अनुभव का कारण है, उसके होने से प्रतीति-सिद्ध अनुभवत्व का निषेध करके स्मृतिप्रमोष को स्वीकार करना उचित नहीं है; किन्तु उसे स्मृति मानना अभीष्ट भी नहीं है, उसी कारण उक्त स्थल 'इदं रजतम्' में स्मृतित्व प्रमोष को भी स्वीकार किया जाता है।

यदि रजतज्ञान को स्मृतिरूप मानते हैं, तब वह स्मर्यमाणविषयक रहने से उसे भ्रम नहीं कह सकेंगे—यही स्मृतित्वप्रमोष में कारण (हेतु) है; किन्तु अनुमान में प्रत्युत्पन्न-कारणस्य = उसी समय ज्ञात हुए धूम का अथवा उसी समय ज्ञात हुए धूमज्ञानरूप कारण के विद्यमान रहने से वह्निज्ञान में संस्कारजन्यत्व नहीं है, जिससे अनुमान को स्मृति कहा जा सके और पुन: स्मृति का प्रमोष किया जाय। संस्कार कोई प्रत्युत्पन्न कारण नहीं है, वह तो प्राचीन है। इसी उक्त कथन को और अधिक विशद करके बताते हैं—**संस्कारातिरिक्तकारणाऽसद्भावेनेति**। यह रजत है—इस स्थल में रजतज्ञान के संस्कारातिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है। इसलिये परिशेषन्याय से अनुभवात्मक (अनुभवरूप) रजत ज्ञान को स्मृति मान लिया गया है। यहाँ तत्ता का प्रमोष भी माना जाता है। प्रकृत में तो धूम हेतु, जो अनुभव का कारण है, उसके विद्यमान रहने से प्रतीयमान (प्रतीति सिद्ध) अनुभवत्व का निषेध करके स्मृतिप्रमोष स्वीकार करना अनुचित है। अर्थात् प्रतीति सिद्ध अनुभव का अपह्नव (अपलाप) करके स्मृति प्रमोष को स्वीकार करना उचित नहीं है। अत: अनुमान में अनुभूतित्व के होने से ही उसका (अनुमान का) प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। शालिकनाथकृत प्रकरण पञ्चिका में भी इसी प्रकार कहा है—नन्वेवं सम्बन्धस्य अवगतत्वाद्धूमादिसत्तानिश्चयादधिकं निश्चेतव्यं नाऽवशिष्यत इत्यनुमानमप्रमाणं स्यात्। सत्यम्? स्याद् यद्यनधिगतार्थगन्तृप्रमाणम्, इति प्रमाणलक्षणं स्यात्, अनुभूतिस्तु प्रमाणम् इत्युक्तम्, धूमाच्चाग्निज्ञानमनुभवाकारप्रवृत्तं धारावाहिकवत् प्रमाणम्। न चाऽत्र स्मृतिप्रमोषकल्पना प्रत्युत्पन्नकारणसम्भवात्, अनुभवकारणाऽसम्भवेन शुक्तिका-रजतादिषु स्मृतिप्रमोष: प्रतीत्यनारूढोऽपि आश्रित:, इह तु सम्बन्धनियम-स्मरणमेकदेशदर्शनं चाऽनुभवकारणमस्तीति यथाप्रतीत्यनुभूतिरूपतैवाऽऽश्रयितुमुचितेति युक्तमेवाऽनुमानस्य प्रामाण्यम् इति।

(प्राभाकरमतस्य निरसनम्)

सोऽयमेषामकारणस्त्रासः, तथाहि—यदि हि यावद् व्याप्यव्यापक-सद्भावोऽवगतः स्यात्, ततो गृहीतग्राहित्वमाशङ्क्येतापि, न त्वेवमस्ति। महानसादिष्वेव हि दृष्टान्तधर्मिषु प्रागनुमानाद् धूमस्याऽग्निसाहित्य-मवगतं, न सर्वत्र, प्रमाणाऽसम्भवात्। यथा चाऽसम्भवस्तथा न्याय-रत्नमालायामेव प्रपञ्चितम्।

सोऽयमेषामकारणस्त्रासः इति। पूर्वपक्षी के मत को बताकर अब सिद्धान्ती उसका परिहार कर रहा है—**सोऽयमेषामिति**। प्राभाकर पूर्वपक्षी बिना कारण (अकारण) ही भयभीत हो रहा है। तथाहि—अनुमान गृहीतग्राही होने से उसे कोई अप्रमाण नहीं समझे, इसलिये अगृहीतग्राहित्वं को प्रमाणलक्षण नहीं मानकर अनुभुतित्वम् प्रमाणलक्षणम् अर्थात् अनुभूति को ही प्रमाण का लक्षण मानना चाहिये। यह प्राभाकर का मत है।

तथा च—अनुभूतित्वरूपेणैव (अनुभूतिरूप होने से ही) अनुमान का प्रामाण्य है, असन्निकृष्ट पद भी अनुमान में स्मृतित्व का निरास करने के लिये है—यह सभी त्रास (भय), अकारण ही है। इसी आशय को ग्रन्थकार ने तथाहि यदि हि यावद् व्याप्यं व्यापकसद्भावः इति अर्थात् जितने भी व्याप्य (हेतु) के अधिकरण है, उनमें व्यापक (साध्य) का व्याप्तिग्रह (व्याप्तिज्ञान) के समय में ही यदि गृहीत हो जाय, तो गृहीत-ग्राहित्व की आशङ्का हो भी सकती है; किन्तु ऐसा होता नहीं है यदि महानसादि सपक्षों में (निश्चित साध्याधिकरणों में) अनुमान के पूर्व धूम का अग्नि के साथ साहचर्य ज्ञात है, सर्वत्र नहीं—यह कहने में कोई प्रमाण नहीं है।

अभिप्राय यह है कि यावद् व्याप्यं व्यापकसद्भावः—यह ज्ञान होने पर धूमाधिकरण पर्वत पर अग्नि के सद्भाव का ज्ञान व्याप्तिग्रह के काल में ही हो गया है, उस अवगत (ज्ञान) हुए वह्नि (अग्नि) का ज्ञान अब अनुमान से हो रहा है उसी कारण अनुमान में गृहीत ग्राहित्व की आशङ्का हो भी सकती है; परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है; क्योंकि अनुमान करने के पूर्व ही महानसादि सपक्षों में ही धूम का अग्निसाहचर्य ज्ञात है, सर्वत्र नहीं—यह कहने में कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् धूम का अग्निसाहित्य सर्वत्र पर्वतादि पर अवगत नहीं है- यह कहने में कोई प्रमाण नहीं है। प्रमाण के असम्भव को न्याय-रत्नमाला में सविस्तार बताया है। तथा च—पर्वत पर भी अगृहीत अग्नि का ही ग्रहण होने से अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार करना उचित ही है। न्यायरत्नमाला में इस प्रकार बताया है— कश्चित् तु बहिरिन्द्रियविषयमेव नियममिच्छति, स हि मन्यते—वह्निधूमयोः सम्बन्धो देशकालानवच्छिन्न एव प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते इति। इत्यादिना आशंक्य, अपि चैवं प्रत्यक्षाऽनवगततत्कालसम्बन्धनियमविरुद्धस्य अत्यन्ताऽनवगतस्य कालान्तरसम्बन्धस्य अनुमानेन ग्रहणे गृहीतग्राहित्वमनुमानस्य दूरापास्तं स्यात्, अवगतमपि महानसादौ सामान्यं

देशान्तरकालान्तरादौ प्रत्यक्षेणेवाऽनुमानेन प्रत्यभिज्ञायमानं भवति प्रमेयमिति न सिद्ध-साध्यता (न्यायरत्नमाला, व्यप्तिनिर्णय प्रकरण)।

वार्तिककार ने भी कहा है—

देशस्य पर्वतादेस्तु स्वरूपे पावकादृते।
गृहीतेऽग्निविशिष्टस्य पुनर्ज्ञानं न दुष्यति॥
तस्माद्धर्मविशिष्टस्य धर्मिणः स्यात् प्रमेयता।
सा देशस्याऽग्नियुक्तस्य, धूमस्यान्यैश्च कल्पिता॥

—(श्लो०वा०, अनु०खं०, कारि० ४६-४७)

दृष्टान्तधर्मिष्वेव बहुशोऽग्निसाहित्यमुपलब्धवतोऽनग्नौ च क्वचिदपि प्रयत्नेनाऽन्विष्यमाणे धूममदृष्टवतः साध्यधर्मिष्वग्निमत्ताज्ञानमुत्पद्यते। आह च—साहित्ये मितदेशत्वात् प्रसिद्धे वह्निधूमयोः।

व्यतिरेकस्य चाऽदृष्टेर्गमकत्वं प्रकल्प्यते॥ इति।

धूमस्तु दृष्टिमात्रेण गमकः सहचारिणः॥ इति च।

ततश्चाऽनुमित्सता न सर्वेषां धूमवतामग्निमत्ताऽवगन्तव्या, नाऽपि सर्वत्रा-नग्नौ धूमस्याभावः। भूयोऽग्निसाहित्यं व्यभिचारादर्शनमित्येतावदेवा-नुमानार्थिभिरभ्यर्थनीयं, नाधिकं किञ्चित्। यत्त्विदं यत्र यत्र धूमस्तत्र-तत्राग्निरिति ज्ञानं, तदनुमानमेवेति तत्रैवोक्ततम्।

अपने मत के अनुमार अनुमान के प्रकार को बतला रहे हैं—**दृष्टान्तधर्मिष्वेवेति** दृष्टान्तधर्मिषु = सपक्षभूत महानसादि में ही बार-बार अग्निसाहित्य (अग्निसाहचर्य) को देखनेवाले और अनग्नौ च = अग्नि रहित स्थान में कहीं भी प्रयत्नपूर्वक अन्वेषण करने पर भी (खोजने पर भी) धूम को नहीं देखनेवाले पुरुष को पर्वतादि पक्षों में अग्नि का ज्ञान होता है। अग्निरहित स्थान में प्रयत्नपूर्वक खोजने पर भी धूमदर्शन नहीं करने वाले व्यक्ति के इस कथन से यह सूचित होता है कि व्यभिचार का अदर्शन भी अपेक्षित है। उक्त आशय को वार्तिककार ने भी साहित्ये मितदेशत्वात् से व्यक्त किया है। उक्त पद्य के द्वारा वार्तिककार ने यह बतलाया है कि वह्नि और धूम इन दोनों के साहचर्य (साहित्य) का जहाँ पर ज्ञान होता है, ऐसे सर्वलोकप्रसिद्ध महानस, पर्वत, चत्वर, गोष्ठ आदि स्थान सीमित होते हैं, उनमें धूम का ज्ञान होने पर जहाँ अग्नि (वह्नि) नहीं है, अर्थात् वह्न्यभाव वाले स्थानों में धूम के नहीं दिखाई देने पर भी (व्यतिरेक = व्यभिचार = अभाव, जैसे- वह्न्यभाव) धूम (धुवाँ) को वह्नि का अनुमापक होने का अनुमान अन्वय-व्यतिरेक से किया जाता है। (यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम् अन्वयः और यदभावेयदभावो व्यतिरेकः)। **धूमस्तु दृष्टिमात्रेणेति**। धूम तो दर्शनमात्र से ही, सहचारी अग्नि (वह्नि) का अनुमापक हो जाता है, अर्थात् अग्नि का ज्ञान करा देता है। अतः जिसे अनुमान करने की इच्छा (अनुमित्सा)

हो, उसे यच्च-यावत् अर्थात् सभी धूमाधिकरणो में अग्नि की विद्यमानता (सत्ता) को जानने की आवश्यकता नहीं है, तथैव वह्न्य भावाधिकरणो में भी धूमाभाव को जानने की आवश्यकता नहीं रहती, जिससे अनुमान की गृहीतग्राहिता प्रसक्त हो सके। सभी साध्याऽभावाधिकरणों में हेत्वाभाव का ज्ञान हो पाना असम्भव भी है।

तब अनुमान करनेवाले इच्छुक को क्या जानना आवश्यक है? जानना यह आवश्यक है कि भूयोऽग्निसाहित्यं, व्यभिचाराऽदर्शनमित्येतावदेव अनुमानार्थिभिरभ्यर्थनीयं, नाऽधिकं किञ्चित्।। अथवा व्याप्तिग्रह (व्याप्तिज्ञान) की सामग्री को जानना चाहिये। इससे अधिक अर्थात् साध्य सकल देशवृत्तित्व ग्रहणं न अपेक्षितम्।

यत्तु इदं यत्र-तत्र धूमस्तत्राऽग्निरिति ज्ञानमिति। अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है—यह ज्ञान जो भूयो भूयः = बार-बार देखने से होता है, वह अनुमान ही है- इसे न्यायरत्नमाला में कहा गया है। तथाहि—यस्त्वयं यत्र-यत्र धूमस्तत्र-तत्राऽग्निः- इति भूयो भूयो दर्शनतोऽवगमः स कथम्? न हि असौ नास्ति, न च अप्रमाणं, सर्वदा सर्वेषां दृढत्वेन जायमानत्वात्, तदयं कस्मिँश्चित्प्रमाणे अन्तर्भवति? इति वक्तव्यम्। उच्यते—आनुमानिकोऽयम् अवगमः ज्ञातसम्बन्धस्य उपजायमानत्वात्। परोक्षरूपत्वाच्च नैन्द्रियकः, साक्षात्कारित्वाऽभावात् संविद्विरोधाच्च इति। तस्मात् यत्र-यत्र धूमस्तत्र-तत्राऽग्निः- इत्यपि ज्ञानम् अनुमानात्मकमेवेति सिद्धम्।

(गृहीतग्राहित्वखण्डनम्)

नन्वेवमप्यनेनैव सामान्यानुमानेन सर्वधूमवतामग्निमत्ताऽवगतेति यत् पुनः पर्वतादिदेशविशेषेषु धूमदर्शनादग्न्यनुमानं तस्य गृहीतग्राहित्वं तदवस्थमेव स्यात्?

पूर्वपक्षी कहता है कि अनुमान के द्वारा ही समान्यतया (साधारणतः) सभी धूमाधिकरणों में जब अग्नि की विद्यमानता (अस्तित्व) ज्ञात हो जाती है, तब पर्वतादि स्थान-विशेषों में धूमदर्शन होने पर अग्नि का जो अनुमान होता है, उसका गृहीत ग्राहित्व तो स्थिर ही रहता।

मैवम्, सामान्यविशेषभेदात्। सामान्येन हि धूमवतामग्निमत्ताऽवगता, पर्वतादेस्तु देशविशेषस्य स्वरूपमपि प्रागनवगतम्, नतरामग्निमत्त्वम्।

सिद्धान्ती कहता है—**मैवम्, सामान्यविशेषभेदादिति**। यत्र-यत्र धूमः, तत्र-तत्र अग्निः- यह ज्ञान प्रमाणभूत अनुमान ही है। इसी सामान्य अनुमान से समस्त (सम्पूर्ण) धूमवाले अग्निमान् होते हैं- यह ज्ञान हो जाता है, तब पर्वत की भी अग्निमत्ता इसी से ज्ञात हो जाती है। इस प्रकार गृहीत हुई अग्निमत्ता का ही विशेष ज्ञान पर्वतो वह्निमान् इस वाक्य से ज्ञात हुआ जो पर्वत है, उसी का विशेष अनुमान से ग्रहण होने से उसका गृहीतग्राहित्व तो तदवस्थ ही रहा, अर्थात् गृहीतग्राहित्व वैसे ही बना रहा। अतः सिद्धान्ती

कहता है—**सामान्यविशेषभेदादिति**। अर्थात् यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र अग्निः— इस अनुमान के द्वारा सामान्यरूप अनुमान से ही सभी धूमवानों (धूमाधिकरणों) की अग्निमत्ता गृहीत हुई, न कि विशेषरूप से पर्वत की और पर्वतो वह्निमान्- यह कहने पर तो विशेषरूप से पर्वत की अग्निमत्ता का ज्ञान होता है; इसलिये गृहीतग्राहित्व नहीं है। अर्थात् पर्वतादि देशविशेष का स्वरूप अज्ञात ही रहा। ऐसी स्थिति में पर्वत आदि की अग्निमत्ता का सर्वथा ज्ञान नहीं होता। प्राक् = पर्वतो वह्निमान्—यह ज्ञान होने के पूर्व यत्र-यत्र धूमस्तत्र-तत्र वह्निः इस व्याप्तिग्रह काल में पर्वतादि देशविशेष का स्वरूप तक का प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो पाया था, तब उस पर्वत की अग्निमत्ता के ज्ञान होने की बात तो दूर ही है।

यस्त्ववगतमेवेति मन्यते, तेन पर्वतस्वरूपमेव तावदप्राप्तं पर्वतसमीपस्थैः केन प्रमाणेनाऽवगतमिति वक्तव्यम्, न प्रत्यक्षेण, नाऽन्येन प्रमाणेन। न चाऽनवगतपर्वतस्तस्याग्निमत्तामवधारयितुमलम्। यदि चेदानींतनं पर्वतस्याऽग्निमत्त्वं प्रागेवाऽवगतं स्यात् ततोऽग्न्यर्थी विनैव धूमदर्शनेनाग्नये पर्वतमारोहेत्। न ह्यग्न्यर्थिनोऽवगतेऽग्नौ धूमदर्शनेनार्थः कश्चित्।

यस्त्ववगतमिति। अपने को पण्डित समझनेवाला अर्थात् पण्डित नहीं होने पर भी अपने को पण्डित समझनेवाला पण्डितमानी जो व्यक्ति अनुमान को गृहीत-ग्राहित्व प्रतिपादन करने के लिये यत्र धूमः तत्र अग्निः– इतने मात्र ज्ञान से ही पर्वत का अग्निमत्त्व जान लिया है—ऐसा जो समझता है और पर्वत पर अग्नि का अनुमान करने की इच्छा कर रहा है; किन्तु उसने अभी तक पर्वत को अपनी आँखों से देखा नहीं है, तो उसके पूर्व उसे पर्वत का स्वरूप ज्ञात ही नहीं है—इस बात को पर्वत के समीप रहनेवाले पर्वतीय लोगों ने किस प्रमाण से जान लिया?

पर्वत के स्वरूप का ज्ञान प्रत्यक्ष से होना तो सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष से तो चक्षुरादि से सन्निकृष्ट का ही ज्ञान होता है। उस समय तो पर्वत का स्वरूप, चक्षुरादि के सन्निकृष्ट है ही नहीं, जिससे उसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो सके। अनुमान के द्वारा भी पर्वत स्वरूप का ज्ञान होना सम्भव नहीं है; क्योंकि कोई अनुमापक भी नहीं है। यदि पर्वत स्वरूप ही ज्ञात नहीं, तब उसकी अग्निमत्ता का ज्ञान कैसे हो पायेगा?

यदि च इदानींतनमिति। अथवा इदानींतन = पर्वतो वह्निमान्—यह अनुमान करते समय वर्तमान पर्वत में अग्निसद्भाव पूर्व से ही अर्थात् यत्र धूमस्तत्र अग्नि– इस व्याप्तिग्रह के काल में ही ज्ञात होता तो अग्नि को चाहनेवाला पुरुष धूमदर्शन के विना ही अग्नि के लिये पर्वत पर चढ जायेगा; क्योंकि जो अग्नि को चाहता है, उसे अग्नि की प्राप्ति होने पर धूमदर्शन का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता; किन्तु उसे धूमदर्शन की आवश्यकता (जिज्ञासा) तो रहेती ही है। अतः स्पष्ट है कि वह पर्वत की अग्निमत्ता से पूर्व परिचित नहीं है।

किञ्च धूमोपलक्षितस्य पर्वतादिदेशविशेषस्याग्निसम्बन्धोऽवगत इति वदता धूमसम्बन्धोऽप्यवगत इति वक्तव्यम्। न ह्यज्ञातसम्बन्धमुपलक्षण-मुपलक्ष्यमुपलक्षयितुं क्षमम्।

दोषान्तर भी प्रदर्शित कर रहे हैं—**किञ्चेति**। यदि यज्ञदत्त ने धूमोपलक्षित पर्वत आदि देशमात्र का अग्निमत्त्व ज्ञात कर ही लिया है, तब तो उसने पर्वत आदि स्थानों में धूम सम्बन्ध को भी जान ही लिया है, यह कहना होगा। अन्यथा धूम सम्बन्ध के जाने विना (ज्ञान के विना) अग्नि सम्बन्ध का ज्ञान हो पाना असम्भव ही होगा; क्योंकि उपलक्षण (ज्ञापक) के सम्बन्ध को जो नहीं जान सका, उसे अज्ञात सम्बन्धरूप उपलक्षण के द्वारा उपलक्ष्य का ज्ञान होना कभी सम्भव नहीं है। अर्थात् उपलक्ष्य को = पर्वत आदि को उपलक्षित करने के लिये = वह्नि से विशेषित (विशिष्ट) करने के लिये वह उप-लक्षण कभी समर्थ नहीं हो सकता। अत: कहना होगा कि उसने धूम का सम्बन्ध भी पर्वत के साथ जान लिया है। तथा च पूर्वपक्षी ने अनुमान के द्वारा जो संकेत 'लिङ्गस्यैव देश-कालातिरेक:, न लिङ्गिन:' किया गया है, वह उचित नहीं है; क्योंकि उक्त रीति से लिङ्ग सम्बन्ध भी अवगत (ज्ञात) है—यह उसे स्वीकार करना होगा।

अथ देशमात्रस्य धूमेनोपलक्षणं न देशविशेषस्य? ततोऽग्निमत्त्वमपि तन्मात्रस्याऽवगतं, न देशविशेषस्य। अतो लिङ्ग-लिङ्गिनोरविशेषात् लिङ्गस्यैव देशकालातिरेको न लिङ्गिनः—इति प्रलापमात्रम्।

शङ्का—धूम तो देशसामान्य का ही उपलक्षण = ज्ञापक होता है, देशविशेष का नहीं। अर्थात् धूम तो सामान्य देश का ही (देशमात्र का ही) उपलक्षण के रूप में ज्ञात है, न कि पर्वतादि देशविशेष का। अत: धूमसम्बन्ध भी पूर्व से ही ज्ञात है, यह आपत्ति नहीं हो सकती।

समाधान—ततोऽग्निमत्त्वमपीति। उससे अर्थात् धूम, देशसामान्य का ही उपलक्षण होने से देश सामान्य के साथ ही अग्नि का सम्बन्ध ज्ञात होता है, देशविशेष के साथ नहीं। अभिप्राय यह है कि धूम तो सामान्य देश के ही उपलक्षण रूप में ज्ञात है, पर्वतादि देशविशेष के उपलक्षणरूप में नहीं। इसलिये धूमसम्बन्ध भी पूर्व से ही ज्ञात है यह आपत्ति नहीं की जा सकती। यह जो कहा गया था कि हेतु और साध्य दोनों में कोई विशेषता नहीं होने के कारण हेतु में ही देश-कालकृत विशेषता आती है, साध्य में नहीं—यह कहना प्रलापमात्र है।

अपि च यत्राऽग्नीन्धनसंयोगस्तत्र धूम इत्यनेन धूमोऽप्यवगत एवेति न किञ्चिदप्यवगन्तव्यमवशिष्यते धूमज्ञानेनेत्यलं बालजल्पितेन।

एक अन्य दोष भी प्रदर्शित कर रहे हैं—**अपि चेति**। जहाँ पर अग्नि और ईन्धन का संयोग रहता है, वहाँ धूम हुआ करता है। यह कहने से धूम का भी ज्ञान हो ही जाता

है। इस प्रकार धूम का ज्ञान हो जाने पर अब जानने योग्य क्या बाकी बचा? इस कथन का निष्कर्ष यह है कि यद्यपि यत्र धूमस्तत्र अग्निः— इस व्याप्तिज्ञान से समस्त व्याप्य देशों (स्थानों) में व्यापक का ही सत्त्व (विद्यमानता) विशेषरूप से ग्रहण किया जाता है, वैसा व्याप्य का नहीं तथापि यत्र अग्नीन्धनसंयोगः तत्र धूमः— इस व्याप्ति ज्ञान से व्यापकीभूत धूम का भी सभी अग्नीन्धनसंयोगवाले स्थानों में विद्यमान होना ज्ञात है— यह कहना ही होगा तथा पर्वत आदि स्थानों पर वह्नि की सत्ता अर्थात् विद्यमानता भी अवगत है, उसी तरह धूम की सत्ता (विद्यमानता) भी अवगत है। ऐसी स्थिति में क्या जानना बाकी बचा है? जिस धूम के जानने से और कुछ अधिक जाना जा सके? तथा च तुम्हारे मत के अनुसार धूमज्ञान का होना व्यर्थ ही कहना होगा। अतः यह पक्ष हेय (त्याज्य) ही समझना चाहिये। इसलिये लिङ्गस्यैव देशकालातिरेकः, न लिङ्गिनः— पूर्वपक्षी की इस उक्ति को हेय त्याज्य (त्यागने योग्य) ही समझना चाहिये। अर्थात् इस प्रकार की तत्त्वरहित = निःसार बातों को बचकानी बातों के तुल्य ही समझना चाहिये। अभिप्राय ऐसी बातों को बालजल्पित के समान ही माना जाता है। ऐसी बचकानी बातें (बालजल्पित) करना विद्वानों को शोभा नहीं देता।

यदि चावगतमेवानुमानेनाऽवगम्यते। ततः स्मरणमेव प्रमुषिततद्भाव-मनुमानज्ञानं स्यात्। न च प्रत्युत्पन्नकारणजत्वादस्मृतित्वम्, तदसिद्धेः। सम्बन्धिदर्शनं हि सदृशदर्शनवत् संस्कारमुद्बोधयेत्। क्लृप्तं हि तत्र तस्य कारणत्वम्। संस्कारश्चोद्बोधितः स्मृतिं जनयतीत्यविवादम् स्मृतेश्च प्रमोषः शुक्तिकारजतादिवेदनेषु क्लृप्त एव। तदेवं क्लृप्तेनैव मार्गेण धूमादग्निज्ञानोत्पत्तौ को नामाऽक्लृप्तं लिङ्गस्य लिङ्गिज्ञानहेतुत्वं कल्पयेत्। कल्पनायां वा शुक्तावपि रजतवेदनस्यानुभवरूपत्वात्तदुपपत्तये दोषस्यै-वानुभवहेतुत्वं कल्पनीयम्। अकल्पने त्वत्राऽपि स्मृतिप्रमोषादप्रामाण्यमेव स्यात्। तस्मादवश्यमगृहीतग्राहित्वमङ्गीकर्तव्यम्।

विपक्ष में बाधक युक्ति बताते हैं—**यदि चेति**। यदि ज्ञात विषय का ही अनुमान से ज्ञान होता है, तो तत्तांश का प्रमोष मानने पर अनुमानज्ञान को स्मरणात्मक ही स्वीकार करना पड़ेगा; क्योंकि अनुमान किसी संस्कार से उत्पन्न (जन्य) नहीं है। अपितु प्रत्युत्पन्न हेतु ही ज्ञान रूप कारण से उत्पन्न होने के कारण उसे स्मृति (स्मरणात्मक) नहीं कहा जायेगा।

अभिप्राय यह है कि यदि अवगत (ज्ञात) का ही ज्ञान पुनः अनुमान से जाना जाता है, तो उसे स्मरण (स्मृति) ही कहना होगा; क्योंकि प्रमुषित तद्भाव = प्रमुषित स्मरणत्व है अर्थात् उस अनुमान ज्ञान को स्मरणतुल्य ही कहना होगा।

शङ्का—अनुमान में संस्कारजन्यता नहीं होने से और प्रत्युत्पन्न हेतु ज्ञानरूप कारण से उत्पन्न होने के कारण उसे (अनुमान को) स्मृति शब्द से कैसे कहा जायेगा?

समाधान—तदसिद्धेरिति। प्रत्युत्पन्नकारणजत्व (प्रत्युत्पन्नकारणजन्यत्व) सिद्ध नहीं होने से अथवा अस्मृतित्व असिद्ध रहने से (अस्मृतित्व की प्रसिद्धि नहीं रहने से) उसे स्मृति कहा जा सकता है।

अनुमान के स्मृतिरूपत्व का उपपादन करते हैं—**सम्बन्धिदर्शनं हि सदृशदर्शन-वदिति।** जैसे—सदृशदर्शन से संस्कारोद्बोध होता है, कमल को देखने से प्रिया के मुख का स्मरण हो जाता है तथा सम्बन्धिदर्शन से भी संस्कारोद्बोध होता ही है अथवा जैसे गज (हाथी) को देखने पर हस्तिपक (महावत) का स्मरण हो जाता है; क्योंकि सम्बन्धि-दर्शन और संस्कारोद्बोधन इन दोनों का कार्य-कारणा भाव लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है। अतः संस्कार उद्बुद्ध होकर स्मृति को उत्पन्न करता है। इस विषय में कोई विवाद नहीं है। स्मृति में तत्तांश का प्रमोष शुक्ति का रजताकारज्ञान (शुक्तौ इदं रजतम्) होने मे सिद्ध ही है। शुक्तिकारजतज्ञान में जैसे रजत की स्मृति (स्मरण) ही होती है, तथापि वहाँ स्मृतित्व के प्रमोष का स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार अनुमान में भी स्मृतित्व का प्रमोष ही होगा। तथा च धूमलक्षण- सम्बन्धि दर्शनजन्यसंस्कारोद्बोध से ही वह्नि का ज्ञान यदि सम्भव हो रहा है, तो धूम या धूमज्ञान का वह्निज्ञान के प्रति हेतुत्व (कारणत्व) है—इस प्रकार नूतन कल्पना को कौन करेगा? यदि अक्लृप्त (अनिश्चित) लिङ्ग को लिङ्गिज्ञान के प्रति हेतुत्व (कारण) मानें, तो शुक्ति-रजतज्ञान भी अनुभवरूप होने से उसकी उपपत्ति (अनुभवत्) के लिये अक्लृप्त दोष की ही उसके हेतु (कारण) के रूप में कल्पना करनी पड़ेगी।

कल्पनायामिति। यदि शुक्तिरजतज्ञान के प्रति दोष का कारण के रूप में कल्पना नहीं करें और स्मृतित्वप्रमोष की ही कल्पना करें तो अत्राऽपि = अनुमान में भी स्मृतित्व-प्रमोष को ही स्वीकार किया जायेगा। अतः ऐसा करने पर अनुमान में अप्रामाण्य ही कहना होगा अर्थात् अनुमान को अप्रमाण ही कहना पड़ेगा। **तस्मादिति।** जबकि गृहीत-ग्राहित्व में प्रामाण्य उपपन्न नहीं हो रहा है, तो अनुमान में अगृहीत ग्राहित्व– का स्वीकार अवश्य ही करना होगा—यह निश्चित होता है।

नन्वग्निविशेषस्याऽगृहीतसम्बन्धस्याऽननुमेयत्वात् सामान्यमेवाऽनुमेयम्, तच्च प्रागवगतमेवेति कथमगृहीतग्राहित्वम्? यथाहुः—

विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता ।
अनुमाभङ्गपङ्केऽस्मिन् निमग्ना वादिदन्तिनः ।। इति ।

नैष दोषः; अवगतस्यापि सामान्यस्य देशान्तरकालान्तरसम्बन्धस्याऽ-गृहीतस्य ग्रहणादुपपन्नं प्रमेयत्वम्। इदं चाऽपरमेकदेशिना वक्तव्यम्—केन प्रमाणेन धूमदर्शनस्याग्निज्ञानहेतुत्वमवगम्यत इति। तदाऽऽनन्तर्या-दिति चेत्? न, तस्य संस्कारद्वारेणाऽप्युपपत्तेः। अनुभवरूपत्वमनुप-

पन्नमिति चेत्? न, स्मरणस्यापि तत्परामर्शप्रमोषेणानुभवाभिमानोपपत्तेः। वस्तुतोऽनुभवत्वं त्वसिद्धमेव प्रमाणाऽभावात्। न ह्यग्निज्ञानस्याऽनुभवत्वे प्रत्यक्षमन्यद् वा प्रमाणमस्ति, अस्ति तु स्मृतिप्रमोषे।

शङ्का—नन्वग्निविशेषस्येति। जिसका सम्बन्ध ही गृहीत नहीं है, उस अग्निविशेष का अनुमान नहीं होने से सामान्य ही अनुमेय है—यह कहना; होगा किन्तु यह तो पहिले से ही ज्ञात है, उसी कारण अनुमान को अगृहीतग्राही कैसे कह सकते हैं? अभिप्राय यह है कि पर्वतीय अग्नि के साथ धूम की व्याप्ति ही गृहीत नहीं है, इसलिये पर्वतीय अग्नि-विशेष का अनुमान का होना सम्भव नहीं है। उसी कारण अगृहीत सम्बन्ध वाला अग्नि-विशेष अननुमेय होने से अग्निसामान्य ही अनुमेय कहा जायेगा और वह अग्निसामान्य पूर्व से ही यत्र धूमस्तत्र अग्निः इस ज्ञान से ही धूम देश में गृहीत ही है, उसी कारण पुनरपि अनुमान में गृहीत ग्राहिता ही प्रसक्त हो रही है यह आशङ्का पूर्वपक्षी कर रहा है। निष्कर्ष यह है कि अनुमान को अगृहीत ग्राही नहीं कह सकते है? अर्थात् अनुमान अगृहीतग्राही नहीं है। इसी बात को तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रन्थ का वचन, उपस्थित कर रहे हैं—

विशेषेऽनुगमाऽभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता ।
अनुमाभङ्गपङ्केऽस्मिन्निमग्ना वादिदन्तिनः ॥

अर्थात् विशेष का अनुमान करने में अनुगम नहीं हो सकता और सामान्य का अनुमान करने पर सिद्धसाधनता दोष प्राप्त होता है। अतः मदोन्मत्त हाथी के समान वादी अनुमानखण्डन के पङ्क (कीचड़) में फँस गया है। अर्थात् वह्निविशेष को अनुमेय मानने पर अनुगम का होना ही सम्भव नहीं है, अनुगम का स्वरूप यही है। यत्र धूमः तत्र अग्निः—पर्वतीय अग्नि, पर्वत पर ही होता है और महानसीय अग्नि महानस में ही होता है। समस्त (यच्च यावत्) धूमाधिकरणों में ये अग्नि नहीं होते। यही अनुगमाभाव का स्वरूप है। अनुगम तो वह्निसामान्य और धूमसामसन्य का ही होता है, उसी कारण सामान्य में ही अनुमेयत्व का होना सम्भव है। तब सामान्य के अनुमेय होने पर सिद्धसाध्यता अर्थात् गृहीतग्राहिता का दोष अनुमान को ग्रस लेता है; क्योंकि सामान्य तो यत्र धूमः तत्र अग्निः से ही अवगत (ज्ञात) है। इसलिये अनुमान प्रमाण भंग-लक्षणपङ्क में वादिदन्ती = वादीरूप हाथी निमग्न (फँसे) हो गए हैं अर्थात् फँस गये हैं। उस पङ्क (कीचड़) के बाहर आने में अर्थात् अनुमान के प्रामाण्य का उपपादन करने में समर्थ नहीं हो पा रहे हैं। (भङ्ग शब्द का अर्थ अनुपपत्ति है)।

समाधान—नैष दोषः, अवगतस्यापि सामान्यस्येति। पूर्वोक्त विशेषेऽनुगमाऽभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता—यह दोषावह नहीं है; क्योंकि यत्र धूमः से अवगत देशान्तर कालान्तर सम्बन्ध सामान्य का भी जो पूर्व गृहीत नहीं है, उसके ग्रहण से प्रमेयत्वरूप प्रामाण्य उपपन्न हो जाता है। अर्थात् यत्र धूमः कहने से सामान्यतया अग्नि

के अवगत होने पर भी अगृहीत देशान्तर कालान्तर सम्बन्ध का ग्रहण होने से उसका प्रमेयत्वरूप प्रामाण्य सम्भव है। निष्कर्ष यह है कि अगृहीत सम्बन्ध लक्षण प्रमेय के ग्रहण करने से तद्विषयक अनुमान की भी अगृहीतग्राहिता होने से उसका (अनुमान का) प्रमेयत्वरूप प्रामाण्य उपपन्न हो जाता है।

प्रश्न—इदं चाऽपरमिति। पूर्वपक्षी (एकदेशी) को यह भी बताना चाहिये कि उसने यह कैसे (किस प्रमाण से) जान लिया? धूमदर्शन अग्नि का ज्ञान कराने में कारण है, यदि अनुमान का अगृहीत-ग्राहित्व नहीं है, तो उसे स्मृतिरूपता ही प्राप्त होगी। सिद्धान्ती के प्रश्न करने का यह आशय है।

उत्तर—तदानन्तर्येति। जबकि धूदर्शन के समनन्तर ही वह्निज्ञान होता है, उसी कारण अर्थापत्ति प्रमाण से ही धूमदर्शन में वह्निज्ञान की कारणता (हेतुता) समझ में आती है। यदि अग्निज्ञान के होने में धूमदर्शन, हेतु (कारण) नहीं होता तो धूमदर्शन के समनन्तर ही वह्निज्ञान भी नहीं होता। इसलिये अर्थापत्ति प्रमाण से ही धूमदर्शन को वह्नि-ज्ञान का कारण जाना जाता है। किन्तु उपर्युक्त कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है; क्योंकि तस्य संस्कारद्वारेणाऽपि उपपत्तेः। संस्कारोद्बोध के द्वारा भी धूम दर्शन को अग्निज्ञान का कारण कहा जा सकता है; क्योंकि एकसम्बन्धिदर्शनम् अपरसम्बन्धिस्मारकम् होता ही है। तथा च उसे अनुमान प्रमुषितस्मृतिरूप स्मरण ही कहा जायेगा।

शङ्का—यदि धूमदर्शन को संस्कारोद्बोध द्वारा अग्निज्ञान का हेतु कहा जाय तो अनुमान में स्मृतित्वापत्ति होने से अनुभव रूपत्व नहीं हो पायेगा; किन्तु उसमें तो अनुभवरूपता है। इसलिये धूमदर्शन में संस्कारोद्बोध द्वारा अग्निज्ञान हेतुत्व (अग्निज्ञान का कारणता) नहीं है।

समाधान—न, तस्य संस्कारद्वारेणाऽपि उपपत्तेः। जैसे शुक्तिरजत को स्मतिरूप नहीं कहा जाता, उसी तरह धूम के द्वारा वह्निं का स्मरण होने पर भी वह्नि स्मरामि-इत्याकारक परामर्श का प्रमोष होने से अनुमान में भी अनुभवाभिमान की उपपत्ति हो जाती है, उसी कारण उसे स्मृतिरूप नहीं माना जायेगा। वस्तुतः अनुमान में स्मृतित्वप्रमोष ही उपपन्न होता है, अनुभवत्व की तो उपपत्ति ही उसमें नहीं हो पाती। अनुभवत्व ही उसमें असिद्ध है; क्योंकि अनुमान को अनुभव कहने में कोई प्रमाण नहीं है। जबकि अग्निज्ञान ही प्रत्यक्ष नहीं है, तो उसके (अग्नि का) धर्म, अनुभवत्व का प्रत्यक्ष कैसे प्रत्यक्ष होगा? प्रत्यक्ष का अभाव रहने से अनुमान आदि का भी होना सम्भव नहीं; क्योंकि अनुमान आदि प्रत्यक्ष के अधीन होते हैं। अर्थात् श्रुति भी नहीं है। प्रत्युत स्मृतित्व के प्रमोष होने में तो प्रमाण की उपलब्धि है। प्रमाण यह है—तस्य संस्कार द्वारेणाप्युपपत्तेः = इत्यादि जो पूर्व कहा है, उसी को समझना चाहिये।

अथ स्मृतिप्रमोषत्वे बाधकं स्यात्। न च अग्निज्ञानस्य तदस्तीत्यतः न स्मृतिप्रमोष इति चेत्? न, स्मृतिप्रमोषस्याऽप्यबाधदर्शनात्। मणि-

प्रभादर्शिनो मणिबुद्धिस्तावत् स्मृतिप्रमोष एव, अन्यथा विपरीतख्यातिप्रसङ्गात्। अथ च प्रवृत्तस्य मणिलाभान्न बाधकमस्ति, तस्मात् स्मृतिरेवानुमानमित्यप्रामाण्याऽऽपत्तिः।

कथञ्च गृहीतग्राहित्वमनुमानस्य, अत्यन्तापरिदृष्टे देशे काले चाग्निरनुमीयते। स केन प्रमाणेन प्रागवगतः? न प्रत्यक्षेण, तस्य विद्यमानोपलम्भनत्वात्। न चान्येन केनचित्।

किञ्च—अग्निधूमयोर्मिथः सम्बन्धो देशकालाऽनवच्छिन्नः प्रत्यक्षेणाऽवगतः, इत्येतावदेव भवान् ब्रवीति, न चैतावता देशान्तरकालान्तरसम्बन्धोऽग्नेरवगतो भवति। तस्मादगृहीतग्राह्येवाऽनुमानम्।

किमत्राऽगृहीतम्? अग्निसामान्यं तावद् गृहीतमेव, पर्वतोऽपि प्रत्यक्षेणावगतः, अग्निविशिष्टस्तु पर्वतो न केनाऽप्यवगतः, इति सोऽनुमेयो भविष्यति। तत्र च प्राप्ताऽप्राप्तविवेकेन सम्बन्धमात्रं प्रमेयमवशिष्यते। यथा दध्ना जुहोति इति विशिष्टविषयोऽपि विधिर्विशेषणपरो भवति, तथेहापि विशिष्टविषयमेवाऽनुमानम्। विशेषणविशेष्ययोस्तु प्राप्तत्वात्, यजुर्युक्तं रथमध्वर्यवे ददाति इतिवत् सम्बन्धविषयं भवतीति।

शङ्का—जहाँ बाधकज्ञान उत्पन्न होता है, वहीं पर बाध होने पर स्मृतित्व का (स्मृति का) प्रमोष माना जाता है। जैसे—शुक्ति-रजतज्ञान (शुक्तौ इदं रजतम्) में स्मृतिप्रमोष है। वहाँ नेदं रजतम् = यह रजत नहीं है—इत्याकारक बाधकज्ञान भी है तथा अग्निज्ञान के भी स्मृतित्व प्रमोष की उपपत्ति के लिये नाऽयं पर्वतः अग्निमान्—इस प्रकार बाधक ज्ञान की अपेक्षा की जाती है; किन्तु प्रकृत में पर्वत में अग्नि नहीं है इत्याकारक बाधक ज्ञान है ही नहीं। अर्थात् अग्निज्ञानस्य = पर्वतोऽग्निमान् इस ज्ञान का बाधक कोई है ही नहीं, इसलिये अनुमानस्थल में स्मृतित्व (स्मृति) के प्रमोष की सम्भावना कैसे की जायेगी? ऐसा यदि कहें तो उसका समाधान इस प्रकार होगा—

समाधान—न, स्मृतिप्रमोषस्याऽप्यबाधदर्शनादिति। उक्त शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि स्मृति प्रमोष का भी कहीं-कहीं बाध, नहीं होता। जैसे—मणिप्रभा के दर्शक को मणि बुद्धि होती है। वहाँ स्मृतिप्रमोष ही है, अन्यथा विपरीतख्याति को स्वीकार करना होगा। अन्य कारण यह भी है कि मणि का ग्रहण करने के लिये प्रवृत्ति होने वाले पुरुष को जब मणि उपलब्ध हो जाता है, तब यह मणि नहीं है इत्याकारक बाधक ज्ञान नहीं होता है, इसलिये अनुमान को स्मृति कहने पर उस (अनुमान) को प्रमाण नहीं कह सकेंगे। **कथं च गृहीतग्राहित्वमनुमान स्येति**। तब अनुमान का गृहीत ग्राहित्व कैसे सम्भव हो सकेगा? क्योंकि अनुमान करने के पूर्व कथमपि नहीं देखे हुए (अदृष्टपूर्व) देश और काल में अग्नि का अनुमान किया जाता है। अनुमान करने के पूर्व वह अग्नि

किस प्रमाण से ज्ञात है? प्रत्यक्षप्रमाण से उसका ज्ञान है—यह नही कह सकते; क्योंकि प्रत्यक्ष से तो विद्यमान का ही उपलम्भ (उपलब्धि) होता है। विद्यमान की उपलब्धि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं हुआ करती।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि यह नहीं कह सकते कि स्मृतिप्रमोष का बाधक कोई है ही नहीं, जिससे स्मृतिप्रमोष को नहीं माना जाय। यदि एक सम्बन्धिज्ञान का अपरसम्बन्धिस्मारक नहीं हो तो धूमदर्शन से अग्नि स्मृति की भी उपपत्ति नहीं हो पायेगी। तथा च स्मृतिप्रमोष भी उपपन्न नहीं हो पायेगा; किन्तु ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। यह कोई नियम नहीं है कि बाधक के विद्यमान रहने पर ही स्मृतिप्रमोष हुआ करता है, जिससे अनुमान स्थल में बाधक के विना स्मृतिप्रमोष को स्वीकार नहीं किया जा सके; क्योंकि मणि की प्रभा (प्रकाश) में मणि का ज्ञान होने पर मणिसम्बन्धि प्रभा के दर्शन से शुक्तिरजत के समान मणि का स्मरण ही स्वीकार किया जाता है।

अथ च मणिज्ञान के अनुभव की उपपत्ति के लिये स्मृतिप्रमोष को भी स्वीकार किया जाता है; क्योंकि उस समय नाऽयं मणिः (यह मणि नहीं है) ऐसा बाधकज्ञान नहीं है, मणि लेने की इच्छा से प्रवृत्त हुए व्यक्ति को मणि की प्राप्ति हो ही जाती है। अन्यथा = यदि मणि की प्रभा (प्रकाश) में मणिज्ञान होने की जगह नाऽयं मणिः—ऐसा बाधकज्ञान होता तो शुक्ति रजत ज्ञान के समान मणिज्ञान को भी विपरीतख्याति कहना होगा; किन्तु कोई बाधक नहीं होने से वैसा कहना अभीष्ट नहीं है। मणि पाने की इच्छा से प्रवृत्त हुए व्यक्ति को बाधक नहीं होने के कारण ही मणि की प्राप्ति हो जाती है। अतः अनुमान स्थल में स्मृति प्रमोष को स्वीकार करने में बाधक कोई भी नहीं है, उसी कारण अनुमान को स्मृति कहना ही उचित प्रतीत होता है। अतः अनुमान को अप्रमाण ही कहना चाहिये।

उक्त कथन पर सिद्धान्ती पुनः आक्षेप कर रहा है—**कथं च गृहीतग्राहित्वमनुमान-स्येति?** अनुमान में गृहीतग्राहित्व किस प्रकार हो सकता है? अनुमान से पूर्व तो महानस में ही वह्नि का ज्ञान हो जाता है, पर्वत पर नहीं और न ही इस काल में। अतः पर्वत पर वह्नि का ज्ञान पूर्व में किस प्रमाण से हुआ? पर्वत पर वह्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से तो हो नहीं सकता; क्योंकि प्रत्यक्ष तो केवल विद्यमान वस्तु का ही ग्राहक हुआ करता है। पर्वत पर पूर्व में वह्नि की विद्यमानता (अस्तित्व) का कोई प्रमाण ही नहीं है तथा प्रत्यक्ष प्रमाण सत्संप्रयोगजन्य होने से वर्तमान समय में भी वह्नि के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध (सम्प्रयोग) नहीं है, और नहीं पूर्व में ही था। **न च अन्येन केनचिदिति**। और न दूसरे किसी अन्य प्रमाण से ही था; क्योंकि अनुमानादि अन्य प्रमाण प्रत्यक्षप्रमाण के अधीन (परतन्त्र) हुआ करते हैं।

किञ्च—'अग्नि-धूमयोर्मिथः सम्बन्धो देशकालाऽनवच्छिन्नः प्रत्यक्षेणावगत इत्येता-वदेव भवान् ब्रवीति' अर्थात् तुम्हारे मत के अनुसार भी अनुमान में गृहीतग्राहित्व होना सम्भव नहीं है; क्योंकि यत्र धूमस्त अग्निः कहने से तो अग्नि और धूम दोनों का परस्पर

सम्बन्ध देशान्तर-कालान्तर से अनवच्छिन्न अर्थात् देश और काल दोनों से अनवच्छिन्न ही प्रत्यक्ष से ज्ञात है, इतना ही आप बता रहे हैं। अत: इतना कहने मात्र से ही वह्नि का देशान्तर-कालान्तर के साथ सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता। इस कारण अनुमान प्रमाण अगृहीत का ही ग्रहण करता है—यह मानना होगा।

इस पर पूर्वपक्षी पूछता है कि किमत्राऽगृहीतम्? इति पर्वतो वह्निमान्– यहाँ पर क्या पहिले से अगृहीत है? जिससे आप अनुमान को अगृहीतग्राही कह रहे हैं।

सिद्धान्ती (उत्तरपक्षी) उत्तर देता है—**अग्निसामान्यमिति**। यत्र धूमस्तत्र अग्नि: कथन से अग्निसामान्य भी गृहीत ही (ज्ञात ही) है और पर्वत का ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हुआ है। केवल अग्नि से विशिष्ट पर्वत का ज्ञान अभी किसी भी प्रमाण से नहीं हो पाया है। इस कारण अग्नि से विशिष्ट पर्वत ही अगृहीत (अनुमेय) है। अत: उसी का अनुमान किया जा रहा है—पर्वतो वह्निमान् इति । फिर भी यह विचारणीय है कि क्या प्राप्त है? और क्या अप्राप्त है? इस प्रकार के विवेचन को ही प्राप्ताऽप्राप्तविवेक कहते हैं। इस न्याय से (प्राप्ताऽप्राप्तविवेक न्याय से) अर्थात् प्राप्ताऽप्राप्तयोर्मध्ये अप्राप्तमेव विधियते न्याय से सम्बन्धमात्र ही अवशेष रहता है।

उक्त अभिप्राय को दृष्टान्त के द्वारा बतला रहे हैं—**यथा दध्नाजुहोति इति विशिष्ट-विषयोऽपीति**। अर्थात् जैसे दध्ना जुहोति वाक्य से दधिकरणकत्वविशिष्ट होम का विधान किया जाता है, उसी तरह विशिष्ट होमविषयक होम विधि भी अग्निहोत्रं जुहोति वाक्य से होम प्राप्त है, उसी कारण विशिष्ट होमविषयक होने पर भी वह (विधि) दधि-रूपविशेषण मात्र परक माना जाता है। उसी प्रकार पर्वतो वह्निमान् में भी वह्नि सामान्य और पर्वत दोनों प्राप्त होने से विशेषणीभूत पर्वत और विशेष्यभूत अग्नि का जो सम्बन्ध है वह प्राप्त है, अत: वही अनुमेय होता है। इसी बात को श्रीमाधवाचार्य ने दध्ना जुहोति के सन्दर्भ में द्वितीयाध्याय के द्वितीयपाद के दशमाधिकरण में कहा है—

दधिहोमेऽन्यकर्मत्वं गुणो वाऽन्यत्तु पूर्ववत् ।
निर्गुणत्वादग्निहोत्रे युक्तो दध्यादिको गुण: ।। इति।

इस विशिष्टविषयक अनुमान के समर्थन में एक अन्य दृष्टान्त भी दे रहे हैं—यजुर्युक्तं रथमध्वर्यवे ददाति। उक्त दृष्टान्त में दान और रथ दोनों की प्राप्ति सप्तदश रथान् ददाति वाक्य से हो रही है, उसी कारण यजुर्युक्त रथ का अध्वर्यु के साथ सम्बन्धमात्र का विधान किया गया है। इसी अभिप्राय को श्रीमाधवाचार्य ने दशमाध्याय के तृतीयपादीय बीसवें अधिकरण में बताया है—

यजुर्युक्तोऽध्वर्युभागं बाधते यमयत्युत ।
बाध: प्रकाशवन्मैवं पक्षे प्राप्तेर्नियम्यते ।। इति ।

अर्थात् यजमान के आरोहणार्थ जो रथ इन्द्रस्य वज्रोऽसि इत्यादि यजुर्वेद मन्त्रों से वाजपेय में तैयार किया जाता है, उसे यजुर्युक्त रथ कहते हैं। वह रथ अध्वर्यु को ही

देना चाहिये। इस सम्बन्धमात्र का ही नियमन किया गया है।

उपर्युक्त सम्बन्ध पूर्व से अप्राप्त है। अतः अगृहीतग्राही होने से अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार करना समुचित ही है। मूल ग्रन्थ में यथा से आरम्भ कर तथेहाऽपि तक दृष्टान्तवाक्य है और विशिष्टविषयम् से आरम्भ कर भवति तक द्वितीय (दूसरा) दृष्टान्तवाक्य है।

दध्ना जुहोति—इस विशिष्टविषयक विधि दृष्टान्त से विशिष्टविषयक अनुमान को विशेषणपरत्व प्राप्त है और पर्वत पर अग्नि भी विशेषण है, तथा अग्नि सम्बन्ध भी विशेषण है तथा अग्नि भी व्याप्तिग्रह के द्वारा प्राप्त है, उसी कारण अग्निसम्बन्धपरत्व में यजुर्युक्तम्- यह दृष्टान्त प्रदर्शित किया गया है। दोनों दृष्टान्तों में अप्राप्त परत्व तो है ही। ग्रन्थकार भी कहते हैं—**सप्तदशरथाद्द्रव्यान्तराणि च वाजपेयस्य दक्षिणात्वेन विहितानि**। दक्षिणा के रूप में यजुर्युक्त रथ का भी दान प्राप्त ही है किन्तु वह अध्वर्यु को अथवा अन्य किसी को भी दातव्य हो सकता है, ऐसी स्थिति में अध्वर्यु को ही देने का नियम किया गया है। यहाँ पर जैसे दध्ना जुहोति इत्याकारक विधि विशिष्टविषयक होने पर भी विशेषणपरक माना जाता है तथा एक अन्य दृष्टान्त मे यजुर्युक्तं रथम् अध्वर्यवे ददाति यह विधि सम्बन्धपरक माना गया है तथा विशिष्टविषयक ही अनुमान विशेषण और विशेष्य दोनों की प्राप्ति होने से सम्बन्धविषयक है—ऐसा कहना चाहिये था। इस प्रकार स्वार्थानुमान का निरूपण किया गया।

(अनुमानावयवनिरूपणम्)

यस्तु प्रतिपन्नमर्थं परमनुमानेन प्रतिपिपादयिषति इति, तेन साधनं प्रयोक्तव्यम्। येन वाक्येन परस्याऽनुमानबुद्धिरुत्पद्यते तत् साधन-मित्युच्यते। तच्च पञ्चतयं केचित्, द्वयमन्ये, वयं त्रयम्। उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्। अक्षपादीयास्तावत्- प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनय-निगमनैः पञ्चावयवं साधनं मन्यन्ते। अनित्यः शब्दः इति प्रतिज्ञा, कृतकत्वादिति हेतुः, यत् कृतकं, तदनित्यं दृष्टं यथा घटादीत्युदाहरणम्, कृतकशब्द इत्युपनयः, तस्मादनित्य इति निगमनम्।

अब परार्थानुमान को प्रदर्शित कर रहे हैं—**यस्तु प्रतिपन्नमर्थमिति**। यस्तु = देवदत्तादि कोई भी व्यक्ति प्रतिपन्नमर्थम् = स्वयं ज्ञात किये अर्थ को अनुमान के द्वारा दूसरे अन्य व्यक्ति को समझाना चाहता है, उसे चाहिये कि वह साधन का प्रयोग करे, अर्थात् पर्वतो वह्निमान् धूमात् इत्याकारक वाक्य का उच्चारण करे।

स्वार्थानुमान में साधनवाक्यों का उच्चारण अपेक्षित नहीं होता। साधन का लक्षण—येन वाक्येन परस्यानुमानबुद्धिरुत्पद्यते, तत् साधनम् है। जैसे—पर्वतो वह्निमान् इत्यादि वाक्य से दूसरे अन्य व्यक्ति को अनुमान होता है, उसी कारण पर्वतो वह्निमान् इत्यादि वाक्य को साधन या साधनवाक्य कहा जाता है। उक्त साधन या साधन वाक्य के

पञ्चतयम् = पाँच अवयव होते हैं। संख्याया अवयवे तयप् इस सूत्र से तयप् प्रत्यय किया गया है। मूल ग्रन्थ में कहा गया है—तच्च पञ्चतयं केचित्, द्वयमन्ये वयं त्रयम्—उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्। यहाँ पर केचित् से नैयायिक का अन्ये- से सौत्रान्तिक बौद्ध का, वयम् से अपना (मीमांसकों) का मत विवक्षित है। नैयायिक पाँच अवयव स्वीकार करते हैं—[1]प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। सौत्रान्तिक बौद्ध दो अवयव मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु। मीमांसक तीन अवयव मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, और उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय और निगमन। इस रीति से मीमांसकों ने त्र्यवयवात्मक अनुमान माना है। नैयायिकों के मतानुसार पाँच अवयवों (पञ्चावयवों) का स्वरूप, सूत्रकार गौतम ऋषि अर्थात् अक्षपाद ने प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः (न्या०सू० १।१।३२) इस सूत्र से प्रदर्शित किया है।

जैसे अन्त्यः शब्दः यह प्रतिज्ञा, साध्यवत्तया पक्षवचनं प्रतिज्ञा—यह प्रतिज्ञा का लक्षण है। कृतकत्वात् यह हेतु है। पञ्चम्यन्तः लिङ्गप्रतिपादको हेतुः। यत् कृतकं, तदनित्यं दृष्टं यथा- घटादित्युदाहरणम्, जो कृतक = कार्य होता है, वह अनित्य होता है। यह सर्वत्र दृष्ट है। जैसे—घटादि, यह उदाहरण है। तथा च शब्द कृतक (कार्य) होता है—यह उपनय है, वाक्य है। तस्मात् = इसलिये यह निगमन वाक्य है। इस प्रकार अक्षपादमत के अनुयायियों ने पाँच अवयव माने हैं। तथा च कृतकः शब्दः- इत्युपनयः, तस्मादनित्यः शब्दः- इति निगमनम्।

अयं त्वतिविस्तरो गतार्थ इति मन्वानाः सौगताः द्व्यवयम् उदाहरणोपनयात्मकं मन्यन्ते। स्मर्यमाणनियमं हि लिङ्गं साध्यधर्मिण्यनुसन्दधानस्य स्वयमेव लिङ्गबुद्धिरुत्पद्यते। तेन यत् कृतकं तदनित्यमिति कृतकत्वस्याऽनित्यत्वेन व्याप्तिनियमं स्मारयित्वा कृतकश्च शब्द इत्युपनयमात्रे कृते शब्दस्याऽनित्यत्वमवगम्यत एवेति कृतमवयवान्तरैः।

द्व्यवयवात्मक अनुमान माननेवाले सौत्रान्तिक बौद्ध का मत—**अयं त्वतिविस्तर इति**। अयम् = पञ्चावयवप्रयोगात्मक परार्थानुमान बहुत विस्तृत है और गतार्थ भी है। यह मानकर बौद्धों ने साधन के उदाहरण और उपनय ये दो ही अवयव माने हैं; क्योंकि जो कृतकत्वात् इस हेत्ववयव से बताया जाता है, वही कृतकश्च शब्दः इस उपनयावयव से बतलाया जा रहा है तथा प्रतिज्ञा और निगमन भी एकार्थबोधक ही है। एवञ्च सौत्रान्तिक के विचार से द्व्यवयव ही अनुमान है। इस कारण सौत्रान्तिक के मत में यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यह सर्वत्र दृष्ट है। जैसे महानस धूमवान् होने से वह्निमान् भी है तथा पर्वत धूमवान् है, उसी कारण वह्निमान् भी है—यही अनुमान का आकार है।

---

१. प्रतिज्ञावाक्य का परिष्कृत लक्षण—संयोगसम्बन्धेन साध्यप्रकारक-पक्षविशेष्यकबोधजनकत्वे सति वाक्यत्वम्। यथा— 'पर्वतो वह्निमान् इति'।

शङ्का— दो ही अवयवों से अनुमेय वस्तु का भान कैसे हो सकेगा?

समाधान— बौद्धों का कहना है कि जिसके नियम (व्याप्ति) का स्मरण होता है, उस लिङ्ग को पक्ष में देखकर अपने आप ही (स्वयं ही) पर्वतो वह्निमान् यह ज्ञान साध्य का अनुमान हो जाता है तथा जो कार्य है, वह अनित्य हुआ करता है। इस व्याप्तिरूप नियम का स्मरण हो जाने से शब्द अनित्य है, यह प्रतीति होती है। अतः उपनय मात्र से शब्द की अनित्यता का ज्ञान हो ही जाता है, तब अन्य अवयवों के मानने की क्या आवश्कता है? इस प्रकार सौत्रान्तिक बौद्ध ने अपना विचार उपस्थित किया है।

ग्रन्थकारमतानुसारेण अवयवत्रैविध्यनिरूपणम्,
तत्रैव भाष्यवार्त्तिकमतेन समर्थनम्

एवं त्वत्यन्तसाकाङ्क्षमेव वाक्यं क्लेशगम्यार्थं भवतीति त्र्यवयवमेव युक्तम्—अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद्, यत् कृतकं तदनित्यम्, यथा घटादीत्येवमुदाहरणान्तं साधनं सर्वत्र वार्तिककारः प्रयुङ्क्ते।

अथवा—यत् कृतकं तदनित्यम्, यथा घटादि; कृतकश्च शब्दस्त-स्मादनित्यः—इत्युदाहरणप्रभृति प्रयोक्तव्यम्। एवमप्यन्यूनाधिकमेव साधनम्। तथा च यत् कर्म, तत् फलवद्, होमोऽपि कर्म, तेनाऽपि फलवता भवितव्यम् इत्येव सर्वत्र भाष्यकारः प्रयुङ्क्ते।

अब ग्रन्थकार श्रीपार्थसारथिमिश्र अपना मत बता रहे हैं—**एवं त्वत्यन्तसाकाङ्क्ष-मेवेति**। एवम् अर्थात् अव्यवहित पूर्वकथित सौत्रान्तिक बौद्धमत के अनुसार दो अवयवों को मानने पर वाक्य अत्यन्त साकाङ्क्ष होता है, उससे विवक्षित अर्थ का ज्ञान क्लेश से हो पाता है। इस अरुचि को ध्यान में रखकर अनुमानं त्र्यवयवमेव युक्तम् = अनुमान (साधन) के तीन अवयव मानना ही उचित है। अभिप्राय यह है कि उदाहरणान्त अथवा उदाहरणादि तीन अवयव को ही मानना चाहिये। अपने कथन का वार्तिककार के द्वारा किये गये समर्थन को प्रदर्शित करते हुए त्र्यवयव उदाहरणान्त अनुमान का उदाहरण भी उपस्थित कर रहे हैं—शब्दः अनित्यः कार्यत्वात् अर्थात् शब्द अनित्य है; क्योंकि वह कार्यरूप (उत्पन्न होता है) है। जैसे—घट-पट आदि। यह उक्त उदाहरण (शब्दः अनित्यः कार्यत्वात्) त्र्यवयव अनुमान का है। तदनन्तर त्र्यवयव उदाहरणादि अनुमान का उदाहरण बतला रहे हैं—**अथवा यत् कृतकमिति**। अर्थात् जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है। जैसे घटादि। शब्द कार्यरूप है, इसलिये वह अनित्य है। इस प्रकार उदाहरण से आरम्भकर उपनय और निगमन तक अर्थात् उदाहरण, उपनय और निगमन—यह द्वितीय पक्ष है। ऐसा मानने पर भी साधनवाक्य में किसी प्रकार का कोई न्यूनाधिक्य नहीं होता है। सौत्रान्तिक बौद्ध के मत में साध्यसत्ताबोधक अवयवभूतप्रतिज्ञा अथवा निगमन का अभाव रहने से न्यूनता रहती है और तार्किकों के मत में प्रतिज्ञा और निगमन, हेतु और

उपनय—ये एकार्थ प्रतिपादक कहने से आनर्थक्य के कारण आधिक्य ही प्रतीत होता है।

किन्तु हमारे मत मे त्र्यवयवानुमान को स्वीकार करने पर न न्यून और न अधिक साधन का प्रयोग नहीं होता है। हमारे मत को भाष्यकार शबरस्वामी का समर्थन भी प्राप्त है। तथा च यत् कर्म, तत् फलवत्, होमोऽपि कर्म, तेना फलवता भवितव्यम् (अ० २, पा० २, सू० २५ भाष्य) एवञ्च भाष्यकार शबरस्वामी ने भी त्र्यवयव अनुमान का ही प्रयोग किया है। श्लोकवार्तिक में भी प्रतिज्ञा और निगमन इन दोनों में से किसी एक की (अन्यतर को) ही अपेक्षा (अवश्यकता) प्रदर्शित की है—**तत्र धर्मिणमुद्दिश्य साध्यधर्मो विधीयते इति।**

निष्कर्ष यह है कि बौद्धमत में अवयव न्यून (कम) होने से विवक्षित अर्थ की सिद्धि बड़े क्लेश से होती है। नैयायिकों के मत में अत्यधिक विस्तार है। अत: मीमांसकों का मत ही समुचित है। भाष्यकार शबरस्वामी ने भी दूसरे अध्याय के द्वितीय पादीय इन्द्रियकामाधिकरण मे तीन अवयवों का ही सर्वत्र प्रयोग किया है। जैसे— जो कर्म है, वह सप्रयोजन (फलवान्) है, होम भी कर्म है, उसे भी फलवान् होना चाहिये।

उपर्युक्त रीति से परार्थ अनुमान के तीन अवयवों को बतलाकर उसका स्वरूप, उसका अगृहीतग्राहित्व, और तत्कृत प्रामाण्य का निरूपण अब तक किया गया। अब मूलकार श्रीपार्थसारथिमिश्र प्रतिज्ञादोषा:- इस ग्रन्थ से हेत्वाभासों को बतला रहे हैं—

प्रतिज्ञादोषा: प्रत्यक्षविरोधादयोऽप्रसिद्धविशेषणत्वादयश्च वार्त्तिके प्रपञ्चिता:।

(हेत्वाभासनिरूपणम्)

असिद्धि:, अनैकान्तिकत्वम्, बाधकत्वम् चेति त्रयो [१]हेतुदोषा:। तत्राऽसिद्धि: पञ्चधा—बुद्धो धर्माऽधर्मवेदी सर्वज्ञत्वादिति [२]स्वरूपाऽसिद्धि:। न हि सर्वज्ञत्वस्वरूपं क्वचिदस्ति। वह्निरदाहक: शीतत्वादिति सम्बन्धाऽसिद्धि:, शैत्यस्य वह्निसम्बन्धाऽभावात्। नन्वेवं समुद्रवृद्धौ चन्द्रोदयस्य हेतुत्वं न स्यात्, उदयस्य समुद्रसम्बन्धाभावात्, एककालसम्बन्धादुभयोरदोष:। यदा तर्हि चन्द्रस्य नभोमध्ये स्थितिं दृष्ट्वा पञ्चदशनाडिकाऽतिक्रान्ता समुद्रवृद्धिरनुमीयते, तदा कथम्? तत्राऽपि परम्परासम्बन्धादुभयोरदोष:। न हि साक्षात् सम्बन्ध एव सर्वत्राऽऽ-

---

१. तस्मात्त्रेधा चतुर्धा वा हेत्वाभासा व्यवस्थिता: ।
पञ्चधास्तार्किका: प्राहु: केचिदाहुरप्रयोजक: ।। इति ।।

२. हेत्वभाववान् पक्ष: स्वरूपाऽसिद्धिरिति न्यायमतम् ।
हेतुस्वरूपमेवाऽसिद्धमिति मीमांसकमतम् ।

श्रीयते, यद्धि येन साक्षात् प्रणाड्या वा केनाऽपि सम्बन्धेन नियतं तत् तस्य तथैवाऽनुमापकं भवतीति दर्शितमेवैतत्। तेन यादृशः सम्बन्धो हेतोर्वादिना दर्शितस्तदसिद्धौ दोषो भवति नाऽन्यथा।

[1]**प्रतिज्ञादोषा इति।** अग्नि अनुष्ण है, इस प्रतिज्ञा में प्रत्यक्षविरोध है; क्योंकि अग्नि (वह्नि) में उष्णत्व का ज्ञान होता है। पर्वत काञ्चनमय वह्निमान् है, इस प्रतिज्ञा में अप्रसिद्ध विशेषण दोष है; क्योंकि काञ्चनमय वह्नि का विशेषण अप्रसिद्ध है। भट्टपाद के श्लोकवार्त्तिक के अनुमान परिच्छेद में 'प्रत्यक्षादेश्च षट्कस्य येनैवाऽर्थोऽवधारितः' आदि से 'एवञ्च धर्मसम्बन्धबाधस्तावदुदाहृतः' तक की कारिकाओं से प्रतिज्ञादोषों को बतलाया गया है।

श्रीभट्टपाद के श्लोकवार्त्तिकस्थ कारिकाओं की व्याख्या श्रीपार्थसारथि मिश्र ने इस प्रकार की है— न केवलमनुमानविषयमेवेदं मन्थरस्य बाध्यत्वं, षण्णामपि प्रत्यक्षादीनां मध्ये येनैव शीघ्रपवृत्तिना प्रथममर्थोऽवधारितो भवति, तेनैवोत्तरकालस्य मन्थरस्योत्पत्तिनिरोधलक्षणे बाधो भवति।

इसी तरह येन शब्दादिविषयाणामग्राह्यत्वं प्रतिज्ञातं तत्र शब्दादीनां ग्राह्यतायाः प्रत्यक्षत्वात् प्रतिज्ञायाः प्रत्यक्षेण विरोधः इत्यर्थः । इसी तरह अनुमानविरोध को भी बतलाया है—येन शब्दस्य अश्रावणत्वं प्रतिज्ञातं, तत्र शब्दस्य श्रावणता अनुमानगम्या अस्तीति प्रतिज्ञाया अनुमानेन विरोधः। श्रावणतायाः अनुमानगम्यत्वात् नाऽत्र प्रत्यक्षादिविरोधः, किंतु अनुमानविरोध एवेत्यर्थः। इसी तरह शब्दविरोध भी तीन प्रकार का होता है—(१) प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञान्तरेण विरोधः, पूर्वोक्तेन विरोधः– सर्वलोक प्रसिद्धि विरोध इत्यर्थः। (२) सर्वलोकप्रसिद्धि विरोध, जैसे– चन्द्र शब्द का अर्थ हिमांशु नहीं है, ऐसा यदि कोई कहता है, तो प्रतिज्ञा विरोध कहा जायेगा; क्योंकि सम्पूर्ण संसार में चन्द्र शब्द का अर्थ हिमांशु प्रसिद्ध है, उसी कारण यह प्रतिज्ञाविरोध है।

प्रतिज्ञान्तर विरोध– जिसने कहा कि मैं यावज्जीवम् मौनी हूँ– अर्थात् आजीवन मैंने मौन धारण किया है, तो उसकी यावज्जीवन मौनित्व की प्रतिज्ञा का इस प्रतिज्ञा से विरोध है; क्योंकि यावज्जीवम्– इस वाक्य के कहने पर मौनित्वप्रतिज्ञा नष्ट हो गई। पूर्व संकल्प अर्थात् पूर्व कथन का विरोध जैसे बौद्ध ने शब्द के नित्यत्व की प्रतिज्ञा की, तो उस प्रतिज्ञा के पूर्व बौद्धोक्त सभी पदार्थों के मिथ्यात्व के साथ विरोध स्पष्ट ही है।

---

१. प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होने के कारण तीनों रूपों का बाध होने से इसे हेतुदोष ही कहना चाहिये, प्रतिज्ञादोष नहीं, किन्तु यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि यह तीनों का ही बाध है। पक्षविपर्यय के द्वारा पक्षदोष साध्यवैकल्य के समान कहा जाता है। दृष्टान्तदोष भी अप्रसिद्धविशेषणत्वादि वार्त्तिक के निरालम्बनवाद में कहे गये हैं। अनुमानलक्षण में असन्निकृष्ट विशेषण से इन प्रतिज्ञादि दोषों का निरसन किया गया है।

सर्वलोकप्रसिद्धिविरोध—जैसे कोई कहे अर्थात् प्रतिज्ञा करे कि चन्द्र शब्द का अर्थ हिमांशु नहीं है, तब सम्पूर्ण संसार में हिमांशु में चन्द्रशब्दवाच्यत्व प्रसिद्ध रहने से प्रतिज्ञाविरोध होता है। यदि कोई कहे कि यहाँ तो अनुमान से ही बाध हो जाता है, शब्द से नहीं; किन्तु ऐसा कहना उचित प्रतीत नहीं हो रहा है; क्योंकि अनुमान से बाध के होने पर भी विरोध को शब्द संस्पर्श होने मात्र से ही शब्दविरोध कहा जा रहा है।

उपमानविरोध—जिसे यह ज्ञात है कि गो के सदृश गवय का आकार है, ऐसे व्यक्ति से जब यह कहा जाय कि गवय का सादृश्य गो में नहीं है, तब गो में गवय का सादृश्य गृहीत होने के कारण उपमानविरोध होता है; किन्तु गोसदृश गवयाकार का होना जिसे ज्ञात नहीं है, उससे गोसदृशो गवयः कहने पर उन दोनों के सादृश्य का ज्ञान नहीं होने से कोई विरोध नही होता।

अर्थापत्तिविरोध का उदाहरण—जब जीवित चैत्र नामक व्यक्ति अपने घर में नहीं दिखलाई देता, तब उसका घर में अभाव बतलाया जाता है, अर्थात् घर में नहीं है कहा जाता है। उस स्थिति मे अर्थाऽपत्ति = (अर्थात् आपत्ति = कल्पना) प्रमाण से उसके बाहर विद्यमान रहने का (अस्तित्व का) ज्ञान हो जाता है। उसी कारण अर्थापत्ति विरोध जाना जाता है।

अनुपलब्धि विरोध—जब शश = खरगोश के सींग (शृङ्ग) होने की बात कही जाय, उसके सिर पर सींगों के नहीं होने से उनकी वहाँ उपलब्धि नहीं होती। यही अनुपलब्धिविरोध है। **एवञ्च धर्मसम्बन्धबाधस्तावदुदाहृतः इति**। इस प्रकार प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों का (प्रमाणषट्क का) अर्थ (प्रयोजन), जिससे निश्चित किया गया, तदनन्तर उसी से उसका बाध भी प्रदर्शित किया गया; क्योंकि विकल्प का होना वहाँ सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में सविस्तार वर्णन श्लोकवार्त्तिक के अनुमान परिच्छेद में किया गया है। यहाँ तो बहुत संक्षेप में किया गया है। अप्रसिद्ध विशेषणत्व को बतला रहे हैं—**तृणादिविक्रियाहेतोरग्निमद्धिमसाधने**- इत्यादि। ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र प्रतिज्ञादोषों की उपेक्षा कर हेतुदोषों[1] को स्वयं ही सविस्तार बता रहे हैं—

मीमांसक—(१) असिद्धि, (२) अनैकान्तिकत्व, (३) बाधकत्वम् (विरुद्धत्वम्)- इति त्रयो हेतुदोषाः । उपर्युक्त ये असिद्धि आदि तीन हेतुदोष मानते हैं। उनमें असिद्धि पाँच प्रकार की होती है—(१) स्वरूपाऽसिद्धि, (२) सम्बन्धाऽसिद्धि, (३) व्यतिरेकाऽसिद्धि, (४) आश्रयाऽसिद्धि और (५) व्याप्त्यसिद्धि ।

स्वरूपासिद्धि का उदाहरण—बुद्धो धर्माऽधर्मवेदी सर्वज्ञत्वात्, इति। बुद्ध सर्वज्ञ

---

१. तस्मात् त्रेधा चतुर्धा वा हेत्वाभासा व्यवस्थिताः।
पञ्चधास्तार्किकाः प्राहुः केचिदाहुरप्रयोजकाः ।।
भासर्वज्ञस्तु— अनध्यवसित एव षष्ठः इति मेने।

होने से धर्माऽधर्म को जानता है। नहि सर्वज्ञत्वस्वरूपं क्वचिदस्ति अर्थात् किसी में भी सर्वज्ञत्व स्वरूप है ही नहीं, यदि होता तो अवश्य अनुभव में जाता। अत: बुद्ध में भी नहीं है। यह स्वरूपासिद्धि का अनुभव में नहीं आने का कारण यह है— बुद्धे, सर्वज्ञवत्ताबुद्धिं प्रति बुद्धे, सर्वज्ञत्वाऽभाववत्तानिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वम्। अर्थात् बुद्ध की सर्वज्ञता मानने में प्रतिबन्धक हेतु यही है कि आकाशपुष्प की तरह उसमें सर्वज्ञत्वाऽभाववत्ता का निश्चय सभी को है।

हेतु की स्वरूपत: ही असिद्धि अभिप्रेत है। तथा च जहाँ पर सर्वथा अप्रसिद्ध ही हेतु प्रदर्शित किया जाता है, वहाँ स्वरूपाऽसिद्धि दोष माना जाता है। कहीं पर भी और किसी ने भी सर्वज्ञता को नहीं माना है। उदाहरण है नैयायिकों के मत में हेत्वभाववान् पक्ष: अर्थात् पक्ष में हेतु का नहीं रहना (अभाव) ही स्वरूपाऽसिद्धि दोष कहलाता है। स्वरूपाऽसिद्धि: मीमांसकों के मत में हेतुस्वरूपमेव असिद्धम् इति। अर्थात् बुद्ध को सम्पूर्णतया धर्माऽधर्म का ज्ञान है—यह मानने में (स्वीकार करने में) जो सर्वज्ञत्व हेतु बौद्ध दे रहे हैं, उस हेतु का (सर्वज्ञत्व हेतु का) स्वरूप आकाशपुष्प की तरह ही असिद्ध है।

सम्बन्धाऽसिद्धि का उदाहरण– वह्नि: अदाहक: शीतत्वात्; क्योंकि शैत्यस्य वह्नि सम्बन्धाऽभावात्। अर्थात् अग्निदाहक नहीं है; क्योंकि वह, शीत (ठंडा) है। यहाँ पर शैत्य का अग्नि से सम्बन्ध नहीं है। अभिप्राय यह है कि पक्ष में हेतु नहीं है; इसी को सम्बन्धाऽसिद्धि कहते हैं। बुद्ध में प्रदर्शित दोष और अग्नि में प्रदर्शित दोष में विरोध (अन्तर) यह है कि सर्वज्ञत्वं तो कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है और शीतत्व जल में प्रसिद्ध रहने पर भी अग्नि में तो कथमपि नहीं है।

शङ्का—नन्वेवं समुद्रवृद्धाविति। पक्ष में हेत्वभाव को ही यदि सम्बन्धाऽसिद्धि कहा जाय तो समुद्र की वृद्धि में पूर्णमासी के चन्द्रोदय को कारण (हेतु) नहीं कहा जा सकेगा; क्योंकि चन्द्रोदय का सम्बन्ध तो चन्द्र के साथ है, समुद्र के साथ नहीं है। अभिप्राय यह है कि हेत्वभावस्वरूप ही सम्बन्धाऽसिद्धि दोष हो तो चन्द्रोदय को समुद्रवृद्ध्यनुमापक नहीं कह सकेंगे; क्योंकि कारणरूप (हेतुभूत) चन्द्रोदय का सम्बन्ध केवल चन्द्रमा के साथ है, समुद्र के साथ नहीं है।

समाधान—एककालसम्बन्धादुभयोरदोष:। दोनों का (समुद्रवृद्धि और चन्द्रोदय—दोनों का) एककालिकत्व सम्बन्ध है। उसी कारण चन्द्रोदय स्वकालवर्त्तिनी (अपने उदयकाल में होने वाली) समुद्रवृद्धि का अनुमापक होता है, अर्थात् अनुमान कराता है।

शङ्का—समानकालिकत्व सम्बन्ध से यदि चन्द्रोदय को समुद्रवृद्धि का अनुमापक माना जाता है, तो वह्नि: अदाहक: कहने में भी एककालिकत्व एम्बन्ध से कोई दोष नहीं होना चाहिये; किन्तु ऐसी शङ्का (कल्पना) करना उचित नहीं है; क्योंकि शीतत्व और अदाहकत्व में कार्य-कारणभाव का अभाव होने से एवं वह्नि में अदाहकत्व प्रत्यक्षबाधित होने से उसका (अदाहकत्वका) अनुमान करना सम्भव नहीं है; किन्तु समुद्र की वृद्धि

होने में प्रत्यक्ष का विरोध नहीं है।

यद्यपि चन्द्रोदय समुद्र में नहीं हो रहा है, उसी कारण सम्बन्धाऽसिद्धि दोष तो है ही, तथापि एककालिकत्व सम्बन्ध से अनुमान सिद्धि का सम्भव तो किया ही जा सकता है, उसी कारण अनुमितिज्ञान का कोई प्रतिबंधक नहीं होने से कोई भी दोष नहीं है। यद्धि येन साक्षात्, प्रणाड्या वा इत्यादि अग्रिम ग्रन्थ से भी यही अभिप्राय प्रतीत होता है। अत्र साध्य-साधनयोर्वैयधिकरण्येऽपि न दोषः, तयोरेककालिकत्वस्यैव सम्बन्धस्य इष्ट अदाह-कत्वाऽनुमाने तदसम्भवाच्च। अर्थात् यहाँ पर साध्य-साधन का वैयधिकरण्य रहने पर भी कोई दोष नहीं है; क्योंकि उन दोनों में एककालिकत्वसम्बन्ध ही अभीष्ट है। अदाहकत्व का अनुमान करने में उसका होना सम्भव नहीं है। अन्य मत के अनुसार काल भी पक्ष हो सकता है। जैसे—एककालवर्तित्वं चन्द्रोदय समुद्रवृध्योः सम्बन्धः, तत्र काल एवैक आश्रयः इति। यदि एककालिकत्वसम्बन्ध से सम्बन्धासिद्धि का निरसन करने में ही ग्रन्थ-कार का अभिप्राय हो, तो स्वाधिकरणकालवृत्तित्व सम्बन्ध से चन्द्रोदय समुद्र में भी है ही, उसी कारण वहाँ भी सम्बन्धाऽसिद्धि है—यह कहा करते हैं।

शङ्का—एककालिकत्वसम्बन्ध से उक्त दोष का परिहार होने पर भी जहाँ चन्द्रमा की नभोमध्यभाग में स्थिति के द्वारा पञ्चदश घटिकाओं के अतिक्रान्तत्व से विशिष्ट समुद्रवृद्धि का अनुमान किया जाता है, तब वहाँ पर हेतु और साध्य को एककालिकत्व सम्बन्ध की भी सम्भावना नहीं की जाती, अर्थात् एककालिकत्व सम्बन्ध कैसे होगा?

समाधान—वहाँ भी पारम्परिक सम्बन्ध है। इस पारम्परिक सम्बन्ध को इस प्रकार समझना चाहिये—'स्वाधिकरणकालपर्वूकालाऽवृत्तित्वम्' अर्थात् स्व शब्द से नभोमध्य-स्थिति का ग्रहण कीजिये, उसका अधिकरण काल है—वर्तमानकाल और पूर्वकाल है–चन्द्रोदयकाल तद्वृत्तित्व समुद्रवृद्धि में होता है। अतः तथाकथित परम्परा सम्बन्ध से वहाँ भी अनुमान किया जा सकता है। इसलिये कोई दोष नहीं है।

अभिप्राय यह है कि एककालिकत्व सम्बन्ध से उक्त दोष का निरास होने पर भी जहाँ चन्द्र की नभोमध्यस्थिति से पञ्चदश (पन्द्रह) घडियाँ अतिक्रान्त होने पर पञ्चदश घटिका (नाडिका) अतिक्रान्तत्वविशिष्ट समुद्रवृद्धि का अनुमान किया जाता है, वहाँ तो हेतु और साध्य—दोनों के एककालिकत्व सम्बन्ध का होना भी सम्भव नहीं है, अर्थात् वर्तमानकाल में नभोमध्यस्थिति के होने से तादृशसमृद्रवृद्धि की पञ्चदश घटिका (नाडिका) अतिक्रान्त हो जाने से वर्तमान काल का अभाव है—यह आशङ्का 'यदा तर्हि चन्द्रस्य' ग्रंथ के द्वारा की गई है। मूल ग्रंथ में 'यदा तर्हि' जो कहा है, उसका अन्वय 'तर्हि यदा' ऐसा व्युत्क्रम करके करना चाहिये। निशीथ (अर्धरात्रि) के समय में चन्द्रमा की नभोमध्य स्थिति तो वर्तमान है और तादृश समुद्रवृद्धि की पंचदशनाडिका (पंद्रह घडियाँ) अतिक्रान्त हो चुकी हैं, अर्थात् बीत गयी हैं। तब समानकालिकत्व कहाँ रहा? चन्द्रमा की नभोमध्यस्थिति काल में समुद्रवृद्धि के वर्तमान रहने पर भी चन्द्रोदयकालिक

पञ्चदशनाडिकातिक्रान्तत्व विशिष्ट समुद्रवृद्धि अतीत हो जाने से वर्तमानत्व (वर्तमान-कालिकता) का होना सम्भव नहीं है—यह आशङ्का पूर्वपक्षी ने की है।

उक्त आशङ्का का उत्तर (समाधान) सिद्धान्ती दे रहा है—**तत्राऽपि परम्परासम्बन्धा-दुभयो दोषः इति**। यद्यपि हेतुभूत (कारणरूप) जो चन्द्रकी नभोमध्यस्थिति वह पक्षरूप समुद्र में नहीं होने से सम्बन्धाऽसिद्धि है ही। यद्यपि एककालिकत्व सम्बन्ध की यहाँ सम्भावना भी नहीं की जा सकती, तथापि अन्य किसी भी परस्परासम्बन्ध से अनुमिति का सम्भव हो सकता है, इसलिये कोई दोष नहीं है। यहाँ पर परम्परासम्बन्ध इस प्रकार होगा—स्वाधिकरण कालपूर्वकालवृत्तित्व अथवा स्वाधिकरणकालापेक्षया पञ्चदशनाडिका पूर्वकालवृत्तित्व। स्व शब्द से नभोमध्यस्थिति अथवा अर्धरात्रकाल परिच्छेदकनाडिकना-करव्यवहितपूर्वकालवृत्तित्व आदि समझना चाहिये। समझने की बात यह है कि जैसे वह्नि और धूम का कार्य-कारणभाव ही व्याप्तिमूलक सम्बन्ध है, न कि संयोग। तथापि धूम संयोगसम्बन्ध से अपने अधिकरण में वह्नि का अनुमान कराता है, अर्थात् यहाँ संयोग-सम्बन्ध से वह्नि है, इस तथ्य को सूचित करता है उसी तरह समुद्रवृद्धि और चन्द्रोदय दोनों का व्याप्तिमूलक सम्बन्ध कार्य–कारणभाव ही है, तथापि चन्द्रोदय स्वाधिकरणकाल-वृत्तित्वरूप = एककालिकत्व–सम्बन्ध से समुद्रवृद्धि का अनुमान कराता है अर्थात् इस समय समुद्रवृद्धि हो रही है—इस तथ्य की सूचना दे रहा है। वह समुद्रवृद्धि (भरती) समुद्र में ही सम्भव हो सकती है, न कि चन्द्रोदय के प्रदेश में; क्योंकि समुद्रवृद्धि समुद्र में ही होने का नियम है—समुद्रवृद्धेः समुद्रवृत्तित्वनियमः। इस कारण भिन्नाधिकरण में स्थिति होने पर भी जैसे चन्द्रोदय के द्वारा समुद्र में वृद्धि का अनुमान करना शक्य है, वैसे ही चन्द्र की नभोमध्यस्थिति भी परम्परासम्बन्ध से पञ्चदशनाडिकाऽतिक्रान्त समुद्रवृद्धि का अनुमान करा सकती है, अर्थात् समुद्रवृद्धि को सूचित कर सकती है अर्थात् इदानीं = इस समय पञ्चदशनाडिकाऽतिक्रान्ता समुद्रवृद्धि हुई है। न्यायरत्नमाला में भी कहा है—उदयस्तु चन्द्रगतः, समुद्रगतां तत्कालां वृद्धिम्, तस्यैव नभोमध्यस्थितिस्तामेवाऽर्धपञ्च-दशनाडिकातिक्रान्तां तादृश्यैव तया (समुद्रवृद्ध्या) तस्याः (नभो मध्यस्थितेः) नियमत्वात् इति अन्यत्रापि उक्तम्—तथा कृत्तिकोदयरोहिण्यासत्त्योरप्येकाहोरात्रवर्त्तित्वेन सम्बन्धः, तेन कृत्तिकोदयादहोरात्रज एवाऽऽसन्नरोहिण्युदयोऽनुमीयते, एतेन मध्यगतनक्षत्रदर्शना-दष्टनक्षत्राऽस्तमयोदयानुमानमुक्तम् इति।

ग्रन्थकार श्रीपार्थसारथिमिश्र अपना अभिप्राय प्रदर्शित कर रहे हैं—**नहि साक्षात् सम्बन्ध एवेति**। सर्वत्र ही अर्थात् प्रत्येक स्थल में साक्षात् सम्बन्ध का ही आश्रय नहीं लिया जाता। साक्षात् अथवा परम्परासम्बन्ध से जो व्याप्त (नियत) रहता है, वह उसका उसी रूप से अनुमापक हुआ करता है—यह बता चुके हैं। उक्त अर्थ का ही स्मरण दिखा रहे हैं—**यद्धि येन साक्षात् प्रणाड्या वेति**। यत् = धूमादि, येन = वह्नि आदि से नियतम् = व्याप्त रहता है, तत् = धूमादि, तस्य = वह्नि आदि का तथैव = साक्षात्

सम्बन्ध रहने पर साक्षात् और परम्परासम्बन्ध रहने पर परम्परया अनुमापक होता है। उक्त कथन से यह निष्कर्ष निकला कि जैसा सम्बन्ध वादी ने हेतु में प्रदर्शित किया होगा, उसकी असिद्धि में उसे दोष (हेत्वाभास) माना जाता है, अन्यथा नहीं, अर्थात् हेतु का जैसा (यादृश) सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया हो, उसकी सिद्धि होती हो तो कोई दोष नहीं होता। अत: वह्निः अदाहकः शीतत्वात् स्थल में शीतत्व का वह्नि में समवाय नहीं होने से सम्बन्धसिद्धि तो है ही और उसे दोष ही कहा जायेगा; किन्तु समुद्र और उसकी वृद्धि के अनुमानों में प्रदर्शित सम्बन्धों में असिद्धि नहीं है, उसी कारण सम्बन्धाऽसिद्धि दोष नहीं है।

व्यतिरेकाऽसिद्ध—जहाँ धर्मी को त्यागकर हेतु पृथक् (अलग) नहीं है, वहाँ वह हेतु व्यतिरेकाऽसिद्ध कहा जाता है।

गोशब्दः सास्नादिमद्वचनो गोशब्दत्वादिति व्यतिरेकासिद्धिः। नहि धर्मिव्यतिरेकेण गोशब्दत्वं नाम किञ्चिदस्ति। नित्यमाकाशमनवयवद्रव्यत्वादिति सौत्रान्तिकमाकाशाभाववादिनं प्रत्याश्रयाऽसिद्धिः। वायुराकाशश्चानित्यो मूर्तत्वादिति व्याप्त्यसिद्धिः, मूर्तत्वस्याकाशे व्याप्त्यभावादिति।

अब व्यतिरेकाऽसिद्धि का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—**गोशब्द इति**। गो शब्द सास्नादिमद्वाचक है, अर्थात् सास्नादिमान् पदार्थ का वाचक है, गो शब्दत्व होने से गोशब्दः सास्नादिमद्वचनः गोशब्दत्वात् इति । यहाँ पर पक्ष और हेतु दोनों एक हो गये हैं, इसी कारण व्यतिरेक अथवा भेद की असिद्धि हो गई है। धर्मी से भिन्न गोशब्दत्व नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। एवञ्च पक्षाऽवैशिष्ट्य ही व्यतिरेकाऽसिद्धि है। तथा च यहाँ पर पक्ष और हेतु दोनों के एक हो जाने से व्यतिरेक = भेद की असिद्धि ही है अर्थात् भेद की सिद्धि नहीं है। इसी तथ्य को ग्रंथकार ने स्पष्ट रूप कह दिया है—नहि धर्मिव्यतिरेकेण गोशब्दत्वं नाम किञ्चिदस्ति।

मीमांसकों के मत में आकृतिरेव जातिः– आकृति ही जाति शब्द से कही जाती है और आकृति भी सामान्य रूप होने से व्यक्ति से अभिन्न है। अर्थात् धर्मी से भिन्न गो शब्दत्व नाम की कोई वस्तु ही नहीं है । उसी कारण गोशब्दत्व गोशब्द से भिन्न नहीं है किन्तु वह गो शब्द ही है, उसी कारण धर्मिव्यतिरेकेण = पक्षव्यतिरेकेण अर्थात् पक्षभिन्न गो शब्दत्व तो कुछ है ही नहीं अर्थात् धर्मी से भिन्न गोशब्दत्व नाम की कोई वस्तु ही नहीं है; क्योंकि जाति को आकृति से भिन्न मानने में कोई प्रमाण नहीं है, उसी कारण यहाँ पर पक्ष और हेतु दोनों का ऐक्य (एकता) हो गया है।

भाष्य में कहा है—द्रव्यगुणकर्मणां सामान्यमात्रमाकृतिः, असाधारणविशेषो व्यक्तिः। व्यक्तिपदार्थकस्य आकृतिः चिह्नभूता भविष्यति, य एवमाकृतिकः स गौरिति। इति। ग्रन्थ-

कार स्वयं भी आगे बतलावेंगेतस्मादस्त्येकमाऽऽकृतिजातिसामान्यशब्दाभिलपनीयं शाबलेयादिषु अनुगतम्। इत्याकृतिरेव जातिरिति सिद्धम्। आकृतेश्च व्यक्त्यभिन्नत्वम् स्पष्टमेव।

इस प्रकार साध्याऽवैशिष्ट्य के रहने पर भी व्यतिरेकाऽसिद्धि समझनी चाहिये अर्थात् जहाँ धर्मी को छोड़कर हेतु अलग नहीं रहता, उसे व्यतिरेकाऽसिद्धि कहते हैं। अर्थात् जहाँ पक्ष और हेतु दोनों एक हो गये हों, वहाँ व्यतिरेक की (भेद की) असिद्धि समझनी चाहिये। जैसे– गो शब्द सास्नादिमान् (गलकम्बल वाले पदार्थ का वाचक है) का वाचक है अर्थात् गोशब्दत्व होने से सास्नादिमान् का वाचक होने से गो शब्दः सास्नादिमद्वचनः गो शब्दत्वात् इति।

अब आश्रयाऽसिद्धि का उदाहरण—**नित्यमाकाशमिति**। जहाँ आश्रय ही असिद्ध होता हो, वहाँ आश्रयाऽसिद्धि दोष माना जाता है। आकाशं नित्यम् अनवयवद्रव्यत्वात्— यह अनुमान सौत्रान्तिक बौद्ध के प्रति किया गया है; क्योंकि वह (सौत्रान्तिक बौद्ध) आकाश को पृथक् नहीं मानता। वह तो उसे (आकाश को) अभावरूप ही मानता है। इसलिये उसके मत के अनुसार आकाशरूप पक्ष की असिद्धि है।

अभिप्राय यह है कि नित्यवत्व साधनार्थ पक्षीकृत आकाश सौत्रान्तिक के मत में ही नहीं, इसलिये आश्रय (पक्ष) की ही असिद्धि रहने से यहाँ आश्रयाऽसिद्धि दोष है।

व्याप्त्यसिद्धि— अब व्याप्त्यसिद्धि का उदाहरण दे रहे हैं— वायुः आकाशश्च अनित्यः मूर्तत्वात् इति; क्योंकि मूर्तत्वस्य आकाशे व्याप्त्यभावात् अर्थात् मूर्तत्व की आकाश में व्याप्ति नहीं है।

उक्त व्याप्त्यसिद्धि को ही नैयायिक विद्वान् भागाऽसिद्धि कहते हैं। तथा च यहाँ पर वायु और आकाश दोनों ही पक्ष हैं, उनमें से पक्षैकदेश (पक्ष के एक देश) आकाश में मूर्तत्व हेतु का अभाव रहने से इसी को मीमांसक का विद्वान् व्याप्त्यसिद्धि नामक दोष कहते हैं। उक्तं च = कहा भी है—

शैत्यान्न दाहको वह्निश्चाक्षुषत्वादनित्यता ।
शब्दस्येत्येवमादौ तु द्वयेः सिद्धो विपर्ययः ।।
कृतकत्वगुणत्वादौ परोक्ते याज्ञिकं प्रति ।
स्वोक्ते चैवं प्रकारे स्यादसिद्धोऽन्यतरस्य तु ।।
वाय्वादिभावसन्दिग्धो द्वयेरन्यतरस्य वा ।
धूमस्त्रिधाऽप्यसिद्धः स्यादेवं तावत् स्वरूपतः ।।
एत एव प्रकाराः स्युराश्रयाऽसिद्धिकल्पने ।। इति ।

अनैकान्तिकत्वं द्विविधम्—[1]सव्यभिचारं सप्रतिसाधनं च। नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वादिति कर्मादिष्वनित्येष्वप्यमूर्तत्वस्य सम्भवाद् व्यभि-

---

१. साधारणाऽनैकान्तिक एव तार्किकाभिमतः सव्यभिचारपदेन मीमांसकैर्व्यवह्रियते।

चार्यमूर्तत्वम्। अप्रत्यक्षो वायुर्द्रव्यत्वे सत्यरूपत्वात्, प्रत्यक्षो वायुर्महत्त्वे सति स्पर्शवत्वादिति सप्रतिसाधनत्वादुभयमप्यनिर्णायकं संशयहेतुः, अगृह्यमाणबलाऽबलत्वादुभयोः।

इस प्रकार असिद्धि को बताकर अब ग्रन्थकार अनैकान्तिक नामक हेत्वाभास का वर्णन करते हैं— **अनैकान्तिकत्वं द्विविधम् इति**। सव्यभिचार और सप्रतिसाधन हेतु को अनैकान्तिक नाम से कहा जाता है। जैसे—शब्दः नित्यः अमूर्तत्वात् = शब्द नित्य है अमूर्त होने से अर्थात् शब्द अन्तिय अमूर्त होने से यहाँ पर जो अनित्य कर्मादिक हैं, उनमें भी अमूर्तत्व है, इसलिये अमूर्तत्व व्यभिचारी है। अतः यह (अमूर्तत्व) नित्यत्व को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। इसी को नैयायिकविद्वान् साधारण अनैकान्तिक कहते हैं। अतः यह अमूर्तत्व व्यभिचारी का उदाहरण है। जहाँ दो हेतुओं में बलाबल का निश्चय नहीं हो पाता, वहाँ हेतु निर्णायक नहीं हुआ करता, प्रत्युत वह सन्देह का कारण बन जाता है इसी को सप्रति-साधन कहा करते हैं। इसी को नैयायिक विद्वानों ने सत्प्रतिपक्ष कहा है। जैसे वायु अप्रत्यक्ष है; क्योंकि द्रव्य होते हुए अरूप (रूप रहित) होने से वायुः अप्रत्यक्षः द्रव्यत्वे सति अरूपत्वात्—इस अनुमान प्रयोग में द्रव्यत्वे सति अरूपत्व हेतु है और अप्रत्यक्षत्व साध्य है। उक्त अनुमान के विपरीत एक अन्य अनुमान प्रयोग यह भी होगा कि वायुः प्रत्यक्षः महत्त्वे सति स्पर्शत्वात् अर्थात् वायु प्रत्यक्ष है; क्योंकि वायु में महत्त्व होते हुए स्पर्शवान् होने के कारण यहाँ पर महत्त्वे सति स्पर्शवत्व हेतु है और प्रत्यक्षत्व साध्य है। इस स्थिति में विचारणीय यह है कि उक्त दोनों हेतुओं में से (द्रव्यत्वे सति अरूपत्वात् और महत्त्वे सति स्पर्शत्वात् में) कौन सा हेतु प्रबल है? और कौन सा हेतु दुर्बल है? यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो पा रहा है। उसी कारण वायु प्रत्यक्ष है अथवा नहीं? यह संदेह हो रहा है।

पूर्वोक्त सव्यभिचार को ही नैयायिकों ने साधारण अनैकान्तिक माना है, वह भी संशय का कारण है; क्योंकि अनैकान्तिक का निरूपण करते हुए वार्त्तिककार ने संशय के तीन कारणों को कहा है— साधारण, असाधारण और विरुद्धाऽव्यभिचारी। उनके उदाहरण भी प्रदर्शित किये हैं। साधारण का उदाहरण प्रदर्शित करने के अनन्तर नित्या भूः गन्धवत्वात् अर्थात् भूमि नित्य है, गन्धवत्व होने से। यहाँ पर स्वयं वार्त्तिककार ने शङ्का उपस्थित की है कि असाधारण धर्म की उपलब्धि में संशय नहीं हुआ करता। तदनन्तर पुनः उसका समाधान किया है कि निश्चय करने के लिये सपक्ष में होना तथा विपक्ष में नहीं होना—ये दोनों निश्चय के अंग माने जाते हैं; यथा सपक्षाश्रयः विपक्षव्यतिरेकश्चेति द्वयं निश्चयाङ्गम्। साधारण में सपक्षव्यतिरेक अंग नहीं है, वहाँ भी हेतु रहता है। उसी कारण वह भी संशय करने में कारण (हेतु) है। विरुद्धाव्यभिचारी जिसे सप्रति-साधन कहा गया है, उसी को वार्त्तिक में निर्दिष्ट किया गया है। एवञ्च वार्त्तिक में नैयायिकों की तरह अनैकान्तिक के तीन भेद करने पर भी ग्रन्थकार ने अपनी बुद्धि से

अनैकान्तिक के दो भेद प्रदर्शित किये हैं। इस सन्दर्भ में सिद्धान्तचन्द्रिकाकार ने बताया है कि ग्रन्थकार ने अपनी बुद्धि से हेत्वाभास का जो वर्णन किया है; वह वार्तिक के विरुद्ध है। उन्होंने ऐसा क्यों कहा है? मैं नहीं जानता। स्वबुद्ध्या ग्रन्थकारस्थ यद्धेत्वाभास-वर्णनम् । वार्तिकव्यतिरेकेण- (सिद्धान्तचन्द्रिका) किमर्थं तन्न वेद्म्यहम् इति । शास्त्रदीपिका-कार पार्थसारथिमिश्र कहते हैं—अप्रत्यक्षो वायुः द्रव्यत्वे सति अरूपत्वात्, प्रत्यक्षो वायुः महत्वे सति स्पर्शवत्त्वात् इति सप्रतिसाधनत्वात् उभयमपि अनिर्णायकं संशय हेतुः, अगृह्यमाणबलत्वात् उभयोः।

अरूपत्व तो प्रत्यक्षभूत गुणादिकों में भी रहता है, उसी कारण अरूपत्व में प्रत्यक्षसाधकत्व नही हो सकता, इसलिये द्रव्यत्वे सति कहा गया है। रूपरहित द्रव्य का अप्रत्यक्षत्व आकाश में प्रसिद्ध ही है। इसी तरह स्पर्शवत्व भी अप्रत्यक्षभूत परमाणुओं में भी है ही, इसलिये स्पर्शवत्व मे प्रत्यक्षत्वसाधकता नही हो सकेगी, इसलिये महत्त्वे सति कहा है, स्पर्शवान् महत्व वान् का प्रत्यक्षत्व, घटादिकों में प्रसिद्ध है। दोनों ही हेतु सप्रतिसाधन है, उसी कारण वायु प्रत्यक्ष है अथवा अप्रत्यक्ष है—इसका निर्णय होना सम्भव नही है। प्रत्युत संशय ही उत्पन्न होता है, संशय इसलिये होगा कि यदि एक हेतु में बलवत्त्व का ग्रहण किया जाय तो वह व्यापक ही सिद्ध हो जायेगा। जैसे अरूपत्व के बलवान् होने पर अप्रत्यक्षत्व ही होगा और स्पर्शवत्व के बलवान् होने पर प्रत्यक्षत्व ही होगा। एक मे अबलत्व गृहीत होने पर वह साध्य नहीं हो पायेगा, उसी कारण द्वितीय हेतु का ही साध्य सिद्ध होगा, किन्तु यहाँ किसी का भी बलाऽबलत्व गृहीत नहीं हो पा रहा है। इसलिये कोई भी हेतु अपने साध्य का साधक नहीं हो पा रहा है, प्रत्युत दोनो हेतु, तुल्यबल होने से वे संशय के आपादाक ही हो रहे हैं। अप्रत्यक्षत्वाऽभाव वाले प्रत्यक्ष वायु में अप्रत्यक्ष होने का साधकत्व होने के कारण उपन्यस्य अरूपत्व हेतु के होने से अरूपत्व हेतु में व्यभिचारित्व है और प्रत्यक्षत्वाऽभाव वाले अप्रत्यक्षवायु में प्रत्यक्षत्वसाधकत्वेन उपन्यस्त स्पर्शवत्त्व हेतु के होने से स्पर्शवत्त्व में व्यभिचारित्व है; क्योकि साध्याभाववाले अधिकरण में जो वृत्तिमान् है, उसी के व्यभिचारी होने से इस उक्त अभिप्राय से सत्प्रतिपक्ष नाम से कहे जाने वाले सप्रतिसाधन को ही अनैकान्तिकत्व शब्द से कहा गया है। अथवा व्यभिचारी की तरह संशयोत्पादक होने से इसको अनैकान्तिक कहा गया है—यह भी कह सकते हैं।

कश्चित्त्वाह—न विरुद्धार्थं हेतुद्वयं तुल्यबलमेकत्र सम्भवति, तद्भावे वस्तुनि नित्यसंशयापत्तेः। द्रव्यत्वे सत्यरूपत्वस्यावभासविरोधाद-प्रत्यक्षत्वमनुमापयितुमसामर्थ्याद् दौर्बल्यम्। स्पार्शनाऽनुमानं त्वविरुद्धं बलवदिति न द्वयेबास्तुल्यबलत्वम्। अतो नास्ति सप्रतिसाधनो हेतुरिति।

शङ्का—कश्चित्त्वाह इति। किसी प्राभाकरमतानुयायी का कहना है कि सप्रति-साधनत्व तुल्यबल वालों का ही कहना चाहिये; किन्तु वह सम्भव नहीं है। प्राभाकरों के

कहने का अभिप्राय यह है कि दो विरुद्ध पदार्थों का एकत्र होना कभी सम्भव नही है। अत: तदनुमापक विरुद्ध अर्थवाले तुल्यबलसम्पन्न दो हेतुओं का एकत्र होना सम्भव नही है अर्थात् असम्भव है; क्योंकि एक ही पदार्थ (वस्तु) का दो विरुद्धस्वभाव वाला होना अर्थात् परस्पर विरुद्ध साध्यसाधक होना सम्भव नहीं है। अन्यथा यदि एकत्र विरुद्धार्थक तुल्यबल दो हेतु हों तो हेतु के आश्रयभूत वस्तु में नित्य संशय ही बना रहेगा। जैसे अरूपत्व और स्पर्शवत्त्व इन दो हेतुओं के तुल्यबल रहने पर वायु: प्रत्यक्षो वा अप्रत्यक्षो वा इत्याकारक संशय ही सर्वदा बना रहेगा; क्योंकि दोनों में एक का (अन्यतर का) अवधारण (निश्चय) करने में अपर (दूसरा) हेतु प्रतिबन्धक रहेगा। इसलिये विरुद्धार्थक दो हेतु एकत्र तुल्यबल नहीं होते हैं। **द्रव्यत्वे सति अरूपत्वस्येति**। अर्थात् द्रव्यत्व-समानाधिकरण अरूपत्व हेतु का अपरोक्षावभास (प्रत्यक्ष) के साथ कोई विरोध नहीं है, उसी कारण उस हेतु (द्रव्यत्व समानाधिकरण अरूपत्व हेतु) अप्रत्यक्षत्व का अनुमान कराने में कराने में समर्थ नहीं है, अतएव वह दुर्बल है।

इसका उदाहरण जैसे—वायु: अप्रत्यक्ष: ऊपर बता चुके हैं। द्रव्यत्वे सति अरूपत्वहेतु अप्रत्यक्षत्व का अनुमान कराने में असमर्थ होने से दुर्बल है। उसका प्रत्यक्ष के साथ साक्षात् विरोध है। उसी कारण वायु: प्रत्यक्ष: महत्वे सतिस्पर्शवत्वात्—यह हेतु प्रबल है। इस हेतु का कोई विरोधी भी नहीं है। उसी कारण उक्त दोनो हेतु तुल्य बल वाले नहीं है। अत: सप्रतिसाधान नामक अनैकान्तिक का भेद है ही नहीं? इसी अभिप्राय को प्राभाकरों ने भी कहा है—तदुक्तं प्राभाकरै:- अन्ये पुनरसत्प्रतिपक्षत्वमप्यनुमानकारणमाहु:, ययोदित लक्षणोऽपि हेतुर्यथोदितहेत्वन्तरप्रतिबद्धो नाऽनुमानं जनयति, किन्तु संशयम्, यथा अप्रत्यक्षो वायुर्द्रव्यत्वे सत्यरूपत्वादित्यनेन हेत्वन्तरेण प्रतिबद्ध: प्रत्यक्षो वायुर्महत्त्वे सति स्पर्शवत्त्वादित्ययं हेतुर्वायौ प्रत्यक्षत्वाऽप्रत्यक्षत्वसंशयमापादयति, न त्वनुमानं जनयितु-मलमिति। तदनुपपन्नम्— यथोदित लक्षणयोर्हेत्वोरेकत्र समवायाऽभावात् भावे वा वस्तुनो नित्यसंशयितधर्मवाऽऽपत्ते: । तस्मादनुमानबाधितविषयत्वादरूपत्वादित्यप्रत्यक्षत्वं नोप-स्थापयति स्पर्शवत्वादित्येतदेव निष्प्रतिपक्षमनुमानं जनयति। परिहरति—स वक्तव्य इति। तस्मै वक्ष्यमाणरीत्या उत्तरं दातव्यमित्यर्थ:। सव्यभिचारोऽपीति धूमवान् वह्नेरित्यत्र वह्ने-र्धूमसाकत्वं न भवति व्यभिचारित्वात्, तथापि क्वचित् वह्निमत्यपि धूमदर्शनात् धूमवान् वह्नेर्धूमसाधकत्वं न भवति व्यभिचारित्वात् तथापि क्वचिद् वह्निमत्यपि धूमदर्शनात् धूम-वान् वह्नेरिति श्रुते धूमसंशयस्तु भवत्येव, तत्र च त्वदुक्तरीत्या नित्यसंशयापत्तिप्रसंगाद् व्यभिचार्यपि हेतु: संशयोत्पादको न स्यात् इत्यर्थ:।

स वक्तव्य:—सव्यभिचारोऽपि तर्हि न संशयहेतु: स्यान्नित्यसंशया-पत्तिप्रसंगादेव। सत्यपि तस्य संशयहेतुत्वे प्रमाणान्तरेण निर्णयसम्भवान्न नित्यसंशयापत्तिरिति चेत्? तर्हीहापि प्रमाणान्तरेण निर्णयसम्भवाद-दोष:। तथा सति यत्प्रमाणान्तर विरुद्धं तस्य दुर्बलत्वादितरस्य बलीय-

स्त्वादतुल्यबलत्वमिति चेत् ? केन चोक्तमुभयं तुल्यबलम? इति, किंत्वगृह्यमाणबलाऽबलत्व मात्रम्।

स वक्तव्यः अर्थात् वक्ष्यमाण प्रकार से उसे उत्तर दीजिय। **सव्यभिचारोऽपि तर्हीति**। धूमवान् वह्नेः—इस स्थल में यद्यपि वह्नि में धूम साधकत्व नहीं है; क्योंकि व्यभिचारित्व है, तथापि क्वचित् वह्निमान् में (वह्न्यधिकरण में) भी धूमदर्शन होने से धूमवान् वह्नेः सुनने पर धूमसन्देह तो होता ही है और वहाँ पर आपके कथनानुसार नित्य (सर्वदा ही) संशयापत्ति का प्रसंग होगा, उसी कारण व्यभिचारी हेतु भी संशयोत्पादक नहीं हो सकेगा।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि यदि सप्रतिसाधन को संशय होने में कारण (हेतु) नहीं कहेंगे तो सव्यभिचार भी संशयोत्पत्ति में कारण नहीं कहलायेगा, तब सदा सर्वदा ही संशय का प्रसंग प्राप्त होने लगेगा।

शङ्का—सत्यपि तस्य संशयहेतुत्वे इति अर्थात् सव्यभिचार को संशय का कारण मानने पर भी, प्रमाणान्तर से साध्य का निर्णय हो जाता है। अतः सर्वदा (नित्य) संशय होने की आपत्ति का निराकरण हो जायेगा, तब व्यभिचारी में संशयोत्पादकता नहीं हो सकेगी। जैसे धूमवान् वह्नेः कहने पर महानस (रसोई घर) में प्रत्यक्ष अथवा शब्द से अर्थात् किसी के कहने पर धूमज्ञान हो जाने से संशय नहीं रहता।

उत्तर—तर्हि इहाऽपीति। अर्थात् इहाऽपि = सत्प्रतिपक्ष रहने पर भी प्रमाणान्तर से निर्णय होने की संभावना रहती है, उसी कारण कोई दोष नहीं है, अर्थात् नित्य संशय होने का दोष प्राप्त नहीं हो सकेगा।

शङ्का—फिर भी जो हेतु प्रमाणान्तर से विरुद्ध हो, वह दुर्बल रहेगा और जो प्रमाणान्तरानुकूल होगा, वह प्रबल रहेगा। इस स्थिति में दोनों हेतुओं की तुल्यबलता कैसे हो सकेगी? अर्थात् दोनों हेतु तुल्यबल नहीं हो सकेंगे।

उत्तर—दोनों हेतुओं की तुल्यबलता होनी चाहिये, यह कौन कह रहा है? दोनों हेतुओं की तुल्यबलता को हम नहीं कह रहे हैं। हम तो केवल इतना ही कह रहे हैं कि दोनों हेतुओं के बलाऽबल का ग्रहण नहीं होता है। इतना कहने में ही तुल्यबल शब्द के प्रयोग (व्यवहार) का तात्पर्य है; क्योंकि प्रामाणिक (वास्तविक) तुल्यबलत्व तो कभी सम्भव ही नहीं होगा, अर्थात् असम्भव ही है।

तथाहि—यः स्थाणुत्वं पुरुषत्वं वा नावधारयति तस्योर्ध्वत्वं संशय-हेतुर्भवति, निर्णीते त्वन्यतरस्मिन् रूपे संशयो निवर्तते। तथा यो वायोरपरोक्षावभासं नावधारितवान् तस्य पृथिव्यादिषु प्रत्यक्षत्वव्याप्तं स्पर्शवत्त्वं व्योमादिषु चाऽप्रत्यक्षत्वव्याप्तमरूपत्वं वायावुपलभमानस्य भवत्येव संशयः। स तु प्रमाणान्तरेण निर्णये सति निवर्तत इत्यास्तां

तावत्। तस्मात् सप्रतिसाधनमपि सव्यभिचारवत् संशयहेतुः। तथा च भाष्यकारः—यत् कर्म तत् फलवत्, होमोऽपि कर्म, तेनाऽपि फलवता भवितव्यम् इत्यस्य—उपरते कर्मणि द्रव्याणां तत्संयोगानां च द्रव्यान्तरं फलं दृष्टमिति द्रव्यमपि फलवत् स्यात् इति सप्रतिसाधनं ब्रुवन् प्रतिसाधनत्वमपि दूषणमिति दर्शयति, तस्मात् सोऽपि संशयहेतुः।

उक्त अभिप्राय का ही समर्थन ग्रन्थकार कर रहे हैं—तथाहि यः स्थाणुत्वं पुरुषत्वं वा नावधारयति इत्यदि ग्रन्थ से। तथाहि से उपपादन कर रहे हैं कि जो आदमी दृश्यमान = दिखाई देने वाले पदार्थ (वस्तु) के विषय में स्थाणुरयं पुरुषो वा यह निश्चय नहीं कर पाता, उसके लिये ऊर्ध्वता- उँचाई का दर्शन = देखना संशय को उत्पन्न करता है; क्योंकि ऊर्ध्वत्व स्थाणु (ठूठ = टहनी-पत्ती आदि से रहित वृक्ष) में भी रहता है, तथा पुरुष = आदमी मे भी रहता है, उसी कारण वह ऊर्ध्वत्व (ऊँचाई) स्थाणु वा पुरुषो वा संशय को उत्पन्न करता है; किन्तु यह स्थाणु है अथवा यह पुरुष = आदमी है— इत्याकारक अन्यतर = दोनों में से किसी एक का निर्णय कर लेने पर स्थाणुत्व या पुरुषत्वविषयक संशय की निवृत्ति हो जाती है। उसी तरह जो आदमी वायु के प्रत्यक्षत्व अथवा अप्रत्यक्षत्व का अर्थात् वायुः प्रत्यक्षो वा अप्रत्यक्षो वा निश्चय नहीं कर सकता, उस आदमी को पृथिवी आदि में प्रत्यक्षत्व के व्याप्य स्पर्शत्त्व की तथा आकाशादि में अप्रत्यक्षत्व के व्याप्य अरूपत्व इन दोनों की उपलब्धि वायु में होती है, उसी कारण उसे वायुः प्रत्यक्षो वा अप्रत्यक्षो वा यह संशय होता ही है।

उक्त संशय की निवृत्ति प्रमाणान्तर से महत्त्वसमानाधिकरण स्पर्शत्व हेतु प्रबल है अर्थात् उक्त रीति से अरूपत्व हेतु दुर्बल है, उसके दुर्बल ज्ञान से और स्पर्शवत्त्व के प्रबल ज्ञान से उसका संशय निवृत्त होता है। इस कारण सप्रतिसाधन भी सव्यभिचार के समान संशय का हेतु (कारण) होता ही है।

उक्त कथन का समर्थन मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी के शब्दों से प्रमाणित कर रहे हैं—**तथा चेति**। मीमांसा के द्रितीयाध्याय में द्वितीय पाद के पच्चीसवें सूत्र पर इन्द्रियाधिकरण में भाष्यकार श्री शबरस्वामी कहते हैं—यत् कर्म तत् फलवत्, पुनश्च उपरते कर्मणि द्रव्याणां तत्संयोगानां च द्रव्यान्तरं फलम्, अर्थात् पशु आदि होम (ध्वन) का फल नहीं है; किन्तु द्रव्य का ही फल है। यह कहकर सत्प्रतिपक्ष को ही प्रदर्शित किया है। और उसका दूषण भी बताया है। उपर्युक्त भाष्य 'उपरते कर्मणि' का अर्थ यह है कि कर्म के उपरत = समाप्त होने पर द्रव्य का तथा उनके संयोगों का अर्थात् तन्तु और तन्तुसंयोगों का पट रूप जो द्रव्यान्तर फल तो देखा जाता है। अतः द्रव्य भी फलवान् होता है। इस कथन से निष्कर्ष यह निकला कि संशयोत्पत्ति का हेतु सप्रतिसाधन भी होता है। यत् कर्म तत् फलवत् इस कथन का उपरते कर्मणि यह अनुमान प्रतिबन्धक ही है, उसी कारण सप्रतिसाधन भी दोष ही है। यह भाष्यकार ने अभिव्यक्त किया है।

इसलिये सप्रतिसाधन हेतु भी संशयोत्पादक होता ही है।

असाधारणं तु गन्धवत्त्वं पृथिव्यां दृष्टं, न क्वचिदपि बुद्धिमादधातीति न संशयहेतुः। साधारणं हि द्वयोः साध्यतदभावयोर्दृष्टत्वादुभयत्राऽप्यनवस्थया बुद्धिमादधत् संशयहेतुरिति युक्तम्। तथा विरुद्धार्थव्याप्तमपि हेतुद्वयमेकत्र दृश्यमानं स्वव्यापकमेकस्मिन् धर्मिण्युपसंहरदेकस्य विरुद्धोभयरूपधर्मत्वाऽसम्भवात् संशयं जनयति। न चैवं भावोऽसाधारणस्य सम्भवतीति नाऽयं संशयहेतुः।

कतिपय विद्वान् असाधारण को भी अनैकान्तिक कहते हैं, उनके खण्डनार्थ शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथिमिश्र 'असाधारणं तु गन्धवत्त्वमिति' कहकर उसके (असाधारण के) संशयहेतुत्व का निराकरण कर रहे हैं।

असाधारणगन्धवत्त्व धर्म तो पक्षमात्र वृत्ति हुआ करता है। इसलिये वह संशय को उत्पन्न (पैदा) नही करता। जैसे—इदं पृथिवी गन्धवत्त्वात् किंवा पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात् इति। पृथिवी से भिन्न जलादि में गन्धवत्त्व की उपलब्धि नहीं होती, इसलिये उसमे पृथिवीत्व बुद्धि नहीं हुआ करती। अतः संशय नहीं होता। यदि जल आदि में गन्धवत्त्व की उपलब्धि होती तो वहाँ पृथिवीत्व का संशय भी होता; किन्तु वहाँ गन्धवत्त्व की उपलब्धि नही होने से संशय के होने का प्रश्न ही नहीं है।

साधारणं हि द्वयोरिति। साधारणं हि द्वयोः साध्यतदभावयोर्दृष्टत्वादुभयत्राऽप्यनवस्थया बुद्धिमादधत् संशयहेतुरिति युक्तम्। अर्थात् साधारण तो साध्यतदभावयोः = निश्चित साध्यवान् = सपक्ष तथा निश्चिताध्याभाववान् = विपक्ष दोनों में दृष्ट = देखा जाता है। उभयत्र = साध्यतदभावयोः—यहाँ विषय-सप्तमी है। सप्तमी का अर्थ विषयत्व है। असाधारण धर्म ़ंशयोत्पादक नही होता; किन्तु साधारणधर्म वैसा (असाधरण धर्म के समान) नही है; क्योंकि वह साध्य तथा साध्याभाव दोनों में दृष्ट होने के कारण साध्यविषयक तथा साध्याऽभावविषयक बुद्धि = ज्ञान को उत्पन्न करता है, अर्थात् दोनों स्थलों मे अव्यवस्थापूर्वक ज्ञान को उत्पन्न करता है। इसी कारण वह संशयोत्पत्ति में कारण (हेतु) हो जाता है। यह कहना उचित ही है; जैसे—पर्वतो धूमवान् वह्नेः यहाँ पर धूमवाले महानस में वह्नि दृष्ट हुआ, उसी कारण पर्वत पर वह्नि से धूमवत्ता का ज्ञान होता है, तथैव धूमाऽभावाधिकरण जो अयोगोलक उसमें भी वह्नि दृष्ट होता है, उसी कारण धूमाऽभाववत्ता का ज्ञान भी होता है।

जैसे साधारण संशयजनक होता है, उसी तरह सत्प्रतिपक्ष में भी संशय होता ही है। जैसे—पर्वतो धूमवान् जलवाँश्च में धूम वह्नि से व्याप्य रहता है और जल भी वह्न्यभाव से व्याप्य रहता है, इस कारण विरुद्धार्थव्याप्त हुए ये हेतुद्वय एकत्र पर्वत पर दिखाई देते हैं। पर्वत पर एकत्र दिखाई देते हुए ये दोनों हेतु एक ही पर्वतरूप धर्मी में

जल तो स्वव्यापक अर्थात् वह्न्यभाव का ज्ञान कराता है, अर्थात् जल तो अपने व्यापक वह्न्यभाव का उपसंहार (ज्ञान) करता है और धूमः वह्नि का उपसंहार (बोधन) करता है। ऐसी स्थिति में एक ही पर्वत का वह्नि और उसका अभाव इत्याकारक उभयवान् हो पाना सम्भव नही है, उसी कारण संशय उत्पन्न होता है; किन्तु असाधारण स्थल मे ऐसा होना कभी भी सम्भव नहीं है। असाधारण स्थल में एवं भावः अर्थात् विरुद्धार्थ व्याप्तत्व का होना कभी भी सम्भव नहीं है।

गन्धवत्त्व तो केवल पृथिवी में ही नियम रूप से दिखाई देता है। इसलिये वह पृथिवीत्वाऽभाव का अनुमान कराने में कभी कारण (हेतु) नहीं होता है। अतः उसे संशयजनक नहीं कह सकते; क्योंकि गन्धवत्त्व धर्म पृथ्वी का असाधारण धर्म है।

उक्तं च श्लोकवार्त्तिकटीकायाम्—युक्तं तावत् साधारणो द्वाभ्यां सहदृष्टो द्वये स्मृतिं जनयन् संशयहेतुरिति, यश्च असाधारणः, स केनाऽपि सह अदृष्टः क्वचिदपि बुद्धिम् अनादधत् कथं संशयहेतुः तथा–तदिदं शाक्यमतेन असाधरणस्य संशयहेतुत्वमुक्तं स्वयं त्वस्य संशयहेतुत्वं प्रदेशान्तरे निरस्तम्। न हि साधारणो द्वयमनुमापयन् संशयनिदानं द्वयेरपि नियमाऽभावेन अनुमानाऽसम्भवात् किन्तु द्वाभ्यां सह दृष्टिमात्रेण स्मरणं जनयति, विरुद्धार्थ-द्वयस्मरणं च अन्यतरनिर्धारणकारणाऽभावे संशयं जनयति। यस्तु असाधारणः क्वचिदपि अदृष्टो धर्मिवदेव न क्वचिद् भावेऽभावे वा स्मृतिं जनयतीति नाऽस्य संशय हेतुत्वम् इति।

शाक्यमतमनुस्मृत्य च असाधारणस्य संशयहेतुत्वं तत्रैव उक्तम्– सपक्षान्वयो विपक्ष-व्यतिरेकश्च द्वयं निश्चयाङ्गम् । तत्र साधारणस्य सपक्षान्वयोऽस्ति, विपक्षव्यतिरेकश्च नाऽस्ति, तत्राऽपि वृत्तेः, असाधारणस्य विपक्षव्यतिरेकोऽस्ति, न सपक्षाऽन्वयोऽस्ति, तेन निश्चयैकाङ्ग-वैकल्यात् साधारणवत् असाधारणोऽपि संशयकारणमिति । वार्त्तिकेऽपि उक्तम्—

नित्या भूर्गन्धवत्त्वेन स्यादसाधारणस्त्वयम् ।
निश्चयैकाङ्गवैकल्यादेष संशयकारणम् ।
साधारणो यथा दृष्टो बुद्धिद्वयनिमित्तकः ।
विरुद्धैकाऽनवाप्तेश्च संशये कारणं मतम् ।।

(बाधकनाम्नो हेत्वाभासस्य निरूपणम्)

तथा बाधको नाम हेत्वाभासो यो विरुद्ध इति तार्किकैरभिधीयते। स च षड्विध इति केचित्, धर्मधर्म्युभयेषां स्वरूपस्य विशेषस्य च बाधात्। चतुर्धेति केचित्। उभयबाधस्य धर्मधर्मिबाधान्तर्गतत्वात्। एकधेत्यपरे, सर्वथा समीहितधर्मविपर्यय साधनत्वात्। इदमेव च युक्तम्, अवान्तरभेदस्याऽनुपयोगात्। यद्यवश्यमवान्तरभेदो वक्तव्यः, तर्हि द्वैविध्यमेव वक्तव्यम्, धर्मस्वरूपबाधनं तद्विशेषबाधनं चेति । न हि धर्मितद्विशेषबाधकत्वं नाम हेतोर्दूषणं सम्भवतीति स्वयमेव

वार्त्तिकारेण— धर्मिस्वरूपबाधेन विरुद्धो योऽभिधीयते।

इत्यादिना दर्शितम्।

तथा बाधको नाम हेत्वाभास इति। सव्यभिचार अनैकान्तिक के समान बाधक भी हेत्वाभास है। साध्यविपरीत साधक हेतु को ही बाधक कहते हैं। तार्किक लोग उसी को विरुद्ध के नाम से कहा करते हैं। कतिपय विद्वानों ने उसको षड्विध (छह प्रकार का) बताया है—(१) धर्मस्वरूप बाध, (२) धर्मिस्वरूप बाध, (३) धर्मविशेष बाध, (४) धर्मिविशेष बाध, (५) धर्म-धर्मि-उभयस्वरूप बाध, (६) धर्म-धर्मि: उभयविशेष बाध। इस रीति से बाध के छ: भेद होते हैं।

चतुर्धेति केचित् इति। कुछ विद्वानों ने धर्म-धर्मि उभयस्वरूप बाध तथा धर्म-धर्मि उभयविशेष बाध का क्रमश: धर्मस्वरूप बाधक धर्मिस्वरूप बाध में अन्तर्भाव करके चार प्रकार ही स्वीकृत किये हैं और दोनों प्रकार के बाध धर्म-धर्मी के अन्तर्गत होने से कुछ लोग एक ही मानते हैं। यहाँ पर अपरे कहकर, न परे अपरे इस व्युत्पत्ति से ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र ने अपने पक्ष को बताया है; क्योंकि समीहित धर्म के विपर्यय का ही साधन सर्वथा किया जाता है। अत: यही पक्ष समुचित है।

अभिप्राय यह है कि साध्यसिद्धि में हेतु का बाधक बनना दोष कहा जाता है। अतएव उसे हेत्वाभास कहा जाता है। हेत्वाभास शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है—हेतुवत् आभासन्ते ते हेत्वाभासा: अर्थात् वस्तुत: हेतु न होते हुए भी जो हेतु के समान आभासित होते हैं। अर्थात् पञ्चम्यन्त देखकर उसे हेतु समझ लेना । तब वह हेत्वाभास ही कहा जाता है। दूसरा प्रकार है—हेतो: आभासा: = हेत्वाभासा: । अर्थात् हेतुगतदोषा: हेतु में स्थित रहने वाले दोषों को हेत्वाभास शब्द से कहा जाता है।

धर्मस्वरूप बाध—यथा नित्य: शब्द: कृतकत्वात् यहाँ पर शब्द में कृतकत्व का ज्ञान होने पर शब्द में नित्यत्व रूप जो धर्म अर्थात् साध्य, उसका तो स्वरूप से ही बाध हो जाता है । इसी कारण यह धर्मस्वरूप बाध है। इसी तथ्य को वार्त्तिक में कहा है—नित्यत्वे कृतकत्वस्य धर्मबाधाद्विरुद्धता इति।

धर्मविशेष बाध—अगृहीतसम्बन्ध शब्द भी स्वाभिधेय अर्थ का बोधन कराता है; क्योंकि वह विभक्ति से युक्त (विभक्तिमान्) है, गृहीतसम्बन्ध शब्द के समान अर्थात् अगृहीत-सम्बन्धोऽपि शब्द: स्वाभिधेयमर्थं बोधयति, विभक्तिमत्त्वात्, गृहीतसम्बन्धवत् इति।

यहाँ पर शब्द में सम्बन्ध = शक्ति का ग्रहण करने के पूर्व भी अर्थ बोधकत्व सिद्ध कर रहे हैं। ऐसे स्थल में शब्द शुक्ति का ज्ञान होने के पश्चात् शब्द में सामान्यत: अर्थ-बोधकत्व के विद्यमान रहने पर भी शुक्ति ग्रहाऽनान्तरिक अर्थबोध होने से हेतु की व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है, उसी कारण शक्तिग्रहण के पूर्व अर्थबोधकत्वरूप विशेष धर्म का बाध हो जाने से इसे धर्मविशेष बाध समझना चाहिये। इसी अभिप्राय को वार्त्तिक में भी

बताया गया है—

बाधो धर्मविशेषस्य यदा त्वेवं प्रयुज्यते ।
अर्थवच्छब्दरूपं स्यात् प्राक् सम्बन्धाऽवधारणात् ।।
विभक्तिमत्त्वात् पश्चाद्वत् स्वरूपेणेति चाश्रिते ।।
अस्वरूपार्थयोगस्तु पश्चाच्छब्दस्य दृश्यते ।
तेन प्रागपि सम्बन्धादस्वरूपार्थता भवेत् ।।

धर्मिस्वरूप और तद्विशेषबाध—यथा—समवायः द्रव्यातिरिक्तः इह प्रत्ययहेतुत्वात् संयोगवत् इति। अत्र यत्र-यत्र इह प्रत्यय हेतुत्वं दृष्टं, तत्र-तत्र असमवायत्वम् अनेकत्वं च दृष्टम्, यथा संयोगे। अतः इह प्रत्यय हेतुत्वात् असमवायत्वम् अनेकत्वं च प्राप्तम्—इसी कारण पक्षरूप धर्मी समवाय का स्वरूपतः ही बाध हो गया है, इसलिये इसे धर्मिस्वरूपबाधः क़हा गया है।

उसी तरह अनेकत्व से एकत्व का भी बाध हुआ है, इसलिये यहाँ पर धर्मिविशेष बाध कहा गया है। यहाँ एकत्व का धर्मिभूत समवायरूप से ही बाध समझना चाहिये; किन्तु समवायधर्मिक एकत्व का बाध होने पर तो धर्मविशेष बाध ही माना जायेगा; न कि धर्मिविशेषबाध। इसी तथ्य को वार्त्तिक में भी कहा गया है—

इह प्रत्ययहेतुत्वाद् द्रव्यादेर्व्यतिरिच्यते ।
समवायो यथेहाऽयं घट इत्यादि सङ्गतिः ।।

यहाँ संगति का अर्थ संयोग है। धर्मिस्वरूपबाध को कह रहे हैं—

अत्राऽप्यसमवायत्वं संयोगस्येव सिध्यति ।
तेन धर्मिस्वरूपस्य वैपरीत्याद् विरुद्धता ।।

धर्मिविशेषबाध को कह रहे हैं—

यच्च सत्तावदेकत्वं समवायस्य कल्पितम् ।
तत्र संयोगवदभेदात् स्याद्विवशेषविरुद्धता ।।

उभयस्वरूपबाध—यथा— आत्मा नित्यः अनवयवित्वाद् व्योमवत् इति । यहाँ पर सौत्रान्तिक बौद्ध के मत में आत्मा है ही नहीं और न ही उसका नित्यत्व । इसी कारण धर्म-धर्मी दोनों का ही स्वरूपतः बाध होने से इसे उभयस्वरूप बाध कहा जाता है। इसी तथ्य को अधोलिखित कारिका से निर्दिष्ट किया जा रहा है—

नित्यमात्मास्तिता कैश्चिद् यदा सौत्रान्तिकं प्रति ।
साध्यतेऽवयवाऽभावाद् व्योमवद् द्वयबाधनम् ।।

उभयविशेषबाध को बता रहे हैं; यथा— चक्षुरादयः परार्थाः संघातात्, शयनादिवत् इति। संघातात् = सत्त्वरजस्तम आत्मकत्वात् (गुणत्रयात्मकत्वात्)। यहाँ पर यत्र-यत्र शयनादिषु संहतत्वम् अस्ति, तत्र-तत्र भौतिकत्वमपि अस्ति, तथा संघातात्मकशरीरादि-पारार्थ्यमपि अस्ति। इस कारण संहतत्त्व हेतु से चक्षुरादिकों में भी भौतिकत्व की प्राप्ति

हुई। उसी कारण आहङ्कारिकत्व का बाध हुआ।

यद्यपि चक्षुरादि धर्मिरूप पक्षों का सामान्य बाध नहीं है, तथापि वे आहङ्कारिक होने से उनका विशेषरूप से बाध तो हो ही गया है। इसी कारण यह धर्मिविशेष बाध है; क्योंकि साङ्ख्यदर्शन ने जिसे आहङ्कारिक बताया उसका बाध हो गया, अर्थात् वह आहंकारिक नहीं है। उसी तरह प्रस्तुत में चक्षुरादि पदार्थों की पदार्थता के कारण आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करना है—

यदर्था: चक्षुरादय: स आत्मा। एवञ्च आत्मा को सिद्ध करने में हेतु संहतत्व है; क्योंकि संघातात्मक शरीर आदि पदार्थ पारार्थ्य से व्याप्त हैं, ऐसा शयनादिकों में देखा जाता है। उसका कारण संहतत्व हेतु से चक्षुरादिकों में भी संघातात्मक शरीर के प्रति ही पारार्थ्य सिद्ध होगा, आत्मा के प्रति नहीं; क्योंकि आत्मा में संघातात्मकत्व नहीं है। उसी कारण धर्मरूप पारार्थ्यात्मक साध्य का सामान्यतया बाध नहीं होने पर भी आत्म-निरूपित्त परार्थत्व जो विशेष रूप है, उससे तो बाध हो ही जाता है, उसी कारण यह धर्मविशेषबाध होने से इसे उभयविशेषबाध कहा गया है। इसी तथ्य को अधोलिखित कारिकाओं के द्वारा बता रहे हैं—

तदोभयविशेषस्य बाधोऽयं साध्यते यदा ।
पारार्थ्यं चक्षुरादीनां संघाताच्छयनादिवत् ।।

धर्मविशेष बाध को बता रहे हैं— अनहङ्कारिकात्वं च चक्षुरादे: प्रसज्यते ।।

इस प्रकार बाध का षड्विधत्व श्लोकवार्तिक के अनुसार निरूपित किया गया।

मतान्तर को बता रहे हैं—**चतुधेति केचिदिति**। इस कथन में हेतु (कारण) बताते हैं—उभयबाधस्य धर्म-धर्मिबाधान्तर्गतत्वात् अर्थात् कुछ विद्वानों ने धर्म-धर्मि उभय-स्वरूप बाध को तथा धर्म-धर्मि उभयविशेषबाध को क्रमश: धर्मस्वरूप बाध तथा धर्मिस्वरूप बाध में अन्तर्भूत (अन्तर्गत) करके चार प्रकार स्वीकार किये हैं अर्थात् पंचम और षष्ठ भेदों को पूर्वोक्त चारों के ही अन्तर्गत माना है और दोनों प्रकार के बाध धर्म-धर्मी के अन्तर्भूत होने से कुछ विद्वान् एक ही मानते हैं। एकधा इत्यपरे– न परे इत्यपरे– इस व्युत्पत्ति के द्वारा अर्थात् स्वयम् ग्रन्थकार श्री पार्थसारथिमिश्र ने स्व्यं ही अपने पक्ष को कहा है। इस सन्दर्भ में अनेक मत-मतान्तर हैं—

षोढा विरुद्धतामाहुश्चतुर्धा वैकधाऽपि वा ।
श्रुत्यर्थोक्तस्य बाधायां प्रतिज्ञार्थस्य हेतुता ।।

ग्रन्थकार अपना मत बता रहे हैं—**एकधेति**। समीहित: = साध्यमान जो नित्य-त्वादि धर्म, तद्विपर्यय का साधक होने से इदमेव च युक्तम् कहकर स्वमत को प्रकट कर दिया है; अर्थात् एकधा इत्येव युक्तम्। उक्त कथन में हेतु का निर्देश कर रहे हैं—अवान्तरभेदस्य अनुपयोगात्। धर्मिस्वरूप और तद्विशेष—दोनों का बाध होने पर हेतु में दोष है ही नहीं। धर्मस्वरूप बाध और तद्विशेष बाध तो धर्मबाधत्वेन रूपेण एकधा कहने

से गृहीत हो ही जाते हैं।

अवान्तरभेद की अपेक्षा आवश्यक रहने पर कहते हैं—यदि अवश्यम् अवान्तर भेदो वक्तव्यः तर्हि द्वैविध्यमेव वक्तव्यम्—धर्मस्वरूपबाधनम्, तद्विशेषबाधनं चेति। न हि धर्मितद्विशेषबाधकत्वं नाम हेतोर्दूषणं सम्भवतीति स्वयमेव वार्तिककारेण धर्मिस्वरूप-बाधेन विरुद्धो योऽभिधीयते इत्यादिना दर्शितम्। हेतु-साध्ययोरेव व्यप्तिर्भवति- इस नियम के अनुसार हेतुदोष से साध्य में ही दोष की सम्भावना की जा सकती है, न कि पक्ष में भी। अवान्तर भेदों का कथन यदि आवश्यक समझा जाय तो धर्मस्वरूपबाध और धर्मविशेषबाध—दो प्रकार को ही मानना पर्याप्त है। वार्त्तिककार का तो कहना है कि धर्मि-तद्विशेषबाध—यह हेतु को दूषित नहीं करता। धर्मिस्वरूपबाधेन विरुद्धो योऽभिधीयते, अर्थात् धर्मिस्वरूपबाध जिसको विरुद्ध नाम से कहा जाता है, यह उद्धृत वार्तिक श्लोक-वार्त्तिक में उपलब्ध नहीं है, कदाचित् टुप्टीका में हो। वार्त्तिककार ने जिसकी रचना सर्वप्रथम की थी।

तथाहि—द्रव्यातिरिक्तः समवाय इह प्रत्ययहेतुत्वात् संयोगवदिति, अत्रेह प्रत्ययहेतुत्वमसमवायत्वेन भेदेन च व्याप्तं संयोगे दृष्टम्, समवाय-स्याऽसमवायत्वं भेदं चाऽपादयत् समवायधर्मिस्वरूपं तद्विशेषणं चैकत्वं बाधत इत्युदाहृतम्।

तदयुक्तम्—इह प्रत्ययहेतुत्वं हि समवाये धर्मिणि दृष्टं न वा? यदि अदृष्टं ततोऽसिद्धत्वात् न कस्यचिदपि साधकं बाधकं वा भवति, यदि दृष्टं तत्कथं तत्रैव दृश्यमानं तस्यैव बाधनं कुर्यात्? विरोधे हि सति बाधेत, न च तद्धर्मतया दृश्यमानस्य कथंचिदपि तेन विरोधः सम्भवति।

धर्मिस्वरूप बाध से जो विरुद्ध कहा जाता है, उसी का उपपादन करने के लिये कहते हैं कि समवाय द्रव्य से पृथक् होता है; क्योंकि वह इह प्रत्यय का हेतु है, संयोग के समान समवायः द्रव्यातिरिक्तः इह प्रत्यय हेतुत्वात्, संयोगवत् इति—यहाँ पर इह प्रत्यय हेतुत्व असमवाय से व्याप्त है तथा भेद से भी व्याप्त है, यह संयोग में भी देखा गया है। इसलिये वह समवाय का असमवायत्व और भेद दोनों का आपादान करता हुआ समवायरूप धर्मी (पक्ष) स्वरूप का एवं समवाय के विशेषणरूप एकत्व का भी बाध कर देता है। यह वार्तिक में प्रदर्शित किया गया है।

तदयुक्तम् इति। वार्तिक प्रदर्शित कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है; क्योंकि इह प्रत्ययहेतुत्व समवायरूपी पक्ष में दृष्ट है अथवा नहीं? ये दो विकल्प हैं। समवायरूपी धर्मी (पक्ष) में यदि इह प्रत्ययहेतुत्व अदृष्ट है, तब वह असिद्ध (स्वरूपासिद्ध) होने के कारण अर्थात् पक्ष में अभाव (न रहने से ही) न किसी का (असमवायत्व का और भेद

का) साधक हो सकता है और न बाधक ही हो सकता है, अर्थात् समवायत्व का और एकत्व का बाधक नहीं हो सकता। यह आशय यद्यदृष्टं ततोऽसिद्धत्वान्न कस्यचिदपि साधकं बाधकं वा भवति—इतनी पंक्ति का है।

द्वितीय पक्ष को बता रहे हैं—यदि दृष्टं तत्कथं तत्रैव दृश्यमानं तस्यैव बाधनं कुर्यात्? अर्थात् समवायरूपी धर्मी में इह प्रत्ययरूप हेतु दृष्ट है, तो उस दृष्ट हेतु का (स्वाधारभूत समवाय का) बाध कैसे होगा? क्योंकि विरोध रहने पर ही बाध हुआ करता है। जैसे—भूतलवृत्ति घट भूतल का बाध नहीं करता, प्रत्युत भूतल स्वाधिकरण होने से उसकी सत्ता में वह घट प्रमाण ही होता है।

विरोध के होने पर ही बाध होता है। जैसे—वह्नि और जल का परस्पर विरोध रहने से सरोवर आदि जलाशय में जल से वह्नि (अग्नि) का बाध होता है, न कि उसके धर्मरूप में दृश्यमान का उसी धर्मी के साथ विरोध होता है, प्रत्युत आनुकूल्य ही रहता है; क्योंकि उस धर्म के कारण ही धर्मी में धर्मित्व रहता है। इस कारण हेतु धर्मी का बाधक होता ही नहीं; किन्तु जिसके धर्म के रूप में प्रतीत होता है, उसका उससे कदापि विरोध नहीं हुआ करता।

(समवायत्वबाधे प्रश्नः)

ननु समवायत्वं बाधत इत्युक्तम्। यदि समवायत्वं नाम समवाय-धर्मिणोऽतिरिक्तं, तद्बाधेऽपि न धर्मिस्वरूपं बाधितं स्यात्। अथ धर्म्येव तत्, न तस्य बाधकं सम्भवतीत्युक्तम्। तस्मात् न धर्मिस्वरूप-बाधनं नाम हेतुदोषः क्वचित् सम्भवति, सर्वत्राऽदृश्यमानस्याऽसत्त्वात्, दृश्यमानस्य चाऽविरोधात्। धर्मिविशेषणस्यैकत्वस्य कामं सम्भवति बाधः, न त्वेतद् दूषणम्। यदि खल्विह प्रत्ययहेतुत्वं समवायस्यैकत्वं विरुन्ध्यात्, ततो द्रव्यातिरेकं साधयतः किं हीयते? न हि द्रव्याति-रेकसाधनकृतमेकत्वसाधनं, यतः तस्य दूषणत्वेन सम्भाव्येत। तस्माद्धर्म-स्वरूपस्य तद्विशेषस्य च बाधनाद् द्विविधमेव बाधकम्। तत्र नित्यः शब्द कृतकत्वादिति कृतकत्वनित्यत्वेन व्याप्तत्वमान्नित्यस्वरूपमेव बाधते।

प्रश्न—यदि कोई यह कहे कि बाध तो समवायत्व का होता है, उसके आधारभूत समवाय का नहीं तब क्या दोष है?

उत्तर—यदीति। यदि समवायरूप धर्मी से भिन्न (पृथक्) समवायत्व हो, तब तो धर्मस्वरूप का बाध हो जाने पर भी धर्मिस्वरूप (धर्मी के स्वरूप) का बाध नहीं होगा और यदि समवायत्व धर्मी ही हो, तब उसका बाध होना सम्भव ही नहीं है। इसलिये धर्मिवरूप बाधन नाम हेतुदोष का होना कहीं सम्भव नहीं है; क्योंकि अदृश्यमान का सर्वत्र असत्त्व होने से और दृश्यमान का अविरोध रहने से उक्त हेतुदोष का होना कहीं

सम्भव नहीं है। निष्कर्ष यह है कि जो पक्ष में नहीं दिखाई देता, वह असत् ही है अत: असत् का साधकत्व अथवा बाधकत्व होना सम्भव नहीं है और जो पक्ष में दृष्टिगोचर होता है, उसका तो स्वाधारभूत पक्ष के साथ विरोध होना सम्भव ही नहीं है, तब वह कैसे बाधक हो सकेगा? यही सर्वत्र न्याय्य है। अथवा यह कहिये कि जो सर्वत्र ही नहीं दीखता, उसे असत् समझना चाहिये। एकत्व तो समवाय का धर्म ही है, अत: उसका बाध होना तो सम्भव नहीं है, उसी कारण वह दोष नहीं है। निष्कर्ष यह है कि ज़िसका साधन करने के लिये हेतु का प्रयोग किया जाता है, उसी के बाधन में हेतु का बाधकत्व दोष माना जाता है, न कि साध्यातिरिक्त धर्मबाधन में भी। जैसे—वह्निमान् धूमात् इस स्थल में वह्नि का अनुमान कराने वाले धूम के द्वारा वह्निविरोधी जल का बाध होने पर भी वह बाधकत्व दूषण (दोष) नहीं है। एक ही स्थान में अर्थात् एक जगह सब कुछ एक ही से नहीं साधा जाता। उसी तरह यहाँ भी द्रव्यातिरेक के साधनार्थ प्रयुक्त किये गये इह प्रत्ययहेतुत्व रूप हेतु से यदि एकत्व के बाध की सम्भावना की जाती है, तो यह हेतु का दोष नहीं है; क्योंकि द्रव्यातिरेक के साधनार्थ उसको प्रयुक्त करने के कारण एकत्व का साधन करने के लिये उसे प्रयुक्त नहीं किया गया है। विपक्ष में बाधक को बता रहे हैं—नहि द्रव्यातिरेकसाधनकृतमेकत्वसाधनं यतस्तस्य दूषणत्वेन सम्भाव्येते।

निष्कर्ष यह है कि जैसे आर्द्रेन्धनसंयोग से धूम को निष्पन्न किया जाता है और धूम से वह्नि को निष्पन्न किया जाता है। इस प्रकार धूमसाधन करने पर वह्नि साधन भी हो जाता है। इस प्रकार धूमसाधनकृतं (प्रयुक्तम्) वह्निसाधनम्—इस परिस्थिति में यदि आर्द्रेन्धनसंयोग का वह्नि के साथ विरोध होता तो विरोधवशात् वह्नि का बाध हो जाता। तब वह्नि के बिना धूम नहीं होता। इस प्रकार धूम का भी बाध होता, तब हेतु में बाधकत्व दोष हो जाता, उसी प्रकार यहाँ भी यदि इह प्रत्यय में हेतुत्व होने से द्रव्यातिरेक होता और उससे एकत्व की सिद्धि होती, तब द्रव्यातिरेकसाधनकृत एकत्वसाधन हो पाता और वहाँ इह प्रत्यय रूप-हेतुत्व से एकत्व का बाध होने पर द्रव्यातिरेक का भी अपने व्यापक का बाध होने से बाध हुआ होता तथा च एकत्व के साधन की सम्भावना हेतु के दोष के कारण की जाती; किन्तु द्रव्यातिरेकसाधन कृत एकत्व साधन नहीं है, जिससे एकत्वबाधन की उसके दोषरूप में सम्भावना की जाय। एकत्वसाधन के स्थान पर एकत्वबाधन भी क्वचित् पाठ है। तस्मात् धर्मस्वरूपस्य तद्विशेषस्य च बाधनाद् द्विविधमेव बाधकम्। अर्थात् स्वीकृत धर्मस्वरूप और तद्विशेषबाधक—इन दोनों में से धर्मस्वरूप बाधक का उदाहरण दे रहे हैं। तत्र नित्य: शब्द: कृतकत्वात् इति कृतकत्वमनित्यत्वेन व्याप्तत्वात् अर्थात् शब्द नित्य है, कार्य होने के कारण—इस स्थल में कार्यत्व अनित्यत्व का व्याप्य है। अत: वह नित्य स्वरूप को ही बाधित कर देता है। नित्यस्य रूपमेव बाधते। नित्य रूप का ही अर्थात् शब्द के धर्मरूप से उक्त नित्यत्व का ही सामान्यत: बाध होता है—यही धर्मस्वरूप बाध है।

यस्तु—स्वरूपमेव शब्दानामभिधेयं नाऽर्थान्तरमित्येतमर्थं प्रतिपिपादयिषुस्तत्सिद्ध्यर्थमेवं प्रयुङ्क्ते—अगृहीतसम्बन्धाऽवस्थोऽपि शब्दः स्वाभिधेयमर्थं प्रतिपादयति, विभक्तिमत्त्वाद्, गृहीतसम्बन्धवदिति, तस्य धर्मविशेषविपर्ययसाधनो हेतुः, पश्चाद्धि सम्बन्धग्रहणादस्वरूपप्रतिपादनं दृष्टमिति, तद्वदेव प्रागस्वरूपार्थत्वं तेनैव हेतुना प्रसज्येत। स्वरूपप्रतिपादने च बाधितेऽर्थप्रतिपादनमपि तद्धर्मस्वरूपं बाधितमेव। न हि प्राक् सम्बन्धग्रहादर्थान्तरप्रतिपत्तिः शक्यते वक्तुम्, प्रतीतिविरोधादेव।

धर्मविशेष बाध का उपपादन करते हैं—**यस्त्विति**। न्यायरत्नाकर में यो हि स्वरूपमेव शाब्दानामभिधेयम्, इत्याश्रित्य तत्सिद्ध्यर्थमेवं प्रयुङ्क्ते– सम्बन्धग्रहणान् प्रागपि शब्दः अर्थवान्, अर्थं बोधयतीति यावत् विभक्तिमत्त्वात् पश्चात्तद्वदिति, सिद्धे चाऽर्थबोधनेऽर्थान्तरबोधाऽभावात् स्वरूपार्थत्वं सिद्धं भवतीति, तम्प्रत्युच्यते इति। अस्मिन् मते बाह्यार्थेन सह सम्बन्धग्रहाऽभावेन तदभिधानाऽसम्भवादर्थात् स्वरूपाभिधायकत्वं शब्दानां प्राप्तम्। तथा च शब्दानां स्वरूपमेवाऽभिधेयमस्ति, न तु कम्बुग्रीवादिमदादिपदार्थान्तरमिति साधनार्थम्– अगृहीतसम्बन्ध इत्यादि यः प्रयुङ्क्ते तस्य पुरुषस्य विभक्तिमत्त्वात् इति हेतुः, धर्मविशेषविपर्ययसाधनः = धर्मविशेषस्य अगृहीताऽसम्बन्धावस्थायामपि स्वाभिधेयार्थप्रतिपादकत्वस्य विपर्ययसाधनः उक्तधर्मसाधनाऽसमर्थ इत्यर्थः।

ग्रन्थकार उक्त सन्दर्भ का ही उपपादन कर रहे हैं—**पश्चाद्धि सम्बन्धग्रहणादिति**। जो वादी यह कहता है कि शब्दों का स्वरूप ही वाच्य होता है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं, इस विवक्षित अर्थ के सिद्ध्यर्थ वह अनुमानप्रयोग करता है—अगृहीतसम्बन्धावस्थोऽपि शब्दः स्वाभिधेयमर्थं प्रतिपादयति, विभक्तिमत्त्वात्, गृहीतसम्बन्धवत् इति। अर्थात् शब्द अगृहीत सम्बन्ध होने पर भी अपने वाच्य अर्थ को बताता है, विभक्तिमान् होने के कारण, गृहीत सम्बन्ध वाले शब्द के समान। यहाँ पर धर्मविशेष का जो विपर्यय है, उसका साधक यह हेतु है। तदनन्तर शक्तिग्रह के द्वारा अस्वरूप का प्रतिपादन दृष्टिगोचर होता है। अतः उसी तरह उसी हेतु से अस्वरूपार्थत्व पहिले प्राप्त होगा; क्योंकि स्वरूपप्रतिपादन का बाध होने पर अर्थप्रतिपादनात्मक धर्मस्वरूप बाधित हो ही जाऐगा, अन्यथा शक्तिग्रह होने के पूर्व अर्थान्तर की प्रतीति होना नहीं कहा जा सकेगा।

न्यायरत्नाकर के मत के अनुसार वाह्यार्थ के साथ सम्बन्धग्रह नहीं होने से बाह्यार्थ का अभिधान करना सम्भव नहीं है, उसी कारण शब्दों में स्वरूपाभिधायकत्व अर्थात् ही प्राप्त है। तथा च शब्दों का स्वरूप ही अभिधेय है, न कि कम्बुग्रीवादिमान् आदि पदार्थान्तर इस तथ्य के साधनार्थ जो व्यक्ति अगृहीत सम्बन्ध आदि का प्रयोग करता है। उस व्यक्ति का विभक्तिमत्त्वात् हेतु धर्म विशेषविपर्ययसाधन अर्थात् धर्मविशेष की अगृहीत असम्बन्धावस्था में भी स्वाभिधेयार्थ प्रतिपादकत्व का विपर्ययसाधन है अर्थात् उक्त धर्म के साधन

में असमर्थ रहता है। इसी तथ्य का उपपादन पश्चाद्धि सम्बन्धग्रहणादस्वरूपप्रतिपादनं दृष्टमितीति अर्थात् जिस रूप से साध्य-साधन का व्याप्तिग्रह होता है, उसी रूप से अनुमान भी हुआ करता है। अत: शक्तिग्रहण के पश्चात् शब्द के द्वारा पदार्थान्तर को ही बताया जाता है, स्वरूप को नहीं—ऐसा गृहीत सम्बन्ध वाले शब्द में देखा गया है और वहाँ विभक्तिमत्त्व रूप हेतु भी रहता है, उसी कारण शक्तिग्रह के पूर्व भी विभक्तिमत्त्वरूप हेतु से अगृहीत शक्ति वाले शब्द का अस्वरूपार्थत्व अर्थात् स्वरूपप्रतिपादकत्वाभाव ही प्रसक्त होता है। अगृहीतशक्तिक शब्द का उक्त रीति से स्वरूपप्रतिपादकत्व भी बाधित हो जाता है, तब अर्थान्तरप्रतिपादकत्व भी निश्चित रूप से बाधित होता है, उसी कारण तद्धर्मस्वरूप अर्थात् अगृहीत सम्बन्धवाले शब्द का धर्मस्वरूप जो अर्थप्रतिपादकत्व है, वह बाधित ही है।

इसी अभिप्राय को बता रहे हैं—नहि प्राक् सम्बन्धग्रहादर्थान्तरप्रतिपत्ति: शक्यते वक्तुं प्रतीतिविरोधादेव। शक्तिग्रहण के पूर्व शब्द का अर्थ प्रत्याकत्व प्रतीति विरोध होने के कारण किसी प्रकार से भी सम्भव नहीं हो सकता। अर्थात् शक्तिग्रहण करने के अनन्तर ही शब्द से अर्थ का बोधन किया जाता है—यह सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध है। अत: उसके विरुद्ध कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

अर्थप्रत्यायकत्व को शक्तिग्रहण के पूर्व मानने पर शक्तिग्रहण व्यर्थ ही होगा, शक्तिग्रहण का प्रयोजन ही अर्थप्रत्यायकत्व है। अथ च-शब्द में सामान्यत: अर्थ बोधकत्व रहने पर भी शक्तिग्रह के पूर्व अर्थ-बोधकत्वरूप विशेष धर्म का साधन नहीं कर पाने से जो बाध होता है, उसे धर्मविशेष बाध कहते हैं।

सर्वत्र यो हेतु: यादृग् विशेषविशिष्टेन साध्येन दृष्टान्तधर्मिषु नियत: स तादृग्विशेषविशिष्टस्य साध्यस्य धर्मिणि प्रमाणान्तरविरोधात् साधनाऽसम्भवेन विपरीतं विशेषं नियमबलात् स्वयमेव बाधमानो निर्विशेषस्य च साध्यस्य असम्भवात् साध्यमेव न साधयति। यथा शरीरिचेतनकर्तृकत्वेन घटादिषु व्याप्तमुत्पत्तिमत्त्वं देहाङ्कुरादीनां चेतनकर्तृकत्वसाधनाय उच्यमानं शरीरिणश्चेतनस्याऽनुपलब्धिविरोधेन साधयितुमशक्यत्वादशरीरस्य तेनैव हेतुना घटादिवन्निवारणाद् विधाद्वयशून्यस्य चेतनस्याऽसम्भवाच्चेतनकर्तृकत्वमेवाऽङ्कुरादीनां न साधयति। तेन धर्मिविशेषविरोधो हेतो: साध्यसिद्धिमेव निरुणद्धीति भवति दूषणम्। धर्मिविशेषविरोधस्तु साध्याऽविरोधित्वान्न दूषणं, प्रत्युत सिद्धान्तान्तरदूषणत्वात् प्रतिवादिन एव निग्रहस्थानत्वाद् दूषणं तद् भवति, न वादिन:।

बाधक हेतु का अभीप्सित जो साध्य का असाधकत्व है, उसे बताते हैं—**सर्वत्र यो**

हेतुरिति। जो विभक्तिमत्त्व हेतु यादृग्विशेषविशिष्ट अर्थात् यादृग् विशेषताविशिष्ट साध्य के साथ सपक्षों में स्थित है, अर्थात् गृहीतसम्बन्धशब्दनिष्ठत्व विशेष से विशिष्ट स्वार्थ-प्रतिपादक साध्य के साथ दृष्टान्तधर्मियों में अर्थात् सपक्षभूत गृहीत सम्बन्धवाले शब्दों में स्थित है, अर्थात् नियत (व्याप्त) है, वह विभक्तिमत्त्व हेतु तादृग्विशेषविशिष्ट अर्थात् गृहीत सम्बन्ध शब्दनिष्ठत्वविशेष से विशिष्ट स्वार्थप्रतिपादकत्वरूप साध्य के धर्मिणि = पक्षभूत अगृहीत सम्बन्धवाले शब्द में प्रमाणान्तर के विरोध के कारण अर्थात् अगृहीत सम्बन्धवाले शब्द के द्वारा अपने अर्थ का (स्वार्थ का) प्रतिपादन नहीं किया जाता। इत्यादि प्रमाण विरोध के कारण साधन करना सम्भव नहीं होने के कारण अर्थात् उक्त साध्य का साधन करने में असमर्थ होने के कारण स्वविपरीत अर्थात् स्वविरुद्ध विशेष का अर्थात् अर्थप्रतिपादकत्व के अगृही सम्बन्ध शब्द निष्ठत्व को नियमबल से अर्थात् व्याप्ति के बल से स्वयं ही बाधित करने वाला (बाधक) समझा जाता है; क्योंकि विभक्तिमत्त्व की अर्थप्रतिपादकत्व के साथ जो व्याप्ति गृहीत हुई है, वह गृहीत सम्बन्ध शब्दनिष्ठत्वविशिष्ट हुए अर्थप्रतिपादकत्व के साथ ही गृहीत हुई है। अत: अगृहीत सम्बन्धशब्दनिष्ठत्व विशिष्ट अर्थप्रतिपादकत्व का बाध करता हुआ गृहीतसम्बन्ध शब्द-निष्ठत्वविशिष्ट अर्थप्रतिपादकत्व तो अगृहीतसम्बन्ध वाले शब्द में है ही नहीं और निर्विशेष साध्य होता ही नहीं; क्योंकि निर्विशेष होने में कोई प्रमाण नहीं है। अत: सामान्यत: ही साध्य का बाध होता है, इसलिये स्वाभिलषित प्रतिज्ञात साध्य की सिद्धि नहीं करता। सर्वत्र बाधस्थल में यही न्याय लागू किया जाता है।

उक्त अभिप्राय को उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं—**यथेति**। देहाङ्कुरादिकं चेतन-कर्तृकमुत्पत्तिमत्त्वाद् घटादिवत् अनुमानप्रयोग है। इस प्रयोग से यह बताया जा रहा है कि घटादि कार्यों में उत्पत्तिमत्त्व हेतु की शरीरि चेतनकर्तृकत्व के साथ व्याप्ति का ग्रहण किया गया है, देह अंकुरादिकों का कर्ता कोई शरीरी उपलब्ध नहीं हो रहा है और न उसको सिद्ध ही किया जा सकता है। अशरीरचेतनकर्तृकत्व के साथ उत्पत्तिमत्त्व की व्याप्ति का ग्रहण ही नहीं किया है, उसी कारण अशरीरचेतनकर्तृकत्व को सिद्ध नहीं किया जा रहा है, प्रत्युत उसका निवारण ही किया जा रहा है, इसी को घटवत् कहकर बताया जा रहा है। जैसे—घटाददिकों के अशरीरिचेतनकर्तृकत्व का निवारण किया जाता है, उसी प्रकार समझना चाहिये। एवञ्च शरीरित्व अशरीरित्वलक्षण प्रकारद्वय शून्य चेतन का असम्भव होने से सामान्यत: चेतनकर्तृकत्व ही सिद्ध नहीं हो पा रहा है। वस्तुतस्तु शरीरिचेतन की अनुपलब्धिरूप विरोध के कारण उसको सिद्ध कर पाना सम्भव ही नहीं है, उचित नहीं है; क्योंकि जो उपलब्ध नहीं होता, वह सत् नहीं है, अर्थात् असत् है—यह नहीं कहा जाता। अन्यथा स्वर्गादि लोकों का और देशान्तरस्थ वस्तुमात्र की उपलब्धि नहीं होने से उनका असत्त्व ही मानना होगा; किन्तु वस्तुस्थिति तो ऐसी नहीं है। इसलिये यह स्वीकार करना ही होगा कि दिव्य शरीरधारी भगवान् नारायण चेतन पुरुषविशेष ही स्वेच्छामात्रेण सम्पूर्ण विश्व का निर्माण करते हैं। उक्त: धर्मिविशेष के साथ हेतु का विरोध

दोषावह नहीं है। साध्यसाधन का सामर्थ्य हेतु में न होना ही हेतु का दूषण (दोष) है।

वह हेतु दोष प्रधानतया पाँच प्रकार का बताया गया है—

अनैकान्तो विरुद्धश्चाऽप्यसिद्धः प्रतिपक्षितः।
कालात्ययोपदिष्टश्च हेत्वाभासास्तु पञ्चधा॥

अनैकान्त, विरुद्ध, असिद्ध, प्रतिपक्षित (सत्प्रतिपक्ष), कालात्ययापदिष्ट (बाधित)— ये पाँच हेत्वाभास है। धर्मिविशेषविरोध को हेतुदोष नहीं समझना चाहिये; क्योंकि साध्य के साधने में वह प्रतिबन्धक नहीं है। प्रत्युत यह धर्मिविशेष का विरोध तो साध्य का विरोधी नहीं होने से कोई दोष नहीं है। वह प्रतिपक्षी के सिद्धान्त को दूषित करने के कारण प्रतिवादी का ही निग्रहस्थान हो जाता है, उसी कारण प्रतिवादी के मत में हीं दोष होता है, वादी के मत में नहीं। इस मत में न्यायसूत्रकार का समर्थन भी है—अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः। श्लोकवार्त्तिक की व्याख्या में भी कहा है—यस्तु विशेषो नाक्षिप्यते तस्मिन् बाधितेऽपि न प्रतिज्ञातार्थो बाधितो भवति, तस्य यदि वाद्यु-पगममात्रेण प्रतिवादी बाधं ब्रूयात् ततः प्रकृतात् सिद्धान्तान्तरदूषणं नाम निग्रहस्थान-मापद्यते इति।

यस्तु दृष्टान्तपरिदृष्टसाध्यविशेषविरोधसम्भवेऽपि तद्रहितं साध्यमात्रं हेतुः साधयत्येव, तच्च विशेषान्तरमाक्षिप्य सिध्यतीति वदति, तस्य उष्णाग्निनियतस्तृणादिविकारो हिमे दृश्यमानः शैत्यप्रत्यक्षविरोधा-दौष्ण्याऽसम्भवेऽप्यनुष्णमेवाग्निं साधयेत्, तस्माद्धर्मिविशेषविपर्यय-सायधनत्वं हेतोरदूषणमेव।

यस्तु दृष्टान्तपरिदृष्टेति। अर्थात् दृष्टान्त में देखे हुए साध्यविशेष का विरोध होने पर भी जो हेतु विशेषरहित साध्यमात्र को सिद्ध करता है, वह भी अन्य विशेष का आक्षेप कर उसे सिद्ध करता है—ऐसा कथन जो वादी करता है, उसके मत में उस हेतु के द्वारा उष्ण अग्नि से व्याप्त हुए तृणादि विकार, जिसे हिम (बर्फ) में देखा जाता है, उसमें शैत्यविरोध प्रत्यक्ष है, उसमें उष्णता का होना सम्भव नहीं है। तथापि अनुष्ण अग्नि को ही वह हेतु सिद्ध करेगा। उसी कारण धर्मिविशेष का जो विपर्यय साधन वह हेतु का दोष नही है। अर्थात् अग्नि के सम्बन्ध से तृण आदि भस्म होते हैं, यदि भस्म न भी हों तो किञ्चिन्मात्र रूप तो परिवर्त्तित हो ही जाता है। उसमें कुछ विकार तो हो ही जाता है। हिम (बर्फ) में उष्ण अग्नि का होना सम्भव नहीं है। अतः पूर्वपक्षी के मतानुसार तो शीताग्नि ही सिद्ध होगी; क्योंकि सपक्ष में दृष्ट विशेष पक्ष में सम्भव नहीं रहने पर भी हेतु साध्य का साधक होता है—यह पूर्वपक्षी मानता है, इसी कारण यह आपत्ति उसके मत में है, सिद्धान्ती के मत में नहीं है।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि सपक्ष में जो विशेष विशिष्ट साध्य देखा गया

है, उस विशेष विशिष्ट का पक्ष में विरोध रहने पर भी तद्रहित = विशेषरहित साध्य को हेतु सिद्ध करता ही है; क्योंकि निर्विशेष साध्य को सिद्ध करना असम्भव है। वह साध्य विशेषान्तर का आक्षेप करके विशेषान्तरविशिष्ट सिद्ध हो जाता है। जैसे स्वार्थप्रतिपादकत्व साध्य गृहीतसम्बन्धशब्दात्मक सपक्ष में गृहीतसम्बन्धशब्दनिष्टत्वविशेषविशिष्ट ही दिखाई देता है और अगृहीतसम्बन्धनिष्ठत्वविशेषविशिष्ट ही दिखाई देता है और अगृहीतसम्बन्ध वाले शब्दात्मक पक्ष में तो उक्त विशेषविशिष्ट स्वार्थप्रतिपादकत्व का असम्भव रहने पर भी (स्वार्थप्रतिपादकत्व की) विभक्तिमत्त्वात् यह हेतु उसकी सिद्धि कर ही देता है। वह साध्य निर्विशेष तो कभी होता ही नहीं, उसी कारण अगृहीतसम्बन्धशब्दनिष्ठत्वविशेषविशिष्ट ही सिद्ध होता है। जैसे शूद्र में ब्राह्मणत्वविशिष्ट मनुष्यत्व का होना कभी सम्भव नहीं रहता, उसी कारण ब्राह्मणत्व विशिष्टमनुष्यत्व की निवृत्ति होने पर भी शूद्रत्वविशिष्ट अथवा केवल मनुष्यत्व की निवृत्ति तो होती नहीं। उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये। जिस प्रकार अग्नि के लगने से तृणादि घास भस्म हो जाता है, कदाचित् पूर्णतया भस्मीभाव नहीं होने पर भी वैरूप्य तो हो ही जाता है, उसी कारण हिम के सम्बन्ध से भी तृणादि में वैत्यादि विकार उत्पन्न होता है और हिम में शैल्यविरोध के कारण उष्ण अग्नि का होना सम्भव नहीं, उसी कारण पूर्वपक्षी के मत में शीत अग्नि की ही सिद्धि होगी क्योंकि पूर्वपक्षी ने सपक्ष में दृष्ट विशेष का पक्ष में होना सम्भव नहीं रहने पर भी हेतु में तो साध्यसाधकत्व का स्वीकार तो किया ही है। तथा च—महानस आदि में अग्नि—उष्ण अग्नि ही दिखाई देता है और हिम में उष्ण अग्नि का होना सम्भव नहीं रहने पर भी तृणादि विकार के रूप में दृश्यमान शीत अग्नि ही सिद्ध होगा, अन्यथा अग्नि के विना दृश्यमान तृणादिविकार की अनुपपत्ति कही जायेगी। तथाहि—हिमम् अग्निमत् तृणादिविकारकारित्वात् अयोगोलकवत्। यहाँ पर प्रत्यक्षभूत शैत्य का विरोध होने से हिम में उष्णत्व का होना सम्भव नहीं है और अग्नि तादात्म्य सम्बन्ध से उष्णत्वव्याप्य ही है। इसी कारण अग्निव्यापक उष्णत्व की निवृत्ति से अग्नि की भी निवृत्ति होती है; किन्तु अब वह नहीं हो सकेगा। किन्तु मूल ग्रन्थस्थित 'यस्तु दृष्टान्तपरिदृष्ट' आदि ग्रन्थोक्त रीति से अयोगोलक में उष्णत्वविशिष्ट अग्नि दृष्ट होता है और हिम में उष्णत्व का विरोध रहने से उष्णत्वरहित अनुष्ण अग्नि को ही हेतु सिद्ध करेगा; किन्तु यह सम्भव नहीं है। इसलिये सपक्ष में साध्य जिस विशेषरूप से विशिष्ट हुआ दिखाई दे, उसी विशेष का पक्ष में असम्भव रहने पर हेतु साध्यसाधक नहीं हो सकता। इस तथ्य को श्लोकवार्तिक की टीका में बताया गया है—अग्निर्ह्युष्णत्वव्याप्तः स्व-व्यापकमुष्णत्वमाक्षिपेत्, तस्य च (उष्णत्वस्य) प्रत्यक्षावगतेन शैत्येन बाधात् तद्व्याप्तोऽग्निरपि बाधितो भवति। वार्तिकेऽप्युक्तम्—

तृणादिविक्रियाहेतोरग्निमद्धिमसाधने ।
प्रत्यक्षावगताच्छैत्यात्तद्विशेषोत्थबाधनम् ॥

मृगेन्द्रावलोकितन्याय से आशंकित का परिहार करके अब उपसंहार कर रहे हैं—**तस्मादिति**। साध्य का साधन करने में हानि नहीं होने के कारण धर्मिविशेष विपर्ययसाधन करना हेतु का [१]दोष नहीं माना जाता; अर्थात् हेतु—अदूषित ही समझा जाता है।

(अनुमाने दृष्टान्तनिरूपणम्)

उदाहरणं द्विविधम्—साधर्म्योदाहरणं वैधर्म्योदाहरणं च । साधर्म्यम्—लिङ्गमुद्दिश्य लिङ्गिन उपादानम्—यो यो धूमवान् महानसादिः स सर्वोऽग्निमान् दृष्ट इति। सम्प्रयुक्ते च साधर्म्ये न वैधर्म्यं वक्तव्यं गतार्थत्वात् । यदा वक्तव्यमापतति, तदा लिङ्ग्यभावमुद्दिश्य लिङ्गाभावोपादानम् यत्राऽग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा तोयादिष्विति। यत्र भावेन भावः साध्यते तत्रैव विधिरूपं साधर्म्यम्, तत्प्रतिषेधरूपं च वैधर्म्यम्। यत्र तु मेघाभावादिना वृष्ट्याद्यभावः साध्यते, तत्र साधर्म्यमेव प्रतिषेधरूपम। यथा—यदा यत्र मेघोत्पत्तिर्नास्ति तदा तत्र वृष्टिर्नास्तीति। वैधर्म्यं तु विधिरूपम्—यत्र वृष्टिरस्ति तत्र मेघोत्पत्तिरस्तीति। तेन यद् भिक्षुणोक्तम्– प्रसज्यप्रतिषेधात्मकमेव वैधर्म्यम् इति, तदनादरणीयम्।

हेतुदोषों को बताने के बाद अब उदाहरण को बता रहे हैं—**उदाहरणं द्विविधमिति**। उदाहरण के दो प्रकार हैं—साधर्म्य और वैधर्म्य। साधर्म्य उसे कहते हैं, जिस हेतु (लिङ्ग) को उद्देश्य कर साध्य (लिङ्गी) को ग्रहण किया जाता है । जैसे—यो यो धूमवानिति। जो-जो धूमवान् होते हैं, महानस (रसोई घर) आदि वे सभी अग्निमान् दिखाई देते हैं। सम्यगुक्ते च साधर्म्ये इति। सम्यक् = अव्यभिचरित साधन-साध्य दोनों साधर्म्य को यथास्थित कह दिया जाय तो वैधर्म्य को कहने की आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि साधर्म्य का ठीक-ठीक उपपादन करने पर वैधर्म्य गतार्थ हो जाता है। अर्थात् सम्यक् साधर्म्य से भी अनुमिति उत्पन्न होती है; अत: वैधर्म्य का निर्देश करने की आवश्यकता नहीं रहती। यदि कहने की उत्सुकता ही हो तो लिङ्गी (साध्य) के अभाव को उद्देश्य कर लिङ्गाभाव का ग्रहण करना चाहिये। यथा—जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ धूआँ (धूम) भी नहीं है। जैसे—सरोवर तडाग आदि में।

यत्र भावेनेति। जहाँ भाव पदार्थ से भावपदार्थ को साध्य बनाया जाता है, वहाँ विधिरूप साधर्म्य माना जाता है और उसका वैधर्म्य प्रतिषेधात्मक माना जाता है। जहाँ मेघाभाव से वृष्टि के अभाव का अनुमान किया जाता है। वहाँ साधर्म्य प्रतिषेधात्मक ही

१. मानमेयोदय के रचयिता नारायणभट्ट ने साध्यस्वरूपविरुद्धः, साध्यविशेषविपरीतविरुद्धः कहकर विरुद्ध के दो प्रकार प्रदर्शित किये हैं; किन्तु ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र ने विरुद्ध का एक ही प्रकार माना है।

होता है। यथा—जहाँ मेघोत्पत्ति नहीं है, वहाँ उस काल में वर्षा भी नहीं होती। वैधर्म्य तो विधिरूप होता है। यत्र वृष्टिरस्ति तत्र मेघोत्पत्तिरस्ति अर्थात् जहाँ वर्षा हो रही है, वहाँ मेघोत्पत्ति है।

तेन यद् भिक्षुणोक्तमिति। अर्थात् उपर्युक्त व्याप्ति को ध्यान में रखकर भिक्षु धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में जो कहा है, वैधर्म्य प्रतिषेधरूप ही होता है । इस कथन का खण्डन हो जाता है।

कतिपय लोगों ने जो यह कहा था कि वैधर्म्यं प्रतिषेधात्मकमेव भवति । अर्थात् अभावयोरेव व्यतिरेकव्याप्तिर्भवति: किन्तु उनका यह कथन उचित नहीं है; क्योंकि अभावसाध्यक स्थल में दो भाव पदार्थों की ही व्यतिरेकव्याप्ति हुआ करती है। इसलिये वहाँ वैधर्म्य ही विधिरूप हुआ करता है, न कि प्रतिषेधरूप किन्तु साधर्म्य ही प्रतिषेधरूप होता है। उदाहरण-निरूपण का प्रारम्भ करते हुए वार्त्तिक में भी कहा गया है—

गमकस्यैकदेशस्य व्याप्तिं गम्येन भाषितुम् ।
साध्यसाधर्म्य-वैधर्म्यदृष्टान्त: प्रतिपाद्यते ।।
तत्र हेत्वर्थमुद्दिश्य साध्योपादानमिष्यते ।
उद्देश्यो व्याप्यते धर्मो व्यापकश्चेतरो मत: ।।
यद्वृत्तयोग: प्राथम्यमित्याद्युद्देश्यलक्षणम् ।
तद्वृत्तमेवकारश्च स्यादुपादेयलक्षणम् ।।

उपर्युक्त गमक का अर्थ हेतु है और गम्य का अर्थ साध्य है। यद्वृत्तयोग: प्राथम्यम् का अर्थ है—प्रथमत: जो यत् शब्द से कहा जाता है, उसे उद्देश्य कहते हैं, जैसे—यो धूमवान् और जो एवकार तथा तत् शब्द से कहा जाता है, उसे उपादेय कहते हैं। जैसे—स वह्निमान् एव इति।

साधर्म्याऽऽभासाश्च साध्यविकलत्वादय: । वैधर्म्याऽऽभासाश्च साध्याभाववैकल्यादयो वार्त्तिक एव द्रष्टव्या इति।

(अनुमाने प्राभाकरानुवाद:)

तत्तु द्विविधम् इति दृष्टस्वलक्षणविषयमेवाऽनुमानमिति मन्वानान् निराकर्तुमदृष्टस्वलक्षणविषयमप्यनुमानं क्रियादिविषयमस्तीति दर्शयितुं द्वैविध्याभिधानम्। न हि क्रिया स्वलक्षणं प्रत्यक्षेण कदाचिद् गृह्यते, पूर्वोत्तरदेशसंयोगविभागमात्रस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणम्, याभ्यामेवाऽऽगन्तुकाभ्यामागन्तुकं कारणमनुमीयते, तच्च क्रियेत्युच्यते।

इस प्रकार उदाहरण का स्वरूपनिरूपण करके वार्त्तिकोक्त उनके दोषों को सूचित कर रहे हैं— **साधर्म्याभासश्चेति**। उदाहरण के स्वरूप को बताकर अब श्रीकुमारिलभट्टपाद के वार्त्तिकोक्त उदाहरण के दोषों का संक्षेप में वर्णन कर रहे हैं। दृष्टान्त में निर्दिष्ट

साध्याभाव को साधर्म्याऽऽभास कहते हैं। जैसे—वह्निमान् धूमात् जलह्रदवत्-जलह्रद = सरोवर या तालाब आदि में साध्यरूप वह्नि कभी भी किसी ने नहीं देखा है, उसी कारण साध्यविकलत्व होने से साधर्म्याभास दोष का यह उदाहरण है। निष्कर्ष यह निकला कि 'दृष्टान्तस्य यत् साध्यवैकल्यं तत् साधर्म्याभासः'।

इस साधर्म्याऽऽभास दोष के कारण महानसवत्—इतना कहना ही पर्याप्त है। व्यतिरेकदृष्टान्त का यत् साध्याऽभाववैकल्यं तद् वैधर्म्याभ्यासः यथा यत्र वह्निनास्ति, तत्र धूमोऽपि नास्ति महानसवत् यहाँ पर महानस में वह्न्यभाव के वैकल्य से वैधर्म्याऽऽभास दोष है, उसी कारण यहाँ जलह्रदवत्—इतना ही कहना चाहिये। इसी आशय को वार्त्तिक में अभिव्यक्त किया है—

यदा सम्यक् प्रयुक्तेऽपि वाक्येऽर्थो न तथा भवेत् ।
साध्य-हेतूभयव्याप्तिशून्यत्वात् परमार्थतः ॥
नित्योर्ध्वनिरमूर्तत्वात् कर्मवत् परमाणुवत् ।
घटवत् व्योमवच्चाऽपि तदसद्भाववादिनम् ॥
धर्म्यसिद्धावपि ह्येवं दृष्टान्तोऽऽभासता भवेत् ॥

यदि दृष्टान्त साध्यशून्य हो, हेतुशून्य हो और साध्य हेतु दोनों (उभय) की व्याप्ति से रहित (शून्य) हो, तो दृष्टान्ताभास (दृष्टान्ताभासता) कहते हैं। जैसे—ध्वनिः नित्यः अमूर्तत्वात् कर्मवत्—यहाँ पर दृष्टान्तरूप कर्म में नित्यत्व साध्य नहीं है, इसलिये साध्यशून्यत्व होने से दृष्टान्ताभासता है। परमाणुवत्—इतना कहने पर परमाणु में अमूर्तत्व नहीं है, उसी कारण हेतुशून्यत्व होने से दृष्टान्ताभासता है। घटवत्—इतना कहने पर घट में नित्यत्व और अमूर्तत्व दोनों ही नहीं है। उसी कारण उभयव्याप्तिशून्यत्व होने से दृष्टान्ताभासता है। व्योमवत्—इतना कहने पर व्योम को स्वीकार नहीं करने वाले के मत में धर्मी की अर्थात् दृष्टान्त की सिद्धि ही नहीं होती। उसी कारण दृष्टान्ताभासता है, इसी आशय को व्योमवच्चापि कहा है। वैधर्म्य का उदाहरण प्रदर्शन प्रारम्भ कर वार्त्तिक में कहा है—

सहभावित्व दृष्ट्या तु यदा व्याप्तिं न लक्षयेत् ।
परः साधर्म्यदृष्टान्तात् तं च नापेक्षते यदा ॥
वक्ता वा सहभावित्वं शुद्धं तेन वदेद् यदा ।
विपरीतान्वयं वाऽपि तत्समाधित्सया तदा ॥
पूर्वज्ञानोपमर्देन वैधर्म्येणेष्टसाधनम् ॥
व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते ।
तयोरभावयोस्तस्माद्विपरीतः प्रतीयते ॥
धूमाभावेऽग्निभावेन व्याप्तेऽनग्निस्ततश्च्युतः ।
अधूम एव विद्येतेत्येवं व्याप्यत्वमश्नुते ॥

तस्माद्धूमेन साध्यत्वमग्नेः प्रार्थयते यदा ।
तदाऽनग्निरधूमेन व्याप्तो वाच्यो न चाऽन्यथा ।।
अनग्न्यधूमसाहित्ये व्याप्तेर्वाऽपि विपर्यये ।
न प्रत्युतोऽपकारः स्यात् अन्यद्वाऽपि प्रसाध्यते ।।
यत्राऽप्यर्थस्य शून्यत्वं द्वाभ्यामेकेन वा भवेत् ।
यदनित्यं तु तन्मूर्तमणुवद् बुद्धिवत् खवत् ।।

व्याप्य-व्यापकभावो हीति। अन्वयव्याप्ति में वह्नि के व्यापक रहने से व्यतिरेक-व्याप्ति में धूमाभाव ही व्यापक रहता है, वह्न्यभाव व्याप्य रहता है। धूमभावेऽग्निभावेन की व्याख्या ग्रंथकार ने ही की है—यो हि यत्रैव भवत् सद्देशकालौ नातिक्रामति स तद्व्याप्यः, व्यापकस्त्वाधिक्येऽप्यविरुद्धः, तत्र धूमस्याऽग्निदेशकालानतिक्रमात् सकलधूम-देशकालेऽग्निना व्याप्ते, अनग्निरग्न्यभावस्ततः = धूमात् प्रच्युतो धूमाभावे एव भवन् धूमाऽभावादेशकालाऽनतिक्रमात् व्याप्यो भवति, एवमेव अनग्नावपि अधूमेन व्याप्तेधूम-स्ततोऽनगग्नेः स्वविरुद्धाद् धूमाभावव्याप्तात्प्रच्युतोऽग्नावेव भवन्नग्निना व्याप्तो भवति, तेन धूमेन अग्निं साधयता धूमस्याग्निव्याप्तिसिद्ध्यर्थमनग्नेरधूमेन व्याप्ति वैधर्म्येवक्तव्या इति। वार्त्तिककृत् उपसंहरति—**तस्मादिति**। अत्राऽप्यर्थस्य शून्यत्वमित्यनेनाऽपि न तत्राऽपि प्रस्तुतोपकारः स्यात् इत्यस्याऽन्वयः। द्वाभ्यामेकेन वा भवेत्—साध्याभावेन हेत्वभावेन साध्याभावहेत्वभावाभ्यां च शून्यत्वे वैकल्यात् वैधर्म्याऽऽभासत्वं भवति। उदाहरति—**यदनित्यमिति**। ध्वनिर्नित्योऽमूर्तत्वादित्यस्य यन्न नित्यं तन्नाऽमूर्तमिति। व्यतिरेकव्याप्तिः तस्य एव स्वरूपम् यदनित्यं तन्मूर्तम् अप्सुवदिति। अत्र परमाणौ साध्याभावोऽनित्यत्वं नास्तीति साध्याऽभाववैकल्यम्, बुद्धिवदित्युक्ते बुद्धौ = ज्ञाने हेत्व-भावो मूर्तत्वं नास्तीति हेत्वभाववैकल्यम्, खवदित्युक्ते खे = आकाशे मूर्तत्वमनित्य-त्वमुभयमेव नास्तीत्युभयाऽभाववैकल्यम्। तस्मान्नात्र परमाण्वादीनां वैधर्म्य-दृष्टान्तत्वं सम्भवति, किन्तु घटादीनामेवेति भावः। विस्तरस्तु वार्त्तिके द्रष्टव्यः।

केऽपि वदन्ति—प्रत्यक्षेण यः पदार्थः क्वचिदनुभूयते तद्विषयकमेव क्वचित् कदाचिद-नुमानं सम्भवति प्रत्यक्षपदार्थेनैव सह कस्यचिद्धेतुभूतस्य व्याप्तिग्रहसम्भवात्। अप्रत्यक्ष-पदार्थेन साकं तु कस्यचिदपि व्याप्तिग्रह एव न सम्भवति, भूयः सहदर्शनस्यैव व्याप्ति-ग्रहनिदानत्वादित्यप्रत्यक्षपदार्थविषयकमनुमानं नैव सम्भवतीत्याह—**दृष्टस्वलक्षणेति**। दृष्टं प्रत्यक्षं स्वलक्षणं स्वरूपं यस्य तद् दृष्टस्वलक्षणम्। अदृष्टम् अप्रत्यक्षं स्वलक्षणं स्वरूपं येषां क्रियादिपदार्थानां तद्विषयमपि अनुमानं भवत्येवेत्यनुमानस्य भाष्यकारेण द्वैविध्य-मुक्तमस्ति।

तथा च भाष्यम्—अनुमानं ज्ञातसम्बधस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरे असन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः, तत्तु द्विविधम् प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं च। प्रत्यक्षतो दृष्ट सम्बन्धं यथा- धूमाकृतिदर्शनात् अग्न्याकृतिविज्ञानम्, सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं यथा—

देवदत्तस्य गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्य आदित्यगतिस्मरणम् इति। यत्र देशान्तरप्राप्तिः तत्र गतिस्त्येव, यथा—गच्छद्देवदत्ते रविरपि देशान्तरमस्ताचलादिकं प्राप्नोति, तस्माज्ज्ञायते गच्छति रविरिति, तस्मात् प्रत्यक्षीकृत पदार्थविषयकमेवानुमानम् इति मन्वानान् निराकर्तुमेव तत्तु द्विविधम् इतिभाष्येण द्वैविध्याभिधानात् प्रत्यक्षाऽयोग्यपदार्थविषयकमपि अनुमानं भवतीति प्रतिपादितमिति प्रभाकराभिमतोऽर्थः।

अयमभिप्रायः—प्रभाकरेण अनुमानस्य द्विविधं प्रमेयम् अभ्युपगम्यते— प्रत्यक्षयोग्यं, प्रत्यक्षाऽयोग्यं च। तत्र प्रत्यक्षयोग्यं वह्न्यादिकं, प्रत्यक्षाऽयोग्य च क्रियादिकम्। क्रियया सह इन्द्रिय संयोगाऽसम्भवादप्रत्यक्षत्वं क्रिया-फलयोः संयोग-विभागयोः एव प्रत्यक्षत्वेन क्रियायां प्रत्यक्षत्वभ्रान्तिरेव। उक्तं च—प्रत्यक्षेण हि गच्छति द्रव्ये विभागसंयोगातिरिक्तविशेषाऽनुपलब्धेः। यस्त्वयं गच्छतीति प्रत्ययः, स विभाग संयोगाऽनुमितक्रियालम्बनः इति। तथा च ये केवलं क्वचित् प्रत्यक्षीकृतपदार्थविषयकमेवाऽनुमानं भवतीति वदन्ति तान् निराकर्तुं प्रत्यक्षाऽयोग्यपदार्थविषयकमप्यनुमानं भवतीति प्रतिपादयितुं च प्रभाकरेण तत्तु द्विविधम् इति भाष्यमुपन्यस्य तस्य प्रत्यक्षयोग्यपदार्थविशेषकाऽनुमानवत् प्रत्यक्षाऽयोग्यपदार्थविषयकमप्यनुमानं भवत्येवेति प्रत्यक्षाऽयोग्यपदार्थविषयकत्वेनैव भाष्यकारेणाऽनुमानस्य द्वैविध्यमुक्तम् इत्यभिप्रायो दर्शितः।

उक्तं च तैः—द्विविधमनुमानस्य प्रमेयं किंचिद् दृष्टस्वलक्षणं, तथा वह्न्यादिकं, किञ्चिच्च अदृष्टस्वलक्षणं, यथा कर्मादिकम् इति। एवं स्थिते अत्र ग्रन्थकारः पूर्वपक्षिणं निराकर्तुं प्रभाकरमतेन उपक्रमते— तत्त्वित्यादिना। स्वमतस्य वक्ष्यमाणत्वात्, तेन च प्रभाकरमतस्याऽपि निराकार्यत्वादिति युक्तं प्रभाकरमुखेन पूर्वपक्षनिराकरणम्।

भट्टपादमतेन तु— यत्र भाष्ये न प्रत्यक्षयोग्याऽयोग्यपदार्थविषयकत्वेनाऽनुमानस्य द्वैविध्याभिधानं, किंतु सामान्यविशेषविषयत्वेनैव, यत्र वह्निमात्रमनुमीयते तत्र सामान्यविषयत्वं, यत्र च करीषादिजन्यो वह्निविशेषोऽनुमीयते, तत्र विशेषविषयत्वमिति विवेकः। उक्तं च न्यायरत्नाकरे अतो तत्र विशेषयोरेव प्रत्यक्षेण सम्बन्धो गृह्यते तत् प्रत्यक्षेण दृष्टसम्बन्धमित्युच्यते इति, एतच्चाग्रे स्फुटं भविष्यति। अत्र च भगवता वार्त्तिककारेणाऽपि उक्तम्—

द्वैविध्यं नोपपन्नं तु यथैव वह्निधूमयोः।
प्रत्यक्षदृष्टः सम्बन्धः गतिप्राप्त्योस्तथैव हि॥
आदित्येऽनुपलब्धिश्चेन्न देशेऽप्यधुनातने।
क्वचित्तत्रोपलब्धिश्चेद् देवदत्तेऽपि दृश्यताम्॥
यदि धर्म्यन्तरापेक्षा तत्र सामान्यदृष्टता।
स्यादग्निधूमयोः सैव तस्मादेवं प्रचक्षते॥
प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धं ययोरेव विशेषयोः।
गोमयेन्धनतज्जन्यविशेषादिमतिः कृता॥

तद्देशस्थेन तेनैव गत्वा कालान्तरेऽपि तम् ।
यदाऽग्निं बुध्यते तस्य पूर्वबोधात्पुनः पुनः ।।
सन्दिह्यमानसद्भाववस्तुबोधात् प्रमाणता ।।

क्रियायाः प्रत्यक्षत्वमपि स्वमतेन अग्रे वदिष्यति—अस्ति प्रत्यक्षावगमात् इति। न भट्टमते क्रिया सर्वत्र अप्रत्यक्षा, किन्तु क्वचिदेव, अन्यथा सपक्षभूते देवदत्तेऽपि देशान्तर-प्राप्तेर्गत्या सह व्याप्तिग्रहो न स्यादिति देशान्तरप्राप्त्या रविगतेरनुमानं न स्यादेव। तस्मात् क्रिया, प्रत्यक्षा अपि भवत्येव। उक्तं च न्यायरत्नाकरे—न हि नित्यानुमेयं कर्मस्वरूपम-परोक्षेणैवाऽवभासात्, नित्याऽनुमेयत्वे च देवदत्तेऽप्यनुमेयत्वात् देवदत्तस्य गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्य आदित्यादिगतिस्मरणम्। इति भाष्यमनुपपन्नं स्यात् इति। तस्मात् सर्वत्र अप्रत्यक्षा क्रियेति प्रभाकरस्यैव मतं, न भट्टपादानामिति ज्ञेयम्।

प्रभाकर के मुख से ही क्रिया की अप्रत्यक्षता को बताते हैं—**नहि क्रियास्वलक्षण-मिति। क्रियास्वलक्षणम् = क्रियास्वरूपम्** ।

शङ्का—देवदत्तो गच्छति इस प्रत्यक्ष से क्रिया का ही प्रत्यक्ष होता है। तब कैसे कह रहे हैं कि क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं होता है?

समाधान—पूर्वोत्तरदेशसंयोगविभागमात्रस्येति । अर्थात् पूर्वदेशविभाग और उत्तरदेशसंयोग का उस समय ग्रहण (प्रत्यक्ष ज्ञान) होता है, न कि क्रिया का प्रत्यक्ष होता है। विभाग और संयोग तो गुण है, उसी कारण उनका प्रत्यक्ष होना तो सम्भव है।

शङ्का-- उसी प्रकार क्रिया के होने में क्या प्रमाण है?

समाधान— ताभ्यामेवेति । ताभ्याम् = संयोगविभागाभ्याम् । एवञ्च आगन्तुक अर्थात् कार्यभूत जो संयोग-विभाग है, उनका कारण तो कोई अवश्य ही होना चाहिये। अतः उनकार्यभूत संयोग-विभाग दोनों का जो कारण है, वही तो क्रिया है। निष्कर्ष यह है कि संयोग-विभाग के द्वारा तत्कारणीभूत क्रिया का अनुमान सहज ही हो जाता है। एवञ्च संयोग-विभागरूप आगन्तुक कार्य से आगन्तुक कारण का अनुमान किया जाता है, उसी को क्रिया के नाम से कहा जाता है। अतः संयोग-विभाग के द्वारा तत्कारणीभूत क्रिया का अनुमान करना असम्भव नहीं है, अपितु सम्भव है।

(क्षणभङ्गवादस्य निरसनम्)

ननु द्रव्यमेव कारणं स्यात्? न, तस्य प्रागपि सद्भावात्।

शङ्का—यदि पूर्वोत्तर-देशविभाग और संयोग के अतिरिक्त कोई अन्य कारण सम्भव नहीं हो, तब उसके कारणरूप में क्रिया की कल्पना भी की जा सकती है; किन्तु ऐसी स्थिति नहीं है। द्रव्य भी कारण हो सकता है। अतः संयोग-विभाग के द्वारा क्रिया की कल्पना नहीं की जा सकती।

समाधान—न, तस्य [1]प्रागपि सद्भावात्। नहीं, द्रव्य को कारण नहीं मान सकते; क्योंकि द्रव्य तो संयोग-विभाग के पूर्व भी रहता है। अतः क्रिया को ही कारण मानना होगा, उसका (क्रिया का) संयोग-विभाग के द्वारा अनुमान किया जा सकता है। यदि द्रव्य को ही कारण माना जाय तो संयोग-विभाग की उत्पत्ति के पूर्व भी द्रव्य विद्यमान है; किन्तु उस समय उसे कोई कारण नहीं मानता। यदि द्रव्य ही कारण होता तो पूर्व ही संयोग-विभाग क्यों नहीं उत्पन्न हुए? क्योंकि द्रव्य तो पूर्व भी था। इसलिये द्रव्य को कारण नहीं मान सकते; किन्तु क्रिया ही तत्पूर्वक्षण में उत्पन्न हुई है, उस कारण संयोग-विभाग को ही कारण मानना उचित है।

ननु क्षणान्तरेऽन्यद् द्रव्यं, सर्वसंस्काराणां क्षणिकत्वात्, सादृश्यात्तु प्रत्यभिज्ञानम्। तद्यदा समानदेशे पूर्वपूर्वमुत्तरोत्तरमारभते तदा तिष्ठतीति लक्ष्यते। यदा त्वनन्तरदेशे पूर्वपूर्वमुत्तरोत्तरमारभते तदा गच्छतीति लक्ष्यते। दीपगमनवच्छायागमनवच्च सदृशापरापरक्षणानामुत्तरोत्तर-देशप्रारब्धानां गमनावभासनिमित्तत्वात् कृतं क्रियया। किञ्चाऽनुपन्नस्य क्षणस्य क्रियाश्रयत्वाऽयोगात्, उत्पन्नस्य च विनाशग्रस्तत्वात् कथं क्रियारम्भकत्वम्? यथाहुः—'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः, अस्थिराणां कुतः क्रिया' इति। तदिदं शब्दाधिकरणे निराकरिष्यामः। ततः स्थिरत्वे सति तन्मात्रेणाऽनुपपत्तेः क्रियानुमानं युक्तमिति।

शङ्का—ननु क्षणान्तरेऽन्यद् द्रव्यमिति। प्रत्येक क्षण में द्रव्य भी तो भिन्न-भिन्न होता है, उसकारण द्रव्य को ही संयोग-विभाग का कारण क्यों नहीं माना जाय? कर्म नहीं।

समाधान—सभी पदार्थ, यद्यपि क्षणिक हैं, तथापि उनके सादृश्य को देखकर प्रत्यभिज्ञा होती है, इसलिये आगन्तुक द्रव्य को ही कारण मानना चाहिये।

शङ्का—पदार्थों को क्षणिक स्वीकार करने पर तिष्ठति, गच्छति,- आदि प्रतीतियाँ कैसे हो पायेंगी?

समाधान—जब समान देश में पूर्व-पूर्वतर क्षण उत्तरोत्तर क्षण का आरम्भ करता है, तब तिष्ठति कहा जाता है और जब अनन्तर देश में पूर्व-पूर्वतर उत्तरोत्तर को आरम्भ करता है तब गच्छति का व्यवहार किया जाता है। उक्त कथन का उपपादन दृष्टान्त प्रदर्शित करते हुए कर रहे हैं। जैसे—दीपक की ज्योति (ज्वाला) तथा दीपक के प्रकाश का भेद प्रतिक्षण होते रहने पर भी दीप को गच्छति—छाया गच्छति कहा करते हैं, उसी प्रकार सदृश के उत्तरोत्तर क्षणों की प्रतीति गमनादि क्रिया के रूप में होती है। उसी कारण

---

१. समवायसम्बन्धेन क्रियां प्रति तादात्म्येन द्रव्यं कारणं इति न शक्यते वक्तुम्। द्रव्यस्य स्वरूपतो यावद्द्रव्यभावित्वेन क्रियाया यावद्द्रव्यभावित्वप्रसंगात्।

अतिरिक्त क्रिया की कल्पना नहीं करनी चाहिये। और अनुत्पन्न क्षण तो क्रिया का आश्रय बन ही नहीं सकता तथा उत्पन्नक्षण विनाशग्रस्त होने से वह है ही नहीं । इसलिये उसे क्रिया का आरम्भक कैसे कहा जायेगा? इसी को बौद्धों ने भी कहा है—

यच्च-यावत् पदार्थ सभी क्षणिक हैं । अत: जिनकी स्थिरता ही नहीं है, उनसे क्रिया कैसे हो सकती है? इसलिये क्रिया का अनुमान नहीं हो सकता। इस कथन का निरसन शब्दनित्यत्वाधिकरण में किया जायेगा। द्रव्य तो स्थायी (स्थिर) है, इतना कह देने मात्र से काम नहीं चलेगा। अत: आगन्तुक संयोग-विभाग से क्रिया का अनुमान करना उचित ही है। इसी अभिप्राय को प्रकट करते हुए प्रकरण पञ्चिकाकार शालिकनाथ मिश्र ने भी कहा है—द्विविधमनुमानस्य प्रमेयम्, किञ्चिददृष्टस्वलक्षणम्, यथा—वह्न्यादिकम्, किञ्चिच्च अदृष्टस्वलक्षणम्, यथा—कर्मादिकमिति । (प्रकरणपञ्चिका, अनुमानपरिच्छेद)।

न युक्तम्, कार्यं हि कारणमात्रमपेक्षते तच्चेह दृष्टमेवास्ति। प्रयत्न-विशेषानन्तरं हि शरीरे देशसंयोगविभागाख्यं फलमुत्पद्यमानमुपलभ्यते ततः स एव निमित्तम्। तद्वदात्मशरीरसंयोगश्चासमवायिशरीरं च सम-वायीति किमत्राऽदृष्टकारणानुमानेन?

(परमुखेन प्रभाकरखण्डनम्)

नन्वऽसमवायिकारणभूतस्य संयोगस्य स्वाश्रये स्वाश्रयसमवेते वा कार्यं नान्यत्र, तन्तुसंयोगामिव स्वाश्रयेषु तन्तुषु पटः, तन्तुतुरीसंयोगस्य वा पटतुरीसंयोगः। प्रयत्नवदात्मसंयोगस्त्वनेवंविधे व्योम्नि कथं संयोग-मारभते? अतः कारणान्तरं कल्पनीयमिति चेत्? न, तन्तुसंयोगः स्वाश्रय एव पटमारभते पटस्य बहुतन्तुव्यापि-त्वात् संयोगानां च द्वयोर्द्वयोरेव वृत्तेः।

प्रश्न—न युक्तमिति । क्रिया का अनुमान करना उचित नहीं है; क्योंकि कार्य को केवल कारण की अपेक्षा हुआ करती है। प्रस्तुत में दृष्ट कारण कर्म तो है ही; क्योंकि किसी प्रयत्नविशेष के पश्चात् शरीर में देश का संयोग-विभागरूप फल उत्पन्न होता है; अत: उसी को निमित्त कहना चाहिये; क्योंकि कार्यमात्र के प्रति समवायिकारण, असम-वायिकारण और निमित्तकारण—ये तीन हुआ करते हैं। उनमें संयोग-विभाग जो निमित्त-कारण है, वह प्रयत्न ही है। असमवायिकारण तो, प्रयत्नवान् आत्मा का शरीर के साथ संयोग है, शरीर तो समवायिकारण है। अत: अदृष्ट कारण के अनुमान करने की क्या आवश्यकता है?

शङ्का—असमवायिकारण स्वाश्रय में अथवा स्वाश्रयसमवेत में कार्य को उत्पन्न करता है; अन्यत्र अर्थात् कपालादि में नहीं। जैसे—तन्तुसंयोग स्वाश्रय तन्तुओं में पट को उत्पन्न करता है। तन्तु-तुरी- संयोग कारण है और पट-तुरीसंयोग कार्य है। प्रयत्नवान्

आत्म-शरीरसंयोग, जो उसका आश्रय नहीं है, ऐसे आकाश में संयोग को उत्पन्न कैसे करेगा? इसलिये किसी अन्य कारण की कल्पना करनी चाहिये।

समाधान—नहीं, तन्तुसंयोग स्वाश्रय तन्तुओं में ही पटरूप कार्य का आरम्भ नहीं करता; क्योंकि पट तो अनेक तन्तुओं से व्याप्त है और संयोग तो केवल दो में ही रहता है।

किञ्च शरज्यासंयोगान्नोदनाख्याद् युगपदेव शरे शरावयवेषु च सर्वेष्वन्तर्बहिर्वर्तिषु बहूनि कर्माण्युत्पद्यन्ते। तत्र येषामवयवानां ज्यासंयोगो नास्ति, तेष्वस्वाश्रयेषु स्वाश्रयासमवेतेषु च ज्यासंयोगः कर्मारभत इति व्यभिचारः। न हि ते संयोगाश्रयीभूते शरे समवेताः, शरस्यैव तेषु समवायात्।

किञ्च—शर और प्रत्यञ्चा—इन दोनों के संयोग से नोदनात्मक (प्रेरणात्मक) व्यापार के द्वारा युगपद् (एक ही समय में) शर तथा शरावयव सभी बाह्याभ्यन्तर अनेक कार्य उत्पन्न होते हैं। उनमें से जिन अवयवों के साथ प्रत्यञ्चा-शर संयोग नहीं है, उनमें भी जो अपने को आश्रय नहीं करते तथा स्वाश्रय में जो समवेत नहीं हैं, उनमें भी प्रत्यञ्चा संयोग कर्म का आरम्भ करता है। अतः व्यभिचार स्पष्ट है; क्योंकि वे शरावयव संयोग के आधारभूत शर में समवेत नहीं हैं। अपितु शर ही उन अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहता है। अभिप्राय यह है कि सभी स्थलों में संयोग से ही कर्म की उत्पत्ति नहीं हुआ करती, प्रत्युत तत्संयुक्त संयोग भी कर्म उत्पन्न होता है। संयुक्त संयोग से संयोग और विभाग उत्पन्न होते हैं। अतः कर्म की कल्पना करना उचित नहीं है।

किञ्च प्रयत्नवदात्मसंयोगानन्तरं युगपदेव हस्ते प्रयत्नवदात्मसंयुक्ते तत्संयुक्ते चाङ्गदेऽङ्गुलीयके च तल्लग्ने मणौ च कर्मोत्पद्यते, अथैवमादिषु न चोदनात् न प्रयत्नवदात्मसंयोगाद्वा कर्मोत्पत्तिः, किं तु संयुक्तसंयोगादित्युच्यते, ज्यासंयुक्तावयवसंयोगात्तदनन्तरावयवे तत्संयोगाच्च तदनन्तरे। तथात्मसंयोगाद्धस्ते तत्संयोगादङ्गदे तत्संयोगान्मणावपीति। एवं तर्ह्यत्रापि शक्यते वक्तुम्—प्रयत्नवदात्मसंयुक्तशरीराकाशसंयोगाच्छरीराकाशदेशविभागस्तत्संयोगाच्च तदनन्तरदेशसंयोग इति दृष्टेनैव संयोगेन संयोगविभागसिद्धेर्न कर्मकल्पनाऽवकल्पते।

इसी अभिप्राय को **किञ्च प्रयत्नवदात्मसंयोगानन्तरमिति** ग्रन्थ से स्पष्ट कर रहे हैं। प्रयत्नवान् आत्मा का शरीर के साथ संयोग होने पर एक ही समय में हस्त से संयुक्त हुआ अंगद और अंगुलीयक (अंगूठी) इन दोनों में जटिल = जड़ी हुई मणि में भी कर्म उत्पन्न होता है। अतः प्रयत्नवदात्मक संयोग से ही कर्म उत्पन्न होता है—यह कहना उचित प्रतीत नहीं हो रहा है।

शङ्का—ऐसे स्थलों में प्रेरणा से क्रिया नहीं हुआ करती तथा प्रयत्नवान् आत्म-

शरीरसंयोग से भी क्रिया नहीं होती; किन्तु संयुक्त संयोग से यदि कहोगे अर्थात् ज्या-संयुक्त अवयवसंयोग से उसके अनन्तर अवयवों में क्रिया होती है। शरीरात्मसंयुक्त, हस्तसंयुक्त तथा अंगदसंयोग से अंगदमणि में भी क्रिया होती है। अत: संयोग से ही कर्म होता है—यह कथन उचित नहीं है। **एवं तर्हि अत्रापि शक्यते वक्तुमिति**। ऐसा स्वीकार करने पर तो, यहाँ ऐसा भी कहा जा सकता है कि प्रयत्नवान् आत्मसंयुक्त शरीराकाशसंयोग से शरीराकाशादिदेश का विभाग होता है और उस संयोग से तदनन्तर देश का संयोग होता है। इस प्रकार दृष्ट संयोग से ही संयोग और विभाग की सिद्धि हो जाने से कर्म की कल्पना करना उचित नहीं है।

किञ्च न संयोगस्यैवायं धर्म:, सर्वाण्येवाऽसमवायिकारणानि स्वाश्रये स्वाश्रयसमवेते वा कार्यमारभन्ते नान्यत्र। ततश्च कर्माप्यसमवायि-कारणत्वेनानुमीयमानं वियति विहङ्गमे चोभयत्रानुमीयेत? न हि विहग-कर्मणा वियति कार्यं सम्भवति, ततश्च वियत्यपि चलतीति बुद्धि: स्यात्, अतो नानुमेयं कर्म। किमिदानीं नास्त्येव क्रियातत्त्वम्? अस्ति प्रत्यक्षावगमात्।

कर्म (क्रिया) की कल्पना करने में दोष का प्रदर्शन करते हैं—**किञ्च न संयोग-स्यैवाऽयं धर्म इति**। संयोग स्वाश्रय अथवा स्वाश्रयसमवेत में कार्य को उत्पन्न करता है; अत: संयोग का ही धर्म नहीं, अपितु सभी असमवायिकारणों का भी यही धर्म है। इसलिये समवायिकारण भी स्वाश्रय में अथवा स्वाश्रयसमवेत में कार्य को उत्पन्न करते हैं; अन्यत्र नहीं। अत: संयोग-विभाग के कारणीभूत रूप में जो क्रिया का अनुमान किया जाता है, उसे भी संयोग और विभाग का असमवायिकारण ही समझना चाहिये।

समाधान—उक्त कथन समुचित नहीं है। अन्यथा असमवायिकारणत्वेन अनुमीयमान कर्म का भी आकाश तथा विहग (पक्षी) इन दोनों में अनुमान करना होगा—यह नहीं कह सकते; क्योंकि विहग (पक्षी) के कर्म से आकाश में कार्य नहीं हो सकता, अन्यथा उससे आकाश में भी आकाश चलता है, यह प्रतीति होने लगेगी। इस कारण कर्म को अनुमेय कहना ठीक नहीं है।

शङ्का—क्या क्रिया नाम का कोई तत्त्व है ही नहीं?

समाधान—क्रिया- नामक तत्त्व है; क्योंकि उसका प्रत्यक्षज्ञान होता है।

ननु संयोगविभागातिरिक्तं न किञ्चिदत्र? दृश्यते हि सर्पति सर्पे भूमे: सर्पस्य च द्वयोर्मिथ: संयोगविभागाऽविशेषेऽपि सर्पमेव चलतीति बुद्धि-रालम्बते न भूमिम्। अतोऽस्या बुद्धेरालम्बनमस्ति सर्पे चलनं नाम तत्त्वम्। तद्भावाभावाभ्यां सर्पभूम्योश्चलतीति बुद्धेर्भावाभावावित्यङ्गी-कार्यम्। न चेयमानुमानिकी सम्भवतीत्युक्तम्। तस्मान्नैवमभिप्रायमिदं

भाष्यं' किं तु विशेषविषयं सामान्यविषयं चानुमानमित्यनुमानस्य विषयप्रपञ्चार्थम् ।

शङ्का—क्या संयोग-विभाग के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं?

समाधान—रेंगते हुए सर्प में भूमि और सर्प—इन दोनों के परस्पर संयोग-विभाग में विशेषता नहीं होने पर भी चलती (रेंगने) की प्रतीति सर्प को ही विषय करती है, पृथिवी को नहीं। इस कारण सर्प में चलनात्मक तत्त्व के रहने से सर्प में चलति यह प्रतीति होती है। अत: कर्म को स्वीकार करना ही होगा; क्योंकि वह प्रत्यक्ष हो रहा है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है–तद्भावाऽभावाभ्यां सर्पभूम्योश्चलतीति-बुद्धेर्भावाभावावित्यङ्गीकार्यम् । न चेयमानुमानिकी सम्भवतीत्युक्तम् । तस्मान्नैवमभिप्रायमिदं भाष्यम्, किन्तु विशेषविषयं सामान्यविषयं चानुमानमित्यनुमानस्य विषयप्रपञ्चार्थम् । एवञ्च निष्कर्षरूप में सिद्धान्त यह है कि सर्प: चलति सर्प में चलति- इत्याकारक बुद्धि क्रिया की अनुमापिका नहीं होती। इसलिये ही ग्रन्थकार ने कहा है कि—तस्मान्नैवमभि-प्रायमिदं भाष्यम्–इत्यादि भाष्य का दृष्टस्व-लक्षण अनुमान ही किया जाता है। यह कहने वाले प्रभाकर मीमांसक के मत का निरासार्थ अदृष्टस्व-लक्षण क्रियादिविषयक अनुमान भी हुआ करता है—इस रहस्य को प्रकट करने के लिये ही अनुमानं द्विविधम् इत्यादि भाष्य है।

येऽपि मन्यन्ते 'विशेषेऽनुगमाऽभाव: सामान्ये सिद्धसाध्यता' इति, तेऽनेन निराक्रियन्ते। उभयोरपि विषयत्वोपपत्ते:। यत्र विशेषस्यैवानुगमस्तत्र विशेषविषयत्वम् सामान्यानुगमे तु सामान्यविषयत्वम्। न च सिद्धसाध्यत्वम्, देशान्तरकालान्तरसम्बन्धस्याऽगृहीतस्य ग्रहणादिति प्रागेव वर्णितम्।

इत्यानुमानपरिच्छेद:

यह जो पहिले कहा गया है कि उस भाष्य का यह अभिप्राय नहीं है, अपितु विशेष विषय और सामान्य विषय के भेद से अनुमान दो प्रकार का है, यह कथन तो अनुमान के विषय का विवेचन करने के लिये है।

भाष्यकार के द्वारा यह जो कहा गया है कि अनुमान के दो प्रकार हैं—इस कथन का प्रयोजन क्या है? यह संदेह होने पर उसका प्रयोजन बता रहे हैं—**येऽपि मन्यन्ते विशेषेऽनुगमाऽभाव: सामान्ये सिद्धसाध्यता इति** । कि जो चार्वाक आदि अनुमान में दोष देते हैं कि विशेष को अनुमान में साध्य मानने पर अनुगमाऽभाव रूप दोष है। अर्थात् उसका अनुगम नहीं हो पायेगा और सामान्य को साध्य मानने पर सिद्धसाधनता दोष होगा—इन दोनों का निराकरण इससे किया जाता है। **उभयोरपि विषयत्वोपपत्ते:** । अर्थात् सामान्य और विशेष दोनों ही अनुमान के विषय कहे जा सकते हैं और जहाँ पर

विशेष का ही अनुगम होता है, वहाँ विशेषविषयत्व = विशेषविषयता मानी जाती है तथा जहाँ परसामान्य का ही अनुगम होता है, वहाँ सामान्यविषयत्व = सामान्यविषयता मानी जाती है। अतः सिद्धसाधन दोष नहीं है।

देशान्तर-कालान्तरसम्बन्धस्याऽगृहीतस्य ग्रहणादिति प्रागेव दर्शितम् अर्थात् अनुमान में देशान्तर और कालान्तर का जो सम्बन्ध है, वह गृहीत नहीं है अर्थात् अगृहीत है। उस अगृहीत सम्बन्ध का ग्रहण होने के कारण अगृहीतग्राहित्वरूप प्रामाण्य का समर्थन पहिले ही कर चुके हैं।

(अथ शब्दपरिच्छेदः)

शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम् इति, विज्ञाताच्छब्दात् पदार्थाभिधानद्वारेण यद् वाक्यार्थविज्ञानं तच्छाब्दं नाम प्रमाणम्। तल्लोकसिद्धत्वान्न परीक्षितव्यम्। तच्च द्विविधम् पौरुषेयमपौरुषेयं चेति। तत्र पौरुषेयम् आप्तवाक्यम्। अपौरुषेयं च वेदवाक्यम्। उभयमप्यनाप्तप्रणीतत्वदोषविरहात् स्वतश्च शब्दस्याऽदुष्टत्वात् प्रमाणम्।

भाष्य-वार्तिक के क्रमानुसार अनुमान प्रमाण का निरूपण करने के पश्चात् शब्दप्रमाण का निरूपण करने के लिये भाष्यकारोक्त शब्दप्रमाण के लक्षण को बता रहे हैं—**शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम् इति** ।

शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष होने के पश्चात् शब्दोपस्थापितविषय-विषयक जो ज्ञान तच्छास्त्रम् = उसको शाब्दबोध कहते हैं।

उक्त भाष्यवाक्य की व्याख्या ग्रन्थकार श्रीपार्थसारथिमिश्र कर रहे हैं—**विज्ञाताच्छब्दादिति** । अर्थात् श्रवणगोचर हुए (श्रुत हुए) शब्द से पदार्थाभिधान द्वारा = पदार्थोपस्थिति द्वारा शब्दोपस्थाप्य पदार्थ, जैसे—घट-पटादि जो वाक्यार्थज्ञान होता है, उसी को शाब्द प्रमाण कहते हैं। कहा भी है—

पदज्ञानं तु करणम्, द्वारं तत्र पदार्थधीः ।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ।। इत्यादि ।

शब्द का प्रामाण्य तो लोकप्रसिद्ध ही है, इसलिये शब्द नामक कोई प्रमाण है अथवा नहीं, इस प्रकार उसकी परीक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के समान ही शब्द-प्रमाण भी लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है अर्थात् प्रत्येक आदमी जानता है। इसलिये उसका परीक्षण अनावश्यक है।

तच्च द्विविधमिति । यह शब्दसंज्ञक प्रमाण दो प्रकार का (द्विविध) है पौरुषेय शब्दप्रमाण और अपौरुषेय शब्द प्रमाण। इनमें से प्रथम को आप्तवाक्य को पौरुषेयशब्दप्रमाण और द्वितीय को वेदवाक्य को अपौरुषेय शब्दप्रमाण कहते हैं। वात्स्यायन ने आप्तलक्षण—आप्तः खलु साक्षात् कृतधर्मा यथा दृष्टस्य अर्थस्य चिरयापविषया प्रयुक्त

उपदेष्टा। बताया है। ये उभयविध पौरुषेय-अपौरुषेयवाक्य अनाप्तप्रणीतत्व–रूप दोष से दूषित नहीं रहने के कारण और शब्द तो दोषरहित (अदृष्ट) रहने से स्वत एव प्रमाण है। वाक्य में स्वरूपेण दुष्टता नहीं होती। वक्ता के (वाक्योच्चारण कर्ता के) दोष से वाक्य दूषित हुआ करता है अर्थात् वक्तृदोष के लक्षण ही वाक्य में दुष्टता का होना सम्भव रहता है। इसलिये आप्तवाक्यस्थल में वक्ता में दोष नहीं होने के कारण और वेद का तो कोई रचयिता (निर्माता) ही नहीं होने से पुरुष दोष का होना कथमपि सम्भव नहीं है। एवञ्च अनाप्तप्रणीतत्व रूप दोष का सम्भव दोनों स्थलों में नहीं है, उसी कारण आप्तवाक्य तथैव अपौरुष वेदवाक्य दोनों ही प्रमाण माने जाते हैं। अतएव शास्त्रदीपिका-कार श्रीपार्थसारथिमिश्र कह रहे हैं—उभयमपि अनाप्तप्रणीतत्वदोषविरहात् स्वतश्च शब्दस्य अदुष्टत्वात् प्रमाणम् इति।

तच्च पुनर्द्विविधम्—सिद्धार्थं विधायकं चेति। विधायकमपि द्विविधम्—उपदेशकमतिदेशकं च। इत्थमिदं कर्तव्यमित्युपदेशः, यथा लोके—दधिघृतसूपशाल्यादिभिर्देवदत्तो भोजयितव्य इति। वेदेऽपि—प्रयाजा-वघातादिप्रकारेण दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं कुर्यादिति। तद्वदिदं कर्तव्य-मित्यतिदेशः। यथा लोके— देवदत्तवद् यज्ञदत्तो भोजयितव्य इति। वेदेऽपि सौर्येण कुर्याद् यथाऽऽग्नेयेनेति।

शब्दप्रमाण का लक्षणनिरूपण करके अब उसका विभाग प्रदर्शन कर रहे हैं—**तच्च पुनर्द्विविधमिति**। वह शब्द प्रमाण दो प्रकार का (द्विविध) होता है—एक पौरुषेय और दूसरा अपौरुषेय। उनमें आप्तवाक्य तो पौरुषेय और वेदवाक्य अपौरुषेय होता है। इन द्विविध वाक्यों में अनाप्त-प्रणीतत्व दोष नहीं होने से शब्द की निर्दोषता स्वत एव होने के कारण उसे स्वत:प्रमाण माना जाता है। वह अपौरुषेय वेदवाक्य पुनः दो प्रकार का होता है—सिद्धार्थबोधक और विधायक। विधायक वाक्य भी दो प्रकार का होता है—उपदेशक और अतिदेशक। इस कार्य को इसी प्रकार करो—यह उपदेश है। जैसे लोक-व्यवहार में कहा करते हैं—देवदत्त को भोजन दही, घी, दाल, भात आदि से कराओ। उसी प्रकार वेद में भी प्रयाजादि जो आरादुपकारक = अदृष्टार्थ अङ्ग हैं और अवघात आदि सन्निपत्योपकारक अङ्ग कहलाते हैं, इन दो प्रकार के अङ्गों से उपकृत हुए दर्शपूर्णमासयागों से स्वर्ग को प्राप्त करना चाहिये। यहाँ प्रकार शब्द उपकार को बताता है।

अतिदेश का स्वरूप इस प्रकार है—तद्वदिदं कर्तव्यम् इति अतिदेशः अर्थात् उसी तरह इसे करना चाहिये। जैसे लोकव्यवहार में देवदत्त की तरह यज्ञदत्त को भोजन कराना चाहिये। वेद में भी सौर्येण कुर्याद् यथाऽऽग्नेयेन अर्थात् सौर्य याग से ब्रह्मवर्चस को प्राप्त करे, आग्नेय याग के समान उपकार के द्वारा। अभिप्राय यह है कि आग्नेय याग से अंगोपकार के द्वारा जैसे स्वर्ग को प्राप्त किया, वैसे ही सौर्ययाग से भी अङ्गोपकार के द्वारा ब्रह्मवर्चसरूप फल को प्राप्त करे, प्रकृतियाग के समान। जहाँ अपेक्षित सम्पूर्ण अंगों

का पाठ हो, उसे प्रकृतियाग कहते हैं—यत्र समग्रांगोपदेशः सा प्रकृतिः ।

शब्दान्तरादिभिः श्रुतिलिङ्गादिभिः श्रुत्यर्थादिभिश्च विचित्रोऽयमुपदेशो भेदविनियोगक्रमानवबोधयति। वचन-नामधेय-चोदना-लिङ्गैश्चाति-देशोऽन्यत्र विहितस्य नानापदार्थविशिष्टस्य प्रकारस्य तत्प्रतिपादकस्य वा शास्त्रस्य विध्यन्ताऽपरनामधेयस्याऽन्येन सम्बन्धं विकारं बाधं वा बोधयतीत्यूहनीयम्।

शब्दान्तर आदि प्रमाणों से कर्मभेद को और श्रुति-लिङ्गादि प्रमाणों से विनियोग (अङ्गांगिभाव) को तथा श्रुत्यर्थादि प्रमाणों से क्रम का बोधन (ज्ञान) कराया जाता है। यही उपदेश है। यह विचित्र = अनेक प्रकार का है। शब्दान्तर अभ्यास आदि प्रमाणों के द्वारा कर्मभेद को द्वितीयाध्याय के द्वितीय पाद में बताया है। तथा हि—**शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्**। (मीमां०दर्श०अ०-२, पा०-२, प्र०सू० (अङ्गापूर्वभेदाधिक० १)। उक्त सूत्र के द्वारा सोमेन यजेत, हिरण्यमात्रेयाय ददाति, दाक्षिणानि जुहोति इत्यादि वाक्यों में यजति, ददाति, जुहोति इत्यादि भिन्न-भिन्न शब्दों से कर्मभेद को बताया गया है। इस तरह से शब्दान्तर प्रमाण के द्वारा कर्मभेद को प्रदर्शित किया गया है। उसी तरह एकस्यैव पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात् (मीमां०दर्श०अ० २, पा० २, द्वि०सू०, (समिदाद्यपूर्वभेदाधि-करण० २) समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति—यहाँ पर एक ही यजति शब्द का पुनः-पुनः उच्चारण (अभ्यास) करके कर्मभेद को प्रदर्शित किया गया है। अन्यथा एक ही शब्द का पुनः-पुनः उच्चारण करना व्यर्थ होगा। इसी तरह पृथक्त्वनिवेशात् संख्यया कर्मभेदः स्यात् (मीमां०दर्श०अ० २, पा० २, सू० २१ (संख्याकृतकर्मभेदाधिकरणम्–७)। यथा– तिस्र आहुतीर्जुहोति, सप्तदशप्राजापत्यान् पशून् आलभते। तीन आहुतियों के होने पर ही तथा सत्रह पशुओं के होने पर ही तीन संख्या एवं सत्रह संख्या होने पर ही तीन तथा सत्रह संख्या की उपपत्ति हो सकती है।

संख्यया कर्मभेद बताने के उपरान्त संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् (अ० २, पा० २, सू० २२, अधि० ८) सूत्र के द्वारा संज्ञाकृत कर्मभेदाधिकरण में अथैष ज्योतिः, अथैष विश्वज्योतिः, अथैष सर्वज्योतिः—उक्त संज्ञाओं के कारण कर्मभेद का प्रदर्शन किया गया है। उसी तरह गुणप्रयुक्त भी कर्मभेद होता है; जैसे—दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात् इस वाक्य के द्वारा होम और दधि का सम्बन्ध इन्द्रियों की स्वकार्यकरणक्षमतारूप फलप्राप्ति के लिये बताया गया है, होम की निष्पत्ति के लिये नहीं। दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात् का अर्थ है कि यः इन्द्रियकामः स्यात्, स दध्ना होमं कुर्यात्। यहाँ पुरुषप्रयत्न का वाचक शब्द जुहुयात् है।

गुणभेद के कारण भी कर्मभेद होता है; जैसे—तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्। यहाँ पर गुणश्चाऽपूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात्–

(अ० २, सू० २३) सूत्र के द्वारा यह निश्चित होता है कि आमिक्षा वाक्य में विश्वेषां देवानां देवतात्वं की प्रतीति होती है, वैसी प्रतीति वाजिन वाक्य में नहीं हो रही है। इससे यह समझ में आता है कि अप्रकृत देवता शब्द से इसका सम्बन्ध है, उस कारण यहाँ कर्मभेद (कर्मान्तर) की प्रतीति कराई गई है।

प्रकरणान्तर के कारण भी कर्मभेद होता है। सन्निधौ स्वविभागात् फलार्थेन पुनः श्रुतिः (अ० २, पा० ३, सू० २६, अधि० १३) सूत्र के द्वारा प्रकरणान्तर (भिन्न प्रकरण) के कारण कर्मभेद को बताया गया है। तथाहि—यावज्जीवं कर्तव्यत्वेन विहितः, जो सायम्-प्रातः क्रियमाण अग्निहोत्र हवन है, वह नित्य अग्निहोत्र कहलाता है। यह नित्याग्निहोत्र का प्रकरण है।

मासाग्निहोत्र— मासमग्निहोत्रं जुहोति से विहित है यह मासाग्निहोत्र, नित्य अग्निहोत्र से पृथक् है; क्योंकि सूत्रकार कहते हैं—प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् (मीमांसा-सूत्र, अध्या० २,पा० ३, अधि० ११, सू० २४)। एवञ्च नित्याग्निहोत्र प्रकारण से इस मासाग्निहोत्र का प्रकरण भिन्न रहने से दोनों अग्निहोत्रों में प्रकरणान्तर के कारण भेद स्पष्ट हो जाता है। एवञ्च १. शब्दान्तर, २. अभ्यास, ३. संख्या, ४. संज्ञा, ५. गुण और ६. प्रकरणान्तर—इन छः प्रमाणों के द्वारा कर्मभेद स्पष्ट होता है। अतः इस छः प्रमाणों को कर्मभेद प्रमाण कहा जाता है। तथैव तृतीयाध्याय के तृतीय पाद में श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थं विप्रकर्षात्—इन छः प्रमाणों को अङ्गागिभाव- बोधक (विनियोग-बोधक) प्रमाण कहते हैं। जैसे—कदाचन स्तरीरसि नेन्द्रसश्चसि दाशुषे इस मंत्र में लिङ्ग प्रमाण से इन्द्रोपस्थानांगत्व प्राप्त है, किन्तु ऐन्द्रया-गार्हपत्यमुपतिष्ठते इस श्रुति से गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में उक्त मन्त्र का विनियोग (उपयोग) किया गया है; क्योंकि श्रुतिप्रमाण को लिङ्ग प्रमाण की अपेक्षा प्रबल माना जाता है। उसी तरह लिङ्ग और वाक्य का विरोध उपस्थित होने पर लिङ्गप्रमाण को ही वाक्यप्रमाण की अपेक्षा प्रबल माना जाता है। जैसे—स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशं कल्पयामि। तस्मिन् सीदाऽमृतप्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः। यहाँ पर स्थान बनाना एक कार्य है और दूसरा कार्य—पुरोडाश को उसपर रखना है अर्थात् स्थापन करना है। उक्त मन्त्र के उत्तरार्ध में जो 'तस्मिन्' शब्द है, उसकी पूर्वार्ध के साथ एक-वाक्यता की जाती है, तब उस एकवाक्य महावाक्य से वाक्यप्रमाण, सम्पूर्ण मन्त्र का विनियोग (उपयोग) पुरोडाश के सदन निर्माण में अथवा सादन (उसके स्थापन) में भी किया जा सकता है, किन्तु सदन अथवा सादनरूप अर्थ का प्रकाशन करने में सम्पूर्ण मन्त्र समर्थ नहीं है; क्योंकि मन्त्र के पूवार्ध में सदन रूप अर्थ के प्रकाशन करने का ही सामर्थ्य है और मन्त्र के उत्तरार्ध में सादन रूप अर्थ के प्रकाशन करने का सामर्थ्य है। ऐसी स्थिति में यदि वाक्यप्रमाण सम्पूर्ण मन्त्र का विनियोग सदन निर्माण करने में करेगा तो लिङ्गप्रमाण सामर्थ्यसम्पन्न होने के कारण मन्त्र के पूर्वार्ध को सदन करने में और

उत्तरार्ध को सादन में विनियोग कर देता है। तब वाक्य की कल्पकत्वशक्ति अवरुद्ध हो जाती है। इसलिये लिङ्गप्रमाण को ही वाक्यप्रमाण की अपेक्षा प्रबल माना जाता है।

इसी तरह वाक्य और प्रकरण का विरोध उपस्थित होने पर वाक्यप्रमाण को ही प्रकरण प्रमाण की अपेक्षा प्रबल माना जाता है। समभिव्याहारो वाक्यम् यह वाक्यप्रमाण का लक्षण है। अर्थात् जहाँ केवल अङ्ग और अंगी का उच्चारण हो, उसे वाक्यप्रमाण कहते हैं। जैसे– यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति। पर्णमयी का अर्थ है—पलशकाष्ठ से निर्मित । पलाशकाष्ठनिर्मित जुहू में अवदान संस्कार से संस्कृत द्रव्य को रखकर आहुति दी जाती है। यस्य पर्णमयी जुहू:—इस वाक्य में पर्णरूप अंग और जुहूरूप अङ्गी का केवल समभिव्याहार (उच्चारण) किया गया है। यहाँ पर द्वितीय विभक्ति का प्रयोग नहीं किया गया है। इस समभिव्याहार से समझ में आ जाता है कि जुहू पात्र का अङ्ग पर्ण (पलाश) है और न पापं श्लोकं शृणोति यह अंश अर्थवादरूप है। निष्कर्ष यह है कि जुहू को उद्देश्य कर पर्णता का विधान किया गया है। अर्थात् पर्णता (पलाश) से जुहू पात्र का सम्पादन करो अर्थात् पर्णतया जुहू भावयेत्– इस प्रकार शाब्दबोध होता है। उक्त कथन वाक्यप्रमाण के स्वरूप- परिज्ञानार्थ किया गया है। यह वाक्यप्रमाण अपने उत्तरवर्ती प्रकरणप्रमाण की अपेक्षा प्रबल माना जाता है। प्रकरणप्रमाण उभयाकांक्षारूप होता है, अर्थात् अंग को अंगी की आकांक्षा और अंगी को अंग की आकांक्षा हुआ करती है। निष्कर्ष यह है कि प्रधान वाक्य को उपकारक की और अङ्ग-वाक्यों को उपकार्य (प्रधान) की आकांक्षा रहती है। इस उभयाकांक्षारूप प्रकरणप्रमाण से प्रयाज, अनुयाज, आधार, आज्यभाग आदि दर्शपूर्णमासयाग के अंग माने जाते हैं। यह प्रकरणप्रमाण से क्रियारूप अंगों का ही विनियोजक होता है। श्रुति, लिङ्ग, वाक्य प्रमाण द्रव्य, गुण के अंगत्वबोधक होते हैं, प्रकरण प्रमाण तो क्रियात्मक पदार्थों का विनियोजक होता है।

द्रव्य-गुण का विनियोग क्रिया के द्वारा होता है। यह प्रकरणप्रमाण महाप्रकरण और अवान्तरप्रकरण- भेद से दो प्रकार का होता है। महाप्रकरण प्रकृति के पदार्थ का ही विनियोजक होता है और विकृति में विहित सभी नवीन अंगों का विनियोग स्थान प्रमाण से ही होता है।

अवान्तरप्रकरण को महाप्रकरण से प्रबल माना जाता है। प्रकरण उभयाकांक्षारूप होता है और स्थानप्रमाण अन्यतराकांक्षारूप होता है। स्थानप्रमाण का लक्षण देशसामान्यं स्थानम् है अर्थात् अंग और अंगी का एक जगह रहना। पाठ और अनुष्ठान से भी दोनों का समान देश होना चाहिये। अत: स्थान सामान्य दो प्रकार से होता है। इस स्थानप्रमाण को समाख्या प्रमाण की अपेक्षा प्रबल माना जाता है। यौगिक शब्द को सामाख्या कहते हैं। यह भी लौकिक तथा वैदिक भेद से दो प्रकार की होती है। एवंच कर्मभेदक छ: प्रमाणों के समान ही अंगत्वबोधक छ: प्रमाणों का भी निरूपण किया गया है।

चतुर्थाध्याय में प्रयोज्य-प्रयोजकभाव का निरूपण किया गया है। पञ्चमाध्याय में श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य, प्रवृत्ति इन प्रमाणों के द्वारा कर्मों का क्रम बतलाया गया है। इस प्रकार उक्त अध्याय को क्रमाध्याय कहते हैं। इसी तथ्य को सूत्रकार जैमिनि ने स्वनिर्मित सूत्रों के द्वारा बतलाया है— श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रधानत्वात् अर्थाच्च क्रमेण वा नियम्येत क्रत्वेकत्वे तद्गुणत्वात्, स्थाना-च्चोत्पत्तिसंयोगात्, मुख्यक्रमेण वाऽङ्गानां तदर्थत्वात्, प्रवृत्त्या कृतकालानाम् इत्यादि। इनके उदाहरणों को पञ्चमाध्याय में देखा जा सकता है। षष्ठाध्याय में कर्माधिकार को बतलाया गया है। सप्तमाध्याय में अतिदेशसामान्य को बतलाया गया है और अष्टमाध्याय में विशेषातिदेश को प्रदर्शित किया गया है। अतिदेश का लक्षण इस प्रकार है—

अन्यत्रैव प्रणीतायाः कृत्स्नाया धर्मसन्ततेः ।
अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशोऽभिधीयते ॥
प्रकृतात् कर्मणो यस्मात्तत्समानेषु कर्मसु ।
धर्मोपदेशो येन स्यात् सोऽतिदेश इति स्मृतः ॥

एवञ्च सप्तम और अष्टम—दो अध्यायों में अतिदेश का निरूपण किया गया है। जैसे—वचनातिदेश अर्थात् वचन के द्वारा अतिदेश करना। यथा—समानमितरच्छ्येनेन इस वचन से श्येन याग में विहित जो प्रकार है, उसका इषु संज्ञक याग में सम्बन्ध का अतिदेश होता है, जैसे सप्तमाध्याय के प्रथम पदीय द्वितीयाधिकरण में बतलाया गया है—समाने पूर्ववत्त्वादुत्पन्नाऽधिकारः स्यात् इति। तथा नामधेय (नाम) के द्वारा अतिदेश—मासमग्निहोत्रं जुहोति– इस मासाग्निहोत्र में नाम के द्वारा नित्याग्निहोत्र के धर्मों का अतिदेश होता है। इसे सप्तमाध्याय के तृतीयपादीय प्रथमाधिकरण में बतलाया गया है—उक्तं क्रियाऽभिधानं तच्छ्रुतादन्यत्र विधिप्रदेशः स्यात् (मीमां० अ० ७, पा० ३, अधि०प्र० (१)।

सौर्यं चरुं निर्वपेत्—इसके द्वारा उक्त सौर्यचरु में चोदनालिङ्ग से आग्नेय धर्मातिदेश कहा गया है। माधवाचार्य ने अष्टमाध्याय के प्रथमपादीय द्वितीय अधिकरण में लिङ्ग-स्मारितोपकार के सहित ही तत् शब्द से सौर्ययाग का विधान किया है। उसी कारण शब्द में परम्परया लिङ्ग का प्रवेश होने से आग्नेयवत् सौर्यः अनुष्ठेयः—इस प्रकार से चोदकवाक्य का अनुमान करनेवाले लिङ्ग के द्वारा धर्मविशेषों का नियमन किय जाता है। इस आशय को सूत्रकार ने यस्य लिङ्गमर्थं संयोगादभिधानवत् सूत्र से बतलाया है। इस प्रकार वचन और नामधेय तथा चोदना लिङ्ग से अतिदेश किया गया है, विध्यन्त नामधेय का। अर्थात् इतिकर्तव्यतारूप अन्य पदार्थ के धर्म पदार्थान्तर के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है। इसका विस्तार सप्तम अष्टम अध्याय में ही देखा जा सकता है। इसी प्रकार ऊह को विकार भी कहा जाता है। कहा भी गया है—

प्राकृतस्थानपतितपदार्थान्तरकार्यतः ।
ऊहः प्रयोगो विकृत ऊह्यमानतयोदितः ॥

अर्थात् विकृत प्रयोग धर्म ही विकार कहलाता है।

प्रत्यक्षविधिना भावे विधानेन विकारत: ।
स्वशब्दाच्च निषेधानुवादात्तत्कार्यकारिता ।।

उसे नवमाध्याय में सविस्तर निरूपित किया गया है और उसके भेदों को मीमांसा-बालप्रकाश में बतलाया गया है। जैसे व्रीहीन् अवहन्ति से विहित अवघात का निवार में ऊह किया जाता है। बाध को निवृत्ति कहते हैं। कहा भी है—बाधो निवृत्तिरनुष्ठानमिति यावत् । स च द्विविध:-प्राप्तबाधोऽप्राप्तबाधश्च । यत्र अति-देशसामान्यशास्त्रादिजनिते ज्ञानेंऽशे सर्वविषये वा मिथ्या इदम् इति प्रत्ययान्तरं भवति स प्राप्तबाध: । यत्र तु लिङ्गादौ श्रुतिकल्पना प्रतिबन्धाज्ज्ञानोत्पत्तिरेव प्रतिबध्यतेऽसावप्राप्तबाध: । जैसे कृष्णलों में अवघात का बाध (निवृत्ति) होता है। इस अप्राप्तबाध का निरूपण दशमाध्याय में किया गया है। इस अप्राप्तबाध के अनेक भेदों को मीमांसाबालप्रकाश में बतलाया गया है। अब उक्त वाक्य की व्याख्या शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथिमिश्र स्वनिर्मित शास्त्रदीपिका का में असंनिकृष्टग्रहणं चेति से कर रहे हैं।

असन्निकृष्टग्रहणं च पूर्ववत् ताद्रूप्यतद्विपर्ययपरिच्छेदनिरासार्थम्। एकदेशिनां तु तदनर्थकमेव स्यात्। विपरीतपरिच्छिन्ने तावन्नास्त्येव शब्दाज्ज्ञानम्। यदि स्यात् पुरुषदोषाणां शब्दे संक्रान्त्यनभ्युपगमात् स्वाभाविकमेव शब्दस्याऽप्रामाण्यं स्यादिति वेदाऽप्रामाण्यं स्यात्। यदि परं तद्रूपपरिच्छिन्नविषयस्याऽनुवादस्य निरास: स्यात्। तच्चाऽयुक्तम्, तस्याऽपि शास्त्रत्वात्। न हि तस्याऽप्यप्रामाण्यम्, अनुभूतित्वात्। प्रत्यक्षाद्यन्तर्भावाऽभावाच्च शास्त्रत्वमेवेत्यास्तां तावत्।

इसके पूर्व शास्त्रं शब्दविज्ञानात् असंनिकृष्टे अर्थे विज्ञानम् इति, विज्ञानशब्दात् पदार्थाऽभिधानद्वारेण यद् वाक्यार्थविज्ञानं, तच्छाब्दं नाम प्रमाणम्—इस उक्त शास्त्रलक्षण में सन्निकृष्ट पद को अर्थ के विशेषणरूप में रखा गया है। उसी का प्रयोजन (फल) बतला रहे हैं। पूर्ववत् अर्थात् अनुमान- वाक्यवत् = अनुमानवाक्य के सदृश, तद्विशिष्ट के समान = जो पहिले तद्वत्वेन ज्ञात है या तदभाववत्वेन निश्चित है, उसका निरास करने के लिये है। इस विशेषण की सार्थकता भाट्टमत में है, किन्तु जो एकदेशी प्राभाकर हैं, उनके कथनानुसार असन्निकृष्ट विशेषण देना व्यर्थ है; क्योंकि उसका भेदप्रदर्शक कोई नहीं है। जो विरुद्धरूप से प्रसिद्ध हैं, वे शब्द से ज्ञात नहीं होते। अन्यथा पुरुषगत दोष जो प्रमादादि हैं, वे शब्द में ही उतरते हैं। यह भाट्टमीमांसकों का कहना है; किन्तु प्राभाकर ऐसा नही मानते। इसलिये पुरुषगत दोषों का शब्द में संक्रमण नहीं होने के कारण शब्द सर्वदा ही प्रमाण माना जाता है। अन्यथा वह सर्वदा ही अप्रमाण कहा जायेगा। अत: वेद का भी अप्रामाण्य होने लगेगा।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि अनुमान वाक्य की तरह ताद्रूप्यपरिच्छेद का अर्थात् इदानी ज्ञायमानरूपेण ज्ञेयस्य ज्ञानं = वर्तमान में ज्ञायमानरूप से ज्ञेय के ज्ञान का निरसन करने के लिये ज्ञातज्ञापक का प्रामाण्य नहीं होता है, उसी तरह असन्निकृष्ट = पूर्व से (पहले से) अज्ञात विषय-विषयक जो शाब्दज्ञान है, उसे प्रमाण माना जाता है। इसलिये सन्निकृष्टविषयक परिच्छेद का अर्थात् ज्ञान का निरास = व्यवच्छेद किया जाता है, उस कारण वहाँ प्रमाणत्व का अतिप्रसंग (अतिव्याप्ति का प्रसंग।) नहीं है। तद्वि-पर्ययपरिच्छेद का अर्थ है—ज्ञायमानाकार का विपरीतरूप से होनेवाले ज्ञान के निरासार्थ। तथा च जहाँ पर शब्द से यथार्थ विषय का ही बोध होता है, वहीं पर उस विषयबोध (विषयज्ञान) का प्रामाण्य माना जाता है। उस कारण शुक्ति-रजतादि बोधकवाक्य का भी प्रामाण्य नहीं माना जाता।

एकदेशिनां तु तदनर्थकमेव स्यादिति। जो प्राभाकर असन्निकृष्ट पद के ग्रहण को ताद्रूप्यतद्विपर्ययपरिच्छेद के निरासार्थ नहीं मानते, उनके मत में वह अनर्थक (व्यर्थ) है। इसलिये असंनिकृष्ट पद का ग्रहण ताद्रूप्यतद्रियर्यपपरिच्छेद के निरासार्थ ही मानना चाहिये।

किञ्च—प्राभाकर मत के अनुसार व्यावर्तनीय (व्यावर्त्य) कोई नहीं होने से असन्निकृष्ट पद की सार्थकता का होना सम्भव ही नहीं है; क्योंकि असन्निकृष्ट पद का व्यावर्त्य प्रमाणान्तर ज्ञात अथवा विपर्यय से ज्ञात—इन दोनों को ही व्यावर्त्य कहना होगा। उनमें प्रमाणान्तर से ज्ञात-ज्ञापक का निरास करना सम्भव नहीं है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र ने यदि स्यात् पुरुषदोषाणां शब्दे संक्रान्त्यनभ्युपगमात् स्वाभाविकमेव **शब्दस्याऽप्रामाण्यं स्यादिति** वेदाऽप्रामाण्यं स्यात् इति। इसे आगे चलकर बतलाया है। विपर्यय के द्वारा शब्द का ज्ञातज्ञापकत्व भी प्रभाकर के मत से सम्भव नहीं है। अन्यथा वेदाऽप्रामाण्य का प्रसंग प्राप्त होगा। इस अभिप्राय को विपरीतपरिच्छिन्ने तावत् नास्त्येव शब्दात् ज्ञानम्। विपरीतपरिच्छिन्ने = विपरीतरूप से ज्ञात होने पर (जैसे शुक्ति में रजतविषयक ज्ञान होने पर) अर्थात् जो विपरीतरूप से निश्चित है, वह शब्द से ज्ञात नहीं होता। अन्यथा पुरुष के प्रमादादि दोष, शब्द में ही आते हैं—ऐसा भाट्टमीमांसकों का कहना है, किन्तु प्रभाकर ऐसा नहीं मानते। अतः पुरुषगत दोषों का शब्द में संक्रमण नहीं होने से शब्द से होनेवाला ज्ञान यथार्थ ही है। अन्यथा सदा-सर्वदा के लिये शब्द का अप्रामाण्य ही कहना पड़ेगा। तब वेद को प्रमाण कभी भी नहीं कहा जा सकेगा। प्रभाकर के मतानुसार शुक्तौ इदं रजतम् इत्यादि स्थल में विपरीत रूप से शुक्ति में रज-तत्वाकारेण इत्याकारक ज्ञान विषय-विषयक ज्ञान शब्द के द्वारा कभी उत्पन्न नहीं होता। प्रभाकर अख्यातिवादी हैं। इनके मत में ज्ञानमात्र यथार्थ ही है। अययार्थज्ञान है ही नहीं।

शङ्का—यदि यह कहें कि असन्निकृष्टविशेषण देने से जो तात्पर्य ज्ञातविषयक है, वह तो अनुवाद है, उसी का निराकरण करने के लिये यह विशेषण दिया गया है।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं है; क्योंकि अनुवाद भी शास्त्र ही है; जो अनुभवरूप है। इसलिये उसे अप्रमाण नहीं कह सकते; क्योंकि वह अनुभूति रूप है और अनुवाद को प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अन्तर्गत भी नहीं कर सकते। इसलिये अनुवाद को शास्त्र के रूप में ही मानना होगा। विपरीतपरिच्छिन्ना-विषयक ज्ञान की उत्पत्ति ही शब्द से नहीं होती। अत: अनुवाद के निरास का असम्भव होने से असन्निकृष्ट पद से किसका निरास प्रभाकर करने जा रहे हैं? कोई निरास्य ही नहीं होने के कारण असन्निकृष्ट पद को देना व्यर्थ ही है; किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से शब्द में पुरुषगत दोषों का संक्रमण होने से शब्द में दोषप्रसक्ति का होना स्वाभाविक है। अत: वेद के अप्रामाण्य की सम्भावना की जा सकती है, इसलिये कहना होगा कि शब्द में भी विपरीतपरिच्छिन्न विषयक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जैसे—नद्यास्तीरे फलानि सन्ति अर्थात् फलके अभाव में भी फल के होने का ज्ञान भी शब्द से क्वचित् हुआ करता है। इसलिये विपरीतपरिच्छिन्नविषयक इत्यादि वाक्य तथा अनुवादक वाक्य भी प्रमाणान्तर ज्ञात-ज्ञापक होने से वह असन्निकृष्ट पद का व्यांवर्त्य हो सकता है, अत: असन्निकृष्ट पद का ग्रहण करना व्यर्थ नहीं है।

प्रभाकरमीमांसक के मत में तो प्रमाण का लक्षण 'अनुभूति: प्रमाणम्' अनुभूति ही है। अगृहीत-ग्राहित्व को प्रमाण का लक्षण प्रभाकर को स्वीकार नहीं है। अत: अनुवाद भी अनुभव का उत्पादक होने से उसे प्रमाण कह सकते हैं। इसलिये असन्निकृष्ट पद का व्यावर्त्य वह नहीं हो सकता; किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि में तो अगृहीतग्राही प्रमाणम्—अगृहीतग्राही (अगृहीत को ग्रहण करना ही) को ही प्रमाण कहा जाता है—अगृहीत-ग्राहित्वम् प्रमाणत्वम्। अनुवाद में गृहीतग्राहित्व होने के कारण ही प्रमाणत्व (प्रामाण्य) नहीं है, उस कारण उसमें व्यावर्त्यत्व का होना सम्भव है।

शङ्का—यदि परं तद्रूपपरिच्छिन्नविषयस्याऽनुवादस्येति । असन्निकृष्ट पद के ग्रहण करने से ज्ञातविषय-विषयक अनुवाद किया जा रहा है यह कहें तो उसी के निरसनार्थ उक्त विशेषण दिया जा रहा है।

समाधान—किन्तु यह शङ्का उचित नहीं है; क्योंकि अनुवाद भी तो शास्त्र है और वह अनुभवात्मक भी है। अतएव उसको अप्रमाण नहीं माना जा सकता और अनुवाद को प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अन्तर्गत भी नहीं कह सकते। अत: अनुवाद को भी शास्त्र शब्द से ही कहना होगा।

शङ्का—असन्निकृष्ट पद का ग्रहण करने से ज्ञातविषयविषयक अनुवाद का निरास किया जा रहा है। इसलिये असन्निकृष्ट शब्द का ग्रहण करना अनर्थक (व्यर्थ) नहीं है। **इति किमिदम्? प्रमाणान्तरेण अप्रतीत इति** ।

समाधान—तच्चाऽयुक्तम् इति । असन्निकृष्ट पद से अनुवाद का निरसन करना उचित नहीं है; क्योंकि तस्याऽपि शास्त्रत्वात् । अनुवाद भी शास्त्र है और अनुभूति भी है अर्थात अनुभवजनक है। इसलिये वह प्रमाण ही है। अत: उसका भी निरास करना

उचित नहीं है। अनुवाद को शास्त्र इसलिये कहा जाता है कि उसका प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अन्तर्भाव नहीं है। अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अनुवाद का अन्तर्भाव होना असम्भव है, इसलिये अनुवाद को शास्त्र ही कहना चाहिये। तथा च असन्निकृष्ट शब्द से अनुवाद का भी निरास करना उचित नहीं है। अतः प्राभाकर के मत में असन्निकृष्ट पद अनर्थक ही है।

प्राभाकरों का उद्‌घोष है कि अनुभूतिः प्रमाणम्, तथा शास्त्रं शब्दविदा यदसन्निकृष्टार्थविज्ञानम् इति। तथा यथार्थं सर्वमेवेह विज्ञानमिति सिद्धये । इति ।

(औलूक्यमतानुवादः)

इदं च शाब्दम्—अस्येदं कारणं कार्यं सम्बन्धि, एकार्थसमवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम् इत्यनुमानलक्षणमभिधाय, एतेनैव शाब्दं व्याख्यातम् इति वदन्तः काश्यपीयाः, प्रत्यक्षमनुमानं च द्वे एव प्रमाणे इति ब्रुवाणाः सौगताश्चाऽनुमानादभिन्नमिति मन्यन्ते । तत्र यत्तावत् पदार्थज्ञानं तदवगतार्थविषयत्वात् प्रमाणमेव न भवतीति किं तस्य भेदाऽभेदपरीक्षया? यत्तु वाक्यार्थज्ञानं तदगृहीतसम्बन्धैरेव पदार्थैरुपजायमानं नाऽनुमानशङ्कामर्हति ।

अब औलूक्य (वैशेषिक) और बौद्ध मत का अनुवाद तथा उसका निरास किया जायेगा।

सौत्रान्तिक बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं। शब्द को पृथक् प्रमाण नहीं मानते उसका अनुमान में ही अन्तर्भाव कर लेते हैं।उन्हीं के निराकरणार्थ ग्रन्थकार श्रीपार्थसारथि-मिश्र 'इदं च शाब्दम्' इत्यादि ग्रन्थ का आरम्भ कर रहे हैं—इदं च का अनुमानादभिन्नं मन्यन्ते वाक्य के साथ सम्बन्ध है। **इदं च शाब्दमिति**। यह शब्दप्रमाण है। अस्येदं कारणं कार्यं सम्बन्धि-एकार्थसमवायि विरोधि नेति लैङ्गिकम्। (वैशे. द. सू. ९।२।१) उक्त शब्दप्रमाण में अनुमान के पाँच प्रकार बतलाये गये हैं। (१) इसका कारण यह है। (२) इसका कार्य यह है। (३) इसका सम्बन्धी यह है (४) इसका एकार्थ समवायि यह है (५) इसका विरोधी यह है—इस प्रकार यह लैङ्गिक है। इस अनुमानलक्षण को बतलाने से ही शब्दप्रमाण की व्याख्या कर दी गई—यह कहनेवाले वैशेषिक शब्द को अनुमान से भिन्न नहीं मानते हैं—यह कहना काश्यपीय अर्थात् वैशेषिकों का है।

प्रत्यक्षमनुमानं चेति। सौत्रन्तिक बौद्ध तो प्रत्यक्ष और अनुभान ये दो ही प्रमाण है—यह कहकर इस शाब्दप्रमाण को अनुमानप्रमाण से भिन्न नहीं मानते। (ऐसा न्यायबिन्दु में कहा गया है) किन्तु ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र का कहना है कि शाब्दप्रमाण पद और वाक्य के भेद से दो प्रकार का है।

उन दोनों से जो पद है, वह अर्थ का स्मारक है। अत: वह तो प्रमाण ही नहीं है। वार्तिककार ने कहा भी है— पदमभ्यधिकाऽभावात् स्मारकान्न विशिष्यते इति। (श्लो. वा. शब्द परि. का.- १०७)। इसका भेद असन्निकृष्ट विशेषण से ही स्पष्ट है। अत: पद के सम्बन्ध में भेदाऽभेद परीक्षा करना आवश्यक नहीं है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार प्रकट कर रहे हैं— तत्र यत्तावत् पदार्थज्ञानं तदवगतार्थ- विषयत्वात् प्रमाणमेव न भवतीति किं तस्य भेदाऽभेदपरीक्षया। जो पदार्थ का ज्ञान है, वह अवगत = ज्ञात अर्थ को ही विषय करता है। अत: वह प्रमाण नहीं हो सकता, वह तो अनुवादक कहलायेगा। अत: उसके भेदाऽभेद की परीक्षा करने से काई लाभ नहीं।

समाधान—पदार्थ की उपस्थिति वाक्यश्रवण के बाद हुआ करती है। उसके बाद पदार्थ संसर्ग- विषयक जो वाक्यार्थ उसका ज्ञान होता है। यत्तु वाक्यार्थज्ञानं तदगृहीतसम्बन्धैरेव पदार्थैरुपजायमानं नाऽनुमानशङ्कामर्हति इति अर्थात् जिनका सम्बन्ध गृहीत (ज्ञात) नहीं है—उन पदार्थों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह वाक्यार्थ अनुमान की शङ्का करने के योग्य नहीं है। अर्थात् अनुमान के अन्तर्गत नहीं है; क्योंकि पदार्थ सामान्यरूप होते हैं और वाक्यार्थ विशेष रूप होते हैं। इसलिये सभी वाक्यार्थविशेषों के साथ वाक्य का शक्तिग्रह नहीं होता और अनन्त वाक्यार्थविशेषों के साथ सम्बन्ध ग्रहण (शक्तिग्रह) होना भी असंम्भव है।

किञ्च—अपूर्व (अज्ञात) वाक्यार्थविशेष भी अत्यन्त दूर देश के सन्देशों में पदार्थों से ज्ञात होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। अभिप्राय यह है कि शब्द को पृथक् प्रमाण के रूप में ही स्वीकार करना चाहिये। उसे अनुमान के अन्तर्गत समझना उचित नहीं है। अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा— वाक्यार्थ-ज्ञानं अनुमानाद् भिन्नम्, सम्बन्धग्रहनिर-पेक्षेभ्य: पदार्थेभ्य: उत्पद्यमानत्वात्, प्रत्यक्षवत् अर्थात् वाक्यार्थज्ञान अनुमान से भिन्न है, सम्बन्धग्रहणनिरपेक्ष पदार्थों से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष के समान। इसलिये वाक्य को ही वाक्यार्थ में प्रमाण माना जाता है। उसमें अनुमान का गन्ध तक नहीं है। वार्तिककार भट्टपाद ने भी कहा है—

वाक्यार्थे तु पदार्थेभ्य: सम्बन्धानुभवादृते ।
बुद्धिरुत्पद्यते तेन भिन्नाऽसावक्षबुद्धिवत् ॥

(श्लो०वार्ति० शब्द परि० कारि० १०९)

अर्थात् लौकिक वाक्यों का शब्दरीति से प्रामाण्य नहीं मानकर, अनुमान के रूप में प्रामाण्य मानने पर शब्दों को अर्थ का वाचक नहीं कहा जा सकेगा। उस कारण अर्थ का अप्रतिपादक होने से वेद को अप्रमाण ही मानना होगा अर्थात् वेद का अप्रामाण्य हो जायेगा। अत: वेदप्रामाण्य की सिद्धि के लिये लोकव्यवहार में भी शब्दरीति से ही प्रमाण स्वीकार करना चाहिये—तस्माल्लोकवचसामनुमानत्वेन प्रामाण्याङ्गीकरणे पदानां वाचकत्वाऽयोगादप्रतिपादकत्वेन अप्रामाण्यं वेदस्य स्यादिति तत्प्रामाण्यसिद्ध्यर्थं लोके-

ऽपि शब्दतयैव प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम् इति ।

न हि सर्वैर्वाक्यार्थविशेषैः सम्बन्धग्रहणमस्ति। न च सम्भवत्यनन्तैः सम्बन्धग्रहणम्। अत्यन्ताऽपूर्वोऽपि वाक्यार्थविशेषः पदार्थैरवगम्यते दूरदेशवार्तास्विति सर्वजनीनमेतत्।

वाक्यार्थज्ञान अगृहीतविषयक होता है। यदि वाक्य का सम्बन्ध गृहीत होता तो गृहीतग्राहित्व कहा जाता। सम्बन्धग्रह हो जाने के कारण अनुमान में उसका अन्तर्भाव भी सम्भव होता, किन्तु ऐसी स्थिति है नहीं। वाक्य–वाक्यार्थ का सम्बन्धग्रह होना सम्भव नहीं है; क्योंकि न च सम्भवति अनन्तैः (अनन्तवाक्यार्थों के साथ) सम्बन्धग्रहणम्, वाक्यवाक्यार्थ के सम्बन्धग्रह की अशक्यता में दूसरा कारण (हेतु) भी है—अत्यन्ताऽपूर्वोऽपि वाक्यार्थविशेषः पदार्थैरवगम्यते, दूरदेशवार्तास्विति सार्वजनीनमेतत् । दूरदेशीय वाक्यसमूहों में पदार्थों के द्वारा अत्यन्त अपूर्व (अज्ञात) वाक्यार्थज्ञान भी होता है; किन्तु अत्यन्त अपूर्व वाक्यार्थ के साथ वाक्य का सम्बन्धग्रह रहना कभी भी सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रमाणान्तर से ज्ञात हुए अर्थ के साथ ही सम्बन्धग्रह का होना शक्य (सम्भव) है। अतः कहा भी गया है कि वाक्यार्थ का ज्ञान पदार्थोपस्थितमूलक होता है–

पदार्थानां च सामर्थ्यं गम्यमानमपह्नुतम् ।
आनन्तर्याद्धि वाक्यार्थस्तद्धेतुत्वं न मुञ्चति ।।
पदार्थानान्तु मूलत्वं दृष्टं तद्भावभावतः ।। इत्यादि ।

यत्त्वाऽऽप्तवाक्यत्वादविसंवादानुमानम्, तद्वाक्यार्थाऽवगमोत्तरकालत्वान्न तस्यानुमानत्वमापादयति। वाक्यश्रवणानन्तरमेव ह्याप्ताऽनाप्तज्ञानाऽनपेक्षैरेव पदार्थैर्वाक्यार्थोऽवगम्यते। अत्यन्ताऽदृष्टपुरुषप्रणीतेऽपि वाक्येऽवगते तु वाक्यार्थे सत्याऽसत्यत्वसंशये प्रणेतुराप्तत्वावगमे सति सत्यत्वमनुमीयमानं न वाक्यार्थावगतेराप्तत्वाऽवधारणाऽनपेक्षजन्मनोऽनुमानत्वमापादयति। तस्मात् प्रमाणान्तरमेव लोके शाब्दमित्यपौरुषेयस्याऽपि वेदस्य सिद्धं प्रामाण्यम्। एकदेशिनां तु लोकवचसामनुमानत्वमङ्गीकुर्वतां यथा वेदप्रामाण्यं न सिद्ध्यति तथोक्तम्।

इति शब्दप्रमाणवादः

यत्त्वाप्तवाक्यत्वादिति । वाक्य से विषय का ज्ञान जैसे होता है, अर्थात् विषय की स्वरूपता का ही संवाद है अर्थात् सकल प्रवृत्तिमत्व हो जाता है। अभिप्राय यह है कि यह वाक्य संवादि (सफल प्रवृत्तिमान्) है, आप्तवाक्य होने से ऐसा अनुमान होता है और यह अनुमान वाक्यार्थज्ञान के बाद होता है; क्योंकि कारण कार्योत्पत्ति के पूर्व हुआ करता है। अतः कारण के पश्चात् होनेवाला अनुमान अविसंवादि होता है। वह वाक्यार्थज्ञान के अनुमान का साधक नहीं होता, प्रत्युत अविसंवादी अनुमान के पूर्व ही वाक्य-

श्रवण के बाद आप्त अथवा अनाप्तज्ञान की अपेक्षा न रखनेवाले पदार्थों से वाक्यार्थ ज्ञात हो जाता है। अर्थात् यह वाक्य किसी आप्त अथवा अनाप्त पुरुष ने कहा—इस ज्ञान की अपेक्षा विना किये ही पदार्थों से वाक्यार्थज्ञान हो जाता है। **अत्यन्ताऽदृष्टपुरुष-प्रणीतेऽपीति।** जो वाक्य अत्यन्त अदृष्ट पुरुष प्रणीत है, उसका वाक्यार्थज्ञान होने के पश्चात् यह सत्य है या मिथ्या है—ऐसा सन्देह होता है, तदनन्तर इस वाक्य की रचना करनेवाला आप्त है—यह निश्चय हो जाने पर उसकी सत्यता का अनुमान होता है। तब जो वाक्यार्थज्ञान होता है, वह आप्तत्व निश्चय के विना ही उत्पन्न होता है। उसका अनुमान कैसे सिद्ध होगा? **तस्मात् प्रमाणान्तरमेव लोके शाब्दम् इति** । इस प्रकार शब्दप्रमाण का उपसंहार किया गया है। एवंच लोकव्यवहार में शाब्द प्रमाण अन्य प्रमाण से पृथक् ही है इसके द्वारा अपौरुषेय वेद का भी प्रामाण्य सिद्ध होता है।

एकदेशी प्राभाकर मीमांसक जो लौकिक वाक्य को अनुमान कहते हैं, उनके मत में वेद का प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो पायेगा; क्योंकि लौकिक वाक्यों का शब्दरीति से प्रामाण्य न मानकर अनुमान के रूप में प्रामाण्य मानने पर शब्दों की अर्थवाचकता नहीं हो सकती तथा अर्थ का प्रतिपादक नहीं होने से वेद का अप्रामाण्य ही सिद्ध हो जाएगा।

अतः वेदप्रामाण्य की सिद्धि के लिये लोक में भी शब्दरीति से ही प्रामाण्य मानना होगा। प्राभाकरों के अभिप्राय को न्यायरत्नमाला में इस प्रकार कहा गया है—तस्माल्लोकवचसामनुमानत्वेन प्रामाण्याङ्गीकरणे पदानां वाचकत्वाऽयोगादप्रतिपादकत्वेन अप्रामाण्यं वेदस्य स्यात् इति । तस्मात् प्रामाण्यसियर्थं लोकेऽपि शब्दतयैव प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम् । इस सन्दर्भ को न्याया रत्नमाला के वाक्यार्थनिर्णय में सविस्तररूप से कहा गया है। वार्त्तिककार ने अपने वार्त्तिक में भी कहा है—

तेन वक्तुरभिप्राये प्रत्यक्षाद्यनिरूपिते ।
पुरुषोक्तिरपि श्रोतुरागमत्वं प्रपद्यते ।।
वाक्यार्थे तु पदार्थेभ्यः सम्बन्धाऽनुभवादृते ।
बुद्धिरुत्पद्यते तेन भिन्नाऽसावक्षबुद्धिवत् ।।
भावनायां समस्तायां वाक्यादेवोपजायते ।
प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा तच्छास्त्रं न पदाद्यतः ।। इति ।।

।। इति शब्दपरिच्छेदः समाप्तः ।।

(अथोपमानपरिच्छेदः)

उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य। पूर्वदृष्टे स्मर्यमाणेऽर्थे दृश्यमानार्थसादृश्यज्ञानमुपमानम्। याऽसावस्माभिर्नगरे दृष्टा गौः, साऽनेन गवयेन सदृशीति।

किं पुनः सादृश्यम्? अर्थान्तरयोगिभिः सम्बन्धिसामान्यैरर्थान्तरस्य तादृशयोगः सादृश्यम्। यथा—गोजातियोगिभिः कर्णाद्यवयवसामान्यैर्गवयजातेर्योगो गवयस्य गोसादृश्यम्। गवयसंयोगिभिश्च गोर्योगः तत्सादृश्यम्। अत एव च सामान्यभूयस्त्वाऽल्पत्ववशेन सादृश्यप्रकार्षाऽप्रकर्षौ सुसदृशम्, ईषत् सदृशमिति।

संक्षेपतः शब्दप्रमाण का निरूपण करने के पश्चात् उपमान प्रमाण का निरूपण करने के लिए भाष्योक्त उपमानलक्षण का निर्देश ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र कर रहे हैं—**उपमानमपीति**। जैसे—अनुप-लब्धि अभावविषयक होने से उसका नामान्तर अभाव है, उसी तरह उपमान भी सादृश्यविषयक होने से उसका नामान्तर-सादृश्य है। वह सादृश्य प्रमाण (उपमानप्रमाण) असन्निकृष्ट अर्थविषयक ज्ञान (बुद्धि) को उत्पन्न करता है। अर्थात् दृश्यमानव्यक्तिप्रतियोगिकसादृश्यविशिष्टाऽदृश्यमानव्यक्तिविषयक-ज्ञान को उत्पन्न करता है। जैसे—गवयदर्शन गो का (गाय का) स्मरण कराता है, अर्थात् गवयदर्शन गाय का स्मरण कराने में हेतु (कारण) है। गवयदर्शन होने पर अनेन सदृशी मदीया गौः—गवय को देखते ही लगता है कि इसी के सदृश मेरी गाय है इत्याकारक ज्ञान होता है। अभिप्राय यह है कि उपमान भी दृश्यमान व्यक्ति के सादृश्य से विशिष्ट, अदृश्यमान व्यक्तिविषयक ज्ञान को उत्पन्न करता है। जैसे—गवय का दर्शन गोस्मरण को उत्पन्न करता है।

निष्कर्ष यह है कि गवय को देखकर उसके समान ही मेरी गौ है—यह ज्ञान होता है। मीमांसक विद्वान् उपमानस्थल में गवय दर्शन को ही कारण मानते हैं। गागाभट्ट ने अपने भाट्टचिन्तामणि में गवयदर्शनं तत्कारणम् कहकर गवय दर्शन को उपमितिज्ञान का करण माना है और सादृश्यविशिष्ट व्यक्ति ही उपमान का प्रमेय है। इसी अभिप्राय से मूल में भी कहा गया है—गवयदर्शनं गोस्मरणस्य। अर्थात् गवयदर्शन ही गोस्मरण होने में हेतु है। उक्त अभिप्राय को वार्त्तिक में भी बतलाया गया है—

तस्माद् यत् स्मर्यते तत् स्यात् सादृश्येन विशेषितम् ।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ।।

सादृश्य के प्रमेयत्वपक्ष की दृष्टि से ग्रन्थकार व्याख्या करते हैं—पूर्वदृष्टेस्मर्यमाणार्थे दृश्यमानार्थसादृश्यज्ञानमुपमानम्। पूर्वदृष्ट गवयदर्शन को समय स्मर्यमाण गोपदार्थ में गवयरूप जो दृश्यमान अर्थ (पदार्थ) का जो सादृश्यज्ञान अर्थात् गवयप्रतियोगिक सादृश्यज्ञान ही उपमान है अर्थात् उपमान फल है। दृश्यमानार्थस्य (गवयस्य) यहाँ षष्ठी का अर्थ प्रतियोगित्व है। उपर्युक्त उपमानरूप फल का स्वरूप इस प्रकार होगा—या असौ अस्माभिः नगरे दृष्टा गौः, सा अनेन गवयेन सदृशी। 'असौ' पद से असन्निकृष्ट का परामर्श किया गया है। उपमान का फल शक्ति ग्रह नहीं है। वह फल तो गोसदृशो गवयः—इस अतिदेश वाक्य से ही प्रतीत हो रहा है। किं पुनः सादृश्यम्? इस प्रकार सादृश्य का स्वरूप पूछने पर ग्रन्थकार सादृश्य का स्वरूप बताते हैं—अर्थान्तर-

योगिभिः सम्बन्धसामान्यैरर्थान्तरस्य तादृशयोगः सादृश्यम् अर्थात् अर्थान्तर से सम्बद्ध हुए सामान्य से अर्थान्तर के योग को सामान्य कहते हैं। जैसे—गोजाति में (गोत्व में) रहनेवाले अवयव सामान्यरूप गवयजाति के अवयवों के साथ सादृश्य है। अभिप्राय यह है कि तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्व को सादृश्य कहते हैं। जहाँ सामान्य अधिक हो, उसे सादृश्यप्रकर्ष अथवा सुसदृश कहते हैं। मूलगत सामान्य शब्द से साधारण धर्मों को जानना चाहिये। सामान्य शब्द की व्युत्पत्ति समानानां भावः सामान्यम् है; जाति की नहीं। सामान्य की अल्पता रहने पर उसे अप्रकर्ष अथवा ईषत् सदृश कहा जाता है।

मूल में अर्थान्तरयोगिभिः = अर्थान्तरसम्बन्धिभिः गवयस्य में षष्ठी का अर्थ अनुयोगित्व है। गोसादृश्यम् = गोप्रतियोगिकं सादृश्यम्। गवयसंयोगिभिश्च = कर्णाद्यवयवसामान्यैः। तत्सादृश्यम् = गवयवप्रतियोगिकं सादृश्यम् । उक्तस्य अर्थान्तरगत भूयोधर्मवत्त्व ही सादृश्य का स्वरूप है; क्योंकि व्यत्तयन्तरवर्ति धर्मसदृश धर्मवत्त्व ही सादृश्य पदार्थ है। अत एव अर्थात् व्यत्तयन्तरवर्त्तिधर्मसदृशधर्मों का आधिक्य रहने पर सादृश्यप्रकर्ष = सुसदृश कहा जाता है और अल्पत्व रहने पर अप्रकर्ष = ईषत् सदृश कहा जाता है।

ये तु सामान्ययोगातिरिक्तमन्यदेव तत्त्वं सादृश्यं मन्यन्ते, तेषां प्रकर्षाऽप्रकर्षभेदः किंनिमित्तः? इति चिन्तनीयम् । न च तत्त्वान्तरत्वे प्रमाणमपि किञ्चिदस्तीत्यस्तां तावत्।

ये तु सामान्येति । तो प्राभाकरादि सादृश्य को तत्त्वान्तर मानते हैं, वह उचित नहीं है; क्योंकि व्यत्तयन्तर में रहनेवाले धर्मों का व्यत्तयन्तर में (अन्यव्यक्ति में) रहना सम्भव नहीं है; क्योंकि तत्सदृश-धर्म को स्वीकार करने पर आत्माश्रय दोष होगा। अतः प्राभाकरों द्वारा सादृश्य को तत्त्वान्तर मानता उचित नहीं है तथा तत्त्वान्तर मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है। प्रमाण से ही प्रमेय की सिद्धि हुआ करती है—मानाधीनामेयसिद्धिः यह वचन सर्वप्रसिद्ध ही है। अतः प्रमाण के विना सादृश्य को स्वतंत्र पदार्थ कहना अथवा मानना अनुचित है।

न चेदमुपमानं प्रत्यक्षान्तर्गतम्, अनिन्द्रियसन्निकृष्टत्वान्नगरस्थस्य गोः। न चाऽनुमानम्, अगृहीतसम्बन्धस्याऽप्युपजायमानत्वात्। एवं किलाऽनुमीयेत—गौर्गवयसदृशो गवयसादृश्यप्रतियोगित्वात्, यद् यत्सादृश्यप्रतियोगि तत्, तत्सदृशं दृष्टम्, यथाऽयमनयोरन्यतरस्याऽन्यतरेणाऽपि।

सादृश्य को तत्त्वान्तर मानने में बाधक यह है कि **न चेदमुपमानं प्रत्यक्षान्तर्गतमिति** । मानाधीना मेयसिद्धिः अर्थात् प्रमाण से ही प्रमेय की सिद्धि होती है। इस कारण बिना प्रमाण के सादृश्य को तत्त्वान्तर मानना युक्तियुक्त नहीं है। सादृश्य को तत्त्वान्तर के रूप

मे माना भी जाय तब भी तद्भूयस्त्व तथा अल्पत्व दोनों से ही सादृश्यप्रकर्ष–अप्रकर्ष का भेद रहना असम्भव नहीं है अर्थात् सम्भव ही है। अभिप्राय यह है कि प्राभाकर मीमांसक सामान्य को स्वतंत्र पदार्थ के रूप में मानते हैं। वह सामान्य = सादृश्य सामान्य सम्बन्ध से पृथक् है, यह उनका मत है। ऐसा मानने पर दूसरे व्यक्ति के धर्मों का दूसरों में सम्भव होना कठिन है, उस कारण उसके मत में प्रकर्ष–अप्रकर्ष का भेद किंनिमित्तक माना जायगा? यह विचारणीय है। तथा सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है। जबकि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के विना नहीं मानी जाती। अत: विना प्रमाण के सादृश्य को अतिरिक्त स्वतंत्र पदार्थ मानना उचित नहीं है।

शङ्का—प्रत्यक्षादि प्रमाणों में ही उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव क्यों नहीं करते?

समाधान—न चेदमुपमानमिति। उपमान को प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत नहीं मान सकते; क्योंकि गो के अनिन्द्रियसन्निकृष्टत्वात् = इन्द्रिय के असन्निकृष्ट होने से। निष्कर्ष यह है कि उपमान प्रमाण का प्रमेय तो गवयप्रतियोगिक सादृश्यविशिष्ट गौ है अथवा तन्निष्ठ गवयसादृश्य है। उन दोनों से ही इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं रहने से प्रत्यक्ष में सादृश्य का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। प्रमाण भी है— तस्माद् यत् स्मर्यते तत् स्यात् इति। तथा—

प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते।
विशिष्टस्याऽन्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥

यह वार्तिक में कहा गया है। निष्कर्ष यह है कि उपमान प्रमाण को प्रत्यक्षप्रमाण के अन्तर्गत इसलिये नहीं मानते कि नगरस्थित गौ के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं है। अर्थात् उपमान प्रमाण का प्रमेय है—गवयप्रतियोगिक सादृश्यविशिष्ट गौ, अथवा गोनिष्ठ गवयसादृश्य–इन दोनों से इन्द्रियसंन्निकर्ष नहीं है। अत: उपमान का प्रत्यक्ष-प्रमाण में अन्तर्भाव नहीं हो रहा है। प्रमाण भी पूर्व में दे चुके हैं— तस्माद् यत्स्मर्यते तत्स्यात् इति। **न चाऽनुमानमिति**। अनुमानप्रमाण में भी उपमानप्रमाण का अन्तर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि अनुमानज्ञान तो गृहीत सम्बन्धवाले पुरुष को ही हो सकता है, किन्तु उपमान तो अगृहीत सम्बन्ध वाले अर्थात् व्याप्तिरूप सम्बन्ध का ग्राह्य करनेवाले को पुरुष को भी होता है। इसलिये उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता। उपमान तो बिना व्याप्तिग्रह के भी होता है। एवं किलाऽनुमीयेत गौर्गवयदृशो गवय-सादृश्यप्रतियोगित्वात्, यद् यत्सादृश्यप्रतियोगि तत् तत्सदृशं दृष्टम्। अर्थात् जो लोग उपमान प्रमाण को नहीं मानते, वे उसका अन्तर्भाव अनुमान में इस प्रकार करते हैं— एवं किल अनुमीयेत गौ: गवयवसदृशो गवयसादृश्यप्रतियोगित्वात्, यद् यत्सादृश्य-प्रतियोगि, तत्सदृशं दृष्टं, यथा यमलयोरन्यतस्याऽन्तरेणाऽपीति। गवयसदृश: = गवय-प्रतियोगिकसादृश्यवान्। गवयवसादृश्यप्रतियोगित्वात् अर्थात् गवयनिष्ठस्वसादृश्य-प्रतियोगित्वादित्यर्थ:।

व्याप्ति का स्वरूप यह होगा—**यदिति** । यद् = देवदत्तः, यत्सादृश्यप्रतियोगि = यज्ञदत्तनिष्ठसादृश्य-प्रतियोगि तत् तत्सदृशं दृष्टम्– तत् = देवदत्तः, तत्सदृशम् = यज्ञदत्त सदृशो दृष्टः, किंवा यद् = गौः, यत्सादृश्यप्रतियोगि = गवयनिष्ठस्वसादृश्यप्रतियोगी, तत् = गौः, तत्सदृशम् = गवयसदृशो दृष्टः। दृष्टान्त दे रहे हैं—**यथेति** । यमलयोर्मध्ये अन्तरस्य सादृश्यमन्यतरेण दृष्टम् इति ।

गो गवय के सदृश है; क्योंकि गवय सादृश्य प्रतियोगी होने के कारण। जो जिसके सादृश्य का प्रतियोगी होता है, वह उसके सदृश लोकव्यवहार में दृष्टिगोचर होता है। जैसे एक ही गर्भ से जहाँ दो (युगल) सन्तानें उत्पन्न होती हैं, वहाँ उन दोनों को यमल कहते हैं। उन दोनों में एक का सादृश्य दूसरे में देखा गया है। जैसे—यज्ञदत्त देवदत्त के सदृश है, वैसे देवदत्त भी यज्ञदत्त के सदृश है। इसी प्रकार जब गवय गो-सदृश होगा, तो गौ भी गवय-सदृश होगी। इस कारण यह अनुमान ही है।

न चेदं युक्तम्। यौ हि द्वावर्थौ मिथः सदृशौ युगपन्न दृष्टवान् एकमेव तु गामुपलभ्य नगरे वने गवयं पश्यति सोऽपि गां गवय सादृश्य-विशिष्टामुपमिनोत्येव तस्मान्नाऽनुमानम्। शाब्दत्वं तु न शङ्क्यमेव। अतः प्रमाणान्तरम्, प्रसिद्धत्वाच्च न परीक्षितव्यम्।

इत्युपमानवादः

समाधान—न चेदं युक्तमिति । किन्तु उपर्युक्त कथन उचित नहीं है; क्योंकि जिस पुरुष ने परस्पर सदृश दो वस्तुओं को युगपत् एक साथ नहीं देखा, किन्तु नगर में अकेली गौ को देखकर वन में गवय को देखता है, वह भी गवयसादृश्यविशिष्ट गौ को उपमान समझता ही है अर्थात् अनेन सदृशी मदीया गौः—इस प्रकार गवयप्रतियोगिक सादृश्यविशिष्ट गां = गाय को उपमान से जानता है और उपमिनोमि कहता है, न कि अनुमिनोमि।

ग्रन्थकार का अभिप्राय यह प्रतीत हो रहा है कि जहाँ गाय और गवय युगपत् = एक ही समय में दिखाई देते हैं, तब तो गवि गवयनिष्ठसादृश्यप्रतियोगित्व का प्रत्यक्ष से ही ग्रहण होता है, किन्तु तदनन्तर वन में जाने पर केवल गवय को देखता है, उस कारण एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्— इस नियम के अनुसार गोस्मरण होने पर गाय में गवयनिष्ठ सादृश्यप्रतियोगित्व का भी स्मरण होता है। उस हेतुभूत स्मरण से गवयसादृश्यनिरूपित गोनिष्ठ प्रतियोगित्वेन गाय में गवयवप्रतियोगिकसादृश्य की अनुमिति का होना सम्भव है। भूत-भविष्यत् लिङ्गी स्मरण से भूत-भविष्यत् लिङ्ग (साध्य) की जैसे अनुमिति होती है और जब गो और गवय दोनों को युगपत् = एक साथ नहीं देखते हैं, तब वहाँ गाय में गवयवनिष्ठ सादृश्य प्रतियोगित्व का अनुभव नहीं होने के कारण स्मरण नहीं होता और न हीं वन में केवल हेतुभूत गवय देखनेवाले को

गवयनिष्ठ सादृश्यप्रतियोगित्व का प्रत्यक्ष होता है, जिससे अनुमान की सम्भावना की जा सके। तस्मात् नगर में केवल गाय को उपलब्ध कर तदनन्तर वन में केवल गवय को देखनेवाले को उक्त अनुमान की सम्भावना नहीं की जा सकती। यहाँ उपमान से ही गवयप्रतियोगिक गोगिष्ठ सादृश्य की ही प्रतीति होती है। इस प्रतीति से अनेन सदृशी मदीया गौः- यही गवयप्रतियोगिक गोनिष्ठ सादृश्य का ज्ञान होने पर अर्थात् ही गवय मे गोप्रतियोगिक सादृश्य का भी ज्ञान हो ही जाता है, इसलिये गवयनिष्ठ गोप्रतियोगिक सादृश्यप्रतियोगित्व का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार ज्ञात हुए हेतुभूत गवयनिष्ठ सादृश्यप्रतियोगित्वरूप से गाय में गवयप्रतियोगिक सादृश्य की उक्त रीति से अनुमिति क्यों नहीं हो सकेगी?—ऐसी आशङ्का करना ठीक नहीं है। बाद में हुए हेतुज्ञान से भी पूर्वभा वीज्ञानविषयविषयक अनुमिति का होना सम्भव नहीं होने से पूर्वज्ञात ही अनुमापक होता है—ऐसा नियम है।

किञ्च—फलस्वरूप गवयप्रतियोगिक गोनिष्ठ सादृश्यज्ञान प्रथमतः हो जाने पर उसके अनुमान करने की अपेक्षा नहीं रहती। उस कारण अनुमान करने पर भी गृहीत का ही ग्रहण होने से उसका प्रामाण्य नहीं हो सकेगा। इस पर प्रश्न कर सकते हैं कि प्रथमतः हेतु ज्ञान ही क्यों किया जाय? किन्तु यह प्रश्न करना उचित होगा नहीं। क्यों न गवयदर्शन से गोस्मृति और गोस्मरण होने पर गोप्रतियोगिक सादृश्य का गवय में ज्ञान, तदनन्तर गो में गवयनिष्ठ सादृश्य प्रतियोगित्व का स्मरण और उससे (स्मृति से) अनुमिति होती है—यही आपको कहना चाहिये। इसलिये गवय दर्शन से गो का स्मरण होने में सादृश्य को ही हेतु (कारण) कहना चाहिये। अतः गाय में गवयप्रतियोगिक सादृश्यज्ञान के विना गो का स्मरण होना सम्भव ही नहीं है और न ही गाय में गवयनिष्ठ सादृश्य प्रतियोगित्व का स्मरण होना ही। इसलिये हेतु का पूर्व ज्ञान होना सम्भव नहीं है। साथ ही यह भी नहीं कह सकते कि गो स्मरण होने में सादृश्य के ही हेतु होने से गाय में गवयप्रतियोगिक सादृश्य ज्ञान के विना गो का स्मरण होना सम्भव नहीं है और गोस्मरण के विना गाय में गवयप्रतियोगिक सादृश्यज्ञान का होना सम्भव नहीं है—इस प्रकार तुम्हारे मत में अन्योऽन्याश्रय दोष भी नहीं दे सकते; क्योंकि हमने गवयदर्शन से ही गवयप्रतियोगिक सादृश्यविशिष्ट गो के ही ज्ञान का होना स्वीकार किया है। यदि यह कहें कि उपमितिज्ञान का कारणीभूत गवयनिष्ठ गो सादृश्यज्ञान पैदा होने पर हेतुभूत गाय में गवयनिष्ठ सादृश्य प्रतियोगित्व का भी ज्ञान हो ही जायेगा, इसलिये उसे अनुमान ही कहा जा सकेगा; किन्तु यह कहना ठीक नहीं होगा; क्योंकि अद्वैतियों ने गोनिष्ठ गवयसादृश्योपमिति के प्रति गवयनिष्ठ गोसादृश्यज्ञान में कारणत्व मानने पर भी हमने उसे करण के रूप में स्वीकार नहीं किया है। गवयदर्शन को ही कारणत्व के रूप में स्वीकार किया है। भाट्टचिन्तामणि में कहा भी है—

एवञ्च आरण्य वाक्यार्थ के ज्ञान से अरण्य में जो गवयदर्शन है वह करण है,

तत्सादृश्यविशिष्टा गौ है। यही प्रमात्मक ज्ञान है और वाक्यार्थस्मरण अवान्तर व्यापार है। ग्रंथकार ने उपमिनोति एव कहकर लोकव्यवहार को भी प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। **तस्मान्नाऽनुमानमिति** । अतः पदज्ञानजन्य उपस्थिति उस समय नहीं रहने से शाब्द में **अन्तर्भाव** की शङ्का तक नहीं की जा सकती। इसलिये उपमान को पृथक् प्रमाणान्तर ही मानना उचित है।

इसलिये उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं किया जा सकता। अतः उपमान को अनुमान शब्द से नहीं कहा जा सकता। उसी तरह उपमान को शाब्द भी नहीं कह सकते; क्योंकि पदज्ञान-जन्य उपस्थिति उस समय है ही नहीं। इसलिये उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण ही मानना चाहिये। इसी तथ्य को वार्त्तिककार भट्टपाद ने स्पष्ट किया है—सादृश्य का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता है और गो का स्मरण होता है। अतः गोसादृश्यविशिष्ट गवय के प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से सिद्ध नहीं होने के कारण उपमान को पृथक् स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में ही स्वीकार करना चाहिये। वार्त्तिकार कर रहे हैं—

प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते ।
विशिष्टस्याऽन्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥

(श्लोक वा० उपमा० प्रक० कारि० ३८)

उपमान प्रमाण का प्रयोजन अतिदेश का सिद्ध होना भी है। इसे भी वार्तिककार ने बतलाया है। यह भी नहीं समझना चाहिये कि उपमान का प्रयोजन केवल शक्तिग्रह होना ही है। अन्य कोई फल नहीं है। एवञ्च प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान ही उपमान प्रमाण भी स्वतन्त्र प्रमाण है, अतः प्रत्यक्षादि के समान उपमान की भी परीक्षा नहीं करनी चाहिये।

उपमान प्रमाण के विषय में नैयायिक और मीमांसकों में मतभेद है। नैयायिकों का कहना है कि उपमितिकरणम् उपमानम् अर्थात् उपमितिज्ञान का करण उपमान है तथा अतिदेश वाक्यार्थस्मरण व्यापार है और उपमितिज्ञान फल है। गवय ही गवय शब्द का वाच्य है—ऐसा शक्तिग्रह होना ही उपमान का फल है। ये साधर्म्य-वैधर्म्य धर्ममात्र के भेद से तीन प्रकार के होते हैं; किन्तु मीमांसकों का कहना है कि शक्तिग्रह के लिए उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं। उसे स्वतन्त्र प्रमाण कहना अनुचित है। शक्तिग्रहरूप फल तो अतिदेशवाक्य के अर्थस्मरण से ही सिद्ध है। इसलिये नैयायिक विद्वानों के द्वारा सम्मत उपमान प्रमाण हम मीमांसकों को अभीष्ट नहीं है। अतः उपमान का निरूपण हम दूसरे प्रकार से करते हैं। गो और गवय—इन दोनों को एक समय में ही जो नहीं देखता, अर्थात् जब गाय को देखता है, तब गवय को नहीं, और जब गवय को देखता है, तब गौ को नहीं। अतः उपमान का लक्षण ही दूसरा है तथा उसका फल भी अन्य है; क्योंकि उपमान का प्रमेय है— सादृश्य अथवा सादृश्यविशिष्ट व्यक्ति। इन दोनों पक्षों को वार्त्तिककार ने बतलाया है। जैसे—

तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम् ।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ।।
प्रत्यक्षेणाऽवबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते ।
विशिष्टस्याऽन्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ।। (श्लो. वा.)

किञ्च— प्रत्यक्ष अनुमान आदि से उपमान प्रमाण भिन्न है। इसका प्रयोजन अतिदेशसिद्धि, प्रतिनिधिनियम आदि हैं। इस प्रकार का यह उपमान केवल मीमांसकों को ही सम्मत नहीं है, अपितु शांकरमतानुयायियों ने भी इसे स्वीकार किया है। नारायणभट्ट ने भी कहा है—

स्पष्टञ्च भासते तस्मात्प्रमाणान्तरमर्थ्यते ।
तत्रोपमानमाचख्युः शाबराः शांकरा अपि ।।
दृश्यमानार्थसादृश्यस्मर्यमाणार्थगोचरम् ।
असन्निकृष्टसादृश्यज्ञानं ह्युपमितिर्मता ।।

(मानमेयोदय, उपमानप्रकरण)

(अर्थापत्तिनिरूपणम्)

अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना। यथा जीवतो देवदत्तस्य गृहाऽभावदर्शनेन बहिर्भावस्याऽदृष्टस्य परिकल्पना। प्रमितस्याऽर्थस्य अर्थान्तरेण विनाऽनुपपत्तिमालोच्य तदुपपत्तये याऽर्थान्तरकल्पना, सा अर्थापत्तिः।

उपमानप्रमाण का निरूपण समाप्त हो चुका । तदनन्तर भाष्योक्त क्रम के अनुसार अर्थापत्ति प्रमाण का लक्षण कर रहे हैं—**अर्थापत्तिरपीति** । दृष्ट (देखे गये) अथवा श्रुत (सुने गये) अर्थ की जब उपपत्ति नहीं हो पाती तब उसकी उपपत्ति (संगति) लगाने के लिये जो कल्पना की जाती है, उसे अर्थापत्ति शब्द से कहा जाता है। अर्थात् आपत्ति = कल्पना = अर्थापत्ति । **यथा जीवतो देवदत्तस्येति**। भाष्यकार शबस्वामी ने अपने भाष्य में जीवति देवदत्ते यह पाठ दिया है, किन्तु ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र ने भाष्यकार के दिये पाठ में किंचित् परिवर्तन किया है, जैसे—जीवतो देवदत्तस्य। अर्थात् जीवित देवदत्त का उसी के घर में उसका अभाव (नहीं होना) देखकर उसके वहिर्भाव (जो अदृष्ट) की कल्पना होती है। इसी कल्पना को अर्थापत्ति शब्द से कहा जाता है। **निष्कर्ष यह है कि** प्रमित अर्थ की अर्थात् प्रमाण से अवगत पदार्थ के उपपन्न न होने पर (अनुपपन्न होने पर) वह (प्रमाणित अर्थ) अर्थान्तर की (वहिर्भाव) कल्पना कराता है। शाबरभाष्यगत 'अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वा .... बहिर्भावस्य **अदृष्टस्य परिकल्पना' तक के ग्रन्थ के** द्वारा दृष्टः श्रुतो वा कहकर अर्थापत्ति के दो भेद बताए गये हैं—दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति ।

भाष्यकार ने प्रमितस्य अर्थस्य ग्रन्थगत प्रमित पद के उल्लेख से यह बताया है कि प्रमाण से ज्ञायमान जो अर्थ है, वह अनुपपन्न होकर अर्थान्तर की कल्पना कराता है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञात अर्थ की अनुपपत्ति के कारण अर्थान्तर की कल्पना करना। अन्यथा—अंगुल्यग्रे गजशतं नृत्यति इसकी उपपत्ति के लिये भी अर्थान्तर की कल्पना होने लगेगी। उसके निरसनार्थ प्रमितस्य अर्थस्य कहा गया है।

शङ्का—दृष्ट शब्द जब प्रमितमात्र का वाचक है, तब श्रुतो वा कहने की क्या आवश्यकता? श्रुतो वा कहना व्यर्थ ही है।

समाधान— व्यर्थ नहीं है; क्योंकि श्रुतार्थापत्ति प्रमाण की ग्राहिका है, इससे प्रमाण की कल्पना होती है और दृष्टार्थापत्ति से अर्थ की कल्पना की जाती है। इसी तथ्य को बताने के लिये दृष्टः श्रुतो वा– ऐसा भेदनिर्देश किया गया है। प्रमितस्य पदनिर्देश के द्वारा प्रत्यक्षादि षट्प्रमाणों के आधार पर अर्थापत्ति छः प्रकार (षट् प्रकार) की हुआ करती है—यह सूचित किया है। इसका सविस्तर निरूपण श्लोकवार्तिक की न्यायरत्नाकर व्याख्या में एवं सिद्धान्तचन्द्रिका में किया गया है। अर्थापत्ति = अर्थस्य आपत्तिः = कल्पना यस्मात्—इस व्युत्पत्ति के अनुसार (बहुव्रीहि समास के अनुसार) अर्थापत्ति शब्द– प्रमाणपरक समझना चाहिये। तथा अर्थस्य आपत्तिः = अर्थापत्तिः कल्पना—इस षष्ठी समास से अर्थापत्ति शब्द फलपरक समझना चाहिये।

यद्यनुपपन्नादुपपादककल्पनाऽर्थापत्तिः? अनुमानमेव तर्हि, तत्रापि वह्निमन्तरेणाऽनुपपन्नाद्धूमाद् वह्निः कल्प्यते। स्यादेवम्, यद्यनुपपन्नं गमकं स्यात्। इह तु यन्नोपपद्यते तदेव गम्यम्। गृहाऽभावेन हि विना बहिर्भावो नोपपद्यते। किमिदानीमुपपादकादनुपपन्ने बुद्धिरर्थापत्तिः? को दोषः? न खलु कश्चिद् दोषः, किं त्वसौ नैवाऽस्ति। न ह्युपपादकदर्शनादनुपपन्नार्थे बुद्धिर्भवति। यदि स्यात्, वृक्षत्वदर्शनाच्छिंशपात्वं कल्प्येत। वृक्षत्वेन विना शिंशपात्वस्याऽनुपपत्तेः। तस्मादनुपपन्नमेव गमकं नोपपादकम्।

यद्यनुपपन्नादिति। उपमान का निरूपण करने के पश्चात् अर्थापत्ति प्रमाण के निरूपणार्थ भाष्योक्त अर्थापत्तिलक्षण का अतिदेश कर रहे हैं। शाबरभाष्य में जीवति देवदत्ते यह पाठ उपलब्ध हो रहा है—यही भेद है। दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति—इन दो के अभिप्राय से भाष्यकार ने दृष्टः श्रुतो वा कहा है। जैसे—पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इस स्थल में दिवाभोजन का— निषेध भी किया गया है और पीनत्व (पुष्टता) दिखाई दे रहा है, जो विना भोजन के अनुपपन्न है, इसलिये उसकी उपपादक रात्रिभोजन की कल्पना करनी पड़ती है। कल्पक अनुपन्न पीनत्व ही है। जैसे—गृहाऽभावदर्शन से (प्रत्यक्ष होनेवाले गृहाऽभाव से)। उक्त भाष्यवाक्य की व्याख्या ग्रन्थकार स्वयं कर रहे

हैं—प्रमितस्य अर्थस्य अर्थान्तरेण विना अनुपपत्तिमालोच्य तदुपपत्तये या अर्थान्तरकल्पना सा अर्थापत्तिः अर्थात् अनुपपन्न जो पीनत्व उसका कल्पक जहाँ भ्रान्ति रूप ही हो, वहाँ पर उपपादक कल्पना के रहने पर भी अर्थापत्ति का प्रामाण्य नहीं माना जाता, जैसे हेत्वाभास से अग्नि का अनुमान नहीं माना जाता। इसीलिये अर्थापत्ति के लक्षण में प्रमितस्य कहा गया है; किन्तु नैयायिकों का कहना है कि जैसे- धूम के द्वारा तत्कारणरूप अग्नि का अनुमान किया जाता है, उसी तरह यहाँ भी देवदत्तनिष्ठ पीनत्व से तत्कारणभूत रात्रिभोजन की कल्पना करना अनुमान ही तो है; क्योंकि दिवा न भुङ्क्ते कहकर दिवाभोजन का निषेध किया जा रहा है। उसी तरह से जीवित व्यक्ति देवदत्त आदि अपने घर में नहीं होने से (गृहाऽभाव से) उसके बहिर्भाव की जो कल्पना की जाती है, वह अनुमान ही तो है। उसे अर्थापत्ति शब्द से कहने की क्या आश्यकता? इसी अभिप्राय को ग्रंथकार यद्यनुपपन्नादुपपादककल्पना अर्थापत्तिः? ग्रंथ को उपस्थित कर रहे हैं। नैयायिकों के अभिप्राय को ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र अभिव्यक्त कर रहे हैं—**यद्यनुपपन्नादिति**। किसी अर्थ को अनुपपन्न होते देखकर जो उपपादक अर्थ की कल्पना की जाती है, उसे यदि अर्थापत्ति शब्द से कहा जाय तो वह कल्पना अनुमानरूप ही तो है; क्योंकि तत्रापि = अनुमानस्थल में भी अग्नि (वह्नि) के विना अनुपपन्न (उपपन्न न होने वाले) धूम से ही अग्नि (वह्नि) की कल्पना की जाती है। अतः अर्थापत्ति को प्रमाणान्तर कहना उचित नहीं है। उसका अन्तर्भाव, अनुमान में ही हो जाता है।

एकदेशी प्रभाकर प्रथमतः मनोऽभिलषितरीत्या उपर्युक्त कथन का परिहार करता है—**स्यादेवमिति**। अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव तब हो सकता है, जब अनुपपन्न पदार्थ गमक हो, किन्तु अर्थापत्ति में तो अनुपपन्न पदार्थ गम्य होता है। गृहाऽभाव के विना बहिर्भाव उपपन्न नहीं होता; किन्तु अनुमान में अनुपपन्न पदार्थ गम्य नहीं होता **है—यही दोनों में भेद है। जीवन् देवदत्तो गृहे नास्ति—यहाँ पर बहिर्भाव ही गम्य है और वह बहिर्भाव जीवित देवदत्त का जब गृह में अभाव हो तभी हो सकता है, अन्यथा नहीं।** अर्थात् गृहाभाव के विना बहिर्भाव का होना अनुपपन्न है। इसलिये अर्थापत्ति में जो अनुपपन्न हो, वही गम्य होता है और अनुमान में जो अनुपपन्न हो, वही गम्य होता है और अनुमान में जो उपपादक (उपपन्न) वह्नि आदि हैं, वे ही गम्य रहते हैं और अनुपपन्न धूम आदि गमक हुआ करते हैं। इस कारण अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव होना सम्भव नहीं है।

प्रश्न—क्या आप उपपादक से अनुपपन्न जो अर्थ तद्विषयक ज्ञान को अर्थापत्ति शब्द से कहना चाहते हैं?

उत्तर—को दोषः? क्या दोष है? कोई दोष नहीं हैं—ऐसा नहीं कह सकते, इसी बात को व्यतिरेक से बता रहे हैं। न हि उपपादकदर्शनादनुपपन्नार्थे बुद्धिर्भवति अर्थात् उपपादक को देखकर अनुपपन्न पदार्थ का ज्ञान नही होता; अन्यथा वृक्षत्व को देखकर

शिंशपात्व की कल्पना भी होगी; क्योंकि वृक्षत्व के विना शिंशपात्व का होना असम्भव ही है। अत: अनुपपन्न पदार्थ को ही गमक कहना होगा। उपपन्न (उपपादक) पदार्थ गमक नहीं होता। इसलिये अर्थापत्ति अनुमानस्वरूप ही है। उसे (अर्थापत्ति को) पृथक् प्रमाण के रूप में मानना उचित नहीं है। यद्यपि जीवित व्यक्ति के गृहाभाव से उसके बहिर्भाव की कल्पना की जाती है; क्योंकि जीवित व्यक्ति का गृहाभाव उसके बहिर्भाव के विना अनुपन्न है, अत: वही बहिर्भाव का कल्पक हो जाता है, तथापि इस एकदेशी से उपपादक बहिर्भाव की अनुपपन्नता भ्रम से ज्ञात हुई है—यह जानना होगा। प्राभाकरों ने कहा भी है—

विना कल्पनयार्थेन दृष्टेनानुपपन्नताम् ।
नयता दृष्टमर्थं या सार्थापत्तिस्तु कल्पना ।।
अभावेन गृहे भावो बहिष्कल्पनया विना ।
नयताऽनुपपत्वं कल्प्यमाना (नो) बहिर्यथा ।।
गम्यस्याऽनुपपन्नत्वमिह कल्पनया विना ।
मानान्तरविरोधेन सन्देहापत्तिलक्षणम् ।। इत्यादि ।

किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से तो अनुपपन्न ही गमक होता है और उपपादक गम्य होता है। इस अभिप्राय को मन में रखकर आक्षेप कर रहे हैं—किमिदानीमुपपादकादनुपपन्ने बुद्धि: अर्थापत्ति: ?

इस पर पूर्वपक्षी धृष्टतापूर्वक (वैयात्यपूर्वक) कह रहा है—को दोष: ? अनुपपन्न अर्थ विषयक ज्ञान जो उपपादक से होता है, उसे अर्थापत्ति कहने में कौन सा दोष है?

सिद्धान्ती उपहास करते हुए कहता है कि न खलु कश्चित् दोष: अर्थात् धर्मशास्त्रीय दोष तो कोई नहीं है; किन्तु अर्थापत्ति स्थल में असौ = यह उपपादक से अनुपपन्न विषयक जो ज्ञान है (बुद्धि है) वह नहीं होता—**किं त्वसौ नैवाऽस्ति इति** । उपपादक के दर्शन से अनुपपन्न अर्थविषयक ज्ञान (बुद्धि) होता नहीं। अन्यथा अर्थात् यदि होगा, तो वृक्षत्व के देखने पर शिंशपात्व की कल्पना होने लगेगी; क्योंकि वृक्षत्व को त्यागकर शिंशपात्व होता ही नहीं । अत: कहना ही पड़ेगा कि अनुपपन्न ही गमक होता है, उपपादक नहीं। अत: उसे अनुमान ही कहना होगा, अर्थापत्ति नहीं।

अथोच्यते—नाऽविनाभावेनानुपपत्तिरित्युच्यते किन्तु संशयापत्ति:। यस्य हि जीवनं गृहसम्बन्ध्येव प्रायशोऽवगतम्, तस्य गृहाऽभावे दृष्टे जीवनं सांशयिकं भवद् बहिर्भावकल्पनया समाधीयते। ततश्च प्राग् बहिर्भावकल्पनाया जीवनस्य सन्दिग्धत्वान्न लिङ्गत्वम्। न हि सन्दिग्धं लिङ्गं भवति। जीवनरहितं च गृहाऽभावमात्रं मृतेऽपि सद्भावात् अनैकान्तिकं न बहिर्भावमनुमापयितुमलम्। अतोऽनुमानाऽसम्भवात् प्रमाणान्तरमेवेदम्। यथा चाऽनुमाने निश्चितं गमकम्, एवमर्थापत्तौ

सन्दिग्धं गमकमिति दर्शनबलादभ्युपगम्यते। संशयश्चात्र पूर्वदृष्टरूप-विसंवादात्।

उपर्युक्त मत का प्रभाकर के द्वारा उत्तर ग्रन्थकार दिला रहे हैं— **अथोच्यते इति**। यदि यह कहा जाय कि अविनाभाव को प्रदर्शित कर अनुपपत्ति को नहीं कहा जाता, किन्तु संशयापत्ति ही अनुपपत्ति कहलाती है। इस मत का उपपादन यस्य हि जीवनम् इत्यादि से कर रहे हैं। जिसका जीवन प्राय: घर से सम्बन्धित ही ज्ञात है, उसका घट में अभाव देखकर उसके जीवन का सन्देह होने लगता है। इस सन्देह (संशय) का निवारण बहिर्भाव की कल्पना करने से हो जाता है। बहिर्भाव की कल्पना करने के पूर्व जीवन के प्रति सन्देह उत्पन्न होने से वह हेतु नहीं बन सकता; क्योंकि अनुमान में हेतु निश्चित हुआ करता है। सन्दिग्ध हेतु कभी नहीं होता। जीवन रहित गृहाऽभाव मात्र मृत मनुष्य में सम्भव होता है। इसलिये वह हेतु व्यभिचारी है। वह बहिर्भाव का अनुमान नहीं करा सकता। अत: अनुमान का सम्भव नहीं होने के कारण अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण ही कहना चाहिये। निष्कर्ष यह है कि अनुमान में गमक निश्चित होता है और अर्थापत्ति में गमक सन्दिग्ध ही रहता है। ऐसा अनुभव के बल पर स्वीकार किया जाता है। यहाँ संशय का भी पूर्वरूप जो अभीष्ट है उसके विपरीत होने से उपपन्न है। इस सन्दर्भ का विशेष विवरण प्रकरणपञ्जिका में किया गया है। तथाहि—

देशेन हि विनाभावो न कदाचन दृश्यते ।
विनाभावेन सिद्धोऽपि तेन सन्देहमच्छिति ।।
तत्सन्देहव्युदासाय कल्पना या प्रवर्तते ।
सन्देहापादकादर्थापत्तिरसौ स्मृता ।।

(प्रकरणपञ्जिका, अर्थापत्तिप्रकरण, का०-२७२-२७५)

(अर्थापत्तिसमाधानम्)

तदिदमसम्बद्धम्—न हि सन्दिग्धे जीवने बहिर्भाव: शक्यते कल्पयितुम्। कथं हि जीवति वा मृत्तो वा देवदत्त: इति सन्दिहानस्तस्य बहिर्भावं कल्पयेत्? न हि भावाऽभावसंशयस्य बहिर्भावकल्पनयाऽपनोद: सम्भवति। सर्वत्र हि संशयस्य निदोनोच्छोदादुच्छेदो भवति, अन्यतर-पक्षाऽवधारणाद् वा। न च बहिर्भावकल्पनया तावन्निदानोच्छेद:। जीवनस्य प्रायेण गृहसम्बन्धित्वात् तद्विपर्ययोऽत्र संशयहेतुत्वेनोप-न्यस्त:। न चासौ बहिर्भावे कल्पिते समुच्छिद्यते। प्रत्युत विपर्यय एव दृढमवस्थाप्यते। न चाऽन्यतरपक्षावधारणमपि विद्यते—जीवन-भावाभावौ ह्यत्र सन्दिह्येते। न चानयोरन्यतरस्यापि बहिर्भावकल्पनया निर्णयो भवति, अन्यद्धि जीवनम्, अन्यश्च बहिर्देशसम्बन्ध:। न च

गृहाभावनिबन्धनाऽर्थापत्तिर्जीवननिर्णायायाऽलं भवति। न ह्येवं सम्भवति—यस्माद्देवदत्तो गृहे नास्ति तस्माजीवतीति। प्रत्युत पूर्वनिश्चितमेव जीवनं गृहाभावादेव संदिग्धं कथं तत एव निर्णीयते। न हि संशयहेतुरेव निर्णयहेतुर्भवति।

उक्त प्राभाकर मत का निराकरण नैयायिक करते हैं। नैयायिकों का कहना है कि प्राभाकरों का उक्त कथन अनुचित है; क्योंकि देवदत्त जीवित है या नहीं?—ऐसा पूछने पर यदि जीवन सन्दिग्ध है तो बहिर्भाव की कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि देवदत्त जीवित है या मर गया है—यह सन्देह करनेवाला व्यक्ति बहिर्भाव की कल्पना कैसे कर सकेगा? अर्थात् कभी नहीं कर सकता; क्योंकि देवदत्त का होना या न होना—इस संशय का निवारण वहिर्भाव की कल्पना करने मात्र से नहीं हो पायेगा।

संशय का निराकरण दो प्रकार से किया जाता है। संशयोत्पत्ति के कारण का उच्छेद करने पर संशय का भी उच्छेद हो जाता है अथवा एक पक्ष का (अन्यतर पक्ष का) निर्णय हो जाने पर संशय का उच्छेद (नाश) हो जाता है। इन दोनों पक्षों में से प्रथम पक्ष उचित नहीं है; क्योंकि बहिर्भाव की कल्पना करने मात्र से देवदत्त जीवित है या मृत है—इस संशयोत्पत्ति के कारण का उच्छेद नहीं होता है; क्योंकि जीवन प्रायश: घर से सम्बन्धित होता है। अत: असका विपर्यय अर्थात् गृहाऽभाव (घर में न होना) संशयोत्पत्ति का कारण कहा गया है। उक्त संशय की निवृत्ति बहिर्भाव की कल्पना करने से नहीं होती। प्रत्युत विपर्यय गृहाऽसत्व (गृहाऽभाव) ही सुदृढ़ होता है। अन्यतर पक्ष का निश्चय (निर्धारण) भी नहीं होता; क्योंकि जीवन का होना अथवा नहीं होना सन्दिग्ध है। इन दोनों में से किसी एक का निर्णय बहिर्भाव की कल्पना से नहीं होता; क्योंकि जीवन अन्य पदार्थ है और बहिर्देशसम्बन्ध अन्य पदार्थ है।

एवञ्च गृहाऽभावहेतुक अर्थापत्ति जीवन का निश्चय नहीं कर सकती। देवदत्त घर में नहीं है—इतना कहने मात्र से वह जीवित है, यह सिद्ध (ज्ञात) नहीं हो पाता है अपितु पूर्वकाल में निश्चित जीवन, गृहाभाव से ही संदिग्ध हुआ है, अत: वही उसका निश्चायक हेतु कैसे हो सकेगा? क्योंकि जो संशयोत्पत्ति का हेतु (कारण) बना है, वही जीवन-निर्णय का हेतु नहीं हो सकता। इसलिये जीवन सन्दिग्ध हो रहा है। उसे किसी अन्य हेतु के द्वारा निश्चित करने के पश्चात् बाह्य सम्बन्ध की कल्पना करनी चाहिये; क्योंकि देवदत्त जीवित हैं और घर में नहीं हैं, इस कारण वह बाहर (बहिर्भाव) है—यह निश्चित होता है। जीवन का सन्देह रहने पर बहिर्भाव की कल्पना नहीं की जा सकती।

तस्माज्जीवनं सन्दिग्धम्, तत्तावदन्यतो निश्चित्य पश्चाद् बहि:सम्बन्ध: कल्पयितव्य:, यस्माद् देवदत्तो जीवति, गृहे च नास्ति, तस्मान्नूनं बहिरवस्थित इति। न तु सन्दिह्यमाने जीवने तत्कल्पनं सम्भवति।

यस्मादविद्यमानो गृहे जीवति वा न वा, तस्माद् बहि:स्थितः इत्यसम्बद्धमेव स्यात्। तस्माद् बहिर्भावनियतं गृहाऽभावसहितं जीवनं निश्चित्य बहिर्भावः कल्प्यत इत्युमानमेवेदम्; न प्रमाणान्तरमिति।

उक्त रीति से प्रभाकरमत का निरसन करके नैयायिक स्वीय पूर्वपक्ष का उपसंहार कर रहा है—**तस्मात् जीवनं सन्दिग्धम् इति**। इसलिये जीवन पदार्थ बहिर्भाव का व्याप्य है और वह गृहाभाव से विशिष्ट है। इस प्रकार के जीवन को निश्चित करके बहिर्भाव की कल्पना की जाती है। यहाँ पर अनुमान प्रयोग इस प्रकार किया जायेगा—**देवदत्तो बहिः सद्भाववान् गृह्यधिकरणकाभावप्रतियोगिकविशिष्टजीवित्वात्** । अर्थात् देवदत्त का अस्तित्व बाहर है, गृहाभाव विशिष्ट जीवन होने से। इस रीति से इसे अनुमान ही कहना चाहिये, प्रमाणान्तर नहीं है। अभिप्राय यह है कि अर्थापत्ति नामक कोई अन्य प्रमाण (प्रमाणान्तर) नहीं है। एवञ्च मीमांसकसम्मत अर्थापत्ति का अन्तर्भाव हमारे (नैयायिकों के) अनुमान प्रमाण में ही हो रहा है। इसलिये अर्थापत्ति को प्रमाणान्तर मानने की आवश्यकता नही है।

(सिद्धान्तेन तर्कमतनिराकरणम्)

अत्राऽभिधीयते—न तावद् गृहाऽभावमात्रं लिङ्गम्, मृतेऽपि सम्भवात्। न जीवनमात्रम्, गृहेऽपि सद्भावसम्भवात्। अतो जीवनसंसृष्टो गृहाऽभावो लिङ्गमिति वक्तव्यम्। प्रथमं च लिङ्गमवगम्य, पश्चाल्लिङ्ग्यनुमानेन भवितव्यम्, न तु लिङ्गावगमसमय एव लिङ्ग्यवगमः। अत्र च न बहिर्भावाऽवगममन्तेरण गृहाऽभावो जीवनं च संसृष्टं प्रत्येतुं शक्यते विरोधात्। जीवता हि अवश्यं गृहे वा बहिर्वा स्थातव्यमित्यसन्दिग्धम्। अतश्च बहिर्भावमनन्तर्भाव्यजीवनगृहाऽभावौ समुच्चित्य प्रतिपद्यमानस्येदृशीप्रतिपत्तिरापद्यते—देवदत्तो गृहे नाऽवस्थितो गृहे वा बहिर्वाऽवस्थित इति। न चैवं सम्भवति, भावाऽभावयोरेकत्र देशे समुच्चेतुमशक्यत्वात्। अतोऽवश्यं देशभेदेनैव देवदत्तस्य भावाऽभावौ समुच्चेतव्यौ। तेन भावाऽभावसंसर्गबुद्ध्यैव बहिर्भावस्य बुद्धत्वान्न पश्चात् किञ्चित् प्रमेयमस्ति।

अनुमानप्रमाण में अर्थापत्तिप्रमाण का अन्तर्भाव करनेवाले नैयायिकों का निराकरण भाट्टमीमांसक कर रहे हैं—**अत्राऽभिधीयते इति**। पूर्वपक्षी नैयायिकों का कहना है कि बहिर्भाव का ज्ञान अनुमान से ही हो जाता है, उसके लिये किसी अर्थापत्ति आदि प्रमाणान्तर को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

समाधान—उपर्युक्त कथन पर भाट्टमीमांसकों का कहना है कि बहिर्भाव का अनुमान करने में गृहाऽभाव मात्र को हेतु नहीं कह सकते। यहाँ पर गृहाऽभाव से

गृहाऽधिकरण अभावप्रतियोगित्व समझना चाहिये। यह मृत्त पुरुष में सम्भव हो सकता है। यदि जीवन मात्र को भी ही हेतु कहे तो गृह में भी सम्भव होने के कारण उसे भी नहीं कह सकते। इसलिये जीवन विशिष्ट गृहाऽभाव को ही बहिर्भाव का अनुमापक हेतु कहना होगा। हेतु का ज्ञान पहले से ही होना आवश्यक है, तभी साध्य का ज्ञान बाद में अनुमान के द्वारा हो सकता है। हेतु ज्ञान के समकालीन साध्य का भी ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। प्रकृत में बहिर्भाव के ज्ञान के विना गृहाऽभाव और जीवन—दोनों को विशिष्ट नहीं कह सकते। अर्थात् गृहाऽभाव विशिष्टजीवन और जीवन विशिष्ट गृहाऽभाव को नहीं जान सकते; क्योंकि विरोध है। तथाहि–जीवितपुरुष अवश्य ही घर में होगा अथवा बाहर होगा। अत: बहिर्भाव का जबतक ज्ञान नहीं होगा तबतक जीवन तथा गृहाभाव—दोनों को जो एकसाथ समझ रहा है, उसे इस प्रकार ज्ञान होता है—देवदत्त घर में नहीं है, घर में है या बाहर हैं इत्याकारक ज्ञान नहीं होता। यदि हो तो विरोध प्रत्यक्ष है; क्योंकि भाव और अभाव—दोनों का एक ही स्थान पर समुच्चय नहीं हुआ करता। इसलिये अवश्य ही देशभेदेन ही देवदत्त के भाव और अभाव का समुच्चय कहना चाहिये। अत: भावाऽभाव की संसर्गबुद्धि से ही बहिर्भाव ज्ञात होने के कारण अनुमान के लिये कोई प्रमेय ही नही शेष रहता।

आह च— विद्यमानत्वसंसृष्टगेहाऽभावधियाऽनया ।
गेहादुत्कालिता सत्ता बहिरेवाऽवतिष्ठते ।। इति ।

ननु प्रमाणान्तरत्वेऽपि जीवनमात्रस्य गृहाऽभावमात्रस्य वाऽवगमकत्वाऽभावात् संसृष्टमुभयं गमकमित्यङ्गीकर्तव्यम् । संसृष्टधियैव च बहिर्भावस्य बुद्धत्वान्न पश्चात् किञ्चित् प्रमेयमवशिष्यत इति तुल्योऽयं दोषः।

उपर्युक्त अभिप्राय को वार्त्तिककार ने भी प्रदर्शित किया है। विद्यमानत्वविशिष्ट गृहाभाव के ज्ञान से गृह से निर्गत देवदत्त के बहिर्भाव का ज्ञान अर्थात् हो जाता है। इस कारण उस ज्ञान को अनुमान शब्द से नहीं कहा जा सकता। श्लोकवार्तिक में 'गेहादुत्कालितश्चैत्रो विद्यते बहिरेव हि' यह पाठ उपलब्ध होता है, किन्तु ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र ने प्रकृत संदर्भ के अनुसार समानार्थक होने से दूसरे श्लोक के उत्तरार्ध को यहाँ जोड़ दिया हैं। जैसे–

सिद्धे सद्भावविज्ञाने गेह्याऽभावधियाऽत्र तु ।
गेहादुत्कानिता सत्ता बहिरेवाऽवतिष्ठते ।।

(श्लोकवार्त्तिक, अर्थाप प्र० का० ४२)

शङ्का—नैयायिक कहता है कि अर्थापत्ति को पृथक् रूप से स्वतन्त्र प्रमाण मान भी लें, तो भी केवल जीवन अथवा केवल गृहाभाव को गमक नहीं कह सकते, किन्तु दोनों विशिष्ट होकर ही गमक हो सकते हैं, इसे स्वीकार करना ही होगा; क्योंकि विशिष्ट बुद्धि से ही यदि बहिर्भाव का ज्ञान हो जाता है, तब तो कोई भी प्रमेय शेष नहीं रह जाता।

यह दोष हम दोनों के लिये समान (तुल्य) ही है। ऐसी स्थिति में अर्थापत्ति को प्रमाणान्तर कहने की क्या अवश्यकता है?

उच्यते—इयमेव संसृष्टधीरर्थापत्तिरित्यवगम्य शाम्यतु भवान्। किं पुनस्तस्याः कारणम्? द्वयोर्गृहाभावजीवनयोः परस्परप्रतिघात इति ब्रूमः। यथा खल्वेकेन 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इत्युक्ते परेण च 'न सन्ति' इत्युक्ते बलाबलविशेषमजानानः श्रोता मिथः प्रतिहतमुभयं बुध्यते। न चान्यतरदपि त्यक्तुं गृहीतुं वा शक्नोति, तथापि तु न सत्त्वासत्त्वे समुच्चिनोति विरोधात्। एवमिहापि 'गृहे वा बहिर्वाऽवस्थितो देवदत्तः' इति केनचित्प्रमाणेन प्रतीतम्। अन्येन च 'गृहे नास्ति' इति तदुभयं समुच्चितं परस्परप्रतिघाति प्रतीयते, सोऽयं प्रतिघातो न फल-सद्भावाऽसद्भाववदसमाधेयः किं तु बहिर्भावकल्पनया समाधातुं शक्यत इत्येतावान् विशेषः। तेन प्रमाणसिद्धयोर्द्वयोरर्थयोः परस्परं प्रतिघातोऽ-र्थान्तरकल्पनया समाधेयत्वेनालोच्यमानोऽर्थापत्तेः कारणम्। तत्समा-धानाय चार्थान्तरकल्पनयाऽर्थापत्तिः प्रमाणान्तरमनुमानात्। यश्चायं प्रतीतस्य प्रमाणान्तरेण प्रतिघातः स एवाऽर्थानुपपत्तिरित्युच्यते।

(अर्थापत्तावनुमानस्यान्तर्भावशङ्का)

भवत्वर्थापत्तिः प्रमाणम्, अनुमानं त्वर्थापत्तावेवाऽन्तर्भवति। तथाहि— यत्र यत्र धूमस्तत्रतत्राग्निरित्यवगतं पर्वतस्य च धूमवत्ताऽवगता। यदि पर्वतेऽग्निर्न स्यात्तदा धूमवत्ता वा मिथ्या स्यात् सर्वधूमवतां वाऽग्निमत्त्वं मिथ्या स्यात्, कथं तदुभयमप्यमिथ्या स्यादित्यग्निमत्त्वं कल्प्यत इत्यर्था-पत्तिरेषा।

स्यादेवं यदि सर्वधूमवतामग्निमत्त्वमनुमानादन्येनावगतं स्यात्? न त्वेवमस्ति— दृष्टान्तधर्मिष्वेव हि धूमस्याग्निनियमोऽवगतो न सर्वत्र। अनुमानात्तु सर्वधूमवता-मग्निमत्ताऽवगतिरित्युक्तम्।

समाधान—उच्यते—इयमेव संसृष्टधीरर्थापत्तिरित्यवगम्यशाम्यतु भवान् अर्थात् इस संसृष्टबुद्धि (विशिष्टबुद्धि) को ही अर्थापत्ति समझकर आप शान्त हो जायँ।

प्रश्न—इस विशिष्ट बुद्धि (संसृष्टबुद्धि) के होने में कारण क्या है?

उत्तर—गृहाऽभाव और जीवन—दोनों का प्रतिघात (परस्पर विरोध) ही कारण है।

इसी विरोध को दृष्टान्त प्रदर्शित कर बता रहे हैं—**यथा खल्वेकेन इति**। जैसे किसी आदमी ने कहा कि नदी के तीर (तट) पर फल हैं—नद्यास्तीरे फलानि सन्ति। तब परेण च न सन्ति- दूसरे आदमी ने कहा कि नदी के तीर (तट = किनारे) ~~पर फल~~

नहीं है; किन्तु दोनों में प्रबल-दुर्बलभाव को न समझ पाने वाला व्यक्ति दोनों के कथनों को परस्पर विरुद्ध समझता है। उसी कारण उसके सामने किसे ग्रहण करें और किसे नहीं ग्रहण करे, यह समस्या उपस्थित होती है तथा फलों की विद्यमानता और अविद्यमानता का समुच्चय भी नहीं कर सकता। इसी तरह अर्थापत्ति के स्थल में भी देवदत्त घर में है अथवा बाहर है—यह किसी प्रमाण से उसने जान लिया और अन्य प्रमाण से घर में नहीं है—यह भी उसने जान लिया।

इन दोनों को एक साथ सुनने पर दोनों कथन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं। यह विरोध फल के होने और नहीं होने के समान असमाधेय प्रतीत होता है, किन्तु बहिर्भाव की कल्पना करने पर समाधेय हो सकता है। दोनों में यही अन्तर है। एवञ्च दो पदार्थों का प्रामाणिक विरोध अर्थान्तर की कल्पना करने पर समाहित हो जाता है। इसलिये वही अर्थापत्ति का कारण है। अतः विरोध के समाधानार्थ जो अर्थान्तर की कल्पना की जाती है, उसी को अर्थापत्ति कहते हैं। यह अर्थापत्ति नैयायिकों के अनुमान प्रमाण से नितान्त पृथक् स्वतन्त्र प्रमाण है। यश्चाऽयं प्रतीतस्य प्रमाणान्तरेणप्रतिघातः स एव अर्थानुपपत्ति-रित्युच्यते अर्थात् गृहाऽभाव (घर में नहीं होना) प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात है और शास्त्र प्रमाण से उसके जीवित होने का पूर्णतया निश्चय है—इन दोनों प्रमाणों के उपस्थित होने के कारण ही विरोध है, उसी को अर्थानुपपत्ति भी कहते हैं।

शङ्का—अर्थापत्ति को प्रमाण मानने पर उसी में अनुमान का अन्तर्भाव किया जा सकता है। इसी अभिप्राय को 'तथाहि' ग्रन्थ से ग्रन्थकार बता रहे हैं—**यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः इति**। अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है—यह अवगत हुआ और पर्वत की धूमवत्ता भी अवगत हो गई। यदि पर्वत पर अग्नि नहीं होता तो पर्वत की धूमवत्ता मिथ्या कही जायेगी। अर्थात् अनुपपन्न कह दी जायेगी। अर्थात् समस्त धूमाधिकरणों का अग्निमत्व (वह्निमत्व) भी मिथ्या कहलायेगा।

तब इन दोनों की उपपत्ति कैसे हो सकेगी? उसकी उपपत्ति के लिये ही पर्वत पर अग्निमत्व की कल्पना करनी पड़ती है, इसी को अर्थापत्ति कहते हैं। अभिप्राय यह है कि अर्थापत्ति को ही प्रमाण मानें और अनुमान को ही अर्थापत्ति में अन्तर्गत मान ले। एक से ही निर्वाह हो जाता है तो दोनों को पृथक्-पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। पृथक् प्रमाण मानने में व्यर्थ गौरव होगा।

समाधान—स्यादेवम् इति। उपर्युक्त कथन तब सम्भव हो सकता था, जब समस्त धूमाधिकरणों में अग्निमत्व का होना अनुमान के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से ज्ञात हुआ होता; किन्तु—न तदस्ति स्थिति ऐसी है नहीं; क्योंकि—**दृष्टान्तधर्मिष्वेव हीति**। दृष्टान्तधर्मियों = सपक्षों में ही अर्थात् निश्चित साध्याधिकरणों में धूम की अग्नि के साथ नियतव्याप्ति दृष्टिगोचर (देखी गई) है, सर्वत्र नहीं। सभी धूमाधिकरणों में अग्निमत्त्व की प्रतीति अनुमान से ही हुई है।

न च दृष्टान्तधर्मिष्वेवाऽवगतस्याऽग्निनियमस्य सर्वधूमवदग्निमत्तां विना कश्चिद्विरोधः, येनाऽर्थापत्तिः स्यात्। तस्मादसङ्कीर्णविषयत्वादनुमानमपि प्रमाणान्तरम्, अर्थापत्तिरपि।

शङ्का—न च दृष्टान्तेति। दृष्टान्तधर्मियों में अर्थात् सपक्षों में ही ज्ञात हुए अग्निनियम का यच्च-यावत् धूमाधिकरणों में अग्निमत्ता के विना कोई विरोध नहीं है। यदि विरोध होता तो अर्थापत्ति को प्रमाण के रूप में कहा जा सकता है।

समाधान—किन्तु विरोध है नहीं; क्योंकि अर्थापत्ति और अनुमान दोनों के अपने-अपने विषय भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये अनुमान को भी पृथक् प्रमाण कहना ही चाहिये और अर्थापत्ति को भी स्वस्तन्त्र प्रमाण मानना चाहिये। किसी का किसी में अन्तर्भाव नहीं है।

सिद्धे च द्वयेः प्रामाण्ये येन नाम सर्वधूमवतामग्निमत्त्वमनुमानेनाऽवगतं तस्य पर्वतादिषु धूमदर्शनाद् यदग्निविज्ञानं तद् द्वेधाऽपि सम्भवति—दृष्टान्तपरिदृष्टनियमस्मरणाद्वाऽनुमानम्। प्रतिघातालोचनया वाऽर्थापत्तिः। तस्मादर्थापत्तिः प्रमाणान्तरम्।

सिद्धे चेति। एवञ्च दोनों का (अर्थापत्ति और अनुमान का) प्रामाण्य सिद्ध होने पर जिस देवदत्त आदि व्यक्ति ने यच्च-यावत् (सभी) धूमाधिकरणों में अनुमान प्रमाण के द्वारा अग्निमत्व को ज्ञात कर लिया है, उस देवदत्त व्यक्ति को पर्वत आदि स्थानों पर धूमदर्शन से जो अग्नि ज्ञान होता है, वह दो प्रकार से भी हो सकता हैं। उनमें से एक प्रकार तो यह है कि महानसा दिदृष्टान्त में पूर्वदृष्ट व्याप्ति का स्मरण होने पर अनुमान होता है तथा दूसरा प्रकार यह है कि दो प्रमाणों के प्रतिघात = विरोध के पर्यालोचन (देखने) से अर्थान्तर की जो कल्पना होती है वही अर्थापत्ति कही जाती है। इस कारण अर्थापत्ति दूसरा प्रमाण है। अभिप्राय यह है कि अर्थापत्ति और अनुमान ये दोनों ही जब प्रमाण हैं, तब पर्वत पर अग्निमत्ता का ज्ञान अनुमान से भी सम्भव हो सकता है तथा अर्थापत्ति से भी सम्भव हो सकता है। अनुमान से अग्नि के ज्ञान का प्रकार इस तरह होगा—दृष्टान्तपरिदृष्टनियमस्मरणाद्वाऽनुमानम्। व्याप्तिस्मरण पूर्वक जो अग्नि ज्ञान होता है, उसे आनुमानिक कहते हैं। नियम का अर्थ व्याप्ति है।

अर्थापत्ति से अग्नि के ज्ञान का प्रकार इस तरह होगा—प्रतिघातालोचनया वा अर्थापत्तिः। यदि पर्वते अग्निर्न स्यात् तदा धूमवत्ता वा मिथ्या स्यात् सर्वधूमवतामग्निमत्ता वा मिथ्या स्यादिति प्रतिघाता-लोचनया यद् अग्निज्ञानं तद् अर्थापत्तिहेतुकमित्यर्थः। यद्यपि अर्थापत्ति और अनुमान—दोनों का ही फल एक अग्निज्ञान कराना ही है, तथापि कारण भिन्न-भिन्न होने से प्रमाणभेद तो है ही। व्याप्तिस्मरण होने पर अर्थापत्ति को नहीं कहा जाता और प्रतिघातालोचन होने पर अनुमान की सम्भावना की जाती है। अतः अर्थापत्ति को अनुमान से अतिरिक्त (पृथक्) प्रमाण मानना ही उचित है। वार्त्तिकार ने भी कहा है—

प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नाऽन्यथा भवेत् ।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं साऽर्थापत्तिरुदाहृता ।।
दृष्टः पञ्चभिरप्यस्माद्भेदेनोक्ता श्रुतोद्भवा ।
पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादि वचः श्रुतौ ।
रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ।। इत्यादि ।

याऽपि क्वचिदवस्थितस्य देवदत्तस्याऽन्यत्र सर्वत्राऽभावप्रतिपत्तिः, साऽप्यर्थापत्तिः। तथाहि—मूर्तस्यार्थस्य युगपत् कात्स्र्न्येनाऽनेकदेशसम्बन्धो न घटत इति स्वशरीरेऽवगतम्। स्वशरीरस्य हि क्वचिदवस्थितस्य ततोऽन्यत्र सर्वत्राऽभावो दृश्याऽदर्शनेनाऽवगतः (प्रत्यक्षयोग्यस्य शरीरस्य अनुपलम्भेन अवधूत इत्यर्थः)। अन्तोऽन्यस्याऽपि देवदत्तादेर्युगपदनेकदेशसम्बन्धो नास्तीत्यनुमीयते । ततो देवदत्तं क्वचित् प्रत्यक्षेणाऽवगच्छन् युगपदनेकदेशाऽसम्बन्धं चाऽनुमानेनाऽवधारयन्नुभयोपपत्तये देशान्तरेषु सर्वेष्वभावं कल्पयति।

अर्थापत्ति का दूसरा उदाहरण दे रहे हैं—**याऽपि क्वचिदिति।** यहाँ पर अर्थापत्ति शब्द प्रमितिपरक समझना चाहिये; क्योंकि यहाँ पर अभावप्रतिपत्ति होना यही फल है। कल्पना-प्रकार यह है—तथाहि इति। मूर्तस्याऽर्थस्य युगपत् कात्स्र्न्येनेति । किसी भी मूर्त पदार्थ घट-पटादि का युगपत् = एक ही समय में अनेक देशों (स्थानों) के साथ कात्स्र्न्येन सम्पूर्ण तथा सम्बन्ध नहीं होता। यह अनुभव अपने शरीर में भी होता है, अपना शरीर भी एक जगह रहने पर उससे भिन्न अन्य सभी स्थानों में उसका अभाव दृश्यादर्शन से ज्ञात है। अर्थात् अपना शरीर दर्शन के योग्य रहने पर भी अनेक स्थानों में उसकी युगपत् (एक ही समय में) उपलब्धि नहीं हुआ करती। यदि अपना शरीर अनेक (भिन्न-भिन्न) स्थानों में युगपत् होता, तो वह युगपत् अनेक स्थानों में वह भी उपलब्ध होता; किन्तु वह उपलब्ध नहीं होता है।

अतः अन्यस्यापीति। अतः अन्य देवदत्त आदि का भी एक काल में अनेक देशों (स्थानों) के साथ युगपत् सम्बन्ध नहीं है—यह अनुमान किया जाता है। **ततो देवदत्तमिति**। इसलिये देवदत्त को कहीं प्रत्यक्ष से जानते हुए भी एक ही समय में अनेक स्थानों (देशों) से असम्बन्ध का निश्चय अनुमान से किया जाता है। दोनों की सिद्धि के लिये अर्थात् एक समय में एकत्र स्थिति तथा अनेक देशों के साथ असम्बन्ध की निष्पत्ति के लिये अन्य सभी स्थानों में उसके अभाव की कल्पना कराता है। यहाँ पर अर्थापत्ति के स्वरूप का निर्वाहक अनुमान होता है।

मूलग्रन्थ शास्त्रदीपिका में स्थित उभयोपपत्तये = एकत्रस्थितेः युगपत् अनेकदेशाऽसम्बन्धस्य च उपपत्तये इत्यर्थः। यदि देवदत्तस्य देशान्तरेषु सर्वेष्वभावो न स्यात्, तदा

तेषु असम्बन्धो न स्यात्, देशविशेषे च स्थितिरपि नोपपद्येतेति तात्पर्यम्। तस्माद् देशान्तरेषु सर्वेषु अभावं कल्पयति।

कहीं अन्यत्र अवस्थित = रहने वाले देवदत्त का अन्यत्र स्थानों में उसके अभाव की जो प्रतीति होती है, उसे भी अर्थापत्ति शब्द से कहा जाता है।

नन्वनुमानमेवेदं सम्भवति—देवदत्तोऽधुना सर्वत्र नास्ति गृहेऽवस्थितत्वाद् मद्वदिति। सत्यम्, देवदत्तेन सहैकदेशावस्थितस्य सम्भवति। यस्तु क्वचिद् गृहेऽवस्थितस्तद-नन्तरांगृहमप्यतीत्य तृतीये गृहे देवदत्तं न केनचित् प्रमाणेनाऽवगतवान्, स तद्गृहाऽतिरिक्ते मध्यगृहे देशान्तरेषु च सर्वेष्वभावं देवदत्तस्य केन लिङ्गेन प्रतीयात्?

शङ्का—देशान्तर में देवदत्त के अभाव का ज्ञान (प्रतिपत्ति) अनुमान प्रमाण से भी हो सकता है। यह अर्थापत्ति का विषय नहीं है। यह तो अनुमान का ही विषय है। अनुमान प्रयोग का स्वरूप इस प्रकार होगा—देवदत्तः अधुना सर्वत्र नास्ति, गृहे अवस्थितत्वात् मद्वत् इति अर्थात् देवदत्त इस समय सर्वत्र सभी स्थानों में नहीं है, घर में स्थित होने से मेरी तरह—यही अनुमान का स्वरूप है।

समाधान—सत्यम् इति। आप सच कह रहे हैं। **देवदत्तेन सहेति**। देवदत्त के साथ एकदेश में स्थित पदार्थ का अनुमान किया जा सकता है। किसी अन्य व्यक्ति ने देवदत्त को प्रथमतः अपने घर में स्थित (रहते हुए) पाया, उसके पश्चात् एक घर को छोड़कर अगले घर में किसी प्रमाणान्तर से जाना तब जानने वाला व्यक्ति उस घर के अतिरिक्त मध्य (बीच) के घर तथा अन्यान्य सभी घरों में अथवा स्थानों में देवदत्त के अभाव को कैसे (किस हेतु से) जानेगा?

देशान्तरों (अन्यान्य स्थानों) में देवदत्त के अभाव का (न होने का) ज्ञान अनुमान से तभी हो पायेगा, जब यज्ञदत्त का भी वहाँ रहना सम्भव होगा, यज्ञदत्त के अन्यत्र स्थित रहने पर नहीं हो पायेगा। जो व्यक्ति (यज्ञदत्त) देवदत्त के साथ स्थित रहता है उसके प्रत्यक्ष होने में देवदत्तवृत्ति तद्गृहाऽवस्थितत्व– रूप हेतु तो प्रत्यक्ष ही है, उसके प्रत्यक्ष रहने से, अन्यान्य देशों (स्थानों) में अभावविषयक अनुमान का होना भी सम्भव है और जो वहाँ स्थित नहीं है, उसका हेतु ही प्रत्यक्ष नहीं है। अतः देशान्तरों में (अन्य स्थानों में) उसके अभाव का अनुमान कैसे हो पायेगा? इसी अभिप्राय को 'यस्तु क्वचिद्गृहे' से लेकर 'केन लिङ्गेन प्रतीयात्' तक के ग्रन्थ से प्रकट किया गया है। तद् गृहाऽतिरिक्ते = यत्र देवदतः स्थितः तद्गृहाऽतिरिक्ते। देशान्तरेषु च सर्वेष्वभावं देवदत्तस्य = देवदत्तस्य अभावम्—यह समझना चाहिये। केन लिङ्गेन प्रतीयात् = तस्य अभावज्ञानेच्छोः देवदत्तीयं तद्गृहावस्थितत्वं लिङ्गं, न प्रत्यक्षं, येन अनुमानं स्यात् इति वाक्यशेषः।

अथ क्वचिद् देवदत्तं पश्यन् तद्देशव्यतिरिक्ते च प्रत्यासन्ने देशे

तदभावमवगच्छन् अन्येषामपि सर्वदेशानां प्रत्यासन्नदेशवत् तद्देश-व्यतिरिक्तत्वात् तच्छून्यतामनुमिमीते।

शङ्का— देवदत्त के अभाव का अनुमान करने में हेतु तद्गृहावस्थिततत्व ही नहीं है, किन्तु तद्देश-व्यतिरिक्तत्व भी हेतु है। तद्देशव्यतिरिक्तत्व की देवदत्त के स्थित्यभाव के साथ जो व्याप्ति है, उसका ग्रहण = ज्ञान तद्देशव्यतिरिक्त देश में हो रहा है। तद्देश-व्यतिरिक्त देश का अर्थ है देवदत्ताधिष्ठित देश से भिन्न तथा स्वप्रत्यासन्न (अपने समीप) प्रत्यक्ष होने वाले देश में व्याप्ति का ग्रहण (ज्ञान) हुआ है। तथाहि—स्वप्रत्यासन्नदेश तो प्रत्यक्ष ही है, उस देश में देवदत्ताधिष्ठित देशव्यतिरिक्तत्व भी है ही और देवदत्त की अनुपलब्धि अर्थात् देवदत्त की उपस्थिति का अभाव भी है। इसलिये क्वचित् = देश-विशेष में देवदत्त को पश्यन् = किसी प्रमाण के द्वारा जान रहा है। अत: प्रत्यासन्न (समीपवर्ती) देश की तरह तद् व्यतिरिक्त अन्य देशों की तद्देशव्यतिरिक्त हेतुता होगा— तच्छून्यताम् = देवत्तशून्यता का अनुमान हो जाता है। इसलिये यह अनुमान ही है, अर्था-पत्ति नहीं है। अनुमान का आकार विमतं (विवादाऽस्पदीभूतं) देशान्तरं देवदत्तशून्यं देवदत्ताधिष्ठितसमीपदेशव्यतिरिक्तत्वात्, देवदत्ताऽधिष्ठितप्रत्यासन्नदेशवत् ।

उपर्युक्त अनुमान का आकार इस प्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता है— देवदत्ता-धिष्ठितदेशव्यतिरिक्ता: सर्वे देशा: देवदत्तशून्या: तद्देशव्यतिरिक्तत्वात्, प्रत्यासन्नदेशवत्।

अर्थात् विप्रतिपन्न देशान्तर देवदत्तशून्य है, देवदत्ताऽधिष्ठित देश से भिन्न होने के कारण देवदत्ताधिष्ठित प्रत्यासन्न देश के समान।

तत्राऽपि—

विरुद्धाऽव्यभिचारित्वं तद्वदेव हि गम्यते ।
समीपदेशभिन्नत्वात् चैत्राऽधिष्ठितदेशवत् ।।

(श्लो० वा० अर्था प० परि० कारि०-४५)

इति वार्त्तिक एव दूषणमुक्तम्। तस्मादर्थापत्तिरेवेयम्। एतेन बीजादि-ष्वङ्कुरजननशक्तिकल्पना व्याख्याता।

यहाँ पर वार्तिकोक्त दूषण का अतिदेश कर रहे हैं—**तत्रापीति**। अत्राऽपि इत्यर्थ: । **विरुद्धाऽव्यभिचारित्वमिति**। देशान्तराणि देवदत्तयुक्तानि न वा—यह सन्देह होने से तद्देशव्यतिरिक्तत्व अर्थात् तदधिष्ठितदेशव्यतिरिक्तत्वरूप हेतु सन्दिग्ध है अत: हेतु दूषित है।

कहकर सत्प्रतिपक्ष दोष बतलाया है। अर्थात् देशान्तर तद्वदेव = चैत्रयुक्तमेव, प्रत्यासन्नदेशव्यतिरिक्तत्वाद्, देवदत्ताऽधिष्ठितदेशवत्—इस सत्प्रतिपक्षदोष से पूर्वानुमान का प्रतिघात होता है, उसी कारण से देशान्तर का देवदत्तयुक्तत्व ही सिद्ध हो जायेगा, तस्मात् अर्थापत्तिरेवेयम्- अर्थापत्ति का सत्प्रतिपक्ष दोष से प्रतिबन्ध नहीं हो रहा है,

इसलिये दोष नहीं है। एतेन बीजादिषु अङ्कुर-जननशक्ति कल्पना व्याख्याता अर्थात् बीजादिकों मे जो अङ्कुरजननशक्ति है, वह भी अर्थापत्ति से ही कल्पनीय है। वार्त्तिककार ने कहा भी है—

तेनार्थापत्तिपूर्वत्वमत्र यत्र च कारणे।
कार्याऽदर्शनतः शक्तेरस्तित्वं सम्प्रतीयते ॥

अर्थात् यदि कारण में कारणस्वरूपापेक्षया शक्ति को पृथक् नहीं माना जाय तो सर्वदैव कार्य होता ही रहेगा, किन्तु ऐसा होता नहीं है। तस्मात् कार्य का अदर्शन होने से कारण में शक्ति की कल्पना की जाती है। एवञ्च शक्ति के नष्ट होने पर कार्य के अदर्शन की उपपत्ति संगत हो जाती है।

(शक्तेः पदार्थान्तरत्वोपपादनम्)

किं पुनः शक्तिकल्पनां विना नोपपद्यते? बीजादिषु सत्स्वङ्कुराद्युत्पत्तिदर्शनात्, असत्सु चाऽदर्शनाद् बीजादीनामङ्कुरादिकारणत्वमवगम्यते। सत्स्वपि बीजेषु मूषिकाघ्रातेष्वङ्कुराऽनुत्पत्तेरकारणत्वं प्रतिभासते। सोऽयं कारणत्वाऽकारणत्वयोर्विरोधः शक्तिकल्पनया समाधीयते। नूनमस्त्यतीन्द्रियमपि रूपं यद्भावात् कादाचिदङ्कुरोत्पत्तिः यस्य च मूषिकाघ्राणेन नाशात् कदाचिदनुत्पत्तिरिति कल्प्यते। घ्राणाऽभावोऽप्यङ्कुरस्य कारणं, घ्राणे च सति तदभावादेवाऽनुत्पत्त्युपपत्तेरलं शक्तिकल्पनयेति चेत्? न। घ्राणक्रियायाः क्षणिकत्वात् तदुत्तरकालं तदभावे सत्यप्यङ्कुराऽनुत्पत्तेः।

शङ्का—किसी पदार्थ की अनुपपत्ति होना ही अर्थापत्ति के मानने में कारण रहता है, अतः शक्ति कल्पना के विना किस पदार्थ की अनुपपत्ति (असम्भव) होती है? येन बीजादौ शक्तिः कल्प्यते जिसके लिये बीज में शक्ति की कल्पना की जाती है?

समाधान—बीजादिषु सत्स्वङ्कुराद्युत्पत्तिदर्शनादिति। अर्थात् बीज से अंकुर की उत्पत्ति होती है और बीज का अभाव हो तो अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। इस अन्वय-व्यतिरेक के अनुसार अंकुर के उत्पन्न होने में बीज को ही मुख्य कारण माना जाता है।

शङ्का—कभी-कभी बीज के रहने पर भी मूषिक = चूहे के आघ्राण = सूँघने से अंकुरोत्पत्ति नहीं हुआ करती। इसलिये अंकुरोत्पत्ति में बीज को कारण कहना उचित नहीं है।

समाधान—कारणाऽकारणत्व के परस्पर विरोध का परिहार शक्ति कल्पना करने से हो जाता है। अतः मानना होगा कि कोई ऐसी अतीन्द्रिय वस्तु (पदार्थ) है, जिसके रहने पर अङ्कुरोत्पत्ति होती है और मूषिका के द्वारा आघ्राण (सुँघे जाने पर) किये जाने पर उस अतीन्द्रिय वस्तु (पदार्थ) का विनाश हो जाता है, तब अंकुरोत्पत्तिरूप कार्य नहीं होता। अतः अतीन्द्रियशक्ति की कल्पना करना अनिवार्य हो जाता है।

शङ्का—अंकुर की उत्पत्ति होने में केवल बीज ही कारण नहीं है, किन्तु मूषिकाऽघ्राणाऽभाव– भी कारण है; क्योंकि मूषिका के द्वारा आघ्राण किये जाने पर तदभावादेव = मूषिकाघ्राणाऽभावरूप कारण का ही अभाव रहने से अंकुर की अनुत्पत्ति (उत्पत्त्यभाव) का होना सम्भव है, अतः शक्तिकल्पना करने की क्या आवश्यकता?

समाधान—न, घ्राणाऽभाव अंकुरोत्पत्ति में कारण नहीं है। घ्राणक्रियायाः क्षणिकत्वात् तदुत्तरकालं तदभावे सत्यपि अङ्कुराऽनुत्पत्तेः। अर्थात् शङ्काकार के मत में घ्राणाऽभाव को अङ्कुरोत्पत्ति में कारण माना गया है, किन्तु घ्राण तो क्रियारूप ही है और क्रिया तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगिनी होती है। उस कारण उस घ्राणक्रिया का तृतीयक्षण में विनाश हो जाता है (घ्राण क्रिया तृतीय क्षण में नष्ट हो जाती है), एवञ्च तदुत्तरकाल में अर्थात् घ्राणक्रियानाशोत्तर काल में घ्राणाऽभाव रूप कारण विद्यमान रहता ही है। तब अंकुरोत्पत्ति क्यों नहीं होती? इस प्रश्न का उत्तर दीजिये। तथा च—शक्ति की कल्पना करना आवश्यक ही है। चूहे के द्वारा आघ्राण के कारण शक्तिनाश हो जाने से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होना संगत (उपपन्न) हो जाता है।

प्रागभावः कारणं, न प्रध्वंसाभावः इति चेत्? न, अभावत्वाऽविशेषात्। न हि प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः प्रागूर्ध्वकालभेदं मुक्त्वा किञ्चिदपि रूपवैलक्षण्यमस्ति। न चाऽविलक्षणे कारणे कार्यवैलक्षण्यं सम्भवति। प्रागभावस्य प्रध्वंसाभावाद् विलक्षणमस्ति रूपमिति चेत्? कल्प्यमेवं सति किञ्चित्। तच्चाऽभावे कल्प्यतां बीजस्वरूपे वेति बीजस्य साक्षादङ्कुरकारणत्वात् तत्रैव कल्पयितुं युक्तम्। एवं यागादेरपूर्वस्वर्गादिसाधनशक्तिकल्पनमूहनीयम्।

शङ्का—घ्राणक्रिया के प्रध्वंसाभाव को समझकर आप आक्षेप कर रहे हैं, किन्तु घ्राणक्रिया का प्रध्वंसाभाव अंकुरोत्पत्ति में कारण नहीं है, अंकुरोत्पत्ति में तो घ्राणक्रिया का प्रागभाव ही कारण है—यह हम कह रहे हैं। तथा च घ्राणक्रिया के होने पर न घ्राण प्रागभाव है, न वह होगा, जिससे अंकुरोत्पत्ति हो सकेगी। इसलिये शक्तिकल्पना किये विना अंकुर की अनुत्पत्ति होने से अनुपपत्ति की आशङ्का की जा रही है।

समाधान—अंकुरोत्पत्ति में प्रागभाव भी कारण नहीं है; क्योंकि प्रागभाव भी अभाव ही है और प्रध्वंसाभाव भी अभाव ही है। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्रागभाव में पूर्वकाल है और प्रध्वंसाभाव में ऊर्ध्वकाल = उत्तरकाल है। पूर्वकाल (प्राक् काल) तथा ऊर्ध्वकाल (उत्तरकाल) इन दोनों भेदों को छोड़कर स्वरूप में भेद (वैलक्षण्य) नहीं है। कारण में वैलक्षण्य न होने पर कार्य में वैलक्षण्य का होना कभी सम्भव नहीं है।

शङ्का—प्रागभाव का रूप प्रध्वंसाभाव से कुछ विलक्षण है—ऐसा यदि मान लें तो क्या दोष है?

समाधान—ऐसा मानने पर किसी पदार्थ की कल्पना करनी होगी।

प्रश्न—उस वस्तु की अभाव की रूप में कल्पना की जाय या बीज के रूप में कल्पना की जाय?

उत्तर—लाघव-गौरव का विचार करने पर बीज की कल्पना करने में ही लाघव प्रतीत हो रहा है; क्योंकि अंकुरोत्पत्ति में बीज साक्षात् कारण है। अत: कारण में ही शक्ति पदार्थ की कल्पना करना उचित है; क्योंकि कारण में कार्यानुकूल शक्ति का होना अर्थापत्ति प्रमाण से अवगत होता है।

अभिप्राय यह है कि जैसे आप शक्ति की कल्पना करते हैं, वैसे ही हम प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के वैलक्षण्य की कल्पना करते हैं। जिससे घ्राण का प्रागभाव रहने पर अंकुर की उत्पत्ति होती है, वैसी अंकुरोत्पत्ति घ्राण के प्रध्वंसाभाव होने पर नहीं होती।

उत्तर—कल्प्यमेवं सति किञ्चिदिति। जो स्वत:सिद्ध वस्तु होती है, उसे वैसे ही यथावत् स्वीकार करना होता है और जो कल्प्य रहता है, उसकी कल्पना इस तरह करनी चाहिये, जिससे लाघवादि गुण संगत (समञ्जस) हो सकें। तथा च यदि वैलक्षण्य कल्प्य हो तो कहाँ उसकी कल्पना क्या अभाव में अथा बीजस्वरूप में की जाय? इसका विचार करना आवश्यक है। विचार करने पर यही कहा जा सकता है कि अंकुरोत्पत्ति के लिये वैलक्षण्य की यदि कल्पना करनी है तो अंकुर के कारणस्वरूप बीज में ही (कल्पना) करनी चाहिये, अभाव में नहीं। इस न्याय (नियम) का अतिदेश अन्यत्र भी करना होगा—एवं यागादेरपूर्वस्वर्गादिसाधनशक्तिकल्पनमूहनीयम्। अर्थात् अपूर्वसाधनशक्ति और स्वर्ग-साधनशक्ति की कल्पना याग आदि (दान, जप, होम आदि) में करनी चाहिये, अन्यथा याग तो क्रियारूप है, उसी कारण से वह क्षणविनाशी है। उस कारण कालान्तर में उसके न रहने पर (अभाव में) भी उससे स्वर्गादि फल की प्राप्ति नहीं हो सकेगी और शक्ति की कल्पना करने पर यागक्रिया के नष्ट होने पर भी उस याग से उत्पद्यमान शक्ति (अपूर्व) के विद्यमान होने के कारण फलोत्पत्ति का होना सम्भव हो सकता है। एवञ्च शक्ति के विना फलोत्पत्ति का होना संगत नहीं हो सकता इसलिये अन्यथानुपपत्तिमूलक अर्थापत्तिप्रमाण से शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है।

कथं पुन: शक्तिमति यागे विनष्टे निराधारा शक्तिरवतिष्ठते? न निराधारा भविष्यति, आत्माधारत्वात्। कथमन्यशक्तिन्यत्र स्यात्? तथाऽवगमात्। नाऽवश्यं स्वाश्रयैव शक्तिरिति नियमोऽस्ति। सा हि कार्यत: कल्प्यमाना यत्रैव कार्याय कल्पते, तद्गतैव कल्प्या। सा चेयमपूर्वाख्या शक्तिर्यागा-श्रया सती यागविनाशान्न स्वर्गनिष्पत्तये पर्याप्नुयादित्यात्माश्रया कल्प्यते। यथाह—

शक्तिः कार्यानुमेयत्वाद् यद्गतैवोपयुज्यते ।
तत्रैव साऽभ्युपेतव्या स्वाश्रयाऽन्याश्रयाऽपि वा ।। इति ।।

इसी प्रकार अपूर्व (अदृष्ट, शक्ति) की कल्पना भी श्रुतार्थापत्तिरूप प्रमाण से की गयी है। जैसे याग आदि में स्वर्गादि को सिद्ध करने की अपूर्व नामक शक्ति है, उसी तरह स्वर्गादि फल प्राप्त करने की भी शक्ति यागादि में है—यह कल्पना कर लेनी चाहिये। अभिप्राय यह है कि याग तो क्रियात्मक है। वह तो तत्काल ही समाप्त हो जाता है। तब कालान्तर में उसका अभाव रहने पर स्वर्गफल की प्राप्ति कैसे हो सकेगी? और स्वर्गप्राप्ति तो शरीरान्तर से हुआ करती है। इस कारण मानना पड़ता है कि यागक्रिया से एक शक्ति उद्भूत होती है, जो याग के समाप्त होने पर भी तज्जन्य शक्ति का अस्तित्व रहता है, उसी शक्ति को अपूर्व शब्द से कहा जाता है और उसी अपूर्व नामक शक्ति से स्वर्गरूप फल की प्राप्ति होती है। अपूर्वरूप शक्ति के विना स्वर्गरूप फल की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये अन्यथानुपपत्तिमूलक अर्थापत्ति प्रमाण से अपूर्वसंज्ञक शक्ति की कल्पना की जाती है। वार्त्तिककार श्री कुमारिल भट्टपाद ने श्लोकवार्त्तिक के अपूर्वाधिकरण में अपूर्व का सुविस्तृत निरूपण किया है। तथाहि प्रधानकर्म अथवा अंगकर्म का अनुष्ठान करने के पूर्व कोई भी अनुष्ठानाधिकारी व्यक्ति स्वर्गादि फल को प्राप्त करने की योग्यता नहीं रखता तथा यथाविधि अनुष्ठान के पूर्व यागादि कर्म भी स्वर्ग फल की प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं हो पाता। एवञ्च प्रधान और अंगों के अनुष्ठान से अनुष्ठाता और अनुष्ठेय दोनों में योग्यता प्राप्त होती है। इस योग्यता का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाण से नहीं होता। वह ज्ञान तो श्रुतार्थापत्ति प्रमाण से होता है। यह श्रुतार्थापत्ति शब्द का एकदेश है, इसे भी शास्त्र माना गया है। कहा भी है—

कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा ।
योग्यता शास्त्रगम्या या परा साऽपूर्वमिष्यते ।।
श्रुतार्थापत्तिरेवैका प्रमाणं तस्य वेष्यते ।
शब्दैकदेशभावाच्च स्वार्थेष्वागम एव नः ।। (तन्त्रवार्त्तिक)

कथमात्माश्रया सती यागशक्तिरिति व्यपदिश्यते? तस्य हि फलसाधनत्वमुपपादयितुं सकल्प्यते, तावता तच्छक्तित्वम्। लोकेऽपि प्रसिद्धमेतत्—तैलपानसामर्थ्याच्चिरवृत्तेऽपि तस्मिन् बलपुष्ट्यादिकमद्य मे जातमिति लौकिका व्यवहरन्ति; तस्मादनवद्यम्।

शङ्का—कथमात्माश्रया सतीति। आत्माश्रित शक्ति को याग का शक्ति कैसे कहा जायेगा?

समाधान—तस्य हीति। फलप्राप्ति का साधन याग है, उसे सिद्ध करने के लिये उसकी (याग की) कल्पना की जाती है। उस कारण अपूर्व साधनशक्ति और स्वर्गप्राप्ति साधनशक्ति की कल्पना याग में की जाती है। **लोकेऽपि प्रसिद्धमेतदिति**। लोकव्यवहार

में भी यह प्रसिद्ध है कि तैल-पानरूप क्रिया के समाप्त होने पर भी उस तैलपानक्रिया का फल बल, पुष्टि आदि आज मैं अनुभव कर रहा हूँ, यह कहा करते हैं। अतः याग को स्वर्गप्राप्ति का साधन कहना अनुचित नहीं है। यह यागरूप शक्ति आत्मा के आश्रित रहती है, यह स्वीकार करने में कोई अनौचित्य नहीं है। इस सन्दर्भ में वार्त्तिककार का कथन ध्यान देने योग्य है—

आत्मैव चाश्रयस्तस्य क्रियाऽप्यत्रैव च स्थिता ।
आत्मवादे स्थितं ह्येतत् कर्तृत्वं सर्वकर्मसु ।।
यदि स्वसमवेतैव शक्तिरिष्येत कर्मणाम् ।
तद्विनाशे ततो न स्यात् कर्तृस्था तु न नश्यति ।।

शङ्का—यदि यह याग शक्ति आत्मा के आश्रय को पाकर ही रहती है उसे आत्मशक्ति के नाम से ही कहना चाहिये। उसे यागशक्ति कहना उचित नहीं होगा। तब उसे यागशक्ति के नाम से ही लोग क्यों कहा करते हैं।

समाधान—तस्य हि फलसाधनत्वमिति। तस्य = यागस्य। यदि स्वर्गसाधिका-शक्ति को याग शक्ति के नाम से नहीं कहा जाय तो याग को स्वर्ग का साधन कहना उपपन्न नहीं हो सकेगा। शक्तिमान् पदार्थ ही साधन कहलाता है। उसी को यागशक्ति कहा जाता है। यागसमवेत होने से यागशक्ति नहीं कही जाती। फल का साधन याग है—इस तथ्य को सिद्ध करने के लिये उसकी कल्पना की जाती है।

लौकिक व्यवहार से भी यह सिद्ध होता है कि तैलपानरूप क्रिया के नष्ट होने पर भी तैलपान का फलरूप बल, पुष्टि आदि की उपलब्धि आज मुझे हुई है—ऐसा लोग कहा करते हैं। अतः याग ही स्वर्गप्राप्ति का साधन है और यागशक्ति आत्माश्रित है। अतः उक्त कथन पूर्णतया अनवद्य (निर्दुष्ट) समझना चाहिये।

शङ्का—याग के समाप्त होने पर ही स्वर्गादिफल की प्राप्ति होती है, तब स्वर्ग को याग का फल कैसे कहा जायेगा? और याग को स्वर्ग का साधन तथा यागशक्ति आदि व्यवहार कैसे हो सकेगा?

समाधान—लोकेऽपीति। याग के नष्ट होने पर भी जायमान स्वर्ग में यागफलत्व एवं याग में स्वर्गप्राप्तिसाधनत्व का व्यवहार किया जाता है। जैसे तैलपान क्रिया के नष्ट (समाप्त) होने पर भी बल, पुष्टि आदि फल दृष्टिगोचर होता है और बलप्राप्ति का साधन तैलपान ही कहा जाता है। केवल तैल ही बलप्राप्ति का साधन नहीं है। अन्यथा आपण (बाजार) में स्थित तैल से भी बलोत्पत्ति होने लगेगी।

शङ्का—उदरस्थ तैल को भी बलप्राप्ति का साधन नहीं कह सकते। उदरगत तैल के नष्ट होने पर ही बलोत्पत्ति हुई दिखाई देती है।

किञ्च—उदरस्थत्वविशेषणविशिष्ट तैल को साधन मानने पर गौरव होगा। अतः

तैलपान को ही बलोत्पत्ति का साधन मानने में लाघव है; तथा च कहा भी है—

प्रमाणवन्त्यदृष्टानिकल्प्यन्ते सुबहून्यपि ।
अदृष्टशतभागोऽपि न कल्प्यो ह्यप्रमाणकः ।।

मूलस्थित तस्मिन् का अर्थ है—तैलपाने कृते सति। अतः जो कहा गया है, वह अनवद्य है। अर्थात् नितान्त दोषशून्य है। एवञ्च याग को स्वर्गसाधन कहने में और याग-शक्ति को आत्माश्रित मानने में कोई दोष नहीं है। अब श्रुतार्थापत्ति का निरूपण करते हैं—

(श्रुतार्थापत्तिनिरूपणम्)

दृष्टग्रहणेनैव प्रतीतिमात्रग्रहाच्छ्रौतस्याऽपि ग्रहणे सिद्धे श्रुतार्थापत्तेः प्रमाणग्राहिणीत्वेन दृष्टार्थापत्तितो वैलक्षण्यमुपपादयितुं श्रुतग्रहणम्। तथाहि लोके तावद्द्वारंद द्वारमित्यादिषु सम्पूर्णार्थप्रतिपादनाय संव्रियतामित्यादिशब्दान्तरं श्रुतशब्दैकवाक्यत्वेन कल्प्यते।

अर्थापत्ति प्रमाण का निरूपण किया जा रहा है, इसी प्रसंग में कारणगत कार्यानुकूल शक्ति तथा यागजन्यशक्ति को भी सिद्ध कर दिया गया है, अब भाष्यकार शबरस्वामी ने अपने भाष्य में बताये हुए अर्थापत्ति-लक्षण में जो दृष्ट-विशेषण दिया है, उसका प्रयोजन बता रहे हैं— **दृष्टग्रहणेनैवेति।**

शङ्का—श्रीपार्थसारथिमिश्र ने दृष्टग्रहणेनैव से ही श्रुतार्थापत्ति का निरूपण प्रारम्भ किया है। अतः दृष्ट ग्रहण से ही श्रुत का भी ग्रहण हो जाता है, इस कारण श्रुत पद का ग्रहण करना व्यर्थ है।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं है। श्रुत पद का ग्रहण सार्थक है, व्यर्थ नहीं है; क्योंकि अर्थापत्ति दो प्रकार की होती है—दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति । भाष्यकार शबरस्वामी ने दृष्ट शब्द से दृष्टार्थापत्ति को बतलाया है और श्रुत शब्द से श्रुतार्थापत्ति को बतलाया है। इन दोनों में से दृष्टार्थापत्ति अर्थरूप प्रमेय को बताती है और श्रुतार्थापत्ति प्रमाण को बताती है। अतः दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति—दोनों पृथक्-पृथक् हैं। इस पृथक्त्व को बताने के लिये ही श्रुत पद का ग्रहण किया गया है। इसी को लौकिक उदाहरण के द्वारा बता रहे हैं। तथाहि—**लोके तावदिति**। लोकव्यवहार में द्वारं-द्वारं कहने पर सम्पूर्ण अर्थ को बताने के लिये पिधेहि = बन्द करो अर्थात् संव्रियताम्– इत्यादि केवल (अन्य) शब्द को ही (शब्दान्तर को ही) पूर्वोक्त श्रुतवाक्य के साथ जोड़कर एकवाक्यता की जाती है। अर्थात् द्वारं संव्रियताम्—इत्याकारक सम्पूर्ण वाक्य की कल्पना की जाती है और उससे श्रोता को अर्थ अवगत होता है।

तथा वेदेऽपि—विश्वजिता यजेत इत्यत्र स्वर्गकाम इति वा स्वर्गार्थमिति

वा। येनैव शब्देन श्रुतशब्दैकवाक्यभूतेन परिपूर्णार्थाभिधानं सम्पद्यते वाक्यम्, तदेव हृदयमानीयश्रुतेन सह मेलयित्वा परिपूर्णाद् वाक्याद् वाक्यार्थः प्रतीयते।

अब वैदिक उदाहरण को भी प्रदर्शित कर करे हैं—**तथा वेदेऽपीति**। स्वर्गार्थमिति वा इति—ऐसा अध्याहार करना चाहिये।

'श्रुतशब्दैकवाक्यभूतेन' यहाँ पर श्रुत शब्द से विश्वजिता यजेत आदि वाक्यों को ग्रहण करना चाहिये। तब वह वाक्य स्वर्गकामः इस कल्पित शब्द से एकवाक्यता को प्राप्त करके सम्पूर्ण अर्थ को बता पाता है। अतः विश्वजिता यजेत स्वर्गकामः– यह वाक्य बतलाता है कि स्वर्गकाम मनुष्य विश्वजित् याग से स्वर्गफल को प्राप्त करे।

तथा—'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' इत्यादिषु विधिष्विति-कर्तव्यताप्रतिपादकशब्दाऽश्रवणादपूर्णेषु तत्प्रतिपादकशब्दाऽपेक्षया चोदनालिङ्गोपस्थापितस्याग्नेयविधेस्त्र्यं शस्य साध्यसाधनांशप्रति-पादकभागावनपेक्षितात्वादनादृत्य यस्तृतीयोंऽश इत्थम्भावोऽग्न्य-न्वाधानादिर्विध्यन्तत्वेन परिकल्पितः तस्य वाचको यः शब्दः आग्नेया-दिवत् इति स वाक्यशेषत्वेन कल्प्यते।

श्रुतार्थापत्ति का एक अन्य उदाहरण भी प्रदर्शित कर रहे हैं—तथा सौर्य चरुंनिर्वपे-दिति। इसी प्रकार प्रदर्शित विधिवाक्यों में भी इतिकर्तव्यता = उपकारक अंगों के प्रति-पादक शब्दों का श्रवण नहीं होने से विधिवाक्य को पूर्णवाक्य नहीं कहा जा सकता। इसलिये उसे इतिकर्तव्यता के प्रतिपादक शब्द की आशङ्का होती है। मूलग्रंथ स्थित 'तत्प्रतिपादकशब्दापेक्षया' यहाँ अपेक्षया यह हेत्वर्थक तृतीयाविभक्ति है। 'निर्वपेत्' यह साकांक्ष चोदना = विधि इतिकर्तव्यता का आक्षेप किये विना शान्त नहीं हो सकता। इस कारण चोदना = विधि ही इतिकर्तव्यता का आक्षेप करने में लिङ्ग = हेतु है। अतः उस चोदना लक्षण लिङ्ग से उपस्थापित साध्य-साधन-इतिकर्तव्यता—इन अंश वाले आग्नेय पुरोड़ाश विधि के साथ साधन = अंश के प्रतिपादक दोनों भागों की अपेक्षा विना किये ही अर्थात् उन दोनों का त्याग करके इतिकर्तव्यतारूप जो तृतीय = तीसरा अंश है, वह विध्यन्त पदवाक्य जो अग्न्याधानादि आग्नेय पुरोड़ाश के स्थान में क्लृप्त = निश्चित है, उसका प्रतिपादक जो शब्द आग्नेयवत् है, उसी की स्तोत्र-वाक्य के अंगत्वेन रूपेण कल्पना की गई है। वाक्यशेष के रूप में कल्पना करने पर 'सौर्यं चरुम् आग्नेयवत् निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः' यह परिपूर्णार्थ प्रतिपादक वाक्य निष्पन्न होता है। आग्नेय की ही इतिकर्तव्यता का आक्षेप किया जाता है। अग्नीषोमीयादि की इतिकर्तव्यता का आक्षेप नहीं किया जाता। इसके संदर्भ में अष्टमाध्याय के प्रथमपाद के षोड़श अधिकरण में अवलोकन कर लेना उचित है।

यहाँ पर ब्रह्मवर्चस साध्य है, उसे भी बता दिया गया है और उसका साधन सौर्यचरु है—यह भी बता दिया है। इस प्रकार साध्य और साधन इन दो अंशों को बता दिया है, उनके आक्षेप—की यहाँ आवश्यकता नहीं है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने 'साध्य-साधनांशभागावनपेक्षित्वादनादृत्य' कहकर बताया है। इसी विषय को बहुत संक्षेप से शब्दपरिच्छेद में भी बतलाया गया है।

अथवा किमक्लृप्तेनाऽऽग्नेयादिवच्छब्देन कल्पितेन, किन्तु य एवाय-माऽऽग्नेयविध्यन्तस्तस्यैव व्यवहितस्याऽपि चोदनालिङ्गबलोपस्थापितस्य विकृतिविधिना सहैकवाक्यतामात्रमर्थापत्त्या कल्प्यते। न ह्ययमनुषङ्गः, येन व्यवहितस्य न स्यादिति।

अतिदेशस्त्वयं व्यवहितस्याऽपि कथञ्चिदुपस्थानादुपपन्न एव। तथा च वक्ष्यति—विध्यन्तो वा प्रकृतिवच्चोदनायां प्रवर्तेत इति (मी. द. ६।४।५०)। विध्यन्त इति प्रधानविधिवर्जितंसमस्तमेव पौरोडाशिकं काण्डमभिधीयते इति भाष्यकारः।

अब अन्य पक्ष को बता रहे हैं—**अथवा किमक्लृप्तेनेति**।

शङ्का—अथवा किमक्लृप्तेनेति। जो आग्नेयादिवत् शब्द अक्लृप्त = श्रुत नहीं है, उसकी कल्पना क्यों की जा रही है?

समाधान—किन्तु य एवाऽऽग्नेयेति। जो आग्नेय का विध्यन्त अर्थात् अग्न्यन्वाधान आदि है, वह सौर्ययाग की सन्निधि में नहीं है, वह व्यवहित है। तथापि चोदना लिङ्ग के बल से उपस्थापित कराया गया विकृतिविधि = सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः- के साथ अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा केवल एकवाक्यता की कल्पना की जाती है, अन्यथा सौर्ययाग विधि की उपपत्ति नहीं हो पायेगी, अर्थात् सौर्ययागविधि अनुपपन्न हो जायेगा।

शङ्का—उपर्युक्त एकवाक्यता की कल्पना करने की अपेक्षा उसे अनुषंग ही क्यों नहीं मान लेते?

समाधान—न ह्यमनुषङ्गः, येन व्यवहितस्य न स्यादिति। यह अनुषंग नहीं है; क्योंकि व्यवहित का अनुषंग नहीं हुआ करता। इस सन्दर्भ में सूत्रकार जैमिनि का कथन है कि व्यवायान्नानुषज्येत इति। यह विषय द्वितीयाध्याय, प्रथमपाद के अन्तिम अधिकरण में निरूपित किया गया है।

अतः यह प्रतिदेश है; क्योंकि निर्वपेत् इस विधि के कारण व्यवहित पदार्थ भी कथंचित् उपस्थित हो सकता है। उस कारण अतिदेश तो उपपन्न होता ही है। इस तथ्य को सूत्रकार ने भी कहा है— विध्यन्तो वा प्रकृतिवच्चोदनायां प्रवर्तेत। (मीमांसा दर्शन- ७।४।५०)। उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार शबरस्वामी ने भी कहा है—उक्त सूत्रगत विध्यन्त शब्द प्रधान विधि को छोड़कर सम्पूर्ण पौरोड़ाशिक काण्ड का वाचक

है, इसलिये व्यवहित अतिदेश भी उपपन्न होता है।

नन्वेवं शास्त्रातिदेशाङ्गीकरणे दशमाद्यविरोधः स्यात्, ऊहबाधयोश्चाऽसिद्धिः। भवेदेवम्—यदि यथाश्रुतरूपमेवव्रीहीनवहन्ति इति वाक्यं विकृतिं नीत्वा तस्य यथासम्भवं विकृतिविधिना सहैकवाक्यता परिकल्प्येत। यदि तथा क्रियते तत्र कृष्णलचरौ व्रीहिशब्दस्य हविर्लक्षणार्थत्वाऽयोगादवघातस्य च दृष्टप्रयोजनाऽभावाद् व्रीहिसाधनकोऽवघातोऽदृष्टार्थो विधीयेत तत्र नाऽवघातस्य बाधः स्यात्। एवं नीवारादिष्वपि व्रीह्य एवाऽऽहन्तव्याः इति न नीवारादिष्ववहन्तिरूह्येत।

नन्वेवं शास्त्राऽतिदेशाङ्गीकरणे इति। शास्त्रातिदेश-पक्ष को मानने पर दशमाध्याय के प्रथमा-धिकरण से विरोध होगा। अतिदेश तीन प्रकार का होता है— (१) शास्त्रातिदेश, (२) पदार्थातिदेश, (३) उपकारातिदेश। उक्त तीनों में से प्रथम दो अतिदेशों को पूर्वपक्ष के रूप में रखा है और अन्तिम अर्थात् तीसरे को (उपकारातिदेश को) सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है। शास्त्रातिदेश मानने पर प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या अर्थात् प्रकृतियाग में जिन-जिन अंगों का अनुष्ठान हुआ है, उन सभी अंगों का अनुष्ठान विकृति में भी करना चाहिये—यह प्रभाकर (गुरु) का कहना है। एवञ्च अनुष्ठान का बाध (निवृत्ति) होता है। पदार्थ का बाध नहीं होता—यह प्राभाकर का सिद्धान्त है।

किञ्च—पदार्थातिदेश को भी प्राभाकर स्वीकार करते हैं। अतः न शास्त्र का बाध होता है और न पदार्थ का बाध होता है। अपितु केवल अनुष्ठान का बाध होता है। अवहनन (अवघात) तो कृष्णल चरु का भी अंग है। तथापि निष्प्रयोजन (प्रयोजन निष्पत्ति न होने से) होने के कारण वह अनुष्ठेय नहीं है। तथापि विकृति का वह अंग तो है ही। तीसरे उपकारातिरेश को भी प्राभाकर स्वीकार करते हैं। उपकारातिदेश से पृथक् (भिन्न) पदार्था तिदेश को भी वे मानते हैं, किन्तु शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथिमिश्र केवल उपपकारातिदेश को ही स्वीकार करते हैं। तथापि यत्र-तत्र पदार्थातिदेश तथा शास्त्रातिदेश की भी उन्होंने चर्चा की है। स्थलविशेषों में उपकारातिदेश को ही सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है। अतएव दशमाध्याय के प्रथमाधिकरण में उन्होंने कहा है—'आकांक्षाऽऽसत्तियोग्यत्वं रूपकारातिदेशनम् इति'। तथा सप्तमाध्याय के उपान्तिम अधिकरण में भी शास्त्रातिदेश का निराकरण करते हुए उपकारातिदेश को ही सिद्धान्त के रूप में बताया है। एवं अर्वाचीन आचार्य खण्डदेव आदि महामीमांसकों ने भी पार्थसारथिमिश्र के पक्ष को ही प्रमाण मानकर विचार किया है—प्रकृतौ क्लृप्तोपकारकाणां पदार्थानां निरूपितरूपाणामतिदेशः इति । यह उक्त उपकार भी दो प्रकार का होता है—(१) महोपकार और दूसरा अवान्तर उपकार। उनमें से अवान्तर उपकार का ही अतिदेश होता है। महोपकार का अतिदेश नहीं होता। इसका उपपादन दशमाध्याय में किया गया है।

शङ्का—मूलकार ने शास्त्रातिदेश मानने पर दशमाद्यविरोध और ऊहतया बाध की असिद्धि बतलायी है—विरोध क्यों होगा? तब शङ्काकार कहता है—शास्त्रातिदेश मानने पर सभी इतिकर्त- व्यताओं (अंगकलापों) का सौर्यादि-विकृतियागों में अनुष्ठान करना पड़ेगा। अभिप्राय यह है कि अग्न येत्वा जुष्टं निर्वपामि—इस निर्वापमंत्र का सौर्ययाग में ऊह (अग्निशब्द के स्थान पर सूर्य शब्द का प्रक्षेप) अर्थात् सूर्य शब्द को नहीं रख सकेंगे। शास्त्रातिदेश पक्ष में यथाश्रुत मंत्र का ही प्रयोग होगा। एवञ्च कृष्णालचरु में अवघात का बाध नहीं होगा; क्योंकि उससे कोई दृष्ट प्रयोजन की उपलब्धि नहीं है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने 'भवेदेवम् यदि यथाश्रुतरूपमेव—ग्रन्थ से बतलाया है। अत: शास्त्रातिदेश पक्ष में अवघात का बाध नहीं होगा। अवघात का बाध तब हो सकता था, कि जब यथा-श्रुत ही व्रीहिनवहन्ति वाक्य को विकृति में ले जाकर यथासम्भव विकृतिविधि के साथ एकवाक्यता की कल्पता की होती।

समाधान—प्रकृति के सभी अंगों का विकृति में अनुष्ठान नहीं करना चाहिये; क्योंकि जिस प्रयोजन-निष्पत्ति के लिये प्रकृति में जो अंग विहित है, उन अंगों का विकृति में उन प्रयोजनों के नहीं होने से अनुष्ठान क्यों होगा? अर्थात् नहीं होगा। अभिप्राय यह है—प्रकृति में जो पदार्थ उपकारक हैं, उन्हीं का अनुष्ठान विकृति में किया जाता है। जो प्रकृति में उपकारक नहीं हैं, उनका अनुष्ठान विकृति में नहीं किया जाता। भाष्यकार शबरस्वामी ने भाष्य में कहा है—एवमवहन्त्याद्यप्राकृतं सर्वं कर्तव्यमिति, किन्तु प्राकृता-न्यंगानि, योऽसौ प्रयोजनाय प्रकृतौ भवन्ति, नाऽसति तस्मिन् प्रयोजने विकृतौ चोदितानि भवन्ति । तस्मात् लुप्तप्राकृतप्रयोजनं न चोदक: चोदयति इति (शाबरभाष्य- अध्या. १०।१।१)।

एवञ्च—पूर्व कह चुके हैं कि शास्त्रातिदेश मानने पर दशमाध्याय के प्रथमाऽधिकरण का विरोध होगा। और अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि इस निर्वापमन्त्र का सौर्ययाग में ऊह अर्थात् सौर्ययाग में अग्नि पद के स्थान पर सूर्य पद का प्रक्षेप नहीं हो सकेगा। शास्त्राति-देश पक्ष में यथाश्रुत मन्त्र का ही प्रयोग होगा। अत: कृष्णलचरु में अवहनन का बाध नहीं होगा। 'प्राजापत्यं चरुं निर्वपेत् शतकृष्णलमा-युष्काम:' इस वाक्य से आयुष्कामेष्टि का विधान किया गया है। गुंजाफल के सदृश सुवर्ण की गोलियों को कृष्णल कहते हैं। याग में द्रव्यस्थानीय ये गोलियाँ हैं। इन गोलियों को घृत में परिपक्व कर आहुति देने का विधान है। गोलियों को उष्ण करना ही उनको परिपक्व (पाक) समझा जाता है; क्योंकि उनमें मुख्य पाक का होना असम्भव है। उन गोलियों में विकृतिरूप प्रयोजन की निष्पत्ति नहीं होती और अवहनन (अवघात) का बाध इसलिये होता है कि व्रीहि जैसा तुषविमोक (तुषविदलन) रूप दृष्ट प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं है। अत: कृष्णलचरु में दृष्ट प्रयोजन नहीं होने से अवघात का बाध नहीं होगा। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र ने कहा है कि यदि तथा क्रियते तत्र कृष्णलचरौ व्रीहिशब्दस्य

हविर्लक्षणार्थत्वाऽयोगात् अवघातस्य च दृष्टप्रयोजनाऽभावात् व्रीहिसाधनकोऽवघातोऽदृष्टार्थो विधीयेत। तत्र नाऽवघातस्य बाधः स्यात्। एवं नीवारादिष्वपि व्रीहय एवाऽवहन्तव्याः इति न नीवारादिष्ववहन्ति। अतः शास्त्रातिदेश पक्ष में अवघात का बाध नहीं होगा। यह तभी हो सकता था कि जब यथाश्रुत व्रीहीनवहन्ति वाक्य को विकृति में ले जाकर यथासम्भव विकृ तिविधि के साथ एकवाक्यता की कल्पना होती। **यदि तथा क्रियते इति**। यदि ऐसा करते हैं तो कृष्णलचरु में व्रीहि शब्द से व्रीहिमात्र का बोध नहीं होगा। प्रकृत हवि का बोधन नहीं करेगा। तथा तुषविदलन (तुषविमोक) रूप दृष्ट प्रयोजन के नहीं होने से व्रीहिसाधनक अवघात भी अदृष्टार्थ ही कहा जायेगा। अर्थात् अवघात का बाध नहीं होगा और नीवार आदि में भी धान का ही अवहनन (अवघात) करना होगा। इसलिये नीवारादि में अवहनन का ऊह (पदान्तर प्रक्षेप) नहीं हो सकेगा। उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि प्रकृति में अन्यथा दृष्ट मन्त्र आदि का विकृति में जो अन्यथाभाव, उसे ऊह कहते हैं, यही मुख्य है। पदान्तरप्रक्षेप को गौण ऊह कहते हैं। निर्वापमंत्र में अग्नि पदश्रुत हो रहा है। विकृतिरूप सौर्य याग में सूर्य देवता हैं। अग्नि शब्द से अग्नि का ही बोध होगा, सूर्य का बोध नहीं होगा। अतः अग्नि पद को हटाकर उसके स्थान पर सूर्य पद को रखने को ही ऊह कहते हैं—प्राकृतपदपरित्यागेन विकृतौ पदान्तरप्रक्षेपः ऊहः। यह ऊह तीन प्रकार का होता है—(१) मन्त्रोह, (२) सामोह, (३) संस्कारोह। इसका विस्तृत निरूपण मीमांसादर्शन के नवमाध्याय में उपलब्ध होता है।

बाध का अर्थ है निवृत्ति अर्थात् पदार्थ का अननुष्ठान। प्रकृति के अंग (प्राकृत अंग) जो विकृति में कार्य के द्वारा उपस्थित होते हैं, उनका तीन प्रकार से बाध होता है—(१) द्वारलोप, (२) प्रत्याम्नान, (३) प्रतिषेध। द्वारलोप का अर्थ है—प्रयोजन का लोप। जैसे कि कृष्णलचरु में अवहनन = अवघात का बाध होता है; क्योंकि प्रकृति में अवघात तुषविमोक = तुष विदलनरूप दृष्टप्रयोजन के द्वारा प्रकृतियाग का अंग होता है, किन्तु कृष्णलचरु में प्रयोजनरूप द्वार के लोप से उसका बाध = निवृत्ति होती है अर्थात् अवघात (अवहनन) का अनुष्ठान नहीं किया जाता।

प्रत्याम्नान—प्रकृति याग में कुशाओं का विधान किया है, किन्तु आभिचारिक याग में कुशाओं की जगह (कुशाओं के बदले) शरों का विधान किया गया है। यहाँ पर शर शब्द से तृणविशेष = सरकण्डों को समझना चाहिये, बाणों को नहीं। शरमयं बर्हिर्भवति का अर्थ है—बर्हि के स्थान पर शरों को रखना चाहिये। प्रत्याम्ना का अर्थ है—विरुद्ध पदार्थ कहना। कुशा के विरुद्ध शरों का विधान किया गया है। अतः यह प्रत्याम्नान का उदाहरण है।

प्रतिषेध— का अर्थ निषेध है। जैसे पित्र्येष्टि में न होतारं वृणीते—यह वाक्य कहा गया है। यहाँ पर होता नामक ऋत्विज का वरण नहीं किया जाता; क्योंकि प्रकृति में उसके वरण करने का विधान किया गया है। अतः विकृति में उसके वरण का निषेध

होने के कारण उसका वरण नहीं किया जाता।

बाध के अवान्तर भेद भी हैं, उनके उदाहरणों को मीमांसादर्शन के दशमाध्याय में तथा शंकरभट्टकृत मीमांसाबालप्रकाश में देखा जा सकता है। इस प्रकार शास्त्रातिदेशपक्ष में ऊह और बाध दोनों की सिद्धि नहीं हो सकेगी। ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र को उपकारातिदेशपक्ष अभिमत है, अतः पूर्वोक्त दोष का निरसन कर रहे हैं—

नन्वेवमस्माभिरुच्यते, किंतु प्रकृतौ प्रधानेन सहैकवाक्यतयाऽवगत-स्याऽस्य यावान् परिकरो यादृग्रूपं तादृगतिदिश्यते, प्रकृतौ व्रीहीणां हविष्ट्वात् तल्लक्षणार्थो व्रीहिशब्दः, अवघातस्य च तेषु दृष्टं प्रयोजनं तुषविमोचनं सम्भवतीति तद्द्वारेणाऽस्य प्रधानैकवाक्यता। ततश्च— अवघातवितुषीकृतैर्व्रीहिभिः पुरोडाशं कृत्वा तेन यजेत— इतीदृशः प्रकृतिविधिः, तस्य प्रधानप्रतिपादको योंऽशः यजेत इति, तद्वर्जं विशेषणांशो विकृतिवाक्येन सम्बध्यते। तस्य च न साक्षादवघातो विशेषणम्, अवघातविशेषितवितुषीकरणविशिष्टं हि हविर्यागस्य विशेषणं प्रकृतौ, अतस्तदेव विकृतावाकृष्यते। कृष्णलयागे च कृष्ण शब्दस्य हविर्वाचिनः प्रत्यक्षश्रवणात् तद्विरोधात् पुरोडाशशब्दो निवर्तते, तन्निवृत्त्या च व्रीहीणामपि निवृत्तिः। न हि ते कृष्णलानां प्रकृतित्वेन सम्भवन्ति। वितुषीकरणशब्दोऽपि यो द्वारप्रतिपादकः सोऽपि कृष्णलेषु तदसम्भवान्निवृत्तः, तद्विशेषणं चाऽवघात इति सोऽपि निवर्तते इति बाधसिद्धिः। नीवारादिषु तु वितुषीकरणसम्भवादनिवृत्तोऽवघात इत्यूहस्याऽपि सिद्धिः। दशमाद्ये च यावच्छ्रुतानामङ्गशास्त्राणामतिदेश-माशङ्क्य प्रकृत्यन्वितानां तेन रूपेणाऽतिदेशः सिद्धान्तितः, इत्यल-मतिप्रसङ्गेन।

नन्वेवमस्माभिरुच्यते इति। पार्थसारथिमिश्र कहते हैं कि हमारा कहना यह नहीं है। तो आप क्या कहना चाह रहे हैं? इस प्रश्न के उत्तर में पार्थसारथिमिश्र यह कह रहे हैं—किन्तु प्रकृतौ प्रधानेन सहैकवाक्यतयाऽवगतस्याऽस्य यावान् परिकरो यादृग्रूपम्, तादृगतिदिश्यते इति। अर्थात् स्वयं को अनभिमत बाध और ऊह की असिद्धि के प्रकार का प्रदर्शन कर उसका निरसन कर रहे हैं—**नन्वेवमस्माभिरुच्यते इति**। हमलोग अवहनन (अवघात) को न अदृष्टार्थ कह रहे हैं और न व्रीहि के विषय में नियम को ही बता रहे हैं, जिससे बाध और ऊह की असिद्धि सम्भव हो सके; किन्तु अवघात दृष्टप्रयोजनक होने से अवघातरूप प्रयोजन अर्थात् वितुषीकरण का कृष्णल में होना सम्भव है।

एवञ्च तुषाऽभाव के कारण अवघात (अवहनन) का बाध (निवृत्ति) ही यहाँ माना

जाता है। अवहनन (अवघात) के दृष्टप्रयोजनक रहने से ही नीवारादिकों में वितुषीकरण करना सम्भव है और व्रीहिष्वेव ऐसा नियम भी न होने से नीवारादि में भी ऊह करना सिद्ध होता है। इसी अभिप्राय को ग्रंथकार पार्थसारथिमिश्र 'किंतु प्रकृतौ प्रधानेन सहैकवाक्यतयाऽवगतस्याऽस्य यावान् परिकरो यादृग्रूपं, तादृग् अतिदिश्यते' इत्यादि ग्रन्थ से बता रहे हैं। प्रकृतौ प्रधानेन = पुरोड़ाशयाग के साथ एकवाक्यता के रूप से अवगत अर्थात् एकवाक्यता को प्राप्त किया हुआ अस्य = विध्यन्तपदवाच्य जो इतिकर्तव्यता अंश (भाग) है—उसका यावान् यादृग्रूप वाला परिकर = समूह है, तादृगेव = वैसा ही अर्थात् जैसा का तैसा ही विकृति में उसका अतिदेश करना चाहिये।

शङ्का—उपर्युक्त कथन के अनुसार करने पर भी अवघात का बाध कैसे हो पायेगा?

समाधान—प्रकृति में व्रीहि ही हविः पदार्थ है, इसलिये प्रकृति में व्रीहि शब्द ही तल्लक्षणार्थः = हविः प्रतिपादक है और अवघात का वितुषीकरणरूप दृष्ट प्रयोजन व्रीहियों में सम्भव भी है, अतः तद्द्वारेण = वितुषीकरण द्वारा अस्य = अवघातस्य अर्थात् अवघात की प्रधानेन = पुरोडाशयागेन पुरोड़ाशयाग के साथ एकवाक्यता होती है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने कहा है—ततश्च अवघातवितुषी कृतैः व्रीहिभिः पुरोडाशं कृत्वा तेन यजेत—यही एकवाक्यता का स्वरूप है। उपर्युक्त तेन यजेत का अर्थ है—पुरोडाशेन यजेत। इतीदृशः प्रकृतिविधिः—यही प्रकृतिविधि का स्वरूप है। तस्य प्रधान-प्रतिपादको योंशः यजेत् इति, तद्वर्जं विशेषणाँशो विकृतिवाक्येन सम्बध्यते । यहाँ तस्य का अर्थ है—प्रकृतिविधेः। प्रधानप्रतिपादकः = यागप्रतिपादकः। तद्वर्जम् का अर्थ है—यजेत इति यागांशरहितम्। विशेषणांशः = इतिकर्तव्यताभागः। विकृत्तिवाक्येन = प्राजापत्यं चरु निर्वपेत् इत्यादिवाक्येन। अभिप्राय यह है कि उपकारातिदेश के पक्ष में प्रकृतियाग में प्रधान के साथ जो एकवाक्य के रूप से गृहीत हैं, उसके जितने भी प्रकार हैं, उन सभी का अतिदेश होता है। प्रकृति में व्रीहि का श्रवण हवि का लक्षण = बोधक है। और अवघात भी व्रीहियों में तुषविमोकरूप दृष्टप्रयोजन के लिये है। अतः हवि के द्वारा इसकी प्रधानवाक्य के साथ एकवाक्यता है। प्रकृत याग का साक्षात् विशेषण अवघात नहीं है, किन्तु अवघातविशिष्ट जो वितुषीकरण, उससे विशिष्ट जो हवि है; वही प्रकृतियाग में विशेषण है। उसी का प्रतिपादन 'ततश्च' से ग्रन्थकार ने किया है।

ततश्च—अवघातवितुषीकृतैर्व्रीहिभिः पुरोडाशं कृत्वा तेन यजेत अर्थात् अवघात के द्वारा वितुषीकृत व्रीहिं = तण्डुलों का पुरोड़ाश बनाकर उसी से याग करे। इतीदृशः = इस प्रकार का अर्थात् यही प्रकृतिविधि का स्वरूप है। इसका प्रधान प्रतिपादक अंश यजेत है। इसे छोड़कर विशेषणांश का अर्थात् अवघातविशिष्ट तुषविमोक तद्विशिष्ट हवि का विकृतिवाक्य से सम्बन्ध किया जाता है। उसका साक्षात् विशेषण अवघात नहीं है; किन्तु प्रकृति में अवघातविशिष्ट वितुषीकरण तद्विशिष्ट हवि ही याग का विशेषण है। इसलिये वही विकृति में आकर्षित होता है। कृष्णलयाग में हविर्वाचक कृष्णल शब्द का

प्रत्यक्ष श्रवण होने से उसके विरोध को देखकर पुरोड़ाश शब्द की निवृत्ति हो जाती है। पुरोड़ाश शब्द की निवृत्ति होने से धान्य = व्रीहि की भी निवृत्ति होती है। धान्य = व्रीहि को कृष्णाल की प्रकृति नहीं कह सकते और प्रकृति में द्वारभूत वितुषीकरण नहीं होने से अवघात भी नहीं कर सकते; क्योंकि कृष्णालों में वितुषीकरण तो है ही नहीं। इसलिये उसका विशेषण अवघात भी निवृत्त हो जाता है। उसी तरह अवघात = अवहनन का बाध सिद्ध होता है। नीवार आदि में तो वितुषीकरणरूप द्वार के सम्भव होने से वितुषीकरण का अभाव = निवृत्ति नहीं हो सकता। प्रकृति में वितुषीकरण के द्वारा ही अवघात का होना सम्भव = सम्बन्ध है। अत: यहाँ अवघात का भी ऊह सिद्ध होता है। अत: जितने भी अंग व्रीहीनवहन्ति, समिधो यजति आदि श्रुत हैं, उन सभी का अतिदेश होता है—ऐसा दशमाध्याय के आद्य अधिकरण में पूर्वपक्ष किया गया है।

तदनन्तर सिद्धान्त किया है कि जो प्रकृति में अन्वित है, अर्थात् प्रकृति में जो अंग उपकार कर चुके हैं, उन्हीं का अवहनन, वितुषीकरण आदि के द्वारा उसी रूप से विकृति में अतिदेश होता है। यही सिद्धान्त है। इत्यलमतिप्रसंगेन इति।

शङ्का—पुरोड़ाश की निवृत्ति भले ही हो जाय; किन्तु व्रीहियों की निवृत्ति क्यों होगी? क्योंकि **नहि ते कृष्णलानां प्रकृतित्वेन सम्भवन्ति इति**। प्रकृति में भी व्रीहियों की प्राप्ति हवि: प्रकृतित्वेन ही हुई थी और विकृति में हवि: जो है, वह कृष्णलचरु ही है। कृष्णलचरु की प्रकृति = व्रीहि नहीं है, जिससे व्रीहिसम्बन्ध कहा जा सके। प्रकृति में अवहनन (अवघात) का सम्बन्ध वितुषीकरण के द्वारा ही हुआ था।

ऊह की सिद्धि इस प्रकार होगी—नीवारादिषु वितुषीकरणसम्भवात् अनिवृत्तोऽवघात इति ऊहस्यापि सिद्धि:। नीवार तो तुषसहित होने से उनका वितुषीकरण करना सम्भव है, इसलिये वहाँ अवघात का ऊह होता ही है।

बाध की सिद्धि में भी भाष्य का प्रमाण है—दशमाद्ये च यावच्छ्रुतानाम् अंगशास्त्राणामतिदेशमाशङ्क्य, प्रकृत्यन्वितानां तेन रूपेण अतिदेश: सिद्धान्तित: अर्थात् तत्र यथा कृष्णलानां पाक: अप्राकृतार्थोऽपि वचनप्रमाण्यात् क्रियते, एवमवहन्त्याद्यप्राकृतार्थमपि सर्वं कर्तव्यम् इति। यहाँ तक शङ्काभाष्य है। भाष्यगत अप्राकृतार्थ: का अर्थ है—अनुपयोगी, न कि प्रकृति में अविद्यमान (प्रकृतौ अविद्यमान: नहीं है)।

एवञ्च—'नैतदस्ति सर्वं प्राकृतं विकृतौ कर्तव्यम्' यहाँ से आरम्भ कर 'प्राकृतान्यङ्गानि यस्मै प्रयोजनाय प्रकृतौ भवन्ति, नाऽसति तस्मिन् प्रयोजने विकृतौ चोदितानि भवन्ति। तस्मात् लुप्तप्राकृतप्रयोजनं न चोदकश्चोदयति' इत्यन्तं समाधानभाष्यम्। भाष्यकार ने अपने भाष्य में सविस्तर निरूपण किया है।

ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र ने 'तेन रूपेणाऽतिदेश: सिद्धान्तित: इत्यलमतिप्रसंगेन' जो कहा है, उसका अभिप्राय यह है—प्रकृत्यन्वितानां पदार्थानाम् अवघातादीनां, प्रकृतौ येन रूपेण वितुषीकरणादि-द्वारा सम्बन्धोऽस्ति, तेनैव रूपेण विकृतावतिदेश: उक्त: तत्र च

कृष्णलेष्ववघातस्य वितुषीकरणाऽसम्भवेनाऽ-सम्भवात्, प्राप्तस्यावघातस्य बाध एवेति सिद्धान्तः। अर्थात् जो प्रकृति में अन्वित हैं, अर्थात् प्रकृति में जो कर चुके हैं, उन्हीं पदार्थों का उसी रूप से विकृति में अतिदेश किया जाता है- यही सिद्धान्त है। कृष्णलो में अवहनन (अवघात) से वितुषीकरण का होना सम्भव नहीं रहने से प्राप्त होनेवाला जो अवघात है, उसका तो बाध ही करना होगा।

यह सिद्धान्त भाट्टमत के अनुसार प्रदर्शित किया गया है।

नन्वर्थमेवाऽध्याहृत्य वाक्यं पूर्यताम्, किं शब्दकल्पनया? नाऽर्थमात्रेण पूरणं सम्भवति, एकवाक्यभूतपदप्रतिपादिता हि पदार्था वाक्यार्थम्प्रतिपादयन्ति नाऽन्यथा। न हि आनय इत्येतावत्युक्ते गाम् इत्यनुक्ते प्रत्यक्षप्रतिपन्नेऽपि गवि गवा सहाऽऽनयन मन्वीयते। एवञ्च विकृतिषु सौर्यादिष्वसमवेताऽर्थाग्न्यादिपदनिवृत्तेर्न्यूनसाकाङ्क्षमन्त्रवाक्यपूरणाय सूर्यादिपदप्रक्षेपादूहसिद्धिः।

शङ्का—अर्थाध्याहारवादी प्राभाकर के मतानुसार—**नन्वर्थमेवाऽध्याहृत्येति**। वाक्यपूर्ति ही करना है तो अर्थ का ही अध्याहार क्यों नहीं कर लेते? शब्द की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है? उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि अर्थ को स्वीकार करके ही शब्दकल्पना के द्वारा अनुपपत्ति का निवारण करना है तो अर्थ का ही अध्याहार क्यों नहीं करते? क्योंकि शब्द की कल्पना करने में गौरव होगा; जैसे—पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते—हृष्ट पुष्ट देवदत्त दिन में नहीं खाता। यहाँ पर अर्थ की कल्पना करना ही युक्तिसंगत प्रतीत होती है। जिसकी कल्पना किये विना अनुपत्ति (असम्भव) प्रतीत हो, उसी की कल्पना अर्थापत्तिप्रमाण से की जाती है। भोजन के साथ रात्रि का सम्बन्ध अवगत नहीं होने से भोजन की अनुपपत्ति प्रतीत होती है, किन्तु रात्रि-भोजन का आक्षेप करते ही अनुपपत्ति का निरास होता है। अन्यान्य दार्शनिक सविकल्पकज्ञान को स्वीकार अन्यत्र किया करते हैं, प्रस्तुत में भी उसी को स्वीकार किया जा सकता है। श्रुतार्थापत्ति भी उपपादक अर्थ की ही कल्पना करती है; किन्तु उसे प्रमाण के रूप में नहीं कहा जा सकता। अतएव भाष्यकार शबरस्वामी ने अपने भाष्य में जो श्रुत शब्द को स्वीकार किया है, वह गोबलीवर्द न्याय से दृष्ट शब्द के समान अर्थ का ही ग्राहक है। अतः अर्थापत्ति के स्थान में शब्द की कल्पना कहीं भी नहीं कर अर्थ की ही कल्पना की जाती है।

समाधान—केवल अर्थ का अध्याहार करने मात्र से वाक्यार्थ की पूर्णता नहीं हुआ करती; क्योंकि शब्द की आकांक्षा शब्द से ही शान्त होती है। शाब्द्याऽऽकांक्षा शब्देनैव पूर्यते इति न्यायात् एक- वाक्यता को प्राप्त हुए पदों से स्मारित पदार्थ ही वाक्यार्थ के प्रतिपादक हुआ करते हैं, केवल अर्थमात्र से नहीं। उक्तार्थ का प्रतिपादन व्यतिरेकमुख से कर रहे हैं—न हि आनय इत्येतावत्युक्ते गाम्- इत्यनुक्ते प्रत्यक्षप्रतिपन्नेऽपि गवि गवा

सह आनयनमन्वीयते अर्थात् आनयमात्र कहने पर गाम्–शब्द का उच्चारण नहीं करते। वहाँ सामने गो का प्रत्यक्ष होने पर भी आनयन का अन्वय गो से नहीं होता। तथैव प्रकृति में भी अग्नये जुष्टं निवपाभि–यह निर्वापमन्त्र पढ़ा गया है। सौर्यादि विकृति यागों में उक्त मन्त्र का अतिदेश होता है; क्योंकि सौर्ययाग में सूर्य देवता है, अग्नि देवता नहीं है। अतः असमवेत अर्थ रहने से अग्नि पद (शब्द) को हटाना ही पड़ेगा। अग्नये जुष्टं निर्वपामि मन्त्र से अग्नि शब्द के हटाने पर जुष्टं निर्वपामि इतना ही मन्त्र रह जायेगा। तब उस मन्त्र में न्यूनता और साकांक्षता होगी। न्यूनता और साकांक्षता से युक्त मन्त्र वाक्य की पूर्त्ति के लिये सूर्य आदि पद को रखने पर सूर्याय जुष्टं निर्वपामि—इत्याकारक ऊह की सिद्धि हो जाती है। एवञ्च शब्द का अध्याहार करने के पक्ष में ही ऊह की सिद्धि हो पाती है।

(अर्थाध्याहारपक्षखण्डनम्)

अर्थाध्याहारवादिनां तु सूर्यार्थेनाऽध्याहृतेन विशिष्टं निर्वपामि पदमेव प्रकाशयतीति नोहः सिध्येत्। तथा यत्राऽधिकारवाक्येऽर्थवादमात्रं श्रुतम 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति' इति तत्राऽपि भवन्मते विध्यर्थ एवाऽध्याहार्यः, न विधिशब्दः। ततश्च प्राकृतस्योपकारस्य पदार्थानां च नाऽपूर्वैदमर्थ्यं सिध्येत्। सत्स्वपि ह्यर्थानामाकाङ्क्षा-सन्निधियोग्यत्वेषु नाऽभिधानमन्तरेणाऽन्वयसिद्धिः। न चेहाऽपूर्वाभि-धायी शब्दोऽस्ति, योऽपूर्वंप्राकृतैरन्वितमभिदध्यात्। नाऽपि प्राकृताः शब्दा विकृतौ सन्ति, ये स्वाऽर्थानपूर्वाऽन्वितानभिदध्युः। न चाऽर्थ-वादपदार्थैस्तेषामन्वयः, नाऽप्युत्पत्त्यपूर्वेणेति अनन्वय एव स्यात्।

(इत्यर्थापत्तिवादः)

अर्थाध्याहारवादिनामिति। अर्थाध्याहार पक्ष में तो ऊह की सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थाध्याहारपक्ष में भी अग्नये जुष्टं निर्वपामि इस मन्त्रघटक अग्निपद की निवृत्ति अप्रकृत अर्थ होने से होना आवश्यक ही है। अतः निर्वपामि पद से ही अध्याहृत सूर्यार्थ-विशिष्ट जुष्टरूप अर्थ प्रकाशित हो जायेगा, इसलिये सूर्य पद का ऊह होगा ही नहीं। इस प्रकार ऊह की तो असिद्धि ही कही जायेगी। अर्थाध्याहार पक्ष में एक अन्य दोष को भी 'यत्राधिकारवाक्येऽर्थवादमात्रं श्रुतम्' से बता रहे हैं। प्रतितिष्ठन्ति कहने से रात्रिसत्र की प्रशंसा ही श्रुत होती है। प्रतिष्ठकामो रात्रिसत्रं कुर्यात्—इत्याकारक कोई विधिवाक्य नहीं है।

किन्तु शब्दाध्याहारपक्ष में रात्रिसत्रं कुर्यात् इत्याकारक विधिवाक्य की कल्पनामात्र करने से सबकुछ संगत (समञ्जस) हो जाता है और अर्थाऽध्याहार पक्ष में विध्यर्थ का ही अध्याहार करना होगा, उसी कारण प्रकृति से प्राप्त होनेवाले उपकार का और विध्यन्तान्तःपाति पदार्थों का अपूर्वैदमर्थ्य = अपूर्वार्थत्व = अपूर्वान्वयित्व नहीं हो सकेगा; क्योंकि शाब्दी ह्याकांक्षा शब्देनैव प्रपूर्यते– अर्थात् शब्दी आकांक्षा की शान्ति शब्द से ही

की जाती है। इस नियम के अनुसार शब्द से प्रतिपादित अर्थ का अन्वय शब्दप्रतिपादित अर्थ से ही हुआ करता है, न कि अध्याहृत अर्थ से भी। एवञ्च शाब्द के द्वारा प्रतिपादित पदार्थों का और उपकार का अन्वय शब्द के ही साथ होगा; किसी अध्याहृत विध्यर्थ के साथ नहीं। विध्यर्थ के साथ अन्वय नहीं होने के कारण उनमें अपूर्वार्थत्व भी नहीं हो सकेगा।

शङ्का—यदि यह कहें कि आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि को देखते हुए अध्याहृत अपूर्व के साथ भी प्राकृत पदार्थ तथा उपकार का अन्वय किया जा सकता है। अतः अर्थाध्याहार पक्ष में कोई दोष नहीं है।

समाधान—मूलगत अभिधान का अर्थ है—शब्देन प्रतिपादनम् अर्थात् शब्द के द्वारा बताना। जैसे 'आनय' कहने पर अंगुली के द्वारा घट का निर्देश किये जाने पर भी तथा आकांक्षा आदि के रहने पर भी आनयन के साथ घट का सम्बन्ध नहीं होता है।

प्रश्न—आनयन के साथ घट का सम्बन्ध नहीं होने में क्या कारण है?

उत्तर—आनयन शाब्द है अर्थात् शब्द के द्वारा बताया गया है और घट को शब्द के द्वारा नहीं बताया गया है। उसी प्रकार प्रस्तुत में भी समझना चाहिये। न्यायरत्नमाला में कहा भी गया है—

प्रमाणान्तरविज्ञातैः पदार्थैर्न हि दृश्यते।
वाक्यार्थवेदनं शब्दप्रततेः कारणं त्वथ ॥ इत्यादि।

अन्वय न होने में एक अन्य कारण भी बता रहे हैं—**न चेहाऽपूर्वाऽभिधायीति**। इह = प्रतितिष्ठन्ति ह वा इस वाक्य में। यदि इस वाक्य में अपूर्व को बताने वाला कोई शब्द होता तो अपूर्व की शब्द के द्वारा प्रतीति होने से शब्द प्रतिपादित अपूर्व के साथ शब्दप्रतिपादित प्राकृत पदार्थों का अन्वय भी हो सकता था, किन्तु ऐसी स्थिति नहीं है।

अन्वय नहीं होने में एक और भी कारण है—**नाऽपि प्रकृता शब्दाः विकृतौ सन्तीति**। प्रकृतिगत शब्दों से ही प्राकृत पदार्थों को बतलाया जाता है। विकृति में प्राप्त हुए प्राकृत शब्द विकृतिजन्य अपूर्व से अन्वित हुए स्वार्थ को ही बतायेंगे, उसी कारण से अपूर्व के साथ अन्वयाऽनुपपत्ति भी नहीं हो सकेगी। प्राकृत शब्दों का विकृति में पाठ भी नहीं किया गया है और तुम्हारे मत में शब्दाध्याहार भी नहीं माना गया है। अतः प्राकृत शब्दों की प्राप्ति भी विकृति में नहीं है, जिससे कि वे विकृतिजन्य अपूर्व से अन्वित हुए स्वार्थ को बता सकें।

किञ्च—अध्याहृत प्राकृत पदार्थों का अन्वय होना शब्द से प्रतिपद्यमान अर्थवाद पदार्थों के साथ भी सम्भव नहीं है; क्योंकि शाब्दों का अन्वय शाब्दों के साथ ही सम्भव होता है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने मूल में कहा है—**न चार्थवादपदार्थैस्तेषामन्वयः, नाऽप्युत्पत्त्यपूर्वेणेत्यनन्वय एव स्यादि इति**।

शङ्का—प्राकृत पदार्थ और उपकार का अधिकारापूर्व से भले ही अन्वय न हो, किन्तु उत्पत्त्यपूर्व के साथ अन्वय हो जायेगा।

समाधान—प्राकृत पदार्थ अपूर्व का उत्पत्त्यपूर्व के साथ अन्वय नहीं होगा। अभिप्राय यह है कि अर्थाध्याहार पक्ष में अन्वय नहीं होने के कारण वह पक्ष उचित नहीं है। इसलिये शब्दाध्याहारपक्ष ही उचित है।

विशेष—अर्थाध्याहारपक्ष में ऊह की सिद्धि नहीं हो पाती। इस पक्ष में सूर्यरूप अर्थ का अध्याहार हुआ है। उस अर्थ से विशिष्ट निर्वपामि पद ही अर्थ का प्रकाशक होता है। अतः ऊह की सिद्धि नहीं होगी। अर्थाध्याहार के पक्ष में एक और भी दोष है—तथा यत्राऽधिकारवाक्ये अर्थवादमात्रं श्रुतम् प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्री रूपयन्ति इति तत्रापि भवन्मते विध्यर्थ एव अध्याहार्यः, न विधिशब्दः। जिस वाक्य के समीप अर्थवाद 'वह प्रतिष्ठित होता है' ही सुना जाता है, जो उस रात्रिसत्र का अनुष्ठान करता है। यहाँ रात्रि 'शब्द से ज्योतिर्गौरायुः- समझना चाहिये। यही रात्रिसत्र का उत्पत्तिवाक्य है। इस रात्रिसत्र की प्रकृति द्वादशाह है। इस बात को माधवाचार्य ने रात्रिसत्राधिकरण में बतलाया है— द्वादशाहादूर्ध्वं भाविनस्त्रयोदशरात्रचतुर्दशरात्रादयः सर्वे सत्रविशेषाः। त्रयोदश-सङ्ख्याका रात्रयो यस्मिन् सत्रविशेषे सोऽयं त्रयोदशरात्रः इति। समुदायप्राधान्येन एकवचना-न्ततया प्रायेण निर्देशो भवति। क्वचित्तु समुदायिनां रात्रिविशेषाणां प्रत्येकं प्राधान्यमभ्यु-पेत्येक एव सत्रविशेषो बहुवचनान्तेन रात्रिशब्देन आम्नायते, तद् यथा—ते एता विंशति-रात्रीरपश्यन् इति तादृशे रात्रिसत्रे इति। उत्पत्तिवाक्य तो ज्योति गौः वाक्य ही है, इसे ग्रन्थकार स्वयं ही बतायेंगे—रात्रिशब्देन ज्योतिर्गौरित्यादिवाक्योत्पादितानि सौर्यादि-कर्माण्युच्यन्ते इति।

एवं प्रकृतावपि सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ इत्यत्र विधिशब्द-स्याऽनाम्नानादनध्याहाराच्च विध्यर्थस्यैव स्वर्गकामाधिकारापूर्वादा-ग्नेयाद्युत्पत्त्यपूर्वेभ्यश्च पृथग्भूतस्याऽध्याहारात्र समिदादीनामैदमर्थ्यं सिध्येत्। न हि समिदादिवाक्यगतयजतयोऽवघातादिवधिकाराऽपूर्वा-न्वितं स्वार्थमभिधातुमलम्, स्वाऽपूर्वविषयत्वव्याघातात्। तस्मादीदृशे-ष्वधिकारविधिषु विधिशब्द एवाऽध्याहार्यः, नाऽर्थः।

विकृति में अर्थाध्याहारपक्ष को असम्भव बताकर प्रकृति में भी उसका असम्भव बता रहे हैं—**एवं प्रकृतावपीति**। समस्त इष्टियों की प्रकृति दर्शपूर्णमास नामक इष्टि है। उसके विषय में भी एक अर्थवाद वाक्य ही इस प्रकार सुनाई देता है—सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ इति । उसके विषय में विधि- शब्द नहीं श्रुत हो रहा है। तुम्हारे मत में शब्दाध्याहार के नहीं होने से अर्थाध्याहार ही माना जायेगा। उसी कारण अधिकाराऽपूर्वरूप जो विध्यर्थ, उसी का अध्याहार करना होगा। वह अधिकाराऽपूर्व आग्नेयादि के उत्पत्त्यपूर्व

से भिन्न है, उसी को आप अध्याहार मान रहे हैं। अतः समिदादि प्रयाजयागों की अधिकाराऽपूर्वार्थता सिद्ध नहीं होगी; क्योंकि समिदादि वाक्यों से विहित याग स्वविषयक अर्थात् अपूर्वविषयक हुआ करते हैं। वे अधिकाराऽपूर्व के लिये नहीं होते। अवघातादि अंग तो अधिकाराऽपूर्व से अन्वित स्वार्थ को बताते हैं। अभिप्राय यह है कि अवघातादि जो हैं, वे अधिकाराऽपूर्व से अन्वित स्वार्थ को बताते हैं और समिद्यागादि तो अधिकाराऽपूर्व से अन्वित अर्थ को नहीं बताते हैं, तो भी वे स्वाऽपूर्वविषयक होते हैं। यह ध्यान में रखने की बात है। अतः इस प्रकार के अधिकार वाक्यों में विधि शब्द का अध्याहार करना योग्य ही माना जाता है। अर्थ का अध्याहार करना उचित नहीं है।

कथं च विध्यर्थस्याऽत्यन्ताऽलौकिकतया प्रमाणेन तदाभासेन वा बुद्धावारोपयितुमशक्यत्वेनाऽभिमतस्य बुद्धिसन्निधानात्मकोऽध्याहारः, अश्रुतविधिशब्दकेष्वधिकारवाक्येषु वा उत्पत्तिवाक्येषु—यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायाम् इत्यादिषु वा शक्यते? इति अकामेनाऽपि शब्दाध्याहारोऽङ्गीकर्तव्य इत्यास्तां तावत्।

।। अर्थापत्तिपरिच्छेदः समाप्तः ।।

विकृति में अर्थाध्याहारपक्ष की उपपत्ति नहीं हो पाती—यह बता चुके, अब प्रकृतियाग में भी उक्त पक्ष की उपपत्ति का नहीं होना बतला रहे हैं। विध्यर्थ का अध्याहार करना सम्भव ही नहीं है—**कथं च विध्यर्थस्येति**। ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र का अभिप्राय यह है कि अध्याहार्य पदार्थ का अपनी बुद्धि में आरोप करना ही तो अध्याहार पदार्थ है। कहा भी है—कः पुनरयमध्याहारोनाम? अधिकत्वस्य बुद्धौ निवेशनम् इति। तत्र लोके प्रमाणेन प्रमाणाभासेन वाऽनुभूतस्य घटादेः शुक्तिरजतादेश्च बुद्धावारोपः सम्भवति, नत्वननुभूतस्याऽपि, विध्यर्थश्च सर्वार्थाऽलौकिकत्वादननुभूत इति, कथं तस्य बुद्धावारोपस्तदात्मकश्चाऽध्याहारः स्यात्? अलौकिकत्वादेव हि विध्यर्थो बुद्धावारोपयितुमशक्य इति राद्धान्तः। तथा चाऽश्रुतविधिशब्दकेष्वधिकारवाक्येषु सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ इत्यादिषु यदाग्नेयोऽष्टाकपालोमावास्यायाम् इत्यादिषूत्पत्तिवाक्येषु च विध्यर्थस्याऽध्याहाराऽसम्भवाद् विधिशब्दस्यैवाऽध्याहारः कर्तव्य इत्यकामेनाऽपि = शब्दाध्याहारमनिच्छताऽपि प्रभाकरेण शब्दाध्याहारेऽङ्गीकर्तव्यः। उक्तं च वार्तिकेऽपि—

तामर्थगोचरां केचिदपरे शब्दगोचराम्।
कल्पयन्त्याऽऽगमाच्चैनामभिन्नाम्प्रतिजानते ।।

यहाँ पर 'ताम्' शब्द से अर्थापत्ति का ग्रहण करना चाहिये। अब अर्थाध्याहार का खण्डन कर रहे हैं— सविकल्पकविज्ञानैः शब्दः पूर्वम्प्रतीयते।। इत्यादि।

अन्यत्र भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।। इति।
प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपं न जायते ।
वस्तुसत्ताऽवबोधार्थं तत्राऽभावप्रमाणता ।। इति।।

अभी तक विध्यर्थ का अध्याहार मानकर दोषप्रदर्शन किया गया; किन्तु विध्यर्थ का अध्याहार करना सम्भव नहीं है; इस तथ्य को बता रहे हैं—**कथं च विध्यर्थस्याऽत्यन्ताऽलौकिकतया प्रमाणेनेति**। अर्थात् विध्यर्थ शास्त्रैकसमधिगम्य है। विध्यर्थ का ज्ञान एकमात्र शास्त्र से ही हो सकता है, अन्य किसी साधन से नहीं। अतः उसे नितान्त अलौकिक कहा जाता है। प्रत्यक्षादि प्रमाण से अथवा प्रमाणाभास से अनुभूत घट आदि पदार्थों का तथा शुक्ति–रजतादि का आरोप बुद्धि में करना तो सम्भव हो सकता है। जो अनुभूत पदार्थ नहीं है अर्थात् अननुभूत पदार्थ का आरोप करना बुद्धि में कदापि सम्भव नहीं है और विध्यर्थ तो सर्वथा अलौकिक ही है, उसी कारण वह अननुभूत ही है। अतः उसका बुद्धि में आरोप और तदात्मक अध्याहार करना कैसे सम्भव होगा? अलौकिक होने से ही विध्यर्थ का बुद्धि में आरोप करना शक्य नहीं है—यह सिद्धान्त है। तथा च सर्वेभ्यः कामभ्यो दर्शपूर्णमासौ जैसे अश्रुत विधिशब्दक अधिकारवाक्यों में तथा यदाग्नेयोष्टाकपालोऽमावास्यायाम् इत्यादि कर्मोत्पत्तिवाक्यों में विध्यर्थ का अध्याहार करना सम्भव नहीं हो सकने से विधि शब्द का ही अध्याहार करना चाहिये। एवञ्च शब्दाध्याहार करने की इच्छा न रहने पर भी उसे (प्रभाकर को) शब्दाध्याहार का स्वीकार करना ही पड़ेगा। वार्त्तिककार भट्टपाद ने भी कहा है—

तामर्थगोचरां केचिदपरे शब्दगोचराम् ।
कल्पयन्त्याऽऽगमाच्चैनामभिन्नां प्रतिजानते ।।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि विध्यर्थ का अध्याहार करना सम्भव नहीं है; क्योंकि वह (विध्यर्थ) शास्त्रैकसमधिगम्य है। इसीलिये उसे अलौकिक कहा जाता है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अथवा तदाभासों से उस अलौकिक अध्याहार को बुद्ध्यारूढ़ करना ही आप आवश्यक समझते हैं; किन्तु जिन अधिकार वाक्यों में अथवा उत्पत्तिवाक्यों में विधिशब्द नहीं सुनाई देता, उन स्थलों में आप अर्थ का अध्याहार कैसे कर सकेंगे? अतः आपको इच्छा नहीं रहने पर भी शब्दाध्याहार को स्वीकार करना ही होगा। जैसे—सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ इस वाक्य में विधि शब्द नहीं सुनाई दे रहा हैं। अतः यहाँ विधि शब्द का अध्याहार आपको करना ही होगा अर्थाध्याहार पक्ष को स्वीकार करने पर ऊह तथा बाध की सिद्धि नहीं हो सकेगी। और शब्दाध्याहार पक्ष को मानने पर ऊह तथा बाध दोनों को निर्दोष सिद्ध किया जा सकता है। इसलिये शब्दाध्याहार को स्वीकार करना समुचित ही है।

प्रश्न—अध्याहार का स्वरूप क्या है?

उत्तर—अधिकस्य बुद्धौ निवेशनमध्याहारः।

विशेष—अर्थापत्ति प्रमाण के सम्बन्ध में मीमांसक और नैयायिक दोनों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। नैयायिकों का कहना है कि अर्थापत्ति नामक कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, वह तो हमारे केवलव्यतिरेकि अनुमान प्रमाण में ही अन्तर्भूत हो जाता है। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के गुणनिरूपण प्रसंग में कहा है कि अर्थापत्तिप्रमाणजन्या प्रमा व्यतिरेकव्याप्ति के सहारे अनुमानरूपा उत्पन्न होती है। इसी को कारिकाकार ने कहा है—व्यतिरेकव्याप्तिबुद्ध्या चरितार्था हि सा यतः ।।

मीमांसकों (पूर्वोत्तर मीमांसकों) का कहना है कि—उपपादकज्ञानहेतुभूतमुपपाद्यज्ञानमर्थापत्तिः प्रमाणम् और उसका फल है—उपपादकज्ञानमर्थापत्तिः प्रमा। जैसे—पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते–यहाँ पर पीनत्व का होना रात्रि भोजन की अनुपपत्ति रहने पर असम्भव ही है। अतः रात्रिभोजन की कल्पना करनी पड़ती है। यहाँ पर उपपादकज्ञान हेतुभूत पीनत्वज्ञान उपपाद्य होकर अर्थापत्ति को प्रमाण माना जाता है और रात्रिभोजनज्ञान उपपादक होकर अर्थापत्ति को प्रमा माना जाता है। जो अर्थ अन्य किसी कल्पना के विना उपपन्न नहीं हो पाता, उस अर्थ को उपपाद्य कहते हैं और जिस कल्पनीय अर्थ के अभाव में उपपाद्य की उपपत्ति नहीं हो पाती, उस अर्थ को उपपादक कहते हैं। यह स्मरण रखना चाहिये। मीमांसकों का कहना है कि कितने ही कार्य ऐसे हैं, जो केवलव्यतिरेकि अनुमान से सिद्ध नहीं हो सकते। इसलिये मीमांसकों ने अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। जहाँ पर व्याप्ति तथा पक्षधर्मता से किसी वस्तु का ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं और जहाँ दो प्रमाणों के विरोध-परिहारार्थ अर्थान्तर की कल्पना की जाती है, उसे अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं। यही कारण है कि अनुमान प्रयोग करने में अनुमिनोमि—इत्याकारक अनुव्यवसाय होता है और अर्थापत्ति में कल्पयामि—इत्याकारक अनुव्यवसाय होता है। भाट्टचिन्तामणिकार श्रीगागाभट्ट ने अर्थापत्तिस्थल में अर्थापयामि इत्याकारक अनुव्यवसाय स्वीकार किया है। पर्वत में अग्नि का अनुमान किया जाता है—यह सर्वानुभवसिद्ध है। पर्वत में अग्नि की कल्पना होती है—ऐसा कोई नहीं कहता। इसलिये अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में ही मानना चाहिये।

श्लोकवार्तिककार ने अर्थापत्ति को अनुमान से पृथक् प्रमाण मानने का कारण बतलाया है कि स्मृति से श्रुतिकल्पना करने में तथा लिङ्ग आदि प्रमाणों से श्रुति की कल्पना करने में कोई सम्बन्ध नहीं है। ज्ञातसम्बन्ध ही लिङ्ग–लिङ्गी का अनुमापक हुआ करता है; क्योंकि अनुमितिज्ञान में व्याप्तिज्ञान ही करण माना गया है और वह्निव्याप्यधूमवानयम्—इत्याकारक परामर्श को व्यापार माना गया है। उसी से पर्वतो वह्निमान्—यह ज्ञान हो पाता है, उसी को अनुमिति कहते हैं। अज्ञात सम्बन्ध लिङ्ग–लिङ्गी का अनुमापक नहीं होता। सम्बन्ध के ज्ञात न होने के कारण अनुमान से श्रुति की कल्पना नहीं की जा सकती। अतएव विश्वजित् याग में स्वर्गरूप की कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण से ही की जाती है, अनुमान से नहीं; क्योंकि व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है।

इसलिये मीमांसकों ने अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण ही माना है।

(अभावात्मकाऽनुपलब्धिप्रमाणनिरूपणम्)

अभावोऽपि प्रमाणाऽभावो नास्तीत्यस्याऽर्थस्याऽसन्निकृष्टस्य इति। कथं पुनः प्रमाणाऽभावः प्रमाणलक्षणं विपरीतत्वात्? पूर्वोक्तसदुपलम्भक-प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकाऽभिप्रायोऽयं प्रमाणशब्दः। तदभावश्च षष्ठस्य लक्षणमिति नाऽनुपपत्तिः। किमस्य प्रमेयम्? उक्तम्– नास्तीत्यर्थस्य इति। सर्वं हि वस्तु सदसदात्मना द्विविधम्। तद् यदा यत्र सद्रूपेण वर्तते घटादि तत्तदा तत्र प्रत्यक्षादिभिरस्तीति प्रतीयते। यत्र त्वसद्रूपेण वर्तते तत्र सद्रूपेण बोधकानां प्रत्यक्षादीनां सद्रूपबोधनायोत्पत्तुं योग्यत्वे सत्यपि योऽनुत्पादो दृश्याऽदर्शनयोग्यानुपलम्भादिपर्यायो भाष्ये प्रमाणाऽभाव-शब्देनोक्तः, तेनैवेन्द्रियशब्दादिस्थानीयेन नास्तीति प्रलमीयते भूतलेऽत्र घटो नाऽस्तीति।

इन्द्रियव्यापार अधिकरण का ग्रहण करके ही समाप्त (क्षीण) हो जाता है। तब इन्द्रिय तो अभाव का ग्राहक हो नहीं सकता, उसी कारण अभाव के ग्राहक अनुपलब्धि-संज्ञक षष्ठ (छठे) प्रमाण का निरूपण करने के लिये भाष्यकार शबरस्वामी के द्वारा प्रतिपाद्यमान अनुपलब्धि लक्षण अभाव का निरूपण ग्रन्थकार कर रहे हैं—**अभावोऽपि प्रमाणाऽभावो नास्तीत्यस्याऽर्थस्येति**।

अभाव का अर्थ है—अनुपलब्धि। प्रमाणाऽभाव का अर्थ है—पूर्वोक्त प्रत्यक्षादि प्रमाण पञ्चक से भिन्न जो नास्ति शब्द से बोध्य। अभावसंज्ञक पदार्थ का ग्राहक अभाव का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष (सम्बन्ध) ही नहीं है, इसालिये अभाव का ग्रहण इन्द्रिय से नहीं होता। एवञ्च अभावस्य न इन्द्रियग्राह्यत्वम्। अतः षष्ठ प्रमाण को स्वीकार करना आवश्यक है।

मूल ग्रन्थगत अभावोऽपि प्रमाणाऽभावो नास्तीत्यस्यार्थस्याऽसन्निकृष्टस्य इति—यहाँ असन्निकृष्टस्य पद का अर्थ है—प्रमाणाऽन्तरेण अप्रतीतस्य। अभाव का ग्राहक होने से प्रमाणस्याऽपि आभावः प्रमाण का भी अभाव, जो किसी प्रमाण से प्रतीयमान नहीं होता। यह षष्ठ प्रमाण अभाव का ग्राहक होने से प्रमाणस्याऽपि अभावः = प्रमाण का भी जो अभाव, उसी को प्रमाणाऽभाव कहना होगा। वार्तिककार ने कहा भी है—

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपेन जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राऽभावप्रमाणता ।।

शङ्का—जैसे घटाऽभाव का घटत्व संगत (उपपन्न) नहीं होता, उसीतरह प्रमाणा-ऽभाव का प्रमाणत्व भी उपपन्न नहीं हो सकता। इसलिये प्रमाणाभाव को प्रमाण का लक्षण (प्रमाण का स्वरूप) कैसे कहा जायेगा? क्योंकि विपरीतत्वात् अर्थात् प्रमाण

और प्रमाणाऽभाव—दोनों में परस्पर विरोध रहने से ऐक्य का होना सम्भव नहीं है।

समाधान—पूर्वोक्तसदुपलम्भकप्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकाभिप्रायोऽयं प्रमाणशब्दः तदभावश्च षष्ठस्य लक्षणमिति नाऽनुपपत्तिः। यहाँ पर सदुपलम्भक अर्थात् भावपदार्थ का ग्राहक। प्रमाण शब्द से भावपदार्थग्राहक प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चक समझना चाहिये। मूलगत 'तदभावश्च' से यह समझना होगा कि प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकभिन्नत्व अथवा भावपदार्थाऽग्राहकत्व। अनुपलब्धिसंज्ञक षष्ठ प्रमाण का लक्षण (स्वरूप) है। एवञ्च- प्रमाणाऽभाव को प्रमाण कहने में कोई अनुपत्ति नहीं है। प्रमाणाऽभाव कहिये अथवा अनुपलब्धि कहिये, कोई अन्तर नहीं है। दोनों पर्याय अर्थात् नामान्तर ही हैं। प्रमाणाऽभाव शब्द से नैयायिक पद्धति के अनुसार घटाऽभाव के समान प्रमाणत्वावाच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽभाव प्रमाण नहीं समझना चाहिये। **किमस्य प्रमेयमिति?** इस पूर्वपक्ष को उपस्थित कर पूर्वपक्षी अनुपलब्धिप्रमाण के प्रमेय को पूछ रहा है।

उक्त पूर्वपक्ष का उत्तर सिद्धान्ती दे रहा है—**उक्तम्—नास्तीत्यर्थस्य इति**। जैसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से घटादि भावपदार्थ का ग्रहण होता है, वैसे ही इस षष्ठ प्रमाण से घटादि के अभाव से घटादि के अभाव का ग्रहण होता है, उस कारण इस अनुपलब्धि-संज्ञक प्रमाण का प्रमेय अभाव ही होता है। अब अनुपलब्धि प्रमाण की प्रवृत्ति का प्रकार और काल का उपपादन कर रहे हैं—**सर्वं हि वस्तु सदसदात्मनेति**। जैसे घट स्वरूपेण सत् है और स्वाऽभावरूप से असत् रहता है, इसी प्रकार सभी पदार्थ (वस्तुएँ) द्विविध (दो प्रकार की) होते हैं। ऐसी स्थिति में जब घट स्वरूपेण रहता है, तब वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीत होता है और जब घट स्वाभावरूप से रहता है, तब सद्रूपबोधक प्रत्यक्ष आदि की उत्पत्ति का तत्तत्कारणकलाप के रहने पर भी जो अनुत्पाद जिसे दृश्याऽदर्शनादि शब्द से कहा जाता है, उसी को भाष्यकार ने प्रमाणाऽभाव शब्द से कहा है। अभाव प्रमिति के करणभूत बने हुए उससे नास्तीति = अर्थात् घटो नास्ति इत्याकारक घटाद्यभाव की प्रतीति होती है। इस रीति से अभाव की प्रमिति (ज्ञान) कराने में अनुपलब्धि नामक प्रमाण सावकाश है। वह निरवकाश नहीं है।

अर्थात् जहाँ पर घट-पटादि सद्रूप से रहते हैं, वहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अस्ति इत्याकारक ज्ञान होता है और जहाँ असद्रूप से रहते हैं, वहाँ सद्रूप से बोध कराने वाले प्रत्यक्षादिप्रमाणों की की योग्यता रहने पर भी उनकी जो अनुपस्थित है, उसी को भाष्यकार ने प्रमाणाभाव शब्द से कहा है। इस प्रमाणाभाव के ही अन्यान्य पर्याय भी हैं, जिन्हें दृश्याऽदर्शन, योग्याऽनुपलम्भ आदि शब्दों से कहा जाता है। इन्हें इन्द्रियस्थानापन्न समझा जाता है। जैसे पदार्थ (वस्तु) का बोध कराने में तत्तद्ज्ञानेन्द्रिय को करण (असाधारण कारण) कहा जाता है, उसी तरह अभाव का बोध कराने में अनुपलब्धि प्रमाण को करण कहा जाता है। वार्त्तिककार ने कहा भी है—

प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रत्यक्षाभाव उच्यते ।
सात्मनःपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि ॥
(श्लोकवार्त्तिक, अभावप्रकरण कारिका-११)।

नास्ति इत्याकारक जो प्रतीतिसिद्ध अर्थ है, वह भूतल से अतिरिक्त स्मर्यमाण घटविषयक है। भूप्रदेश तो उसका अधिकरण है और वही प्रमेय है। नास्तितारूप अभावात्मक प्रमेय चार प्रकार के होते हैं, उनका संग्रह वार्त्तिककार ने किया है—

वस्त्वसंकरसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रया ।
क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते ॥
नास्तिता पयसा दध्नि प्रध्वंसाऽभाव उच्यते ।
गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योऽन्याभाव उच्यते ॥
शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिता ।
शशशृंगादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते ॥
क्षीरे दधि भवेदेवं दध्नि क्षीरं घटे पटः ।
शशे शृंगं पृथिव्यादौ चैतन्यं मूर्तिरात्मनि ॥
अप्सु गन्धो रसश्चासौ वायौ रूपेण तौ सह ।
व्योम्नि संस्पर्शता ते च न चेदस्य प्रमाणता ॥
न च स्याद्व्यवहारोऽयं कारणादिविभागतः ।
प्रागभावादिभेदेन नाऽभावो भिद्यते यदि ॥
(श्लोकवार्त्तिक–अभावप्रकरण–कारिका–२-७)।

निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करने में इन्द्रिय को करण कहा जाता है और शाब्दबोध में शब्द को अथवा शब्दज्ञान को कारण माना जाता है, उसी तरह अभाव का प्रत्यक्ष करने में अभावप्रमाण को ही करण कहा जाता है। यह अभाव चार प्रकार का होता है। उक्त चतुर्विधता को वार्त्तिककार ने श्लोकवार्त्तिक में बतलाया है—

क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते ।
(भाट्टचिन्तामणिकार गागाभट्ट ने प्रागभाव को स्वीकार नहीं किया है।)।
नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभाव इष्यते ॥
गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते ।
शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः ।
शशशृंगादिरूपेण सोऽत्यन्ताऽभाव उच्यते ॥ इति ॥

शङ्का—प्रमेय के विद्यमान रहने पर ही उसके प्रतीत्यर्थ प्रमाण को स्वीकार किया जाता है। अभावसंज्ञक कोई पदार्थ है ही नहीं। घटो नास्ति अर्थात् घटाऽभाव कहने पर अधिकरण के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की प्रतीति नहीं होती, जिसकी प्रतीति

के लिये इस षष्ठ पदार्थ (अभाव = अनुपलब्धिरूप) को स्वीकार किया जाय? कहा भी है—

तत्र पञ्चविधं मानं प्रत्यक्षमनुमा तथा ।
शास्त्रं तथोपमानार्थापत्ति इति गुरोर्मतम् ।।
अभावाख्यं प्रमाणं ये षष्ठमाहुर्मनीषिणः ।
तेषां प्राभाकरैरेवं प्रत्यादेशोऽयमुच्यते ।।
प्रमाणं खलु कस्याऽपि प्रमेयस्यावबोधकम् ।
तस्याऽभावस्य किं तावत् प्रमेयमिति चिन्त्यताम् ।।
ननु नास्तीतिबुद्धौ तु बोध्यं यदुपकल्पितम् ।
अभावस्य प्रमाणस्य तत् प्रमेयं भविष्यति ।।

(परिहारमाह)—

तत्र तन्मात्रधीर्येयं दृश्ये च प्रतियोगिनि ।
नास्तित्वं सैव भूभागे घटादिप्रतियोगिनः ।।
मेयाऽभावे ततो मानमभावाख्यं कथं भवेत् ।।
अभावव्यवहारोऽपि निःशङ्कगमनादिकः ।
तन्मात्राऽनुभवेनैव यथोक्तेन प्रवर्तते ।।
यदा यत्र च दृश्यत्वं सत्यप्यनुपलम्भनम् ।
तदाऽभावव्यवहृतिस्तदानीं सम्प्रवर्तते ।। इति ।।

(प्रभाकरमतस्याऽनुवादः)

यस्तु नास्तित्वमपह्नुत्य प्रमेयाऽभावात् षष्ठं प्रमाणं नास्तीत्याह, तस्य दृश्याऽदर्शनाऽनन्तरं नास्तीह भूतले घट इत्येवमुपजायमानस्य ज्ञानस्य किमालम्बनम्? न भूतलम्, सत्यपि घटे प्रसङ्गात्। तथा गवि योऽश्वोऽयं न भवतीति प्रत्ययः, रूपे च रसो न भवतीति तस्य किमालम्बनम्? न गोरूपम्, तस्य प्रतियोग्यनपेक्षप्रतीतिकत्वात्। अश्वो न भवतीति ज्ञानस्य प्रतियोग्यपेक्षत्वात्। गोरूपाऽऽलम्बनत्वे च सिंहादावश्वोऽयं न भवतीति प्रत्ययो न स्यात्, गोरूपस्य तत्राऽभावात्।

यस्त्विति । जो प्रभाकर तथा तत्पक्षीय अनुयायी अभावाऽभावादी हैं, वे नास्तित्वम् अर्थात् अभाव पदार्थ का अपह्नुत्य = अपलाप करके कहते हैं कि अभावसंज्ञक तो कोई पदार्थ ही नहीं है, अतः **प्रमेयाऽभावात् षष्ठं प्रमाणं नास्ति**। अभिप्राय यह है कि प्रमेय हो तो प्रमाण की आवश्यकता होती है। जब प्रमेय ही नहीं है, तो उसके बोधनार्थ प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है। एवञ्च अनुपलब्धि- (अभाव) रूप षष्ठ प्रमाण को अनावश्यक समझनेवाले प्रभाकरानुयायियों के मत में दृश्याऽदर्शनानन्तरम् = दर्शनयोग्य घटादि पदार्थ के अदर्शनानन्तर = अनुपलब्धि के अनन्तर (पश्चात्) घटो नास्ति इत्या-

कारक होनेवाले ज्ञान का किम् आलम्बनम् कौन सा विषय कहलायेगा; क्योंकि ज्ञान, इच्छा, कृति आदि पदार्थ सर्वदा सविषयक ही हुआ करते हैं—यह नियम है। तब घटो नास्ति इत्याकारक अभावज्ञान का विषय भूतल तो हो नहीं सकता; क्योंकि घट के विद्यमान रहने पर भी भूतल की विद्यमानता रहती ही है, उसी कारण घटो नास्ति यह ज्ञान होने का प्रसंग आ जायेगा। तब अन्योऽन्याऽभाव का विषय पूछ रहे हैं—**तथेति**। गौः अश्वो न भवति, रूप रस नहीं है = रूपं रसो न भवति- यह ज्ञान तो होता ही है। यदि अभाव नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है, तो अभाव ज्ञान का विषय किसे बनायेंगे? क्योंकि ज्ञान तो विना विषय के होता ही नहीं। उक्त ज्ञान का विषय, न गौ को कह सकते हैं और न रूप को कह सकते हैं।

शङ्का—उक्त ज्ञान का विषय गोरूप को ही कहा जाय तो क्या हानि है?

समाधान—उक्त ज्ञान का विषय गोरूप नहीं कह सकते; क्योंकि गोरूप ज्ञान को प्रतियोगिज्ञान की अपेक्षा नहीं होती; किन्तु गौः अश्वो न भवति इस ज्ञान को तो प्रतियोगी जो अश्व, उसके ज्ञान की अपेक्षा हुआ करती है; क्योंकि अभावज्ञानस्य प्रतियोगिज्ञान-सापेक्षत्वात् अर्थात् अभावज्ञान को प्रतियोगिज्ञान की अपेक्षा सर्वदा ही रहती है। प्रस्तुत में गोरूप निष्ठ विषयता नहीं है। यदि गोरूप में ही विषयता रहती तो अश्वज्ञान के विना भी गौः अश्वो न भवति इत्याकारक ज्ञान हुआ होता, किन्तु होता नहीं है। इसी प्रकार रूपं रसो न भवति—यहाँ भी समझ लेना चाहिये।

गौः अश्वो न भवति—इस स्थल में गोरूप को विषय मानने पर एक दूसरा दोष प्राप्त होगा— गोरूपाऽऽलम्बनत्वे च सिंहादावश्वोऽयं न भवतीति प्रत्ययो न स्यात्, गोरूपस्यतत्राऽभावात्। अर्थात् अश्वो न भवति इत्याकारक ज्ञान को गोरूपविषयक यदि मानें तब सिंह आदि में गोरूप के नहीं रहने से (गोरूप का अभाव रहने से) विषय का ही अभाव होगा, उसी कारण सिंहः अश्वो न भवति यह प्रतीति नहीं हो पायेगी। गोरूपस्य = गवाकृतेः और तत्र का अर्थ सिंहादौ अभावात् समझना चाहिये।

अथ योऽश्वाद् भेदो गवादिष्वनुस्यूतः सोऽस्यालम्बनमित्युच्यते? कोऽयं भेदो नाम? यदीतरेतराऽभावः समाश्रितस्तर्ह्यभावः। अथ पृथक्त्वं नामगुणविशेषो भेद इत्युच्यते? ततस्तस्य द्रव्यगतत्वाद् गुणेषु रूपादिषु रसो न भवति रूपम्, रूपं न भवति रसः– इतीतरेतराऽभावप्रत्ययो न स्यात्।

अर्थात् गौरश्वो न भवति इत्याकारक ज्ञान का अश्वभिन्न सभी गवादिकों में रहने वाला अश्व-प्रतियोगिक जो भेद है, उसी को विषय समझ लीजिये। तब भेद का स्वरूप क्या है? यदि उस स्वरूप को इतरेतराऽभाव (अन्योऽन्याभाव) रूप कहेंगे, तो अभाव का स्वीकार आपने कर ही लिया—यह कहना होगा। यदि यह कहें कि भेद का स्वरूप

पृथक्त्व नामक गुणविशेष ही है, तो उक्त भेद को द्रव्यनिष्ठ कहना होगा। तब रूप आदि गुणों में रस को रूप शब्द से अथवा रूप को रस शब्द से नहीं कहा जाता अर्थात् रसः रूपं न, अथवा रूपं रसो न– इत्याकारक अन्योऽन्याऽभावविषयकज्ञान नहीं हो सकेगा।

अभाव के सम्बन्ध में प्राभाकर मीमांसकों का कहना है कि प्रमेय को जानने के लिये प्रमाण की आवश्यकता होती है। अभाव पदार्थ का कोई मूर्तिमान आकार तो दृष्टिगोचर होता नहीं। अतः उसे जानने के लिये अनुपलब्धि नामक षष्ठ प्रमाण के स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह अभाव अधिकरण से पृथक् नहीं है, अपितु अधिकरणस्वरूप ही है। प्रभाकर के साक्षात् शिष्य श्री शालिकनाथ ने कहा भी है—प्रमेय के ज्ञापक को ही प्रमाण कहते हैं। अतः अनुपलब्धि नामक प्रमाण के प्रमेय का विचार करना होगा। प्रतियोगी के दिखाई देने पर जो भूतल मात्र की प्रतीति होती है, उसी को अभाव अथवा 'नास्ति' शब्द से कहते हैं।

अतः प्रमेय का अभाव रहने पर अनुपलब्धिसंज्ञक प्रमाण को अतिरिक्त (पृथक् = स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में) कैसे कहा जायेगा? इसी अभिप्राय को पञ्चिकाकार श्रीशालिकनाथ ने कहा है—

प्रमाणं खलु कस्याऽपि प्रमेयस्याऽवबोधकम् ।
तस्याऽभावस्य किं तावत् प्रमेयमिति चिन्त्यताम् ॥
तत्र तान्मात्रधीर्येयं दृश्ये च प्रतियोगिनि ।
नास्तित्वं सैव भूभागे घटादिप्रतियोगिनः ॥
मेयाऽभावे ततो मानमभावाख्यं कथं भवेत्? ॥

(प्रकरणपञ्चिका)

(शालिकनाथमिश्र–मतानुवादः)

यस्तु वैयात्याद् भूतलप्रतीतिव्यतिरेकेण घटो नास्तीत्येवंविधा प्रतीतिरेव नास्ति इति वदति, स भूतलादिप्रतीतिमप्यपह्नुवीत, अविशेषात्। घटोऽत्र भूतले नास्तीति व्यवहारस्य किं कारणम्? दृश्ये घटे यद्भूतलमात्रविषयं ज्ञानम्, एकाकी भूतलविषयमित्यर्थः, तदस्य कारणमिति चेत्? तथा सति पटवद्भूतलोपलम्भे घटो नास्तीति व्यवहारो न स्याद् भूतलमात्रोपलम्भाऽभावात्। घटविविक्तभूतलोपलम्भ इति चेत्? कोऽयं घटविवेकः? यदि भूतलरूपमेव, घटवत्यपि प्रसङ्गः। घटसंयोगाऽभावश्चेत्? अङ्गीकृतस्तर्ह्यभावः।

शङ्का—यस्तु वैयात्यादिति । यदि घटो नास्ति कहने पर भूतलप्रतीति से भिन्न अभावविषयक कोई प्रतीति होती हो, तो उसकी उपपत्ति को संगत करने के लिये अभाव को स्वीकार किया भी जाता है, किन्तु ऐसी कोई स्थिति नहीं है। अर्थात् जो लोग

नास्तित्व (अभाव) का अपलाप करके (अपह्नव करके) प्रमेयाऽभाव को षष्ठ प्रमाण नहीं है, ऐसी धृष्टता के साथ कहते हैं, उनके मत में किसी दृश्य वस्तु के अदर्शन के पश्चात् (दर्शन के योग्य घट-पटादि वस्तु के नहीं दिखाई देने पर) अस्मिन् भूतले घटो नास्ति = इस भूतल पर घट नहीं है–इत्याकारक जो ज्ञान होता है, वही तो घटाऽभाव विषयक ज्ञान है। प्राभाकरों ने कहा भी है—न भावाऽतिरिक्तोऽभावोऽङ्गीक्रियते, भावस्त्वेकाकी सद्वितीयश्चेति द्वयीमवस्थामनुभवति। तत्रैकाकी भावः स्वरूपमात्रमुच्यते। भूतलादिभावानामवगतिः—एका तावद् भावान्तरसंसृष्टविषया, अपरा च तदेकविषया, याऽपि च सा तदेकविषया बुद्धिः, सा च द्वेधा–तदन्येषु प्रतियोगिषुबुद्धिः, सैव तेषां प्रतियोगिनामभाव इत्युच्यते। अतो दृश्यप्रतियोगिविषया तदेकोपलब्धिरेव वरमभावोऽस्तु इत्यादि। उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि जो मीमांसक बड़ी धृष्टता के साथ कहता है कि घटो नास्ति– इत्याकारक प्रतीति नहीं होती, केवल भूतल की ही प्रतीति होती है–यह कहने वाला भूतलप्रतीति का भी निषेध कर देगा; क्योंकि दोनों में कोई विशेषता ही नहीं है। समस्त लोकप्रसिद्ध अभावप्रतीति का भी अपह्नव (अपलाप) करने के लिये यदि वह उद्यत है, तो वह भूतलप्रतीति का भी अपह्नव (अपलाषप) क्यों नहीं करता? उसका भी अपलाप करे। क्योंकि लोक- प्रसिद्धत्व और अप्रसिद्धत्व–दोनों में कोई विशेषता तो है ही नहीं।

· इस पर सिद्धान्ती पूछता है—घटोऽत्र भूतले नास्तीति व्यवहारस्य किं कारणम्? अर्थात् यदि अभावसंज्ञक कोई स्वतन्त्र पदार्थ है ही नहीं, तो घटो नास्ति यह व्यवहार क्यों किया जाता है? घटो नास्ति– इस व्यवहार का कारण क्या है? क्या भूतलमात्र विषयक ज्ञान कारण है, अथवा घटविविक्त भूतलज्ञान कारण है? यदि भूतलमात्रविषयक ज्ञान इस प्रथम पक्ष को स्वीकार करते हैं, तो जिस भूतल में पट हैं, उस भूतल का ज्ञान होने पर घट नहीं है—यह व्यवहार नहीं कर सकेंगे; क्योंकि भूतलमात्र की उपलब्धि नहीं हो रही है। अर्थात् यद्यपि घट का दृश्यत्व है, तथापि घट का दर्शन (ज्ञान) नहीं हो रहा है, किन्तु भूतलमात्र का ज्ञान हो रहा है और वही ज्ञान अस्य अर्थात् घटो नास्ति– इस व्यवहार का कारण है।

उक्त कथन पर दोष-प्रदर्शन कर रहे हैं—**तथासतीति**। दोष यह होगा कि यदि घटो नास्ति–इस व्यवहार का कारण भूतलमात्रज्ञान को ही माना जाय, तो पटविशिष्ट भूतलज्ञान के समय भूतलमात्र का ज्ञान नहीं होने से घटो नास्ति–यह व्यवहार हो ही नहीं सकेगा, किन्तु ऐसा तो होता नहीं। पटविशिष्ट भूतल की उपलब्धि होने पर भी घटो नास्ति यह व्यवहार तो होता ही है।

घटविविक्तेति। यदि घटविविक्त भूतलज्ञान–इस द्वितीय पक्ष को स्वीकार करते हैं तो क्या दोष है? उक्तं च—न तदेकविषयबुद्धिमात्रमभावोऽभिधीयते, किन्तु दृश्ये प्रतियोगिनि या तदेकविषया बुद्धिः सा तदभावो व्यपदिश्यते, तेन यस्मिन् प्रतियोगिनि दृश्ये

या तदेकविषयाबुद्धिः, सा तदभाव इति विशेषव्य-पदेशः प्रवर्तते, तेन इह भूतले घटो नास्ति इति किमुक्तं भवति? दृष्येऽपि घटे, भूतलमात्रमुपलभ्यत इति इत्यादि।

इस द्वितीय पक्ष में भी को नाम घटविवेक:? अर्थात् इस घटविवेक का स्वरूप क्या है? क्या वह भूतलरूप है अथवा घटसंयोगाऽभाव रूप है? यदि घटविवेक को भूतल-रूप ही कहते हैं, तो घटवति अपि भूतले = घटवद्भूतल पर भी भूतलरूपता के विद्यमान रहने से घटविवेक के विद्यमान होने से घटो नास्ति–यह व्यवहार हो ही सकता है, किन्तु ऐसा होता नहीं है।

यदि घटसंयोगाऽभावरूप द्वितीयपक्ष को स्वीकार करते हैं, तो घटसंयोगाऽभाव भी अभावरूप ही है। अत: उसे स्वीकार कर लेने पर तो आपने अभाव पदार्थ को स्वीकार कर ही लिया, उसमें अब कोई विवाद ही नहीं रहा।

स्यान्मतम्—यदभाववादिनोऽभावज्ञानस्य कारणम्, तदेवाऽस्माकं व्यवहारकारणं भवतु इति। नैवं वक्तुं शक्यम्। मम हि दृश्याऽदर्शनम-भावज्ञानकारणम्, अदर्शनञ्च दर्शनाऽभावो न चाऽसौ भवताऽङ्गीकृतः, अभावाऽभ्युपगमप्रसङ्गात्। प्रमाणाऽभावाङ्गीकारे वा किमपराद्धं प्रमेया-ऽभावेन।

स्यान्मतमिति। आप जैसे अभाववादी के मतानुसार अभावज्ञानः का जो कारण है, वही हमारे मत में भी घटो नास्ति इत्याकारक व्यवहार का कारण होगा। अतिरिक्त कारण की कल्पना करने की क्या आवश्यकता?

समाधान— नैवं वक्तुं शक्यमिति। अर्थात् यह (अतिरिक्त कल्पना करने की क्या आवश्यकता) नहीं कह सकते। **मम हि दृश्याऽदर्शनमिति**। अर्थात् मेरे मत में अदर्शन ही, अभावज्ञान का कारण है, किन्तु उसे आप नहीं मान रहे हैं; क्योंकि अदर्शन को दर्शनाऽभावरूप माना जाता है। यदि दर्शनाऽभाव को प्रमाणाऽभावस्वरूप कहते हैं और उसे आपने घटो नास्ति इत्याकारक व्यवहार का कारण जब स्वीकार कर ही लिया है, तो प्रमेयाभाव ने क्या अपराध किया है कि प्रमेयाऽभाव को स्वीकार करने में आपको भय लग रहा है? अर्थात् जिससे प्रमेयाऽभाव को स्वीकार करने में आपको हिच-किचाहट हो रही है।

ननु प्रथमं प्रत्यक्षेण भूतलं गृहीत्वा पश्चादभावो बोद्धव्यस्तत्राऽभाव-ज्ञानात् प्राग् यादृशं भूतलज्ञानं, तादृशादेव व्यवहारो भवतु। तदिद-मुक्तोत्तरम्, तथाहि— यस्यामवस्थायां भूतलस्वरूपज्ञानं घटतद-भावयोश्चाऽज्ञानम् = ज्ञानाऽभावः, तेन घटतदभावज्ञानशून्यं भूतल-ज्ञानं, तस्यामवस्थायामस्माभिरुपेयते, तदेव च भूतलमात्रवेदनमित्यु-च्यते। स्वरूपमात्रं दृष्ट्वा च इत्यादिषु मात्रशब्देन हि घटतदभाव-

वेदनयोरभाव उच्यते, भूतलमात्रं ज्ञायते, न घटस्तदभावो वेत्यर्थः।

शङ्का— ननु प्रथमं प्रत्यक्षेणेति। प्रथमतः प्रत्यक्ष प्रमाण से भूतल को जानने के बाद ही अभाव का ज्ञान हो पायेगा अर्थात् भूतलवृत्ति घटाभाव का ज्ञान जो तुम्हें हो रहा है, वह अधिकरण के ज्ञान होने के पश्चात् ही आधेय का ज्ञान हो रहा है। इसलिये घटाभाव का ज्ञान होने के पूर्व भूतलरूप अधिकरण का ज्ञान तुम्हें हुआ है—यह तुम्हें स्वीकार करना ही होगा। अतः तुम्हारे मत में अभावज्ञान के पूर्व यादृश भूतलज्ञान हुआ है, तादृश ही भूतलज्ञान मेरे मत में भी घटो नास्ति इत्याकारक व्यवहार का कारण है, इसलिये कोई अनुपपत्ति नहीं हो रही है।

इसपर ग्रन्थकार श्री पार्थसारथिमिश्र ने कहा है—**न तदिदमुक्तोत्तरम् इति**। उत्तर हम दे चुके हैं। इसी उक्त कथन को ग्रन्थकार और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं—**तथाहि इति**। अर्थात् जिस स्थिति में भूतल के स्वरूप का ज्ञान था, वैसे ही घट और उसके अभाव का अज्ञान = ज्ञानाऽभाव भी था, अतएव घट और तदभावज्ञान से रहित भूतल का ज्ञान उस अवस्था में हमने माना है, उसी को भूतलमात्रवेदन कहा करते हैं। वार्त्तिककार ने भी इसी का समर्थन स्वरूपमात्रं दृष्ट्वा से किया है। वार्त्तिककार ने मात्र शब्द का प्रयोग किया है। उसके द्वारा घट और तद्भाव–दोनों के ज्ञान का अभाव बतलाया है। अर्थात् भूतलमात्र का ज्ञान होता है, घट और तदभाव का नहीं। वार्त्तिककार के कथन का निष्कर्ष यह है कि अभावज्ञान के विना ही भूतलस्वरूप का ज्ञान पहिले होता है और वही घटो नास्ति इत्याकारक प्रयोग करने में कारण है और वही नास्ति शब्द का वाच्य अर्थ है—इत्याकारक जो भ्रम प्रतिवादी को हो रहा है, उसके निराकरणार्थ तेन नैवं भ्रमितव्यम्। अर्थात् उसे ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये।

तेन यदि भवानपि घटादिज्ञानाऽभावयुक्तं भूतलज्ञानमङ्गीकुर्यात्, ततो ज्ञानाऽभावाङ्गीकारात् घटाऽभावोऽप्यङ्गीकर्तव्य इत्युक्तमेव। तेन नैवं भ्रमितव्यम्—अभाववादिनाऽपि 'स्वरूपमात्रं दृष्ट्वा च पश्चात् किञ्चित् स्मरन्नपि' इति वदता भावज्ञानातिरेकेण तन्मात्रवेदनमङ्गीकृतम्, तदेव दृश्ये प्रतियोगिनि नास्तीति व्यवहारकारणत्वान्नास्तीति शब्दस्याऽभिधेयम् इति। तस्य हि ज्ञानाऽभावाभिप्रायो मात्रशब्दः। न चाऽसौ भवतोऽस्ति, अतो मात्रशब्दस्याऽर्थाऽभावाद् भूतलवेदनमेव कारणमिति वक्तव्यम्। ततश्च घटवत्यपि प्रसङ्ग इति स्थितं दूषणम्।

भ्रम का विषय मूल ग्रन्थ में अभाववादिनाऽपि से आरम्भ कर नास्तीति शब्दस्याऽभिधेयम् तक समझना चाहिये। दृश्ये प्रतियोगिनि यहाँ सप्तमी का अर्थ विषयत्व है। अर्थात् दृश्यघटलक्षणप्रतियोगिविषयको यो नास्तीति व्यवहारः, तत्कारणत्वाद यद् भूतलस्वरूपमात्रविज्ञानं तदेव नास्तीति शब्दाऽभिधेयम्। उक्त अभिप्राय का भ्रमत्व उप-

पादन करते हुए ग्रन्थकार ने तस्य हि ज्ञानाऽभावाऽभिप्रायो मात्रशब्दः इत्यादीति कहा है। इसी अभिप्राय से प्रभाकर को जो भ्रम हो रहा है, उसका निराकरण प्रतिवादी कर रहा है— **तेन यदि भवानपि इति। तस्य हि ज्ञानाऽभावाऽभिप्राय इति**। तस्य = अभाव-वादी वार्त्तिककार के द्वारा उल्लिखित स्वरूपमात्रं दृष्ट्वापि वचन में मात्र शब्द को ज्ञानाऽ-भावपरक बतलाया है। तथा च स्वरूपमात्रं दृष्ट्वा का अर्थ यह होगा कि घटवदभावयो-र्ज्ञानाऽभावपूर्वकं यद् भूतलस्वरूपज्ञानं, तद् भूतलस्वरूपमात्रज्ञानम्।

न चाऽसौ इति। न चाऽसौ = अभावो भवता स्वीकृतोऽस्ति, येन तव मते मात्र-शब्दस्य सार्थक्यं स्यात्। अर्थात् अभाव को तो आप मानते ही नहीं, जिससे आपके मत में मात्र शब्द का सार्थक्य हो सकेगा। तथा च आपके मत में मात्र का आनर्थक्य होने से भूतलस्वरूपज्ञान है ही नहीं, तब घटो नास्ति इस व्यवहार का कारण क्या है? यह आपको बताना ही पड़ेगा। भूतलस्वरूप का ज्ञान तो घट के विद्यमान रहने पर भी होता ही है, इसलिये घटे सत्यपि घटो नास्ति घट की विद्यमान अवस्था में भी घट नहीं है— यह व्यवहार होने लगेगा; क्योंकि तत्कारणभूत जो भूतलस्वरूपज्ञान है, वह विद्यमान है। इसी आशय को न चाऽसौ भवतोऽस्ति से बतलाया गया है। इसी सन्दर्भ में वार्त्तिककार ने कहा है—

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षाऽनपेक्षणात् ।।
स्वरूपमात्रं दृष्ट्वाऽपि पश्चात् किञ्चित् स्मरन्नपि ।
तत्राऽन्यनास्तिता पृष्टस्तदैव प्रतिपद्यते ।। इति ।।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है—**स्वरूपमात्रमिति**। प्रातःकाल के समय किसी स्थान पर बैठा हुआ कोई व्यक्ति वहाँ पर व्याघ्र आदि को नहीं देखकर तथा उसका स्मरण भी नहीं होने से और उसके अभाव को भी नहीं जानकर केवल स्थान (देश) मात्र को देखने के बाद किसी अन्य स्थान पर मध्याह्न में पहुँचकर लोगों से पूछता है—प्रातःकाल में इस जगह पर क्या कोई व्याघ्र, गज, सिंह अथवा आदमी आया था? इस प्रकार तब वह उस स्थान को, जिसको पहले से जानता भी है और अन्यान्य बातें याद भी आ रही हैं, तथापि उस स्थान में अन्यान्य व्याघ्र आदि हिंसक प्राणियों के अभाव को भी पहले से नहीं जान रहा है, किन्तु उसी समय जान रहा है और मध्याह्नसमय में प्रातःकालिक अभाव का इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं होने के कारण उस प्रातःकालिक अभाव का मध्याह्न काल में होना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान तो इन्द्रियसन्निकृष्ट वर्तमान विषय (पदार्थ) का हुआ करता है। पहले बता चुके हैं कि अभाववादी ने अपने ज्ञानाऽभाव के अभिप्राय से मात्र शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु अभाव को तो प्राभाकर मानते ही नहीं हैं। अतः मात्र शब्द का कोई प्रयोजन नहीं होने के कारण भूतलज्ञान ही अभावज्ञान होने का कारण है—यह कहना होगा। तब भूतल पर घट के विद्यमान होने पर भी घटो

नास्ति—यह व्यवहार होने लगेगा। यह दोष आपके मत में स्थिर रूप से अपना स्थान जमाये हुए है।

अथ भावे देशान्तरस्थे देशान्तरग्रहणं कारणम् इति मतम्; ततः शाबलेयस्थितं गोत्वं धावलेये नास्तीति व्यवह्रियेत। स्थूणान्तरस्थितश्च वंशः, स्थूणान्तरेऽनुस्यूतोऽपि तत्र नाऽस्तीति व्यवहर्तव्यः स्यात्, अतोऽत्राभाव एव नास्तीति व्यवहारकारणम्, नान्यत्र सद्भावः। स्मर्यमाणे घटे भूतलवेदनं नास्तीति व्यवहारकारणमिति चेत्? न गृह्यमाणस्याऽपि पार्श्वदेशेष्वभावव्यवहारात्। सम्प्रत्यानीतस्य च घटस्य गृह्यमाणस्यैव प्रागयमिह नाऽऽसीत् इति नाऽभावव्यवहारात्।

शङ्का—घटादि भाव पदार्थ के देशान्तर में (अन्य स्थान में) रहने पर, जो देशान्तर अर्थात् भूतलस्वरूप का ज्ञान है, वही नास्ति व्यवहार का कारण है। यह कहने से अभाव की प्रतीति का होना सिद्ध हो जाता है। अभिप्राय यह है कि भावे = प्रतियोगी घट जब देशान्तर में रहता है, तब देशान्तर का = भूतलस्वरूप का जो ज्ञान होता है, वही तो नास्ति इत्याकारक व्यवहार का कारण है—यह मान लिया जाय?

समाधान—उपर्युक्त कथन को यदि मान लेते हैं, तो अतिव्याप्ति दोष का प्रसंग प्राप्त होगा। यद्यपि गोत्व गो व्यक्तिमात्र में होता है, तथापि तुम्हारे इस अनुमान से देशान्तर में स्थित अर्थात् शाबलेय संज्ञक गो में गोत्व के स्थित रहने पर देशान्तर-स्थ = गोत्वाऽधिकरणरूप धावलेयसंज्ञक गो के ग्रहण के समय धावलेय में गोत्वं नास्ति इत्याकारक व्यवहार होने लगेगा, किन्तु ऐसा व्यवहार होता नहीं है तथा एक स्तम्भ में रहने वाला **वंश**, दूसरे स्तम्भ में अनुस्यूत रहने पर भी, वहाँ बाँस (वंश) नहीं है—यह व्यवहार होने लगेगा, किन्तु ऐसा व्यवहार अनुचित होने के कारण कभी होता ही नहीं है।

अतोऽत्राऽभाव एव, नास्तीति व्यवहारकारणम्। अर्थात् नास्ति–इत्याकारक व्यवहार का कारण तत्रस्थ (वहाँ रहनेवाला) अभाव ही (कारण) है। निष्कर्ष यह है कि देशान्तर में घट के विद्यमान रहने पर भी देशान्तर (भूतलस्वरूप) का ज्ञान अभाव–व्यवहार का कारण नहीं बनेगा। नास्ति इत्याकारक व्यवहार का कारण तत्रस्थ अभाव ही कहलयेगा। सिद्धान्ती का अभिप्राय यह है कि अन्यत्र सत्ता (विद्यमानता) का होना कारण नहीं। अन्यत्र प्रतियोगी का अन्यत्र सद्भाव होना कारण नहीं होगा। अन्यथा शशश्रृंगे नास्ति—यह व्यवहार नहीं हो सकेगा; क्योंकि शशश्रृंग का अन्यत्र सद्भाव ही नहीं रहता।

शङ्का—यदि यह कहें कि स्मरणकाल में भूतल का जो ज्ञान हो रहा है, उसी को घटो नास्ति– व्यवहार का कारण मान लें, तो पूर्वकथित दोष हमारे पक्ष में नहीं लग

पायेगा। अतः घटस्मरणकालिक भूतलज्ञान को ही घटो नास्ति व्यवहार करने में कारण मान लेना चाहिये।

समाधान—न, गृह्यमाणस्यापीति । शङ्काकार का उपर्युक्त कथन उचित नहीं प्रतीत हो रहा है; क्योंकि जिस भूतल पर घट का ग्रहण हो रहा है, उसके समीपवर्ती देशों में घटो नास्ति—यह व्यवहार किया जाता है, किन्तु उपर्युक्त स्थिति में वह नहीं हो सकेगा। दूसरी बात यह भी है कि अभी-अभी घट को लाकर वहाँ पर रख दिया जाय तो उसका ग्रहण (ज्ञान) होने लगता है, तथापि उस ज्ञान के साथ ही यह घट पहिले यहाँ पर नहीं था—ऐसा पूर्वकालिक अभाव का व्यवहार भी हुआ करता है, किन्तु आपके पक्ष के अनुसार वह व्यवहार अब नहीं हो सकेगा।

(प्रभाकरमतानुवादः)

ननु भवन्मते प्रमीयमानस्य घटस्य कथं प्राक्कालीनाऽभावज्ञानम्? भावप्रमाणाऽभावो हि अभावज्ञानकारणम्। न च प्रमीयमाणे प्रमाणाऽभावः सम्भवति। सम्प्रति प्रमीयमाणोऽपि घटः प्राक्कालसम्बन्धितया न प्रमीयते। अतः प्राक्काल सम्बन्धगोचरप्रमाणाऽनुदयात् तत्कालीनाऽभावज्ञानं युक्तमेवेति चेत्? न अयोग्यत्वात्। न हि प्राक्कालसम्बन्धोऽधुना प्रमातुं योग्यः, योग्यप्रमाणाऽभावश्चाऽभावज्ञानकारणम्, न प्रमाणाऽभावमात्रम्। प्राक्काले तु योग्यस्यैव प्रमाणस्याऽनुदय आसीत्, न हि तदानीं घटाऽभावः सन्नपि प्रमितः प्रतियोगिनो घटस्याऽपरामर्शात् तदपेक्षत्वाच्चाऽभावज्ञानस्य। अत एव घटाऽभावोऽधुना स्मर्यते इति न युक्तम्; अप्रमितस्य स्मरणाऽयोगात्। यश्चायं प्राक्कालीनः प्रमाणाऽनुदयः, सोऽधुना प्रमाणोदयेन नष्टो, नाऽभावज्ञानमुत्पादयितुमर्हति, उद्धृतमिव नेत्रं रूपबुद्धिम्।

अथ नष्टोऽपि प्रमाणानुदयः सम्प्रति परामृश्यमानोऽभावज्ञानं जनयेत्, ह्यस्तन इव धूमो विनष्टोऽपि सम्प्रति स्मर्यज्ञानो ह्यस्तनाग्निज्ञानम्।

नन्विति। मूलकार ने प्रमीयमाणस्य घटस्य इस वाक्य में षष्ठ्यन्त पद का प्रयोग किया है। यहाँ पर षष्ठी का अर्थ प्रतियोगित्व समझना चाहिये। प्रत्यक्षविषयभूत पदार्थ का अभावज्ञान होना कभी सम्भव नहीं है। यहाँ पर 'ननु' से आरम्भ कर 'कथं प्राक्-कालीनाऽभावप्रमितिरिति वक्तव्यम्' तक पूर्वपक्ष का ग्रन्थ है और तत्परिहार पक्ष भी पूर्वपक्षी का ही है।

भावप्रमाणाऽभाव इति। अर्थात् भावस्य = घटादि भाव पदार्थ का जो प्रमाणाऽभाव = अनुपलब्धि ही आपके मत के अनुसार अभावज्ञान होने का कारण है। घट के

प्रमीयमाण (ज्ञायमान) होने पर तद्विषयक प्रमाणाऽभाव कहना सम्भव नहीं है। अन्यथा घट के सत्त्व की कभी सिद्धि हो ही नहीं सकेगी, इसी अभिप्राय को 'न च प्रमीयमाणे, प्रमाणाऽभावः सम्भवति' से कहा गया है।

शङ्का—यद्यपि इदानीं घटः प्रतीयते तथापि इदानीन्तनकालसम्बन्धितयैव प्रमीयते इदानीमत्र घटो नास्तीति, न तु प्राक्कालसम्बन्धितया प्रमीयते, तथा च प्राक्कालिक-घटसम्बन्धविषयकस्य प्रमाणस्य अजातत्वाद् युक्तं प्राक्कालिकाऽभावज्ञानमित्याह—भाट्टमीमांसकः।

यद्यपि इदानीमिति। यद्यपि अभी वर्तमानकाल में घट में प्रतीति हो रही है, अर्थात् जो घट अभी वर्तमान में प्रतीत हो रहा है, तथापि वह पूर्वकालिकरूप से सम्बधित होकर प्रतीत नहीं हो रहा है, उस कारण पूर्वकालिक सम्बन्ध को विषय न करने वाले प्रमाण की उत्पत्ति न होने से पूर्वकालिक अभाव का ज्ञान होना उचित ही है। भट्टपाद के उक्त आशय को ग्रन्थकार ने सम्प्रति प्रमीयमाणोऽपि ..... युक्तमेवेति चेत् तक के वाक्यों से ग्रन्थ में व्यक्त किया है।

उसका खण्डन पूर्वपक्षी प्रभाकर कर रहा है। 'न, अयोग्यत्वात् इति' ग्रन्थ से उसी का उपपादन ग्रन्थकार कर रहे हैं। अभाव के ज्ञान होने में योग्याऽनुपलब्धि ही कारण होती है, केवल अनुपलब्धि मात्र कारण नहीं होती और प्राक्कालिक सम्बन्ध वर्तमान समय में (इदानीम्) जानने योग्य नहीं है, जिससे इदानीं = वर्तमान में उसके अभाव का ग्रहण किया जा सके। उक्त कथन का आशय यह है कि तुम्हारे मत में प्रमाविषयीभूत घट का पूर्वकालिक अभावज्ञान कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि योग्य भावग्राहक प्रमाणों का अभाव ही अभावज्ञान का कारण माना जाता है। उस कारण प्रस्तुत में प्रमीय-माण घट है, उसके विषय में प्रमाणाऽभाव का होना कभी सम्भव ही नहीं है।

सिद्धान्ती के मत का अनुवाद कर पूर्वपक्षी उसका खण्डन करता है—तथाहि प्राक्काल में योग्यस्य = योग्य प्रमाण का उदय ही नहीं हुआ था उस कारण प्राक्कालमें यद्यपि घटााऽभाव था, तथापि प्राक्कालमें घटाऽभाव के विद्यमान रहने पर भी वह प्रमित (ज्ञात) नहीं था; क्योंकि अभावज्ञान को प्रतियोगिज्ञान की अपेक्षा रहती है, किन्तु प्रति-योगी जो घट, उसका परामर्श प्राक्कालमें नहीं था, अर्थात् तद्विषयक प्रमाण उत्पन्न ही नहीं हुआ था। अतएव प्राक्कालिक घटाऽभाव में इस समय ज्ञात होने की योग्यता न होने से ही प्राक्कालिक घटाभाव का स्मरण होता है। इस प्रकार सिद्धान्त पक्ष को बतलाकर उसका परिहार पूर्वपक्षी कर रहा है—**इति न युक्तम् इति**।

अनुभव की हुई अर्थात् अनुभूत वस्तु का ही स्मरण हुआ करता है। इसी कारण प्राक्कालमें घटाऽभाव अनुभूत न होने के कारण उसका वर्तमानकाल में स्मरण न होना उचित ही है। इसी आशय को ग्रन्थकार पार्थसारथि मित्र ने बतलाया है—**अप्रमितस्य स्मरणाऽयोगात्**।

पूर्व में जो कहा था कि प्राक्कालसम्बन्धगोचरप्रमाणाऽनुदयात् तत्कालीनाऽभावज्ञानं युक्तम्– इति, उसी का पुनः खण्डन कर रहे हैं—**यश्चायं प्राक्कालीनः प्रमाणाऽनुदयः इति**। आशय यह है कि पूर्वकाल का ग्रहण करने के लिये प्रमाण का जो अनुदय है, किन्तु अब प्रमाण का उदय होने से वह नष्ट हो चुका है। इसीलिये वह अब अभावज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता। जैसे उत्पाटित नेत्र रूप का ज्ञान नहीं करा सकता, उसी तरह प्रमाणाऽनुदय भी जो अब नष्ट हो चुका है, उससे अभावज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो पायेगी?

शङ्का— ह्यस्तन इव धूम इति। जैसे ह्यस्तनः = गत दिवसीय (बीते हुए कल के दिन का धूम नष्ट हो जाने पर भी आज गत दिवसीय अग्नि का अनुमान कराता है, उसी तरह प्रमाणाऽनुदय नष्ट होने पर भी वह (प्रमाणानुदय) अब स्मृत होकर अभावज्ञान को उत्पन्न कर सकता है। जैसे पहिले घट नहीं था अर्थात् उस समय घटाऽभाव था; इसी बात को दृष्टान्त के द्वारा समझा रहे हैं—**अथ नष्टोऽपीति**।

स्यादेवं यदि प्रमाणाऽभावो ज्ञायमानतया मेयाऽभावं बोधयेत् लिङ्गमिव लिङ्गिनम्। न च तथा सम्भवति, अनवस्थाप्रसङ्गात्। प्रमेयाऽभावं हि ज्ञातुं प्रमाणाऽभावो ज्ञातव्यः। सोऽपि चाऽभावत्वादन्येनाऽभावज्ञानेन ज्ञातव्यः, सोऽप्यन्येनेति न जन्मसहस्रेणाऽपि घटाऽभावोऽवधार्येत। तस्मात् सत्तामात्रेणैव प्रमाणाऽभावोऽभावज्ञानमुत्पादयति नेत्रादिवदित्यङ्गीकर्त्तव्यम्। अतः प्रमीयमाणस्य घटस्य कथं प्राक्कालीनाभावप्रमितिरिति वक्तव्यम्।

समाधान—स्यादेवं यदि प्रमाणाभाव इति। ज्ञानमान लिङ्ग ही लिङ्गी का बोध करा पाता है। केवल स्व-सत्ता से नहीं, अर्थात् अपने होने मात्र से नहीं। अतः नष्ट होने पर भी स्मर्यमाण धूम गतदिवसीय अग्नि का ज्ञान अर्थात् अनुमान कराता है, किन्तु यह तभी सम्भव होता है, जब प्रमाणाऽभाव ज्ञायमान होकर प्रमेयाऽभाव अर्थात् घटाऽभाव का ज्ञान करावे। जैसे ज्ञायमान हेतु (लिङ्ग) ही साध्य = लिङ्गी का अनुमापक होता है। न च तथा सम्भवति—इस मूलगत तथा का अर्थ ज्ञायमानतया बोधकत्वम् समझना चाहिये, किन्तु प्रकृत में ऐसा नहीं है; क्योंकि प्रमाणाऽभाव को ज्ञानमानतया (ज्ञायमानत्वेन रूपेण) बोधकत्व मानने पर अनवस्था का प्रसंग प्राप्त होने लगेगा। उक्त अनवस्था का ही उपपादन कर रहे हैं—**प्रमेयाऽभावं हि ज्ञातुम् इति**। अर्थात् प्रमेयाऽभाव को जानने के लिये प्रमाणाऽभाव को जानना होगा, किन्तु वह भी तो अभाव ही है। अतः उसके जानने के लिये अन्य (दूसरे) अभाव का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होगा और उसे जानने के लिये तीसरे अभाव का ज्ञान अपेक्षित होगा। अतः इस तरह इस अपेक्षा का धाराप्रवाह चलता ही रहेगा और कभी विश्रान्त ही नहीं होगा, अर्थात् असंख्य जन्मों में भी घटाऽभाव का निश्चय ही नहीं हो पायेगा। इसीलिये यह स्वीकार करना ही होगा

कि जैसे नेत्रादि ज्ञायमान होने मात्र से ही ज्ञानोत्पादक नहीं हुआ करते, किन्तु स्व-सत्तयैव अर्थात् अपनी सत्ता से ही (अस्तित्व से ही) उनमें ज्ञानोत्पादकता मानी जाती है, उसी तरह प्रमाणाऽभाव भी नेत्रादि के समान स्व-सत्तयैव (अपने अस्तित्व से) ही अभावज्ञान कराता है। यह मानना ही होगा, जिससे अनवस्था नहीं हो सकेगी। इस प्रकार की अभीष्ट स्थिति तभी हो सकती है, जब प्रमाणाऽभाव ज्ञायमान होकर प्रमेयाऽभाव (घटाऽभाव) का ज्ञान करायेगा। जैसे ज्ञायमान लिङ्ग ही साध्य (लिङ्गी) का अनुमापक होता है; किन्तु प्रकृत स्थल में वैसी स्थिति नहीं है। अन्यथा अनवस्था होगी; क्योंकि प्रमेयाऽभाव को जानने के लिये प्रमाणाभाव को जानना आवश्यक होता है; क्योंकि वह भी अभाव है, उसके ज्ञानार्थ अन्य अभाव का ज्ञान आवश्यक है, उसके ज्ञानार्थ भी अन्य किसी अभाव का ज्ञान होना आवश्यक होगा। इस प्रकार असंख्य जन्मों में भी घटाऽभाव का ज्ञान होना कदापि सम्भव नहीं है। अतः यह स्वीकार करना ही होगा कि प्रमाणाऽभाव अपनी सत्ता से ही नेत्रादि के समान अभाव रूप प्रमेय का ज्ञान करा सकता है।

इसीलिये वर्तमानकालिक प्रमा का विषय जो घट है, उसके पूर्वकालिक अभाव का ज्ञान कैसे होगा? यह आपको बताना होगा।

उच्यते—सत्तामात्रेण ज्ञानाऽभावोज्ञेयाऽभावं बोधयतीति सम्यगुक्तम्। अस्त्येव त्वधुना दृश्यमानस्याऽपि घटस्य प्राक्कालसम्बन्धगोचर-योग्यज्ञानाऽनुदयः, स हि प्राक्कालसम्बन्धितया स्मर्तुं योग्यः सन् अपि न स्मर्यते, न चाऽवश्यं प्रमाणाऽभाव एवाऽभावस्य बोधकः स्मरणज्ञानस्याऽपि योग्यत्वे सत्यनुदयो भावं बोधयत्येव, तेन सम्प्रति दृश्यमानोऽपि घटो यदि प्रागप्याऽऽसीत्, ततोऽवश्यं तत्र स्थितेन प्रमितः स्यात्, प्रमितश्चाऽधुना स्मर्तव्यः स्यात्। एवं सत्यपि न स्मर्यते सोऽयं स्मर्तव्यविषयस्मरणाऽनुदयः सम्प्रति विद्यमानः सम्प्रतितनं प्राक्कालीनाऽभावविषयं विज्ञानं जनयतीति न किञ्चिदनुपपन्नम्। भाष्ये च प्रमाणाऽभावशब्दः स्मरणाऽभावस्यापि उपलक्षणार्थः, तथा वार्त्तिकेऽपि। यद्वा प्रमाणस्य स्मरणफलत्वात् तदभावोऽपि फलतः प्रमाणाऽ-भाव एवेति शक्यते वक्तुम्।

उच्यते सत्तामात्रेणेति। उपर्युक्त कथन पर सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी ने जो कहा है कि प्रमाणाभाव अपनी सत्तामात्र से ही प्रमेयाऽभाव का बोधक होगा, वह ठीक है। यह कहते हुए पूर्वपक्षी के कथन में से किचिन्मात्र सिद्धान्ती स्वीकार कर रहा है। प्राक् कालिक ज्ञेयाऽभाव के ज्ञान का उपपादन करने के लिये ज्ञानाऽभाव की सत्ता को सत्ता-मात्रेण ज्ञानाऽभावः ज्ञेयाऽभावं बोधयति—यह कहकर प्राक्कालिक ज्ञेयाऽभाव के ज्ञान का उपपादन करने के लिये ज्ञानाऽभाव की सत्ता को बतला रहा है—**अस्त्ये वत्वधुना**

दृश्यमानस्याऽपीति । वर्तमान काल में घट के दृश्यमान रहने पर भी पूर्वकाल में उसका सम्बन्ध तो था ही नहीं, उसी कारण प्राक्कालसम्बन्धगोचर जो योग्यज्ञान उसका अनुदय तो है ही। उक्त कथन का आशय यह है कि वर्तमान काल में प्रमाणोदय के होने पर भी प्राक्कालिक ज्ञान का अनुदय भी विद्यमान रहने पर परस्पर कोई विरोध नहीं है; क्योंकि कालभेद से (भिन्न-भिन्न काल में) भाव तथा अभाव की उपपत्ति सभी जगह हो सकती है अर्थात् कोई अनुपपत्ति नहीं हो रही है। ज्ञान का उदय नहीं होने में कारण (हेतु) यह है कि 'स हि प्राक्कालसम्बन्धितया स्मर्तुं योग्यः सन्नपि न स्मर्यते इति।' अर्थात् सः = घट, प्राक्कालसम्बन्धितया स्मरण करने योग्य रहने पर भी उसका स्मरण नहीं हो रहा है; क्योंकि योग्य प्रमाणाऽभाव ही अभाव का बोधक है। अतः घटविषयक स्मरण का अनुदय सम्प्रति (वर्तमान में) है ही। अर्थात् स्मरणज्ञान की योग्यता रहने पर भी उसका अनुदय अभाव का बोधक होता ही है। अतः स्मर्तव्य विषय का स्मरण नहीं होना पूर्वकालिक अभाव ज्ञान को उत्पन्न करता है—इस कथन में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है।

स्मरण का होना उचित रहने पर भी उसका नहीं होना (अनुदय) अभाव का बोधक होता ही है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि अभी दृश्यमान जो घट है, वही यदि पूर्व में था तो वहाँ पर विद्यमान मनुष्यों को उसका ज्ञान अवश्य ही होता। इस प्रकार से यदि वह ज्ञात है, तो उसका स्मरण भी अब होना उचित ही है, फिर भी यदि उसका स्मरण नहीं हो रहा है तो स्मर्तव्य विषय का स्मरण न होना तथा वर्तमान में घट का विद्यमान होना, उसके पूर्वकालिक अभाव का ज्ञात कराता है—इस कथन में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

शङ्का—भाष्य में तो प्रमाणाऽभावः—इतना ही कहा गया है, तब स्मरणाऽभाव भी भाष्यकार शबरस्वामी को अभिप्रेत (अभीष्ट) है—यह आपने कैसे जाना लिया? अर्थात् भाष्यकार ने तो अभावज्ञान का कारण प्रमाण का अभाव रहना (प्रमाण का नहीं होना) बतलाया है और आप स्मरणाऽभाव को अभावज्ञान का कारण कह रहे हैं। यह तो उचित नहीं है।

समाधान—भाष्यगत प्रमाणाऽभाव शब्द स्मरण का भी उपलक्षण है। अर्थात् जैसे प्रमाणाऽभाव अभावज्ञान का कारण है, उसी तरह स्मरणाऽभाव भी अभावज्ञान को कारण हुआ करता है।

शङ्का—वार्तिक में वार्तिककार भट्टपाद ने भी स्मरणाऽभाव को अभावज्ञान के प्रति कारण शब्द से नहीं कहा है; किन्तु व्यञ्जना से कहा है—यह कहना चाहिये, किन्तु इस प्रकार कहने में कोई प्रमाण नहीं है। ऐसी शङ्का करने पर ग्रन्थकार 'यद्वा प्रमाणस्य' ग्रन्थ से समाधान कर रहे हैं।

समाधान—प्रमाणाऽभाव में अभावज्ञान का कारणत्व सिद्ध होने पर प्रमाण का जो

स्मरणरूप कार्य है, उसके (स्मरणात्मक कार्य के) अभाव को भी फल की दृष्टि से प्रमाणाऽभाव कहा जा सकता है अर्थात् कार्य-कारण दोनों को अभिन्न (अभेद) मानकर स्मरणाऽभाव को भी प्रमाणाभाव समझ सकते हैं; क्योंकि स्मरण भी संस्कार के द्वारा (संस्कार के माध्यम से) प्रमाणशब्दवाच्य अनुभव का फल है। इसलिये स्मरणाऽभाव भी फलतः प्रमाणाऽभाव ही है।

(उक्तप्रभाकरमतखण्डनम्)

ननु न सत्तामात्रेण योग्याऽनुपलब्धेरभावबोधकत्वं युक्तम्, सत्यामपि तस्यां कदाचिदभावबुद्ध्यनुदयात्, असत्यामपि कदाचिदुदयात्। तथाहि— योऽङ्गुलीयकबुभुत्सया ससन्तमसावपवरकदेशं हस्ताभ्यां सर्वतः परामृष्टवान् तस्य तावत् सर्वदेशपरामर्शाद् वस्तुतो योग्याऽनुपलब्धिर्जातैव। अथ च किं सर्वो देशः परामृष्टः किंवा कश्चिद् देशो न परामृष्टोऽपि स्यादिति सन्दिहानो योग्याऽनुपलब्धेरनिश्चयात् सत्यामपि तस्यां नाऽङ्गुलीयकस्याऽभावमवधारयति। कदाचित् तु सर्वतोऽपरामृश्याऽपि सर्वतः परामृष्टमिति भ्रान्त्या योग्याऽनुपलब्धिं निश्चित्याऽसत्यामेव तस्यां भ्रान्त्याऽङ्गुलीयकस्याऽभावमवधारयति। तस्माज्ज्ञाततयैव योग्याऽनुपलब्धिरभावज्ञानकारणमित्यभ्युपगन्तव्यम्, तथा चाऽनवस्थाप्रसङ्गः। तस्मात् स्वसंवेद्या तन्मात्रसंविदेव दृश्यस्य प्रतियोगिनोऽभावः, न तत्त्वान्तरम्।

शङ्का—स्मरणाऽभाव भी अभाव का ग्राहक हो सकेगा, यदि वह (अभाव) कोई पदार्थान्तर हो। अर्थात् अभाव कोई स्वतन्त्र पदार्थ हो, किन्तु ऐसा नहीं है। दृश्य प्रतियोगी घट का जो अभाव है, वह तन्मात्रसंवित् ही है अर्थात् भूतलमात्र ज्ञान ही है, उसके अतिरिक्त कोई तत्त्वान्तर नहीं है। अतः भिन्न पदार्थ नहीं है।

इसी का उपपादन करने के लिये प्रथमतः प्रमाणाऽभावरूप योग्याऽनुपलब्धि अपनी स्वरूपसत्ता से या ज्ञात होकर अभाव का बोधन नहीं करती अर्थात् प्रमाणाऽभाव (योग्याऽनुपलब्धि) में अभावग्राहकत्व का होना सम्भव नहीं है, जिससे तद्ग्राह्य अभाव को तत्त्वान्तर (पदार्थान्तर = स्वतन्त्र पदार्थ) कहा जा सके। इसी आशय को 'न सत्तामात्रेण' ग्रन्थ से कहा गया है, किन्तु यह उक्त कथन उचित नहीं है।

सत्यामपि तस्याम् इति। क्योंकि योग्याऽनुपलब्धि के रहने पर भी अभाव का ज्ञान नहीं होता और क्वचित् योग्यानुपलब्धि के नहीं रहने पर भी अभाव का ज्ञान होता है— यह अन्वय-व्यतिरेक विरोध प्रदर्शित किया गया है। अन्वय-व्यतिरेक-विरोध इसलिये ठीक नहीं है; क्योंकि उसी से (अन्वय-व्यतिरेक से ही) तो कार्य-कारणभाव का निश्चय किया जाता है, किन्तु यहाँ न तो कारण है और न कार्य ही है। अन्वयाऽभाव इस प्रकार

है—तस्याम् = योग्यानुपलब्धौ, कदाचिदभावबुद्ध्यनुदयात्, असत्यामपि कदाचित् उदयात् इससे व्यतिरेकाऽभाव को बताया गया है। यहाँ उदयात् = अभावज्ञानस्य उदयात्, इसका अन्वय पूर्वोक्त 'न अभावबोधकत्वं युक्तम्' के साथ करना चाहिये।

'तथाहि योऽङ्गुलीयकबुभुत्सयेति' इस ग्रन्थ से स्वीकार अन्वयाऽभाव को बता रहे हैं। जो व्यक्ति अंगुलीयक = अंगूठी खोजने की इच्छा से ससन्तमसावपवरकऽदेशम् = घने अन्धेरे से व्याप्त अपवरकदेशम् प्रकोष्ठ (कमरे) को अपने दोनों हाथों से चारों ओर टटोल चुका है, उसे वस्तुत: योग्यानुपलब्धि तो हो चुकी है, तथापि क्या मैने, कमरे के सभी भागों में टटोल लिया है? अथवा कमरे का कोई भाग टटोलने से रह तो नहीं गया—यह सन्देह होता रहता है। उसी कारण उसे योग्यानुपलब्धि का निश्चय नहीं हो पा रहा है, फिर भी अंगुलीयक = अंगूठी के अभाव का निश्चय उसे नहीं हो पा रहा है। अर्थात् वास्तव में यह योग्यानुपलब्धि है ही नहीं। योग्याऽनुपलब्धि के अभाव में भी अंगूठी के अभाव का निश्चय नहीं हो पा रहा है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सभी स्थानों को विना देखे ही सब स्थान देख लेने का भ्रम भी हुआ करता है। उस भ्रम के कारण योग्याऽनुपलब्धि के नहीं होने पर भी अंगुलीयक = अंगूठी के अभाव का निश्चय उसे नहीं हो पाता। अर्थात् योग्यानुपलब्धि का निश्चय कर बैठता है। अत: योग्यानुपलब्धि ज्ञात होकर ही अभाव बुद्धि में अर्थात् अभाव का निश्चय करने में कारण मानी जाती है—इसे स्वीकार करना ही होगा; किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर अनवस्था होगी। अत: योग्यानुपलब्धि को स्वसंवेद्या अर्थात् स्वप्रकाश ही स्वीकार करना चाहिये; किन्तु दृश्य-प्रतियोगी घट का जो अभाव है, वह, भूतलमात्र का ज्ञान होना ही है। उसे पदार्थान्तर मानना अनुचित है।

प्राभाकर ने भी कहा है—प्रमाणान्तरवादिनाऽपि प्रमाणान्तराऽभाव: सत्त्वमात्रेणाऽभावबुद्धिजनको नाऽभ्युपगमनीय:, किन्तु विदितत्वेन। तथाहि—कस्यचिद्वस्तुन: क्वचिद्दृष्टस्य पुनस्तस्मिन्नेव दृश्यमानस्य दर्शनकालभाविनसमभावं प्रतिद्यते नासीदयमिहेति। तदा च तत्र दर्शनाऽभावो निवृत्त: (प्रतियोगिदर्शनात्) कथमभावाऽवगमं जनयेत्? एवञ्चातिपतितस्याऽपि प्रमाणाभावस्याऽभावगमकत्वाद् बुद्ध्यारूढस्य जनकत्वमङ्गीकरणीयम्, तत्र यदि प्रमाणाऽभावो य: सोऽभावरूपस्तदा तस्याऽप्यवगतिर्विदितादेव कारणादङ्गीकर्तव्येत्यनवस्था, यदि तु भावान्तरसम्वित्तिरेव प्रमाणाऽभावोऽभ्युपगम्यते, ततस्तस्या: स्वयंप्रकाशाया नाऽनवस्थाऽऽपद्यते, तथा च सति भावान्तरसंवित्तिरेव स्वयंप्रकाशाप्रमाणाऽभावरूपा, प्रमेयाऽभावोऽस्तु, किमपरेण प्रमेयाऽभावेन? नास्तीत्यादिशब्दप्रयोगोऽपि तस्यामेव स्वयंप्रकाशायां भावान्तरोपलब्धौ युज्यते, न पुनर्नास्तीत्यादिबुंद्धिराविर्भवति बोध्याऽन्तराऽनवभासात्। अभावस्य तु स्वरूपावगतिर्नास्तीति न प्रमाणाऽभावादन्य: प्रमेयाऽभाव:, प्रमाणाऽभावोऽपि च स्वरूपान्तराऽनवगमादेव, न भावान्तरप्रमितेर्भिद्यते, भावान्तरप्रमितिश्च स्वयंप्रकाशरूपा न प्रमेयतामनुभवतीति प्रमेयमभावाख्यस्य प्रमाणस्य नोपपद्यते प्रमेयाऽसद्भा-

वाच्च न प्रमाणान्तरमवकल्पते इति स्थितम्। इत्यादि।।

ननु चाऽभावाऽनङ्गीकारे तन्मात्रधीरपि न कदाचिन्निरूपयितुं शक्यते, न च भूतलधीरेव तन्मात्रधीः संसृष्टधियोऽपि तन्मात्रतापातात्, तत्राऽपि भूतलावभासात्। अतो घटादिवेदनाऽभावे सति या भूतलधीः सा तन्मात्रधीः। एवञ्च ज्ञानाऽभावाङ्गीकारादभावाऽपह्नवोऽनर्थकः। कथं तर्ह्येतन्निरूपयितव्यम्?

तदभिधीयते—घटीद्यभावोऽस्ति प्रमेयम्, योग्यप्रमाणाऽनुदयश्च तस्य सत्तामात्रेणैव नेत्रादिवद्बोधकः, न ज्ञाततया। यतोऽनवस्था स्यात्।

सिद्धान्ती की अवान्तर शङ्का—अभाव को नहीं मानने पर भूतलमात्र का ज्ञान भी कदापि नहीं हो सकेगा। भूतलमात्र का ज्ञान होना ही भूतलज्ञान नहीं है; क्योंकि घटसंसृष्ट भूतलज्ञान के स्थल में भी भूतल का अवभास होता ही है, उसी कारण वहाँ भी भूतलमात्रज्ञान होने का प्रसंग आयेगा, किन्तु ऐसा प्रसंग प्राप्त होना उचित नहीं है। **अतो घटादिवेदनाऽभावे इति**। अतः घटादिज्ञान के अभाव में जो भूतलमात्र का ज्ञान होता है, वही तन्मात्र धी है।

शङ्का—जब भूतलधी को ही तन्मात्रधी नहीं कह सकते, तब घटादिज्ञानाऽभाव के रहने पर जो भूतलधी होती है, उसी को तन्मात्रधी समझ लीजिये। तथा च ज्ञानाऽभाव का स्वीकार तो आपने कर ही लिया है, अतः ज्ञेयाऽभाव का निराकरण करना व्यर्थ ही है।

पूर्वपक्षी की शङ्का—उक्त दोष के कारण अनुपलब्धि अपनी स्वरूपसत्ता से अथवा ज्ञात होने से अभाव की ग्राहक नहीं हो सकती अतः अनुपलब्धि को अभाव का ग्राहक कैसे कहा जा रहा है? तब अभाव का निरूपण किस प्रकार करना होगा?

समाधान—तदभिधीयते इति। यहाँ पर तत् शब्द से अभावग्राहकता निरूपण का प्रकार समझना चाहिये। तथा योग्यप्रमाणाऽनुदय का अर्थ समुचित (योग्य) घटादि-विषयक जो प्रमिति (ज्ञान) उसका जो अनुदय = उत्पन्न न होना ही अनुपलब्धि शब्द का अर्थ है, एवञ्च घटाऽभाव ही प्रमेय है, तथा योग्य भावग्राहक प्रमाणों का अनुदय (उत्पत्त्यभाव) भी है। वही विद्यमान होकर, नेत्रादि के समान अभाव का ज्ञान कराता है। वह ज्ञात होकर अभाव का ज्ञान नहीं कराता। अन्यथा पूर्वोक्त अनवस्था आदि दोष उपस्थित होंगे।

यत्तु सत्यामपि योग्याऽनुपलब्धावभावाऽनवधारणम्, असत्यां चाऽव-धारणमिति, तत्तु योग्यत्वाऽज्ञानकृतम्। योग्याऽनुपलम्भो हि कारणम्। तत्र योग्यत्वं ज्ञाततयैव कारणं, न सत्तामात्रेण। ततः सदेव योग्यत्वं कदाचिदज्ञातं नाऽभावमवधारयति। कदाचित्त्वविद्यमानमेव योग्यत्वं

भ्रान्त्या निश्चित्याऽभावमवधारयति। उपलब्ध्यभावस्तु सन्मात्रतया कारणम्, न ज्ञाततया। तेन नाऽनवस्थापत्तिरिति सर्वमवदातम्। अतोऽ-स्त्यभावाख्यं प्रमेयम्।

इसके पूर्व योग्यानुपलब्धि के कारण होने में जो अन्वय-व्यतिरेकाऽभाव प्रदर्शित किया था, किन्तु योग्यानुपलब्धि के रहने पर भी अभाव का निश्चय नहीं होता और योग्यानुलब्धि के नहीं रहने पर भी अभाव का ज्ञान होता है। अत: अन्वय और व्यतिरेक दोनों का अभाव होने से अनुपलब्धि को अभावज्ञान में कारण नहीं मान सकते।

उपर्युक्त कथन का परिहार तत्तु योग्यत्वाऽज्ञानकृतम्—इत्यदि ग्रन्थ से किया जा रहा है अर्थात् वह योग्यानुपलब्धि घटक योग्यत्व अज्ञानकृत ही है। अभिप्राय यह है कि योग्यता का ज्ञान नहीं होने से ऐसा होता है। अभाव ज्ञान के होने में योग्याऽनुपलब्धि कारण होती है और योग्यता जो है, वह ज्ञात होकर ही कारण होती है, केवल सत्ता मात्र से नहीं; क्योंकि योग्यता के रहने पर भी कभी-कभी अज्ञात रहने से अभाव का निश्चय नहीं कर पाती। कभी-कभी मनुष्य अविद्यमान योग्यता का निश्चय भ्रम से भी कर लेता है।

इसी अभिप्राय को वेदान्तपरिभाषा में अच्छी तरह से स्पष्ट किया गया है, जो इस प्रकार से है— योग्यानुपलब्धेर्योग्यता च तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसंजितप्रतियोगिकत्वम्, यस्याऽभावो गृह्यते, तस्य य: प्रतियोगी, तस्य सत्त्वेनाऽधिकरणे तर्कितेन प्रसञ्जनयोग्य-मापादनयोग्यं यत् प्रतियोग्युपलब्धिस्वरूपं यस्याऽनुपलम्भस्य तदनुपलब्धे योग्यत्व-मित्यर्थ:, तथाहि स्फीतालोकवति भूतले यदि घट: स्यात् तदा घटोपलम्भ: स्यादित्या-पादनसम्भवात् तादृशभूतले घटाऽभावोऽनुपलब्धिगम्य:, अन्धकारे तु तादृशापादनाऽ-सम्भवान्नानुपलब्धिगम्यता। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ पर प्रमया (यथार्थ ज्ञान से) अथवा भ्रम से योग्यता ज्ञात हुई है, वहाँ पर अभावज्ञान होता है, किन्तु योग्या-नुपलब्धि स्वरूपत: विद्यमान रहने पर ही कारण होती है; अत: कोई अनुपपत्ति नहीं है। अत: अभावसंज्ञक प्रमेय के अस्तित्व का स्वीकार करना ही होगा।

(अभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वम्)

न च तदैन्द्रियकम्, इन्द्रियव्यापाराऽभावेऽपि तज्ज्ञानोत्पत्तिदर्शनात्। योऽहनि प्रात: काले गृहेऽवस्थितो मध्यन्दिनसमये पृच्छ्यते—किमस्मिन् गृहे प्रात:काले माथुर: कश्चित् पुरुष: शुक्लस्त्रवासा दीर्घतमो लोहित-वर्ण: समागत: इति। स तदानीमेव योग्यस्मरणाऽनुदयात् तस्याऽभावं प्रात:कालीनमवधारयति विनैवेन्द्रियव्यापारेण। न च प्रातरवगतोऽभाव-स्तदा स्मर्यत इति वाच्यम्, प्रतियोगिनो माथुरस्य तदानीं कथञ्चिदपि बुद्धावनारोहात्, अबुद्धिस्थे च प्रतियोगिनि भावे तदभावज्ञानाऽ-

सम्भवात्। एवञ्च यत्राऽपीदानीमेवाऽनुपरतेन्द्रियव्यापारस्यैव संनिहित-देशकालवर्त्यऽभावः प्रतीयते, तत्रापि योग्यज्ञानाऽनुदयस्यैव क्लृप्त-सामर्थ्यस्य कारणत्वसम्भवान्नेन्द्रियस्य कारणत्वं कल्पयितुं शक्यम्। तस्मान्न प्रत्यक्षोऽभावः।

शङ्का—अभाव-संज्ञक प्रमेय को यदि आपकी मान्यता है, तो भले ही रहे, आपके मानने से हमें कोई हानि नहीं है। हमारा कहना तो (शङ्का तो) इतना ही है कि उसका (अभाव रूप प्रमेय का) ज्ञान (ग्रहण) इन्द्रिय से ही स्वीकार किया जाय, उसके स्वीकार (ज्ञान) के लिये अनुपलब्धि संज्ञक षष्ठ (छठे) प्रमाण की आवश्यकता क्यों की जाय?

समाधान—न च तदैन्द्रियकम् इति। यहाँ तत् शब्द से अभावाख्य प्रमेय को समझना चाहिये। उसकी अनैन्द्रियकता को बता रहे हैं—अभावसंज्ञक प्रमेय (स्वतन्त्र पदार्थ) को सिद्ध कर वह प्रत्यक्षादि का विषय नहीं है, वह तो अनुपलब्धि प्रमाण का ही विषय है—इस अभिप्राय को न च वदैन्द्रियकम्- से बता रहे हैं।

शङ्का—उस अभावसंज्ञक प्रमेय का इन्द्रिय से ग्रहण (ज्ञान) हो सकता है, तदर्थ अनुपलब्धि प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

समाधान—अभावरूप प्रमेय का ज्ञान इन्द्रिय से नहीं होता अर्थात् वह प्रत्यक्षप्रमाण का विषय नहीं है; क्योंकि इन्द्रिय व्यापार (इन्द्रियसन्निकर्ष) न रहने पर भी अभाव का ज्ञान होता है। इसी अभिप्राय को स्पष्ट कर रहे हैं—**योऽहनि प्रातःकाले गृहेऽवस्थित इति**। अर्थात् जो व्यक्ति प्रात:काल के समय घर में रहता है, उसे मध्याह्न में कोई पूछे कि इस घर में माथुर नाम का कोई व्यक्ति आया था? वह श्वेत वस्त्र धारण कर रखा था, उसका शरीर लम्बा (ऊँचा) था, वह लाल (ताम्र) रंग का था। तब उत्तर देने वाला व्यक्ति उचित स्मरण के अभाव में उस माथुर के प्रात:कालिक अभाव का निश्चय इन्द्रिय-सन्निकर्ष के विना ही कर लेता है। प्रात:कालिक अभाव की कालभेद से मध्याह्न में अविद्यमानता होने से ही इन्द्रिय से उसका ज्ञान (ग्रहण) होना सम्भव नहीं है। उस समय योग्य स्मरण का उदय (उत्पत्ति) न होने को ही अभाव का ग्राहक मान लेंगे।

शङ्का—प्रात: अवगत होने वाले माथुर के अभाव का मध्याह्न में स्मरण होता है—यही क्यों नहीं कहते? तथा च मध्याह्न में प्रात:कालिक अभाव के ज्ञानार्थ, अनुपलब्धि प्रमाण की आवश्यकता नहीं करनी पड़ेगी। उसी तरह प्रातरनुभूत अभाव का मध्याह्न में स्मरण होता है—यह भी कह सकते हैं।

समाधान—प्रतियोगी माथुर मध्याह्न काल में किसी तरह भी बुद्धिगत नहीं है। जो प्रतियोगी पदार्थ बुद्धिगत नहीं रहता, उसके अभाव का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार जहाँ इन्द्रियव्यापार समाप्त नहीं है, वहाँ पर सन्निहित देश (स्थान) और सन्निहित काल में स्थित अभाव का ज्ञान हुआ करता है। वहाँ भी योग्य ज्ञान का अनुदय ही कारण

माना जाता है। उसकी शक्ति निश्चित रहने से इन्द्रिय को कारण के रूप में नहीं मान सकते। इसलिये अभाव का प्रत्यक्ष नहीं है। अभिप्राय यह है कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हुआ करता।

शङ्का—अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से न होने पर भी अनुमान प्रमाण से उसका ज्ञान (ग्रहण) हो सकेगा।

नाऽप्यनुमेयः, अज्ञातेन तेन कस्यचिल्लिङ्गस्य सम्बन्धग्रहणाऽसम्भवात्। यदत्र कैश्चिदुच्यते—दृश्यस्य सत्ता दर्शनव्याप्ता, तेन व्यापकीभूतदर्शन-निवृत्त्या व्याप्यस्य दृश्यस्य निवृत्तिरवसीयते इति, तन्निरस्तम्। व्यापक-निवृत्त्या व्याप्यनिवृत्तिमनुमिमानेनाऽवश्यं दृष्टान्तधर्मिषु निवृत्तिद्वयमव-गम्य, तयोश्च नियममवधार्य साध्यधर्मिणि पक्षे च साधनभूतां दर्शन-निवृत्तिं केनचित् प्रमाणेनाऽवगम्य ततो दृश्यनिवृत्तिरनुमातव्या, निवृत्तेश्चाऽभावात्मिकाया न प्रत्यक्षेण ग्रहणं सम्भवति, निवृत्त्यन्तरेण तदनुमाने तदपि निवृत्तिरूपत्वान्निवृत्त्यन्तरेणाऽनुमातव्यम्, तदपि तथे-त्यनवस्थापत्तिः। अतोऽवश्यं क्वचित् प्रमाणान्तरभूतयाऽनुपलब्ध्या-ऽभावः प्रत्येतव्यः। प्रमिते च तस्मिन् पश्चाद् भवत्वनुमानम्। सिद्धं तावदभावस्य प्रमाणान्तरत्वम्। शब्दोपमानाऽर्थापत्तयस्तु नाऽऽशङ्कनीया एव। अतः सिद्धं षष्ठं प्रमाणम्। एतावन्त्येव च प्रमाणानि।

।। इति अनुपलब्धिप्रमाणपरिच्छेदः ।।

समाधान—नाऽप्यनुमेय इति। उसके अनुमेय होने में हेतु यह है—अज्ञातेन तेन कस्यचिल्लिङ्गस्य सम्बन्धग्रहणाऽसम्भवात्। यदि अभाव का प्रत्यक्ष होता तो उसके साथ किसी पदार्थ का व्याप्तिग्रह (व्याप्तिज्ञान) भी होता, तभी उस लिङ्गभूत पदार्थ से अभाव पदार्थ का अनुमान भी हो सकता था, किन्तु यह कुछ भी सम्भव नहीं है; क्योंकि अभाव का प्रत्यक्ष नहीं है। वार्त्तिककार ने कहा है—

न चाऽप्यत्राऽनुमानत्वं लिङ्गाऽभावात् प्रतीयते।
भावांशो ननु लिङ्गं स्यात्तदानीं नाऽजिघृक्षणात्।।
अभावाऽवगतेर्जन्म भावांशे ह्यजिघृक्षिते।
तस्मिन् प्रतीयमाने तु नाऽभावे जायते मतिः।।
कस्यचिद् यदि भावस्य स्यादभावेन केनचित्।
सम्बन्धदर्शनं तत्र सर्वमानं प्रसज्यते।।
गृहीतेऽपि च भावांशे नैवाऽभावेऽन्यवस्तुनः।
सर्वस्य मतिरित्येवं व्यभिचारादलिङ्गता।।
सम्बन्धे गृह्यमाणे च सम्बन्धिग्रहणं ध्रुवम्।

तत्राऽभावमतिः केन प्रमाणेनोपजायते।।
तदानीं न हि लिङ्गेन सम्बन्धिग्रहणं भवेत्।
तत्राऽवश्यमभावस्य प्रमाणान्तरतो गतिः।।
न चाऽनवगतं लिङ्गं गृह्यते चेदसावपि।
अभावत्वादभावेन गृह्येताऽन्येन हेतुना।।
स चाऽन्येन ग्रहीतव्यो नाऽगृहीते हि लिङ्गता।
तद्गृहीतिर्हि लिङ्गेन स्यादन्येनेत्यनन्तता।।
लिङ्गाऽभावे तथैव स्यादनवस्थेयमित्यतः।
क्वाऽप्यस्य स्यात् प्रमाणत्वं लिङ्गत्वेन विना ध्रुवम्।।
नास्तीतिधीः फलं चैषां प्रत्यक्षादेरजन्मनः।
तस्यैव च प्रमाणत्वमानन्तर्यात् प्रतीयते।।

(श्लोकवार्त्तिक, अभावपरिच्छेद, कारि०-२९-४३)

शङ्का—जहाँ पर दृश्य (विषय) की सत्ता (विद्यमानता) होती है, वहाँ पर दर्शन = दृश्यज्ञान होता ही है। इस कारण दर्शन व्यापक और दृश्य सत्ता व्याप्य रहती है; क्योंकि दर्शन (ज्ञान) के विना विषयसत्ता अनुपपन्न रहती है। तेन = तथा च जैसे वह्न्यभाव से धूमाऽभाव का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी व्यापकीभूत दर्शन की निवृत्ति से = अभाव से व्याप्य दृश्य के अभाव का अनुमान करना सम्भव हो सकता है। अतः अनुपलब्धिसंज्ञक प्रमाण को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर सौगत (बौद्ध) के मत को 'यदत्र कैश्चिदुच्यते' से बताया गया है।

श्लोकवार्त्तिक की व्याख्या में न्यायरत्नाकर में भी कहा गया है कि 'सम्प्रत्यनुपलब्धिलिङ्गवादी सौगतश्चोदयति प्रत्यक्षेति। दृश्यं सद् यद् यत्र नोपलभ्यते तत् तत्र नास्ति, यथा बुद्धिसत्त्वे पुरुषः। अतोऽनुपलब्धिसमाख्या प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिरभावस्य लिङ्गम्। वीतहेतुर्वाऽयम् दृश्यस्य सत्ता दर्शनव्याप्ता, तद्दर्शनं व्यापकं निवर्तमानं दृश्यस्य सत्तां व्याप्यां निवर्तयति'। इति। अन्यत्राऽप्युक्तम्–भवतु प्रत्यक्षात् प्रमाणान्तरमनुमानात्तु भेदो नास्ति। दृश्यस्य हि सत्ता दर्शनेन व्याप्ता, दर्शनं निवर्तमानं, दृश्यमपि निवर्तयति। व्यापक निवृत्तिर्हि व्याप्यनिवृत्त्या व्याप्ता, व्याप्याच्च व्यापकावगतिरनुमानमेव भवति। इति।

परिहरति—**तन्निरस्तमिति**। वेदितव्यमिति शेषः। व्यापकनिवृत्त्येत्यादिना– निरस्तत्त्व का उपपादन कर रहे हैं। सपक्ष में व्याप्तिग्रह (व्याप्तिज्ञान) होने पर जब पक्ष में लिङ्ग (हेतु) ज्ञान होता है, तब अनुमान होता है, तथैव यहाँ पर भी दृष्टान्तधर्मियों में (सपक्षों में) अवगत होने वाले व्याप्य और व्यापकों का अर्थात् ज्ञानाऽभाव और विषयाऽभाव का नियम = व्याप्तिनिश्चय करके और साध्यधर्मी पक्ष में साधनरूप– दर्शननिवृत्ति = ज्ञानाऽभाव को अनुमानभिन्न किसी प्रमाण से जानकर दृश्याऽभाव का अनुमान कर लेना चाहिये। अन्यथा साधनरूप दर्शननिवृत्ति = ज्ञानाऽभाव के ज्ञान को भी अभाव अभाव-

लिङ्गक अनुमान के अधीन मानने पर अनवस्था ही होगी। अर्थात् तुम्हारे मत में अभावान्तर से अभाव,- अनुमेय होने से अनवस्था प्राप्त ही है; क्योंकि लिङ्गभूत अभाव भी अभावान्तर से अनुमेय है, इसी तरह से आगे भी समझने के कारण अनवस्था के सिवाय और क्या होगा?। एवञ्च प्रमाणान्तर से अभाव को जानने के पश्चात् अनुमान होता है। अत: अभाव की प्रमाणान्तरता अर्थात् अनुपलब्धि (अभाव) भी एक स्वतन्त्र प्रमाण है—यह मानना ही होगा। अभाव को अनुमान का विषय नहीं समझना चाहिये। एवं शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, आदि प्रमाण भी अभाव को नहीं बताते हैं। यह ध्यान में रखना चाहिये।

अभाव के सम्बन्ध में बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति का कहना है कि जहाँ दृश्य विषय की सत्ता हो, वहीं पर दर्शन है, अर्थात् दृश्य विषय का ज्ञान है। यहाँ पर दर्शन व्यापक है, और दृश्य व्याप्य है। ज्ञान के विना विषय की सत्ता उपपन्न नहीं होती। जैसे वह्न्यभाव से धूमाऽभाव का अनुमान होता है, वैसे ही प्रकृत में व्यापकदर्शन के अभाव से व्याप्य दृश्याऽभाव का अनुमान होता ही है। इसलिये अनुपलब्धि प्रमाण को मानना व्यर्थ है—यह बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति का कहना है। उसी का खण्डन 'यदत्र' से 'अवसीयते' द्वारा ग्रन्थ में किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द, (४) उपमान, (५) अर्थापत्ति, (६) अनुपलब्धि—ये छ: (षट्) प्रमाण ही स्वीकृत किये गये हैं।

अभावोऽपि प्रमाणाऽभाव: अर्थात् अभाव भी प्रमाणाऽभाव है—इस भाष्य की व्याख्या करते हुए शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथि ने कहा है कि प्रमाणाऽभाव शब्द स्मरणाऽभाव का भी उपलक्षक है। इसी प्रकार प्रमाणं पञ्चकम् आदि वार्त्तिक में भी स्मरणाऽभाव को उपलक्षण ही बताया है।

शास्त्रदीपिकाकार की उक्त व्याख्या का कन्दलीकार श्रीधराचार्य ने खण्डन किया है। उनका कहना है कि जो लोग स्मृत्यभाव को भी अभाव (अनुपलब्धि) प्रमाण शब्द से कहते हैं, तो उनके इस कथन का अभावोऽपि प्रमाणाऽभाव:—इस भाष्य से विरोध होता है। तथा प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते अर्थात् प्रत्यक्षादि पाचों प्रमाण भी जो अभाव का ग्रहण करते हैं, उनमें किसी वस्तु से विरोध होता है। जैसे—ये नु स्मृत्यभावमपि अभावं प्रमाणमाचक्षते तेषामभावोऽपि प्रमाणाऽभाव इति भाष्यविरोध: और प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते- इत्यादि वार्त्तिक विरोधश्चेत्यलं बहुना (प्रशस्त पादभाष्य-कन्दलीव्याख्या)। अभावप्रमाण के सम्बन्ध में वार्त्तिककार कह रहे हैं—

भावात्मके यथा मेये नाऽभावस्य प्रमाणता ।
तथैवाऽभावमेयेऽपि न च भावप्रमाणता ।।
भावात्मकस्य मानत्वं न च राजाज्ञया स्थितम् ।
परिच्छेदफलत्वात्तु प्रामाण्यं स्याद् द्वयोरपि ।।

(श्लोकवार्त्तिक, अभाव परि. कारि. ४६-४७)

यत्त्वधिकं सम्भवाख्यं प्रमाणम्, सहस्रादिसङ्ख्ययाऽवयवभूतशतादिसङ्ख्याऽवगतिः, आढक प्रमाणेनाऽवयवकुडवपरिमाणाऽवगतिः कैश्चिदिष्यते, तदविनाभावनिमित्तत्वादनुमानमेव। वटे-वटे वैश्रवणः इत्यादिकं चैतिह्यं प्रमाणमेव न भवति, निर्णयाऽभावात्। प्रामाण्येऽपि वाऽऽगमेऽन्तर्गतत्वान्न प्रमाणान्तरम्। प्रातिभाख्यामपि प्रमाणं कैश्चिदिष्टम्, श्वस्ते भ्राताऽऽगन्ता इत्यादिकम्, तत्तु लिङ्गाद्याभासजम्, अनिश्चायकत्वादेवाऽप्रमाणम्। अतो यत् काश्यपीयैः प्रतिभागम्यमृषीणां धर्माऽधर्मत्वमाश्रितं तदसारम्। लोकप्रसिद्धिरपि प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतैवेति न प्रमाणान्तरम्। अतः षडेव प्रमाणानि। तथा च भगवद्रामायणे राम षड्युक्तयो लोके याभिः सर्वोऽनुदृश्यते इति।।

।। इत्यभाववादः।।

शङ्का—सहस्र संख्या से उसकी अवयवभूत शतसंख्या की प्रतीति होती है, आढ़क प्रमाण- वाचक शब्द के कहने से उसके अवयव कुडव आदि परिमाण की प्रतीति होती है। आढ़क, द्रोण, खारी, वाह, निकुञ्चक, कुडव, प्रस्थ ये सब शब्द परिमाणवाचक हैं। (चतुराढको भवेद् द्रोणः) और वह प्रतीति प्रत्यक्षादि शब्दों से उपपन्न नहीं होती, इसलिये सम्भवसंज्ञक प्रमाण को स्वीकार करना होगा। तथा च—जहाँ सहस्र संख्या है, वहाँ शत संख्या का सम्भव होना निश्चित ही है। अतः सम्भव रूप प्रमाण से शतादि संख्या की अवगति होना अनुमान प्रमाण से ही सम्भव है। तदर्थ सम्भवसंज्ञक स्वतन्त्र प्रमाण को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त अभिप्राय को ग्रन्थकार ने 'यत्त्वधिकं सम्भवाऽऽख्यं' से लेकर 'कुडवपरिमाणावगतिः कैश्चिदिष्यते' तक के ग्रन्थ से बताया है।

समाधान—तदविनाभावनिमित्तत्वादनुमानमेवेति। जहाँ पर सहस्र संख्या होगी, वहाँ शतसंख्या का होना निश्चित ही है। इस कारण सहस्रसंख्या शतसंख्या के विना निष्पन्न नहीं होती यह शतादिसंख्या का ज्ञान अनुमान से ही हो जाता है; क्योंकि व्याप्य से व्यापक का ज्ञान होना अनुमितिरूप ही होता है। एवमेव आढ़क से कुडवक परिमाण का ज्ञान भी अनुमान से ही होगा।

शङ्का—प्रत्येक वटवृक्ष पर जो यक्ष की प्रतीति होती है, वह तो उक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणो मे से किसी भी प्रमाण से होना सम्भव नहीं है; क्योंकि उक्त प्रतीति के होने में इन्द्रियसन्निकर्ष (इन्द्रियसंयोग) लिङ्गज्ञान आदि कारणों का अभाव है, इसलिये ऐतिह्यसंज्ञक प्रमाणान्तर का स्वीकार करना होगा। तथा च ऐतिह्य प्रमाण से प्रत्येक वटवृक्ष पर यक्ष की प्रतीति का होना सम्भव हो सकता है।

समाधान—वटे वटे वैश्रवणः—यह ऐतिह्य (इतिहास) होना प्रमाण नहीं कहा

जा सकता, जिस कारण प्रत्येक वटवृक्ष पर यक्ष के होने का निश्चय (निर्णय) करना असम्भव है, अथवा यह भी कह सकते हैं कि इतिहास (ऐतिह्य) को किसी बात का निर्णायक नहीं कहा जा सकता। प्रथमत: यह जानना आवश्यक है कि इतिहास पदार्थ क्या है? इति ह—यह निपात समुदाय उपदेशपरम्परा के अर्थ में है। उक्त निपात समुदाय से 'अनन्तावसथेतिहभेषजाञ्ज्य:' इस सूत्र से स्वार्थ में ञ्य प्रत्यय करने पर इति ह एव ऐतिह्यम् पद की निष्पत्ति होती है। तब उसका अर्थ यह निष्पन्न हुआ—उपदेशपरम्परा अर्थात् अनिर्दिष्ट प्रवक्तृक वाक्य। ऐसी उक्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं—इति होचुर्वृद्धा इति ऐतिह्यम्। एवञ्च पुरुषवचन परम्परा को ऐतिह्य (इतिहास) कहते हैं। वटे वटे वैश्रवण: इत्यादि वाक्यों को ही ऐतिह्य (इतिहास) कहा जाता है। ऐसे ऐतिहासिक वाक्य अनिर्णायक होने से उन्हें प्रमाण ही नहीं माना जाता। निर्दिष्टप्रवक्तृक वाक्य को ही प्रमाण माना जाता है।

यदि प्रत्येक वटवृक्ष पर उक्त वाक्य से यक्ष की प्रतीति निश्चित रूप से होती है, तो ऐतिह्य का आगम (शब्द) में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिये ऐतिह्य (इतिहास) को पृथक् (स्वतन्त्र रूप से) प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। वार्त्तिककार ने भी उक्त सिद्धान्त का समर्थन किया है—

इह भवति शतादौ सम्भवाद् याऽऽसहस्रान् मतिरवियुतभावात् साऽनुमानादभिन्ना ।
जगति बहु न तथ्यं नित्यमैतिह्यमुक्तं भवति तु यदि सत्यं नाऽऽगमाद् भिद्यते तत् ।। इति।।

शङ्का—श्वस्ते भ्राताऽऽगन्ता = आगामी कल के दिन भ्राता (भाई) के आगमन की प्रतीति प्रत्यक्षादि प्रमाण से होना तो सम्भव नहीं है; क्योंकि उसके होने में कोई कारण नहीं है। अत: प्रातिभ- संज्ञक प्रमाण को एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करना चाहिये। शाङ्करोपस्कार में कहा भी है- आम्नायविधातृणामृषीणामतीताऽनागतवर्तमाने-ष्वतीन्द्रियेषु अर्थेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेषु वा लिङ्गाद्यनपेक्षादाऽऽत्ममनसो: संयोगाद्धर्म-विशेषाच्च प्रातिभं ज्ञानं यदुत्पद्यते तदार्षमिति, तच्च कदाचिल्लौकिकानामपि भवति, यथा कन्यका वदति श्वो मे भ्राता आगन्तेति हृदयं मे कथयति इति।

समाधान—तत्तु लिङ्गाद्याभासजमिति। उक्त आगमनज्ञान आभासज होने से प्रमाण नहीं है। प्रमाण न होने में अन्य कारण यह भी है कि जो प्रमाण होता है, वह निश्चित फल वाला होता है; किन्तु भाई का आगमन अनिश्चायक होने से उसे प्रमाण कहना उचित नहीं होगा।

उक्त कथन का अन्यत्र अतिदेश कर रहे हैं—अतो यत् काश्यपीयै: प्रतिभागम्य-मृषीणां धर्माऽधर्मत्वमाश्रितं तदसारम्। अर्थात् अयं धर्म:, अयं च अधर्म:- यह ज्ञान ऋषियों को अपनी प्रतिभा से ही होता है—यह जो वैशेषिकों ने कहा है, वह नि:सार है; क्योंकि प्रातिभज्ञान में प्रामाण्य का होना सम्भव ही नहीं है। धर्म का ज्ञान तो चोदनैकगम्य (विधिवाक्यैकगम्य) होता है। लोकप्रसिद्धि भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों के

अन्तर्गत ही है। इसलिये उसे भी स्वतंत्र प्रमाण के रूप में नहीं माना जा सकता। अत: षडेव प्रमाणानि। अत: भाट्टमीमांसकों के मत में छ: प्रमाण ही हैं। उक्त स्वाभिमत प्रमाणसंख्या का समर्थन श्रीमद्रामायण के अरण्यकाण्ड के (७२) बहत्तरवें सर्ग में साक्षात् परब्रह्म श्रीरामचन्द्र द्वारा दाहकृत्य से दिव्यरूप को प्राप्त कबन्ध ने कहा है— राम षड्युक्तयो लोके याभि: सर्वोऽनुदृश्यते अर्थात् हे राम! ज्ञान के उपाय (साधन) प्रमाण षट् = छ: ही हैं, जिनके द्वारा सभी विषयों का ज्ञान होता है (बाल्मीकिरामायण, अरण्य-काण्ड, सर्ग ७२, श्लोक ८)। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् परब्रह्म रामचन्द्र ने जब कबन्ध का दाहसंस्कार किया, तब वह दिव्य रूप को प्राप्त कर भगवान् से कहता है—हे राम! ज्ञान के साधन (उपाय) प्रमाण छ: हैं, उन्हीं के द्वारा समस्त पदार्थों का ज्ञान होता है। जैसे दृश्य विषय इन्द्रियसन्निकर्ष से ज्ञात होता है, तथा इन्द्रिय से असन्निकृष्ट व्यापक (साध्य) अग्नि का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है। सादृश्यविशिष्ट पदार्थ का ज्ञान उपमान प्रमाण से होता है, शब्दप्रमाण से वाक्य के अर्थ का ज्ञान होता है, अर्थापत्तिप्रमाण से अनुपपद्यमान दृष्ट अथवा श्रुत अर्थ का कल्पक होता है। अनुपलब्धि प्रमाण से अभाव पदार्थ का ज्ञान होता है। अत: रामायण के कथनानुसार भी भाट्टमीमांसासम्मत षट् प्रमाण ही सिद्ध होते हैं। उक्त रामायण के किसी प्राचीन व्याख्याकार ने प्रयुक्त युक्ति पद का अर्थ षड्गुण किया है अर्थात् (१) सन्धि, (२) विग्रह, (३) यान, (४) आसन, (५) द्वैधीभाव, (६) समाश्रय—इन छ: युक्तियों के द्वारा विचार-विमर्श करने से भूपति (राजा) को समस्त पदार्थों की उपलब्धि होती है।

(चित्राद्यैहिकफलचोदनास्वाक्षेप:)

लोकप्रसिद्धस्वत:प्रामाण्यदर्शनेन तदन्तर्गतस्याऽपि च शास्त्रस्य स्वत:-प्रामाण्यात् चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म: (मी. दर्श. १।१।२) इति प्रतिज्ञातेऽर्थे साधिते सम्प्रति अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् इत्यनेन चित्रादिचोदनानामैहिकफलानां प्रत्यक्षादिभिरसंवादेन विसंवादेन च प्रामाण्यमाक्षिप्यते। पूर्वोक्तस्तु नन्वतथाभूतम् इत्याक्षेप: परलोकफल-स्वर्गकामादिचोदनाविषय इति विषयभेदादपौनरुक्त्यम्।

शङ्का—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इत्यादि पारलौकिकफल चोदना का श्रवण होता है। तथा चित्रया यजेत पशुकाम:- इत्यादि ऐहिक फल चोदना का श्रवण होता है। इनमें से पारलौकिक फल चोदनाओं में तो कोई किसी प्रकार का आक्षेप करना उचित नहीं होगा; क्योंकि कौन जानता है कि स्वर्ग प्राप्ति नहीं होगी? किन्तु ऐहिक फलवाली चित्रादि चोदनापरक वाक्यों में तो आक्षेप किया जा सकता है; क्योंकि चित्रादि यागों से श्रूयमाण पशुफलों की प्राप्ति न होने पर चित्रादि चोदनाओं में अप्रामाण्य बुद्धि होना उचित ही है और चित्रादि यागों में फलव्यभिचार दृष्टिगोचर भी है। चित्रादि इष्टियागों का अनुष्ठान करने पर भी, उसके पशुरूपफल की उपलब्धि नहीं होती ।

समाधान—प्रत्यक्ष आदि लोकप्रसिद्ध प्रमाणों में स्वत:सिद्ध प्रामाण्य दृष्टिगोचर होता है। अत: तदन्तर्गत अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणवृन्द (प्रमाणसमूह) के अन्तर्गत रहने से शास्त्र का (विधि का) भी स्वत:प्रामाण्य ही है। चोदनायें भी अर्थात् विधायक शब्द (विधिशब्द) भी शास्त्र ही है; क्योंकि शासनात् शास्त्रम् शासन (आज्ञा–विधि) करने से ही उसे शास्त्र कहा जाता है।

अत: शासन करने वाली चोदनाओं (विधियों) का प्रामाण्य स्वत:सिद्ध ही है, अर्थात् धर्म का ज्ञान कराने में विधि का प्रामाण्य स्वत:सिद्ध है, एवञ्च चोदनानां धर्मे स्वत: प्रामाण्यं सिद्धम् चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म: इस सूत्र से प्रतिज्ञात अर्थ सिद्ध हो जाता है। स्वत:प्रामाण्य को द्वितीय सूत्र में बताया जा चुका है—तस्मात् स्वत: प्रामाण्यं प्राप्तमर्थान्यथात्व- कारणदोषज्ञानाभ्यामपोद्यते। इसे भूलना नहीं चाहिये।

सम्प्रति अनिमित्ततिति। अब यह बताया जा रहा है—प्रत्यक्ष प्रमाण तो विद्यमान पदार्थ का बोध कराता है। अत: वह धर्म का ज्ञान (बोध) करने में कारण (निमित्त) नहीं हो सकता; क्योंकि धर्म तो भविष्यत् कालिक होता है। इस कारण तथा अनिमित्तं विद्य-मानोपलम्भनत्वात् इससे कथित प्रत्यक्ष-विरोध के रहने से चित्रादि विधायक वाक्यों पर आक्षेप किया गया है। प्रत्यक्ष तो विद्यमान वस्तु का बोधक होता है। यदि ऐहिक फलों को देनेवाले चित्रादियागों का फल यहीं पर प्राप्त होता है तो उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से ही हो सकेगा; किन्तु ऐसा अनुभव किसी को नहीं हुआ है। यागजन्य फल की उपलब्धि किसी ने भी नहीं की है। इसके विपरीत (प्रत्युत) कहीं तो विसंवाद से अर्थात् विपरीत फल की उपलब्धि होने से चित्रादि–विधानों को प्रमाण मानना ही उचित प्रतीत होता हो रहा है। इस प्रकार विधिवाक्यों के प्रामाण्य पर आक्षेप किया गया है। अभिप्राय यह है कि चित्रया यजेत आदि विधिवाक्यों को धर्म में (धर्मविषयक बोध में) प्रमाण नहीं मनना चाहिये—यह आक्षेप किया गया है।

पूर्वोक्तस्त्विति। पूर्वकथित नन्वतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदना—इस भाष्य से जो आक्षेप किया गया है और उच्यते से उसका समाधान किया गया है, यहाँ पर परलोक (स्वर्ग) रूप स्वर्ग ही फल है, उसका साधन जो ज्योतिष्टोमादि विधिवाक्य बताया गया है वही तो आक्षेप का विषय है अर्थात् पूर्वोक्त आक्षेप परलोकरूप फलविषयक है; किन्तु प्रकृत आक्षेप तो ऐहिक फलप्रदर्शक चोदनावाक्य (विधिवाक्य) विषयक है। अत: दोनों के विषय भिन्न-भिन्न रहने से पुनरुक्ति दोष यहाँ नहीं है। वार्तिक में भी कहा गया है—

परलोकफला: पूर्वमाक्षिप्ताश्चोदना: परै: ।
इदानीमैहिकाक्षेप: सूत्रकारेण चोद्यते ।।

ननु च नन्वतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदना इति चोदनामात्रपरिग्रहाद-विशेषेणैवासावाक्षेप:, तथेहापि यदा तावदसौ विद्यमानाऽऽसीत् तदा फलं न दत्तवती। यदा फलमुत्पद्यते तदाऽसौ नास्ति। कथमसती फलं

दास्यति? इत्याक्षेपस्य स्वर्गकामचोदनास्वपि तुल्यत्वादविशेषत्वमिति नास्ति विषयभेदः।

शङ्का—भाष्य में पुनरुक्ति दोष का प्रदर्शन करने के लिये उभयत्र प्राप्त भाष्योक्त आक्षेपों का विषय एक ही है—इस आशङ्का को 'ननु च नन्वतथाभूतमपि अर्थं ब्रूयाच्चोदना' ग्रन्थ से बता रहे हैं। 'द्वितीय सूत्र' चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः के भाष्य में स्थित नन्वतथाभूतमपि आदि आक्षेप भी सामान्यतः चोदनामात्र- विषयक ही है, पारलौकिक फल चोदना विशेषविषयक नहीं है, उसी तरह पञ्चम सूत्र (औत्पत्तिकसूत्र) के भाष्य में भी यदा तावदसौ इत्यादि आक्षेप सामान्यतः चोदनामात्रविषयक ही है। ऐहिकफलचोदना-विशेषविषयक नहीं है। अतः भिन्न-भिन्न विषय- कैसे हो सकेगा? निष्कर्ष यह है कि भाष्य में पुनरुक्ति (पौनरुक्त्य) दोष तो है ही—यह मानना ही होगा। विषयभेद (भिन्न-भिन्न = पृथक्-पृथक् विषय) नहीं है।

उच्यते—पूर्वाक्षेपस्तावत् परलोकफलविषय एव। तत्र हि प्रमाणान्तरापेक्षः शब्दो न स्वातन्त्र्येण प्रमाणम्। न च चोदनार्थे प्रमाणान्तरमस्ति, अतोऽप्रमाणं चोदना इत्ययमाक्षेपः, स चाऽयं परलोकफलविषय एव भवति ।

उस पर विषयभेद को बताने के लिये सिद्धान्ती कहता है— पूर्वपक्षी के द्वारा नन्वतथाभूतमपि इत्यादि भाष्य द्वारा किया गया आक्षेप तो परलोकरूप फलविषयक ही है, और प्रकृत आक्षेप ऐहिकफल चोदनाविषयक है। अतः विषयभेद (भिन्न-भिन्न विषय) होने के कारण पुनरुक्ति दोष नहीं है।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कहना यह है कि नन्वतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदना वाक्य में चोदनामात्र का ग्रहण किया है। इसलिये यहाँ भी सामान्यरूपेणैव आक्षेप है। तथैव पञ्चमसूत्र के भाष्य में कहा गया है कि जब इष्टियाग था, तब उसने फल नहीं दिया और जब फल उत्पन्न हुआ तब इष्टियाग नहीं है। ऐसी परिस्थिति में ही असती = अविद्यमान इष्टि फल की उपलब्धि कैसे करा पायेगी? यह आक्षेप स्वर्गकामादि विधिवाक्यों में भी तुल्य (समान) है। इसलिये विषयभेद नहीं होने के कारण भाष्य में पुनरुक्ति दोष तो है ही।

समाधान—उपर्युक्त शङ्का का समाधान सिद्धान्ती दे रहा है कि पूर्वपक्षी के द्वारा नन्वतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयात् चोदनाः इत्यादि भाष्य से किया गया आक्षेप परलोक फल-विषयक ही है। इस आक्षेप में शब्द सर्वदैव प्रमाणान्तर सापेक्ष है। इस कारण उसे स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में नहीं मान सकते और चोदनार्थ स्वर्गादिरूप फल में प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति नहीं है। इसलिये विधिवाक्य अप्रमाण है—यही आक्षेप है। यह आक्षेप परलोक-प्राप्तिरूप फल चोदनाप्रामाण्यविषयक ही है।

पशुकामचोदनासु हि यदि तावत् कर्मानन्तरमेव पश्वादीन्युपलभ्यन्ते,

ततोऽपेक्षितमूलप्रमाणलाभात् सिद्ध्यति चोदनायाः प्रामाण्यम्। अथ नोपलभ्यन्ते, ततः प्रमाणान्तरबाधेनैव सुखमप्रामाण्यमभिधातुं शक्यत इति किमाक्षेपसारूप्यप्रतिपादनव्यसनेन। तस्मात् स तावत् परलोक-फलविषय एव अयं त्वैहिकफलविषयः। न हि पारलौकिकस्य फल-स्याऽनन्तरकालानुपलब्ध्या निरासः सम्भवति। न हि तेनाऽनन्तरं भवि-तव्यम्, जन्मान्तरभावित्वात्।

पशुकामचोदनास्विति। पशुकाम का पद से घटित चित्रया पशुकामो यजेत इत्यादि विधिवाक्यों में यदि अव्यवधान से अर्थात् चित्रेष्टिकर्म के सम्पन्न होते ही पशुओं की उपलब्धि होती है तो अपेक्षित मूल प्रमाण का लाभ होने से अर्थात् पशुफल प्राप्ति का प्रत्यक्ष लाभ होने से चोदनाओं का (विधिवाक्यों का) प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है और यदि कर्म के सम्पन्न होते ही पशुफल की उपलब्धि नहीं होती है तो प्रमाणान्तरकृत बाध से ही (प्रत्यक्षप्रमाण कृत बाध से ही) सुखमप्राप्यमभिधातुं शक्यत इति अर्थात् सुखेन = सरलता से कहा जा सकता है कि चोदना अप्रमाण है। अर्थात् विधिवाक्य ने तो कर्म-सम्पन्न होते ही पशुफल की उपलब्धि बताई थी, किन्तु पशुफल की प्राप्ति नहीं हुई। अतः चोदना = विधिवाक्य को अप्रमाण मानना चाहिये; किन्तु परलोक फलप्राप्तिबोधक विधिवाक्यों के विषय में उक्त आक्षेप करना सम्भव नहीं है; क्योंकि उक्त विधिवाक्यों ने मृत्यु के पश्चात् ही फलप्राप्ति का होना बतलाया है।

ननु असती कथं फलं दास्यति—इतीदं तुल्यम्। नेति ब्रूमः— अपूर्व-द्वारेण सम्भवात्। स्वर्गो हि स्वभावात् देहान्तराऽनुभवनीयत्वादनन्त-राऽसम्भवित्वेन शास्त्रार्थावधारणवेलायामेव निश्चीयत इत्यपूर्वमन्त-र्भाव्यैव तत्र शास्त्रार्थोऽवधार्यते। तच्च चिरस्थायीति कारणस्याऽ-विनाशात् सम्भवति कालान्तरे स्वर्गस्योत्पत्तिः। पश्वादयस्त्वनन्तरमपि सम्भवन्तीति तत्साधनत्वेन चोद्यमानानां चित्रादीनां शास्त्रार्थावधारण-समयेऽपूर्वप्रणाडीसमाश्रयणे कारणं न किञ्चिदस्तीति स्वरूपेणैव फल-साधनत्वं शास्त्रार्थोऽवधार्यते। तथा चानन्तरमेव फलेन भवितव्यम्। कालान्तरे कर्मस्वरूपस्य विनष्टत्वात् कारणत्वाऽभावात्। अनन्तरं च फलमनुपलब्ध्यैव निरस्तमित्यप्रामाण्यं चित्रादिचोदनानाम्।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कहना है कि सम्पूर्ण आक्षेप पुनरुक्ति भले ही न हो, तथापि आक्षेप का एकदेश जो असती कथं दास्यति है उसका पूर्वोक्त द्वितीयसूत्र भाष्यस्थित आक्षेप के साथ विषय समान होने से पुनरुक्ति तो हो ही जायगी। असती इस वाक्य का ऐहिक चित्रादि के समान परलोक फलचोदनाओं में भी समन्वय होने के कारण पुनरुक्ति तो कहनी ही होगी। अर्थात् अविद्यमान यागादि कर्म से फलप्राप्ति कैसे हो सकेगी? यह

तो दोनों में तुल्य ही है। अतः पुनरुक्ति तो माननी ही होगी।

समाधान—नेति ब्रूमः। स्वर्गादि फलप्रदायक इष्टि के न होने पर भी अपूर्व के द्वारा उसका फल- प्रदायकत्व होना असम्भव नहीं है, अपितु सम्भव है। इष्टियाग से अपूर्व की उत्पत्ति होती है और वह अपूर्व फलप्राप्ति होने तक नियमित रूप से स्थित रहता है। फलप्राप्ति कराकर ही वह समाप्त होता है। इसलिये असती कथं दास्यति इस आक्षेप का स्वर्गादि फल चोदनाओं में कोई अवसर नहीं है। अर्थात् पूर्वपक्षी के अनुसार दोनों में तुल्यता (समानता) नहीं है। स्वर्गादिफल की उत्पत्ति अपूर्व के द्वारा इस प्रकार होती है—स्वर्गो हि स्वभावाद् देहान्तराऽनुभवनीयत्वादनन्तराऽसम्भवित्वेन शास्त्रार्थावधारण-वेलायामेव निश्चीयते इत्यपूर्वमन्तर्भाव्यैव तत्र शास्त्रार्थोऽवधार्यते, तच्च चिरस्थायीति कारणस्याऽविनाशात् सम्भवति कालान्तरे स्वर्गस्योत्पत्तिः। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित तुल्यता नहीं है।

अपूर्व द्वारा स्वर्गादि फलों की उत्पत्ति इस प्रकार होती है—स्वर्गसुख का भोग तो शरीरान्तर से ही होगा; क्योंकि कर्म के तत्काल पश्चात् स्वर्गफल की प्राप्ति का होना सम्भव नहीं है। यह तथ्य, शास्त्रावधारणकाल में ही अर्थात् चित्रासंज्ञकेन यागेन पशुरूपं फलं भावयेत् के निर्णय काल में ही उक्त तथ्य का निश्चय हो जाता है कि अपूर्व को मध्य में मानकर ही फल प्राप्ति होगी; क्योंकि यागादि कर्म क्षणिक = परिमित काल तक ही रहते हैं; इसलिये स्वरूपतः वे स्वर्गप्राप्ति के साधन नहीं हो सकते। इसीलिये भाष्यकार ने बताया है—यागेन अपूर्वं कृत्वा स्वर्गं भावयेत् अर्थात् याग से अपूर्वं को उत्पन्न करके उसके द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करना चाहिये। वह अपूर्व चिरस्थायी रहता है, उसी कारण कालान्तर में भी स्वर्गप्राप्ति का होना असम्भव नहीं है, अपितु सम्भव है। **प्रस्तुत चित्रया यजेत पशुकामः** में पशुफल की प्राप्ति तो कर्मानुष्ठान समनन्तर ही हो सकती है, उसी कारण पशुसाधन के रूप में विहित चित्रायाग का शास्त्रार्थ के निश्चयकाल में अपूर्व को द्वार स्वरूप स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। चित्रादि याग **स्वरूपतः ही फलप्राप्ति के साधन हो सकते हैं—यह शास्त्र का निश्चय है। अतः** कर्मानन्तर ही फलप्राप्ति होनी चाहिये। कर्म का स्वरूप तो अनुष्ठान काल में ही दृष्टि-गोचर रहता है। कर्मानुष्ठानकाल के पश्चात् कर्मस्वरूप तो नष्ट हो ही जाता है। इस प्रकार कारण के अभाव में फल प्राप्ति कैसे हो सकती है? इस कारण चित्रया यजेत पशुकामः इत्यादि विधिवाक्यों का अप्रामाण्य ही सिद्ध होता है। इसी अभिप्राय को श्लोक-वार्तिककार ने भी अभिव्यक्त किया है—

परलोकफलाः पूर्वमाक्षिप्तश्चोदनाः परैः ।
इदानीमैहिकाक्षेपः शास्त्रकारेण चोद्यते ।। इति ।।

(चित्राक्षेपवाद, कारि. १)

तथा— कालान्तराऽनुपादानात् कर्मस्वाभाव्यतोऽपि च ।
चोद्यमानस्य चित्रादेरानन्तर्यं विशेषणम् ।। इति ।।

(चित्रादिचोदनास्वाक्षेपपरिहारौ)

न चाऽनुष्ठानानन्तरं फलानुपलब्ध्यैव शास्त्रार्थेऽपूर्वमन्तर्भावयितुं शक्यते शास्त्रार्थावधारणपूर्वकं ह्यनुष्ठानं नानुष्ठानपूर्वकं शास्त्रम्, तस्मादैहिकानामत्राक्षेप इति युक्तो विषयभेदः। विषयभेदाच्च न्यायोऽपि भिद्यते। परलोकफलासु प्रमाणापेक्षितत्वमाक्षेपन्यायः। अत्र तु प्रमाणान्तरविरोध इति न्यायभेदादपौनरुक्त्यम्। अथ वा पूर्वोक्तं स्वमते सूत्राणि व्याचक्षाणो सूत्रितमेवाक्षेपं दर्शितवान्। इदानीं तु वृत्तिकारमतेन सूत्रेणैवाक्षेपः क्रियते।

शङ्का—अनुष्ठान के पश्चात् ही चित्रादि यागों से फलप्राप्ति नहीं होने से शास्त्रार्थ में अपूर्व का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता; क्योंकि शास्त्रार्थ निश्चित हो जाने के पश्चात् ही कर्म का अनुष्ठान किया जाता है। शास्त्रार्थावधारणपूर्वकं ह्यनुष्ठानं, नाऽनुष्ठानपूर्वकं शास्त्रम् अर्थात् कर्मानुष्ठानपूर्वक शास्त्रार्थावधारण नहीं है। इसलिये ऐहिकफलक चित्रादि विधिवाक्यों का ही यहाँ पर आक्षेप किया गया है। अत: विषयभेद जो कहा गया है, वह उचित ही है और विषयभेद (भिन्न) होने से न्याय भी भिन्न होता है। स्वर्गादिफलक विधिवाक्यों में प्रमाण की अपेक्षा करना ही आक्षेपन्याय है। यहाँ पर अर्थात् चित्रादि वाक्यों में तो प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर का विरोध है। अत: न्यायभेद होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है।

अथवा पूर्वोक्तमिति। अथवा कहकर दूसरे वर्णक को बता रहे हैं। भाष्यकार ने स्वमतानुसार सूत्रों की व्याख्या करते हुए नन्वतथाभूतं ग्रन्थ से बिना सूत्र के ही आक्षेप का प्रदर्शन किया है, किन्तु सम्प्रति (पंचमसूत्र की व्याख्या करते समय) वृत्तिकार के अनुसार सूत्र से ही अर्थात् चतुर्थ सूत्रमूलक आक्षेप का प्रदर्शन का प्रदर्शन किया है। इसलिये पुनरुक्ति दोष नहीं है। चतुर्थ सूत्र के द्वारा प्रत्यक्ष को विद्यमान वस्तु का ग्राहक होना बताया है। यदि चित्रा आदि इष्टियों का फल है, तो उसकी उपलब्धि होनी चाहिये; क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण विद्यमान पदार्थ का ग्राहक निश्चित रूप से होता है; किन्तु चित्रादि कर्म से फलप्राप्ति का होना किसी ने भी नहीं देखा है—यह चतुर्थ सूत्रमूलक आक्षेप है।

तदिह चित्रादिवाक्यानि प्रमाणान्यप्रमाणानि वेति विचार्यते। तदर्थं च किं तेषां प्रमाणान्तरविरोधोऽस्ति न वेति। तत्र फलानामनन्तरमुपलब्धव्यानामनुपलम्भादतत्साधनत्वं चित्रादीनामवगम्यते, तदिदं प्रत्यक्षाऽविसंवादेऽवश्यम्भाविनि सति तदभावादप्रामाण्यम्।

पुनरुक्तिदोष की आशङ्का का समाधान कर दिया गया, अब चित्रादि वाक्यों के आक्षेप को बता रहे हैं—**तदिह चित्रादिवाक्यानि प्रमाणान्यप्रमाणानि वेति विचार्यते इति**। प्रस्तुत में चित्रया यजेत पशुकाम: इत्यादि वाक्यों को प्रमाण माना जाय अथवा नहीं माना जाय? यह विचार किया जा रहा है। तदर्थ चित्रादि वाक्यों का प्रत्यक्षादि

अन्यान्य प्रमाणों से विरोध है अथवा नहीं है? इसका भी विचार करना आवश्यक है। मूल में प्रयुक्त न वा के उपरान्त विचार्यते का अध्याहार कर लेना चाहिये। प्रमाणान्तर के साथ विरोध रहने पर अप्रामाण्य होगा और अविरोध अर्थात् विरोध नहीं रहने पर प्रामाण्य माना जायगा। अत: पूर्वपक्षी के आक्षेप का अभिप्राय अथवा चित्रान्याय के स्वरूप को बताने के लिये पूर्वपक्ष किया जा रहा है—**तत्र फलानामिति**। चित्रायाग के अनुष्ठान समनन्तर ही प्राप्तव्य (प्राप्त होने के योग्य) फलों की उपलब्धि न हो सकने से चित्रादि यागों में पशुफल का साधनत्व प्रतीत नहीं हो रहा है। चित्रादि यागों में पशुफल की साधनता के लिये प्रत्यक्ष का अविसंवाद होना आवश्यक है। अविसंवाद के नहीं होने के कारण चित्रादि वाक्यों में अप्रामाण्य की ही प्रतीति हो रही है। इससे दो प्रकार के अनुमान प्रयोग सूचित किया गया हैं—चित्रादिवाक्यमप्रमाणं प्रत्यक्षादिगोचरार्थप्रतिपादकत्वे सति तद्विसंवादात्, प्रतारकवाक्यवत्। तथा चित्रेष्टि: पशुफला न भवति, स्वकाले तदजनकत्वात्, स्नानभोजनादिवत्।

क्वचित्तु प्रत्यक्षविरोधादप्रामाण्यम् स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति इति, यज्ञायुधीति हि यज्ञायुधसंयोगाच्छरीरमुच्यते। यजमानशब्दोऽपि हि कर्तृवचनस्तस्यैव वाचक: नात्मन:, तस्य सर्वगतत्वेनाऽभिमतस्य क्रियाविरहिण: कर्तृत्वाऽयोगात्, यज्ञायुधसंयोगाऽभावाच्च, संयोगाभिप्रायश्चायं यज्ञायुधीति शब्द:, पात्रचयनस्तुत्यर्थत्वात्। न स्व-स्वामिसम्बन्धाऽभिप्राय:, प्रागपि पात्रचयनात् तत्सम्भवात्। शरीरस्य च प्रत्यक्षविरुद्धं स्वर्गगमनम्। न च कालान्तरेऽपि सम्भवति, यातीति वर्तमानापदेशात्, भस्मीभूतस्य च कालान्तरेऽपि तदसम्भवात्। न च शरीरव्यतिरिक्त: कश्चिदात्माऽस्ति, तस्मादप्रमाणम्। एवमपौरुषेयस्याऽप्यप्रामाण्ये स्वर्गकामचोदनायामपि नाश्वसितुं युक्तमित्यप्रामाण्यमेवाऽऽयातम्।

चित्रादि वाक्यों में अविसंवाद न होने के कारण अर्थात् प्रत्यक्षानुकूलता का अभाव रहने के कारण अप्रामाण्य बताकर सम्प्रति प्रत्यक्षविरोध के कारण भी अप्रामाण्य को बता रहे हैं— **क्वचित्तु प्रत्यक्षविरोधादप्रामाण्यमिति**। मृत हुए यागानुष्ठाता के शरीरदाह के समय चिता पर शरीर के साथ यज्ञीय पात्र रख दिया जाता है। उसी के विषय में भगवती श्रुति कहती रही है—**स एष यज्ञायुधी इत्यादि**। उक्त वाक्यगत अञ्जसा पद का अर्थ है—शीघ्र अथवा अवश्य अथवा सरलता से यज्ञायुधानि = यज्ञीय पात्र, स्रुवा आदि। प्रस्तुत में भगवती श्रुति ने यज्ञायुधी का स्वर्गलोक गमन बताया है। यज्ञायुध (यज्ञपात्रों) के सम्बन्ध से प्रस्तुत में शरीर को ही यज्ञायुधित्व मानना उचित प्रतीत होता है। यदि आत्मा को यज्ञायुधी कहा जाय तो आत्मा तो विभु माना गया है, तब सभी आत्माओं के साथ यज्ञायुध संयोग रहने से सभी को स्वर्ग लोक की प्राप्ति होने लगेगी।

यदि आत्मा को अणु मान लें, तो यजमान की आत्मा का भी यज्ञायुधसंयोग नहीं के संयोग के अभाव से युज्ञायुधी शब्द से शरीर को ही कहना होगा। यजमानत्व भी यागकर्तृत्वरूप ही है, उसका भी सम्भव शरीर में ही होगा, इसी तथ्य को ग्रन्थकार ने कहा है—यजमानशब्दोऽपि कर्तृवचनस्तस्यैव वाचको नात्मनः, तस्य सर्वगतत्वेनाऽभिमतस्य क्रियाविरहिणः कर्तृत्वाऽयोगाद्यज्ञायुधसंयोगाऽभावाच्च, संयोगाभिप्रायश्चायं यज्ञायुधीतिशब्दः पात्रचयनस्तुत्यर्थत्वात्, न स्व-स्वामिसम्बन्धाभिप्रायः, प्रागपि पात्रचयनात् तत्सम्भवात् ।

अभिप्राय यह है कि भगवती श्रुति बता रहीं हैं कि यह यागकर्ता यजमान यज्ञपात्रों को धारणकर शीघ्र ही स्वर्ग लोक में पहुँच जाता है। उक्त कथन से सूचित होता है कि यजमान की मृत्यु हो जाने पर उसकी अन्त्येष्टि के समय उसके शरीर पर यज्ञपात्रों को रखने का विधान है। यहाँ पर युज्ञायुधी- शब्द का प्रयोग तभी किया जा सकता है, जबकि यज्ञ पात्रों का संयोग शरीर से होगा, आत्मा से नहीं। और यज्ञायुधसंयोग से यज्ञायुधी शब्द का अर्थ शरीर ही होगा। यजमान शब्द भी शरीर का ही वाचक होगा; आत्मा का नहीं; क्योंकि आत्मा तो सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक है। अतः वह निष्क्रिय है। इस प्रकार निष्क्रिय (क्रियाशून्य) आत्मा को कर्ता कहना सम्भव नहीं है और संयोग के अभिप्राय से प्रयुक्त यज्ञायुधी शब्द का यज्ञीय पात्रों के साथ संयोग भी नहीं है। यज्ञीय पात्र चयन की प्रशंसा के लिये यज्ञायुधी शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः स्पष्ट है कि यज्ञायुधी शब्द का प्रयोग स्व-स्वमिभाव सम्बन्ध को बताने के लिये नहीं है; क्योंकि स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध का सम्भव तो पात्रचयन के पूर्व भी हो सकता है; किन्तु यज्ञायुध का संयोगसम्बन्ध तो मृत यजमान के शरीर के साथ ही प्रदर्शित है और शरीर का स्वर्ग में पहुँचना प्रत्यक्ष के नितान्त विरुद्ध है।

शङ्का—यदि कोई यह कहे कि उस समय मृत शरीर स्वर्ग में नहीं जाता हो, किन्तु कालान्तर में जायगा। तब उक्त वाक्य् को अप्रमाण कैसे कहा जायगा?

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं है; क्योंकि यहाँ याति क्रियाशब्द का वर्तमानकाल में प्रयोग किया गया है।

शङ्का—वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा-इस सूत्र से वर्तमानकाल के समीपवर्ती भविष्यत्काल को बताने के लिये लट् लकार का विधान किया गया है।

समाधान—उपर्युक्त कथन उचित नहीं हैं; क्योंकि शरीर तो यहीं पर सबके समक्ष भस्म = राख हो जाता है। श्रुति ने भी यही कहा है—भस्मान्तं शरीरम् श्रुति को तो सर्वोपरि प्रमाण मानना ही होगा। इस कारण भस्मीभूत शरीर कालान्तर में भी स्वर्ग नहीं जा सकता।

शङ्का—भस्म हो जाने के कारण शरीर भले ही लोकान्तर में नहीं जा सके, किन्तु शरीर से सम्बन्ध रखने वाला आत्मा तो जा सकता है—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि

आत्मा अप्रत्यक्ष रहती है। अत: से किसी ने भी आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया है। अत: स्वर्ग जाने की बात निश्चित नहीं है। शरीर से पृथक् आत्मा संज्ञक कोई वस्तु (पदार्थ) नहीं है। इस कारण स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति–यह वाक्य अप्रमाण है।

तस्मादप्रमाणमिति। जबकि आत्मासंज्ञक कोई पदार्थ शरीरव्यतिरिक्त है ही नहीं और मृत शरीर यहीं पर भस्मीभूत हो चुका है, तब उसका स्वर्गगमन करना असम्भव ही है। अत: मिथ्याभूत स्वर्गगन बताना तो प्रत्यक्षविरुद्ध होने से उसे (स्वर्गगमन को) अप्रमाण ही समझना चाहिये।

उक्त न्याय का अतिदेश अन्यत्र भी कर रहे हैं—**एवमपौरुषेयस्यापीति**। इसी प्रकार अपौरुषेय वेदवाक्य को भी अप्रमाण कह सकते हैं। तथैव उक्त न्याय का अतिदेश स्वर्गकामो यजेत आदि वाक्यों में भी किया जा सकता है। उस कारण स्वर्गकामादि विधिवाक्यों में भी प्रामाण्य बुद्धि नहीं हो पायेगी अर्थात् उन्हें भी अप्रमाण कहना होगा। निष्कर्ष यह है—स्वर्गकामचोदनायां अर्थात् स्वर्गकामपद घटित विधिवाक्य में भी (स्वर्गकामो यजेत इत्यादि वाक्यों में भी) प्रामाण्य नहीं माना जायगा (विश्वास नहीं हो पायगा); क्योंकि वेदवाक्यों में जो विश्वास किया जाता है, वह, उसके अपौरुषेय होने के कारण ही किया जाता है। ऐसी स्थिति में स्वर्गकामो यजेत आदि वाक्यों के अपौरुषेय रहने पर भी अप्रामाण्य की प्राप्ति होने से स्वर्गकाम चोदनाओं को भी अप्रमाण ही कहना होगा; क्योंकि दोनों जगह अपौरुषेयत्व तो समानरूप से (तुल्य) ही है। अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाऽज्ञानसंशयैः अर्थात् मिथ्यात्व, अज्ञान और सन्देह (संशय) इन कारणों से ही अप्रामाण्य तीन प्रकार का माना जाता है, यह विद्वानों का कहना है।

एवं प्रत्यक्षाऽनुपलब्धिविरोधेन प्रत्यक्षविरोधेन चाक्षिप्ते प्रामाण्ये विरोध-परिहारमुपेक्ष्यैव कारणदोषनिराकरणेन पूर्वोक्तमेव स्वतःप्रामाण्यं स्व-पक्षसाधनत्वेन सिद्धान्तवादी दर्शयति—औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशः इति (जै. सू. १-१-५)। **पूर्वं हि प्रत्यक्षादीनां स्वतःप्रामाण्यस्य लोकसिद्धत्वात् तदन्तर्गतत्वाच्च शास्त्रमपि प्रमाण-मित्येतावदुक्तम्, न तु कारणदोषनिराकरणं कृतम्। इह तु शब्दार्थ-सम्बन्धस्यौत्पत्तिकत्वात् तद्द्वारा पुरुषानुप्रवेशाऽभावात् पुरुषाश्रय-त्वाच्च शब्ददोषस्य अदुष्टमेव शास्त्रमतः प्रमाणमित्युक्तम्।**

।। इति चित्राऽऽक्षेपवादः ।।

एवं प्रत्यक्षाऽनुपलब्धिविरोधेनेति। इसी प्रकार चित्रया यजेत पशुकामः चित्रादि विधिवाक्यों का भी प्रत्यक्षाऽनुपलब्धिविरोधेन फलविषयक प्रत्यक्षाऽभावरूप विरोध होने से (प्रत्यक्ष अनुपलब्धिरूप विरोध रहने से) वैदिक विधिवाक्यों का प्रामाण्य पूर्वपक्षी के

द्वारा आक्षिप्त किया जा रहा है। अर्थात् स एष यज्ञायुधी ग्रावाण: पक्वन्ते आदि वाक्यों में प्रत्यक्षविरोध होने से पूर्वपक्षी ने उक्त वाक्यों के प्रामाण्य पर आक्षेप किया है, ऐसी स्थिति में सिद्धान्ती का कर्तव्य था कि विरोध परिहार करते ही उन वाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध करना चाहिये था, तथापिविरोध परिहार नहीं करके पूर्वोक्त स्वपक्ष का स्थापन करने के लिये कारणदोष सिद्धान्ती कहता है कि स्वत:प्रामाण्य भी उसके अपने पक्ष का साधक ही है।

अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्—इस चतुर्थसूत्र का आश्रय कर पूर्वपक्षी ने चोदनाओं (विधि-वाक्यों) का अप्रामाण्य बतलाया था, उसका निरास (परिहार) करने के लिये सूत्रकार ने पञ्चमसूत्र औत्पत्तिकस्तु को प्रदर्शित किया है।

शङ्का—भाष्यकार के द्वारा पूर्वोक्त स्वत:प्रामाण्य को ही पुन: कथन करने से पौनरुक्त्य (पुनरुक्ति) की आशङ्का हो रही है—**पूर्वं हि प्रत्यक्षादीनामिति**। इसी आशय को वार्तिक में भी बतलाया गया है—

स्वत: सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
न हि स्वतोऽसती शक्ति: कर्तृमन्येन शक्यते ।।
तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धे: प्रमाणता ।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ।।

इह त्विति। शब्द में दुष्टत्व (दोषयुक्तता) का सम्भव स्वरूपेण (स्वरूपत:) नहीं होता, वह तो वक्तृपुरुषगत (बोलनेवाले व्यक्ति के) दोष के द्वारा ही होता है, किन्तु यह कहना लौकिक वाक्यों में तो सम्भव हो सकता है; क्योंकि वे पौरुषेय होते हैं; परन्तु वैदिक वाक्य तो अपौरुषेय हैं, उनमें पुरुष प्रवेश तक नहीं है। जिससे अर्थात् पुरुष दोष के कारण वेदवाक्यों में दुष्टत्व (दोषयुक्त) होने की सम्भावना हो सके, शब्दगत दोष तो पुरुष के आश्रित रहते हैं और वेद अपौरुषेय हैं। उस कारण वेदवाक्य अदुष्ट (निदुष्ट = दोषरहित) ही हैं। अत: वेद = शास्त्र (शासनात् शास्त्रं, वह वेद) शासन करता है। इसलिये उसे (वेदवाक्य को) स्वत:प्रमाण कहा जाता है। प्रामाण्य के अपहारक दोष ही होते हैं। भाष्य में इसी तथ्य को कहा गया है—अपौरुषेय: शब्दस्याऽर्थेन सम्बन्ध:, तस्याऽग्निहोत्रादिलक्षणस्याऽर्थस्य ज्ञानं, प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानस्य, तथा च चोदना-लक्षण: सम्यक् प्रत्यय: इति। पौरुषेये हि शब्दे य: प्रत्ययस्तस्य मिथ्याभाव आशङ्क्येत, परप्रत्ययो हि तथा स्यात्। इत्यादि।

इह तु = इस भाष्य में तो तद् द्वारा = नित्यसम्बन्ध के द्वारा शब्द में अनित्य सम्बन्ध के द्वारा ही पुरुष-प्रवेश का होना सम्भवनीय रहता है। अर्थात् भष्यकार ने तो शब्दार्थ का सम्बन्ध औत्पत्तिक = नित्य होने से उस सम्बन्ध के द्वारा पुरुष-प्रवेश होना सम्भव नहीं है। शब्द के दोष पुरुषाश्रित होते हैं। इसलिये शास्त्र अर्थात् वेद स्वत:प्रमाण है।

(शब्दार्थयोः सम्बन्धाक्षेपः)

एवं सम्बन्धनित्यतयाऽप्रामाण्यं निराकृत्य स्वतःप्रामाण्ये स्थापिते, परः पुनराह— स्यादेतत्, नैव शब्दस्याऽर्थेनाऽस्ति सम्बन्धः, कुतोऽस्य पौरुषेयताऽपौरुषेयता वेति। तथाहि—न तावत् संयोगोऽस्ति, तद्भावे हि क्षुरादिशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनापियात्। न च कार्य-कारणभावः, द्वयोरपि नित्यत्वात्।

सिद्धान्ती का कहना है कि शब्दार्थसम्बन्ध अपौरुषेय होने से (पुरुषकृत नहीं होने से) उसको (शब्दार्थसम्बन्ध को) प्रमाण कहा जाता है। यह कहकर उसने अप्रामाण्य का खण्डन किया है और उस शब्दार्थसम्बन्ध का स्वतःप्रामाण्य सिद्ध कर दिया है। तथापि पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध हो और उस सम्बन्ध की नित्यता हो तो उसके प्रामाण्य और अपौरुषेयत्व को सिद्ध करने का औचित्य कथञ्चित् हो भी सकता है, किन्तु यह स्थिति नहीं है। इस भाष्योक्त पूर्वपक्ष का उपपादन स्वयं कर रहे हैं—**तथाहि न तावत् संयोगोऽस्तीति**। शब्द और अर्थ—दोनों का परस्पर संयोगसम्बन्ध तो हो नहीं सकता। यदि उनका (शब्द और अर्थ का) संयोग सम्बन्ध ही माना जाय, तो क्षुर शब्द का उच्चारण करने पर (क्षुर=छुरा) क्षुर से मुख कट जाना चाहिये और मोदक = लड्डू शब्द का उच्चारण करने पर लड्डू से मुख भर जाना चाहिये; किन्तु किसी को भी ऐसा अनुभव आज तक नहीं हुआ है। इसलिये शब्द और अर्थ का सम्बन्ध संयोग नहीं बन सकता।

शङ्का—शब्द और अर्थ का यदि कार्य-कारण-सम्बन्ध माना जाय तो वह भी उपपन्न नहीं हो रहा है; क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों ही नित्य हैं। इसलिये (दोनों के नित्य होने से) इनका (दोनों का) कार्य-कारणभाव सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता।

ननु वर्णस्फोटजात्यादिविकल्पेन व्यक्त्याकृतिसम्बन्धादिविकल्पेन च बाह्ययोः शब्दार्थ-योर्दुर्निरूपत्वाद् गकाराद्याकारं विज्ञानमेव शब्दः, तज्जनितं च गवाद्याकारविज्ञान-मेवार्थ इति कार्य-कारणत्वमेव शब्दार्थयोः सम्बन्धः। नैवम्, निरालम्बनज्ञानाऽ-नुत्पत्तेः, सम्बन्धान्तरन्तु नाऽऽशङ्कनीयमेव।

शङ्का— नन्विति। विज्ञानवादी बौद्ध शङ्का करता है कि बाह्य शब्द को वाचक मानने पर क्या वर्णस्फोट वाचक होगा? अथवा जातिस्फोट या पदस्फोट वाचक होगा? इसका निर्णायक तर्क कोई नहीं है। इसी प्रकार बाह्यार्थ को वाच्य मानने पर क्या व्यक्ति को वाच्य माना जाय अथवा आकृति को वाच्य माना जाय, इसका निर्णय करने में भी कोई युक्ति (तर्क) नहीं है। एवञ्च बाह्यभूत शब्द और अर्थ का निरूपण करना अत्यन्त कठिन है। इसलिये कहना होगा कि आन्तर (भीतरी) विज्ञान ही शब्दरूपेण और

अर्थरूपेण परिणत होता है। तब शब्द पदवाच्य गकारादि आकार विज्ञानजन्य जो है, वही अर्थ पदवाच्य गकाराद्याकार विज्ञान है, दर्शन में गो शब्द का श्रवण करने पर तत्काल गो पदार्थ की प्रतीति होती है। इसलिये शब्द और अर्थ दोनों का सम्बन्ध कार्यकारणभाव ही है। यह विज्ञानवादी बौद्ध ने शङ्का की है।

उपर्युक्त विज्ञानवादी बौद्ध की आशङ्का का खण्डन कोई सौत्रान्तिक बौद्ध ही पूर्वपक्षी के रूप में कर रहा है— **नैवमिति**। ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि निरालम्बन ज्ञान = निर्विषयक ज्ञान की उत्पत्ति कदापि नहीं होती। इसका कहने का अभिप्राय यह है कि बाह्य पदार्थ के विना = बाह्य विषय के विना ज्ञान की उत्पत्ति होना सम्भव ही नहीं है। जब बाह्य पदार्थ (बाह्य विषय) ही नहीं है, तब मूलं नास्ति कुतः शाखा के अनुसार संयोग अथवा कार्य-कारणभाव आदि किसी सम्बन्ध के होने की शङ्का भी नहीं करनी चाहिये।

प्रत्याय्य-प्रत्यायकत्वं सम्बन्ध इति चेत्? न; असति सम्बन्धे प्रत्यायकत्वस्य असम्भवात्, केन सम्बन्धेन शब्दोऽर्थं प्रत्याययति, इत्येतदेव हि निरूप्यते। तत्र प्रत्यायकत्वादेव प्रत्यायकत्वमित्यात्माश्रयदोषापत्तिः। तस्मान्नास्ति सम्बन्धः। असति च सम्बन्धे वस्त्वन्तरस्य वस्त्वन्तरबोधकत्वाऽसम्भवादनिरूपितहेतुविशेषं स्वप्नज्ञानवत् यादृच्छिकं शब्दार्थज्ञानं न प्रमाणं भवितुमर्हति। लौकिकस्तु व्यवहारोऽसत्यपि शब्दप्रामाण्ये प्रमाणान्तरवशात् कथञ्चित् सङ्गच्छेतापि। वैदिकस्तु व्यवहारः शब्दैकशरणत्वादनार्दतव्यः स्यान्निर्मूलत्वात्।

शङ्का—शब्द और अर्थ– दोनों का परस्पर प्रत्याय्य-प्रत्यायकत्वभाव सम्बन्ध ही मान लिया जाय, निसमें शब्द को प्रत्यायक और अर्थ को प्रत्याय्य समझा जा सकता है।

पूर्वपक्षी उसका परिहार करता है—**न इति। असति सम्बन्धे प्रत्यायकत्वाऽसम्भवात्।** पूर्वपक्षी कहता है कि शङ्काकार का उपर्युक्त कथन उचित नहीं है। सम्बन्ध के रहने पर ही शब्द को अर्थप्रत्यायक (अर्थबोधकत्व) कहा जा सकेगा। फिर भी विचारणीय यह है कि शब्द में जो प्रत्यायकत्व (बोधकत्व) है, वह किस सम्बन्ध से है? यह बताने के लिये। यही कहना होगा कि शब्द में प्रत्यायकता होने से उसे (शब्द को) प्रत्यायक कहते हैं। यह कहने पर तो आत्माश्रय दोष होगा। अपना ज्ञान कराने में अपने ज्ञान की ही अपेक्षा जहाँ की जाती है, उसे आत्माश्रयदोष कहते हैं। अतः शब्द और अर्थ के परस्पर निरूपण करना शक्य (सम्भव) न होने के कारण यही कहना होगा कि शब्द और अर्थ का कोई नित्य सम्बन्ध ही नहीं है, जिससे वेद का प्रामाण्य कहा जा सकेगा।

शङ्का—शब्द और अर्थ का भले ही कोई सम्बन्ध न हो, बिना सम्बन्ध के ही शब्द में अर्थ प्रत्यायकत्व (अर्थबोधकत्व) मान लेंगे।

असति च सम्बन्धे इति। अर्थ से भिन्न समझे जानेवाले शब्द का अपने भिन्न

रहनेवाले के अर्थ का बोधकत्व तभी होगा, जब उनका परस्पर सम्बन्ध हो। बिना परस्पर सम्बन्ध के सम्भव नहीं है। अत: यही समझना होगा कि उनका परस्पर कोई सम्बन्ध है ही नहीं। जैसे स्वप्नज्ञान यादृच्छिक रहता है, उसी प्रकार उसे प्रमाण नहीं माना जाता। उसी तरह शब्दार्थज्ञान अर्थात् शब्दजन्य अर्थज्ञान भी प्रमाण नहीं है। इस कथन में हेतुगर्भ विशेषण प्रदर्शित किया जाता है—वस्त्वन्तरस्य वस्त्वन्तरबोधकत्वासम्भवत् अनिरूपित-हेतुविशेषं स्वप्रज्ञानवत् । अत: यादृच्छिकं शब्दार्थज्ञानं न प्रमाणं भवितुमर्हति ।

विना सम्बन्ध के वस्त्वन्तर का वस्त्वन्तरबोधकत्व सम्भव नहीं है, उसी कारण जिसका हेतुविशेष (विशेष हेतु) अनिश्चित है, ऐसा जो शब्दार्थज्ञान हो, वह स्वाप्नज्ञान के समान यादृच्छिक कहलायेगा, इसलिये उसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता। लौकिक व्यवहार तो शब्द प्रमाण के नहीं मानने पर भी प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा किसी प्रकार से (कथञ्चित्) उपपन्न हो भी सकता है, किन्तु वैदिक व्यवहार तो शब्दैकशरण होने से (शब्दैकसमधिगम्य) होने से वह (वैदिकव्यवहार) आदरणीय नहीं हो सकेगा; क्योंकि वह निर्मूल है। अभिप्राय यह है कि अनिरूपित विशेष हेतु को ही अनिरूपित हेतुविशेष कहा जाता है। अनिरूपित: हेतु विशेष: यस्य तत् अनिरूपित हेतुविशेषं शब्दार्थज्ञानम् । शब्दश्रवणसमनन्तर जो अर्थज्ञान होता है, उसमें कारण क्या है? अर्थात् यह कारण (अमुक कारण) है—बतलाया नहीं जा सकता। इसलिये उसके हेतु को यादृच्छिक कहा गया है। इसीलिये उसे अप्रमाण कहा जाता है।

शङ्का—शब्दार्थज्ञान के अप्रमाण होने पर लौकिकव्यवहार (लोकव्यवहार) भी नष्ट हो जायेगा। घटानयनादिलोकव्यवहार भी घटमानय—इत्यादि शब्दजन्य अर्थज्ञान के प्रमाण रहने पर ही संगत (उपपन्न) होता है। अन्यथा घटमानय—यह सुनकर भी कोई व्यक्ति घट को नहीं ला सकेगा।

समाधान—प्रमाणान्तरवशात् अर्थात् प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण के बल पर घटमानय श्रवण करने पर घट लाने वाला प्रयोज्य व्यक्ति वक्ता की घटविषयक इच्छा का अनुमान करता है। तदनन्तर वह (प्रयोज्यव्यक्ति) घट को ले आवेगा, इस प्रकार से (शब्द को प्रमाण नहीं मानने पर भी प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा कथंचित् लोकव्यवहार का तो निर्वाह हो जायेगा, किन्तु वैदिकव्यवहार तो शब्दैक-गम्य है। यदि शब्दार्थज्ञान को अप्रमाण माना जाय तो वह शब्दैकगम्य वैदिक व्यवहार कैसे उपपन्न हो सकेगा? क्योंकि वह निर्मूल है। अत: यागादि जो वैदिक व्यवहार है, वह केवल शब्द पर ही निर्भर है, उसी कारण वह ग्राह्य नहीं हो सकेगा; क्योंकि वह किसी अन्य प्रमाण का विषय नहीं है।

स्यादेवम्—यद्यसम्बन्ध: शब्दार्थयो:, अस्ति तु सम्बन्ध: प्रत्याय्यप्रत्यायकत्व-लक्षण:, असत्येव सम्बन्धान्तरे स्वभावत एव शब्दोऽर्थस्य प्रत्यायकोऽर्थश्च प्रत्याय्य इत्ययमेव सम्बन्धो भविष्यति। यच्चेदमिन्द्रियलिङ्गादिवत् सन्निकर्षव्या-

प्त्यादिसम्बन्धाऽनपेक्षमर्थप्रतिपादनम् इदमेवाऽभिधानमित्युच्यते, तदेव च संज्ञा-संज्ञित्वम्। तेनोच्यते—संज्ञासंज्ञिकलक्षणः सम्बन्धः इति।

समाधानान्तर—उक्त कथन पर सिद्धान्ती कहता है कि **स्यादेवम् इति**। उसका कहना है कि शब्द और अर्थ का असम्बन्ध होना, (सम्बन्ध न होना) असम्भव नहीं है, अर्थात् सम्भव हो सकता है, तब वेद का अप्रामाण्य हो जायेगा; किन्तु शब्द और अर्थ का प्रत्याय्य प्रत्यायकभावरूप (बोध्य-बोधकभावरूप) सम्बन्ध तो है ही। तदितर (कोई अन्य) सम्बन्ध नहीं होने पर भी स्वभावतः ही शब्द अर्थ का प्रत्यायक (बोधक) हुआ करता है और अर्थ प्रत्याय्य (बोध्य) होता है। शब्द का प्रत्यायकत्व नैसर्गिक (स्वाभाविक) होने के कारण आत्माश्रय दोष भी नहीं होगा। अन्यान्य प्रमाणों की अपेक्षा शब्दप्रमाण की विशेषता यह है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों को सम्बन्ध की अपेक्षा रहती है, जैसे—चक्षुरादि इन्द्रियों को किसी वस्तु का ज्ञान कराने में परस्पर संयोगसम्बन्ध की अपेक्षा रहती है। तथैव लिङ्ग (हेतु) को साध्य का ज्ञान कराने में व्याप्तिरूप सम्बन्ध की अपेक्षा करनी होती है, किन्तु शब्द को किसी अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। शब्द का प्रत्यायकत्व (बोधकत्व) नैसर्गिक (स्वाभाविक) है। इसलिये शब्द और अर्थ का सम्बन्ध प्रत्याय्य-प्रत्यायकभाव ही कहा जाता है। इसी को यच्चेदम् से बता रहे हैं। इन्द्रिय तथा लिङ्गादि के समान सन्निकर्ष तथा व्याप्ति आदि सम्बन्ध की अपेक्षा किये विना शब्द की जो अर्थप्रतिपादकता है, उसी को अभिधान शब्द से कहा जाता है। इस प्रत्याय्य-प्रत्यायकभाव को ही संज्ञा-संज्ञित्व शब्द से भी कहा जाता है। इसी आशय को वार्तिककार भट्टपाद ने भी बतलाया है—

वाच्य-वाचकसम्बन्धनिषेधे लोकबाधनम् ।
विरोधश्च स्ववाक्येन न हि सम्बन्धवर्जितैः ॥
प्रतिज्ञातार्थं पदैः शक्यः प्रतिपादयितुं परः ।
अभिधानक्रियायां हि कर्मत्वं वाच्यसंश्रयम् ॥
शब्दानां करणत्वं वा कर्तृत्वं वा निरूपितम् ॥

(श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपवाद, कारि. ११।१३)

किं पुनः शब्दस्याऽर्थप्रतिपादने प्रमाणम्? शब्दानन्तरमर्थप्रतिपत्तिरेव। नन्वियमभिप्रायाऽनुमानद्वारेणैवोपपन्ना? नेति ब्रूमः। अर्थाऽभिप्रायशून्येनाऽपि स्वापाद्यवस्थाया परवशप्रयुक्तैरपि शब्दैरर्थप्रतिपत्तिदर्शनात्। तथा पुरुषाऽन्तरकृतमपौरुषेयं वा वेदवाक्यमनर्थज्ञैरपि प्रयुज्यमानं व्युत्पन्नानामर्थबुद्धिं जनयत्येव, तस्मात् प्रत्यायकः शब्दः। किमिति तर्हि प्रथमश्रवणे न प्रत्याययति? सहकारिविरहात् सञ्ज्ञात्वग्रहणमपि शब्दस्यार्थं प्रत्याययतोऽङ्गं नेत्रस्येवाऽऽलोकः। तेन यः पुरुषान्तरेभ्यः अयं शब्दः अस्य संज्ञा—इति ज्ञातवान्, तस्यैव प्रत्याययति नाऽन्यस्येति न दोषः।

किं पुनः शब्दस्येति। शब्द अपने अर्थ को बताता है, इसमें क्या प्रमाण है? उक्त प्रश्न का उत्तर यही होगा कि शब्दश्रवण करने पर अर्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) होना ही प्रमाण है। शब्द की क्रिया अभिधान करना ही है। वह इन्द्रियसन्निकर्ष के समान सन्निकर्ष की अपेक्षा नहीं रखती। लिङ्ग के समान व्याप्तिज्ञान की भी अपेक्षा नहीं रखती। इसलिये सन्निकर्ष आदि की अपेक्षा नहीं रखने वाले अर्थ को बताना ही अभिधान कहलाता है। भाष्यकार शबरस्वामी ने इसी को (अभिधान को) संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध के नाम से बतलाया है। तब उक्त शङ्का की गई है कि शब्द के द्वारा अर्थ प्रतिपादन किया जाता है, यह कहने में क्या प्रमाण है? उक्त शङ्का का समाधान यही है कि शब्द के समानान्तर अर्थ की स्मृति होना ही प्रमाण है अर्थात् शब्दश्रवण समानान्तर ही अर्थ की प्रतीति होती है— यह नियम ही प्रमाण है।

शङ्का—यह अर्थज्ञान (अर्थ प्रतीति) तो बोलनेवाले वक्ता के अभिप्राय का अनुमान करने से ही हो जाता है, तब एक अधिक शब्दप्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है?

समाधान—**नेति ब्रूमः इति**। उपर्युक्त कथन उचित नहीं है; क्योंकि अव्याप्ति दोष होगा। **अर्थाऽभिप्रायशून्येनाऽपीति**। देवदत्त के द्वारा जब स्वप्नावस्था में स्वप्नपरवश होने के कारण जो वाक्य बोले जाते हैं, तब उन वाक्यों के अर्थों में देवदत्त का कोई अभिप्राय तो रहता नहीं, तथापि श्रोता को (सुननेवाले को) उन वाक्यों से अर्थबोध तो होता ही है। अत: यह स्वीकार करना ही होगा कि उसके अभिप्राय का अनुमान किये विना ही अर्थबोध होता है। इसी सन्दर्भ में एक अन्य उदाहरण भी दे रहे हैं—**तथेति**। उसी तरह कालिदासादि पुरुषान्तर के द्वारा विरचित रघुवंशादिवाक्य अथवा अपौरुषेय वेदवाक्य को अर्थ नहीं जानने वाले लोग जब बोलते हैं, उस समय भी उस वाक्य के अर्थ को विद्वान् व्युत्पन्न पण्डित लोग जान ही लेते हैं। वैदिक (वेदपाठी) व्यक्ति के द्वारा उच्चारित वेदवाक्य के अर्थ में उस वेदपाठी का अपना कोई अभिप्राय तो रहता ही नहीं; क्योंकि वह वेदपाठी स्वयं ही अनभिज्ञ है; अत: अव्याप्तिदोष हो रहा है। अत: एक अधिक शब्दप्रमाण को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

शङ्का—उपर्युक्त कथन पर पूर्वपक्षी कदाचित् यह कहे कि वेदपाठी के द्वारा कहे गये वेदवाक्य में भी उस वेदपाठी का ही कोई हृद्गत अभिप्राय रह सकता है।

समाधान—**अनर्थज्ञैरपि प्रयुज्यमानमिति**। अर्थाऽनभिज्ञ वेदपाठी व्यक्ति के द्वारा उच्चरित वेदवाक्य के अर्थ में उसका अपना कोई अभिप्राय होना कथमपि सम्भव नहीं है, अर्थात् नितांत असम्भव है; क्योंकि वह अर्थाऽनभिज्ञ है।

शङ्का—यदि कोई व्यक्ति शब्द में अर्थबोधकता होने का दुराग्रह ही करे तो शब्द शक्तिग्रह (शक्तिज्ञान) के पूर्व ही अर्थात् प्रथम श्रवणकाल में ही क्यों नहीं अर्थबोध कराता?

समाधान—**सहकारिविरहादिति**। सहकारी (सहायक कारण) के अभाव में

कारण भी कार्य करने में समर्थ नहीं रहता। अर्थ को बताने वाले शब्द का संज्ञात्वग्रहण अर्थात् शक्तिग्रहण (शक्तिग्रह) सहकारि कारण हुआ करता है। जैसे किसी बाह्यपदार्थ को देखने वाले नेत्रों का सहकारि कारण आलोक = प्रकाश होता है। अतः प्रथम श्रवण के समय शक्तिरूप सहकारिकारण के नहीं रहने से शब्द अपने अर्थ का बोध नहीं करा पाता। कहा भी है—शक्तिधीः सहकारिणी। निष्कर्ष यह है कि जैसे चक्षुः घट के प्रत्यक्ष करने का असाधारण कारण है और उसका सहकारिकारण आलोक = प्रकाश है, तब घट का प्रत्यक्ष होता है, उसी तरह शब्द से अर्थप्रतीति होने में संज्ञात्व = शक्तिग्रह भी साधन है। अतएव शक्तिज्ञान को सहकारिकारण माना गया है—**शक्तिधीः सहाकारिणी इति**। **तेन यः पुरुषान्तरेभ्य इति**। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि जिसने अन्य किसी व्यक्ति से सुना है कि अमुक शब्द अमुक वस्तु की संज्ञा = नाम है, उसी को उस शब्द से उस अर्थ = पदार्थ (वस्तु) का ज्ञान होता है, दूसरे व्यक्ति को नहीं। निष्कर्ष यह है कि जो शब्द गृहीत संगतिक होता है, वही अर्थप्रत्यायक (बोधक) होता है। अगृहीत संगतिक शब्द अर्थप्रत्यायक नहीं होता। लौकिक तथा वैदिक इतिकर्तव्यता में सहकारिकारण की अपेक्षा हुआ करती है। इस सन्दर्भ में वार्त्तिककार ने भी कहा है—

यत्साधकतमत्वेन कस्यचित् किञ्चिदुच्यते ।
तस्याऽनुग्राहकापेक्षा न स्वशक्तिविघातिनी ।।
न हि तत्करणं लोके वेदे वा किञ्चिदीदृशम् ।
इतिकर्तव्यतासाध्ये सस्याज्ञानुग्रहेऽर्थिता ।।

(श्लोकवार्त्तिक, सम्बन्धाक्षेप, कारि. ३६–३७)

शरीरात्ममनोयोगादसाधारणताबलात् ।
विज्ञानाऽऽसत्तिभावाच्च चक्षुः कारणमिष्यते ।।
तथैवेहाऽपि सम्बन्धज्ञानमङ्गं प्रसिद्धितः ।।

(श्लोकवार्त्तिक, सम्बन्धाक्षेप, कारि. ४१–४२)

अतः उक्त कथन दोषरहित है। एवञ्च शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध होना सिद्ध हो जाता है।

(शब्दार्थसम्बन्धस्य अनित्यत्वाऽऽक्षेपः)

नन्वेवमस्तु नाम सम्बन्धः, स तु पौरुषेय इति त्वदुक्त्यैवोपपन्नम्। तथाहि—न हि शब्दस्याऽर्थेन संयोगतादात्म्यादिसबन्धः, किन्तु प्रत्यायकत्वम्। तच्च पुरुषाधीन-मित्युक्तम्, अतो देवदत्तादिशब्दस्येव अस्यार्थस्येयं सञ्ज्ञा इत्येवं सम्बन्धे कृते पश्चाच्छब्दस्यार्थप्रतिपादनमिति सिद्धं पौरुषेयत्वम्।

शङ्का—शब्द और अर्थ का जो सम्बन्ध है, वह पौरुषेय ही हो सकता है। जैसे देवदत्त शब्द का देवदत्त व्यक्ति के साथ सम्बन्ध है, वह उसके पिता ने ही नामकरण

संस्कार के समय किया है, उसी तरह घट शब्द का भी घट व्यक्ति (पदार्थ) के साथ जो सम्बन्ध है, उसे भी किसी व्यक्ति ने ही किया होगा—यही तुम्हारा आशय व्यक्त हो रहा है। तथा च सम्बन्ध पौरुषेय होने के कारण तुम्हें अभीष्ट जो शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता है, वह सिद्ध नहीं हो सकेगी। इसी शङ्का को नन्वेमस्तु से कहा गया है।

अब सम्बन्ध की पौरुषेयता को बता रहे हैं—**तथाहि इति**। उक्त कथन से शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध तो सिद्ध हो गया। वह सम्बन्ध क्या कृतक = पौरुषेय है? यह आशङ्का की जा रही है—**नन्वेवम् इति**। 'तथाहि' से बता रहे हैं—शब्द का अर्थ के साथ संयोग अथवा तादात्म्य आदि सम्बन्ध नहीं हो सकता। तथापि प्रत्यायकत्व सम्बन्ध हो सकता है और वह सम्बन्ध पुरुषाधीन है—यह बता चुके हैं। अत: देवदत्तादि शब्द के समान यह उस अर्थ (पदार्थ) की संज्ञा है—यह कहने वाले पुरुषों के द्वारा ही उस सम्बन्ध को प्रथमत: किया जाता है, तदनन्तर वह शब्द अर्थ को बताता है। इस रीति से पौरुषेयत्व सिद्ध होता है।

(शब्दस्य स्वरूपवर्णनम्)

पूर्वाक्षिप्तं सम्बन्धनित्यत्वमसमाधायेदानीम् अथ गौरित्यत्र क: शब्द: इति कया सङ्गत्या केन वा प्रयोजनेन शब्दस्वरूपं निरूप्यते? सङ्गतिस्तावत् प्रासङ्गिकी, सम्बन्धप्रस्तावात् सम्बन्धिनोरपि शब्दार्थयो: प्रस्तुत्वात् तत्स्वरूपं निरूप्यते। प्रयोजनमपि तदवयवाश्रितानामूहादीनां सत्यत्वम्, निरवयवे हि वाक्ये पदे वा वाचकेऽवयवानां मृषात्वात् तदाश्रितान्यपि कार्याणि मृषा भवेयु:।

पूर्वाक्षिप्तमिति। भाष्यकार शबरस्वामी ने अपने भाष्य में रूपभेदोऽपि भवति गौरितीमं शब्दमुच्चार-यन्ति सास्नादिमन्तमर्थमवबुध्यन्ते इति पृथग्भूतयोश्च य: सम्बन्ध: स कृतको दृष्टो यथा रज्जु-घटयोरिति इत्येवमन्तं शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वमाक्षिप्तम्, अतोऽग्रे सम्बन्धनित्यत्वसमाधानमेवोचितमासीत्, तदुपेक्ष्य शब्दस्वरूपनिरूपणं कृतम् अथ गौरित्यत्र क: शब्द:? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्ष: इत्येवम्।

उपर्युक्त कथन से शब्दार्थसम्बन्ध पौरुषेय सिद्ध होता है। अत: उसके द्वारा पुरुष का प्रवेश होना प्रतीत होता है। उसी कारण पुरुषगत दोष भी शब्द में आते हैं। इसलिये विधिवाक्य को धर्म में प्रमाण नहीं कह सकते। इस आक्षेप के अनन्तर भाष्यकार शबर-स्वामी ने शब्दस्वरूप का विचार करते हुए 'इदमनुपपन्नम्' कहकर आक्षेप किया है।

शङ्का—आक्षिप्त जो शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्व है, उसका समाधान किये विना किये ही शब्दस्वरूप का जो विचार किया जा रहा है, वह किस प्रयोजन के लिये किया जा रहा है? और उसमें पूर्वापर संगति क्या है? यह बताना आवश्यक है।

समाधान—सङ्गतिस्तावदिति। प्रसङ्गसंगति से शब्दस्वरूप को बता रहे हैं।

सम्बन्ध के सम्बन्धी शब्द और अर्थ दोनों विद्यमान हैं। सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों में ही होता है। इसलिये सम्बन्धनिरूपण के पूर्व शब्द और अर्थ—इन दोनों सम्बन्धियों का निरूपण करना अनिवार्य है। उन दोनों में भी शब्द से अर्थ की प्रतीति होने के कारण प्रथमत: शब्दस्वरूप का निरूपण कर रहे हैं; क्योंकि सम्बन्ध पर जो आक्षेप किया गया है, उसके निवारणार्थ सम्बन्ध की नित्यता को बताना भी आवश्यक है। शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता के आधारभूत शब्द और अर्थ ही है। उसके पूर्वप्रसंग शब्द का अर्थ समझना आवश्यक है। **अन्योद्देशेन अन्यदीयस्याऽपि सहानुष्ठानं प्रसङ्गः इति**। तथा च भाष्यम्- अथ गौरित्यत्र क: शब्द: अथ गौरित्यस्य शब्दस्य कोऽर्थ: इत्यादि। उसका प्रयोजन भी बता रहे हैं। **तदवयवाश्रितानामिति**। शब्दावयव पर आश्रित ऊह आदि की सत्यता। ऊह पदार्थ को मीमांसा दर्शन के नवमाध्याय में देखना चाहिये। आदि शब्द से बाध आदि पदार्थों को जानना चाहिये। बाध पदार्थ को दशमाध्याय में देखना चाहिये।

निरवयवे हि वाक्ये पदे वेति। यदि वाक्य को निरवयव कहें तो अग्नये जुष्टं निर्वपामि में अग्नये इस वाक्यावयव के स्थान में सूर्याय इस वाक्यावयव का ऊह नहीं हो सकेगा। यदि पद को निरवयव कहें तो छागस्य वपाया मेदस: में प्राजापत्यों के छागस्य यहाँ पर पदावयवभूत एकवचन के स्थान में पदावयवभूत बहुवचन का ऊह नहीं हो सकेगा; किन्तु पद को सावयव मानने पर ऊह का होना सम्भव हो पायेगा। प्रथम वाक्य में सूर्याय जुष्टम् और द्वितीय वाक्य में छागानां वपाया:—ऐसा ऊह हो सकेगा।

यद्यपि मीमांसकों के मत में वर्ण ही पद कहलाते हैं और वर्ण निरवयव (अवयव रहित) रहते हैं। वर्णात्मक अवयवी नाम का तो कोई पृथक् = स्वतन्त्र पदार्थ ही नहीं है। तथापि वाक्य के अवयव पद और पदों के अवयव वर्ण ही (प्रकृति-प्रत्यय आदि) उनके आश्रित ऊह, बाध, तन्त्र, प्रसंग आदि की सत्यता प्रदर्शित करना ही इसका प्रयोजन है। अवयवभूत प्रतीत होते हैं। अन्यथा यदि वाक्य को निरवयव कहेंगे अथवा वाचक पद में अवयव को मिथ्या कहेंगे तो उसके आश्रित रहनेवाले कार्य भी मिथ्या माने जायेंगे। अर्थात् वाक्य को निरवयव मानने पर पद में वर्णों को मिथ्या कहना होगा, तब ऊह, बाध, आदि सिद्ध नहीं हो सकेंगे। वाक्य तथा पद के सावयव होने पर ही ऊह आदि की सत्यता सिद्ध हो पायेगी। इसी आशय को वार्तिककार ने शङ्का–समाधान करते हुए स्पष्ट किया है—

वर्णातिरेक: प्रतिषिध्यमान: पदेषु मन्दं पदमादधाति।
कार्याणि वाक्याऽवयवाश्रयाणि सत्यानि कर्तुं कृत एष यत्न: ॥

इस पद्य में पूर्वार्ध के द्वारा शङ्का की गई है और उत्तरार्ध के द्वारा समाधान किया गया है।

अवयवानां मृषात्वात्–इत्यादि निर्देशों को सिद्धान्तविरुद्ध कहना होगा। वाचके अवयवानां मृषात्वात्– में वाचके का अर्थ के अर्थात् वाक्य को वाचक नहीं माना गया

है। तदाश्रितानि का अर्थ पद-वाक्ययोः अवयवाश्रितानि करना चाहिये। इदमैदम्पर्यम्—इसका तात्पर्य (अभिप्राय) यह है कि वैयाकरणों ने अखण्ड पद और अखण्डवाक्य को स्वीकार किया है। अतः इनके पक्ष में मीमांसकसम्मत ऊह आदि का होना असम्भव है। वैयाकरणों का सिद्धात है—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥

पदों को भी वाक्यों से भिन्न नहीं माना जाता। अर्थात् वाक्य और पद अखण्ड ही हैं, न कि वर्ण समूहरूप हैं—यह वैयाकरणों का कहना है।

प्रस्तुत में शब्दस्वरूप निरूपण के मिष (बाहने) से पद और वाक्य दोनों का सावयवत्व सिद्ध होने पर ही ऊह आदि की सम्भावना की जा सकती है। अतः ऊहादिकों की सत्यता प्रदर्शित करना शब्दस्वरूप के निरूपण का प्रयोजन है। तदाश्रितान्यपि यहाँ पर अपिर्भिन्नक्रमः अर्थात् कार्य भी = ऊह भी, वाक्य तथा पद को निरवयव मानने पर अवयवों के आश्रित जो कार्य हैं, उन्हें भी मिथ्या कहना पड़ेगा।

किञ्च सम्बन्धसिद्ध्यर्थमवश्यं वर्णानां वाचकत्वं समर्थनीयम्, अन्यथा हि तेषां प्रत्येकं सङ्गत्यभावात् वाचकत्वाऽनुपपत्तिमाकलयतां स्फोटस्य च शशविषाणायमानस्य दूरनिरस्तं वाचकत्वमिति सम्बन्ध एव वाच्य-वाचकभावो निराधारत्वान्न स्यान्नतरां नित्यत्वमिति तत्सिद्ध्यर्थं वर्णानां वाचकत्वं समर्थयितुं शब्दस्वरूपं निरूप्यते। किं गौरित्यत्र वर्णा एव शब्दः? उत तेभ्योऽर्थान्तरम्? इत्येतत् प्राधान्येन निरूप्यते। वर्णावय-वगत्वगोशब्दाऽवयविजातिनिराकरणं तु प्रासङ्गिकम्। वर्णा एव शब्द इत्यवधारणसमर्थनार्थम्।

किञ्चेति। पूर्वोक्त कथन की अन्य प्रकार से भी संगति प्रदर्शित की जा सकती है। सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिये वर्णों में वाचकत्व होना आवश्यक है। अन्यथा प्रत्येक अर्थ के साथ वर्णों की संगति नहीं होने के कारण वाचकत्व की अनुपपत्ति को समझने वालों का वाचकत्व निरस्त हो जायेगा। स्फोट पदार्थ तो खरगोश (शश) विषाण के समान अत्यन्त असत् है। उस कारण वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध का होना दूर ही रहा। स्फोट का आधार कुछ भी नहीं होने के कारण अर्थात् निराधार होने के कारण उसे नित्य समझना तो अत्यन्त असम्भव है।

निष्कर्ष यह है कि सर्वसाधारण लोग वाचक को ही शब्द समझते हैं और इस दर्शन में वर्णों को ही शब्द कहने का व्यवहार भी है। अतः उसके (वर्णों के) वाचक होने का समर्थन करना ही होगा। अन्यान्य दर्शनों में उर्णव्यतिरिक्त (वर्ण से भिन्न) को ही शब्द तथा वाचक कहा करते हैं।

अन्यथा गौः शब्द को सुनकर गकार, औकार एवं विसर्ग आदि वर्णों में से प्रत्येक

का शक्तिग्रह नहीं ही होता है, किन्तु गकार, औकार, विसर्ग से युक्त आनुपूर्वी का शक्तिग्रह होता है। इससे स्पष्ट है कि वर्णों में वाचकत्व नहीं है। अत: वर्णों में वाचकत्व नहीं है—यह कहना होगा। तब वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध की सिद्धि भी नहीं हो पायेगी; अत: उसकी सिद्धि के लिये वर्णों में वाचकत्व का समर्थन तथा उस समर्थन की उपपत्ति के लिये शब्दस्वरूप का निरूपण करना उचित ही है। भाष्यकार शबरस्वामी के अभिप्राय को बतला रहे हैं—**किं गौरित्यत्रेति**।

शङ्का—'गौ:' इस पद में क्या वर्ण ही शब्द है? किंवा तेभ्य: अर्थान्तरम्? उनसे = वर्णों से भिन्न कोई पदार्थ है (वर्णाऽवयवी पद है)? अन्यान्य दर्शनों में वर्णों के अवयव बताये गये हैं तथा गत्व आदि जाति को प्रदर्शित किया गया है। गकार, औकार आदि वर्णों को गौ: इत्यादि शब्दों को अवयवी के रूप में बतलाया गया है और गो शब्दत्वादि जातियाँ बतलायी गयी हैं। इन्हीं बातों को मुख्यतया बता रहे हैं। इसी प्रसंग में वर्णावयव गत्व, गो शब्दावयव जाति आदि का जो निराकरण किया गया है, वह तो प्रासंगिक है। वर्णा एव शब्द:- इस अवधारणा = निश्चय का समर्थन करना मुख्य है। इसी अभिप्राय को भाष्यकार शबरस्वामी ने कहा है—तस्माद् गौरिति गकारादिविसर्जनीयान्तं पदं अक्षराण्येव, तस्मादक्षरान्येव पदम्।

उक्त कथन का निष्कर्ष इस प्रकार है—शङ्का करनेवाले का आशय यह है कि यह गौ है (इयं गौ:) इस वाक्य में शब्द कौन है? और यह प्रश्न कौन कर रहा है? पूर्वपक्षी तो ऐसा प्रश्न कर ही नहीं सकता; क्योंकि सम्बन्ध पर आक्षेप करने के बाद शब्द के विषय में प्रश्न हो ही नहीं सकता। यदि यह कहें कि यह प्रश्न सिद्धान्ती का है, तो यह कहना भी उचित नहीं होगा; क्योंकि सिद्धान्ती तो स्वाभीष्ट शब्दार्थसम्बन्ध के उपपादनार्थ पूछ रहा है; क्योंकि जबतक आक्षेप का परिहार नहीं हो, तब तक प्रश्न करना ही उचित नहीं होगा। उक्त प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि यह प्रश्न तो सिद्धान्ती का ही हो सकता है; क्योंकि वह (सिद्धान्ती) सम्बन्ध के उपपादनार्थ पूछ रहा है कि आपको कौन सा वह शब्द अभीष्ट है, जिसका अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं हो। यदि आप स्फोट कहें तो वह उचित नहीं होगा; क्योंकि गकार, औकार और विसर्ग के अतिरिक्त अन्य कोई शब्द प्रतीत ही नहीं हो रहा है। अर्थप्रतीतिरूप कार्य से उसका ज्ञान होता है कहें, तो इतरेतराश्रय--दोष होगा; क्योंकि शब्द का स्वरूप सिद्ध होने पर अर्थ की प्रतीति होगी और अर्थप्रतीति के होने पर शब्द का स्वरूप प्रतीत होगा। वस्तुत: सिद्धान्त में गकार, औकार और विसर्ग ही तो गौ: शब्द है। जिसका ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय से होता है। लोकव्यवहार में भी श्रोत्रग्राह्य पदार्थ में ही शब्द का प्रयोग होता है— यह उपवर्षाचार्य का कथन है। यह कथन अन्यान्य प्रमाणों से भी श्रेष्ठ है, इसलिये इसे सिद्धान्ती का ही प्रश्न समझना चाहिये।

उपवर्षाचार्य के कथन में अनौचित्य की आशङ्का करना ठीक (उचित) नहीं है; क्योंकि जिसे सर्वप्रमाणों में प्रबल प्रमाणरूप प्रत्यक्ष को भी जो स्वीकार नहीं कर रहा

है, उसको कौन व्यक्ति उत्तर देगा? यह समझकर ही भाष्यकार शबरस्वामी ने भगवान् उपवर्ष के नाम को प्रस्तुत किया है। इस विषय पर श्लोकवार्त्तिक में विशेष चर्चा की गई है (श्लोकवार्त्तिक, स्फोटवाद, कारि०-२)।

तत्र वर्णानामपि पुद्गलाख्यानवयवानार्हताः संगिरन्ते, तत्त्ववयवानुपलम्भादयुक्तम्। प्रत्यक्षेण तावदवयवा नोपलभ्यन्ते, वर्णेषु साकल्यवैकल्यग्रहणाऽभावात्। नाऽनुमानेन, तैः सह कस्यचिल्लिङ्गस्य सम्बन्धाऽग्रहणात्। न च सामान्यतोदृष्टम्, न हि यद् यद्वस्तु, तस्य तस्याऽवश्यमवयवैर्भवितव्यम्, परमाणूनां निरवयवत्वात्। तेऽपि सावयवा इति चेत्? तदवयवा अपि तथा स्युस्ततः परमपि तथेति, एकस्यैव माषावयविनोऽनन्तावयवित्वं स्यात्, ततश्चैकेनैव माषेण तिलेन वा सर्वं जगद् व्याप्येत, अनन्तैरवयवैर्मूर्तैरन्योऽन्यस्याऽवकाशमप्रयच्छद्भिरनन्तदेशव्याप्तेः। तस्मान्निरवयवाः परमाणवो वर्णाश्च। तथा गत्वजातिरौत्वजातिश्चनिष्प्रामाणिकैव।

वर्णावयववादी आर्हतों (जैनमतावलम्बी विद्वानों) के मत को बता रहे हैं—**तत्र वर्णानामपीति**। उनका कहना है कि वर्णपदवाक्यात्मकं वचनम्, आकारादिः पौद्गलिको वर्णः इति। पुद्गलानाम् अवयवी पौद्गलिकः इत्यर्थः। उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि वर्णों के पुद्गलसंज्ञक अवयव हुआ करते हैं।

उपर्युक्त कथन का निरसन 'तत्तु अवयवाऽनुपलम्भात्' ग्रन्थ से कर रहे हैं। अवयवों की उपलब्धि नहीं होने से उनका कहना उचित नहीं है। निष्कर्ष यह है कि अवयवोपलब्धि प्रत्यक्ष नहीं हो पाती है; क्योंकि उनकी उपलब्धि यदि होती है, तो वह सम्पूर्णतया अथवा अंशतः होनी चाहिये, किन्तु किसी प्रकार से भी नहीं होती। इसी अभिप्राय को वार्त्तिककार भट्टपाद ने कहा है—

पृथङ्नैवोपलभ्यन्ते वर्णस्यावयवाः क्वचित्।
न च वर्णेष्वनुस्यूता दृश्यन्ते तन्तुवत् पटे ॥

(श्लोकवार्त्तिक, स्फोटवाद, कारि.-११)

प्रत्यक्षेणाऽवबुद्धश्च वर्णोऽवयववर्जितः।
किं न स्यात् व्योमवच्चाऽत्र लिङ्गं तद्रहिता मतिः ॥

सावयव पदार्थ की कदाचित् साकल्येन (सम्पूर्णतया) तथा कदाचित् वैकल्येन (आंशिक) उपलब्धि हुआ करती है। जैसे धान्यराशि की उपलब्धि सम्पूर्णतया अथवा आंशिक रूप से हुआ करती है; किन्तु प्रस्तुत में वैसा कुछ भी नही है; क्योंकि वर्णेषु साकल्यवैकल्यग्रहणाऽभावात्। नाऽनुमानेन, तैः सहेति। अनुमान प्रामाण से अवयवों का ग्रहण होता है—यह कहना भी उचित नहीं है।

समाधान—क्योंकि अवयवों के साथ किसी लिङ्ग का व्याप्तिरूप सम्बन्ध का ज्ञान नही हो रहा है।

शङ्का—यदि कोई कहे कि सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमानप्रामण से ग्रहण होता है।

समाधान—न हि यद् यद् वस्तु, तस्येति । सभी वस्तुओं का अवयव होना ही चाहिये—ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसा यदि कहें तो परमाणुओं में व्यभिचार दोष होगा; क्योंकि परमाणु निरवयव (अवयवरहित) होते हैं अर्थात् उनके अवयव नहीं हुआ करते।

शङ्का—यदि कोई कह दे कि परमाणु भी सावयव होते हैं, तब उनके अवयवों को भी सावयव कहना होगा। तब तो एक माष (उड़द) रूपी अवयवी के असंख्य (अनन्त) अवयव स्वीकार करने होंगे। इस रीति से तो एक माष अथवा एक तिल से भी सम्पूर्ण जगत् ही व्याप्त हो जायेगा। अनन्त अवयवों से व्याप्त होने के कारण एक-दूसरे को अवकाश = स्थान ही नहीं मिल पायेगा। सभी देश (स्थान) उन अवयवों से ही भर जायेंगे (व्याप्त हो जायेंगे)। अतः कहना होगा कि वर्ण निरवयव होते हैं। उसी प्रकार परमाणु भी निरवयव होते हैं तथा गत्व-जाति और औत्व–जाति की सत्ता (विद्यमानता) के मानने में भी कोई प्रमाण नहीं है।

ननु द्रुतविलम्बितमध्येषूदात्ताऽनुदात्तस्वरितेषु सानुनासिक— निरनुनासिकयोर्ह्रस्वदीर्घप्लुतेषु च प्रत्यभिज्ञायमानाजातिः कथं नास्तीति-शक्यतेऽभिधातुम्? सत्यम्– अस्ति प्रत्यभिज्ञा, सा तु व्यक्तेकत्वादेवोपपन्ना। द्रुतादिभेदावभासस्तु द्रुताद्यवस्थाभेदालम्बनो न व्यक्तिभेदमापादयितुमलं भवति।

शङ्का—ननु द्रुतविलम्बितेति। यदि गकारादिव्यक्ति को एक कहें तो द्रुत आदि के भेद की जो प्रतीति होती है, वह कैसे संगत होगी? अतः व्यक्तिभेद को तो स्वीकार करना ही होगा।

समाधान—द्रुतादि अवस्थाओं के भेद से द्रुतादि की प्रतीति होती है। इसी कारण कोई भी व्यक्ति भेद का निरूपण नहीं कर सकता। इस सन्दर्भ में कोई पूछ सकता है कि यह वही गकार है—इत्याकारक ज्ञान का विषय गत्व, अर्थात् गत्वजाति (गत्वसामान्य) है। ऐसा कहे तो क्या हानि है?

समाधान—सामान्य को जाति कहा जाय अथवा सादृश्य या अपोह कहा जाय? ऐसा विकल्प नहीं किया जा सकेगा; क्योंकि सामान्य को व्यक्ति से भिन्न मानने पर व्यक्ति की प्रतीति सामान्य से भिन्न होनी चाहिये; किन्तु वैसी प्रतीति होती नहीं और दोनों में अभेद (अभिन्नता) मानने पर सामान्य की स्वतन्त्र रूप से पृथक् सिद्धि नहीं हो पा रही है। सादृश्य को ही सामान्य शब्द से नहीं कह सकते; क्योंकि तद्भिन्नत्वे सति तद्गत-

भूयोधर्मवत्त्वरूप सादृश्य अर्थात् भूयोऽवयव सामान्यरूप सादृश्य की सम्भावना निरवयव गकार में नहीं हो सकती, अपोहरूप भी नहीं कह सकते; क्योंकि द्रुतादिभेद से वही यह गकार है—इसका विषय नहीं कह सकते; क्योंकि श्रावण ज्ञान का विषय अभाव नहीं है। इसी कारण गत्व-सामान्य की सिद्धि नहीं हो पा रही है। इसी आशय को ग्रन्थकार और स्पष्ट कर रहे हैं—

(गत्वादिजातिनिराकरणम्)

भेदाऽभेदावभासोऽपि द्वेधा भवति। क्वचिद्भेदो धर्मिविषयः, अभेदस्तु धर्मविषयः। यथा शाबलेयादिष्वयं गौरयं गौरयमपीति जातेरात्मलाभः। क्वचित्तु भेदाऽवभासो धर्मात्, अभेदाऽवभासश्च धर्मिणमालम्बते—एकस्मिन्नेव देवदत्ते युवाऽयं, वृद्धोऽयं, कृशोऽयमिति, न तत्र जातिरङ्गीक्रियते। तदिह द्रुतादिषु धर्मिविषयोऽभेदः, धर्मविषयस्तु भेदः। तथाहि—इदृशोऽत्राऽवभासः अनेनाऽयमकारो द्रुतमुच्चारितः, अनेन विलम्बितम् इति, न तु अयमकारो द्रुतः, अयं तु विलम्बितः इति येन धर्मिभेदो जातिश्चाऽङ्गीक्रियेताम्।

भेदज्ञान तथा अभेदज्ञान भी दो प्रकार का होता है। कहीं-कहीं वह (भेद) धर्मी को विषय करता है और अभेद धर्म को विषय करता है। अर्थात् कहीं पर धर्मी का भेद है तो कहीं धर्म का अभेद रहता है। जैसे—**यथा शाबलेयादिष्विति**। श्यामवर्ण की गाय में इयं गौः = यह गाय है इस प्रकार सामान्य = जाति का बोध (ज्ञान) होता है और कहीं पर धर्म में भेद की प्रतीति होती है और धर्मी में अभेद की प्रतीति होती है। एकस्मिन् एव देवदत्ते युवाऽयमिति अर्थात् एक ही देवदत्त में यह युवा (तरुण) है, यह वृद्ध है, यह कृश है इत्यादि स्थलों में जाति का बोध (ज्ञान) नहीं होता। इसी प्रकार प्रस्तुत द्रुत आदि में धर्मी का अभेद है और धर्म का भेद है। इसी को ग्रन्थ में स्पष्टतया बता रहे हैं—**तथाहीति**।

अयमकारो प्लुतमुच्चारितः– यहाँ पर द्रुतत्व धर्म उच्चारणरूपक्रियागत रहने से गकाररूप धर्मी गत नहीं है, जिससे धर्मभेदकृत भी धर्मिभेद कहा जा सके और धर्मिभेद के अभाव में गत्वादि जाति भी सिद्ध नहीं हो पायेगी।

इसी आशय को वार्तिककार ने भी बतलाया है—

न तु द्रुतादिभेदेऽपि निष्पन्ना सम्प्रतीयते।
गव्यवाक्यन्तरविच्छिन्ना गव्यक्तिरपरास्फुटा ।।
तेनैकत्वेन वर्णस्य बुद्धिरेकोऽपि जायते ।। इत्यादि।

ननु कार्श्यादीनां क्रमवर्तित्वादेकस्मिन् देवदत्ते युक्तः समावेशः, अनुनासिकादीनां तु धर्माणां युगपदनेकवक्त्रुच्चारिते वर्णे समवेतानां

कथमेकवर्णविषयत्वम्? न हि विरुद्धधर्मान् एको धर्मी युगपद् विभर्त्ति।

शङ्का—युवाऽयं, वृद्धोऽयं, स्थूलोऽयं, कृशोऽयं देवदत्तः इस वाक्य से जब देवदत्त में स्थूलत्व होता है, तब उसमें कृशत्व नहीं रहता और जब कृशत्व रहता है, तब उसमें स्थूलत्व नहीं होता; क्योंकि कृशता आदि का होना भिन्न-भिन्न काल में होने से क्रमवर्ती है। उसी कारण देवदत्त व्यक्ति एक रहने पर भी उसमें सभी कृशतादि अवस्थाओं का समावेश हो जाता है, किन्तु यदि वर्ण एक ही है, तब अनेक वक्ताओं के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से गकार का उच्चारण करने पर भी एक ही गकार में युगपत् (एक ही काल में) परस्पर विरुद्ध रहनेवाले सानुनासिकत्व, निरनुनासिकत्वादि धर्मों का समावेश कैसे हो सकेगा? क्योंकि कालभेद से तो विरुद्ध धर्म धारण हो भी सकता है, किन्तु एक ही काल में एक धर्म का ही धारण होता है। निष्कर्ष यह है कि एक ही धर्मी एक ही काल में अनेक धर्मों को धारण नहीं कर सकता।

सत्यम्, न त्वेते परमार्थतो वर्णधर्माः, ध्वनिधर्मास्त्वेते वर्णे केवलमाभासन्ते। यथाऽल्पे महति च दर्पणे युगपद् दृश्यमाने मुखेऽल्पत्वं महत्त्वं चेति। तस्माद् वर्णस्य व्यक्त्येकत्वेऽपि न विरोध इति अप्रामाणिकी गत्वादिजातिः।

सत्यम् न त्वेते परमार्थत इति। एक ही धर्मी अनेक विरुद्ध धर्मों को एक ही काल में अर्थात् युगपत् धारण नहीं कर सकता— यह सत्य (सच) है। अतएव सानुनासिकत्व, निरनुनासिकत्व, ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि धर्म वर्ण के वास्तविक नहीं हैं; इसलिये भवदुक्त आक्षेप यहाँ संगत नहीं हो सकता। ये तो ध्वनि के ही धर्म हैं। ध्वनि से तो वर्णों की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् ध्वनि से वर्ण अभिव्यक्त (प्रकट) होते हैं। जैसे अभिव्यञ्जक दर्पणगत मालिन्यादि धर्म मुख में भासते हैं, उसी प्रकार अभिव्यञ्जक ध्वनि के सानुनासिकत्व आदि धर्म वर्ण में भासित होते हैं और ध्वनियों के अनेक होने से व्यक्तिभेद के कारण विरुद्धधर्म समवाय का भासित होना भी उचित ही है। जैसे छोटे और बड़े दर्पण में युगपत् (एकसाथ) मुख देखते समय मुख में तत्तद् दर्पणगत अल्पत्व और महत्त्व (छोटा-बड़ापन) भासित होता है, किन्तु वह अल्पत्व और महत्त्व वस्तुतः मुख का नहीं है, अपितु दर्पण का होता है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये। **तस्मादिति**। इसलिये जैसे अनुनासिकत्वादि धर्म वस्तुतः वर्ण के धर्म नहीं है; अपितु ध्वनि के धर्म हैं, तथापि वे धर्म वर्ण में केवल भासते हैं। इसी अभिप्राय को उक्त दृष्टान्त से समझाया गया है। इसीलिये गत्व, कत्व आदि जाति के मानने में कोई प्रमाण नहीं हैं। वार्तिककार भट्टभाद ने भी उक्त अभिप्राय का ही समर्थन किया है—

विशेषबुद्धिसद्भावो भवेद् व्यञ्जकभेदतः।
यथैव तव गत्वादि गम्यमानं द्रुतादिभिः॥
विशेषैरपि नाऽनेकमेवं वर्णोऽपि नो भवेत्।

त्वयाऽपि व्यञ्जकव्यक्तिभेदाद्भेदोऽभ्युपेयते ॥
ममाऽपि व्यञ्जकैर्नादैर्भेदबुद्धिर्भविष्यति ॥ इत्यादि ।

एवं गोशब्दावयव्यपि, गकारादीनामयौगपद्यात् सर्वगतत्वाच्चाऽवयव्याऽऽरम्भाऽसामर्थ्यात्। सर्वत्र हि कारणपरिमाणादधिकं कार्यपरिमाणं तन्तुपटयोरिव, न च विभुभ्यो वर्णेभ्यः परिमाणाधिक्यं कस्यचिद् भवति, अतो नास्त्यवयवी। तदभावे च तदाधारं गोशब्दत्वं दूरापास्तम्। तस्माद् वर्णा एव शब्दः।

मीमांसकों का सिद्धान्त है कि वर्णा एव शब्दः अर्थात् वर्ण ही शब्द हैं, किन्तु अन्याऽन्य दर्शनों में वर्णों को शब्दावयव (शब्द का अवयव) और शब्द को अवयवी बतलाया है। दर्शनान्तरों की उक्ति का खण्डन- **एवं गोशब्दाऽवयव्यपीति**। एवं कहते हैं—अर्थात् गत्वादि जाति के समान ही निष्प्रमाणकत्व (प्रमाणरहित) होने से अवयवीभूत गो शब्द भी नहीं है, किन्तु अवयवत्वेन (अवयव के रूप में) उक्त वर्ण ही शब्द है। अवयवी के नहीं होने में कारण प्रदर्शित कर रहे हैं—गकारादीनामयौगपद्यात्। जैसे परिच्छिन्न = सीमित (परिमित) धान्य युगपत् एकत्र हो जायें तो राशिभूत अवयवी निष्पन्न हो जाता है, वैसे ही सर्वत्र अवयवी की निष्पत्ति होती है। यदि ऐसा कोई कहे तो वह यहाँ सम्भव नहीं है; क्योंकि जब गकार होगा तब औकार नहीं और जब औकार होगा तब गकार नहीं। इसी प्रकार एकत्रीभवनाऽभाव अर्थात् युगपत् स्थिति नहीं होने पर अवयवभूत वर्णों से अवयवी की निष्पत्ति कैसे होगी? उसी तरह वर्णों के सर्वगत (व्यापक) होने से उनसे महान् अवयवी की निष्पत्ति कैसे हो सकेगी?

इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार 'सर्वत्र हि' ग्रन्थ से बता रहे हैं। सर्वत्र कारणद्रव्य के परिमाण से कार्यद्रव्य का परिमाण अधिक हुआ करता है। जैसे तन्तु के परिमाण से पट का परिमाण अधिक होता है। **न चेति** । विभु = व्यापक वर्ण से कार्य का आरम्भ नहीं होने के कारण उसमें स्थित गोशब्दत्व भी दूर से ही निरस्त हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि व्यापक वर्णों से अधिक परिमाण वाला कोई नहीं होता। सबसे अधिक परिमाण व्यापक का ही होता है, जिसे वर्णों का अवयवी कहा जा सके। अतः अवयवी संज्ञक कोई पदार्थ ही नहीं है। आधार के अभाव में आधेयाऽभाव का होना अवश्यंभावी है। अतः गोशब्दत्व जाति भी नहीं है। मूलगत तदभावे का अर्थ है—गो शब्द लक्षण अर्थात् गोशब्दरूप अवयवी के नहीं रहने पर (अभाव के रहने पर)। तदाधारभूत गोशब्दत्व भी नहीं है। एवञ्च वर्ण ही शब्द हैं। वार्त्तिककार भी इसी का समर्थन कर रहे हैं—

समुदायोऽपि तेभ्योऽन्यो वारणीयोऽनया दिशा।
यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने ॥
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवाऽवबोधकाः ।

तेषां तु गुणभूतानामर्थप्रत्यायनम्प्रति ।।
साहित्यमेककर्त्रादिक्रमश्चाऽपि विवक्षित: ।। इत्यादि ।

उक्तरीत्या तार्किकों की आशङ्का का निरसन करके अब वैयाकरणों की शङ्का को उपस्थित कर रहे हैं—

आह—गृह्णीतम एतत्—अवयवाऽवयविगत्वादिकं नास्ति इति, न तु वर्णा एव शब्दा इति। अर्थप्रत्ययाऽनुपपत्तेः। तथाहि—

न ह्येकाक्षरविज्ञानादर्थधीरुपजायते ।
वाचश्च क्रमवर्त्तित्वात् साहित्यं नाऽवकल्पते ।।११।।

आह—गृह्णीम एतत् इति। मीमांसकों ने जो कहा कि अवयव नहीं है, अवयवी भी नहीं है और गत्व आदि भी नहीं है। अर्थात् शब्दविषयक जो भी कहा है, वह सब हमें स्वीकार है, किन्तु वर्णा एव शब्द: अर्थात् वर्ण ही शब्द है—इतना मात्र हमें स्वीकार नहीं है; क्योंकि वर्णों को शब्द मानने पर उनसे अर्थप्रतीति नहीं हो सकेगी।

वर्णों से अर्थप्रतीति के नहीं होने में कारण बता रहे हैं—**न ह्येकाक्षरेति**। काम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ की प्रतीति केवल घकारश्रवण से अथवा टकारश्रवण से नहीं हुआ करती; इसलिये वर्णों को ही शब्द नहीं कहा जा सकता।

शङ्का—घकार-टकार की आनुपूर्वी से तो अर्थप्रतीति हो सकेगी और आनुपूर्वी वर्णों की ही है, तब वर्ण को ही शब्द क्यों नहीं माना जा सकेगा?

समाधान—वाचश्चेति। वाच: = उच्चारणस्य। क्रमवर्त्तित्वात् अर्थात् उच्चारण क्रम से ही हुआ करता है। इसी कारण घकार का उच्चारण करते समय टकार का उच्चारण करना सम्भव नहीं है। तथैव टकार का उच्चारण करते समय घकार का उच्चारण करना सम्भव नहीं है। इसलिये वर्णों का साहित्य भी नहीं बन पाता। जिससे साहित्य से युक्त हुए वर्णों से अर्थप्रतीति का होना कहा जाय। इस पर सिद्धान्ती कहता है—

उच्यते— यथाऽऽग्नेयादिकर्माणिक्रमवर्तीनिसत्त्यपि ।
संहत्यकुर्वते कार्यमेकं वर्णास्तथैव नः ।।१२।।

यथाऽऽग्नेयादीति। जैसे आग्नेयादि यागों में एककालवृत्तित्व का अभाव रहने पर भी अर्थात् आग्नेयादियागकर्म यथाक्रम अनुष्ठित होने पर भी सभी मिलकर एक कालापूर्व को उत्पन्न करते हैं, वैसे ही सभी वर्ण मिलकर अर्थ के बोधक होते हैं। निष्कर्ष यह है—दर्शपूर्णमास के छ: याग होते हैं। दर्श में (१) आग्नेय पुरोडाशयाग, (२) ऐन्द्रदधियाग, (३) ऐन्द्रपयोयाग। उसी तरह पौर्णमासयाग में (१) आग्नेय पुरोडाशयाग, (२) उपांशुयाग, (३) अग्नीषोमीय पुरोडाशयाग। ये सभी मिलकर छ: याग होते हैं।

दर्श शब्द तथा पूर्णमास शब्द अभिधाशक्ति से काल के वाचक हैं। उस काल में

अनुष्ठान किये जानेवाले कर्मों का लक्षणावृत्ति से बोध कराते हैं। याग क्रियारूप है, उसका अनुष्ठान क्रम से ही होता है। ये सभी याग स्वजन्य अपूर्व के द्वारा स्वर्गरूप फल के अथवा उसके साक्षात् साधनरूप परमापूर्व के आरम्भक कहलाते हैं। उसी तरह प्रत्येक वर्ण का उच्चारण करने पर उससे संस्कार उत्पन्न होता है। उसके द्वारा स्मृत्यारूढ़ वर्णों से अर्थबोधनरूप कार्य होता है। अतः शब्द वर्णात्मक (वर्णरूप) ही है—यही भाट्ट-मीमांसकों का सिद्धान्त है। इसमें किसी प्रकार की कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसका विशद निरूपण श्लोकवार्त्तिक के स्फोटवाद में (कारिका ६४ में) किया गया है। जैसे—

दृष्टश्च पूर्णमासादेः क्रमः संहत्यकारिणः ।
अभ्यासानां च लोकेऽपि स्वाध्यायग्रहणादिषु ॥

(वर्णानामर्थप्रत्यायकत्वम्)

ननु क्रमवर्त्तिनामप्युत्पत्त्यपूर्ववशेन युक्तं साहित्यं, वर्णानां तु कथम्? तेषामपि संस्कारेण भविष्यति। तत्सद्भावे किं प्रमाणम्? यदेवाऽऽग्नेयादिषु। यथाहि तेषां शास्त्रेण संहत्यकारिताऽवगमात्, स्वरूपतश्च तदसम्भवादपूर्वं द्वारं कल्प्यते, तथा वर्णानामप्येकैकशोऽभिधानाऽदर्शनात् सकलोच्चारणे चाऽवगमात् संहत्यकारित्वे निश्चिते स्वरूपेणाऽसम्भवात् संस्कारकल्पनं युक्तमेवेव चैककर्तृत्वं क्रमविशेषश्चाऽऽद्रियते, विपर्ययेणाऽर्थाभिधानाऽदर्शनात्।

शङ्का—उपर्युक्त दर्श-पौर्णमास के दृष्टान्त में आग्नेयादि यागों का अनुष्ठान यथाक्रम होता है, उसी कारण तज्जन्य उत्पत्त्यपूर्व के द्वारा यागों का साहित्य (सहभाव) बन सकता है, किन्तु वर्णों का सहभाव (साहित्य) कैसे हो सकेगा?

समाधान—वर्णों का सहभाव (साहित्य) भी संस्कार के द्वारा हो जायेगा।

शङ्का—वर्णोच्चारणजन्य संस्कार के होने में क्या प्रमाण है?

समाधान—जो आग्नेयादि यागों में है, वही वहाँ भी है। **तथाहि इति**। जैसे आग्नेयादि यागों का साहित्य (मिलकर एक कार्य करना) शास्त्र से जाना जाता है। उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि आग्नेयादि षड्याग अर्थात् सभी याग मिलकर एक अपूर्व को उत्पन्न करते हैं—यह शास्त्र से (अर्थापत्ति प्रमाण से) अवगत होता है। उसी शास्त्र को (अर्थापत्ति को) ही वर्णजन्य संस्कार के सद्भाव में प्रमाण मान लीजिये। उसी का उपपादन 'यथा हि तेषामिति' से किया गया है। आग्नेयादि यागों का सहभाव (साहित्य) अर्थात् मिलकर एक कार्य को करना शास्त्र से जाना जाता है। अभिप्राय यह है–आग्नेयादि सभी याग मिलकर एक अपूर्व को उत्पन्न करते हैं—ऐसा शास्त्र से ज्ञात होता है, किन्तु आग्नेयादि यागों की संहत्यकारिता का ज्ञान होना स्वरूपतः तो असम्भव ही है; क्योंकि सभी याग क्षणिक हैं। इसलिये याग और स्वर्ग के मध्य में (बीच में) अपूर्वरूप

द्वार की कल्पना की जाती है। उसी तरह प्रत्येक (एक-एक) वर्ण से अर्थ का अभिधान (प्रतिपादन) नहीं हो सकने के कारण यह प्रतीत होता है कि सभी वर्णों का उच्चारण होने पर ही अर्थ का ज्ञान होता है। अर्थात् सभी वर्ण मिलकर अर्थ को बताते हैं। वर्णों का उच्चारण करते ही वे (वर्ण) नष्ट हो जाते हैं। इसी कारण स्वरूपत: अर्थ का अभिधान होना असम्भव है। अत: प्रकृत सन्दर्भ में भी संस्कार की कल्पना करना समुचित ही है। **तद्वदेवेति**। उसी प्रकार अर्थात् संस्कार के समान ही एककर्तृकत्व और साहित्य तथा क्रमविशेष को भी स्वीकार किया जाता है, अन्यथा अर्थ का अभिधान नहीं होगा। एक ही व्यक्ति के द्वारा उच्चारण करने पर अर्थ प्रतीति हो पाती है। उसी तरह क्रम से उच्चारण करने पर ही अर्थप्रतीति हुआ करती है। विपरीतक्रम से अर्थात् घट इत्याकारक आनुपूर्वी का उच्चारण नहीं करके टघ उच्चारण यदि किया जाय तो अभीष्ट अर्थ प्रतीति नहीं होती। इस विपरीत क्रम से उच्चारण करने में भी यद्यपि एककर्तृत्व तथा क्रमविशेष से अर्थ-प्रतीति तो हो ही जाती है।

इस सन्दर्भ में वार्तिककार भट्टपाद का कहना है कि अर्थ का प्रकाशन करने में वर्ण गुणभूत होते हैं। उनका क्रमविशेष तथा एककर्तृकत्व और साहित्य विवक्षित रहता है—

तेषां गुणभूतानामर्थप्रत्यायनं प्रति ।
साहित्यमेककर्त्रादिक्रमश्चाऽपि विवक्षित: ।।

(श्लोकवार्तिक, स्फोटवाद, कारिका–७०)।

प्रश्न—गो शब्द में गकारादि क्रमवान् है, तब उनका एकपदत्व कैसे होगा? तथा गो शब्द: अस्ति अर्थात् गो शब्द है—यह वर्तमानकालिक प्रयोग पचति, गच्छति के समान, कैसे होगा?

उत्तर—घट-पटादि के समान निष्पन्न होकर नहीं होगा; किन्तु जैसे पचति क्रिया का पाक रूप एक फल होता है और अवयव अनेक होते हैं, उसी प्रकार वर्णों के व्यापाररूप अभिधान में जानना चाहिये। जैसे पाक में प्राथमिक क्रिया से लेकर फल-पर्यन्त एक ही क्रिया स्वीकार की जाती है, उसी तरह बोलनेवाले की (वक्ता की) विवक्षा से लेकर अन्त्यवर्ण (अन्तिम वर्ण) पर्यन्त जितने वर्ण एक अर्थ का बोधन करने के लिये विवक्षित हैं, उनमें जितना काल लगता है, उसी को वर्तमानकाल कहा जाता है। तत्कालावच्छिन्न वर्ण ही गो शब्द है। श्री भर्तृहरि ने कहा भी है—

तस्यामाद्यपरिस्पन्दात् प्रभृत्या फललाभत: ।
क्रिया पूर्वापरीभूता लक्ष्यते वर्तते हि तत् ।।
तेनाऽत्राऽपि विवक्षात: प्रभृत्यर्थाबोधनात् ।
संकल्पेनेक्ष्यमाणे स्याद् व्यापारे वर्तमानता ।। (वाक्यपदीय)

(स्फोटवादखण्डनम्)

नन्वेवं प्रतिवर्णं संस्कारकल्पनात् अनेककल्पना स्यात्, तद्वरमेकमेव शब्दतत्त्वं कल्पितम्। नैवम्; दृश्याऽदर्शनेन निरस्तत्वात्। शब्दो हि प्रत्यक्षग्राह्योऽभ्युपगम्यते, न च प्रत्यक्षेण वर्णातिरिक्तं किञ्चित् प्रकाशते। तेन नास्तीत्यवगच्छामः। त्वयाऽपि हि शब्दतत्त्वं कल्पयित्वा पुनः संस्कारकल्पनाऽवश्यं कर्तव्या। ध्वनयो हि न प्रत्येकं स्फोटमभिव्यञ्जन्ति। साहित्यं च क्रमवर्तिनां संस्कारद्वारमेवेति तुल्यं तत्कल्पनम्।

शब्दतत्त्व = शब्दस्फोट की कल्पना हम वैयाकरणो ने की है। वे कहते हैं— वाक्यस्फोटोतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः। प्रत्येक वर्ण से संस्कार की कल्पना करना उचित नहीं, वर्ण अनेक हैं। उसी कारण अनेक संस्कारों की कल्पना करनी होगी। अतः वर्णवादी का मत गौरवदोष से दूषित है। इसलिये एक शब्दतत्त्वरूप स्फोट की कल्पना करना उचित प्रतीत होता है।

उपर्युक्त वैयाकरणमत का परिहार (निरसन) कर रहे हैं—**नैवमिति**। **दृश्याऽदर्शनेनेति**। प्रत्येक वर्ण से एक-एक संस्कार होता है—ऐसी कल्पना यदि करते हैं तो वर्ण तो एक नहीं है, अपितु अनेक हैं, उसी कारण अनेक संस्कारों की कल्पना करनी पड़ेगी। निष्कर्ष यह है कि दृश्य = दिखाई देने योग्य पदार्थ की उपलब्धि नहीं होने से उक्त पक्ष का निरसन हो जाता है।

शब्दो हि प्रत्यक्षग्राह्य इति। जो श्रावण प्रत्यक्ष से गृहीत होता है, उसी को शब्द कहते हैं। अर्थात् जो कान से सुनाई देता है, उसी को शब्द कहा करते हैं। यह तथ्य सर्वानुभवसिद्ध है और श्रावण प्रत्यक्ष से वर्णों का ही ग्रहण (ज्ञान) होता है। वर्ण से पृथक् अन्य किसी का ग्रहण (ज्ञान) नहीं होता, जिसे स्फोट नाम से कहा जा सके। इस अनुपलब्धि से समझ में आता है कि स्फोट नाम का पदार्थ कोई नहीं है। तस्माद् वर्णा एव शब्दः = इसलिये वर्णों की ही संज्ञा (नाम) शब्द है।

किञ्च—स्फोटवादियों के मत में गौरवदोष भी है; क्योंकि स्फोटवादियों को प्रथमतः शब्दतत्त्व की कल्पना करनी पड़ती है, उसके पश्चात् संस्कार की भी कल्पना करनी पड़ती है; क्योंकि ध्वनि से (नाद से) प्रत्येक स्फोट का प्रकट होना सम्भव नहीं है। इसलिये क्रमशः उच्चरित ध्वनियों का समूह (साहित्य) भी संस्कार के द्वारा ही मानना होगा। ऐसी स्थिति में कल्पना एक सी (समान) ही है। निष्कर्ष यह है कि वर्णोच्चारण करने पर अर्थज्ञान होता है। अर्थ का प्रकाशक होने से उसी को स्फोट कहा गया है— **स्फुटति अर्थः यस्मात् सः स्फोटः**। उसी को पद और उसी को वाक्य कहते हैं। स्फोट का प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी अर्थप्रतीति तो होती ही है। उस अर्थप्रतीतिरूप कार्य से उसकी कल्पना होती है तथा एकं पदं—यह लौकिक व्यवहार भी होता है।

इसका विषय वर्ण ही है—यह नहीं कह सकते; क्योंकि एकत्व और अनेकत्व (नानात्व) का होना एक ही वर्ण में सम्भव नहीं है; क्योंकि एकत्व और नानात्व (अनेकत्व) ये परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। उस पर यदि कोई यह कहे कि एक वस्तु होने के कारण एकत्व व्यवहार होता है, तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि ऐसा कहने पर अन्योऽन्याश्रयदोष उपस्थित होगा। इसलिये वैयाकरणों के द्वारा अभिमत स्फोटवाद अनुपपन्न अर्थात् युक्ति (तर्क) शून्य है। उसे स्वीकारना उचित नहीं है; क्योंकि वर्णों का ग्रहण (ज्ञान) श्रोत्र (कान) से ही हुआ करता है। अतएव भाष्यकार ने कहा है। श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य वस्तु में शब्द का प्रयोग किया जाता है। वह शब्द तो वर्ण ही है, स्फोट नहीं है। इसलिये स्फोट को शब्द कहना उचित नहीं है। शब्द से अर्थप्रतीति होती है। इस तथ्य को सभी लोग जानते हैं।

वर्णों का विनाश शीघ्र ही हो जाता है, अत: साहित्य संस्कारों के द्वारा स्वीकार किया जाता है। इसीलिये भाष्यकार ने कहा है—पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से संस्कार उत्पन्न होते हैं। उन संस्कारों से सहित हुआ अन्तिम वर्ण अर्थ का बोधक होता है—पूर्वपूर्ववर्ण-जनितसंस्कारसहितोऽन्त्यवर्ण: प्रत्यायक: भवति। अत: कोई अनुपपत्ति नहीं है।

इस विषय में भी दो पक्ष हैं—अन्तिम वर्ण ही अर्थ का प्रत्यायक होता है, अथवा विचित्र बुद्धि प्रत्यायक होती है। प्रथम पक्ष के अनुसार शब्द से अर्थज्ञान होता है और दूसरे पक्ष में अन्तिम वर्ण का प्रत्यक्ष होने से वह सत् है और पूर्व-पूर्व अतीत होने से वे असत् हैं। उक्त दोनों पक्षों का विवेचन भट्टपाद श्रीकुमारिल इस प्रकार कर रहे हैं—

चित्ररूपां च तां बुद्धिं सदसद्वर्णगोचराम् ।
केचिदाहुर्यथा वर्णो गृह्यतेऽन्त्य: पदे पदे ॥
तथाऽन्त्यवर्णे विज्ञाते सर्वसंस्कारकारितम् ।
स्मरणं यौगपद्येन सर्वेष्वन्ये प्रचक्षते ॥

(श्लोकवार्तिक, कारिका–१११-११२)

स्यान्मतम्; प्रत्येकमेव नादा: शब्दमभिव्यञ्जन्ति। न चैवमुत्तरनादवैयर्थ्यम्, पूर्वे हि नादा: शब्दमस्फुटमभिव्यञ्जन्ति, उत्तरोत्तरे स्फुटं स्फुटतरं च व्यञ्जन्तीति नोत्तरेषामानर्थक्यम्। यद्येवम्, ततो य एवोत्तरे नादा: स्फुटाभिव्यक्तिसमर्थास्तैरेव भवितव्यम्, अलं पूर्वै:।

शङ्का—यदि यही स्वीकार कर लिया जाय की प्रत्येकमेव नादा:– प्रत्येक नाद = ध्वनियाँ ही शब्दम् = स्फोट को अभिव्यक्त करतीं हैं, तो न नादसाहित्य की अपेक्षा होगी और न तदर्थ संस्कारकल्पनारूप गौरव ही होगा। उपर्युक्त कथन को स्वीकार करने पर पूर्वनाद से ही शब्द अभिव्यक्त हो जायेगा, तब उत्तरनाद की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

समाधान—स्यान्मतमिति। ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, उसी का उपपादन कर रहे

हैं— **प्रत्येकमिति**। शङ्काकार के पक्ष के अनुसार अर्थप्रत्यायक (अर्थबोधक) स्फोट की अभिव्यक्ति प्रथम नाद (ध्वनि) से ही हो जाती है। तब उत्तर नाद (उत्तर ध्वनि) तो व्यर्थ ही हो जायेगा। इस पर पूर्वपक्षी कहता है—**न चैवमिति**। सहेतुक उत्तर वह दे रहा है कि आपका उपर्युक्त कथन उचित नहीं है; क्योंकि पूर्व-पूर्व नाद शब्द को स्पष्टतया अभिव्यक्त नहीं कर पाते हैं। अर्थात् अस्पष्टतया अभिव्यक्त करते हैं; किन्तु उत्तर-उत्तरनाद स्पष्ट-स्पष्टतर अभिव्यक्त करते हैं। इसलिये उत्तर-उत्तर नादों को आप व्यर्थ (निरर्थक) नहीं कह सकते।

यद्येवमिति। उक्त कथन को यदि स्वीकार कर लें तो जो उत्तर नाद हैं, उनसे ही शब्द की अभिव्यक्ति स्पष्टतया हो सकती है। अतः उन्हीं को क्यों नहीं मान लिया जाय? पूर्वनाद की आवश्यकता ही क्या है?

ननु न कश्चिदपि नादः स्वतोऽस्य स्फुटाभिव्यक्तिं करोति, किन्तु सर्वे ते प्रत्येकं व्यञ्जकाः। स तु न द्रागेव स्फुटमवभासते। प्रथममस्फुटावभासितः सन्, पुनः-पुनः श्रूयमाणः स्फुटो भवति, तद् यथा दूरादवस्थितः सहकारः प्रथमं हस्तिपलालकूटादिसाधारणरूपेण प्रतिभातः पुनरालोच्यमानो वृक्षाऽऽत्मना प्रकाशते, पुनः सहकारात्मना स्फुटो भवति, तद्वदेव द्रष्टव्यम्।

शङ्का—यदि किसी एक ही नाद से अस्य = अर्थात् स्फोट की स्फुटतया अभिव्यक्ति मानी जाय तो तद्भिन्न सभी नादों की व्यर्थता का सम्भव भी हो सकता है, किन्तु ऐसी बात नहीं है; क्योंकि सभी नादों से अभिव्यज्यमान स्फोट की शनैः-शनैः स्फुटतया अभिव्यक्ति होती है। कोई भी नाद शब्द को स्वतः होकर स्पष्टतया अभिव्यक्त नहीं करता, वह (नाद) तो शब्द को अभिव्यक्ति भर (मात्र) कर देता है। किसी भी शब्द की प्रतीति तत्काल नहीं हुआ करती। प्रथमतः अस्पष्टतया (अस्फुटतया) भासित होता है, तदनन्तर पुनः-पुनः सुनने से वह (शब्द) स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है।

उक्त कथन में ग्रन्थकार दृष्टान्त दे रहे हैं—**तद्यथेति**। जैसे बहुत दूर प्रदेश में स्थित सहकार अर्थात् आम्र (आम) का वृक्ष प्रथमतः हाथी के समान अथवा पुआल के ढ़ेर के समान प्रतीत होता है, तदनन्तर जब सोचने लगते हैं, तब वह वृक्ष के रूप में भासित होता है। तदनन्तर वह आम्रवृक्ष के रूप में स्पष्टतया दिखाई देता है। इसी प्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ में भी समझना चाहिये। श्री भर्तृहरि ने कहा भी है—

नादैराहतबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह ।
आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ।।

(वाक्यपदीयकारिका-१, श्लो.-८५)

यद्येवं य एव ते पूर्वे नादास्तैरेवाऽभ्यस्यमानैरीदृशी स्फुटाऽभिव्यक्तिः

स्यात्। उत्तरैर्वा केवलैरभ्यस्यमानैः, तत्र विजातीयनादाश्रयणमनर्थकम्। तथा प्रत्येकं हि व्यञ्जकत्वे सत्युत्तरैरस्फुटाभिव्यक्तिः, पूर्वैश्च स्फुटाऽभिव्यक्तिः स्यादिति व्युत्क्रमेणाऽपि उच्चारणं स्यात्, अतोऽपेक्षितक्रमविशेषाऽनेकविजातीयनादसमुच्चयाश्रयणादवश्यं पूर्वनादाऽऽहितसंस्कारसहिताऽन्तिमनादाभिव्यङ्ग्यः स्फोट इत्यवश्याङ्गीकर्तव्यमिति तुल्या संस्कारकल्पना। यद्वा तवैवेयं संस्कारान्तरकल्पना। मत्पक्षे तु स्मृतिहेतुभिरेव संस्कारैः सिध्यत्यर्थावगतिरिति न संस्कारान्तरं कल्पयितव्यम्।

यद्येवमिति। अब पूर्वोक्त आशङ्का का निसरन कर रहे हैं। यदि कोई एक नाद स्फोट का व्यञ्जक भी हो, तब भी उससे स्फोट की प्रतीति स्पष्टतया नहीं हो पाती। इसलिये नादान्तर (किसी दूसरे नाद) की अपेक्षा करनी होगी, तब पूर्व अथवा उत्तर नादों का ही पुनः-पुनः अभ्यास करने पर ही स्फोट की अभिव्यक्ति स्फुटतया हो सकेगी। तब पूर्वनादों का अभ्यास उत्तर-उत्तर नादों के अभ्यास से व्यर्थ ही हो जायेगा। ऐसी स्थिति में विजातीय नादों को मानना व्यर्थ हो जायेगा। अर्थात् घकार का ही अनेक बार उच्चारण करने से ही घट शब्द के स्फोट की अभिव्यक्ति हो जायेगी। तब टकार के उच्चारण की कोई आवश्यकता ही नहीं होगी। अतः उसका उच्चारण करना व्यर्थ ही कहलायेगा; किन्तु उक्त कथन युक्तिरहित रहने से विनिगमनाविरहमूलक दोषान्तर दे रहे हैं—**तथा प्रत्येकमिति**।

प्रत्येक नाद को स्फोट का अभिव्यञ्जक यदि मान लिया जाय, तो उत्तरवर्ती नादों से ही स्फोट की अभिव्यक्ति स्फुटतया हो जायेगी, पूर्वनादों से नहीं होगी। यह मानने में विनिगमना (युक्ति = तर्क) नहीं रहने से उत्तरवर्ती नादों से अस्फुट अभिव्यक्ति का होना सम्भव है और पूर्ववर्ती नादों से ही स्फोट की स्फुट अभिव्यक्ति हो सकेगी, इसलिये घकाररूप जो स्फुटाभिव्यञ्जकनाद है, उसी का उच्चारण पश्चात् करना होगा। एवञ्च व्युत्क्रम से टघ इस प्रकार उच्चारण करने पर भी अर्थप्रतीति का होना सम्भव है।

उपर्युक्त प्रकार से अर्थात् व्युत्क्रम से उच्चारण करने पर भी अर्थप्रतीति के होने में किसी प्रकार की बाधा होनी सम्भव नहीं है। इसलिये घटः इत्यादि अपेक्षित क्रमविशेष का अर्थात् अनेक विजातीय नादसमूह का आश्रय करने से पूर्वनादजन्य संस्कारसहित अन्तिम नाद से स्फोट की अभिव्यक्ति का होना स्वीकार करना चाहिये। इस प्रकार तुम्हारे मत में भी संस्कार कल्पना करना प्राप्त हो ही रहा है और स्फोटकल्पना भी अधिक करनी पड़ रही है, इसलिये तुम्हारे मत में ही गौरव हो रहा है। अतः संस्कारकल्पना तो दोनों के मत में समान ही है।

यद्वा तवैवेयं संस्कारान्तरकल्पनेति। अथवा यद्वा कहकर अन्य समाधान दे रहे हैं अर्थात् पक्षान्तर को स्वीकार कर अपने मत में (मीमांसकों के मत में) जो गौरव

प्रदर्शित किया जा रहा है, उसका परिहार कर रहे हैं—**यद्वेति**। अथवा– मैंने घकार सुना और टकार भी सुना। अत: स्मृति करानेवाले (स्मृतिकारणीभूत) संस्कारों को अवश्य ही मानना होगा, तब स्मृतिहेतुभूत = (स्मृति कारणीभूत) संस्कारों के सहित वर्णों से स्मृत्युत्पादन द्वारा अर्थप्रतीति का होना सम्भव है, उसी कारण मेरे (मीमांसक) पक्ष में संस्कारान्तर कल्पनारूप गौरव दोष नहीं है, किन्तु तुम्हारे (वैयाकरण के) पक्ष में वर्णस्मृति हेतुभूत संस्कारों से भिन्न अर्थात् अन्य = दूसरे ही स्फोटाभिव्यञ्जक अन्तिम नाद के सहकारिभूत पूर्वनादाहित संस्कारों की कल्पना भी करनी होगी। इसलिये तुम्हारे (व्याकरण) पक्ष में ही गौरवदोष हो रहा है। उक्त कथन का सारांश यह है—स्फोटवादी वैयाकरणों के मत में ही दूसरे संस्कार की कल्पना अधिक करनी पड़ रही है और शब्द को वर्णात्मक स्वीकारने वाले हम सिद्धान्तियों के पक्ष में स्मृति के हेतुभूत संस्कारों से ही अर्थ का बोध हो जाता है; क्योंकि हम सिद्धान्ती तो वर्ण को ही शब्द मानते हैं। शब्दो वर्णात्मक एव विद्यते—यह हमारा (मीमांसकों का) सिद्धान्त है। हमें अन्य (दूसरे) संस्कारों की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती; क्योंकि स्मृतिकारणीभूत संस्कारों से ही अर्थज्ञान हो जाता है। इसलिये अन्य संस्कारों की कल्पना करना अनावश्यक है। स्फोटवादी वैयाकरण कहता है कि मीमांसकों के मत में जिस प्रकार स्मृतिजनक संस्कारों से अर्थज्ञान होता है, उसी प्रकार हम वैयाकरणों के मत में भी उन्हीं संस्कारों से अर्थज्ञान उत्पन्न होता है।

ननु ममाऽपि त एव भविष्यन्ति? न, तेषां स्मृतेरन्यत्राऽव्यापारात्। मत्पक्षे तु स्मृतिमेव जनयन्तोऽर्थप्रतिपत्तिं संस्कारा जनयन्ति। तथाहि— प्रत्येकवर्णानुभवभावितैः संहत्य सर्ववर्णगोचरैका स्मृतिर्जन्यते। तस्यां च युगपदवभासमाना वर्णा विनैव संस्कारान्तरेण संहत्याऽर्थप्रत्ययं जनयन्ति।

उस पर सिद्धान्ती मीमांसक उत्तर देता है कि वैयाकरणों का उपर्युक्त कथन अनुचित है; क्योंकि स्मृतिजनक संस्कार स्मृति को ही उत्पन्न किया करते हैं; अन्यत्र उसका कोई व्यापार नहीं होता।

शङ्का—ननु मत्पक्षे तु इति। मेरे पक्ष में भी वे संस्कार स्मृति होने में कारणरूप से निश्चित ही हैं, वे ही संस्कार स्फोटाभिव्यञ्जक होने से अन्तिम नाद के सहकारी (सहायक) हो जायेंगे। अर्थात् आपके (सिद्धान्ती के) मते में जिस प्रकार स्मृत्युत्पादक संस्कारों से अर्थज्ञान होता है, वैसे ही मेरे पक्ष में भी वे ही संस्कार अर्थज्ञान के जनक होंगे। यह आशय स्फोटवादियों का है।

समाधान—न, तेषामिति। उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है; क्योंकि वर्णों के स्मरण होने में हेतुभूत संस्कारों की अन्यत्र = स्फोटाभिव्यञ्जक अन्तिम नाद की सहायता करने में अथवा अन्तिम नादों के साथ स्फोट की अभिव्यक्ति करने में सहायक होते हैं। उक्त

कथन का आशय यह है कि स्मृतिजनक संस्कार स्मृति को ही उत्पन्न करते हैं। अन्यत्र उनका व्यापार नहीं होता; किन्तु मेरे सिद्धान्तवादी के पक्ष में संस्कार स्मृति को पैदा करते हुए अर्थज्ञान को भी उत्पन्न करते हैं इसी अभिप्राय को 'तथाहि' से बता रहे हैं।

प्रत्येकवर्णानुभवभावितैरिति। प्रत्येक वर्ण जो कान (श्रोत्र) से सुनाई पड़ते हैं, उनसे संस्कार पैदा होते हैं, वे संस्कार ही (वे ही मिलकर अर्थात् संस्कारसमूह) सभी वर्णों को अपरा विषय बनाने वाली एक स्मृति को उत्पन्न करते हैं। उस स्मृति में (युगपत्) एक काल में सभी वर्ण भासित (प्रतीत) होते हैं। वे ही अन्य (दूसरे) संस्कार के विना ही उत्पन्न होते हैं। उस समय होने वाली स्मृति में युगपत् ही सभी वर्ण भासित हो जाते हैं और वे ही दूसरे संस्कार के विना ही अर्थबोध (अर्थज्ञान) करा देते हैं। भर्तृहरि ने कहा भी है—

नादैराहतबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह ।
आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥

(वाक्यपदीयकारिका १, श्लो० ९५)

त्वत्पक्षे तु नैवं सम्भवति। तथाहि—नादा हि न ज्ञायमानतया स्फोटं व्यञ्जयन्ति अश्रावणत्वात्। अगृहीतत्वादेव च न स्मर्यमाणानां व्यञ्जकत्वम्, येन वर्णवत्स्मर्यमाणाः कार्यं कुर्वन्तीत्युच्येत। सत्तया हि ते श्रोत्रसंस्कारं कुर्वन्तः शब्दं व्यञ्जयन्ति, न च युगपत् सत्ताऽस्ति क्रमवर्तित्वात्, अतः संस्कारद्वारमेव साहित्यमित्यवर्जनीयं संस्कारान्तरकल्पनम्।

त्वत्पक्षे तु नैवमिति। तुम्हारे पक्ष में तो ऐसा नहीं होता; क्योंकि नाद (शब्द से होनेवाली ध्वनियाँ) ज्ञात होकर स्फोट को अभिव्यक्त नहीं करतीं; क्योंकि अश्रावणत्वात् = श्रावणप्रत्यक्ष नहीं होने के कारण। अगृहीत होने से नादों की व्यंजकता नहीं हो सकती। यदि होती तो वर्ण के समान स्मृति का विषय बनकर अपने अभिव्यक्तिरूप कार्य को करतीं—ऐसा कहा जा सकता था, किन्तु ध्वनियाँ विद्यमान रहती हुईं, श्रोत्रेन्द्रिय का संस्कार करती हुईं, स्फोटरूप शब्द को व्यक्त करती हैं।

अथ मतम्—सत्यं न स्मृतिहेतुभिः स्फोटाभिव्यक्तिः, ये तु वर्णोपलब्धिहेतवो नादजन्याः श्रोत्रगताः संस्कारास्तैरेव वर्णानामिव स्फोटाभिव्यक्तिर्भविष्यति, किं संस्कारान्तरकल्पनयेति? तदयुक्तम्; तेषां क्षणिकत्वात्। न हि आद्यवर्णोपलब्धिहेतुः संस्कारोऽन्त्यवर्णश्रवणवेलायामवतिष्ठते। यद्यवतिष्ठते? ततो विसर्जनीयश्रवणवेलायामपि गकारश्रवणमनुवर्तेत, तस्मात् क्षणभङ्गिनस्ते, अतो न तेषां संहत्य स्फोटाभिव्यञ्जकत्वं भवति। प्रत्येकाऽभिव्यक्तौ चोत्तरोत्तरेषामनर्थकत्वमित्युक्तम्।

शङ्का—ध्वनियाँ एक काल में (युगपत्) स्फोटरूप शब्द को व्यक्त नहीं करतीं।

समाधान—ध्वनियों की सत्ता, एक काल में नहीं है; क्योंकि ध्वनियाँ क्रम से (क्रमशः) हुआ करती हैं। अतः स्वरूपेण कारण नहीं हो सकने से संस्कार के द्वारा ही उनका सहभाव (साहित्य) मानना होगा। इसलिये अन्य (दूसरे) संस्कार की कल्पना का परित्याग नहीं कर सकते अर्थात् कल्पना अवश्य करनी ही होगी।

शङ्का—यदि यह कहें कि स्मृति के कारण संस्कारों से स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं होती, किन्तु जो वर्णानुभव करानेवाले हेतु (कारण) हैं और श्रोत्र के संस्कार जो ध्वनि से उत्पन्न हैं, उन्हीं से वर्णों की तरह स्फोट की अभिव्यक्ति हो जायेगी? दूसरे संस्कार की कल्पना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है अर्थात् कोई प्रयोजन ही नहीं है।

समाधान—उपर्युक्त उत्तर उचित नहीं है। वे संस्कार क्षणिक हैं; क्योंकि प्रथम वर्ण के अनुभव से उत्पन्न होनेवाले जो संस्कार हैं, वे अन्तिम वर्ण के श्रवणकाल में हैं ही नहीं। यदि रहेंगे तो विसर्ग के श्रवणकाल में भी गकार का श्रवण हमेशा होना चाहिये था। इसलिये मानना होगा कि ध्वनियाँ एक क्षण में नष्ट हो जाती हैं। अतएव वे सब मिलकर स्फोट को अभिव्यक्त करतीं हैं—यह कहना उचित नहीं है। प्रत्येक ध्वनि स्फोट को अभिव्यक्त करती है—इस पक्ष में उत्तरोत्तर नादों की व्यर्थता (निरर्थकता) बतायी गयी है।

अथवा ध्वनिसंयोग एव श्रोत्रसंस्कारो नान्यः, तस्य च विस्पष्टमेव भङ्गुरत्वं गत्वरत्वाद् ध्वनीनाम्। तस्मादन्ये स्थायिनः संस्काराः कल्प्याः, तथा वर्णातिरिक्तः शब्दः कल्प्य इति बह्वप्रमाणकमापन्नम्। मत्पक्षे तु दृढस्मृतिविपरिवर्तिनां वर्णानां वाचकत्वान्न किञ्चिद् दूषणम्।

अथवा ध्वनिसंयोग एवेति। अथवा कहकर पूर्वोक्त समाधान के अतिरिक्त दूसरा समाधान भी दे रहे हैं। मेरे पक्ष में अर्थात् मीमांसकों के पक्ष में वर्णोपलब्धि में कारणीभूत क्षणिक संस्कारान्तर की कल्पना भी नहीं करनी पड़ रही है; क्योंकि श्रोत के साथ होने वाला जो ध्वनि संयोग है वही वर्णोपलब्धि के होने में हेतु (कारण) है। इसी अभिप्राय को उपर्युक्त अथवा कहकर बतलाया गया है और ध्वनिसंयोग तो तृतीयक्षणवृत्ति ध्वंस-प्रतियोगि ध्वनि के साथ ही नष्ट हो चुका है, इसलिये उसकी स्फोटाभिव्यञ्जकता होना असम्भव ही है; क्योंकि वह गत्वर है, अर्थात् क्षणविनाशी है, उसी कारण तुम वैयाकरणों को स्फोटाभिव्यञ्जक किन्हीं अन्य (दूसरे) स्थायी संस्कारों की ही कल्पना करनी होगी तथा शब्द अर्थात् स्फोट की कल्पना भी करनी होगी। इसी कारण तुम वैयाकरणों के पक्ष में महान् गौरवदोष उपस्थित हो रहा है। अर्थात् प्रमाणरहित बहुत कल्पनाएँ करनी पड़ रही हैं।

उपर्युक्त वैयाकरणों (शाब्दिकों) के मत को बतलाकर अब मीमांसक, दोषरहित (निर्दुष्ट) अपने मत को बतला रहे हैं—**मत्पक्षे तु इति**। हम मीमांसकों के मत (पक्ष)

में न स्फोटकल्पना और न स्फोटाऽभिव्यञ्जक संस्कारकल्पना अर्थात् किसी प्रकार की भी कोई अप्रामाणिक कल्पना नहीं करनी पड़ती। इसलिये हम मीमांसकों के मत (पक्ष) में गौरव आदि कोई किसी प्रकार का भी दोष नहीं रहने से हमारा (मीमांसकों का) मत ही निर्दुष्ट (दोष रहित) है। अतः दृढ़ स्मृतिविपरिवर्ती अर्थात् दृढ़ स्मृति के विषयभूत जो वर्ण हैं, उन्हें ही वाचक समझना चाहिये। हम मीमांसकों का यही सिद्धान्त पक्ष है। इस निर्दुष्ट पक्ष में अबाधित स्मृति से उपस्थित (मन में विद्यमान रहनेवाले) वर्णों को वाचक कहने में कोई दोष नहीं है।

शङ्का—उक्त सन्दर्भ को सुनने पर एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है—संस्कार अर्थज्ञान के जनक होते हैं, यह पूर्व में बता चुके हैं और अब उपसंहार में 'वर्णा वाचकाः' वर्णों को ही अर्थ का वाचक बतलाया जा रहा है- इस कथन से पूर्वापर विरोध प्रतीत हो रहा है।

समाधान—वस्तुतः कोई विरोध नहीं है; क्योंकि पूर्ववर्ती 'तथाहि' से उक्त जो विवरण है, उसमें वर्णों को ही अर्थबोधक कहा गया है, संस्कार को अर्थबोधक नहीं कहा है तथा उपसंहार (अन्त) में भी वर्णों को ही वाचक बतलाया गया है। इसलिये विरोध की व्यर्थ आशङ्का नहीं करनी चाहिये।

ननु युगपत् स्मर्यमाणानां वाचकत्वे व्युत्क्रमेणाऽप्युच्चारिता वर्णा वाचकाः स्युः? न, तत्क्रमस्याऽप्यङ्गत्वात्। कः पुनः क्रमोऽङ्गम्? न हि वर्णानां विभूनां नित्यानां च स्वरूपतः क्रमवत्त्वम्। न प्रतीतिक्रमः, तस्याः स्मृतिरूपाया एकत्वात्। एवं तर्हि ध्वनिक्रमो यो वर्णेष्वारोपितः प्रतिभासते सोऽङ्गमित्यदोषः। तस्माद् व्यञ्जकानां ध्वनीनां क्रमेण व्यङ्ग्येषु वर्णेषु समारोपितेन तद्वन्तः स्मर्यमाणा वर्णा वाचकाः, नान्यः शब्दोऽस्तीति सिद्धम्।

।। इति स्फोटवादः ।।

शङ्का—यदि एक ही समय में स्मृति के विषय होनेवाले (स्मर्यमाण) वर्णों को वाचक मान लें तो विपरीतक्रम से उच्चारित वर्ण भी अर्थात् घट के बजाय टघ वर्ण भी अर्थ के वाचक हो सकेंगे।

समाधान—न अर्थात् उपर्युक्त कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है; क्योंकि तत्क्रमस्याऽपि अङ्गत्वात् उच्चारण का जो क्रम है, वह भी अर्थप्रतीति के होने में अंग है।

शङ्का—कः पुनः क्रमोऽङ्गम्? = कौन सा क्रम अंग है? क्योंकि वर्ण तो विभु (व्यापक) हैं और नित्य भी हैं। नहि वर्णानां विभूनां नित्यानां च स्वरूपतः क्रमवत्त्वम्। विभु तथा नित्य रहने वाले वर्णों का क्रमः तस्याः स्मृतिरूपायाः एकत्वात् = यदि प्रतीति का क्रम माना जाय तो वह भी अनुचित है; क्योंकि वह स्मृति एक ही है।

समाधान—ध्वनि का क्रम, जो वर्णों में आरोपित होकर भासित होता है, वही

ध्वनिक्रम अंग है। इसी कारण कोई दोष नहीं है। निष्कर्ष यह है कि वृद्धजनों के व्यवहार मे जितने वर्ण जिस क्रम से उच्चारित हैं तथा वे जिस अर्थ के बोधक हैं, उनका ज्ञान हो जाने पर उन वर्णों का वही अर्थ होगा। वर्णक्रम, उनका साहित्य, एककर्तृकत्व आदि सभी की विवक्षा की जायेगी। तब विपरीतक्रम से उच्चारण का अवसर ही प्राप्त नहीं होगा। इसलिये उपर्युक्त दोष यहाँ पर घट नहीं पाता। इस सन्दर्भ में वार्त्तिककार ने यह कहा है—

यावन्तो यादृशा ये च पदार्थ प्रतिपादने ।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवाऽवबोधकाः ।।
तेषां तु गुणभूतानामर्थप्रत्यायनं प्रति ।
साहित्यमेकवक्त्रादिक्रमश्चाऽपि विवक्षितः ।।
(श्लो. वा. स्फोटवाद कारि. ६९-७०)

इसलिये वर्णों की व्यञ्जक ध्वनियो के क्रम से (क्रमशः) व्यंग्य होनेवाले वर्णों में आरोपित होने के कारण स्मृति के विषय होनेवाले क्रमशः वर्ण ही वाचक होते हैं। एवञ्च स्फोटसंज्ञक कोई अन्य शब्द नहीं है। निष्कर्ष यह है—तस्ताद् व्यञ्जकानामिति अर्थात् व्यङ्ग्य वर्णों पर आरोपित व्यञ्जक ध्वनियों के क्रम से तद्वन्तः = क्रमवन्तः = क्रमवत्त्वेन (क्रमशः) स्मर्यमाण वर्ण ही वाचक है। इसलिये वर्णातिरिक्त स्फोट नामक कोई शब्द नहीं है। इसी अभिप्राय को वार्त्तिककार ने भी स्पष्ट किया है—

यद्वा प्रत्यक्षतापूर्वं क्रमज्ञातेषु यत् परम् ।
समस्तवर्णविज्ञानं तदर्थज्ञानकारणम् ।।

इस प्रकार स्फोटवाद को समाप्त किया गया है।

।। स्फोटवाद निराकरण परिच्छेदः समाप्तः ।।

।। इति शब्दनिरूपणं समाप्तम् ।।



(पदार्थ = जाति–निरूपणम्)
(वाच्यार्थनिरूपणप्रारम्भः)

अथ गौरित्यस्य शब्दस्य कोऽर्थः इति वाच्यनिरूपणोपक्रमव्याजेनाऽऽकृतिसद्भावं प्रतिपादयति सम्बन्धनित्यत्वसिद्धये। न ह्यसत्यामाकृतौ व्यक्तिभिः शब्दस्याऽपौरुषेयः सम्बन्धः सिध्यति, तासामनित्यत्वात्, उपलक्षणस्यापि नित्यस्याऽभावादाकृत्यभावे, तस्मादाकृतिरस्ति नास्तीति विचार्यते। साधिते तु तत्सद्भावे सैव शब्दाभिधेयेति आकृत्यधिकरणे वक्ष्यते।

शब्दनिरूपण समाप्त करने के पश्चात् अब वाच्यार्थनिरूपण करने को उत्सुक ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र शाबरभाष्य के प्रतीक का निर्देश कर रहे हैं—**अथ गौरिति**। निर्देश का प्रयोजन बताने के लिये सम्बन्धनित्यत्वसिद्धये ग्रन्थकार ने कहा है। औत्पत्तिकस्तुशब्दस्याऽर्थेन सम्बन्धः—इस सूत्र से शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध को नित्य कहा गया है। सम्बन्ध की नित्यता सम्बन्धी की नित्यता के अधीन हुआ करती है। इसीलिये शब्द की नित्यता बता चुके। वर्णों को ही शब्द कहा जाता है और वे वर्ण नित्य हैं। शब्द (वर्ण) के नित्य होने पर भी अर्थ यदि अनित्य हो तो उनके सम्बन्ध की नित्यता नहीं कही जा सकती। इसलिये अर्थ की नित्यता का निरूपण किया जा रहा है। अर्थात् सम्बन्ध की नित्यता को बताने के लिये भाष्यकार ने 'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः' इस प्रकार प्रश्न के रूप में वाच्य के स्वरूप को बतलाया। उसके बाद अथ गौरित्यस्य शब्दस्य कोऽर्थः कहकर वाच्य के स्वरूप को प्रसंगसंगति से बतलाया, किन्तु ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र ने संगति तो स्पष्ट कर दिया। (स्फुट) है—यह सोचकर, उसे नहीं बतलाया। उन्होंने आकृति को बताना आरम्भ किया और उसके प्रयोजन को बतलाया। गौः इस वाच्य निरूपण के मिष (बहाने) से आकृति के सद्भाव (अस्तित्व) को बताया; क्योंकि सम्बन्ध का नित्यत्व सिद्ध करना है। यदि आकृति पदार्थ नहीं माना जाय तो व्यक्तियों के साथ शब्द के अपौरुषेय सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकेगी; क्योंकि वे अनित्य है तथा उपललक्षण भी नित्य नहीं है। उसी कारण आकृति के अभाव में सम्बन्ध की नित्यता सिद्ध नहीं हो सकेगी। आकृति का होना सिद्ध किये जोने पर आकृति पदार्थ है अथवा नहीं है—यह विचार किया जा रहा है। विचार करने पर यदि आकृति पदार्थ सिद्ध हो जाता है, तो उसी को शब्द का वाच्य और नित्य मान लिया जाता है। वार्त्तिक में भी कहा गया है—

आकृतिव्यतिरिक्तेऽर्थे सम्बन्धो नित्यताऽस्य च ।
न सिध्येतामिति ज्ञात्वा तद्वाच्यत्वमिहोच्यते ।।

इसका विवेचन सूत्रकार पूर्वोत्तरपक्षप्रदर्शनपूर्वक उसे आकृत्याधिकारण में बतावेंगे। आकृतिस्तु क्रियार्थत्वादित्यत्र सूत्रकारः आकृतेरभिधेयत्वं स्थापयिष्यति। अत्र आकृतिसद्भावप्रतिपादनेन आकृतेरभिधेयत्वे साधिते क्रियायामनुपयोगात् पुनः अनभिधेयत्वमाशङ्क्य उपयोगप्रतिपादनेन, तस्या एव अभिधेयत्वं सूत्रकारो वक्ष्यतीत्यर्थः। अत्र संस्थानमाकृतिः। तच्च प्रतिपिण्डं भिन्नमेवेति, तदभिधेयत्वेऽपि न सम्बन्धनित्यत्वं सिध्यति। तन्मैवम्। जातेरेवाऽऽकृतिशब्देनाऽभिधानात्। तच्च जातिरूपं, सारूप्यरूपं, अपोहरूपं वा? तत्सद्भाव एव अत्र साध्यत इति।

उपर्यृक्त प्रर्युक्त आकृति शब्द से जाति पदार्थ को समझाना चाहिये। आकृति का अवयवसंस्थानरूप अर्थ लोकव्यवहार में समझा जाता है। भाष्यकार शबरस्वामी ने भी 'द्रव्यगुणकर्मणां सामान्यमात्रमाकृतिः' कहकर आकृत्यर्थ जाति का ही समर्थन किया है।

आक्रियते निरूप्यते द्रव्यं यया—इस व्युत्पत्ति के बल पर आकृति शब्द का वाच्य जाति ही है। वार्त्तिककार भट्टपाद ने भी आकृति शब्द का अर्थ जाति ही कहा है। आकृति शब्द का जाति के अतिरिक्त कोई अन्य अर्थ किया जाय तो सम्बन्ध और उसकी नित्यता की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही आकृति का अर्थ जाति ही माना गया है। वार्त्तिककार ने कहा भी है—

जातिमेवाऽऽकृतिम्प्राहुर्व्यक्तिराक्रियते यथा ।
सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम् ।।

(श्लो. वा. आकृतिवाद, कारि-३)।

(बौद्धमतानुसारेण जातिनिरासः)

तत्र सौगताः स्वलक्षणमेव परमार्थं मन्यमानाः नाऽऽकृतिसद्भावं मन्यन्ते । तथाहि—

पृथक्त्वे व्यक्तितो जातिर्दृश्येत पृथगेव सा ।
अभेदे व्यक्तिमात्रं स्याद् द्वेधा चेन्न विरोधतः ।।१३।।

नहि सैव ततोऽन्या चाऽनन्या च सम्भवति, विरुद्धत्वाद् भेदाऽभेदयोः। यदि च भिन्ना जातिः, सा सर्वगता व्यक्तिष्वेव वा? न तावत् सर्वगतत्वम्, अन्तरालेऽनुपलब्धेः। व्यक्तिस्था चेत्? व्यक्तावुत्पन्नायां तस्मिन् देशे प्रागसती कथं तस्यामुपलभ्यते? न तावत् तत्र उत्पद्यते, नित्याया उत्पत्त्ययोगात्। न च व्यक्त्यन्तरादागच्छति, अमूर्तत्वात्। तस्मिँश्च व्यक्त्यन्तरेऽनुपलब्धिप्रसङ्गात्। न चांशेनाऽऽगतांशेन च तत्रैव स्थितेति शक्यं वक्तुम्, निरंशत्वात्। एवं व्यक्तिनाशे न च तत्रैव पश्चादवस्थिता अनुपलब्धेः। न विनष्टा नित्यत्वात्। न चाऽन्यत्र याति, अमूर्तत्वात्। व्यक्त्यन्तरे च पूर्वमेवाऽवस्थिता जातिरिति पुनः प्रवेशे द्विगुणोपलभ्येत। यथाहुः—

नाऽऽयाति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत् ।
जहाति पूर्वं नाऽऽधारमहो व्यसनसन्ततिः ।। इति ।

—(प्रमा. वार्ति.परि. ३, कारि. १५-५२)

व्यक्तौ च वर्तमानां यद्येकस्यां व्यक्तौ कार्त्स्न्येन वर्तेत व्यक्त्यन्तरेषु न स्यात्।

यहाँ पर पूर्वपक्ष के रूप में सौगत (बौद्ध) मत को उपस्थित किया जा रहा है—**तत्र सौगता इति।**

स्वलक्षणम् का अर्थ है। स्वरूपम्, व्यक्तिमात्रमिति यावत् । बौद्ध लोग जाति नहीं मानते, वे जाति-विरोधी हैं। उनके विरोध का ही उपपादन किया जा रहा है। वे स्वलक्षण

को ही परमार्थ (वास्तविक) मानकर उससे पृथक् जाति के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। उक्त अर्थ का ही उपपादन 'तथाहि' से कर रहे हैं अर्थात् जाति के नही होने में (अभाव में) हेतु दिखा रहे हैं—**पृथक्त्वे इति**। अर्थात् व्यक्ति से यदि जाति को पृथक् मानते हैं, तो जाति अलग से दिखाई देनी चाहिये। जाति और व्यक्ति में यदि अभेद (अभिन्नता) मानते हैं तो केवल व्यक्तिमात्र ही दिखाई देगा; क्योंकि जाति और व्यक्ति दोनों का भेदाऽभेद रहना सम्भव नहीं है; क्योंकि दोनों का परस्पर विरोध है।

अभिप्राय यह है कि व्यक्ति पदार्थ से यदि जाति को पृथक् (अलग) मानते हैं तो उसकी (जाति की) उपलब्धि पृथक्त्वेन (अलग से) होनी चाहिये, किन्तु अलग से उसकी (जाति की) उपलब्धि नहीं होती। इसलिये जाति को व्यक्ति से पृथक् (अलग) नहीं माना जाता। दूसरा पक्ष यह है कि यदि जाति को व्यक्ति से पृथक् (अलग) नहीं मानते हैं, तो व्यक्ति ही जाति है। यह सिद्ध होता है। यदि द्वेधा = भिन्नाऽभिन्न कहें अर्थात् जाति को व्यक्ति से पृथक् (अलग) भी कहें और अपृथक् (अलग नहीं है) भी कहें तो वह सम्भव नहीं है; क्योंकि भेदाऽभेद में परस्पर विरोध रहता है।

इसी उक्त पद्य की व्याख्या स्वयं ग्रंथकार पार्थसारथिमिश्र कर रहे हैं—**न हि सैवेति**। न हि सैव ततोऽन्या चाऽनन्या च सम्भवति, विरुद्धत्वाद् भेदाऽभेदयोः। अर्थात् सा एव = वही जाति व्यक्ति से भिन्न भी हो और अभिन्न भी हो—यह कभी सम्भव नहीं है; क्योंकि भेद से अभेद का विरोध रहता है। यह कहकर भेदाऽभेद पक्ष का निराकरण किया गया है। **यदि च भिन्ना जातिरिति**। यदि जाति को व्यक्ति से भिन्न कहेंगे तब भी तो वह सर्वगत (सर्वत्र व्यापक) है अथवा केवल व्यक्ति में ही रहती है? ये दो पक्ष उपस्थित होते हैं। इनमें प्रथम पक्ष अर्थात् सर्वगतत्वपक्ष को मानना उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। 'यदि च भिन्ना जातिः' इस ग्रन्थ से भेदपक्ष का निराकरण कर रहे हैं। यदि घटत्व जाति, सर्वगत = सर्वत्र व्यापक होती तो दो घटों के मध्य (बीच) में उसे उपलब्ध होना चाहिये और पट आदि पदार्थों में भी उपलब्ध होना चाहिये, किन्तु अद्य यावत् किसी को भी उपलब्ध नहीं हो पायी। इससे स्पष्ट है कि वह (जाति) सर्वगत (सर्वत्रव्यापक) नहीं है। अतः जाति का सर्वगतत्वपक्ष मानना उचित नहीं है।

यदि व्यक्तिमात्र निष्ठा जाति को मानें तो इस पक्ष को मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि व्यक्ति के उत्पन्न होने पर उसी स्थान में पहिले जाति नहीं थी, अतः अब उस व्यक्ति में कैसे उपलब्ध होगी?

शङ्का—यदि कोई यह कहे कि जाति उत्पन्न होती है?

समाधान—उसे (जाति को) उत्पन्न बताना तो नितान्त अनुपपन्न है। व्यक्ति जहाँ उत्पन्न हुआ, उस स्थान में पहिले जाति नहीं थी, तब वह उस व्यक्ति में कैसे उपलब्ध होगी? इसी कारण उसे (जाति को) व्यक्तिनिष्ठ भी नहीं माना जा सकता।

शङ्का—यदि यह कहें कि व्यक्ति में जाति उत्पन्न होती है।

समाधान—उसकी उत्पत्ति होती है— यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि वह (जाति) नित्य होने से वह उत्पत्ति के योग्य नहीं है; क्योंकि नित्य पदार्थ (वस्तु) कभी उत्पन्न नहीं हुआ करता।

शङ्का—यदि यह कहें कि वह (जाति) किसी अन्य व्यक्ति में से निकलकर आती है।

समाधान—तो यह कहना भी अनुचित है; क्योंकि वह (जाति) तो अमूर्त है और इस पक्ष मे दूसरी व्यक्ति में उसकी (जाति की) उपलब्धि नहीं हो पायेगी।

शङ्का—यदि यह कहे कि जाति एक अंशा से आती है और दूसरे अंश से वहीं पर रहती है।

समाधान—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि जाति निरवयव हुआ करती है।

इसी प्रकार व्यक्ति का नाश होने पर भी जाति वहीं पर रहती है, यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि उसका ज्ञान नहीं हो पा रहा है। वह नष्ट हो गई है, यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि वह (जाति) नित्य है।

शङ्का—जाति अन्यत्र चली जाती है?

समाधान—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि वह अमूर्त है और दूसरा कारण यह भी है कि व्यक्ति में पहिले से ही जाति है ही, दूसरी जाति का पुनः उसमें प्रवेश हो तो वह द्रिगुणित दिखायी देनी चाहिये। इसी अभिप्राय को बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने कहा भी है—

नाऽऽयाति न च तत्राऽऽसीदस्ति पश्चान्न चांशवत् ।
जहाति पूर्वं नाऽऽधारमहो व्यसनसन्ततिः ॥

(प्रमाणवार्तिक, प. ३, कारि. १५-५२)

व्यक्तौ च वर्तमानेति। जाति कहीं से आती-जाती नहीं है। व्यक्ति में पहले से ही जाति थी—यह भी नहीं कह सकते। व्यक्ति के उत्पन्न होने पर जाति आती है—यह भी नहीं कह सकते। वह अंशवती है—यह भी नहीं कह सकते। वह पूर्व-आधार का त्याग नहीं करती—इत्यादि निरन्तर व्यसनसन्तति = दुःख परम्परा जातिवादी के मत में उपस्थित होगी। व्यक्तौ च वर्तमानेति अर्थात् व्यक्ति में रहनेवाली जाति एकव्यक्ति में सम्पूर्णतया रहेगी- यह स्वीकारने पर वह अन्य व्यक्ति में नहीं रह सकेगी। यह निरूपण अन्वयमुख से किया गया।

न हि एका सती युगपदनेकत्र कात्स्न्र्येन वर्तितुं शक्नोति। न च अवयवशो वर्तते, निरवयवत्वात्। कथं च नानाविधास्वतीताऽनागतवर्तमानासु व्यक्तिषु अवयवशो वृत्तिः सम्भाव्येत। व्यक्तौ च वर्तमाना इह प्रत्ययमनुभवेत्। न च इह गोत्वमिति कस्यचित् प्रतीतिरस्ति, किन्तु इयं गौरिति।

अब व्यतिरेकमुख से निरूपण किया जा रहा है—न हि एका सती युगपदनेकत्र कात्स्न्येंन वर्त्तितुं शक्नोति। एक ही जाति एक ही समय में अनेक व्यक्तियों में सम्पूर्ण रूप से रहने में समर्थ नहीं हो सकती।

शङ्का– यदि यह कहें कि व्यक्ति में जाति अवयवशः रहती है।

उत्तर– ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि वह (जाति) निरवयव है और व्यक्ति अनेक प्रकार के हैं, अतीत-अनागत-वर्तमान भेद से व्यक्ति असंख्य हैं। उनमें अवयवशः जाति कैसे रह सकेगी? और व्यक्ति में रहने पर इह गवि गोत्वम् = इस गाय में गोत्व है—इस प्रकार इह शब्द का प्रयोग होना चाहिये, किन्तु इयं गौः = यह गोत्व है—यह अनुभव किसी को नहीं होता। इयं गौः = यह गौ है—यही अनुभव सभी को होता है।

अथ व्यक्तेरात्मैव जातिर्न तदाधारं वस्त्वन्तरमिति चेत्? नैवं युक्तम्, कथं हि नानाभूतानामनित्यानां व्यावृत्तस्वभावानामेकरूपा नित्याऽनुवृत्त-स्वभावा च जातिरात्मा स्यात्? त्रैलोक्यसङ्करप्रसंगात्।

शङ्का—यदि कहा जाय कि जाति तो व्यक्ति की आत्मा ही है। व्यक्ति को जाति का यदि आधार कहा जाय तो 'इह गवि गोत्वम्' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये, किन्तु ऐसी प्रतीति किसी को भी नहीं होती, अतः व्यक्ति की आत्मा ही जाति है, इस प्रकार अभेदेनैव इयं गौः– यह गौ है—ऐसी प्रतीति होती है। ऐसी प्रतीति होने से अभेदावलम्बन के कारण व्यक्तिरेव जातिः– व्यक्ति ही जाती है—यही कहना पड़ता हैं। तस्मात् व्यक्ति के अतिरिक्त जाति नाम की कोई अन्य वस्तु नहीं है। और दूसरा कारण यह भी है कि जाति को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण भी नहीं हैं। अतः जाति नाम की कोई अन्य वस्तु नहीं हैं। यह सिद्ध हो जाता है। न तादाधारं वस्त्वन्तरम् अर्थात् तत् = व्यक्तिः आधारो यस्य तत् = तदाधारं वस्त्वन्तरम्। जाति को व्यक्ति का आधार नहीं समझना चाहिये अर्थात् जाति को व्यक्ति का आधेय नहीं समझना चाहिये।

पूर्वपक्षी उपर्युक्त कथन का खण्डन करता है—नैवं युक्तं। कथं हि नानाभूतानाम-नित्यानां व्यावृत्तस्वभावानामेकरूपानित्यानुवृत्तिस्वभावा च जातिः आत्मा स्यात्? त्रैलोक्य-संकरप्रसंगात्। नानाभूतानाम् इत्यादि व्यक्ति के विशेषण हैं और एकरूपा और नित्यानुवृत्त-स्वभावा ये जाति के विशेषण हैं। यदि परस्पर विरुद्ध स्वभावाले जाति और व्यक्ति पदार्थों का अभेद कहा जाय तो अश्व और गर्दन तथा गाय और भैंस का भी अभेद माना जा सकेगा, इस प्रकार त्रैलोक्य = तीनों लोकों का भी अभेद होने लगेगा, तब तो सर्वत्र संकर ही हो जायेगा। निष्कर्ष यह है कि जाति को व्यक्ति की आत्मा ही समझ लेना चाहिये। व्यक्ति में रहनेवाली अन्य कोई वस्तु नहीं है—यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि नाना, अनित्य और विलक्षण स्वभाव वाले व्यक्तियों की आत्मा, जाति नहीं हो सकती; क्योंकि जाति को एक ओर नित्य कहा गया है—नित्यमेकमनेकाऽनुगतं सामान्यम् इति। सबमें

अनुगत होना जाति का स्वभाव है। ऐसा मानने पर त्रैलोक्य संकर होने लगेगा अर्थात् भिन्न-भिन्न स्वभाव वालों के भी एकात्मक होने से सब एक से ही हो जाएँगे।

(आकृति = जातिसद्भावे प्रमाणाऽभाव:)

न च प्रमाणमपि किञ्चिदाकृतिसद्भावे सम्भवति, न तावत् प्रत्यक्षम्। न हि जाति: स्वविषयं ज्ञानं जनयति, नित्यत्वाऽभ्युपगमात्। नित्यानां च सर्वार्थक्रिया स्वसामर्थ्यात्। न चाऽजनकस्य विषयत्वं सम्भवति, तल्लक्षणत्वाद् विषयत्वस्य। तस्माद् विकल्पाकारमात्रं सामान्यम्, अलीकं वा।

उपर्युक्त रीति से जाति के स्वरूप-प्रतिपादन में अनुपपत्ति को प्रदर्शित करके बौद्धों का कहना है कि जाति के होने में (अस्तित्व में) कोई प्रमाण भी नहीं है—**न च प्रमाणमपीति**। ऐसा कहकर विशेष रूप से प्रमाण का अभाव बता रहे हैं—**न तावदिति**। सभी प्रमाणों में प्रबल प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है। उसे भी आप जाति के होने में प्रदर्शित नहीं कर सकते—न हि जाति:, स्वविषयं ज्ञानं जनयति, नित्यत्वाऽभ्युपगमात्, नित्यानां च सर्वार्थक्रियास्वसामर्थ्यात्। जैसे घट स्वविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है, उसी कारण घट का ज्ञान होने में प्रत्यक्ष को प्रमाण माना जाता है; क्योंकि विषयस्याऽपि ज्ञानोत्पत्तौ हेतुत्वात् = विषय भी अपना ज्ञान कराने में कारण माना जाता है, किन्तु जाति तो नित्य मानी जाती है। इसलिये यदि वह स्वविषयक ज्ञान को उत्पन्न करेगी, तो उसके (जाति के) नित्य रहने से वह अपना ज्ञान सर्वदा (हमेशा) ही कराती रहेगी, तब कदाचिदपि (कभी भी) अन्य विषय का ज्ञान हो ही नहीं पायेगा।

इस पर बौद्ध अपने कथन के अभिप्राय को प्रकाशित कर रहा है—नित्यानां चेति। नित्य पदार्थों मे सभी अर्थ (प्रयोजनवती) क्रिया करने का सामर्थ्य मानने पर उसकी अर्थक्रिया सदा-सर्वदा ही होती रहेगी, इसलिये नित्य रहनेवाली जाति में स्वविषयक ज्ञानोपादकत्व मानना पड़ेगा, किन्तु वह भी सम्भव नहीं है। जाति को ज्ञान का अजनक (अनुत्पादक) मानने पर अनिष्ट प्राप्ति का प्रसंग आवेगा। जाति को ज्ञान का अजनक मानने पर अनिष्टापत्ति यह होगी कि न च अजनकस्य विषयत्वं सम्भवति—अजनकस्य = ज्ञानाऽजनकस्य च विषयत्वमेव न भवति । जो अपने ज्ञान को नहीं करा पाता, वह उस ज्ञान का विषय भी नहीं होता । अत: तद्विषयक ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी? तद्विषयक ज्ञानोत्पत्ति के नहीं होने में कारण यह है कि **तल्लक्षणत्वाद् विषयत्वस्य इति**।

अर्थात् 'स्वविषयकज्ञानजनकत्वमेव विषयत्वम्' सभी विषय अपने ज्ञान के जनक (उत्पादक) होते हैं। यही विषय का लक्षण है। जो अपना ज्ञान नहीं करा पाता, वह विषय भी नहीं कहलाता। विषय वही कहलाता है, जो अपना ज्ञान कराता है। इसलिये जाति को केवल विकल्पाकार मात्र ही समझना चाहिये। अर्थात् वस्तुशून्य जो ज्ञान तत्स्वरूप

ही यह जाति पदार्थ (सामान्य पदार्थ) है। सामान्य (जाति) का केवल ज्ञान मात्र (शाब्दिक-ज्ञान मात्र) गगनकुसुम के समान होता है, उसकी कहीं पर भी सत्ता अर्थात् अस्तित्व नही है। विकल्प का स्वरूप वस्तुशून्य रहना ही है—शब्दज्ञानाऽनुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। अतः जाति को मानना मिथ्या (अलीक) ही है। ज्ञान सर्वदैव सविषय ही रहता है। इसी प्रकार इच्छा, कृति पदार्थ भी सविषयक ही रहते हैं। ये कभी भी निर्विषयक नहीं रहते।

ननु यथा ज्ञानवैचित्र्यसिद्ध्यर्थं बाह्यानि स्वलक्षणान्यभ्युपगम्यन्ते, तथा गवाश्वादिवि-कल्पवैचित्र्यसिद्धये विचित्राणि सामान्यानि किं नाम नाऽभ्युपगम्यन्ते? न, विचित्रस्वभावस्वलक्षणदर्शनवशादेव विकल्प-वैचित्र्योपपत्तेः।

शङ्का—जाति के अस्तित्व में भले ही प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं हों, तथापि अर्थापत्ति को ही प्रमाण के रूप में माना जा सकता है। जैसे अयं घटः, अयं पटः आदि भिन्न-भिन्न (विचित्र) ज्ञानों की सिद्धि के लिये बाह्य स्वलक्षण माने जाते हैं, वैसे ही यह गाय है, यह घोड़ा (अश्व) है, आदि विचित्र विकल्पों (सविकल्पक ज्ञानों) की विचित्रता सिद्धि के लिये भिन्न-भिन्न सामान्यों को क्यों नहीं माना जाता?

समाधान—नहीं, भिन्न स्वभाववाले स्वलक्षण को देखने से ही विचित्र (भिन्न-भिन्न) विकल्पों की (ज्ञानों की) सिद्धि हो जाती है। वस्तुशून्य विकल्प भी विचित्र अर्थक्रिया में स्वलक्षण का अभिमान रहने से तद्विषयक व्यवहारेच्छु मनुष्य को प्रवृत्त कराते हैं। परम्परया स्वलक्षण से उत्पन्न होने के कारण उस विषय की प्राप्ति करा देते हैं। जैसे मणि की प्रभा में मणिबुद्धि मणि को प्राप्त करा देती है तथा व्यवहार को सफल बना देती है, उसी प्रकार प्रकृत प्रसंग में भी स्वलक्षण से साक्षात् निर्विकल्पक ज्ञान होता है। स्वलक्षण से विकल्प की उत्पत्ति परम्परया होने से वह व्यवहार का अविसंवादी होता है। अतः लोकयात्रा (लोकव्यवहार) चलाने में कोई विरोध नहीं हो पाता, इस कारण जाति नामक पदार्थ है ही नहीं।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि उक्त कथन के द्वारा सिद्धान्ती पुनरपि शङ्का करता है—**ननु यथा ज्ञानवैचित्र्यसिद्ध्यर्थमिति**। यदि बाह्य स्वलक्षण अर्थात् व्यक्तिस्वरूप (व्यक्ति के भिन्न-भिन्न रूप) नहीं रहें तो ज्ञानवैचित्र्य (भिन्न-भिन्न ज्ञान) नहीं हो पायेगा। इसी तरह जाति भी नहीं हो सकेगी, तब विशेष्य–विशेषणभावावगाहि ज्ञानात्मक विकल्प का वैचित्र्य भी नहीं कहा जा सकेगा। जैसे गोत्व के रहने पर ही गोत्वप्रकारक गोविशेष्यक ज्ञान का होना सम्भव होता है; अन्यथा गाय, अश्व आदि में एकाकार ही विकल्प होगा; क्योंकि उनके वैचित्र्यसंपादक सामान्य को स्वीकार नहीं किया गया है, उसी कारण स्वलक्षण के समान गोत्व, अश्वत्व आदि सामान्य (जाति) का भी स्वीकार करना होगा?

समाधान—न, विचित्रस्वभावेति। स्वलक्षणों का दृश्यमान जो वैचित्र्य, उससे ही विकल्पवैचित्र्य की उपपत्ति हो जाती है। अथवा विचित्र स्वभाववाले अर्थात् परस्पर भिन्न स्वरूपवाले स्वलक्षणों का जो दर्शन = निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, उससे ही विकल्पवैचित्र्य की उपपत्ति (संगति) लग जाती है, अतः उक्त संगति के लिये सामान्य पदार्थ को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

बौद्ध (सौगत) के मत में विकल्प शब्दवाच्य जो सविकल्पक प्रत्यक्ष है, वह निर्विकल्पक का कार्य ही है, तो 'कारणवैलक्षण्ये सति कार्यवैलक्षण्यं भवत्येव' इस नियम के अनुसार निर्विकल्पक वैचित्र्य से हो सविकल्पकवैचित्र्य का होना सम्भव है। इस कारण तदर्थ सामान्य (जाति) का स्वीकार करने की आवश्कता नहीं है। निर्विकल्पकों के वैचित्र्य में स्वलक्षणों का वैचित्र्य कारण (हेतु) होता है।

शङ्का—बौद्धों के मतानुसार विचित्र (भिन्न-भिन्न) स्वभाववाले स्वलक्षण भी क्षणिक होते हैं, उस कारण जो स्वलक्षण दृष्ट हुआ, अर्थात् प्रत्यक्ष हुआ, उसका उसी क्षण विनाश भी हो गया, उसी कारण उसमें प्रवृत्ति का होना सम्भव नहीं है और जिसमें प्रवृत्ति हुई, उसका भी तत्क्षण ही विनाश हो जाने से उसकी उपलब्धि होना सम्भव ही नहीं है और जिसकी उपलब्धि हो रही है, उसकी ओर प्रवृत्ति ही नहीं हुई और जिसकी ओर प्रवृत्ति हुई, उसको प्रत्यक्ष नहीं किया। तथा च 'अन्यद् दृष्टम् अन्यच्च उपलब्धम्' अर्थात् किसी को देखा और पाया और किसी को। इस प्रकार प्रवृत्तियों का और विषयभूत विकल्पों का शुक्ति-रजतज्ञान के समान विसंवाद (असंगति) होने से तुम्हारे मत में भी लोकयात्रा (लोकव्यवहार) का निर्वाह कैसे हो सकेगा? क्योंकि पूर्वदृष्ट विषय में ही प्रवृत्ति होना सम्भव है, इसलिये जैसे तुम्हारा क्षणिकवाद असंगत है, उसी प्रकार निस्सामान्यवाद (जाति को नहीं मानने का सिद्धान्त) भी असंगत ही है। अतः जैसे इस अनुपपत्ति का परिहार करने के लिये स्थिर स्वलक्षण स्वीकार्य है, उसी प्रकार सामान्य = जाति का भी लक्षण तुम्हें स्वीकार करना ही होगा।

किञ्च—हमारे स्थिरवाद में तो सामान्य का स्वीकार नहीं करने पर भी लोकयात्रा का निर्वाह कथंचित् हो भी जाता है; क्योंकि पदार्थ को स्थिति स्थिररूप में जब देखी जाती है, तभी देखनेवाले की प्रवृत्ति होती है, किन्तु क्षणिकवाद में जिसे देखा गया है, वह वस्तु उसी क्षण में ही नष्ट हो जाती है अर्थात् एक क्षणभर भी स्थिर नहीं रह पाती। क्षणभेद के कारण भिन्न-भिन्नतया प्रतीत होनेवाले अन्यान्य घटों में घटत्वरूप सामान्य भी रहता है, उस कारण घटत्व को ही उद्देश्य कर अन्यान्य घटविषयक प्रवृत्ति मनुष्य की होती है। किंच सामान्य (जाति) को स्वीकार करने पर दृष्ट घट का तत्क्षण नाश होने पर भी द्वितीयादि क्षणों में उत्पन्न होने वाले घट में घट्त्व के सहारे मनुष्य की प्रवृत्ति हो भी सकती है। इसलिये क्षणिकवादी को भी सामान्य (जाति) का स्वीकार अवश्य ही

करना होगा। इस प्रकार आशङ्का करके लोकयात्रा के विरोध का परिहार करते हुए 'अर्थशून्या अपि' ग्रन्थ से उसका समाधान किया जा रहा है।

अर्थशून्या अपि विकल्पा विचित्रार्थक्रियासमर्थस्वलक्षणाभिमानिनो जायमानास्तत्र व्यवहारार्थिनं प्रवर्तयन्तः परम्परया तत्प्रभवतया तत्प्रापयन्तो मणिमिव मणिप्रभाविषयमणिबुद्धिर्व्यवहाराऽविसंवादिनो भवन्तीति न लोकयात्रास्थितेः कश्चिद् विरोधः, तस्मात् नास्ति जातिः।

जैसे मणिप्रभा की विषयभूत मणिबुद्धि (मणिज्ञान) मणि की प्राप्ति कराती हुई, व्यवहार की अविसंवादिनी (संवादिनी) होती है, वैसे ही विचित्र अर्थक्रियासमर्थ स्वलक्षणाभिमानी के रूप में उत्पन्न होनेवाले विकल्प व्यवहारार्थी को उसके प्रति प्रवृत्त कराते हुए परम्परया तत्प्रभवता होने के कारण उसे प्राप्त कराते हुए व्यवहार के अविसंवादी होते हैं। इसलिये लोकयात्रा की स्थिति में कोई विरोध नहीं हो पाता है। जैसे मणिप्रभा में मणिबुद्धि हुई, वह मणिप्रभाविषयक होती हुई भी परम्परया तत्प्रभवतया = मणिजन्य होने के कारण प्रभा-मणिसम्बन्धिनी ही समझी जाती है, उसी कारण प्रभा द्वारा उसे मणिजन्य ही माना जाता है, अतएव मणि की प्राप्ति (मणि का लाभ) कराती हुई विना जाति के ही व्यवहाराऽविसंवादिनी अर्थात् सकलप्रवृत्तिमती होती है, उसी कारण मणिप्रभा को देखकर मणिग्रहणार्थ प्रवृत्त हुए पुरुष को वहाँ स्थित मणि का लाभ हो जाता है, उसी प्रकार अर्थशून्य (अतद्विषयक) भी विकल्प अर्थात् विशेष्य-विशेषण-भावाऽवगाही प्रत्यय का अभिमान (विषय) बन जाते हैं, विचित्रार्थ क्रिया समर्थ जो स्व-लक्षण का अभिमान करनेवाले अर्थात् तद्विषयक (तद्विषय) होकर स्वलक्षण के प्रति व्यवहारार्थी को (हानोपादानार्थी को) प्रवृत्त करते हैं। अथ च साक्षात् तत्स्वलक्षणजन्यत्व के नहीं रहने पर भी परम्परया तत्प्रभवतया (तत्स्वलक्षणजन्य होने के कारण) तत्प्रापयन्तः = स्वलक्षण को प्राप्त कराते हुए जाति के विना भी व्यवहार के अविसंवादी होते हैं। अतः किसी प्रकार से भी लोकयात्रा से विरोध नहीं हो पाता है। इसलिये जाति नहीं है।

उपर्युक्त अर्थशून्या अपि विकल्पाः में अर्थशून्यत्व कहने का अभिप्राय यह है कि न शब्दज्ञानाऽनुपातित्वं बाह्यार्थस्य क्षणिकस्य स्वीकारादेव, किन्तु तदजन्यत्वमेव, यथा मणिप्रभाविषयकमणिबुद्धेर्मण्यजन्यत्वं तथा।

निष्कर्ष यह है कि क्षणिक माननेवाले बौद्धों के मत में घट-पटादि बाह्य पदार्थ का सरूपपरिणाम प्रतिक्षण होता रहता है; क्योंकि जो दिखाई देता है, उसका उसी क्षण में विनाश हो जाता है, उसी कारण उसकी उपलब्धि नहीं हो पाती, किन्तु घटान्तर (अन्य घट) की प्राप्ति तो होती ही है, इसलिये प्रवर्तक ज्ञान उससे अजन्य ही है। विनष्ट घट से जन्य होने के कारण इसी अभिप्राय से अर्थशून्यत्व कहा गया है। इसी प्रकार उपलभ्यमान घट दृष्ट विनष्ट घट सम्बन्धी ही है, इसलिये प्रवर्तक ज्ञान उपलभ्यमान

घटसम्बन्धी पूर्वदृष्ट विनष्ट घट के द्वारा उपलभ्यमान घट से ही जन्य है। इसी अभिप्राय को परम्परया तत्प्रभवतया से अभिव्यक्त किया गया है। तस्मात् जाति का स्वीकार नहीं करने पर भी लोकव्यवहार का कोई किसी प्रकार से विरोध न होने के कारण जातिसंज्ञक कोई पदार्थ ही नहीं है। इसी कारण जाति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

(सामान्य (जाति) निरासोक्तदूषणानामवयविद्रव्यनिरासेऽतिदेशः)

एतेनाऽवयविद्रव्यं प्रत्यूढम्, तस्याप्यवयवभेदादिविकल्पाऽक्षमत्वात्। स्थूलावभासस्तु सञ्चिताऽनेकरूपादिपरमाणुवशादेव केशोण्ड्रकाऽवभासवदुपपन्नो नाऽवयविकल्पनायालम्। तदभावे च निराधारत्वाद् दूरापास्तं गोत्वादिसामान्यम्।

इसी प्रकार सामान्यसत्ता जाति का निराकरण, पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित करके अवयवव्यतिरिक्त अवयविद्रव्य के सौगतोक्त (बौद्धोक्त) निराकरण को बताते हैं—एतेन अवयविद्रव्यं प्रत्यूढम्- ग्रन्थ से। प्रत्यूढम्का अर्थ है—**प्रत्याख्याम् अवयवसमूह-व्यतिरिक्तम्-** अवयविद्रव्यम् नास्ति, इत्यर्थः; क्योंकि तस्य = अवयविद्रव्य का अवयवों से भेद या अभेद बताना असम्भव है—यदि भेद मानते हैं, तो अवयवों से उस अवयवी की पृथक् उपलब्धि होनी चाहिये, किन्तु उसकी पृथक्त्वेन उपलब्धि नहीं होती, इसी कारण उसे भिन्न (पृथक्) नहीं कह सकते। यदि अभेद मानते हैं, अर्थात् वे (अवयवी) अवयव ही है, तो अवयवी का पर्याय ही उसे (अवयव को) मानना होगा।

शङ्का- अवयवी के अभाव में अर्थात् अवयवी को स्वीकार नहीं करने पर अवयवों की सूक्ष्मता के कारण स्थूलत्वेन उनकी (अवयों की) प्रतीति होना सम्भव नहीं होगा; क्योंकि स्थूतला की प्रतीति, रूपादि के अनेक परमाणुओं के इकट्ठे होने पर ही होती है। उक्त कथन का समर्थन केशोण्ड्रक का दृष्टान्त देकर कर रहे हैं—**केशोण्ड्रकाऽव-भासवत् इति**। अर्थात् बालों का गुच्छा, जिस प्रकार आँखों के सामने भासित होता है, उससे कोई वस्तु सिद्ध नहीं हो पाती। अभिप्राय यह है कि केशजुट (केशोण्ड्रक) के स्थल में तुम्हें भी किसी अन्य अवयवी को स्वीकार नहीं करने पर भी केशसमूहकृत-स्थूलता की प्रतीति जैसे होती है, वैसे घट-पटादि स्थल में भी अवयवसमुदायवशात् स्थूलता की प्रतीति (स्थूलावभास) भी होती है। उसकी (अवयवी की) प्रतीति होने के लिये अवयवी का स्वीकार करना अनावयक है। जब अवयवी ही नहीं है, तब उसी के आश्रय से (आधार मानकर) रहनेवाला गोत्वरूप सामान्य (जाति, आश्रय (आधार) के बिना कैसे रह पायेगा? अर्थात् आधार के विना, आधेय का रहना असम्भव ही है। अतः गोत्वरूप जाति का रहना, गौरूप अवयवी के विना असम्भव ही है।

कथमसत्येकरूपे सामान्येऽत्यन्तविलक्षणानि स्वलक्षणाऽन्यविलक्षणरूपं विकल्पं जनयन्ति? जनयन्ति चेत्? किमिति कानिचिदेव गोविकल्पं

जनयन्ति, कानिचिदेवाऽश्वविकल्पम्, न सर्वाणि सर्वम्।

आशङ्का—सिद्धान्ती आशङ्का करता है—**कथमिति**। यदि सभी गोव्यक्तियों में एकरूप एक सामान्य (गोत्वरूप जाति) नहीं हो, तो परस्पर अत्यन्त विलक्षण (भिन्न-भिन्न) खण्ड-मुण्डादि स्वलक्षण व्यक्तियों का गौः-गौः (यह गाय-यह गाय), इस प्रकार का अविलक्षणरूप एकाकार विज्ञान कैसे हो सकेगा? किन्तु गोत्व को स्वीकार करने पर गोत्वविषयक एकाकार ज्ञान की संगति लग जाती है; क्योंकि गोत्व जाति को मानने पर ज्ञान जो हो रहा है, वह गोत्वविषयक हो रहा है; क्योंकि गोत्व की एकाकारणता, सम्पूर्ण गोव्यक्तियों में एकरूपा है।

शङ्का—एकाकार जाति को नहीं मानने पर अत्यन्त विलक्षण जो स्वलक्षण = असाधारण आकार हैं, वे अविलक्षण = भेदरहित विकल्प = सविकल्पक ज्ञानों को कैसे उत्पन्न कर सकेंगे?

समाधान—यदि अभिन्न विकल्प को उत्पन्न करते हैं, तो कतिपय स्वलक्षण गोविकल्प को क्यों उत्पन्न करते है? और कतिपय अश्वविकल्प को क्यों उत्पन्न करते हैं? सभी, सभी को क्यों उत्पन्न नहीं करते? सामान्य (जाति) वादी के मतानुसार विलक्षणरूप व्यक्ति, अविलक्षण सामान्य और उसके रूप का होना या तदाश्रयता अथवा तदभिव्यंजकता को कैसे प्राप्त करते हैं?

यदि प्राप्त करते हैं तो क्यों कतिपय व्यक्ति ही किसी सामान्य से सम्बद्ध होते हैं? सभी, सभी से क्यों सम्बद्ध नहीं होते? अभिप्राय यह है कि एकरूप = सामान्य के नहीं रहने पर भी विलक्षण (भिन्न-भिन्न) अनेक गो व्यक्तिविषयक भी एकाकार ज्ञान उत्पन्न होता है, तब क्वचिद् गोज्ञान उत्पन्न होता है और क्वचिद् अश्वज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार से भिन्न-भिन्न ज्ञान क्यों होता है? सर्वत्र समानाकार (एकाकार) ज्ञान ही क्यों नहीं होता? किञ्च अश्वव्यक्ति से भी गोज्ञान होने लगेगा, जैसे- मुण्डगोव्यक्ति से पृथक् खण्डगोव्यक्ति का ज्ञान होता है, उसी तरह अन्य व्यक्ति से गोव्यक्ति का भी ज्ञान हो सकता है।

सामान्यवादिनो वा कथं विलक्षणरूपा व्यक्तयो विलक्षणसामान्यात्मकत्वं तदाश्रयत्वं तदभिव्यञ्जकत्वं वा भजन्ते। भजन्ति चेत्? किमिति काश्चिदेव व्यक्तयः केनचिदेव सामान्येन सम्बध्यन्ते, न सर्वाः सर्वैः। स्वभावादिति चेत्? अस्मादकमपि तुल्यमिदमुत्तरम्।

प्रतिबन्दी के रूप में पूर्वपक्षी ही परिहार कर रहा है—**सामान्यवादिन इति**। जाति (सामान्य) वादी के मत में भी खण्ड-मुण्डादि व्यक्तियाँ सर्वथा विलक्षण (भिन्न-भिन्नाकार होती हुई भी) रहने पर भी वे व्यक्तियाँ एकरूप सामान्यात्मक कैसे होती हैं? कैसे तदाश्रय होती हैं? और कैसे तदभिव्यञ्जक होती हैं?

स्वीकार पक्ष में बाधक बता रहे हैं—**भजन्ति चेदिति**। सर्वथैव विलक्षण (भिन्न-भिन्न) रहनेवाली व्यक्तियाँ अविलक्षणसामान्यात्मक, तदाश्रित और तदभिव्यंजक तथा कुछ ही व्यक्तियाँ किसी सामान्य विशेष से ही सम्बद्ध रहती हैं, सभी व्यक्तियाँ सभी सामान्य से सम्बद्ध नही रहतीं।

स्वभावात् इति। मेरे मत में भी स्वभावतः एव अत्यन्त विलक्षण (बिलकुल भिन्न) प्रतीयमान रहने पर भी खण्ड-मुण्डादि स्वलक्षण पदार्थ एकरूप सामान्य के नहीं रहने पर भी अविलक्षणरूप गौरयं, गौरयम्—इत्याकारक विकल्प को स्वभावतः ही उत्पन्न करते हैं। अर्थात् किसी व्यक्ति का किसी सामान्य से सम्बद्ध होना उसका स्वभाव ही है, ऐसा यदि कहा जाय तो यह भी याद रखना चाहिये कि सभी का स्वभाव एक-सा (समान) नहीं हुआ करता। स्वभाव को प्रदर्शित कर यदि उत्तर दोगे, तब यही उत्तर देना हम बौद्ध भी जानते हैं।

अथ व्यक्तीनामप्यविलक्षणरूपसामान्यसम्बन्धसिध्यर्थं परमविलक्षणरूपमभ्युपगम्यते। ततस्तेनाऽपि सम्बन्धसिध्यर्थमपरापरसामान्याऽपेक्षायामनवस्था स्यात्। तस्माद् विकल्पमात्रमेवेदं, न परमार्थतः सामान्यं नाम किञ्चित्।

शङ्का—व्यक्तियों के साथ सामान्य के सम्बन्धसिद्धि के लिये उसका (सामान्य का) अविलक्षणरूप माना जाय तो उसके सम्बन्ध के लिये अन्यान्य सामान्यों की अपेक्षा करनी होगी, तब अव्यवस्थादोष मानना होगा। अतः सामान्यवादियों का अभिमत सामान्य (जातिवाद) विकल्पमात्र ही है। वस्तुतः सामान्य नामक कोई पदार्थ नहीं है। अर्थात् सामान्य = जाति को सत् न मानकर गगनकुसुम के समान असत् ही कहना चाहिये।

(स्वमते जातिस्थापनम् : सिद्धान्तः)

अत्राभिधीयते—प्रत्यक्षबलसिद्धस्य सामान्यस्य कुतर्कतः ।
न शक्योऽपह्नवः कर्तुं सर्वं विजयते हि तत् ।।

सर्वेष्वपि वस्तुषु इयमपि गौरियमपि गौः, अयमपि वृक्षोऽयमपि इति व्यावृत्ताऽनुवृत्ताकारं प्रत्यक्षं देशकालाऽवस्थान्तरेष्वविपर्यस्तमुदीयमानं सर्वमेव तर्काऽऽभासं विजित्य द्व्याकारं वस्तु व्यवस्थापयत् केनाऽन्येन शक्यते बाधितुम्? न हि ततोऽन्यत् बलवत्तरमस्ति प्रमाणम्, तन्मूलत्वात् प्रमाणान्तराणां तद्बाधसामर्थ्याऽभावात्।

उपर्युक्त सौगतमत (बौद्धमत) का निराकरण करने के लिये प्रारम्भ किया जा रहा है—**अत्राऽभि-धीयते इति। प्रत्यक्षबलसिद्धस्येति**। अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाण के बल पर सिद्ध हुए सामान्य (जाति) का अपह्नव = अपलाप तर्काभासों से नहीं किया जा सकेगा। तत् = प्रत्यक्षं = प्रत्यक्षप्रमाण, सर्वं विजयते = प्रत्यक्षातिरिक्त सभी प्रमाणों की अपेक्षा

प्रबल करना है। उस प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हुए पदार्थ का पराभव करना अन्य प्रमाण के द्वारा सम्भव नहीं है।

इस प्रकार पद्य के द्वारा संक्षेपत: स्वमत बताकर उसी को अधिक स्पष्ट कर रहे हैं—**सर्वेष्वपि वस्तुष्विति**। यहाँ सर्वेषु में सप्तमी का अर्थ विषयत्व है। अर्थात् सर्ववस्तु-विषयक जो प्रत्यक्ष है, वह व्यावृत्ताकार और अनुवृत्ताकार होता है, जैसे—अयमपि गौ:, अयमपि गौ: इस प्रकार विजातीय अश्व आदि पशुओं से व्यावृत्त होता है और समस्त गोव्यक्तियों में अनुवृत्त रहनेवाला प्रत्यक्ष होता है; क्योंकि गोव्यक्ति मान में अयं गौ:- इत्याकारक प्रत्यक्ष होने के कारण उसका कभी भी देश, काल, अवस्थान्तर में भी बाध नहीं होता, जिससे भ्रमत्वापत्ति के कारण उसमें (प्रयक्ष में) सामान्य साधकत्व नहीं हो सके। यह प्रबल प्रत्यक्ष तर्काभासों का निराकरण कर देता है और दो आकारवाली अर्थात् सामान्य-विशेषाकारवाली वस्तु का व्यवस्थापक होता है। वह प्रत्यक्ष अन्य प्रमाणों से बाधित भी नहीं होता; क्योंकि उससे बलवान् दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। यह प्रत्यक्ष ही अन्यान्य प्रमाणों का मूल है। अर्थात् प्रत्यक्षमूलक ही सर्वप्रमाण होते हैं। इसे बाधने की अन्य प्रमाणों की शक्ति नहीं है।

किञ्चाऽनुमानान्यपि सामान्याऽपेक्षत्वात् सुतरां सामान्यं समर्थयन्ते, न तु बाधितुं शक्नुवन्ति। न हि यद्यदपेक्षं तत् तस्य बाधं शक्नोति कर्तुम्, तद्बाधे हि स्वात्माऽपि न सिध्येत्, तदपेक्षत्वात्।

प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सामान्य = जाति की सिद्धि बतलाकर अब अनुमानप्रमाण की भी सामान्यसाधकता को बता रहे हैं—**किं चाऽनुमानान्यपीति**। इसके पूर्व जाति की सिद्धि प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा प्रदर्शित कर अब अनुमानों को भी सामान्य की अपेक्षा रहती है। अत: वे भी सामान्य का समर्थन करते हैं, वे उसका (सामान्य का) बाध नहीं कर सकते। इसी अभिप्राय को स्पष्ट कर रहे हैं—**न हि यद् यदपेक्षमिति**। जो जिसकी अपेक्षा करता है, वह उसका बाध नहीं कर सकता। यदि उसका बाध करेगा तो वह उसके सापेक्ष होने से स्वयं भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि महानस में यदि महानसीय वह्नि-धूम दोनों का ही व्याप्तिज्ञान हो, तब पर्वत पर महानसीय वह्नि-धूम दोनों का अभाव रहने से उसी क्षण महानस में भी महानसीय वह्नि-धूम दोनों के विद्यमान होने से और पर्वतीय वह्नि-धूम दोनों का व्याप्तिग्रह नहीं होने से पर्वत पर धूम से वह्नि का अनुमान कर पाना सम्भव नहीं होगा, किन्तु आबाल-गोपाल तक को भी अनुमान होता है। गोपाल कोई पञ्चावयव प्रयोग करने में निपुण भी नहीं है। तथा च महानस में वह्नित्व, धूमत्व इन दो सामान्यों का ही व्याप्तिग्रह होता है, यह कहना होगा। अन्यथा अनुमान का होना असम्भव है, इसलिये कहना होगा कि अनुमान को भी सामान्य की अपेक्षा होती ही है। अत: वह (अनु॰॰न) सामान्य का बाध नहीं कर सकता। बाध की सम्भावना नहीं होने में हेतु = कारण यह है—न हि ततोऽन्यद् बलवत्तरमस्ति

प्रमाणम्, तन्मूलत्वात् प्रमाणान्तराणां तद्बाधसामर्थ्याऽभावात्। जैसे भृत्य (सेवक) अपने प्रभु (स्वामी) की सर्वदा अपेक्षा रखता है, उसी कारण वह अपने प्रभु का कभी बाध नहीं कर सकता, उसी प्रकार अनुमान भी स्वापेक्षित सामान्य (जाति) का बाध करने में सदैव असमर्थ रहता है।

तथाहि—भेदाऽभेदविकल्पेन सामान्यं निराकुर्वताऽवश्यमेवं वक्तव्यम्—यद् वस्तु, तद् भिन्नमभिन्नं वा भवति सामान्यमपि यदि वस्तु स्यात् ततोऽनेनाऽपि भिन्नेनाऽभिन्नेन वा भवितव्यम्। न च द्वेधाऽपि सम्भवति। तस्मादवस्तु इति। एवञ्च वदता वस्तुत्वं सामान्यमङ्गीकार्यम्, अन्यथा कथं वस्तुत्वस्य भेदाऽभेदाभ्यां व्याप्तत्वाद् व्यापकाऽनुपलब्ध्या सामान्यस्य वस्तुत्वं न सम्भवतीति भणितुं शक्यम्।

उक्त बात को ही और अधिक स्पष्ट किया जा रहा है—**तथाहीति। भेदाऽभेद-विकल्पेनेति**। प्रथमत: भेदाऽभेद के सामान्य (जाति) का खण्डन करनेवाले बौद्ध विद्वान् को यह अवश्य बताना होगा कि कोई भी वस्तु या तो भिन्न होती है या अभिन्न होती हैं। सामान्य (जाति) को यदि वस्तु मानते हो तो वह भी भिन्न अथवा अभिन्न होगी, किन्तु दोनों प्रकारों का होना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई तीसरा प्रकार नहीं है। यदि वह भिन्न है, तो भेदेन उसकी उपलब्धि होनी चाहिये, किन्तु भेदेन उसकी उपलब्धि किसी को भी नहीं हो पाती और यदि अभिन्न है, तो उसे व्यक्ति ही समझना होगा, तब व्यक्ति और सामान्य दोनों को परस्पर पर्याय ही मानना होगा। तब सामान्य को वस्त्वन्तर (पदार्थान्तर) के रूप में नहीं कह पायेंगे। इस प्रकार सामान्य (जाति) का निराकरण करने वाला बौद्ध विद्वान् अपने अभिमत अनुमान प्रयोग को प्रदर्शित कर रहा है—**यद् वस्तु, तद् भिन्नम् अभिन्नम् वा भवति, वस्तुत्वात् सम्प्रतिपन्नवत् इति**। घट-पट- आदि में वस्तुत्व माना जाता है, अत: उनमें भेद (भिन्नता) भी रहता है। इसे दृष्टान्त कहा जाता है। और सामान्य (जाति) व्यक्ति से भिन्न भी नहीं है और न अभिन्न ही है। अर्थात् सामान्य और व्यक्ति को परस्पर भिन्न या अभिन्न भी नहीं कह सकते। इसलिये दो व्यापकों में भेदाऽभेद के नहीं रहने से वस्तुत्व की भी निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् उनमें वस्तुत्व भी नहीं रहता, उस व्यापक पदार्थों को वस्तु शब्द से भी नहीं कह सकते। उसी कारण सामान्य (जाति) को अवस्तु ही समझना चाहिये। अर्थात् सामान्य (जाति) संज्ञक कोई वस्तु ही नहीं है। यदि सामान्य नाम की कोई वस्तु होती, तो उसे भी भिन्न या अभिन्न होना ही चाहिये था। अत: दोनों ही प्रकारों का उसमें सम्भव नहीं रहने से उसे अवस्तु कहना ही उचित प्रतीत हो रहा है— यह सौगतों (बौद्धविद्वानों) का कहना है।

अब उपर्युक्त बौद्धमत के खण्डनार्थ सिद्धान्ती (जातिवादी) उत्तर दे रहा है—**एवञ्च वदता वस्तुत्वमिति**। सामान्य को अवस्तु कहनेवाले को उसे अवश्य ही वस्तु कहना होगा। अन्यथा वस्तुत्व भेदाऽभेद से व्याप्त होने के कारण व्यापक भेदाऽभेद की उपलब्धि

नहीं होने के कारण सामान्य का वस्तुत्व ही सिद्ध हो सकेगा, यह कहना होगा। अभिप्राय यह है कि भेदाऽभेद के साथ किसी वस्तु की यदि व्याप्ति गृहीत होती है तो उसके अभाव से ही उस वस्तु का अनुमान ही नहीं हो सकेगा। इसलिये भेदाऽभेद के साथ वस्तुत्व का ही व्याप्तिज्ञान होता है—यह तुम्हें कहना चाहिये। तब निष्कर्ष यह निकला कि सामान्य जो है, वह वस्तुत्व का सामान्यरूप ही है। अन्यथा वस्तुत्व तो भेदाऽभेद से व्याप्त रहने के कारण व्यापक भेदा-भेद की अनुपलब्धि से सामान्य का वस्तुत्व होना ही सम्भव नहीं है—यह कथन कैसे सम्भव हो सकेगा? व्यापक की अनुपलब्धि होने से अर्थात् सामान्य में व्यक्तिनिरूपित भेदाऽभेद की उपलब्धि नहीं हो पाने से वस्तुत्वं नास्ति—यह कैसे कहा जा सकता है? यह तभी कहा जा सकेगा, जब भेद और अभेद के कारण वस्तुत्व को व्याप्त कहना होगा। इससे स्पष्ट होता है कि वस्तुत्व एक तत्त्वसामान्य ही है।

नन्वौपाधिको वस्तुशब्दो न जातिनिमित्तकः, तत् कथमनेन जात्यापत्तिः? उच्यते— जातिर्वा भवतूपाधिर्वा, सर्वथा तावत् सामान्यरूपमपेक्षितव्यम्। औपाधिकानामपि मूलोपलक्षणमेकमन्तरेणात्मलाभाऽभावात्। न च व्यावृत्तैकरसं सर्वं वस्तुजातमभ्युपगच्छतः सौगतस्य क्वचिदपि किञ्चिदप्यनुवृत्तं रूपं सम्भवतीति औपाधिको व्यवहारो दुर्घट एव। तस्मात् सर्वप्रमाणसिद्धं सामान्यं न शक्यमपह्नोतुम्।

शङ्का—उक्त वस्तु शब्द तो उपाधिनिमित्तक ही है, वह जातिनिमित्तक नहीं है। अतः उससे जाति की सिद्धि कैसे हो सकेगी? यहाँ उपाधि शब्द से स्वलक्षण वस्तु में प्रतीयमानत्व ही जानना चाहिये।

समाधान—वस्तु में स्थित जो वतुत्व है, वह जाति हो अथवा उपाधि हो, सर्वथा सामान्य को ही स्वीकार करना होगा; क्योंकि उक्त अनुमान की निष्पत्ति के लिये सर्वानुगत हेतुभूत वस्तुत्व की अपेक्षा तो रहती ही है, उसी को हम जाति कहते हैं। अन्यथा सामान्य में वस्तुत्वाभाव का सम्पादन उपपन्न नहीं हो सकेगा।

किञ्च—अभाव की प्रतियोगी की अपेक्षा रहने के लक्षण सामान्य के विना सामान्याऽभाव भी कैसे सिद्ध हो पायेगा?

औपाधिकानामपीति। औपाधिक शब्दों का भी एक मूलभूत जो उपलक्षण है, उसके विना आत्मलाभ का अर्थात् वाचकत्व का होना सम्भव ही नहीं है। शब्द को अपने स्वरूप का लाभ तभी हो पाता है, जब वह पदार्थ-प्रत्यायन = पदार्थ-बोधन करता है, उसी को वाचकत्व कहते हैं। उस वाचकत्व की सम्भावना तभी की जा सकती है, जब एक सामान्य रहता है; क्योंकि शक्तिग्रह के होने पर ही शब्द से अर्थप्रतीति होती है और शक्तिग्रह व्यक्ति में इसलिये नहीं माना जाता कि आनन्त्य और व्यभिचारदोष उपस्थित

होते हैं। इसलिये शक्तिग्रहार्थ सामान्य को स्वीकार अवश्य करना ही होगा। जो औपाधिक शब्द हैं, उनके मूल में एक उपलक्षण के विना वस्तु की स्वरूपसिद्धि नहीं हो पाती। वह मलभूत उपलक्षण क्वचित् उपाधिरूप और क्वचित् जातिरूप रहता है, यह दूसरी बात है।

सौगत (बौद्ध) के मत में औपाधिक व्यवहार की भी सम्भावना नहीं की जा सकती। सौगत (बौद्ध) के मत में सभी वस्तुएँ व्यावृत्तैकरस अर्थात् भिन्न स्वरूपवाली ही होती हैं, अर्थात् भेदप्रधान अर्थात् अभावात्मक होती हैं। अनुगतस्वरूप की कोई भी वस्तु नहीं हुआ करती; किन्तु उपाधि तो अनुगतरूप ही होता है और अनुगत वही होता है, जिसे सामान्य शब्द से कहा जाता है। सामान्य के अभाव में अर्थात् नहीं रहने पर औपाधिक व्यवहार भी कैसे हो सकेगा? तस्मात् सर्वप्रमाणसिद्धं सामान्यं न शक्यमपह्नोतुम्; अतः प्रत्यक्ष तथा अनुमान—दोनों प्रमाणों से सामान्य (जाति) की सिद्धि का होना स्पष्ट हो रहा है।

(विकल्पानां परिहारे प्राभाकरमतम्)

कः पुनर्विकल्पानां परिहारः? न तावदपरिहृता अपि शक्नुवन्ति सामान्यमपह्नोतुम्, तेषामपि तदपेक्षत्वादित्युक्तम्। तथापि परिहारोऽभिधीयते। भेदाऽभेदविकल्पे तावत् केचिदाहुः—भिन्नमेव सामान्यं व्यक्तिभ्यः। न च पृथगुपलब्धिप्रसङ्गः, व्यक्तिसम्बन्धित्वात्। कः पुनः सम्बन्धः? समवायः। कः पुनरसौ? अयुतसिद्धानामिह प्रत्ययहेतुः सम्बन्धः इति केचित्। तत्त्वयुक्तम्; इह प्रत्ययाऽसिद्धेः। इयं गौरिति हि सर्वदा सर्वेषां प्रतीतिः, नेह गोत्वमिति। का चेयमयुतसिद्धिः? युतसिद्ध्यभावः। का पुनर्युतसिद्धिः? पृथग्गतिमत्त्वं पृथगाश्रयाश्रयित्वं वा। तदभावोऽयुतसिद्धिः।

प्रश्न—कः पुनर्विकल्पानामिति। विकल्पों का परिहार क्या है?

उत्तर—न तावदिति। जैसे जीवित शत्रु भी जीवित शत्रु का पराभव (अपह्नव) नहीं कर सकता उसी प्रकार परिहार विना किये भी सर्वप्रमाणसिद्ध सामान्य का अपह्नव नहीं किया जा सकता; क्योंकि विकल्पों को भी सामान्य की अपेक्षा रहती है। विकल्पों का स्वरूप 'यद् वस्तु, तद् भिन्नमभिन्नं वा' यही होता है, इन विकल्पों में भी सामान्य की अपेक्षा तो रहती ही है। तथापि विकल्प के परिहार को बताते हैं—**भेदाऽभेदविकल्पे इति**। केचिदाहुः अर्थात् वैशेषिकादि और प्रभाकरानुयायी लोगों का कहना है कि भिन्नमेव सामान्यं व्यक्तिभ्यः अर्थात् भेदाऽभेद के विकल्प में व्यक्तियों से सामान्य भिन्न ही है। इस प्रकार उन्होंने अपना निश्चित मत बतला दिया।

शङ्का– व्यक्ति से जाति को जब भिन्न मानते हैं, तब उसकी पृथक् उपलब्धि होनी चाहिये। जैसे—गाय और भैंस अथवा घट और पट में भेद होने से कभी घट का तो

कभी पट का पृथक् ज्ञान होता है, वैसे यहाँ भी होना चाहिये।

समाधान—न च पृथगुपलब्धिप्रसङ्गः, व्यक्तिसम्बन्धित्वात् इति। जाति का सम्बन्धी व्यक्ति होने से भेदेन पृथक् उपलब्धि होने का अवसर (प्रसंग) नहीं आता। निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति और जाति के अयुतसिद्ध होने के कारण उनकी भिन्नरूप में उपलब्धि नहीं होती और घट-पट के युतसिद्ध होने के कारण उनकी भेदेन (पृथक्-पृथक्) उपलब्धि होती हैं जाति और व्यक्ति अयुतसिद्ध पदार्थ हैं। इसी कारण इनकी भेदप्रतीति नहीं होती। जैसे गुण-द्रव्य की भेदेन प्रतीति नहीं होती। अयुतसिद्ध पदार्थों का इह प्रत्यय होने में कारणभूत जो सम्बन्ध, वह समवाय है—इस केचित् मत का परिहार कर रहे हैं—**तत्त्वयुक्तमिति**। क्योंकि इह प्रत्ययाऽसिद्धेः अर्थात् इयं गौः– इत्याकारक अभेद प्रतीति ही सभी को होती है। न तु इह गोत्वम् इत्याकारक प्रतीति नहीं होती। तथा च– यदि इह गोत्वम्– इत्याकारक प्रतीति होती, तब तो अयुतसिद्ध रहनेवाले गो व्यक्ति और गोत्व दोनों का इह प्रत्यय होने में कारणभूत सम्बन्ध समवाय हो सकता है और सर्वथा भेद भी सिद्ध हो सकता है, किन्तु ऐसा होता नहीं है।

शङ्का—समवाय किसे कहते हैं?

समाधान—अयुतसिद्ध पदार्थों की इह प्रतीति होने में जो हेतु (कारण) है, उसी को समवाय कहा करते हैं—ऐसा कुछ लोगों का कहना है। सूत्रकार महर्षि कणाद अपने वैशेषिक दर्शन में सूत्र का उल्लेख करते हैं—इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः सः समवायः (वैशे. दर्शन–७।२।२६) अर्थात् यहाँ यह है—ऐसा व्यवहार जिससे होता है, उसी को समवाय कहते हैं। उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रशस्तपाद ने पदार्थसंग्रह में 'अयुतसिद्धानामाधाराऽऽधेयभूतानां यः सम्बन्धः स समवायः' इस भाष्य के द्वारा समवाय का लक्षण प्रदर्शित किया है।

यही लक्षण शास्त्रदीपिकाकार श्रीपार्थसारथिमिश्र के बुद्धिगत रहने से उन्होंने भी अयुतसिद्धानामिह-प्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवायः बतलाया है। विषयभेद से भाष्यकार ने समवाय के दो लक्षण बताये हैं। उनमें से प्रथम लक्षण दोनों सम्बन्धियों के परस्पर परिहार से प्रथमक्षयाश्रित युतसिद्ध है। वह जिन दोनों में नहीं है, वे अयुत सिद्ध कहलाते हैं। यथा—तन्तु और पट। यह अयुतसिद्धि का उदाहरण उनकी अनित्यता की दृष्टि से है। अयुतसिद्धि का दूसरा लक्षण पृथक् गतिमत्त्व युतसिद्धि है, उसके विपरीत अयुतसिद्धि है। जैसे—आकाश और परमाणु दोनों का सम्बन्ध। यह लक्षण नित्य की दृष्टि से है। यह विभाग भाष्य में ही कहा गया है। इसका विशेष विवेचन कन्दलीकार ने किया है।

का चेयमयुतसिद्धिरिति अर्थात् अयुतसिद्धि का लक्षण पूछ रहे हैं। उत्तर— युतसिद्ध्यभावः। अर्थात् युतसिद्धि का अभाव। और का पुनर्युतसिद्धिः? यह पूछने पर युतसिद्धि का लक्षण बतला रहे हैं—पृथक् गतिमत्त्वं, पृथगाश्रयाश्रयित्वं वा। तदभावः अयुतसिद्धिः। पृथक् गतिमत्त्व का उदाहरण जैसे—गौ और अश्व। ये दोनों पृथक्-पृथक्

गतिमान् हैं। उसी तरह युतसिद्धि होती है; क्योंकि पृथक् आश्रयाश्रयित्व का उदाहरण जैसे घट-पट की घट-पट दोनों की उत्पत्ति होने के पश्चात् उनके संयोग का होना सम्भव होता है, उसी करण घट-पट की युतसिद्धि कहलाती है, उसका अभाव होना अर्थात् युतसिद्ध्यभाव को ही अयुतसिद्धि कहा जाता है। तथा च—व्यक्ति और सामान्य का सम्बन्ध, उनके पृथक्-पृथक् उत्पन्न होने के बाद नहीं हुआ करता अतएव उन्हें अयुत-सिद्धि कहा जाता है। सामान्य (जाति) सम्बद्ध होने पर ही व्यक्ति की उत्पत्ति होती है और उनके सम्बन्ध को समवाय के नाम से कहा जाता है। यद्यपि सामान्य व्यक्ति से भिन्न हैं, तथापि उनके (व्यक्ति और जाति के) अयुतसिद्ध रहने से उनकी पृथक्-पृथक् (भेदेन) उपलब्धि नहीं होती और घट-पट-पदार्थ युत सिद्ध हैं, इसलिये उनकी भिन्न-भिन्न (भेदेन) प्रतीति होती है, किन्तु जाति और व्यक्ति अयुत सिद्ध रहने से उनकी उपलब्धि भिन्न-भिन्न (भेदेन) नही होती।

यद्येवं, अवयवाऽवयविनोः सम्बन्धः समवायो न स्यात्, विनाऽप्यवय-विचलनेनाऽवयवानां चलनात्, अवयविनोऽवयवानां च स्वाऽवयवा-श्रयत्वात्। तथा सामान्यस्य व्यक्त्याश्रयत्वाद् व्यक्तेश्च स्वावयवाश्रि-तत्वादस्ति पृथगाश्रयाश्रयित्वमिति समवायाऽनुपपत्तिः। तस्मादेवं वक्तव्यम्—येन सम्बन्धेनाऽऽधेयमाधारे स्वानुरूपां बुद्धिं जनयति; स्वाकारेण बोधयतीत्यर्थः, स सम्बन्धः समवाय इति। यदि जात्या-त्मना व्यक्तिः प्रतीयते, ततो जातिव्यक्त्योरभेद एव प्रतीतिबलादा-पद्यते, कथं भेदाऽभ्युपगमः?

जाति और व्यक्ति अयुतसिद्ध रहने से उनकी प्रतीति भिन्न-भिन्न रूप में (पृथक्-पृथक् रूप से) नहीं होती—इस कथन का परिहार कर रहे हैं—**यद्येवमिति**। यदि पृथग्गतिमत्त्वा-ऽभाव ही को अयुतसिद्धि कहा जाय तो अवयव और अवयवी दोनों में पृथग्गति का होना सम्भवनीय रहने से अर्थात् पृथग्गतिमत्त्वाऽभाव के नहीं रहने से अयुत सिद्धि नहीं मानी जा सकेगी। तथाच उन दोनों का (अवयव और अवयवी दोनों का) समवायसम्बन्ध भी नहीं माना जा सकेगा और समवाय-सम्बन्ध का होना अयुतसिद्धि के अधीन रहने से उसकी (अयुत सिद्धि की) निवृत्ति होने पर उस समवाय की भी निवृत्ति हो जायेगी।

अवयव और अवयवी का पृथग्गतिमत्त्व इस प्रकार होता है। जैसे– पटरूप अवयवी के अचल रहने पर भी पटैकदेश की (पल्लू की) चञ्चलता तो रहती ही है।

शङ्का—पृथगाश्रयाश्रयित्वाऽभाव को भी अयुतसिद्धि का लक्षण कहा गया है। अतः उसका सम्भव रहने से ही अवयव और अवयवी दोनों की अयुतसिद्धि रहने से उनका समवाय सम्बन्ध हो जायेगा; क्योंकि अवयवी और अवयव में स्वाऽवयवाऽऽश्रयत्व रहता है। अर्थात् अवयवी अपने अवयवों में (के) आश्रित रहता है और उसके अवयव

अपने अवयवों में (के) आश्रित रहते हैं। इस प्रकार अवयव और अवयवी दोनों में पृथगाश्रयाश्रितत्व रहने से अयुतसिद्धि हो जाती है। उसी कारण अवयव और अवयवी दोनों में जो सम्बन्ध होता है, उसे समवाय के नाम से कहा जाता है। उक्त रीति से तो जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध को भी समवाय नहीं कहा जा सकेगा। इसी तथ्य को ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र ने 'तथा सामान्यस्य व्यक्त्याश्रयत्वाद् व्यक्तेश्च स्वाऽवयवाश्रितत्वादस्ति पृथगाश्रयाश्रयित्वमिति समवायाऽनुपपत्तिः' से कहा है। अर्थात् जाति की स्थिति व्यक्ति में है और व्यक्ति–अपने अवयवों में स्थित है, इस कारण जाति और व्यक्ति—दोनों पृथगाश्रयाश्रित रहने से अयुत सिद्धि नहीं होने के कारण समवाय सम्बन्ध भी नहीं है।

यद्यपि जाति और व्यक्ति दोनों में पृथग्मतिमत्त्वाऽभावरूप अयुतसिद्धि रहती ही है, तथापि लक्षण ऐसा होना चाहिये, जो सर्वत्र एकरूप हो। अवयव और अवयवी दोनों में पृथग्गतिमत्त्वाऽभाव के नही रहने से उक्त अयुतसिद्धि का लक्षण ठीक (निदुर्ष्ट) नहीं बन पाया है; क्योंकि पृथगाश्रयाश्रयित्वाऽभाव तो कहीं पर भी समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध पदार्थों का नहीं हुआ करता।

किंवा पश्चात् उक्त होने के कारण पृथगाश्रयाश्रयित्वाऽभाव को ही पूर्वपक्षी ने अयुतसिद्धि का लक्षण मान लिया है, किन्तु यह उक्त लक्षण कहीं पर भी घटित नहीं हो सकने से असम्भव दोष उपस्थित हो रहा है। अतः उक्त रीति से समवाय का निरूपण करना उचित नहीं है। इसलिये प्रकारान्तरेण समवायनिरूपण आपको करना चाहिये।

तस्मादेवं वक्तव्यमिति। उस प्रकारान्तर को ही बता रहे हैं—**येन सम्बन्धेनाऽऽधेयमाधारे इति**। अर्थात् जिस सम्बन्ध से आधेय गोत्वादि आधारभूत गो व्यक्ति में स्वानुरूप = गोत्व के अनुरूप अर्थात् यह गौ है—इत्याकारक स्वानुरूप बुद्धि (ज्ञान) उत्पन्न करता है, उसी सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। **यदि जात्यात्मना व्यक्तिः प्रतीयते इति**। स्वानुरूपां—पद की व्याख्या ग्रन्थकार स्वयं कर रहे हैं—स्वाकार से बोधन करना। अर्थात् स्वाकार से जो बोधन करता है, उसी को समवाय कहते हैं।

शङ्का—यदि जात्यात्मना इति। पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि यदि व्यक्ति की प्रतीति जात्याकार से होती है, यह आपका कहना है, तो प्रतीति के बल पर जाति और व्यक्ति का अभेद ही सिद्ध हो रहा है। तब उस स्थिति में आप जाति और व्यक्ति में भेद कैसे मान सकते है?

उच्यते—गौरयं शाबलेयो गौरयं बाहुलेय इत्युभयत्र गवाकारोऽनुवर्तमानो दृश्यते। शाबलेयबाहुलेयाकारौ तु व्यावर्तेते। तद् यदि तयोः शाबलेयगवाकारयोरभेदः स्यात् एकानुवृत्तावितरोऽप्यनुवर्तेत, तद्व्यावृत्तौ वा गवाकारोऽपि व्यावर्तेत। किञ्च—तस्यामेव व्यक्तावियं गौरिति गवात्मना प्रतीयमानायामपि नेयंबुद्धिगोबुद्ध्योर्गौगौरितिवत् पर्यायत्वं प्रतीयते, तस्मान्नाऽभेदः।

शङ्काकार की शङ्का का समाधान कर रहे हैं—**उच्यते इति**। शाबलेयो गौः, बाहुलेयो गौः– इस प्रकार सम्पूर्ण शाबलेयादि गोव्यक्तियों में गोत्व जाति अनुवृत्त प्रतीत होती है; किन्तु शाबलेयादि व्यक्ति सभी में अनुवृत्त नहीं होती वह तो केवल उसी व्यक्तिमात्र में ही प्रतीत होती है। यदि जाति व्यक्ति का अभेद ही माना जाय तो जाति में अनुवृत्तता और व्यक्ति में व्यावृत्ततारूप वैलक्षण्य नहीं रहेगा, तब जातेः अनुवर्तमानत्वं, व्यक्तेश्च व्यावर्तमानत्वं इत्याकारक वैलक्षण्य जो प्रसिद्ध है, उसका अनुभव नहीं हो सकेगा, किन्तु अनुवर्तमानत्व और व्यावर्तमानत्व—इत्याकारक वैलक्षण्य तो सर्वानुभव सिद्ध है। इसलिये जाति और व्यक्ति में परस्पर भेद ही माना जाता है, अभेद नहीं।

तद यदि तयोः शाबलेयगवाकारयोः अर्थात् व्यक्ति-जात्योः अभेदः स्यात् एकानुवृत्ता-वितरोप्यनुवर्तेत, तद्व्यावृत्तौ वा गवाकारोऽपि व्यावर्तेत। शाबलेयगवाकारयोः = व्यक्ति और जाति का अभेद मानने पर एक आकार की अनुवृत्ति होने पर दूसरा आकार भी अनुगत होगा। एक आकार का भेद होने पर, गौ का आकार भी भिन्न होगा।

किञ्चेति। उसी व्यक्ति में इयं गौः अस्ति—इस प्रकार गौ के आकारों में प्रतीति होने पर भी इदम् बुद्धि और गो बुद्धि दोनों की पर्यायरूप में प्रतीति नहीं होती है, जैसे—गाय में पर्यायता प्रतीत होती है। इसलिये अभेद नहीं होगा।

कथं तर्हि तादूप्यं व्यक्तेः प्रतीयते? इदमेव हि तादूप्यं व्यक्तेर्यत् तत्सम-वायः सम्बन्धः, तस्यैष महिमा येनाऽऽधारमाधेयं स्वबुद्ध्याऽनुरञ्जयति, तस्माददोषः। अथवा— तादात्म्यप्रतीतेरभेदोऽप्यस्तु, पूर्वोक्तन्यायेन भेदोऽपि, तस्मात् प्रमाणबलेन भिन्नाऽभिन्नत्वमेव युक्तम्।

शङ्का—व्यक्ति की सामान्याकारता कैसे प्रतीत होगी?

समाधान—व्यक्ति की सामान्याकारता यही होगी कि उसका समवाय सम्बन्ध है। अभिप्राय यह है कि जाति और व्यक्ति दोनों की एकरूपतालक्षण सामान्याकारता नहीं **है—यही उसका समवाय सम्बन्ध है**, किन्तु समवायसम्बन्धलक्षण सामान्याकारता है। यह समवाय का ही प्रभाव (महिमा) है कि जिससे गोत्वादिसामान्य गवादि व्यक्ति को अपनी बुद्धि से अनुरञ्जित करता है। अनुरञ्जित करता है का अर्थ है कि गोत्वाकार को बतलाता है। जाति व्यक्ति के भिन्न रहने पर भी जो सामान्याकारता प्रतीत होती है, उसमें उन दोनों का समवाय ही कारण है। मूल में आधेय पद कर्तृ–परक है और आधार पद कर्मपरक है। एवञ्च जातिव्यक्ति की सामन्याकारता में कोई दोष नहीं है; क्योंकि उसमें समवाय सम्बन्ध कारण है।

(शङ्का)—कथं तर्हीति। अभिन्न पदार्थों का ही तादूप्य होता है। यदि जाति-व्यक्ति में भेद ही है, तो इयं गौः कहने से व्यक्ति का तादूप्य = जातिरूपत्व कैसे प्रतीत होता है?

समाधान– इदमेव हि ताद्रूप्यमिति। अर्थात् जाति-व्यक्ति एकरूपत्व लक्षण ताद्रूप्य प्रतीत नहीं होता है, किन्तु समवायसम्बन्धलक्षण ताद्रूप्य ही प्रतीत होता है।

शङ्का—समवायरूप सम्बन्ध विशेष से, किस प्रकार परमार्थतः भिन्न रहनेवाली जाति-व्यक्ति को ताद्रूप्य की प्रतीति हो पायेगी?

अथवा तादात्म्यप्रतीतेरभेदोऽप्यस्तु इति। अथवा कहकर अन्य पक्ष को (पक्षान्तर को) बता रहे हैं। तादात्म्यप्रतीति होती है, इसलिये अभेद भी रह सकता है और उपर्युक्त न्याय से भेद भी रह सकता है। अतः प्रमाण के बल पर भेदाऽभेद (भिन्नाऽभिन्नत्व) मानना ही उचित प्रतीत हो रहा है।

ननु विरुद्धौ भेदाऽभेदौ कथमेकत्र स्याताम्? न विरोधः सहदर्शनात्। यदि हि इदं रजतं नेदं रजतम् इतिवत् परस्परोपमर्देन भेदाऽभेदौ प्रतीयेयाताम् ततो विरुद्ध्येयाताम्, न तु तयोः परस्परोपमर्देन प्रतीतिः। इयं गौरिति बुद्धिद्वयमपर्यायेण प्रतिभासमानमेकं वस्तुद्व्यत्मकं व्यवस्थापयति—सामानाधिकरण्यं ह्यभेदमापादयति, अपर्यायत्वं च भेदम्, अतः प्रतीतिबलादविरोधः।

शङ्का—ननु विरुद्धाविति। भेद और अभेद दोनों का परस्पर विरोध रहता है। अतः दोनों एक अधिकरण में कैसे रह सकेंगे?

समाधान—भेद और अभेद—दोनों साथ-साथ दृष्टिगोचर होने से उनमें कोई विरोध नहीं है। जिनका सहदर्शन होता है, उनमें किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं हुआ करता। जातिव्यक्ति का भेद और अभेद दोनों ही एक साथ अर्थात् सहदृष्ट दृष्टिगोचर होते हैं, इसी कारण जाति-व्यक्ति इन दोनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। एवञ्च जाति-व्यक्ति में भिनाऽभिन्नत्व (भेदाऽभेद) मानना उचित ही है। उक्त कथन का ही व्यतिरेक-दृष्टान्त के द्वारा उपपादान कर रहे हैं—**यदि हि इदं रजतमिति**। इदं रजतं, नेदं रजतम्–जैसे कहा जाता है, उसी के समान यदि एक दूसरे का उपमर्द करेगा तो भेदाऽभेद की प्रतीति हो सकेगी और तभी उनको परस्पर विरुद्ध भी कहा जा सकेगा; किन्तु दोनों (जाति और व्यक्ति) की प्रतीति उपमर्द-उपमर्दक भाव से नहीं हो रही है। अतः जाति-व्यक्ति दोनों में भेदाऽभेदत्व (भिन्नाऽभिन्नत्व) कहना उचित ही है; क्योंकि परस्परानुकूल्येन ही उनकी प्रतीति हो रही है। **इयं गौरिति**। इयं गौः अर्थात् इयं बुद्धि और गौः बुद्धि, (इयम् इत्याकारक ज्ञान, और गौः इत्याकारक ज्ञान) एक समय में ही भासमान होने वाला इयम् और गौः यह ज्ञान एक ही वस्तु को दो रूपों से बता रहा है और सामानाधिकरण्य अभेद को बता रहा है तथा अपर्यायत्व तो भेद को बतला ही रहा है। इसलिये प्रतीति (अनुभव) के बल से भी कोई विरोध नहीं है। मूल में जहाँ भेदाऽभेदो आया है वहाँ 'जातिव्यक्त्योः' यह वाक्य जोड़ लेना चाहिये। तयोः परस्परोपमर्देन—यहाँ पर भी तयोः का अर्थ

भेदाऽभेदयो: समझना चाहिये। अर्थात् परस्परानुकूल्य = आपस में अनुकूलता प्रदर्शित करते हुए उनकी (भेदाऽभेद की) प्रतीति होती है। मूलगत इयं गौरिति बुद्धिद्वयमपर्यायेण यहाँ पर प्रयुक्त अपर्यायेण का अर्थ अपर्यायत्वेन अर्थात् भिन्नविषयकत्वेन प्रतिभासमानम् इयं गौ: में इयम् इत्याकारक ज्ञान व्यक्ति को अपना विषय बना रहा है और गौ: इत्याकारक ज्ञान सामान्य को अपना विषय बना रहा है और इयं गौ: यह सामानाधिकरण्य ज्ञान जाति और व्यक्ति के अभेद को बतलाता है। अन्यथा घट पद और पटपद के समान सामानाधिकरण्य नहीं हो सकेगा। इयं बुद्धि और गोबुद्धि (इयं इत्याकारक और गौ इत्याकारक ज्ञान) अपर्यायत्व ज्ञान जाति-व्यक्ति के भेद को बतला रहा है; क्योंकि सर्वथा अभेद मानने पर घट-कलश के समान पर्यायत्व होना सम्भव है। इस प्रतीति से ही जाति-व्यक्ति का अथवा व्यक्ति से जाति का भिन्नाऽभिन्नत्व सिद्ध होता है, इसलिये एकत्र भेदाऽभेद का होना विरुद्ध नहीं है।

अपेक्षाभेदाच्च। तथाहि—गोरूपेण निरूप्यमाणया जात्या व्यक्तिरभेदेन प्रतीयते गौरयं शाबलेय: इति। यदा तु जातिर्व्यक्त्यन्तरात्मना निरूप्यते, तदेयं व्यक्तिस्ततो भिन्नरूपाऽवसीयते—योऽसौ बाहुलेयो गौ:, सोऽयं शाबलेयो न भवति इति।

भेदाऽभेद के विरोधाऽभाव में अन्य कारण (हेत्वन्तर) भी बतला रहे हैं—**अपेक्षाभेदात् इति**। अर्थात् निरूपकभेद = निरूपक भिन्न-भिन्न होने से। यदि एक ही रूप से भेद और अभेद दोनों हों, तो विरोध हो भी सकता है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। यहाँ किसी एक रूप से भेद है और किसी अन्य रूप से अभेद है, इसलिये विरोध नहीं है। जैसे—**यज्ञदत्त** देवदत्त की अपेक्षा ठिंगना (ह्रस्वत्व) रहने पर भी विष्णुदत्त की अपेक्षा दीर्घ = लम्बा (ऊँचा) भी दीखता है, अत: पस्पर विरुद्ध रहने पर भी ह्रस्वत्व- दीर्घत्व दोनों विरुद्ध धर्मों का यज्ञदत्त में जैसे विरोध नहीं है, उसी तरह यहाँ भी समझ लेना चाहिये।

उक्त कथन का उपपादन कर रहे हैं—**तथाहीति**। गोरूपेण = गोव्यक्तिरूपेण निरूप्यमाण जो जाति, उसके साथ उस व्यक्ति अभेद ही प्रतीत होता है, जैसे (अयं गौ: शाबलेय:) यहाँ पर गो पदवाच्य जाति को उद्देश्य करके शाबलेयत्व का विधान करने से यो गौ: स शाबलेय:- इत्याकारक अभेद की ही प्रतीति होती है और व्यक्त्यन्तररूपेण निरूप्यमाण होने वाली जो जाति है, उसके साथ व्यक्ति का भेद ही भासित होता है, जैसे 'योऽसौ शाबलेयो गौ: स बाहुलेयो न भवति' यहाँ पर गोपदवाच्य जाति का शाबलेयव्यक्ति के रूप में निरूपण होने से शाबलेय-बाहुलेय व्यक्तियों का परस्पर भेद प्रतीत हो रहा है, उसी कारण जाति-व्यक्ति का भेद ही भासित होता है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार कह रहे हैं— 'यदा तु जातिर्व्यक्त्यन्तरात्मना निरूप्यते, तदेवं व्यक्ति:, ततो भिन्नरूपाऽवसीयते, योऽसौ बाहुलेयो गौ:, सोऽयं शाबलेयो न भवति' इति।

अर्थात् तत: = व्यक्त्यन्तररूपेण निरूप्यमाणजातित: समझना चाहिये। एवञ्च जाति-

व्यक्ति के भेदाऽभेद को सप्रमाण ही समझना चाहिये। उपर्युक्त अपर्याय और सामानाधिकरण्य—इन दोनों से जाति और व्यक्ति में भेदाऽभेद बतलाया गया है। इसी प्रकार गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया और क्रियावान्—सभी में भेदाऽभेद को जानना चाहिये। नैयायिकों ने इन स्थलों में भेद मानकर समवाय सम्बन्ध को सिद्ध किया है। यह समवाय एक है, उपाधिभेद से नानत्व का प्रयोग किया जाता है। प्रभाकरों के मत में भी जाति-व्यक्ति में भेद है। समवाय सम्बन्ध भी माना गया है, किन्तु समवाय में विशेषता यह है कि वैशेषिक समवाय को नित्य मानते हैं; किन्तु प्राभाकर नित्य में नित्य और अनित्य में अनित्य मानते हैं। उसी तरह प्रतिसम्बन्धी समवाय भिन्न होता है, संयोग की तरह। प्राभाकरों ने कहा है—यच्च पिण्डिभ्यो जातेरभिन्नत्वं उभयरूपत्वं च दूषितं तदस्माकं साहाय्यमेवाऽऽचरितम्। को हि नाम सचेतनः पदार्थान्तरप्रत्यभिज्ञामभेदाश्रये साधयेत्? को वा परस्परविरोधिनी एकस्य द्वे रूपे प्रतिजानीते? भेदवादः पुनरस्माकमपि सम्मत एव। जातिराश्रयतो भिन्ना प्रत्यक्षज्ञानगोचरा। पूर्वाकारावमर्शेन प्रभाकरगुरोर्मता।

एवं धर्मिणो द्रव्यस्य रसादिधर्मान्तररूपेण रूपादिभ्यो भेदो द्रव्यरूपेण चाऽभेदः। तथाऽवयविनः स्वरूपेणाऽवयवैरभेदोऽवयवान्तररूपेण त्ववयवान्तरैर्भेद इत्यूहनीयम्। तत्र यथा दीर्घह्रस्वादीनां विरुद्धस्वभावानामप्यपेक्षाभेदादेकत्राप्यविरुद्धत्वं प्रतीतिबलादङ्गीक्रियते, तथा भेदाऽभेदयोरपि द्रष्टव्यं प्रतीत्यविशेषात्।

एवमिति। इस प्रकार जाति-व्यक्ति के भेद तथा अभेद को बतलाकर अब गुण-गुणी—इन दोनों के भेद-अभेद को भी बतला रहे हैं जहाँ कहीं मधुरमिदं द्रव्यम् = यह मधुर द्रव्य = पदार्थ (वस्तु) है- इस प्रकार द्रव्य का मधुरत्वेन रूपेण (मधुररूप से) निरूपण किया जाता है, वहाँ रूप और रस का परस्पर भेद (भिन्नता) होने से मधुरत्वेन निरूप्यमाण द्रव्य का भी रूप आदि गुणों से भिन्नता (भेद) भासित होती है और जहाँ अभ्यर्हमिदं द्रव्यम् = यह पूजनीय (सम्माननीय) द्रव्य = वस्तु है—इस प्रकार द्रव्यत्वेनैव = द्रव्य के रूप में ही उसका निरूपण किया जाता है, वहाँ पर रूप आदि गुणों से अभेद का भी बोध होता है; क्योंकि किसी गुण के साथ सामानाधिकरण्य नहीं है। इसी प्रकार अवयव–अवयवी के भेदाऽभेद भी बतलाते हैं—**तथेति**। जैसे वन कहने पर वनरूपी अवयवी के स्वरूप से अपने सभी अवयवों के साथ ही आम्रकदम्बप्लक्ष आदि के साथ अभेद (अभिन्नता) भासित होता है; क्योंकि अवयवी–अवयवसमूहरूप होता है। अवयवों का परस्पर भेद रहने से अवयवान्तर के रूप में निरूपण करने पर तो उसके भिन्न अवयवों के साथ अवयवी का भेद भासित होता है। जैसे आम्रवणम् कहने पर वनरूप अवयवी का आम्ररूपेण निरूपण किया गया है, उसी कारण प्लक्ष आदि वृक्षों से भिन्नता (भेद) की ही प्रतीति होती है; क्योंकि दोनों के धर्म विरुद्ध रहने पर भी एकत्र उनकी प्रतीति होने में अपेक्षाभेद के कारण विरोध नहीं है। विरोधाऽभाव का उदाहरण—

तत्र यथा इति। जैसे ह्रस्वत्व– दीर्घत्व का परस्पर विरोध रहने पर भी अपेक्षाभेदात् एकत्र प्रतीति होती है, तथा भेदाऽभेद की भी अपेक्षा-भेदात् एकत्र प्रतीति भी होती है; अत: कोई विरोध नहीं है; क्योंकि प्रतीति समानरूप से होती है।

(प्राभाकरमतेन भेदाऽभेदसामानाधिकरण्ये आक्षेपः)

कश्चित् पुनराह—प्रतीतिरेव भेदाऽभेदाऽवभासिनी न सम्भवति, विलक्षणरूपा प्रतीतिर्हि भेदाऽवभासः, अविलक्षणस्वरूपा प्रतीतिश्चाऽभेदावभासः, तद् येन भेदप्रतिभाससमये जातिरूपं व्यक्तिरूपं च प्रतीतं, तेनाऽभेदप्रतीतिवेलायां तयोरन्यतरत् प्रत्येतव्यम्, तत्रैकस्य द्विरवभासोऽयं भवेत्, न पुनरितरेणाऽभेदः प्रतीतो भवति, तस्मान्नाऽस्ति भेदाऽभेदयोरेकत्र प्रतीतिः।

भेदाऽभेद का एकत्र विरोधप्रतिपादक पूर्वपक्ष प्राभाकरमतानुसार प्रदर्शित कर रहे हैं। कतिपय प्राभाकर मीमांसकों का कहना है कि भेदाऽभेदग्राहक प्रतीति होती ही नहीं; क्योंकि भेद का ज्ञान कराने वाली विलक्षणरूप प्रतीति ही हुआ करती है। अविलक्षणरूप प्रतीति तो अभेद का ज्ञान कराती है। अर्थात् यदि भेदाऽभेद की प्रतीति एकत्र होती हो तो विरोध होने का प्रसंग ही नहीं होगा, किन्तु ऐसा तो होता नहीं है। भेद प्रतीति और अभेद प्रतीति का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है—विलक्षणरूपा प्रतीतिर्हि भेदाऽवभासः। ग्रन्थकार अपने अभिप्राय को प्रकट कर रहे हैं—तद् येन पुरुषेण भेदप्रतिभाससमये-जातिरूपं व्यक्तिरूपं च प्रतीतं, तेनाऽभेदप्रतीतिवेलायां तयोरन्तरत् प्रत्येतव्यम्, तत्रैकस्य द्विरवभासोऽयं भवेत्, न पुनः इतरेण अभेदः प्रतीतो भवति, तस्मान्नास्ति भेदाऽभेदयोरेकत्र प्रतीतिः। अर्थात् जिस पुरुष ने भेदप्रतिभास के समय जाति और व्यक्ति को भिन्न-भिन्न रूप से जाना, उस पुरुष को अभेद प्रतिभास के समय, उन जाति–व्यक्ति में से किसी एक का अर्थात् जाति का ही अथवा व्यक्ति का ही ज्ञान होना चाहिये; क्योंकि वही जानने योग्य है; क्योंकि जाति-व्यक्ति इन दोनों का ही अभेदावभास होने के समय प्रतीति होती है—यह यदि कहा जाय तो इस अवभास को एक का ही द्विरवभास कहना होगा; क्योंकि जाति का अवभास होने पर भी वही वस्तु प्रतीत होती है और व्यक्ति का अवभास होने पर भी उसी वस्तु की प्रतीति होती है; क्योंकि जाति और व्यक्ति का अभेद है, किन्तु दोनों की एकरूप से प्रतीति नहीं होती, जिससे द्विरवभास नहीं हो सके। जाति और व्यक्ति दोनों की ही अभेदावभास होने के समय में भी प्रतीति होती है। इसलिये द्विरवभास होता है—यह कहना भी उचित नहीं है। अत: अभेद की सम्भावना नहीं की जा सकती। अभिप्राय यह है कि अन्य व्यक्ति से अभेद की प्रतीति नहीं होती। इसलिये मानना होगा कि भेद और अभेद दोनों की एक अधिकरण में प्रतीति नहीं होती। एवञ्च इतरेण = जातिरूप से व्यक्तिरूप का अथवा व्यक्ति रूप से जातिरूप का अभेद प्रतीत ही नहीं होता।

तस्मात् नास्ति भेदाऽभेदयोरेकत्र प्रतीतिः; क्योंकि भेदाऽभेद की प्रतीति एकत्र होना सम्भव ही नहीं है, इसी कारण जाति और व्यक्ति का सर्वथा भेद ही समझना चाहिये, न अभेदोऽपि अर्थात् जाति और व्यक्ति का अभेद कभी भी नहीं होता यही सिद्धान्त है। अपि च जननात् जातिः = जाति तो जन्म के साथ ही होती है, वह नित्य रहती है, कभी परिवर्त्तित नहीं होती।

इसके सम्बन्ध में अन्यत्र भी उल्लेख उपलब्ध होता है—अभिन्नाकारबुद्धिबोध्यं हि वस्त्वभिन्नमिति लोकिकाः, विलक्षणाकारबोधविषयश्च भिन्नम्, तत्र यदि विलक्षणाकारप्रतीतिसमये द्वे वस्तुनी विलक्षणेन आकारेण अवभासः, तदा अभेदप्रतीतिदशायामेक आकारोऽनुभवनीयः, सजातिभागस्य पिण्डभागस्य वा, तत्रैकस्य द्विरवभासोऽयं स्यात्, न तु जाति-जातिमतोरभेदावभासः इति।

प्राभाकरैरपि उक्तम्—यच्च पिण्डेभ्यो जातेरभिन्नत्वमुभयरूपत्वं च दूषितं, तदस्माकं साहाय्यकमेवाचरितम्, को हि नाम सचेतनः पदार्थान्तरप्रत्यभिज्ञामभेदाश्रयेण साधयेत्? को वा परस्परविरोधिनी एकस्य द्वे रूपे प्रतिजानीते? भेदवादः पुनरस्माकमपि सम्मत एव।

जातिराश्रयतो भिन्ना प्रत्यक्षज्ञानगोचरः। पूर्वाकाराऽवमर्शेन प्रभाकरगुरोर्मता।।

न च तत्र इहप्रत्ययाऽऽपत्तिर्दोषः? प्रतीत्य हि आधारमाधेयं च सम्बन्धं च प्रतीयात्, सर्वं च रूपं रूपिग्रहणमन्तरेण न प्रतीयते, अतो न (नः) समानेन्द्रियग्राह्यतया जातिरपि, व्यक्तिप्रत्ययाऽनुप्रवेशिनीति नेहप्रत्ययसम्भवः। जातिव्यक्त्योरन्यतरस्मिन्– प्रत्येतव्ये या द्वयेः प्रतीतिः, सा तयोरभेदात् द्विरवभासः एव स्यात्, अभेदस्तु न प्रतीतः स्यात् इति वा भावः।

तादिदमसारम्। न हि वस्तुद्वयप्रतीतिरेव भेदप्रतीतिः, तद्भावेऽप्यभावात्। प्रथमं व्यक्तिदर्शनेऽपि ह्यस्ति जातिव्यक्त्योर्द्वयोः प्रतीतिर्न च तदा तयोर्भेदः प्रतीयते। व्यक्त्यन्तरदर्शनेन तु जातेरन्वयात् पूर्वव्यक्तेश्च व्यतिरेकादन्वयव्यतिरेकाभ्यां जातिव्यक्त्योर्भेदोऽवधार्यत इति भवतोऽपि सिद्धान्तः। तथा देवदत्तमुपलभ्य काला-न्तरे तत्सदृशं यज्ञदत्तं दूरात् पश्यन्, पूर्वोपलब्धं च देवदत्तं स्मरन् वस्तुतस्तद्विलक्षणमेव पुरुषद्वयं प्रत्येति, तथापि न भेदमवधारयति। संशेते हि—किं स एवाऽयं देवदत्तः, किं वाऽन्यः इति। तस्माद् वस्तुद्वयप्रतीतिरेव भेदप्रतीतिरित्ययुक्तम्।

तदिदमसारमिति। उपर्युक्त प्राभाकर मत निःसार (सारहीन) है। **न हि वस्तुद्वयप्रतीतिरेव भेदप्रतीतिरिति।** दो वस्तुओं की ही भेदप्रतीति नहीं हुआ करती, अपितु दो वस्तुओं के रहने पर भी भेदप्रतीति नहीं हो पाती। अर्थात् तद्भावेऽप्यभावात्। यदि वस्तुद्वयप्रतीतिमात्र से ही भेदप्रतीति होती तो जातिव्यक्तिरूप वस्तुद्वय की प्रतीति से उन

दो में भेदप्रतीति हो जाती, किन्तु ऐसा होता नहीं है। जैसे दूर से वृक्षद्वय की प्रतीति होने पर भी वस्तुतः उनमें भेद नहीं रहता है, उसी तरह यहाँ भी समझना चहिये। उपर्युक्त कथन का ही उपपादन कर रहे हैं—**प्रथममिति**। प्रथमतः व्यक्ति के देखने पर भी जाति और व्यक्ति—दोनों की प्रतीति होती है। पूर्व व्यक्ति का व्यतिरेक होता है, अर्थात् व्यावृत्ति होती है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से भेद का निश्चय होता है। यह सिद्धान्त तो आपका भी है। इसी प्रकार देवदत्त को देखकर कालान्तर में उसके समान यज्ञदत्त को दूर से देखकर और पूर्वज्ञात देवदत्त को याद कर (स्मरणकर) वस्तुतः उससे विलक्षण (भिन्न) ही दो पुरुषों को जानता है, फिर भी भेदनिश्चय नहीं कर पा रहा है, किन्तु मन में संशय (सन्देह) ही बना रहता है। सन्देह का आकार यह होगा—किं स एवाऽयं देवदत्तः किं वा अन्यः? इसलिये यही कहना होगा कि वस्तुद्वयप्रतीति को ही भेद प्रतीति कहना ठीक (उचित) नहीं है।

तथा तमेव देवदत्तं कालान्तरे दूरात् पश्यन्नपि किं स एवाऽयमुताऽन्यः इति सन्दिहानो वस्तुगत्यैकमेव प्रतियन्नपि नाऽभेदमवधारयितुमलं भवति, तस्मान्न वस्तुद्वयप्रतीतिरेव भेदप्रतीतिः। नाऽपि एकवस्तुप्रतीति-रेव अभेदप्रतीतिः, किन्तु अन्योऽयमितिबुद्धिर्भेदावभासः, अनन्यो-ऽयमिति चाऽभेदाऽवभासः। अस्ति च शाबलेयबाहुलेयावुपलभ-मानस्य अयं गौरयमपि गौः इत्यभेदावभासः। अन्यः शाबलेयाद् बाहुलेयः इति च भेदाऽवभासः। तस्मादुपपन्नं भिन्नाऽभिन्नत्वम्।

वस्तुद्वयप्रतीतिसत्त्वे भेदप्रतीतिसत्त्वम्—इत्याकारक अन्वयव्याप्ति में व्यभिचार दिखा-कर वस्तुद्वयप्रतीति का अभाव रहने पर अभेदप्रतीति ही होती है, इस व्यतिरेक का व्यभिचार प्रदर्शित किया गया है—**तथा तमेव देवदत्तं कालान्तरे इति**। वस्तुतः एक ही व्यक्ति को देखते हुए भी किं स एवाऽयमुत अन्यः—इस प्रकार संशय (सन्देह) करता है, अभेद का निश्चय नहीं कर पा रहा है। एवञ्च वस्तुद्वय की प्रतीति नहीं होने पर भी भेदप्रतीति नहीं हो पा रही है अर्थात् अभेदप्रतीति नहीं हो पा रही है। अतः वस्तुद्वयप्रतीति-रेव न भेदप्रतीतिः तथैव न एकवस्तुप्रतीतिरेव अभेदप्रतीतिः, किन्तु अन्योऽयम्– इति बुद्धिः, भेदाऽवभासः और अनन्योऽयमिति बुद्धिः अभेदाऽवभासः। अन्यः शाबलेयाद् बाहुलेयः इति च भेदाऽवभासः। तस्मादुपपन्नं भिन्नाऽभिन्नत्वम्।

शङ्का—दो वस्तुओं (पदार्थों) के ज्ञान (प्रतीति) को यदि भेदप्रतीति नहीं मानते हो, तो भले ही नहीं मानो, किन्तु एक वस्तुप्रतीति को ही अभेदप्रतीति यदि कहते हो, तो जातिरूप और व्यक्तिरूप की प्रतीति में एक वस्तुप्रतीति के नहीं होने से अभेदप्रतीति का होना सम्भव नहीं है। अतः जाति और व्यक्ति में भेद ही कहा जायेगा, न कि भेदाऽभेद। अतएव ग्रन्थकार ने स्पष्ट कह दिया कि नाऽप्येकवस्तुप्रतीतिरेव अभेदप्रतीतिः; किन्तु इस नियम का व्यभिचार तथा तमेव देवदत्तम् इस पूर्वोक्त वाक्य से प्रदर्शित कर दिया गया

है; क्योंकि एक वस्तु की प्रतीति होने पर भी अभेद प्रतीति नहीं हो पाती है।

इस पर सिद्धान्ती अपना अभिप्राय प्रकट कर रहा है—**किंत्वन्योऽयमिति**। अयं गौः श्रुत होने पर शाबलेयादि सभी में गोत्वेन रूपेण अभेदावभास होता है और अन्यः शाबलेयाद्बाहुलेयः **यह** भेदावभास होता **है**। तस्मात् इसलिये जाति और व्यक्ति में भिन्नाऽभिन्नत्व मानना उचित ही है। वार्त्तिककार भट्टपाद भी कहते हैं—

सर्ववस्तुषु बुद्धिश्च व्यावृत्त्यनुगमात्मिका ।
जायते द्व्यात्मकत्वेन विना सा च न सिध्यति ॥
अन्योऽन्यापेक्षिता नित्यं स्यात्सामान्यविशेषयोः ।
विशेषाणाञ्च सामान्यं ते च तस्य भवन्ति हि ॥
निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् ।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि ॥
भिन्ना विशेषशक्तिभ्यः सर्वत्राऽनुगताऽपि च ।
प्रत्येकं समवेता च तस्माज्जातिरपीष्यताम् ॥
तेनाऽऽत्मधर्मो भेदानामेकधीविषयोऽस्ति नः ।
सामान्यमाकृतिर्जातिः शक्तिर्वा सोऽभिधीयताम् ॥
तस्मादेकस्य भिन्नेषु या वृत्तिस्तन्निबन्धनः ।
सामान्यशब्दः सत्तादावेकधीकरणेन वा ॥
पिण्डेष्वेव च सामान्यं नान्तरा गृह्यते यतः ।
न ह्याकाशवदिच्छन्ति सामान्यं नाम किञ्चन ॥
यदा सर्वगतत्वेऽपि व्यक्तिः शक्त्यनुरोधतः ।
शक्तिः कार्यानुमेया हि व्यक्तिदर्शनहेतुका ॥

व्यक्ति = प्राकट्यजातेः शक्त्यनुरोधतो व्यक्ताविव नाऽन्तरालेषु ।

नन्वनुवृत्ता नित्याऽनुत्पत्तिविनाशधर्मा च जातिः, विपरीतस्वभावा च व्यक्तिः, कथं तयोरैक्यम्? न ह्येकमेव वस्तु अनुवृत्तं व्यावृत्तं, नित्यमनित्यमुत्पत्ति विनाशधर्मकमतद्धर्मकं च सम्भवति, त्रैलोक्यसङ्करप्रसंगात्, जातिरप्येवमनित्यत्वादिधर्मा स्यात्, व्यक्तिरपि नित्यत्वादिधर्मा। नैष दोषः; नानाकारं हि तद्वस्तु, केनचिदाकारेण नित्यत्वादिकं, केनचिच्चाऽनित्यत्वादिकं बिभ्रन्न विरोत्स्यते। जातिरपि व्यक्तिरूपेणाऽनित्या, व्यक्तिरपि जात्यात्मना नित्येति नाऽत्र काचिदनिष्टापत्तिः।

जिज्ञासा—जाति और व्यक्ति का भेदाऽभेद स्वीकार करने पर मन में जिज्ञासा उपस्थित होती है कि जाति नित्य है, अनुगत है, उत्पत्ति-विनाश रहित है और व्यक्ति का स्वभाव जाति के विपरीत है। निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति व्यावृत्त (भिन्न) है; अनित्य

है और उत्पत्ति-विनाशशाली है, अत: इन दोनों की एकता कैसे होगी?

समाधान—एक ही वस्तु का अनुवृत्त होना तथा व्यावृत्त होना परस्पर विरुद्ध है। अत: विरोध है। इसी प्रकार नित्य एवं अनित्य होना, उत्पत्ति विनाशवान् होना और उत्पत्ति–विनाशरूप धर्म से रहित होना—यह सम्भव नहीं है। अन्यथा त्रैलोक्य का सांकर्य होने का प्रसंग प्राप्त होगा। यदि भेदाऽभेद को स्वीकार करें तब भी दोष है, जाति में अनित्यता आदि धर्मों का प्रसंग प्राप्त होगा। व्यक्ति में भी नित्यता होने लगेगी।

समाधान—नैष दोषः इति। उपर्युक्त कथन दोषावह नहीं है, कोई भी वस्तु अनेक आकारवाली होती है। अत: वह किसी आकार से नित्यता आदि धर्म को और किसी आकार से अनित्यता आदि धर्म को ग्रहण करेगी। निष्कर्ष यह है कि जाति-व्यक्ति का भेदाऽभेद मानने पर यह आशंका उपस्थित होती है कि जाति-नित्य है, अनुगत है, उत्पत्ति-विनाशरूप धर्म से रहित है, किन्तु व्यक्ति इसके विपरीत स्वभाववाला है, अर्थात् व्यक्ति– व्यावृत्त (भिन्न), अनित्य और उत्पत्ति-विनाश धर्मवान् है। तब इन दोनों का ऐक्य कैसे होगा?

उक्त आशङ्का का समाधान यह है कि एक ही वस्तु अनुवृत्त भी हो और व्यावृत्त भी हो—यह विरोध है। ऐसे ही नित्य और अनित्य भी हो, उत्पत्ति-विनाशवान् भी हो और उत्पत्ति-विनाशधर्म से रहित भी हो—यह होना असम्भव है, अन्यथा त्रैलोक्यसांकर्य प्रसंग प्राप्त होगा।

शङ्का—भेदाऽभेद पक्ष में और भी दोष है। जाति में अनित्यता आदि धर्म का प्रसंग होने लगेगा। व्यक्ति में भी नित्यता आदि धर्म प्राप्त होने लगेंगे।

समाधान—यह दोष नहीं है; क्योंकि वस्तु नाना आकारवाली है। किसी आकार से नित्यता आदि धर्म को और किसी आकार से अनित्यता आदि धर्म को धारण करेगी, तब कौन-सा विरोध है? अर्थात् जाति को लेकर नित्यत्वादि सिद्ध होंगे। व्यक्ति को लेकर अनित्यत्वादी उपपन्न होंगे; क्योंकि जात्यात्मना व्यक्ति नित्य है और व्यक्त्यात्मना वह अनित्य है। जाति भी व्यक्ति के रूप से अनित्य है और व्यक्ति भी जात्यात्मना नित्य है। इनमें कोई अनिष्टापत्ति नहीं है।

(जातेः सर्वगतत्वाद्याक्षेपः)

यत्तु सर्वगता व्यक्तिगता वा जातिरिति विकल्पितम्, तदपि व्यक्त्यात्मत्वाऽभिधानादेव परिहृतम्। व्यक्तेर्ह्यसावात्मा कथमन्यत्र स्यात्? नन्वेवं व्यक्तिदेशे व्यक्त्युत्पत्तेः प्रागविद्यमाना जातिः कथं तत्र पश्चाद् भवति? स्वकारणान्निष्पद्यमाना व्यक्तिर्जातिविशेषात्मना सम्बद्धैवोत्पद्यत इति न दोषः।

तत्राऽविद्यमाना जातिः कथं व्यक्त्या सम्बध्यते? न ह्यसौ तदानीमेवो-

त्पद्यते, नित्यत्वात्। न चान्यत आगच्छति, अमूर्तत्वात्। उच्यते—योऽपि देशान्तरादागत्याऽनेन देशेन संयुज्यते, सोऽपि प्रागस्मिन् देशेऽविद्यमाना एव कथमनेन देशेन संयोगमनुभवति? कारणवशादिति वक्तव्यम्, एवं जातिरपि कारणवशादेव व्यक्तिसम्बन्धमनुभवति। इयाँस्तु विशेषः—संयुज्यमानः पूर्वत्राऽवस्थितः अनन्तरदेशेन प्रथमं संयुज्यते, ततस्तदनन्तरदेशेनेति क्रमेण देशान्तरसंयोगं गच्छति। तादात्म्य-समवाययोस्त्वनन्तरदेशमनपेक्ष्यैव स्वकारणतो निष्पत्तिः। न हि यः संयोगस्य स्वभावः, स एव तादात्म्यस्य समवायस्य वाऽङ्गीकर्तव्यः, प्रमाणाऽभावात्। विलक्षणस्वभावत्वाद्भावानाम्। तस्माददोषः।

पूर्वपक्ष में जाति सर्वगत है अथवा व्यक्तिगत है—ऐसा विकल्प करके दोष प्रदर्शित किया गया है। जाति के सम्बन्ध में ज्ञातव्य यह है कि जाति का विचार करते समय दो पक्ष सामने आते हैं। वैशेषिक विद्वान् जाति को सर्वगत मानते हैं और कुछ लोग व्यक्तिमात्रगत कहते हैं। प्रथम पक्ष में जाति के सर्वगत होने पर भी शक्ति के अनुसार व्यक्ति के दर्शन से ही जाति का ज्ञान हो जाता है। आकाशादि की तरह जाति स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, वह पिण्डस्वरूप ही है। उक्त दोनों पक्षों का समर्थन क्रमशः वार्त्तिककार ने किया है—

पिण्डेष्वेव च सामान्यं नान्तरा गृह्यते यतः ।
न ह्याकाशवदिच्छन्ति सामान्यं नाम किञ्चन ।।
यद्वा सर्वगतत्वेऽपि व्यक्तिः शक्त्यनुरोधतः ।
शक्तिः कार्यानुमेया हि व्यक्तिदर्शनहेतुका ।।
(श्लोकवार्त्तिक, आकृतिवाद, कारिका–२५-२६)

कस्मात् सास्नादिमत्त्वेन गोत्वं यस्मात् तदात्मकम् ।
तादात्म्यमस्य कस्माच्चेत् स्वभावादिति गम्यताम् ।।
(श्लोकवार्त्तिक, आकृतिवाद, कारिका–४७)।

जाति को व्यक्ति की आत्मा माना जाता है। अतः वह दूसरी जगह कैसे रह सकती है?

शङ्का—व्यक्ति की उत्पत्ति होने से पूर्व अविद्यमान जाति वहाँ बाद में कहाँ से कैसे आती है?

समाधान—व्यक्ति अपने कारणों से उत्पन्न होती है और वह जातिविशेष से सम्बद्ध होकर ही उत्पन्न होती है, इसलिये कोई दोष नहीं है।

शङ्का—तत्र अविद्यमाना जातिरिति। उस देश मे अविद्यमान जाति का व्यक्ति से कैसे सम्बन्ध होता है? यदि कोई कहे कि उसी समय वह जाति वहाँ उत्पन्न होती है, किन्तु यह कह नहीं सकते; क्योंकि वह (जाति) नित्य है। यदि यह कहें कि वह किसी

दूसरी जगह से आती है, यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि वह (जाति) अमूर्त है।

उच्यते—योऽपीति। जो कोई भी दूसरे स्थान से आकार इस स्थान से अपना सम्बन्ध जोड़ता है, वह भी पहिले इस स्थान में विद्यमान नहीं था, बाद में किसी कारण-वश आकार इस स्थान से वह अपना सम्बन्ध जोड़ता है। इसी प्रकार जाति भी किसी कारणवश ही व्यक्ति से अपना सम्बन्ध जोड़ती है। जाति और व्यक्ति दोनों में अन्तर यही है कि जो सम्बद्ध (संयुक्त) होता है, वह पूर्वदेश में रहकर प्रथमत: अव्यवहित उत्तरदेश (अनन्तर देश) से संयुक्त होता है, तत्पश्चात् अपने अनन्तर देश से संयुक्त होता है। इस प्रकार मनुष्य देशान्तर से सम्बद्ध होता है, अर्थात् संयोग को प्राप्त करता है। तादात्म्य और समवाय—इन दोनों की निष्पत्ति अपने अनन्तर देश की अपेक्षा किये विना ही, अपने कारणों से होती है। इसी का व्यतिरेकमुखेन समर्थन ग्रन्थकार कर रहे हैं। जो संयोग का स्वभाव है, वही तादात्म्य या समवाय का है, इसे प्रमाणाऽभाव के कारण नहीं मान सकते; क्योंकि पदार्थों का स्वभाव विलक्षण होता है, इस कारण कोई दोष नहीं है।

यद्वाऽस्तु सर्वगतं सामान्यम्, न च सर्वत्रोपलब्धिप्रसङ्गः, व्यक्तीनामभि-व्यञ्जकत्वात्। सर्वगतमपि सामान्यं व्यक्तेरेवाऽऽत्मा तत्समवेतं वा। संयुक्त-समवायसन्निकर्षेण च सामान्यस्योपलम्भः, तेन च सन्निकर्षो व्यक्तिदेशे एव सम्भवति, नाऽन्यत्रेति न सर्वत्रोपलब्धिः। अभेदेऽपि जातिव्यक्त्योर्भेदस्याऽपि विद्यमानत्वान्नित्यत्वाऽनित्यत्वादिवत् सर्वगत-त्वाऽसर्वगतत्वमपि नाऽनुपपन्नम्।

यत्तु कार्त्स्न्येन वा अवयवशो वा वृत्तिरिति विकल्पितम्, तदप्य-युक्तम्। भेदाऽपेक्षं हि कार्त्स्न्यं, न च सामान्यस्य स्वरूपतः, अवयवतो वा भेदोऽस्ति, एकत्वादनवयवत्वाच्च। निरवयवत्वादेवाऽवयवशोऽपि वृत्तिरसम्भाव्यैव। तस्माद् व्यक्तिषु जातिर्वर्तत इत्येतावदेवाऽत्र वक्तुं शक्यते प्रमाणतोऽवगमात्, न कार्त्स्न्यभागविभागः प्रमाणाऽभावाद-सम्भवाच्च।

ग्रन्थकार यद्वा कहकर 'जाति सर्वगत (सर्वव्यापक) है' इस पक्ष को बता रहे हैं। गोत्व को अव्यापक मानने पर समस्त गोव्यक्तियों में उसकी सत्ता स्वीकार करना होगा, तब अनेकत्व होगा– इस दोष का प्रसंग प्राप्त होने के कारण 'सर्वगता जातिः' इस पक्ष को बतलाया गया है।

शङ्का—सामान्य (जाति) को सर्वगत मानने पर व्यक्ति से भिन्न स्थल में भी उसकी उपलब्धि होने का प्रसंग आवेगा।

समाधान—न च सर्वत्र उपलब्धिप्रसङ्गः व्यक्तीनाम् अभिव्यञ्जकत्वात्। जैसे आत्मा सर्वव्यापक रहने पर भी उसके विभुत्व (व्यापकत्व) पक्ष में शरीर में ही उसकी उपलब्धि

होती है, अन्यत्र नहीं। उसी तरह सामान्य (जाति) के सर्वगत रहने पर भी व्यक्ति में ही उसकी उपलब्धि होती है। अन्यत्र नहीं; क्योंकि सामान्य (जाति) की अभिव्यञ्जक व्यक्ति ही होती है।

अब तादात्म्य पक्ष की दृष्टि से बता रहे हैं—**व्यक्तेरेव आत्मा इति**। और समवाय पक्ष की दृष्टि से 'तत्समवेतं वा' कहा है अर्थात् व्यक्तिसमवेत सामान्य (जाति) है।

संयुक्तसमवायसन्निकर्षेण च सामान्यस्य उपलम्भः अर्थात् इन्द्रिय से संयुक्त व्यक्ति होती है और उसमें सामान्य का समवाय होता है, इस रीति से जाति-व्यक्ति का संयुक्त समवाय सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होता है। उस सामान्य के साथ इन्द्रिय का संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष व्यक्तिदेश में ही होता है। जैसे जाति और व्यक्ति दोनों का भेदाऽभेद रहने से नित्यत्व-अनित्यत्व कहा गया है। जातिरूप से व्यक्ति भी नित्य है और व्यक्तिरूप से जाति भी अनित्य है। उसी तरह जातिरूप से व्यक्ति भी सर्वगता (व्यापक) है और व्यक्तिरूप से जाति भी असर्वगत (व्याप्य) है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने कहा है—अभेदेऽपि जातिव्यक्त्योः भेदस्याऽपि विद्यमानत्वान्नित्यत्वाऽनित्यत्वादिवत् सर्वगतत्वाऽसर्वगतत्वमपि न अनुपपन्नम्। **यत्तु कात्स्न्येंनेति**। 'यत्तु कात्स्न्र्येन वा' से अन्य दोष को भी बतला रहे हैं।

शङ्का—पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि व्यक्ति में सामान्य (जाति) सम्पूर्णतया (कात्स्न्र्येन) रहता है अथवा अवयवशः। इस प्रकार वृत्ति = रहने का विकल्प किया था, उसका समाधान किस प्रकार होगा? क्योंकि सामान्य यदि व्यक्ति में सम्पूर्णतया रहता है, तो अन्यत्र व्यक्ति में उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती और अवयवशः उसकी (सामान्य = जाति की) वृत्ति कहें तो सामान्य = जाति में अनित्यत्व-प्राप्ति का प्रसंग होगा; क्योंकि समग्रता = सम्पूर्णता भेदसापेक्ष होती है। सामान्य तो निरवयव = अवयव-शून्य तथा एक माना जाता है। अतः सामान्य का स्वरूपतः अथवा अवयवशः भेद है ही नहीं। उसके अवयवशः रहने की बात तो सोची ही नहीं जा सकती; क्योंकि वह (सामान्य) निरवयव है। **तस्माद् व्यक्तिष्विति**। इसी कारण इतना ही कहा जा सकता है कि व्यक्ति में जाति अधिष्ठित रहती है। अतः उपर्युक्त विकल्प की बात सोचना भी उचित नहीं है; क्योंकि सामान्य (जाति) का अस्तित्व प्रमाणसिद्ध है। अभिप्राय यह है कि सावयव पदार्थ के अवयवों का परस्पर भेद रहता है। अर्ध घट भी लाया जा सकता है तथा कृत्स्न (सम्पूर्ण) घट भी लाया जा सकता है, इसलिये कृत्स्नाऽकृत्स्न का विचार यहाँ तो किया जा सकता है, किन्तु सामान्य का अवयवकृत भेद भी नहीं है; क्योंकि वह अनवयव है तथा अनेक घट स्वरूपतः भिन्न रहते हैं, ऐसी स्थिति में एक घट की सत्ता भी हो सकती है तथा समस्त घटों की सत्ता भी हो सकती है। उसी कारण ऐसे स्थल में तो कृत्स्नाऽकृत्स्नविचार का होना सम्भवनीय है, किन्तु सामान्य का तो स्वरूपतः भेद भी नहीं है। इसलिये कृत्स्नाऽकृत्स्न विचार का प्रश्न ही यहाँ नहीं उठ

पाता। एवञ्च समग्र रूप से जाति रहती है अथवा अवयवशः रहती है—यह नहीं कह सकते; क्योंकि यह कहना असम्भव है तथा यह कहने में कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है।

तथाऽवयविनोऽप्यवयवेषु न कात्स्न्यं सम्भवति, बहुत्वाऽभावात्, तदपेक्षत्वाच्च कृत्स्नत्वव्यवहारस्य। अवयवशो वृत्तिरप्यवयवान्तराऽ-भावादयुक्तैव। किमिदानीमेकरूपैव सामान्यस्य व्यक्तिषु अवयवेषु चाऽवयविनो वृत्तिः? नेत्युच्यते, सामान्यं प्रत्येकं वर्तते, अवयवी तु व्यासज्येत्येवं विशेषः। व्यक्त्यन्तरमनपेक्ष्यैव व्यक्त्यन्तरे वर्तमाना स्वानु-रूपां बुद्धिं जनयन्ती जातिः, प्रत्येकं वर्तते इत्युच्यते, न तु कात्स्न्येंन वृत्तिः। अवयवी तु अवयवान्तराण्यपेक्ष्याऽवयवान्तरे वर्तमानः स्वाकारां बुद्धिं जनयन् व्यासज्य वर्तत इति व्यपदिश्यते। नहि एकस्यामेव व्यक्तौ गोबुद्धिवदेकस्मिन्नेव तन्तौ पटबुद्धिरुत्पद्यते।

उसी प्रकार अनेकता के नहीं रहने के कारण अवयवी का भी अवयवों में सम्पूर्णतया रहना सम्भव नहीं है; क्योंकि कृत्स्नत्व–व्यवहार बहुत्वसापेक्ष होता है। यह जो कहा गया था कि अवयवी की अवयवों में वृत्ति (रहना) अवयवशः हुआ करती है—यह कथन अनुचित है; क्योंकि अवयवान्तर (दूसरे अवयवों) के नहीं होने से।

शङ्का—किमिदानीमिति। अब आप क्या कहना चाह रहे हैं? व्यक्ति में सामान्य की वृत्ति (रहना) और अवयवों में अवयवी की वृत्ति एक समान है—यह कहना चाह रहे हैं।

समाधान—नहीं, सामान्य (जाति) प्रत्येक व्यक्ति में रहता है और अवयवी तो अपने अवयवों में व्यासज्यवृत्ति से रहता है। अनेक व्यक्तियों में रहनेवाले धर्म को व्यासज्यवृत्ति कहते हैं। यही दोनों में अन्तर है। अन्य व्यक्ति की अपेक्षा किये विना अन्याऽन्य व्यक्तियों में रहने वाली जाति स्वानुरूप बुद्धि (ज्ञान) को उत्पन्न करती हुई प्रत्येक में रहती है—ऐसा कहते हैं। सम्पूर्णरूप से वह नहीं रहती, किन्तु अवयवी अन्यान्य अवयवों को लेकर दूसरे अवयवों में रहता हुआ स्वाकार बुद्धि को उत्पन्न करके व्यासज्य रहता है—ऐसा कहा करते हैं। इसी को व्यतिरेकमुख से बता रहे हैं कि एक ही व्यक्ति मे इयं गौः– यह गोबुद्धि होती है, उसी तरह एक तन्तु में यह पट है—ऐसी प्रतीति नहीं होती। अभिप्राय यह है कि अवयव और अवयवी इन दोनों में जाति प्रत्येक में पर्याप्त है। अवयवी तो सभी अवयवों में रहता हुआ व्यासज्यवृत्ति है। प्रमाण से इतना ही जाना जाता है कि अवयवों में अवयवी रहता है। इसमें प्रतीति ही प्रमाण है। निष्कर्ष यह है कि अवयवों में अवयवी के रहने पर भी उसके कात्स्न्याऽकात्स्न्य का विचार करना असम्भव है। कात्स्न्येंन वृत्तिपक्ष के असम्भव को ग्रन्थकार बता रहे हैं—

तथाऽवयविनोऽप्यवयवेषु न कात्स्न्यं सम्भवति, बहुत्वाऽभावात्, तदपेक्षत्वाच्च (बहुत्वा-पेक्षत्वात्) कृत्स्नव्यवहारस्य। यद्यपि घटादि अवयवी पदार्थों का स्वरूपतः भेद रहने से बहुत्व है, तथापि कपालद्वय में स्थित वर्तमान घट में तो बहुत्व है ही नहीं, उसी प्रकार तन्तु आदि समूहविशेष में वर्तमान रहनेवाले पट में भी बहुत्व होता ही नहीं, जिससे कात्स्न्र्येन वृत्तिः कही जाय ।

ब्रह्म में समस्त घट रहते हैं, इसलिये उसमें कात्स्न्र्येन वृत्तिः कही जा सकती है, न कि अपने अवयवों में। यदि एक घट के अवयवों से समस्त घट निष्पन्न होते हों, तो सभी घटों का वृत्तित्व उसके अवयवों में सम्भव हो सकता है, किन्तु यह स्थिति तो है नहीं। समस्त घट व्यक्तियाँ अपने-अपने अवयवों से निष्पन्न होती हैं; क्योंकि स्व-स्व अवयवों में वे घट रहते हैं। तस्मात् अवयवी का कात्स्न्र्य (समग्रता) अवयवों में होना सम्भव नही है।

अवयवशः भी अवयवी की वृत्ति (रहना) का होना सम्भव नहीं है; क्योंकि अवयवी अपने अवयवों में सर्वात्मना (सम्पूर्णतया) रहता है। यदि उस घटव्यक्ति के अवयवों से अन्यत्र भी कोई अवयव होता तो उसकी अवयवशः वृत्ति कही भी जा सकती, लेकिन अवय-वान्तर के नहीं रहने से वैसा कहना नितान्त अनुचित है। अतएव ग्रन्थकार ने कहा है कि अवयवशो वृत्तिरपि अवयवान्तराऽभावात् अयुक्तैव। किमिदानीमेकरूपैव सामान्यस्येति।

प्रश्न—अब आप क्या कहना चाहते हैं? व्यक्ति में सामान्य की वृत्ति और अवयवों में अवयवी की वृत्ति एक समान है?

उत्तर—नहीं, सामान्य (जाति) प्रत्येक व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध से रहता है, किन्तु अवयवी अपने अवयवों में व्यासज्यवृत्ति से रहता है (अनेक व्यक्तियों में रहनेवाले धर्म को व्यासज्यवृत्ति कहते हैं) अन्य व्यक्ति की अपेक्षा किये विना अन्य व्यक्तियों में रहने वाली जाति स्वानुरूप (गौरयम्- घटोऽयम् इत्यादि) बुद्धि को उत्पन्न करती हुई प्रत्येक में रहती है—ऐसा कहा करते हैं। उसकी वृत्ति समग्ररूप से नहीं हुआ करती, किन्तु अवयवी अन्य (दूसरे) अवयवों को लेकर दूसरे अवयवों मे रहकर स्वाकार बुद्धि को उत्पन्न कर व्यासज्य रहता है—ऐसा कहा करते हैं। इसी आशय को व्यतिरेक के द्वारा कह रहे हैं—**न हि एकस्यामेव व्यक्ताविति**। एक ही व्यक्ति में यह गौ है- इस प्रकार जैसे गोबुद्धि होती है, वैसे—एक तन्तु में यह पट है- ऐसी प्रतीति नहीं होती। जैसे अवयवी समस्त अवयवों में मिलकर एकरूप से रहता है, केवल एक अवयव-मात्र में नहीं। इसी कारण वह व्यासज्यवृत्ति कहलाता है। वैसे सामान्य सकल व्यक्तियों में मिलकर एकरूप से रहता है या भासता है, जिससे व्यासज्यवृत्तिता उसमें सम्भव हो सके, किन्तु शाबलेय में भी गोत्व साकल्येन पूर्णतया रहता है, उसी तरह बाहुलेय में भी। इसलिये गोत्व प्रत्येक में एकत्व के समान पर्याप्त रूप से रहता है—यह कहा जाता है।

किसी एक ही व्यक्ति में जाति को कात्स्न्र्येन (सम्पूर्णरूप से) रहती है—कहा जाय तो अन्य व्यक्ति में उसकी (जाति की) उपलब्धि ही नहीं हो पायेगी। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति में सम्पूर्ण रूप से जाति का रहना सम्भव नही है। अवयवी प्रत्येक अवयव में नहीं रहता, जिससे उसे प्रत्येक अवयव में पर्याप्त कहा जाय। अतएव ग्रन्थकार स्वयं कह रहे हैं—**अवयवी तु अवयवान्तराण्यपेक्ष्य अवयवान्तरे वर्तमानः स्वाकारां बुद्धिं जनयन् व्यासज्यवर्तत इति व्यपदिश्यते ।** अर्थात् अवयवी तो अन्यान्य अवयवों को आवश्यक रूप से चाहता हुआ अवयवान्तर में स्वयं विद्यमान रहता हुआ स्वाकार वाली बुद्धि को अर्थात् अपने आकार वाली घटोऽयं, पटोऽयम् = यह घट है, यह पट है- इत्याकार बुद्धि (ज्ञान) को उत्पन्न करता हुआ व्यासज्य होकर रहता है, पर्याप्त होकर नहीं रहता। उक्त कथन में प्रमाण प्रदर्शित कर रहे हैं—न हि एकस्यामेव व्यक्तौ, गोबुद्धिवत् एकस्मिन् एव तन्तौ पटबुद्धिरुत्पद्यते। जैसे एक शाबलेयसंज्ञक गोव्यक्ति में भी शाबलेयो गौः- इत्याकारक गोत्व बुद्धि उत्पन्न होती ही है। इसलिये एक व्यक्तियों में भी सामान्य (जाति) की वृत्ति पर्याप्ति-सम्बन्ध से ही कही जाती है।

इसी तरह एक तन्तु में पटबुद्धि नहीं होती है; किन्तु पटसमवायिकारण के रूप में कहे जानेवाले उन सभी तन्तुओं में पटबुद्धि होती है, इसलिये अवयवों में अवयवी व्यासज्य होकर रहता है, न कि पर्याप्तिसम्बन्ध से रहता है। एक ही व्यक्ति में सम्पूर्णतया जाति (सामान्य) की वृत्ति मानने पर अन्यव्यक्ति में उसकी (जाति की) उपलब्धि नहीं हो सकेगी, किन्तु अवयवी तो प्रत्येक अवयव में नहीं रहता, जिससे वह प्रत्येक अवयव में पर्याप्त कहा जा सके।

(संयोगविचारः)

संयोगस्येदानीं कथं संयोगिषु वृत्तिः? किं जातिवत्? किं वाऽवयविवत्? उभयविलक्षणेति ब्रूमः। स हि संयोग्यन्तरमपेक्ष्य संयोग्यन्तरे वर्तते, नाऽनपेक्ष्येति न जातितुल्यत्वम्। एकत्रैव च स्वानुरूपां जनयति बुद्धिम्—इदमनेन संयुक्तमिदमनेन इति। तेनाऽवयविनाऽपि नातीव तुल्यत्वमित्युभयवैलक्षण्यम्।

प्रसंगपतित होने से जाति और अवयवी दोनों से विलक्षण (भिन्न) संयोग की संयुक्त पदार्थ में वृत्ति का होना सर्वानुभव सिद्ध है। इसी का उपपादन प्रश्नपूर्वक कर रहे हैं—**संयोगस्येदानीं कथं संयोगिषुवृत्तिः?**

प्रश्न—संयोगियों में संयोग की वृत्ति क्या जाति की तरह है अथवा अवयवी की तरह है?

उत्तर—उभयविलक्षणेति ब्रूमः। दोनों से विलक्षण (भिन्न) है। उक्त कथन को ही

स्पष्ट करके बता रहे हैं—**स हि संयोग्यन्तरमपेक्ष्य संयोग्यन्तरे वर्तते, नाऽनपेक्ष्येति न जातितुल्यत्वम्।**

वह संयाग दूसरे संयोगी की अपेक्षा करके ही दूसरे संयोगी में रहता है, वह निरपेक्ष होकर नहीं रह सकता। अत: उसको (संयोग को) जाति के समान नहीं कह सकते। **एकत्रैव च स्वानुरूपामिति।** एक ही स्थान में वह संयोग स्वानुरूपाबुद्धि को उत्पन्न करता है। वह स्वानुरूपा बुद्धि इस प्रकार की है—**इदमनेन संयुक्तम्, इदम् अनेन इति।** वह संयोग दूसरे संयोगी की (संयुक्त की) अपेक्षा करते हुए उसमें (दूसरे संयोगी में) रहता है, निरपेक्ष होकर नहीं। इसलिये उस संयोग को जाति के समान (तुल्य) नहीं कह सकते। इसलिये संयोग को दोनों से विलक्षण ही समझना चाहिये।

अथ संयोगः किमेक एव द्वयेः संयोगिनोः उत प्रतिसंयोगि भिन्नावेव संयोगौ? काश्यपीयास्तावत् संयोगमुभयोर्व्यासक्तमेकं मन्यन्ते। वयन्तु यथा इदमनेन सदृशमिदमनेन इति प्रतियोगिनमपेक्ष्येतरत्रेतरस्यावगम्यमानं सादृश्यं प्रतिधर्मिभिन्नं भवति, तथा संयोगस्य तादृशबुद्धिविषयत्वाद् भेदमेव रोचयामहे। प्रकृतमनुसरामः—तस्मान्न वृत्तिविकल्पादपि जात्यपह्नवः।

प्रश्न—एक ही संयोग दो संयोगियों में (दो संयुक्तों में) है अथवा प्रत्येक संयोगी (प्रत्येक संयुक्त) में भिन्न-भिन्न संयोग है?

उत्तर—वैशेषिक (काश्यपीय) विद्वान् लोग तो संयोग को दोनों में (दो संयोगियों = संयुक्तों में) व्यासक्त (व्यासज्यवृत्ति) और एक मानते हैं।

वयन्त्विति। हम मीमांसक तो इस सन्दर्भ में ऐसा मानते हैं—**इदमनेन सदृशमिदमनेन इति प्रतियोगिनमिति।** जैसे यह इसके सदृश है, यह इसके सदृश है—इस प्रकार प्रतियोगी की अपेक्षा करके एक में दूसरे का सादृश्य ज्ञात होता है, तथापि वह (सादृश्य) प्रत्येक धर्मी में भिन्न है—यह मीमांसकों का कहना है। इसी प्रकार संयोग भी तादृशबुद्धिविषयत्वात् = उसी प्रकार की बुद्धि का विषय होने के कारण उसे (संयोग को) प्रत्येक संयोगी (संयुक्तपदार्थ) से भिन्न मानना ही हमें रुचिकर प्रतीत होता है। प्रसंगप्राप्त विषय को बतलाकर अब पुन: अपने प्रकृत विषय पर आ रहे हैं—वृत्तिविकल्प से जाति का अपह्नव = छिपाना सम्भवनीय नहीं है। विकल्पों का उत्तर नहीं होने पर भी सत्पदार्थ का अपह्नव करने में उसका सामर्थ्य नहीं है।

यत्तु नित्यत्वाज्जातेः स्वविषयज्ञानजननाऽसामर्थ्यान्न ग्राह्यत्वमिति। तदसत्, नित्यानामप्यर्थक्रियासामर्थ्यं क्षणभङ्गनिराकरणे वक्ष्यामः। न च हेतुलक्षणं ग्राह्यत्वम्, ज्ञानजन्यफलभागित्वलक्षणं ही तददिति शून्यवादे वर्णितम्, तस्मादयमप्यदोषः।

परिहार करने के लिये अन्य पूर्वपक्ष कर रहे हैं—**यत्तु नित्यत्वाज्जातेरिति**। पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि जाति के नित्य होने से उसकी विषयता नहीं होती; क्योंकि जो जिस विषय का ज्ञान उत्पन्न कराता है, वही उसका विषय होता है। बौद्धमत के अनुसार स्वविषयक ज्ञानजनकत्व सामर्थ्य ही ग्राह्य और विषय कहलाता है। जाति तो विषय ही नहीं है। उक्त पूर्वपक्ष को सुनकर उत्तरपक्षी कह रहा है—**तदसत् इति**। अर्थात् पूर्वपक्षी का पूर्वपक्ष ही उचित नहीं है; क्योंकि नित्य पदार्थों में भी अर्थक्रिया सामर्थ्य रहता है। इस तथ्य को हम क्षणभङ्गवाद का खण्डन करते समय बतायेंगे।

विषय का जो लक्षण किया है—स्वविषयकज्ञानजनकत्वं विषयत्वम् अर्थात् स्वविषयक ज्ञानजनकत्वरूप ही ग्राह्यत्व है, यह ग्राह्यत्वलक्षण ठीक नहीं है। बौद्धों के शून्यवाद में ज्ञानजन्य फलभागित्व ही विषय और ग्राह्य बतलाया गया है। सामान्य (जाति) भी ज्ञानजन्य फलभागी होने से जाति में भी विषयता का होना सम्भव है। इसलिये यह भी दोष नहीं है।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि जाति तो नित्य है, उसमें स्वविषयक ज्ञानजननसामर्थ्य मानने पर सर्वदैव उसी का ज्ञान होता रहेगा, तब विषयान्तर का ज्ञान होने का प्रसंग ही नहीं आवेगा। इसलिये जाति में स्वविषयक ज्ञानजनकत्व कहना ठीक नहीं है।

उत्तर—तदसत् इति। विभु विशेषगुणानामुत्तरोत्तरगुणनाश्यत्वेन घटादिविषयान्तरज्ञानेन जातिज्ञानविनाशसम्भवात्, घटादिभिरिन्द्रियसम्बन्धेन घटादिज्ञानोत्पत्तेरवश्यम्भावात् इति नोक्तदोषः। नित्यानामपि अर्थक्रियासामर्थ्यम्—कहकर उक्तदोष-परिहार की प्रतिज्ञा की गई है।

यत्तु स्वलक्षणैरेव स्वाऽनुभवद्वारेण गवादिविकल्पोदयसम्भवादप्रामाणिकी जातिकल्पनेति, तदप्यसारम्; न हि जातिर्न दृश्यते, येनैवमुपालम्भः स्यात् उपजायमानं तु ज्ञानं स्वविषयभूतां जातिमुपस्थापयतीति नेदृशानां प्रलापानामवसरः।

यत्तु स्वलक्षणैरेवेति। यच्च विचित्रस्वभावस्वलक्षणदर्शनवशादेव विकल्पवैचित्र्योपपत्तेः—यह जो कहा था, उसके परिहारार्थ सूचित किया जा रहा है—**यत्त्विति**। स्वलक्षणैः पद में करणे तृतीया है। स्वलक्षण का जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है, तदनन्तर ही गवादि विकल्प होता है, उसी कारण गवादिविकल्प में स्वलक्षणानुभव को ही कारण कहा जाता है, जाति को नहीं। उसका परिहार (खण्डन) कर रहे हैं—**तदपि असारम् इति**।

उपर्युक्त ग्रन्थ का वक्रोक्ति से उपपादन कर रहे हैं—**नहीति**। उपजायमानं तु ज्ञानम् में ज्ञानशब्द से गौरयम्– इत्यादि जातिविषयक ज्ञान समझना चाहिये।

यह जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि स्वलक्षणों से ही अपने अनुभव के द्वारा यह गौ

है, इत्यादि विकल्प हो सकते हैं। इसलिये जाति की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है। **तदपि असारम्**। यह उपर्युक्त कथन भी निःसार है। न हि जातिर्न दृश्यते = जाति प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती—ऐसी बात नहीं है, जिस कारण यह उपालम्भ सम्भव हो सके। वास्तविकता तो यह है जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अपने विषयभूत जाति को उपस्थित करता है। इसलिये निरर्थक वचनों के प्रलापार्थ कोई अवसर नहीं है।

कथं चाऽत्यन्तविलक्षणानि स्वलक्षणान्येकरूपं विज्ञानं जनयन्ति? तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः इति स्थितेः। भवतो वा कथं विलक्षणानां विशेषाणामेकरूपसामान्यसम्बन्धकारणत्वमिति चेत्?, स्वहेतुवशादिति ब्रूमः। कानिचित् स्वलक्षणानि स्वकारणादुत्पद्यमाना-न्येकेन केनचित् स्वसामान्येन तादात्म्यं समवायं वा भजन्ते।

सिद्धान्ती पूर्वपक्षी से पूछता है—**कथमिति**। यदि सकल गोव्यक्तियों में एक गोत्वसामान्य नहीं है, तो व्यक्तियों का परस्पर भेद रहने से गौरयं, गौरयम्– इत्याकारक एकरूप ज्ञान कैसे हो पायेगा? गोत्वरूप सामान्य (जाति) को स्वीकार करने पर तो सर्वत्र उसके एकरूप होने से एकरूप ज्ञान का होना सम्भव हो सकता है। लेकिन व्यक्तियों के पस्पर वैलक्षण्य (भेद) में प्रमाण—**तदतद्रूपिणः इति**। तद्रूपः नीलघटः, अतद्रूपः पीतघटः– इत्याकारक पदार्थ तद्रूप और अतद्रूप परस्पर भिन्न हैं। इस प्रकार स्वरूपभेद बतलाया गया है। तद्रूपहेतवः = अर्थात् नीलघटहेतवः और अतद्रूप हेतवः = अर्थात् पीतघटहेतवः। इनमें नीलघट तद्रूपहेतुज है और पीतघट अतद्रूप हेतुज है, इस प्रकार परस्पर भिन्न कारणजन्य होने से भाव (पदार्थ) परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं। अनुमान-प्रयोग इस प्रकार होगा– भावाः परस्परं विलक्षणाः विलक्षणकारणजन्यत्वात्, सम्प्रति-पन्नवत् इति।

कथं च अत्यन्त विलक्षणानीति। आप यह बताइये कि अत्यन्त भिन्न स्वलक्षण (असाधारण आकार) एकरूप विज्ञान को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं? क्योंकि आपका सिद्धान्त है कि तद्रूपी और अतद्रूपी पदार्थ तद्रूपी और अतद्रूपी हेतु से ही उत्पन्न होते हैं—तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः इति स्थितेः।

प्रश्न—आपके मत में विलक्षण विशेषों का एकरूप जो सामान्य उसका जो सम्बन्ध, उसका कारण क्या है?

उत्तर—सामान्य और उसका सम्बन्ध अपने कारण के अधीन होता है। उसी को विशद रूप से बतला रहे हैं। कुछ स्वलक्षण अपने कारण से उत्पन्न होते हैं, वे एक ही सामान्य से तादात्म्य अथवा समवाय को प्राप्त करते हैं।

ननु हेतवो विलक्षणाः कथमेकविधसामर्थ्ययुक्तानि स्वलक्षणानि जनयन्ति? न जनयेयुर्यदि विलक्षणाः स्युः, तेऽपि त्वेकजातीया एव।

प्रश्न—विलक्षण कारण अपनी एक प्रकार की विशेष शक्ति से युक्त हुए स्वलक्षणों को कैसे उत्पन्न करते हैं? यदि उत्पन्न नहीं करते हैं, तब वे विलक्षण कैसे कहलाते हैं? अत: वे भी समानजातीय ही हैं।

नन्वेवं तत्सम्बन्धसिद्ध्यर्थमपरापरजात्यपेक्षायामनवस्था? नैष दोष:; यथा तालबीजमेकजातीयं परिणामपरम्परया तालजातिसम्बद्धां व्यक्तिमुपजनयति, साऽपि तथैव स्वकारणभूतबीजसमानजातीयं बीजान्तरम्। तथैकजातीयाच्छुक्राद् गोजातीयव्यक्तिनिष्पत्ति:, तस्यां च तज्जातीयशुक्रनिष्पत्तिरिति नात्यन्तं तादात्म्यापत्ति:। तस्मादस्त्येकमाकृतिजातिसामान्यशब्दाभिलपनीयं शाबलेयादिष्वनुगतम्।

।। इत्याऽऽकृतिवाद: ।।

शङ्का—नन्वेवं तत्सम्बन्धसिद्ध्यर्थमिति। घटत्व का घट के साथ ही सम्बन्ध होता है, न कि पट के साथ। इस उक्त तथ्य को सिद्ध करने के लिये घटत्व में कोई जात्यन्तररूप विशेष बताना होगा तथा उसका भी घटत्व के साथ ही नियतसम्बन्ध की सिद्धि के लिये उसमें भी जात्यन्तररूप विशेष बताना होगा। इस प्रकार सामान्य (जाति) के स्वीकार करने पर अनवस्था दोष ही स्वीकार करना होगा। निष्कर्ष यह है कि समानजातियों के सम्बन्ध की सिद्धि के लिये उत्तरोत्तर जाति की अपेक्षा करनी होगी, उससे अनवस्था दोष ही होगा।

समाधान—नैष दोष इति। इसके पूर्व कार्य और कारणों का जो वैलक्षण्य बतलाया था—ननु हेतवो विलक्षणा: इति, उसका परिहार करते हुए अनवस्था दोष का परिहार किया जा रहा है—**यथा तालबीजमिति**। जैसे तालबीजों से समान रूपवाले तालव्यक्तियों ही उत्पत्ति होती है, इसलिये उन सभी तालव्यक्तियों का तालत्वेन सम्बन्ध होना उचित ही है। उसी तरह तालव्यक्तियों से तत्समान ही तालबीज उत्पन्न होते हैं। उनका एकसामान्यसम्बद्ध तालव्यक्तिजनकत्व होना उचित ही है। समानजाति के तालबीजों से उत्पन्न तालव्यक्तियाँ हैं, उसी कारण वे व्यक्तियाँ भी समानकारणजन्य होने से तत्समान ही हैं, उसी कारण एक सामान्य (जाति) से सम्बन्ध होना उचित ही है। मूल ग्रन्थ में 'साऽपि तथैव' में 'सा' से तालव्यक्ति समझना चाहिये।

इसी तरह एकजातीय शुक्र से गोजातीय व्यक्ति की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर उस व्यक्ति में जो शुक्र की उत्पत्ति होती है, वह भी तत्समानजातीय शुक्र की ही उत्पत्ति होती है। निष्कर्ष यह है कि गोजातीय शुक्र से ही गोव्यक्तियों की उत्पत्ति होती है। वे गोव्यक्तियाँ भी समानकारणजन्य होने से उनकी परस्पर समानता ही रहती है। एवञ्च उन सभी का समानरूप से एकगोत्व के साथ सम्बन्ध रहना उचित ही है तथा समान व्यक्तियों में उत्पन्न शुक्र का भी गोत्व से सम्बन्ध रहने के कारण समान व्यक्ति जनकत्व होना

उचित ही है। अतः अत्यन्त तादात्म्य की आपत्ति नहीं है। इसी कारण आकृति, जाति, सामान्य आदि शब्दों का वाच्य—साँवली, चितकबरी आदि व्यक्तियों में अनुगत एक-तत्त्व सिद्ध होता है। एवञ्च गोव्यक्तिसमूहगत कारणों की विलक्षणता नहीं है। अतः अविलक्षण कारणजन्य होने से व्यक्तियों में भी उस प्रकार का वैलक्षण्य नहीं है, जो एक गोत्व के सम्बन्ध होने में प्रतिबन्धक हो सके। यह कहने से पूर्वपक्षोक्त कार्य-कारण वैलक्षण्य का परिहार हो जाता है। अब अनवस्थादोष का भी परिहार करते हैं—यथा तालबीजमेकजातीयं परिणामपरम्परया तालजातिसम्बद्धां व्यक्तिमुपजनयति, साऽपि तथैव स्वकारणभूतबीजसमानजातीयं बीजान्तरम्। तथैकजातीयाच्छुक्राद् गोजातीयव्यक्तिनिष्पत्तिः, तस्यां च तज्जातीयशुक्रनिष्पत्तिरिति नात्यन्तं तादात्म्यापत्तिः, तस्मादस्त्येकमाऽऽकृतिजाति-सामान्यशब्दाभिलपनीयं शाबलेयादिष्वनुगतम्।

अर्थात् यदि उत्पन्न हुई गोव्यक्ति में गोत्व का सम्बन्ध होगा, तभी गोव्यक्तिमात्रसम्बन्ध-नियमसिद्ध्यर्थ गोत्व में जात्यन्तर की आवश्यकता भी होगी, परन्तु उक्त प्रकार की स्थिति है नहीं, किन्तु सामान्य से सम्बद्ध होकर ही व्यक्ति उत्पन्न होता है, इसलिये पराऽपरजाति की अपेक्षा ही नहीं है, जिससे अनवस्थादोष की प्राप्ति का प्रसंग उपस्थित हो। शुक्रादि कारणों का तथा तत्कार्यों का स्वरूपतः परस्पर भेद होने से स्वरूप की एकता भी नहीं है, जिससे व्यक्ति की अभिन्नता से भी जाति की सिद्धि नहीं हो सके। इसी अभिप्राय से कहा गया है—**नाऽत्यन्तं तादात्म्याऽऽपत्तिः। तस्मादिति।** अतः आकृति, जाति, सामान्य शब्दों से अभिलपनीय = कही जानेवाली तथा शाबलेया-दिषु = साँवली, चितकबरी आदि व्यक्तियों में अनुस्यूत (अनुवर्तमान) एक आकृतितत्त्व (जातितत्त्व) सिद्ध होता है।

(सादृश्यादीनां सामान्यत्वनिरसनम्)

न च सादृश्यमेव सामान्यम्, तद्बुद्ध्यभावात्। स एवायमिति प्रतीतिर्न तत्सदृशः इति। न च सर्वसामान्याऽपह्नववादिनः सादृश्यमपि सम्भवति, भूयोऽवयवसामान्यात्मकत्वात् तस्य। न चाऽतद्व्यावृत्तिरूपमपि सामा-न्यमनङ्गीकृतविधिरूपसामान्येन शक्यते प्रत्येतुम्, अगोव्यावृत्तिं हि प्रतीयताऽवश्यं प्रथममेव गौः प्रत्येतव्यः न हि अप्रतीते गवि तद्व्यतिरेका-त्मना गवां निरूपणं सम्भवतीति प्रथममवश्यं विधिरूपेण गौः प्रत्येतव्यः। न हि तेभ्यो व्यतिरेकरूपमपहायाश्वादिव्यक्तीनां प्रातिस्विकेन रूपेण ग्रहः सम्भवति। तेषामनन्तानां बुद्धावनारोहात्, अनारूढेषु च तेषु तद्व्या-वृत्तिरूपस्य गोः प्रत्येतुमशक्यत्वात्। गौर्गौरिति च विधिरूपं सामान्य-मवगम्यमानं कथं निवृत्तिरूपं शक्यमङ्गीकर्तुम्? तस्मादिदमतिपेलवं दर्शनम्। तस्मादस्ति जातिः।

।। इत्यपोहवादः ।।

शङ्का—न च सादृश्यमिति। समस्त घटों का जो आकारसादृश्य है, उसी को सामान्य और सादृश्य मान लिया जाय, उसी को माना भी जाता है, इस कारण सामान्य को एक पदार्थान्तर के रूप में स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस पक्ष में समानानां सदृशानां भाव: सामान्यम्—यह व्युत्पत्ति भी अनुकूल प्रतीत हो रही है। इस प्रकार यदि कोई आशङ्का करे तो उस पर उत्तर दे रहे हैं—न च सादृश्यमेव सामान्यम् अर्थात् सादृश्य को ही सामान्य कहना उचित नहीं है; क्योंकि तद्बुद्ध्यभावात्। अर्थात् सादृश्यबुद्ध्यभावात्। सादृश्यबुद्ध्यभाव के स्वरूप को ही बतला रहे हैं—**स एवाऽय-मिति प्रतीतिः, न तत्सदृश इति।** समान्य को स्वीकार नहीं करने पर सादृश्य को भी स्वीकर नहीं किया जा सकेगा; क्योंकि तद्बुद्ध्यभावात् अर्थात् सादृश्यबुद्ध्यभावात् सादृश्यज्ञान के नहीं होने से। स एव अयम् = वही यह है—सादृश्यज्ञानाऽभाव का ही स्वरूप है। यह उसके सदृश है—ऐसा ज्ञान नहीं होता।

न च सर्वसामान्यापह्नववादिनः इति। जो सभी सामान्यों का निषेध करता है, उसके दृष्टिकोण से सादृश्य सम्भव भी कैसे हो सकेगा? क्योंकि भूयोऽवयवसामान्या-त्मकत्वात् = अनेक अवयवों का जो सामान्य है, उसी को तो सादृश्य कहते हैं। एवञ्च भूयोऽवयवसामान्यमेव सादृश्यम्। उसी को इस प्रकार से भी कह सकते हैं—तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयो धर्मवत्त्वम्। भूयोऽवयवसामान्यात्मक ही सादृश्य है। इस सादृश्य में गो और गवय के अवयव भिन्न-भिन्न ही हैं। गाय के परिच्छिन्न अवयवों का गवय में होना सम्भव नहीं है। इसलिये गो और गवय दोनों के अवयवों में तादृश किसी धर्म को स्वीकार करना होगा, जिससे गो और गवय के अवयवों में भिन्नता रहने पर भी सादृश्य की प्रतीति हो सके। वह धर्म सामान्य ही होगा; क्योंकि अनेकवृत्तित्वात्। अर्थात् वह धर्म अनेक में रहता है—यह सभी को अनुभूत है। अत: सर्वमान्य सामान्य का अपलाप करनेवाले के मत में सादृश्य की भी उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

मीमांसा के सिद्धान्तानुसार सामान्य जातिरूप ही है। अर्थात् सामान्य और जाति पर्यायशब्द हैं। एवञ्च सादृश्य को सामान्य नहीं कह सकते। सामान्य और सादृश्य नितान्त भिन्नार्थक शब्द हैं। मीमांसासिद्धान्त के अनुसार जातिरूप सामान्य को सिद्ध किया गया; किन्तु बौद्धविद्वान् सामान्य को जातिरूप नहीं मानकर अपोहरूप मानते हैं। उनके अभिमत अपोहरूप सामान्य का खण्डन 'न च अतद्व्यवृत्तिरूपमपि सामान्यम्' से कर रहे हैं।

शङ्का—यदि मीमांसक विद्वान् सामान्य को सादृश्यरूप भी नहीं मानते तो भले ही नहीं मानें, किन्तु अतद्व्यावृत्तिरूप ही उसे (सामान्य को) मान लें, जैसे तत् पद से गो-व्यक्तियों का ग्रहण करें, उनसे (गोव्यक्तियों से) अश्वादि व्यक्तियों की व्यावृत्ति (भेद = भिन्नता) होना स्पष्ट ही है। तथा च तद्व्यावृत्ति गोभिन्न पदार्थमात्र में (गोभिन्न यच्च यावत् पदार्थों में) है, तद्भेदश्च उसका भेद (अभाव) गोव्यक्तियों में है, उसी कारण गोव्यक्तियों में अतद्व्यावृत्ति है; क्योंकि गवि गोभेदाऽभावात् अर्थात् गाय (गो) में गोभेद = गाय को

भेद नहीं रहता। अत: अतद्व्यावृत्ति को ही सामान्य के रूप में मान लीजिये। वह अतद्व्यावृत्ति सर्वानुगत भी है। अर्थात् अनेकानुगत भी है। इसी प्रकार अश्वव्यक्ति से भिन्न पदार्थमात्र मे अश्वव्यावृत्तिरूप भेद रहता ही है। एवञ्च अश्वव्यक्तियों में अतद्व्यावृत्ति है ही। तथा च—गोभिन्नपदार्थमात्र में तद्व्यावृत्ति रहती है और उसका भेद गोव्यक्तियों में रहता है।

इसलिये गोव्यक्तियों में अतद्व्यावृत्ति है; क्योंकि गवि गोभेदाऽभावात् गाय में गोभेदाऽभाव रहता है। इस कारण अतद्व्यावृत्ति को सामान्य (जाति) के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिये; क्योंकि वह सर्वानुगत है। इसी तरह अश्वव्यक्तिभिन्न पदार्थमात्र में अश्वव्यावृत्ति है और अश्वव्यक्तियों में अतद्व्यावृत्ति है—यह आशङ्का पूर्वपक्षी ने की है।

उक्त पूर्वपक्ष के निरासार्थ शास्त्रदीपिकाकार श्रीपार्थसारथिमिश्र का कहना है— न चाऽतद्व्यावृत्तिरूपमपि सामान्यमनङ्गीकृतविधिरूपसामान्येन शक्यते प्रत्येतुम्, अगोव्यावृत्तिं हि प्रतीयताऽवश्यं प्रथममेव गौ: प्रत्येतव्य:, न हि अप्रतीति गवि तद्व्यतिरेकात्मनाऽगवां निरूपणं सम्भवतीति प्रथममवश्यं विधिरूपेण गौ: प्रत्येतव्य:। अर्थात् जो अतद्व्यावृत्ति को ही सामान्य (जाति) के रूप में मानता है, उसे पहिले विधिरूप सामान्य (जाति) को स्वीकार करना ही होगा। अगोव्यावृत्ति को जो जानता है, उसे पहिले गो (गाय) को जानना ही होगा।

विधिरूपसामान्येनेति। तद्व्यावृत्तेरभाव: एव अतद्व्यावृत्ति: अत: अतद्व्यावृत्तिरूपसामान्य अभावरूप ही है। किन्तु गोत्वादिरूप सामान्य तो विधिरूप है अर्थात् भावरूप है। अत: भावरूप समान्य के विना अतद्व्यावृत्तिरूप सामान्य की सिद्धि होना सम्भव नहीं है; अभावज्ञान प्रतियोगिज्ञानसापेक्ष होने से। गोव्यक्तियों में जो अतद्व्यावृत्ति है, उसके ज्ञान के लिये तद्वृत्तिज्ञान की अपेक्षा होती है और तद्वृत्ति ज्ञान तद्व्यावृत्त अश्वादि व्यक्तियों के ज्ञान के विना सम्भव नहीं है। अश्वादिव्यक्तियों का ज्ञान भी अतद्व्यावृत्ति से ही होता है; क्योंकि प्रातिस्विक (वैयक्तिक) रूप से सकलव्यक्तियों का ज्ञान होना असम्भव है, तत्राऽपि तथा तत्राऽपि तथा—इस प्रकार से कहीं पर भी अतद्व्यावृत्ति ज्ञान का होना सम्भव नहीं है। उसके होने के लिये भावरूप सामान्य को स्वीकार करना ही होगा। भावरूप से प्रतीयमान गोत्वादिसामान्य अतद्व्यावृत्तिरूप से अभावरूप कैसे होगा? उक्त अनुपपत्ति का उपपादन अगोव्यावृत्ति से ही प्रतीयता के द्वारा स्वयं ग्रन्थकार कर रहे हैं। यह जो अतद्व्यावृत्ति है, वह अगोव्यावृत्ति ही है। तां प्रतीयता = प्रमाता = अगोव्यावृत्तिविषयकज्ञानं सम्पादयता पुरुषेण प्रथमं गौरेव अवगन्तव्या, अगोपदेन गोभिन्नमुच्यते, गोभिन्नज्ञानं गोभेदज्ञानं वा गोज्ञानं विना न सम्भवति।

उस अतद्व्यावृत्तिरूप अगोव्यावृत्ति को जाननेवाले व्यक्ति को चाहिये कि वह पहिले गौ को ही जाने। अगो पद से गोभिन्न बतलाया गया है। उस गोभिन्न ज्ञान को अथवा गोभेद ज्ञान का होना गोज्ञान के विना सम्भव नहीं है। इसी आशय को व्यतिरेकमुख से बतला रहे हैं—गौ को नहीं जानने से गोभेदरूप से गोभिन्न का निरूपण करना सम्भव नहीं है।

अर्थात् गोभिन्न ज्ञान अथवा गोभेद ज्ञान गोज्ञान के विना सम्भव नहीं है। अत: पहिले अवश्य ही विधिरूप (भावरूप) से गौ को जानना होगा; क्योंकि उनसे व्यतिरेकरूप को छोड़कर अश्वादि व्यक्तियों का प्रत्येक के रूप में ज्ञान नहीं हो सकता। उनके अनन्त होने के कारण वे बुद्धिगम्य नहीं हो सकते और बुद्धिगम्य नहीं होने से तद्व्यावृत्तिरूप गौ को समझ नहीं सकते। जब यह गौ है, यह गौ है—इत्याकारक विधिरूप सामान्य ज्ञान होता है, तब निवृत्तिरूप सामान्य को नहीं मान सकते। अत: यह दृष्टि अत्यन्त हेय = त्याज्य है। अत: मानना होगा कि जाति का अस्तित्व है।

अगोव्यावृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम्।
गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोऽपोहगिरा स्फुटम्॥
तस्मात् प्रात्यात्मिकै रूपैरगोऽपोहो न युज्यते।
तस्मात् सर्वेषु यद्रूपं प्रत्येकं परिनिष्ठितम्॥
गोबुद्धिस्तन्निमित्ता स्याद् गोत्वादन्यच्च नास्ति तत्॥

इसी कथन को व्यतिरेकमुख से बता रहे हैं। जो व्यक्ति गो (गाय) को जब तक नहीं जानेगा, तबतक गो भेद के रूप में गोभिन्न का निरूपण करना उसके लिये असम्भव है। अभिप्राय यह है कि गोभिन्न का निरूपण करना असम्भव है। अभिप्राय यह है कि गोभिन्न ज्ञान अथवा गोभेद ज्ञान का होना गोज्ञान हुए विना सम्भव नहीं है। इसलिये प्रथमतः = पहिले विधिरूप से = भावरूपेण (भावरूप से) अर्थात् गोत्वेन रूपेण गो का ज्ञान प्राप्त करना ही होगा; क्योंकि उनसे व्यतिरेकरूप को छोड़कर अश्वादि व्यक्तियों का प्रत्येक रूप से ज्ञान होना सम्भव नहीं है; क्योंकि व्यक्तियाँ अनन्त होने के कारण बुद्धिगम्य नहीं हो सकती। बुद्धिगम्य नहीं होने से तद्व्यावृत्तिरूप गौ को नहीं जान सकते। जब यह गौ है, यह गौ है—इत्याकारक विधिरूप सामान्य ज्ञान होता है तब निवृत्तिरूप सामान्य को क्यों माना जाय? अर्थात् नहीं मान सकते। इसलिये यह बौद्धोक्त प्रक्रिया नितरां त्याज्य (हेय) है। इयं गौः, इयं गौः– यह गाय है, यह गाय है—इस प्रकार भावरूप सामान्य के द्वारा कथित प्रतीति का समर्थन हो जाता है। यह समर्थन व्यतिरेक के द्वारा नहीं हो सकता। खण्डनखण्डखाद्य में श्री हर्ष ने कहा भी है—विधिजः प्रत्ययोऽन्योऽयं यो व्यतिरेकाऽसमर्थनः और वार्त्तिककार भट्टपाद ने उक्त कथन का स्पष्टीकरण भी किया है—

यद्रूपं शाबलेयस्य बाहुलेयस्य नास्ति तत्।
अतद्रूपपरावृत्तिर्द्वयोरपि न भिद्यते॥

तद्व्यतिरेकात्मना = गोभेदात्मना। अगवाम् = गोभिन्नानाम्। विधिरूपेण = भावरूपेण (गोत्वेन रूपेण)। एवञ्च जाति के अस्तित्व की सिद्धि अकाट्य है, अर्थात् अखण्डनीय है। अत: जाति है, यह सिद्ध हो जाता है।

॥ इति सामान्यवादः समाप्तः ॥

(अवयविनिरूपणम्)

एतेन अवयवी व्याख्यातः। तस्याऽपि अवयवेभ्यो भेदोऽभेदो वेति विकल्पे भेदं, समवायसम्बन्धमवयवगुणेभ्यश्च तत्र विशेषगुणानामुत्पत्तिमाचक्षते वैशेषिकाः। ये च स्वसमवेतविशेषणविशिष्टाः स्वाश्रयस्यैकजातीयस्य परिच्छेदकास्ते विशेषगुणा इत्याहुः। वयं तु भिन्नाऽभिन्नत्वम्। न हि तन्तुभ्यः शिरःपाण्यादिभ्यो वाऽवयवेभ्यो निष्कृष्टः पटो देवदत्तो वा प्रतीयते, तन्तुपाण्यादयोऽवयवा एव पटाद्यात्मना प्रतीयन्ते। विद्यते च देवदत्ते अस्य हस्तः शिर इत्यादिः कियानपि भेदाऽवभास इत्युपपन्नमुभयात्मकत्वम्। तस्मादवयवानामेवावस्थान्तरमवयवी, न द्रव्यान्तरम्। ते एव हि संयोगविशेषवशादेकद्रव्यतामापद्यन्ते, तदात्मना च महत्त्वं पटजातिं च बिभ्रतः पटबुद्ध्या गृह्यन्ते, तेन पटात्मना तेषामेकत्वम्, अवयवात्मना तु नानात्वमुपपन्नम्।

उक्त न्याय को अवयवी में अतिदेश कर रहे हैं—**एतेन इति**। जैसे जाति-व्यक्ति में भेदाऽभेद है, वैसे ही अवयवाऽवयवी में भी भेदाऽभेद समझना चाहिये। मूलगत तस्य पद का अर्थ अवयवी = अवयवी का। इस सन्दर्भ में वैशेषिकों का मत बतलाते हैं—**भेदं समवायसम्बन्धमिति**। अवयवेभ्योऽवयवीभिन्नोऽवयवेष्वेव समवेतः, तत्र = अवयविनि विशेषगुणानां रूपादिमवयवगुणेभ्यः उत्पत्तिरिति वैशेषिकाः। भेदे वैशेषिकं सूत्रं यथा— कार्यकारणयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावादेकत्वैकपृथक्त्वं न विद्यते इति। समवाय को भी अन्यत्र बतलाया है—

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुण-कर्मणोः।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥ इति।

गुणेभ्यो गुणान्तरोत्पत्तौ वैशेषिकसूत्रं यथा—द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् इति। विशेषगुणलक्षणमाह—ये च स्वसमवेतविशेषणविशिष्टाः स्वाश्रयस्यैकजातीयस्य परिच्छेदकास्ते विशेषगुणा इत्याहुः। अर्थात् स्वाश्रयस्य एकजातीयस्य परिच्छेदका विशेषा ह्यपि भवन्ति, तेषामपि परमाणूनां परस्परं भेदकत्वात् इति तद्व्यवच्छेदाय स्वसमवेतेत्युक्तम्, विशेषेषु च किमपि समवेतं न भवति इति विशेषाद् व्यवच्छेदः। स्वसमवेतविशेषणविशिष्टा इत्येतावन्मात्रोक्तौ द्रव्ये, कर्मणि, सामान्यगुणेषु च अतिव्याप्तिः स्यादिति तद्व्यवच्छेदायोक्तं स्वाश्रयस्येत्यादि, द्रव्यादीनामेकजातीयस्वाश्रयव्यवच्छेदकत्वाभावात्। विशेषगुणानामेव स्वाश्रयव्यवच्छेदकत्वात्। उक्तं च काव्यप्रकाशे—वस्तुधर्मो द्विविधः– सिद्धः साध्यश्च, सिद्धोऽपि द्विविधः—पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च, तत्राऽऽद्यो जातिः, द्वितीयो गुणः, शुक्लादिनाहिलब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते इति। स्वम् = विशेषगुणो रूपादिः, तत्र समवेतं यद्विशेषणं रूपत्वादि तद्विशिष्टास्तथा स्वाश्रयस्य घटः

एकजातीयस्य = समानाकारस्य परिच्छेदकाः = विभेदकाः ये, ते विशेष गुणाः, तथा नीलघटात् पीत घटस्य भेदो, रूपकृत एव, इति रूपं विशेषगुणः एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्। उक्तं च- बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः। अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिका गुणाः।। इति। स्वमतमाह—वयं तु भिन्नाऽभिन्नत्वम् न हि तन्तुभ्यः शिरःपाण्यादिभ्योऽवयवाऽवयवेभ्यो निष्कृष्टः पटो देवदत्तो वा प्रतीयते, तन्तु पाण्यादयोऽवयवा एव पटाद्यात्मना प्रतीयन्ते। विद्यते च देवदत्ते—अस्य हस्तः शिरः इत्यादिः कियानपि भेदाऽवभासः इत्युपपन्नमुभयात्मकत्वम् । तस्मादवयवानामेव अवस्थान्तरमवयवी, न द्रव्यान्तरम्। ते एव हि संयोगविशेषवशादेकद्रव्यतामापद्यन्ते, तदात्मना च महत्त्वं पटजातिं च बिभ्रतः पटबुद्ध्या गृह्यन्ते, तेन पटात्मना तेषामेकत्वम्, अवयवात्मना तु नानात्वमुपपन्नम्।

'एतेन अवयवी व्याख्यातः' कहकर पूर्वोक्त न्याय का अवयवी में अतिदेश किया गया है। उपर्युक्त जातिसाधक युक्तियों के द्वारा अवयवी का निरूपण किया गया। अवयवी का अपने अवयवों से भेद है अथवा नहीं है—इस विकल्प में वैशेषिक विद्वानों का कहना है कि अवयवों से अवयवी भिन्न हैं। इसका परस्पर समवाय सम्बन्ध रहता है और अवयव के गुणों से अवयवी में विशेष गुणों की उत्पत्ति होती है। जो अपने में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाला विशेषण है, उससे विशिष्ट होकर अपने आश्रय और एक जाति वालों का परिच्छेदक हो; किन्तु मीमांसक विद्वानों का कहना है कि अवयव और अवयवी का परस्पर भेदाऽभेद है। इसी तथ्य का विश्लेषण कर रहे हैं—पट अपने अवयवरूप तन्तुओं से भिन्न नहीं होता। अथवा पाणि (हाथ), पाद (पैर) आदि अवयवों से देवदत्त आदि अवयवी पृथक् (भिन्न) नहीं कहलाता। जैसे—सामान्य (जाति) की सिद्धि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में एकत्वबुद्धि होने से होती है, वैसे ही भिन्न-भिन्न अवयवों में यह देवदत्त है, यह घट है—इत्याकारक एक द्रव्य की प्रतीति होती है। उसी कारण अवयवों से पृथक् (भिन्न) अवयवी नहीं है। निष्कर्ष यह है कि देवदत्त में उसका (देवदत्त का) यह हाथ है, यह शिर है, ये नेत्र हैं, ये श्रोत्र हैं—याकारक कुछ भेद का ज्ञान भी होता ही है। इस कारण अवयव और अवयवी का परस्पर भेदाऽभेदरूप उभयात्मकता को मानना सयुक्तिक है। अतः अवयवों की ही एक अवस्थाविशेष अवयवी है। वह (अवयवी) कोई दूसरा (अन्य) द्रव्य नहीं है। वे अवयव ही संयोग विशेष से एक द्रव्य बन जाते हैं। अपने उस द्रव्य के रूप से वे महत्त्व एवं पटत्व, घटत्व जाति को धारण कर पट घटबुद्धि से गृहीत होते हैं। अतः पटरूप से उन अवयवों की एकता है। अवयवरूप से उनका नानात्व भी उपपन्न होता है।

यदपि कारणगुणाः रूपादयः कार्ये गुणमारभन्ते इत्युक्तम्, तदपि गुणद्वयप्रतीत्यभावान्नातीवाऽस्मभ्यं रोचते, यदि हि द्वौ गुणौ प्रतीयेयातां तन्तुष्वेकः पटे चाऽपरस्ततः कार्यकारणभावं प्रतिपद्येयाताम्, न तु गुणद्वयं प्रतीयते, तन्तुरूपमेव शुक्लं तन्तुषु पटभावमापन्नेषु पटरूपतया

प्रतीयते, न तु रूपान्तरम्। यत्राऽपि नानारूपैः शुक्ल-कृष्ण-रक्त-पीतैस्तन्तुभिरारभ्यते पटस्तत्राऽपि त एव वर्णाः पटगताः प्रतीयन्ते, म रूपान्तरम्।

कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते इति। इस वैशेषिक मत का निराकरण कर रहे हैं—**यदपीति**। यह जो वैशेषिक तथा नैयायिकों ने कहा है कि कारणगुण अर्थात् तन्तुगत रूपादि पटरूप कार्य में शुक्ल-नील-पीतादि गुणों को उत्पन्न करते हैं।

उत्तर—गुणद्वय (दो गुणों) की प्रतीति नहीं होने के कारण वह भी (वैशेषिकोक्त कथन भी) भाट्टमीमांसकों को अभिमत (रुचता) नहीं है। यदि दो गुण प्रतीत होते अर्थात् एक गुण तन्तु में और एक गुण पट में, तब इन दोनों का कार्यकारणभाव कहा जा सकता था, किन्तु दो गुणों की प्रतीति तो होती नहीं; क्योंकि तन्तुओं का शुक्लरूप ही तन्तु जब पटभाव में दिखाई देता है। उससे भिन्नरूप नहीं दिखाई देता।

शङ्का—यत्रापीति। जहाँ शुक्ल-कृष्ण-रक्त-पीत रंगवाले तन्तुओं से पट की उत्पत्ति होती है अर्थात् पट बनाया जाता है, वहाँ चित्र पट की प्रतीति होती है अर्थात् अयं चित्रः पटः- इत्याकारक प्रतीति दर्शकों को होती है—ऐसा नैयायिक-वैशेषिकों का कहना है।

(चित्रैकरूपनिराकरणम्)

ननु चित्रः पट इति प्रतीयते न तु शुक्लः पीत इति वा तस्माच्चित्राख्यं रूपान्तरमत्रो-त्पन्नम्। नैवम्, चित्रं नानारूपमित्यर्थः। चित्रशब्दो हि नानापर्यायो लौकिकानां प्रसिद्धः। ततश्चित्राख्यमेकमेव रूपं लोक-विरोधादेवाऽयुक्तमङ्गीकर्तुम्। नानारूपाणामपि चावयवभेदद्वारेणैक-स्मिन्नपि पटे समवायो नानुपपन्नः।

समाधान—नैयायिकों का उक्त कथन उचित नहीं प्रतीत हो रहा है; क्योंकि तन्तु-रूप ही पट में दिखाई देता है। कोई रूपान्तर (भिन्नरूप) नहीं दिखाई देता, इसी कारण मीमांसक विद्वान् चित्ररूप को पृथक् नहीं मानते। निष्कर्ष यही है कि मीमांसक यह पट अनेकवर्ण (रंग) का है अर्थात् केवल चित्र विचित्र रंगों के रूप इस पट में दिखाई दे रहे हैं। कोई रूपान्तर नहीं दिखाई देता है। यही कारण है कि मीमांसक विद्वान् चित्ररूप को पृथक् नहीं मानते।

पूर्वपक्षी- यह पट चित्र है (नाना वर्णों से युक्त है)—यह अनुभव सभी को होता है। पट शुक्ल है या नील है—ऐसा अनुभव नहीं होता। इसलिये कहना होगा कि चित्र नाम पृथक् रूप पट में उत्पन्न होता है। यह नैयायिकों का कहना है।

समाधान—पूर्वपक्षी का उक्त कथन उचित नहीं है; क्योंकि जहाँ अनेक रूप होते

हैं, वहाँ उसे चित्ररूप कहा जाता है; क्योंकि लोकव्यवहार में चित्र शब्द की प्रसिद्धि नाना (अर्थ) में है।

इस कारण चित्रसंज्ञक एक स्वतन्त्ररूप की कल्पना करना उचित नहीं है। अन्यथा लोकविरोध होगा और एक पट में भिन्न-भिन्न अवयवों के माध्यम से अनेक रूपों का समवाय (सम्बन्ध) भी अनुपपन्न नहीं है। एवञ्च चित्ररूप कोई रूपान्तर नहीं है। यह मीमांसकों का सिद्धान्त है।



(संयोगजसंयोगस्य निराकरणम्)

एतेन संयोगजसंयोगो निरस्तो वेदितव्यः। यथा देवदत्तसंयोग एव तस्मिन् कुण्डलिनि संजाते कुण्डलिसंयोगो भवति, तथा तन्तुतुरीसंयोग एव तन्तौ पटभावमापन्ने पट-तुरीसंयोगो भवति, न संयोगान्तरम्, प्रतीत्यभावात्, इत्यलमतिविस्तरेण। तस्मादस्त्येवाऽवयवी।

वृत्तिः स्वाऽवयवेष्वस्य व्यासज्येति प्रदर्शितम् ।
तेनाऽस्त्यवयविद्रव्यं सामान्यं चाऽस्ति सर्वगम् ।।१६।।

।। इत्यवयविवादः ।।

एतेनेति। इससे संयोगज (संयोगजन्य) संयोग का भी निराकरण हो जाता है— यह जानना चाहिये। जैसे देवदत्त जब अपने कानों में सुवर्णकुण्डल धारण करता है, तब उसे लोग कुण्डी कहा करते हैं। तब कुण्डली संयोग होता ही है। धनमस्यास्तीति धनी के समान ही कुण्डलमस्यास्तीति कुण्डली कहा जाता है। उसी तरह तन्तु-तुरी संयोग होने पर ही तन्तु-पटरूप को प्राप्त करने पर पट-तुरी संयोग अर्थात् संयोग त्रिविध होता है— पहला उभय कर्मज होता है, वह कोई संयोगान्तर नहीं है; क्योंकि संयोगान्तर की प्रतीति नहीं होती । दूसरा अन्यतरकर्मज एवं संयोगज-संयोग। ऐसा वैशेषिक मानते हैं। अब अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। तस्मात् अवयवी का अस्तित्व सिद्ध मानते हैं—अन्यतरकर्मज, उभयकर्मजः संयोगजश्च हो ही जाता है।

संयोगः (वै. सू.- ९, अध्या. ७, आ. २)। इन तीनों में अन्तिम संयोगजसंयोग को मीमांसक नहीं मानते। इसी प्रकार विभागज विभाग को भी नहीं मानते। मूलकार ने 'यथा देवदत्त संयोग एव' आदि से उक्त अभिप्राय का ही उपपादन किया है।

वृत्तिः स्वावयवेष्विति। प्रसङ्गसंगति से जाति आदि का जो प्रतिपादन किया गया है, उसी को मूलोक्त पद्य के द्वारा संक्षेपतः संगृहीत किया गया है। मूलगत पद्य में प्रयुक्त अस्य का अर्थ अवयविनः = अवयवी का। सामान्यम् का अर्थ है, गोत्व आदि है। उक्त पद्य का अर्थ अवयवी की अपनी वृत्ति = स्थिति अपने अवयवों में होती है। अर्थात्

अवयवी अपने अवयवों में व्यासज्यवृत्ति से रहती है—यह प्रदर्शित किया गया है। अतः अवयवी द्रव्य है और सर्वगत (व्यापक) सामान्य भी है।

भाष्य में आक्षिप्त जो शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्व का समाधान किये विना प्रसंगसंगति से जाति आदि का निरूपण किया गया है, तथैव यहाँ भी ग्रन्थकार ने बड़े विस्तार के साथ किया है। पुनश्च भाष्य में 'अथ सम्बन्धः कः?' कहकर शब्दार्थ सम्बन्ध के नित्यत्व को बताना आरम्भ किया है, उसी की यहाँ प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

(सम्बन्धाऽऽक्षेपपरिहारः)

वर्णानामभिधातृत्वमाकृतेश्चाभिधेयताम् ।
कथयित्वाऽथ सम्बन्ध-कथैव प्रकृतोच्यते ।।१७।।
ज्ञाप्य-ज्ञापकभावश्च सम्बन्धः प्रागुदीरितः ।
तन्नित्यत्वं यदाक्षिप्तं तत् समाधीयतेऽधुना ।।१८।।

एवं हि पूर्वमुक्तम्—यस्मात् प्रथमश्रवणे शब्दोऽर्थं न प्रत्याययति, तस्मान्नाऽस्य स्वाभाविकमिन्द्रियवत् प्रत्यायकत्वम् । अस्यायमर्थः— इति पुरुषेण कथिते प्रत्याययति ततो नूनमस्य पुरुषकृतं प्रत्यायकत्वमिति पौरुषेय एव सम्बन्ध इति ।

वर्णानामिति। वर्णानां इत्यादि ग्रन्थ से संगति बता रहे हैं। उक्त पद्य का अर्थ यह है कि वर्ण ही अर्थ के वाचक हैं, वर्णों के अतिरिक्त स्फोट नामक कोई पदार्थ नहीं है। गो आदि शब्दों का वाच्य अर्थ जाति ही है। यह बतलाकर प्रकृत सम्बन्ध का ही विचार किया जा रहा है।

ज्ञाप्य-ज्ञापकभावश्चेति । शब्द का अर्थ के साथ-सम्बन्ध ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव है– इसे पूर्व में बता चुके हैं। वहाँ पर इसके नित्यत्व पर जो आक्षेप किया है, उसके समाधान का अब अवसर प्राप्त हुआ है; इसलिये अब समाधान किया जा रहा है।

उपर्युक्त पद्य में सामान्य का अर्थ गोत्व को लीजिये। ज्ञाप्य-ज्ञापकभावः = प्रत्याय्य-प्रत्यायकभावः– शब्द और अर्थ का सम्बन्ध प्रत्याय्य प्रत्यायकभाव ही है। इसे पहिले ही बता चुके हैं। पूर्वपक्षी ने उक्त सम्बन्ध की नित्यता पर जो प्रत्याख्यान किया है, उसका समाधान अब कर रहे हैं—

शङ्का—पहिले बता चुके हैं कि किसी के शब्द को प्रथमतः सुनने पर उससे अर्थ का ज्ञान नहीं होता, इसलिये मानना होगा कि शब्द की अर्थबोधकता स्वाभाविक नहीं है। अभिप्राय यह है कि जब कोई मनुष्य कहता है, तब शब्द से अर्थ का बोध (ज्ञान) होता है। इससे निश्चित होता है कि शब्द में जो अर्थबोधकता है, वह पुरुषकृत ही है। अतः शब्द और अर्थ का जो सम्बन्ध है, वह पौरुषेय ही है।

तत्राभिधीयते—न हि अस्याऽयमर्थः इति सम्बन्धकरणमिदं, प्रसिद्ध-

सम्बन्धकथनं ह्येतत्। कथमवगम्यते? अर्थान्तरकथने बहुभिर्निवारणात्। यो हि कश्चित् कस्मैचिद् गोशब्दस्य अश्वं गवयं वाऽर्थमाह, तमन्ये बहवो विचारयन्ति नाऽयमस्यार्थः, सास्नादिमानस्याऽर्थ इति।

शब्दार्थसम्बन्ध के विषय में कहा जाता है कि इस शब्द का यह अर्थ है—**अस्याऽयमर्थः इति**। अस्याऽयमर्थः = गोशब्दस्य सास्नादिमान् पिण्डोऽर्थः, इति = एवं पुरुषान्तरेण कथिते सति शब्दः अर्थं प्रत्याययति, तस्माज्ज्ञायते यदस्य शब्दस्य प्रत्यायकत्वं तत्पुरुषकृतमिति शब्दार्थयोर्यः प्रत्याय्य-प्रत्यायकत्वसम्बन्धः सः पौरुषेय एव, न तु अपौरुषेय इत्यर्थः।

समाधान—तत्राऽभिधीयते न हीति। शब्दार्थ के सम्बन्ध के विषय में कहा करते हैं कि इस शब्द का यह अर्थ है—न हि अस्याऽयमर्थ इति। अर्थात् गो शब्द का अर्थ सास्नादिमान् है। यह प्रसिद्ध सम्बन्ध सम्बन्धकरण नहीं है, अपितु प्रसिद्ध जो सनातन (नित्य) सम्बन्ध है, उसी का कथनमात्र (उपदेश ही) है। अर्थात् किसी नूतन (नीवन) सम्बन्ध का निर्माण नहीं है, जिससे शब्दार्थ सम्बन्ध को पौरुषेय कहा जा सकेगा।

प्रश्न—यह सम्बन्धकरण नहीं है, किन्तु प्रसिद्ध सम्बन्ध कथन ही है—यह कैसे समझ लिया?

उत्तर—यदि नवीन (नूतन) सम्बन्ध निर्माण होता तो जिस किसी भी अर्थ (पदार्थ = वस्तु) से अपनी इच्छा के अनुसार उसी से गो आदि शब्दों के सम्बन्ध को बता देता, किन्तु ऐसा तो होता नहीं है, प्रत्युत अशुद्ध अर्थ को बताने पर अनेक व्युत्पन्न लोग उसका नायमस्यार्थः इत्याकारक निषेध करते हैं। अतः इसे इत्याकार (अस्याऽयमर्थः प्रसिद्धसम्बन्ध का कथन ही समझना चाहिये। इसी अभिप्राय को और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं—जो कोई किसी से गो शब्द का अश्व अथवा गवय अर्थ बतलाता है, उसका निषेध बहुत से बुद्धिमान् लोग करते हैं—यह इसका अर्थ नहीं है, किन्तु गो शब्द का अर्थ सास्नादिमान् पदार्थ ही है।

सम्बन्धक्रियापक्षे च देवदत्तादिवत् येनैव सम्बन्धः क्रियते, स एव अर्थ इति निवारणं नोपपद्यते, तस्मान्न तावदर्वाचीनाः पुरुषा अस्य शब्दस्याऽस्याऽयमर्थोऽयमर्थ इति वदन्तोऽपि तत्सम्बन्धकर्तृत्वे-नाशङ्कनीयाः।

अन्यथा (विपक्ष में) बाधक को बतलाते हैं—सम्बन्धकरण पक्ष में देवदत्त आदि के समान जिससे सम्बन्ध किया जाता है, वहीं उसका अर्थ होता है। उसी कारण उसका निवारण करना उचित प्रतीत नहीं होता। इसलिये जो अर्वाचीन (प्राचीन नहीं है) पुरुष हैं, वे ही सम्बन्ध को कहा करते हैं अर्थात् वे सम्बन्ध के वक्ता हैं, कर्ता नहीं हैं। अर्वाचीन पुरुष, अस्य शब्दस्य अयमर्थः = अस्य अयम् अर्थः- इति वन्दोऽपि (ऐसा कहते हुए

भी) तत्सम्बन्धकर्तृत्वेनाऽशङ्कनीयाः। अर्थात् वे सम्बन्धकर्ता के रूप में हैं–यह आशङ्का करना उचित नहीं है। क्रिया = करणम्-निर्माणम्। देवदत्त आदि के समान। जैसे– पिता स्वपुत्रपिण्ड पुत्रव्यक्ति = पुत्रशरीर के साथ देवदत्त शब्द का सम्बन्ध करता है, उस सम्बन्ध के करने में कोई प्रतिबन्ध अर्थात् रोकता नहीं है, उसी तरह गो शब्द का गवय के साथ अथवा अश्व के साथ सम्बन्ध करने में भी कोई भी प्रतिबन्ध (रुकावट) नहीं करता। ऐसी परिस्थिति नहीं है; अपितु निवारण करते (रोकते) हैं, निवारण करने से जाना जाता है कि अस्य अयमर्थः–यह कथन सम्बन्धकरण (निर्माण) नहीं है, किन्तु नित्य सम्बन्ध का ही कथनमात्र है, अतः यह स्वीकारना होगा कि शब्दार्थयोः नित्यः सम्बन्धः– शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। जिस किसी भी पदार्थ (वस्तु) के साथ उसे (वह) कहा जाता है, वही उस शब्द का अर्थ समझा जाता है।

उक्त कथन को प्राभाकरों ने भी समर्थन किया है—वृद्धानां स्वार्थेन व्यवहारप्रमाण-मुपशृण्वन्तो बालाः, शब्दश्रवणसमनन्तरभाविना चेष्टाविशेषेण विशिष्टार्थविषयां मनीषां कल्पयन्तो वाच्यवाचकतां शब्दस्याऽध्यवस्यन्ति, तेऽपि वृद्धा, यदा बाला आसँस्तदा तेऽप्यनयैव दिशा व्युत्पद्यन्तेस्म, येभ्यश्च वृद्धेभ्यस्ते व्युत्पत्तिमलभन्त, तेऽप्यन्येभ्य तेऽप्यन्येभ्य इति, विनाऽपि संकेतयितारं पुरुषमुपपद्यत एव, शब्दार्थयोरनादिवृद्धपरम्पराव्यवहारदर्शन-सिद्धः सम्बधः।

औत्पत्तिकस्तु सम्बन्धः शब्दस्याऽर्थेन सम्भवः।
वृद्धसंव्यवहारस्य प्रवाहाऽनादिता यतः॥

वेदार्थविदामग्रगस्य भगवतः सकलनयनिधेर्जैमिनेरपौरुषेयः शब्दस्याऽर्थेन सम्बन्धः, स हि मेने यद्यपि देवदत्तादीनां पुरुषसंकेतनिबन्धनं वाचकत्वं, तथापि गवादिष्वनुमानं न शक्यते कर्तुम्, तस्मादनादिरेव वृद्धपरम्पराऽभ्युपगमनीया। इति।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कहना है कि आधुनिक (अर्वाचीन) पुरुषों ने शब्द और अर्थ का सम्बन्ध निर्मित किया है, उसी कारण अर्थान्तर का निर्देश करके निवारण करना युक्तियुक्त नहीं होगा, किन्तु सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति ने ही शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध किया है– यह कहना उचित होगा। तथा च जब कोई तद्विरुद्ध कहता है, तो अन्य लोग उसका निषेध करने लगते हैं, उसी कारण निवारण की अनुपपत्ति नहीं कह सकते, प्रजापति के द्वारा निर्मित करने के कारण शब्दार्थ सम्बन्ध पौरुषेय ही है, अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य नहीं कहा जा सकता। इसी उपर्युक्त अभिप्राय को शङ्का के रूप में कहा गया है।

(सर्गादिपक्षस्योपन्यासः, तस्य निरसनं च)

यदि परमेवं स्यात्, सर्गादिकाले भगवता प्रजापतिना सर्वमेव स्थावरजङ्गमं धर्माऽधर्मौ च सृष्ट्वा संव्यवहाराय च शब्दानामर्थैः सम्बन्धं कृत्वा

धर्माऽधर्मप्रतिपादनाय च कृतसम्बन्धैः पदैर्वेदान् कृत्वाऽऽत्मजेभ्यो मरीच्यादिभ्यः शब्दार्थसम्बन्धो वेदाश्च प्रतिपादितास्तैरप्यन्येभ्यस्तैरप्यन्येभ्य इत्येवं पूर्व-पूर्वेभ्यः प्रतिपद्योत्तरोत्तरेषां शब्दार्थप्रतिपत्तिर्व्यवहारश्चेति।

ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र सर्गादि पक्ष का उपन्यास करके उसका निराकरण भी करते हैं—**यदि परमेवमिति**। सृष्टि के आरम्भकाल में भगवान् प्रजापति ने स्थावर-जङ्गमात्मक सम्पूर्ण सृष्टि की तथा धर्म-अधर्म की भी सृष्टि करके और व्यवहारनिष्पत्ति के लिये सभी शब्दों के साथ अर्थों का सम्बन्ध करके तथा धर्माऽधर्म का प्रतिपादन करने के लिये कृत-संकेत पदों से वेदों की रचना कर अपने पुत्र (आत्मज) मरीचि आदि को शब्दार्थ सम्बन्ध का तथा वेदों का उपदेश किया। उन्होंने भी अपने शिष्यों को उपदेश किया। उन्होंने भी अपने शिष्यों को पढाया। इसप्रकार पूर्व-पूर्ववर्तियों से उपलब्ध करके उत्तरोत्तरवर्त्तियों ने शब्दार्थ का ज्ञान तथा व्यवहार प्रचलित किया।

तदप्ययुक्तम्, इत्थम्भावे प्रमाणाऽभावात्। प्रथमश्रुतावप्रतीतिरेव प्रमाणम्, सामयिकत्वे ह्यप्रतिपन्नसमयानामप्रतीतिः प्रतिपन्नसमयानां च प्रतीतिर्देवदत्तादिशब्दवदुपपन्ना भवति, स्वाभाविकत्वे तु प्रत्यायकत्वे प्रथमश्रवणेऽपि प्रतीतिः स्यादिति चेत्? न; स्वाभाविकमपि प्रत्यायकत्वमवगतं सदयप्रतीतौ निमित्तं नाऽप्रतिपन्नमिति युक्तैव प्रथमश्रवणेऽर्थस्याऽप्रतीतिः। न च सर्गादिर्नाम कश्चित् कालोऽस्ति सर्वदा हीदृशमेव जगदिति दृष्टानुसारात् अवगन्तुमुचितम् । न तु स कालोऽभूत् यदा सर्वमिदं नाऽऽसीदिति, प्रमाणाऽभावात् ।

पूर्वकृत पूर्वपक्ष को अर्थात् इत्थंभावे = प्रजापति ने शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध निर्माण किया— इत्याकारक स्वीकार करना भी उचित नहीं है; क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है।

शङ्का—कोई प्रमाण नहीं हैं—यह कथन असिद्ध है; क्योंकि प्रथमश्रुतावप्रतीतिरेव प्रमाणम् = प्रथमतः सुनने में अर्थज्ञान का नहीं हो पाना ही प्रमाण है। यदि शब्दार्थ का सम्बन्ध सामयिक अर्थात् पुरुषसंकेतकृत हो, तो जिनको संकेत = शक्तिग्रह नहीं हुआ (जो लोग संकेत को नहीं जानते) उनको प्रथमतः सुनने पर अर्थज्ञान नहीं होता और जो लोग संकेत को जानते हैं (जिनको शक्तिग्रह = ज्ञान हो गया हो) उनको देवदत्तादि शब्द के समान अर्थज्ञान होता है।

प्रश्न—स्वाभाविके तु प्रत्यायकत्वे इति। शब्द की अर्थबोधकता को स्वाभाविक मानने पर प्राथमिक श्रवण में भी अर्थज्ञान होने लगेगा। इति चेत्?

उत्तर—न, उक्त प्रश्न उचित नहीं है। **स्वाभाविकमपि प्रत्यायकत्वमवगत-**

मिति। अर्थबोधकता स्वाभाविक रहने पर भी वह ज्ञात होकर ही अर्थज्ञान कराने में निमित्त (कारण) बनती है; अज्ञात होकर नहीं। इसी कारण जिनकी अर्थबोधकता ज्ञात नहीं है, उनको पहिली बार सुनकर अर्थज्ञान नहीं होता।

प्रश्न—आदिसर्ग होता है, ऐसा यदि कोई कहे अर्थात् क्या सृष्टि आदिकालीन है?

उत्तर—सर्गादि कोई काल नहीं है। न कदचिदनीदृशं जगत्– यह जगत् सर्वदैव वैसा ही है। इसके विपरीत कभी नहीं था और नहीं कभी होगा। अत: दृष्ट के अनुसार जानना ही उचित है।

प्रश्न—न तु सकालोऽभूदिति? अर्थात् क्या वैसा काल नहीं हुआ? जब यह सब कुछ भी नहीं था?

उत्तर—किसी प्रमाण के उपलब्ध नहीं होने से मानना होगा कि वैसा काल ही कभी नहीं था, जब यह सब कुछ नहीं था।

उत्तर—उक्त कथन ठीक नहीं है; क्योंकि कोई प्रमाण नहीं है।

मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादि: प्रमाणमिति चेत्? न। वेदानां पौरुषेय-सम्बन्धाऽपेक्षिणां स्वयं च पौरुषेयाणां शाक्यादिग्रन्थवदतीन्द्रियार्थे प्रामाण्याऽसम्भवात्। तद प्रामाण्ये च तन्मूलानांधर्माशास्त्रादीनां दूरनिर-स्तमेव प्रामाण्यम्। सर्वाऽभावे च सृष्टिरपि न सम्भवति। मृत्तन्त्वाद्यु-पादानेन हि घटादीन्युपादीयन्ते, सर्वाऽभावे हि केनोपादानेन सर्वमिद-मुपादेयम्?

शङ्का—सृष्टि के होने में मन्त्र प्रमाण है, जैसे प्रजापतिर्वा इदमेकमेवाऽऽसीत्– जब प्रजापति अकेला ही था तब उसने सोचा कि प्रजा और पशुओं की मैं सृष्टि करुँ। ऐसा आरम्भ कर उसने प्रजा और पशुओं की सृष्टि की–प्रजापतिर्वा इदमेकमेवाऽऽसीत् सोऽकामयत प्रजा:–पशून् सृजेय–इत्युपक्रम्य तत: स प्रजा: पशून सृजत्– यह श्रुतिवचन ही प्रमाण है। इसी तरह अर्थवाद, इतिहास, पुराण आदि प्रमाण भी सृष्टि के होने में प्रमाण हैं।

समाधान—नेति। नहीं, वेद आदि पुरुष के सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं। इसलिये उन्हें इन्द्रियगोचर अर्थ में प्रमाण नहीं माना जा सकता। जैसे पुरुषरचित शाक्य (बौद्ध-जैन) आदि के ग्रन्थों को प्रमाण नहीं माना जाता; क्योंकि उनके ग्रन्थ अतीन्द्रिय (अलौकिक) अर्थ में प्रमाण नहीं हैं।

तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय, धाता यथापूर्वपकल्पयत् = सृष्टि के होने में इन प्रमाणों को समझना चाहिये।

उपर्युक्त कथन का परिहार न, वेदानां पौरुषेयसम्बन्धापेक्षिणां स्वयं च पौरुषेयाणां

शाक्यादिग्रन्थवदतीन्द्रियार्थे प्रामाण्याऽसम्भवात् इति। सर्गादिकाल स्वीकारपूर्वक वेदों का और शब्दार्थ सम्बन्ध का पौरुषेयत्व माना नहीं जा सकता; क्योंकि पौरुषेय मानने में बाधक है—**वेदानां पौरुषेयसम्बन्धापेक्षाणामिति**। वेदों का पौरुषेयत्व मानने पर भी अतीन्द्रिय पदार्थविषयक प्रामाण्य उनका यदि माना जायगा तो शाक्य ग्रन्थों का भी अतीन्द्रियार्थ में प्रामाण्य मानने में कौन-सी हानि है? क्योंकि पौरुषेयत्व तो दोनों में समान (एक-सा) ही है।

शङ्का—अतीन्द्रिय अर्थ में वेदों का अप्रामाण्य रहने पर भी धर्मशास्त्र आदि का प्रामाण्य तो रहेगा हीं।

समाधान—तदप्रामाण्ये चेति। वेदों का अप्रामाण्य होने पर वेदमूलक धर्मशास्त्र आदिकों का प्रामाण्य तो अपने-आप ही निरस्त हो जायगा। 'सर्वाऽभावे चेति' से प्रलय का भी निराकरण हो जायगा। प्रलयों नाम पदार्थमात्राऽभावः। तथा च पदार्थमात्र का अभाव हो जाने पर पुनः सृष्टि भी कैसे हो सकेगी? क्योंकि तत्तत् पदार्थों का कोई कारण ही नहीं रहेगा और कार्योत्पत्ति तो कारण के अधीन होती है—यह नियम है। मृत्तिका-तन्तु आदि उपादान से ही घटादि कार्य उत्पन्न होते हैं। अतः जब सभी का अभाव हो जायगा, तब किस उपादान (कारण) से यह समस्त उपादेय अर्थात् जगद्रूप कार्य सम्पन्न हो सकेगा? वार्त्तिक में भी कहा गया है—

तस्मादद्यवदेवाऽत्र सर्ग-प्रलयकल्पना ।
समस्तक्षय-जन्माभ्यां न सिध्यत्यप्रमाणिका ।।
यदा सर्वमिदं नासीत् क्वाऽवस्था तत्र गम्यताम् ।
प्रजापतेः क्वा स्थानं किं रूपं च प्रतीयताम् ।।
ज्ञाता च कस्तदा तस्य यो जनान् बोधयिष्यति ।
उपलब्धेर्विनाचैतत् कथमध्यवसीयताम् ।। इति।।

(अद्वैतमतेन पूर्वपक्षः)

स्यान्मतम्। आत्मैवैको जगदादावासीत्, स एव स्वेच्छया व्योमादिप्रपञ्च-रूपेण परिणमति, बीजमिव वृक्षरूपेण। चिदेकरसं ब्रह्म कथं जडरूपेण परिणमतीति चेत्? न; परमार्थतः परिणामं ब्रूमः, किन्त्वपरिणतमेव परिणतवदेकमेव सदनेकधा मुखमिवादर्शादिषु अविद्यावशाद् विवर्त-मानमात्मैवाऽऽत्मानं चिद्रूपं जडरूपमिव, अद्वितीयं सद्वितीयमिव पश्यति। सेयमविद्योपादाना स्वप्नप्रपञ्चवन्महदादिप्रपञ्चसृष्टिः।

शङ्का—यह अद्वैतवादी पूर्वपक्ष कर रहा है कि प्रपञ्च दृश्य होने से तथा जड होने से और परिच्छिन्न होने से वही मिथ्या है और उसी के अन्तर्गत रहने वाला शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी मिथ्या ही है, अतः उसकी नित्यता कैसे हो सकती है? इस अभिप्राय

से अद्वैतवाद को उपस्थित किया जा रहा है 'स्यान्मतम्' इत्यादि ग्रन्थ से।

अद्वैतवाद में आत्मा का अर्थ है—निर्विशेष ब्रह्म और परिणाम को विवर्तरूप समझा जाता है। अद्वैतवाद में प्रपञ्च को ब्रह्म का विवर्त माना जाता है।

अद्वैतवादी के पूर्वपक्ष का अभिप्राय यह है कि पूर्वकथित प्रकार भले ही न हो, किन्तु यह कहा जा सकता है कि प्रपञ्च के प्रारम्भ में एक ही आत्मा था। वही अपनी इच्छा के अनुसार आकाश आदि प्रपञ्च के रूप में परिणत होता है (आत्मन आकाश: संभूत: आकाद् वायु:, वायोरग्नि:, अग्नेराप:,अद्भ्य पृथ्वी)। जैसे बीजु वृक्ष के रूप में परिणत होता है। प्रस्तुत में परिणाम शब्द विवर्त का बोधक हैं।

शङ्का—चैतन्यरूप से एकरस अर्थात् चैतन्यस्वरूप ब्रह्म जडरूप में कैसे परिणत हो सकता है? क्योंकि परिणाम तो सरूप का ही देखा जाता है।

समाधान—उस पर अद्वैती उत्तर देता है कि हम परमार्थरूप से परिणाम नहीं कह रहे हैं; किन्तु स्वयं अपरिणत ब्रह्म ही परिणत हुए की तरह प्रतीत होता है। एक होने पर भी अनेक रूपों वाला प्रतीत होता है, इसमें कारण अविद्या ही हैं।

यदि परिणाम कैसे भी परमार्थ (सत्य) माना जाय तो चेतन का जडरूप में परिणाम कैसे होगा? यह प्रश्न किया भी जा सकेगा; किन्तु ऐसी बात नहीं है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है— **किन्त्वपरिणतमेवेति**। जैसे अपने ही मुख को दर्पण में अन्यथा प्रतिबिम्बित देखते हैं, दर्पण में दिखाई देने वाला मुख सत्य नहीं होता, वैसे ही अविद्या-वशात् ब्रह्म ही अपने को जडरूप में देखता है। यह समझना चाहिये। यह आत्मा ही विवर्त होता हुआ अपने चिद्रूप को जड की तरह देखता है, अद्वितीय होकर द्वितीय के समान अपने को देखता है। अत: महदादिप्रपञ्च की सृष्टि होती है, जिसका उपादान कारण है—अविद्या। यह अविद्या विद्या की विरोधिनी है। विद्या की अभावरूपा नहीं है। अर्थात् भावरूपा है और ज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है। अनादि भावरूपं ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानम्। अतएव उसे अनिर्वचनीय कहा जाता है।

एवञ्च स्वाप्नप्रपञ्च की तरह अविद्योपादानक महदादिप्रपंच की सृष्टि होती है। निष्कर्ष यह है कि अविद्या ही इस प्रपञ्च की उपादान कारण (समवायिकारण) है, इसी तथ्य को ग्रन्थकार ने बताया है— अपरिणतमेव परिणतवत् एकमेव सत् अनेकधा मुखमिव आदर्शादिषु अविद्यावशाद् विवर्तमानमात्मैव आत्मानं चिद्रूपं, जडरूपमिव, अद्वितीयं सद्वितीयमिव पश्यति, सेयमविद्योपादाना स्वप्नप्रपञ्चवन्महदादिप्रपञ्चसृष्टि:।

ब्रह्म तो विवर्तोपादान ही है, ब्रह्म का विनाश न होने पर भी प्रपञ्च का विनाश तो अवश्यंभावी ही है। तरति शोकमात्मवित् इत्यादि अनेक वाक्यों से बताया गया है कि प्रपञ्चनिवृत्ति आत्मज्ञान से होती है। ज्ञान से अपने विरोधी अज्ञान का ही नाश होना सम्भव है, तदतिरिक्त अन्य किसी का नहीं। तथा च—ज्ञान के द्वारा निवर्तनीय होने से प्रपञ्च

की अज्ञानात्मता का निर्धारण किया जाता है। यह जो अविद्या है, वह अज्ञान ही है, इस कारण यह प्रपञ्च अविद्या का ही कार्य हैं।

तथा च—सर्वं खल्विदं ब्रह्म, आत्मैवेदं सर्वम्, नेह नानाऽस्ति किंचन—इत्यादयो बहवोऽद्वैतवादाः। तथा इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते इति भेदाऽवगतेर्व्यक्तमेव मायानिबन्धनत्वं दर्शितम्। तथा लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो लोकान् वेद– इत्यादिनानात्मदर्शने निन्दा, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति इति च नानात्वदर्शननिन्दा सर्वमिदमद्वितीयमेव ब्रह्म पारमार्थिकम्, भेददृष्टिश्चाऽविद्योपादानेत्येतमर्थं प्रकटयतीति।

तथा च सर्वं खल्विदं ब्रह्म इति। प्रस्तुत प्रसंग में अद्वैत के प्रतिपादक अनेक उपनिषद् वाक्यों को भी बता रहे हैं। अद्वैतवादी अपने पक्ष की प्रामाणिकता प्रदर्शित करने के लिये प्रमाणों को उपस्थित कर रहा है—**तथाचेति**। जैसे यह नाम–रूपात्मक सम्पूर्ण प्रपञ्च ब्रह्मरूपा ही है। नेह नानाऽस्ति किञ्चन = यह समस्त प्रपञ्च आत्मरूप ही है (कठोपनिषद्)। ब्रह्म से किञ्चिन्मात्र भी भिन्न नहीं है अर्थात् द्वैत नहीं है। अद्वैत के प्रतिपादक अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं। उसी तरह इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते (बृह. उपनिषद्) अर्थात् इन्द्र = परमेश्वर (ब्रह्म) अपनी मायिक शक्तियों से अनेक रूपों वाला प्रतीत होता है। अर्थात् मायागत तत्त्व–रज–तमस् आदि शक्तियों से सम्पन्न अविद्या के बल पर अनेक रूपों को (बहुरूपः = प्रपञ्चरूप) श्रुति से माया हेतुक भेद ज्ञान स्पष्टतया प्रदर्शित किया गया है; अर्थात् भेदज्ञान अविद्यामूलक है, उस कारण प्रतीयमान भेद नितान्त मिथ्या है। तथा– **लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो लोकान् वेद इति**। तथा लोकास्तं परादुः = लोगों ने उसे परास्त किया, जो आत्मा के व्यतिरिक्त अन्य को (ब्रह्मसत्तातिरिक्त सत्ता वाले को) जानता है—यह कहकर अनात्मकदर्शन की (ब्रह्मसत्तातिरिक्त सत्तावाले को जानता है, उसकी) निन्दा की है, प्रपञ्च के ज्ञान का परिहार करना कभी समभव नहीं है, अन्यथा व्यवहार न चल सकने के कारण व्यवस्था का अभाव ही हो जायगा। तथापि प्रपञ्च में जो सत्यत्वज्ञान है, वही अनात्मदर्शन शब्द से अद्वैती प्रस्तुत में अभिप्रेत है। उसी तरह नानात्वदर्शन की निन्दा में श्रुति का प्रमाण दे रहे हैं वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता हैं, जो इसको इसे नानात्व के रूप में देखता है—जो मनुष्य भेददृष्टि रखता है, वह मृत्योरपि मृत्युं अर्थात् विपुलतर अनिष्ट को प्राप्त करता है। यदि प्रपञ्च सत्य होता तो आनात्मदर्शन की और नानात्वदर्शन की निन्दा न सुनाई देती, किन्तु निन्दा तो उसकी सुनाई पड़ती है। इस कारण भेद को मिथ्या ही समझना चाहिये। यह कहकर भेददर्शन की निन्द ही की गई है। अतः यह सम्पूर्ण प्रपञ्च अद्वितीय ब्रह्म ही है। और वही पारमार्थिक है। और भेददृष्टि आविद्यिक है—इस तथ्य को प्रकट किया है। वस्तुतः लोकास्तं परादुः—इस श्रुति से भी ब्रह्म में नानात्व दर्शन अर्थात् अनेक ब्रह्मज्ञान की ब्रह्मप्रकरण

में पठित होने से निन्दा की गई है। ब्रह्म और प्रपञ्च के भेदज्ञान की निन्दा नहीं की है। उक्त श्रुतियों के अभिप्राय को स्वयं ही कह रहे हैं—सर्वमिदमद्वितीयमेव ब्रह्म पारमार्थिकम्, भेददृष्टिश्चाऽविद्योपादाना इत्येतमर्थं प्रकटयतीति। पञ्चदशी में भी कहा है—

अनादिमायया भ्राता जीवेशौ सुविलक्षणौ।
मन्यन्ते तद्व्युदासाय केवलं शोधनं तयोः॥
अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वमसङ्गं तन्न जानते।
आनन्दमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ॥
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम्।
अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत्॥
ईशजीवादिरूपेण चेतनाऽचेतनात्मकम्।
एकमेवाऽद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्॥
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते।
इदमग्रे सदेवाऽऽसीद् बहुत्वाय तदैक्षत॥

(अद्वैतवादस्य खण्डनम्)

किमिदानीमसन्नेवाऽयं प्रपञ्चः? ओमिति चेत्? न, प्रत्यक्षविरोधात्। तथा च प्रत्यक्षं प्रपञ्चसद्भावग्राहकं तथोक्तं प्रत्यक्षसूत्रे। न चाऽऽगमेन प्रत्यक्षबाधः सम्भवति, प्रत्यक्षस्य शीघ्रप्रवृत्तित्वेन सर्वेभ्यो बलीयस्त्वात्।

न च पौर्वापर्यन्यायेन प्रवृत्तमेव प्रत्यक्षमागमेन पश्चाद्बाध्यत इति वाच्यम्, आगमस्य प्रत्यक्षेण प्रवृत्तिनिरोधात्। आगमप्रवृत्तिसमयेऽपि हि भेदप्रपञ्चमुपदर्शयत् प्रत्यक्षमागमप्रवृत्तिमेव निरुणद्धि। यथा खलूत्पत्तुमुपक्रममाण एव घटो दण्डेनाऽऽहन्यमानो नोत्पत्तुम्प्रभवति, तथागमोऽपि।

किञ्च प्रपञ्चाऽभावं प्रतियताऽवश्यमागमोऽपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वादसद्रूपतया प्रत्येतव्यः। कथं चाऽऽगमेनैवाऽऽगमस्याऽभावः प्रतीयेत? असद्रूपतया हि प्रतीयमानो न कस्यचिदप्यर्थस्य प्रमाणं स्यात्। प्रामाण्ये वा नाऽसत्त्वम्।

अद्वैतवादी के मत को सुनकर सिद्धान्तवादी मीमांसक आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछ रहा है—**किमिदानीमिति**। क्या आपके (अद्वैतवादी के) मत में यह दृश्यमान प्रपञ्च मिथ्या ही माना जाता है? ओम् इति चेत्? अर्थात् प्रपञ्च को यदि आप (अद्वैत वेदान्ती) मिथ्या मानते हैं, ओं- ओमेवं परमं मते इत्यमरः।

मीमांसक—प्रत्यक्षविरुद्ध कथन करना उचित नहीं होगा; क्योंकि सत्सम्प्रयोगे; इस चतुर्थसूत्र (प्रत्यक्षसूत्र) में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सन्मात्र को ही विषय करता है। इस पक्ष का खण्डन करते समय कहा गया है। अर्थात् प्रपञ्च के सद्भाव (अस्तित्व) का

ग्राहक प्रत्यक्ष ही होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति शीघ्र हो जाती है, उस कारण उसे अन्यान्य प्रमाणों से प्रबल माना जाता है। सभी प्रमाणों की अपेक्षा प्रत्यक्षप्रमाण को प्रबलतम माना जाता है, उस कारण प्रपञ्च का सत्त्व (अस्तित्व) प्रतीयमान होने से प्रपञ्च को मिथ्या कह देना उचित नहीं है। प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् इस अनुमानप्रयोग में कार्याऽकारित्व ही उपाधि है। अर्थात् उक्त अनुमान सोपाधिक होने से व्याप्यत्वाऽसिद्ध है। अर्थात् उक्त अनुमान दूषित है। अत: अन्य प्रमाणों से भी प्रपञ्च का मिथ्यात्व होना सम्भव नहीं है। वार्तिककार ने भी प्रपञ्च के मिथ्यात्व का निराकरण किया है। वार्तिककार कहते हैं—

शून्यवादोत्तराच्चाऽपि यथार्थं बुद्धिशब्दयो: ।
प्रवृत्तिर्न तु तन्नाममर्थरूपं कदाचन ॥
तस्मात् प्रागपि ये शब्दाद् भिन्नैकत्वादिबुद्धिभि: ।
गृह्यन्ते सर्वदा तेषां परमार्थास्तिता भवेत् ॥
पुरुषस्य च शुद्धस्य नाऽशुद्धा विकृतिर्भवेत् ।
स्वयं च शुद्धरूपत्वादसत्त्वाच्चाऽन्यवस्तुन: ॥
स्वप्नादिवदविद्याया: प्रवृत्तिस्तस्य किंकृता ।
अन्योपप्लवेऽभीष्टे द्वैतवाद: प्रसज्यते ॥
स्वाभासाविकीमविद्यां तु नोच्छेत्तुं कश्चिदर्हति ॥

शङ्का—स्वत: प्रमाणभूत आगम (शब्द) के द्वारा प्रपञ्च के सत्यत्व का ग्राहक जो प्रत्यक्ष, उसका बाध हो जायगा।

समाधान—न, प्रत्यक्षविदोधात् इति। प्रमाणान्तर के अधीन र रहने से प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति, शीघ्र ही होती है, जो प्रवृत्त हुआ हो, उसका बाध होना सम्भव नहीं है।

किञ्च—सर्वं खल्विदं ब्रह्म आत्मैवेदं सर्वम्- इत्यादि श्रुतियों ने प्रपञ्च को मिथ्या नहीं बताया है, किन्तु ब्रह्म व्यापक रहने से, उसके द्वारा वह (प्रपञ्च) व्याप्त है, अथवा अधिष्ठित है—यह बताया गया है। नेह नानाऽस्ति किञ्चन—यह श्रुति, बता रही है कि प्रपञ्च का कारण एकमात्र ब्रह्म है। वह श्रुति कारण के नानात्व का निराकरण कर रही है; क्योंकि उसके प्रकरण में वह पठित है, वह कार्य के नानात्व का निराकरण नहीं कर रही है। लोकास्तं परादु:- यह श्रुति तो उसकी निन्दा कर रही है, जो प्रपञ्च को परमात्माधिकरणक नहीं जानता है, किन्तु सांख्यादि दर्शनों की तरह स्वरूपस्थ अथवा प्रधानस्थ अथवा अन्यस्थ समझता है, उसकी निन्दा उपर्युक्त श्रुति के द्वारा की जा रही है। अन्यथा अन्यत्रात्मन: में सप्तमी का प्रयोग संगत नहीं हो पायगा। यदि तुम्हारे अभिप्राय को उचित कहा जाय तो अन्यानाऽऽत्मन: ही कहा जायगा। मृत्यो: स मृत्युम्— यह वाक्य भी कारणनानात्वज्ञान की ही निन्दा कर रहा है। अन्यथा प्रपञ्च के मिथ्या रहने

से मृत्युप्राप्ति का सम्भव ही नहीं है। तब मृत्योः समृत्युमाप्नोति—यह कथन उपपन्न नहीं हो सकेगा।

एक ही श्रुति वाक्य के द्वारा व्यावहारिक और पारमार्थिक वस्तु का प्रतिपादन करना कैसे उचित कहा जा सकेगा? आकरग्रन्थों में इस विषय पर बहुत चर्चा की गई है। विशिष्टाऽद्वैताधिकरणमाला में अद्वैतवाद का सविस्तर निरसन किया गया है।

न च पौर्वापर्यन्यायेनेति। इस पौर्वापर्यन्याय को ही अपच्छेद न्याय कहते हैं। (१) बहिष्पवमानस्तोत्र, (४) आज्यस्तोत्र, (४) पृष्ठस्तोत्र, (१) माध्यन्दिनपवमान और आरभवपवमान तथा अग्निष्टोम-स्तोत्र। इसमें बहिष्पवमान स्तोत्र प्रातःसवन में, सदोनामक मण्डप से बाहर निकलकर किया जाता है। बाकी सभी स्तोत्र मण्डप में ही बैठकर किये जाते हैं। बाहर जाते समय चीटीं की तरह पङ्क्तिबद्ध होकर (लाईन अर्थात् कतार बनाकर) चलना पड़ता है। उस समय जो आगे चलता है, उसकी काँछ (कच्छ) को पकड़कर पीछे वाला चलता है। यदि किसी कारणवश हाथ से कच्छ छूट जाता है, तो उस कच्छ छूटने को ही अपच्छेद शब्द से कहा जाता है। विच्छेद को ही अपच्छेद भी कहते हैं। यदि पहिले उद्गाता नामक ऋत्विज के हाथ से कच्छ छूट जाय तो बिना यज्ञ के उस प्रयोग को समाप्त कर दे और पुनः उसका अनुष्ठान करे और उसमें पूर्व सङ्कल्पित दक्षिणा ही देनी चाहिये। यदि प्रतिहर्ता नामक ऋत्विज् के हाथ से कच्छ छूट जाय तो सर्वस्व दान करना बताया है। इसी बात को इस प्रकार से कहा है—यद्युद्गाताऽपाच्छिद्येताऽ-दक्षिणो यज्ञः संस्थाप्यः, अथान्य आहत्यस्तत्र तद्दद्यात्, यत्पूर्वस्मिन् दास्यन् स्यात्। यदि प्रतिहर्ताऽपच्छिद्येत सर्ववेदसंदद्यात्। जहाँ पहिले उद्गाता और पश्चात् प्रतिहर्ता का अप-च्छेद होता है, वहाँ एक प्रयोग में अदाक्षिण्य और सर्वस्वदान दोनों नहीं होंगे। अतः पूर्व से उत्तर का बाध होना माना गया है—यह सिद्धान्त है। वस्तुतः पर से ही (उत्तर से ही) पूर्व का बाध होता है, क्योंकि पूर्व की उत्पत्ति के समय में उत्तर तो है ही नहीं; किन्तु उत्तर के समय में बिना पूर्वज्ञान का बाध किये उत्तर ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसलिये उत्तर से ही पूर्व का बाध होता है। एवञ्च अपच्छेदन्याय को ही पौर्वापर्यन्याय कहते हैं।

उक्त ग्रन्थ का अभिप्राय यह है—यद्युद्गाताऽपच्छिद्येताऽदक्षिणो यज्ञः संस्थाप्यः, अथाऽन्य आह्यत्यस्तत्र तद्दद्यात्, यत् पूर्वस्मिन् दास्यन् स्यात्, यदि प्रतिहर्ताऽपच्छिद्येत सर्वस्वं दद्यात् इति श्रुतिः तत्र प्रातः सवने परस्परं गृहीतकच्छा ऋत्विजः शालाया बहिः प्रसर्पन्ति, तत्र यद्युद्गाताऽपच्छिद्येत तदा स यज्ञः समापनीयः, किन्तु दक्षिणा न दातव्या, द्वितीयं यज्ञं कृत्वा तत्र ह्येषा दक्षिणा दातव्या, यदि प्रतिहर्ताऽपच्छिद्येत, तदा तस्मिन्नेव यागे सर्वस्वं दक्षिणा दातव्या, इति प्रायश्चित्तद्वयमुक्तम्। युगपदुभयापच्छेदे च विकल्पः। क्रमेणोभयापच्छेदे चोत्तरापच्छेदनिमित्तकं प्रायश्चितं कार्यं, तत्र यद्यनन्तरमुद्गाताऽपच्छिद्येत, तदा द्वितीयप्रयोगे सर्वस्वं दातव्यं, प्रथमेन प्रतिहर्त्रपच्छेदेन प्रथमप्रयोगे सर्वस्वदानस्य प्रतिज्ञातत्वात्। यद्यनन्तरं प्रतिहर्ताऽपच्छिद्येत तदा तस्मिन्नेव प्रयोगे सर्वस्वं दातव्यमिति

सिद्धान्तः षष्ठाध्याय–पञ्चमपादीयैकोनविंशत्यधिकरणेऽधिकरणमालायां द्रष्टव्यः। अत्र अथोत्तरस्याऽपच्छेदस्य प्राबल्यं, पूर्वस्य च बाधो भवति, तथा प्रथमं प्रवृत्तस्यापि प्रत्यक्ष-स्योत्तरेण आगमेन बाधो भविष्यतीति–पूर्वपक्षाभिप्रायः।

निष्कर्ष यही है कि सम्पूर्ण प्रपञ्च अद्वितीय ब्रह्म ही है और वही वास्तविक (पार-मार्थिक) है और भेददृष्टि अविद्याजन्य है। इस प्रकार अद्वैतियों के द्वारा पूर्वपक्ष उपस्थित किये जाने पर द्वैतवादी मीमांसक उससे पूछता है—हे अद्वैतवेदान्ती जी! क्या आप सम्पूर्ण प्रपञ्च को असत् ही मान रहे हैं? इस प्रश्न के उत्तर में अद्वैती 'हाँ' नहीं कर सकता; क्योंकि प्रत्यक्ष का विरोध होगा।

शङ्का—आगम (शब्द) से प्रत्यक्ष का बाध क्यों नहीं होता?

समाधान—प्रत्यक्ष शीघ्र प्रवृत्त होता है, उस कारण वह सर्वापेक्षया बलवान् माना जाता है।

प्रश्न—अपच्छेदन्याय से पूर्वप्रवृत्त प्रत्यक्ष पश्चात् प्रवृत्त होने वाले आगम (शब्द) से प्रबल माना जाता है। अतः आगम से प्रत्यक्ष का बाध नहीं होता; क्योंकि प्रत्यक्ष की शीघ्र प्रवृत्ति होने से उसे सर्वापेक्षया प्रबल माना जाता है।

उत्तर—जैसे उत्तरवर्ती अपच्छेद की प्रबलता होने से वही पूर्व की बाधक होना है, उसी तरह प्रथम प्रवृत्त होने पर भी प्रत्यक्ष का ही उत्तरवर्ती आगम (शब्द) के द्वारा बाध हो जायगा—यह पूर्वपक्षी का कहना है। आगम से अद्वैत का ज्ञान होने के लिये प्रथमतः पदश्रवण पदार्थोपस्थिति का होना आवश्यक होता है। प्रत्यक्ष उपजीव्य (कारण) है और आगम उपजीवक है, इस कारण आगम से प्रत्यक्ष का बाध नहीं होगा। **आगमप्रवृत्ति-समयेऽपीती**। आगम की प्रवृत्ति के समय भी भेद (प्रपञ्च) को प्रदर्शित करने वाला प्रत्यक्ष आगम की प्रवृत्ति का अवरोध करता है। जैसे—उत्पद्यमान घट पर दण्डप्रहार यदि किया जाय तो घट की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। उसी तरह आगम की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि प्रत्यक्षविरोध है।

किञ्च प्रपञ्चाऽभावमिति। दूसरा कारण यह भी है कि प्रपञ्चाऽभाव को जानने के लिये उत्कण्ठित व्यक्ति को यह भी अवश्य जानना होगा कि आगम भी प्रपञ्च के अन्तर्गत रहने से असद्रूप ही है और आगम से ही आगम का अभाव कैसे प्रतीत होगा? असद्रूप से प्रतीयमान होने वाला आगम किसी भी अर्थ का प्रमापक नहीं हो सकता। यदि आगम प्रमाण है, तो उसका असत्व कैसे? तब तो द्वैतापत्ति ही होगा।

अब अनिर्वचनीयवादी प्रत्यक् तत्त्व-प्रदीपिका के रचयिता चित्सुखाचार्य अपने पक्ष का उपपादन कर रहे हैं—**कश्चित् इति**। चित्सुखाचार्य ने अपनी-अपनी चित्सुखी (प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका) में कहा है—

प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं नयत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः ।।

कश्चित् पुनराह—नाऽसत्त्वं प्रपञ्चस्य ब्रूमः, प्रत्यक्षादिप्रमाणतः सिद्ध-त्वात्। नाऽपि परमार्थतः सत्त्वम्, आत्मज्ञानेन बाध्यमानत्वात् तस्मात् सदसद्भ्यामनिर्वाच्योऽयं प्रपञ्च इति।

कश्चिदिति। चित्सुखाचार्य प्रभृति प्राचीन अद्वैत पक्ष को उपस्थित कर रहे हैं। अद्वैत पक्ष वाले प्रपञ्च को असत् नहीं कर रहे हैं; क्योंकि वह प्रपञ्च तो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध ही है। उसी तरह प्रपञ्च को यदि पारमार्थिक सत्य कहें, तो वह भी उचित नहीं होगा; क्योंकि आत्मज्ञान से उसका बाध हो जाता है। इस कारण प्रपञ्च को न सत् कहते बनता है और न असत् ही। उसे अनिर्वचनीय कहना ही उचित होगा।

तदिदमसारम्—सतोऽन्यत्वमेवाऽसत्त्वम्। तद् यदि प्रपञ्चः सन्न भवति व्यक्तमसन्नेवाऽयम्, असत्त्वाऽभावे वा सत्त्वाऽऽपत्तिः, सदसत्त्वयो-रेकनिषेधस्येतरविधिनान्तरीयकत्वात्। न च विधाद्वयरहिते विधान्तरं सम्भवति।

उपर्युक्त मत का खण्डन किया जा रहा है। 'परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः' इस न्याय से सत्त्वमेव वा स्यात् असत्त्वमेव वा स्यात् न प्रकारान्तरं सम्भवति; क्योंकि जो सत् से भिन्न रहता है, उसे ही असत्त्व कहा जाता है। अतः उक्त मत निःसार (सार-रहित) है। यदि प्रपञ्च सत् नहीं होता, तो उसे (प्रपञ्च को) असत् ही कहा जाता। अथवा असत्व के अभाव में सत्व की प्रसिद्धि होती। अर्थात् प्रपञ्च को सत् ही कहा जाता; क्योंकि सत् अथवा असत्—इन दोनों से किसी एक का निषेध किये जाने पर दूसरा निश्चित ही विद्यमान रहता।

शङ्का—यदि दोनों प्रकार सम्भवनीय नहीं हो रहे हैं, तो कोई तृतीय प्रकार निकाला जाय?

उत्तर—न च विधाद्वयरहिते विधान्तरं सम्भवति। अर्थात् उक्त दोनों प्रकारों का सम्भव न रहने से तृतीत प्रकार का ह्येना सम्भव नहीं है। इसलिये प्रपञ्च को अनिर्वचनीय नहीं कहा जा सकता।

निष्कर्ष यह है कि एकनिषेधस्य इतरविधिना नान्तरीयकत्वम् = अविनाभावोऽस्ति। जैसे—यत्र सत्त्वं नास्ति, किन्तु सत्त्वनिषेधोऽस्ति—ऐसी जगह पर इत्यस्य असत्त्वस्य विधिः अर्थात् भावोऽस्ति। यत्र च असत्त्वनिषेधोऽस्ति, तत्र इतरस्य सत्त्वस्य विधिर्भवति। अर्थात् सत्त्वाऽसत्त्व दोनों का ही समुच्चय अथवा प्रतिषेध का होना सम्भव नहीं होता। विधाद्वयरहिते = सत्त्वाऽसत्त्वप्रकारद्वय के अभाव में विधान्तर (प्रकारान्तर) का होना सम्भव नहीं है। निष्कर्ष यह है कि किसी भी वस्तु का सदसद्वैलक्षण्य अर्थात् सत् या

असत् के सिवाय किसी अन्य प्रकार का होना सम्भव ही नहीं है; क्योंकि पदार्थमात्र (वस्तुमात्र) सत्त्व–असत्त्व—दोनों में से किसी एक से (अन्यतर से) व्याप्य होता ही है।

किञ्च—अद्वैतवादी वेदान्ती के मत में भी सत् अथवा असत्—इन दोनों से भिन्न किसी अन्य रीति से निरुक्ति = निर्वचन करना असम्भव नहीं है, अत: अनिर्वचनीयत्व की उपपत्ति लगाना असम्भव ही है।

किञ्च—ब्रह्म भी सदसद्भ्यां विचार पदवीं न गाहते निर्विशेषत्वात्, इसलिये उसे भी अनिर्वचनीय कहना होगा। और जिस वस्तु की सत्त्वेन प्रतीति होती है, वह तो तुम्हारे मत के अनुसार मिथ्या ही मानी जाती है; क्योंकि सविशेषत्वात् = वह विशेष के सहित होती है। इसलिये अनिर्वचनीयतावाद नितान्त सारहीन ही है।

अथापि यन्न कदाचित् प्रतीयते तदसद्यथा शशविषाणम्, यत् प्रतीतं न कदाचिद् बाध्यते तत् सद्यथा आत्मतत्त्वम्, प्रपञ्चस्तु प्रतीयमानत्वाद्बाध्यमानत्वाच्च भावाऽभावाभ्यामनिर्वाच्य इति मतम्। तदनुपपन्नम्, लोकविरोधात्। यद्धि प्रतीतं बाध्यते मृगतोयरज्जुसर्पादि तदसदेवेति हि लौकिकी प्रसिद्धिः। न हि शशविषाणादीनां मृगतायादीनां च कश्चिद् विशेषो लोके। सोऽयं प्रपञ्चोऽपि बाध्यते चेत्? असन्नेवेति नाऽनिर्वाच्यत्वम्।

शङ्का—शशविषाण (खरगोश के सींग) आदि की प्रतीति असत्वेन होती है और आत्मा की प्रतीति सत्त्वेन होती है; किन्तु प्रपञ्च तो उभयविलक्षण है अर्थात् दोनों से भिन्न ही है; क्योंकि उसकी प्रतीति होती रहती है और बाध भी होता रहता है। उस कारण भावाऽभावाभ्यां = सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यां अर्थात् सत्त्वेन रूपेण तथा असत्त्वेन रूपेण भी प्रतीति होती रहती है, अत: उसे अनिर्वाच्य कहना ही उचित प्रतीत हो रहा है। निष्कर्ष यह है कि असत् का प्रयोग उसके लिये किया जाता है, जो कभी प्रतीत नहीं होता। जैसे—शश (खरगोश) के सींग। आज तक उसकी प्रतीति किसी को नहीं हुई है। तथा सत् उसे कहते हैं, जो प्रतीत होने पर कभी भी बाधित नहीं होता। जैसे—आत्मतत्त्व; किन्तु प्रपञ्च की प्रतीति सभी को होती है और उसका बाध भी होता है। इस कारण यह प्रपञ्च भावरूप भी तथा अभावरूप भी है, इसलिये प्रपञ्च को अनिर्वचनीय कहा जाता है; क्योंकि न उसे भावरूप ही कह सकते हैं और न उसे अभावरूप ही कह सकते हैं।

समाधान—तदनुपपन्नमिति उपर्युक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि वह लोक-विरुद्ध है। जैसे मृगजल (सूर्यरश्मियों में जल का ज्ञान) तथा रज्जु = रस्सी में सर्पज्ञान होना—यह सब असत् ही है। ऐसा सभी लोग कहा करते हैं अर्थात् यह लोकप्रसिद्ध तथ्योक्ति है। **न हि शशविषाणादीनामिति**। लोकव्यवहार में शश के शृंग और सूर्य किरणों में जलबुद्धि—इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। उसी तरह प्रपञ्च के बाधित होने

पर भी उसे असत् ही कहा जायगा, उसे अनिर्वचनीय कोई नहीं कहेगा।

अथाऽपि लोकप्रसिद्धिमनादृत्य वृद्ध्यादिवत् परिभाषारूपेणाऽनिर्वाच्य इत्युच्यते? तथाऽप्ययुक्तम्; प्रपञ्चस्य बाध्यत्वाभावात्, न तावत् संसाराऽवस्थायामागमेन बाधः सम्भवतीत्युक्तम्। मुक्तस्य तु बाधकज्ञानं नाऽऽशङ्कनीयमेव, प्रलीनसर्वकरणत्वात् करणाऽभावे च ज्ञानाऽसम्भवात्। न चाऽस्मर्यमाणस्य प्रपञ्चस्याऽभावः शक्यते प्रत्येतुम् न च तस्यामवस्थायां सम्भवति स्मरणम्, सर्वसंस्काराणामुच्छिन्नत्वात्, तस्मान्न बाधसम्भवः।

प्रश्न—गुणवृद्धि संज्ञाओं को पारिभाषिक मानने वाले वैयाकरणों के समान ही प्रपञ्च की अनिर्वचनीयता को यदि पारिभाषिक कहें तो क्या हानि है?

उत्तर—तथाऽप्ययुक्तमिति। अनिर्वचनीयता को पारिभाषिक कहना भी उचित नहीं होगा; क्योंकि प्रपञ्चस्य बाधाऽभावात्। प्रपञ्च का बाध नहीं होता। न तावत् संसाराऽवस्थायामिति।

अथापिति। अर्थात् लोकप्रसिद्धमनादृत्य वृद्ध्यादिवदिति। लोकव्यवहार में प्रसिद्ध तथ्य की अवहेलना करके वृद्धिगुण आदि के समान अर्थात् वैयाकरण विद्वान् पाणिनीय वृद्धिसंज्ञाविधायक तथा पाणिनीय गुणसंज्ञाविधायक वृद्धिरादैच् और अदेङ्गुणः (अ–ऐ–औ और ह्रस्व आकार, ए, ओ) को यथाक्रम वृद्धि और गुणसंज्ञा को पारिभाषिक कहते हैं, उसी तरह प्रपञ्च की अनिर्वचनीयता को भी पारिभाषिक मान लिया जाय तो कौन-सी हानि है?

उपर्युक्त कथन प्रपञ्च का बाध न होने से उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। न तावत् संसारावस्थाया- मागमेन बाधः सम्भवतीत्युक्तम् इति। अर्थात् संसारावस्था में आगम से बाध नहीं होता—यह आपने (अद्वैतियों ने) कहा है और मुक्तस्य तु बाधकज्ञानं नाऽऽशङ्कनीयमेव, प्रलीनसर्वकरणत्वात् करणाऽभावे च ज्ञानाऽसम्भवात्। मुक्त जीवों को बाधक ज्ञान होने की शङ्का भी नहीं की जा सकती; क्योंकि चक्षुरादि सभी इन्द्रियाँ विलीन हो जाती हैं, तब करणााऽभावे च ज्ञानाऽसम्भवात्—करणों (इन्द्रियों) के अभाव में ज्ञान होना कभी भी सम्भव नहीं है। न च अस्मर्यमाणस्य प्रपञ्चस्य अभावः शक्यते प्रत्येतुम्–जिसकी स्मृति तक नहीं हो रही है; क्योंकि सभी संस्कार उच्छिन्न हो गये हैं, अतः प्रपञ्च का बाध होना भी सम्भव नहीं है। अर्थात् अस्मर्यमाण का अभाव भी नहीं जाता जा सकता; क्योंकि अभावज्ञान तो प्रतियोगिज्ञान सापेक्षा हुआ करता है। मुक्तावस्था में उसके लिये संसार ही नहीं है। अन्यथा मुक्तत्वाऽभाव कहना पड़ेगा। जब उसके संसार ही नहीं है, तब उसका बाध भी कैसे होगा? तस्मात् न बाधसम्भवः अर्थात् संसार का बाध होना सम्भव ही नहीं है।

(प्रपञ्चस्याऽविद्यकत्वनिरसनम्)

यच्चाऽविद्याकृतोऽयम्प्रपञ्चः इति, का पुनरियमविद्या? किं भ्रान्तिज्ञानम्? किं वा भ्रान्तिज्ञानकारणभूतं वस्त्वन्तरम्? यदि भ्रान्तिः, सा कस्य? न ब्रह्मणः, तस्य स्वच्छविद्यारूपत्वात्। न हि भास्करे तिमिरस्यावकाशः सम्भवति। न च जीवानाम्, तेषां ब्रह्मणातिरेकेणाऽभावात्। भ्रान्त्यभावादेव च तत्कारणभूतं वस्त्वन्तरमप्यनुपपन्नमेव। ब्रह्मातिरेकेण भ्रान्तिज्ञानं तत्कारणं चाऽभ्युपगच्छतामद्वैतहानिः।

जिस किसी ने यह कहा है कि प्रपञ्च, अविद्यक है, वह कथन उचित नहीं है। आविद्यक कहने वाले से अविद्या का स्वरूप पूछा जाय—का पुनरियमविद्या? किं भ्रान्तिज्ञानम्? किंवा भ्रान्तिज्ञानकारणभूतं वस्त्वन्तरम् अर्थात् भ्रान्त्यात्मक (भ्रान्तिरूप = भ्रान्तिज्ञान) अविद्या का स्वरूप है? अथवा भ्रान्तिज्ञान की कारणभूत कोई अन्य वस्तु है? उक्त दो पक्षों में प्रथम पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि यदि भ्रान्ति (भ्रम) को ही अविद्या कहा जाय, तो क्या वह (भ्रान्तिरूपा अविद्या) ब्रह्मसमवेता है? अथवा जीवसमवेता है? अर्थात् वह भ्रान्ति (भ्रम) ब्रह्म की है या जीव की है? ब्रह्म की भ्रान्ति है—यह तो नहीं कह सकते; क्योंकि वह तो स्वच्छ (निर्मल) विद्यारूप (ज्ञानरूप) है। न हि भास्करे तिमिरस्य अवकाशः सम्भवति। अर्थात् जैसे सूर्य में अन्धकार नहीं टिक सकता, तथैव ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में भी अविद्या नही टिक सकती; क्योंकि विद्या और अविद्या का परस्पर विरोध है। अर्थात् दो विरुद्ध पदार्थ एकत्र नहीं रहा करते। यदि कहें कि भावरूपा वह अविद्या ब्रह्म में रहती ही है, तो उसे विद्याविरुद्ध नहीं कह जा सकेगा। तथा च विद्या से आविद्यक प्रपञ्च की निवत्ति भी नहीं हो सकेगी। इस प्रथम पक्ष का खण्डन किया गया। अब द्वितीयपक्ष का विचार किया जाय।

न च जीवानामिति। जीवात्माओं की भ्रान्ति यदि कहें तो यह कहना भी उचित नहीं होगा; क्योंकि यदि जीवों के ब्रह्मातिरिक्त कहें, तभी तो उनमें अविद्या का सम्बन्ध भी हो सकेगा, किन्तु ऐसी स्थिति नहीं है; क्योंकि अद्वैतियों के मत में ब्रह्म से भिन्न जीव है ही नहीं। इसलिये भ्रान्ति (भ्रम) का होना सम्भव ही नहीं है। तब भ्रान्ति के न रहने से उसकी कारणीभूत जो अविद्या, वह भी अनुपपन्न ही है।

बह्मातिरेकेणेति। ब्रह्म से भिन्न जो भ्रान्तिज्ञान तथा उसके कारणीभूत अज्ञान को स्वीकार करने वाले आपके (अद्वैतियों) मत में अद्वैत की हानि होगी अर्थात् द्वैतापत्ति होगी। ब्रह्म में अविद्या का होना सम्भव ही नहीं है। अतः ब्रह्म से भिन्न न रहने वाले अर्थात् ब्रह्म से अभिन्न जीवों में भी अविद्या का होना कैसे सम्भव हो सकेगा? अर्थात् कदापि सम्भव नहीं है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा गया है कि अज्ञान के होने में न लौकिक प्रमाण है और न वैदिक प्रमाण ही हैं। कार्य की दृष्टि से यदि कल्पना करें

तो एक ही अज्ञान की कल्पना करने में लाघव होगा। कहा भी है—

लौकिकी वैदिकी वापि नाऽज्ञाने दृश्यते प्रमा।
कार्यं दृष्ट्वाऽथ कल्प्यं चेल्लाघवादेकमेव तत्॥

जीव तो अविद्या के बाद ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये पूर्वसिद्ध अज्ञान उनकी उत्पत्ति में कारण नहीं बन सकता। इसलिये ब्रह्म को ही कारण मानना होगा। तब मोक्ष की सिद्धि नहीं हो पायगी।

तत् किं कृता च ब्रह्मणोऽविद्या? न हि कारणान्तरमस्ति। स्वाभाविकी चेत्? कथं विद्यास्वभावमविद्यास्वभावं स्यात्। स्वाभाविकत्वे चास्याः केन विनाशः स्यात्? आगमिकं ध्यानादि, तज्जन्यं वा स्वरूपज्ञानं ब्रह्माऽविद्यां नाशयतीति चेत्? न, न ह्यागमो वा ध्यानादयो वा तज्जन्यं वा ज्ञानं नित्यज्ञानात्मकब्रह्मातिरिक्तमस्ति, यदविद्यां नाशयेत्। तद्वर-मस्मान्मायावादान्माहायानिकवादः। यत्र नील-पीतादिवैचित्र्यं कार्य-कारणभावो बद्धमुक्तादिव्यवस्था च सन्तानभेदेन समर्थ्यते। नित्यमेकरसं निष्प्रपञ्चमात्मानमुपेयुषां तु समस्तलोकवेदव्यवहारोच्छित्तिरेव स्यात्।

द्वैतापत्ति के भय से अविद्या को कारणत्वेन स्वीकार न करने पर ग्रन्थकार पूछ रहे हैं—किं कृता च ब्रह्मणोऽविद्या? ब्रह्म की अविद्या किससे बनी है? क्योंकि अन्य कोई कारण है ही नहीं।

यदि ब्रह्म की अविद्या को स्वाभाविक कहें? तो ज्ञानस्वरूप ब्रह्म अविद्यास्वभाव कैसे होगा? और अविद्या जब स्वभावसिद्ध (स्वाभाविक) होगी, तो उसका विनाश किससे होगा?

शङ्का– कारण का विनाश होने से ही कार्यरूप पदार्थ का विनाश होता है—यह कोई नियम नहीं है; क्योंकि रूपादि के विनाश में नियम व्यभिचरित होता है। जैसे श्यामरूप समवायिकारण का आश्रयभूत घट का विनाश न होने पर भी रक्तरूप की उत्पत्ति से अथवा अग्निसंयोग से श्यामरूप का विनाश होता है, उसी तरह अविद्याश्रय ब्रह्म के नित्य होने से अविनाशित्व रहने पर भी और अविद्या के स्वाभाविक रहने पर भी ब्रह्म की उस अविद्या को आगमिक (आगमबोध्य) तत्त्वमसि आदि वाक्यों से उत्पन्न होने वाला ध्यानादिक ज्ञानस्वरूप जो अविद्या के विरुद्ध है, वह अपने विरोधी अविद्या का नाश कर देगा। इसी आशय के कतिपय वाक्य भी सुनाई देते हैं—तरति शोकमात्मवित्, ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति, आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः इति। अन्यथा श्रवणादि वाक्य सुनाई दे रहे हैं, वे सब व्यर्थ ही हो जायेंगे। और ध्यानादिकों से अविद्या का नाश होना सम्भव भी नहीं है; क्योंकि वे अविद्या के विरोधी नहीं है। तब ध्यानादिजन्य जो स्वरूपज्ञान है, वही उसे नष्ट कर देगा। अर्थात् शास्त्रजन्य ध्यान आदि

ब्रह्म की अविद्या के निवर्तक होंगे। अथवा ध्यानादि से उत्पद्यमान जो ब्रह्म स्वरूपसाक्षात्कार, वह अविद्या को नष्ट कर देगा—ऐसा भी कह सकते हैं; किन्तु यह कहना अनुचित है; क्योंकि आगम अथवा ध्यान आदि अथवा तज्जन्य साक्षात्कार नित्यज्ञानरूप ब्रह्म से पृथक् है ही नहीं, जो अविद्या को नष्ट कर सके। क्योंकि अद्वैत वेदान्तियों के मत में केवल ब्रह्म का ही स्वीकार किया है। अन्यथा अद्वैत सिद्धान्त की हानि होगी। ब्रह्म में अविद्या तो रहती ही है। इस कारण उससे वह नष्ट नहीं हो सकती। यह भी नहीं कह सकते कि सविशेष ब्रह्म में रहने वाली जो अविद्या है, वह निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपा है। अत: मायावाद से तो महायानीयवाद (बौद्ध सिद्धान्त) ही अच्छा है।

यदि ब्रह्मातिरिक्त ध्यानादिक तुम्हारे मत में हो तो उससे अविद्या का विनाश होना सम्भव हो भी सकता है, किन्तु तुमने केवल एकमात्र ब्रह्म का ही स्वीकार किया है; क्योंकि उसे भी स्वीकार करने से अद्वैत की हानि होगी और ब्रह्म में अविद्या तो स्थित रहती ही है, अत: ब्रह्म से उसका नाश नहीं हो सकता। यदि यह कहें कि सविशेष ब्रह्म में जो अविद्या है, उसका निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप से नाश होता है, तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि बिना अविद्या के सविशेषत्व होना ही सम्भव नहीं है और अविद्या को उसका अधिकार (आधार) मानने पर जीव की तरह ब्रह्म को भी मिथ्या मानना होगा। इससे तो यही अच्छा होगा कि मायावाद की अपेक्षा माहायानिक वाद को ही माना जाय। कहा भी है— मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव वा- इति।

माहायानिकवाद का अर्थ है, बौद्धवाद = बौद्धसिद्धान्त। अत्र नील-पीतादिवैचित्र्यं कार्य-कारणभाव इति। **अत्रेति**। जिस माहायानिकवाद = बौद्धसिद्धान्त में सन्तानभेद से अथवा अवस्थाभेद से (क्षणभेद से) कोई ज्ञान नील-पीत-हरित आदि को विषय करता है, इसी प्रकार कोई कार्यकारूपेण अथवा कोई कारणरूपेण भासता है। नील-पीतादिरूप से परिणामावस्था रहने पर बद्धत्व और परिणाम की निवृत्ति होने पर मुक्तत्व माना जाता है। कहा भी है—

नाऽन्योनुभाव्यो बुद्ध्याऽस्ति तस्या नाऽनुभवोऽपर: ।
ग्राह्य-ग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ।।
सहोपलम्भनियमादभेदो नील-तद्धियो: ।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाऽद्वये ।।
तत् स्यादालयविज्ञानं यद् भेदेदहमास्पदम् ।
तत् स्यात् प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुक्तिचेत् ।।

बौद्धों ने यच्च यावत् सभी पदार्थों को क्षणिक विज्ञान के रूप में बतलाया है, किन्तु अद्वैतवाद में श्रुति का असत्त्व और प्रामाण्य तथा ब्रह्म का ज्ञानैकरूपत्व और अविद्याश्रयत्व। प्रपञ्च के असत्त्व की निवृत्ति के लिये उपाय करने चाहिये। इस प्रकार अनैकान्तिक की तरह सभी कुछ परस्पर विरुद्ध ही बताया गया है। इस कारण यही कहना पड़ता है कि

ऐसे अद्वैतवाद से तो बौद्धवाद ही अच्छा है जिसमें सन्तानभेद अथवा अवस्थाभेद से कोई ज्ञान नील को विषय करता है, कोई ज्ञान पीत की प्रतीति कराता है। इसी प्रकार कोई कार्य के रूप में प्रतीत होता है, कोई कारण के रूप में प्रतीत होता है। कोई नील-पीत आदि के रूप में परिणामावस्था से बद्ध होते हैं और परिणाम की निवृत्ति होने पर मुक्त हो जाते हैं। इत्यादि व्यवस्था प्रदर्शित की गई है, अर्थात् प्रपञ्च को अज्ञान का कार्य, कहा गया है। जैसे प्रथम दृष्टान्त मृगतोय (मृगमरीचिका) अर्थात् मरुभूमि में प्रतीयमान जल तथा अन्य दृष्टान्त स्वाप्नप्रपञ्च। प्रथम ज्ञान का बाध यहाँ जल नहीं है– इस बाधक ज्ञान से होता है। तथा द्वितीय ज्ञान अर्थात् स्वाप्नप्रपञ्च का बाध जाग्रत् ज्ञान से होता है। इसी प्रकार निर्विशेष आत्मज्ञान से प्रपञ्च का बोध होता है। ब्रह्मज्ञान तो मुक्ति = मोक्ष का साधन है। प्रपञ्चनिवृत्ति से उपलक्षित ब्रह्मस्वरूप ही मोक्ष पदार्थ है। अतः स्वीकार करना होगा। प्रपञ्च अज्ञानजन्य है, अन्यथा ब्रह्मज्ञान से उसकी निवृत्ति होना असम्भव है; किन्तु अज्ञान और तज्जन्य कार्य इन दोनों की निवृत्ति ज्ञान से हुआ करती है।

यदप्याहुः– अज्ञानजन्यः प्रपञ्चो ज्ञानेन विनाश्यते मृगतोयवत् स्वप्नप्रपञ्चवच्चेति। तदप्ययुक्तम्; यदि कुलालादिव्यापारस्थानीयेन अज्ञानेन घटवदुत्पन्नः प्रपञ्चो मुसलस्थानीयेन ज्ञानेन नाश्यते, तथापि नाऽसत्त्वं प्रपञ्चस्य स्यात्, उत्पत्तिविनाशयोगादनित्यतामात्रं स्यात्, नाऽत्यन्ताभावः।

यदप्याहुरिति। जैसे मृगमरीचिकाओं में (मृगजल में) प्रतीयमान जल का बाध नाऽत्र जलं नेदं जलं वा इस बाधकज्ञान से किया जाता है और स्वाप्नप्रपञ्च का बाध प्रबोध (जगने) से होता है, उसी तरह निर्विशेष आत्मज्ञान से प्रपञ्च का बाध होगा और ब्रह्मज्ञान से मोक्षप्राप्ति सुनी जाती है। प्रपञ्चनिवृत्ति को ही मोक्ष कहते हैं। अत एव प्रपञ्च को अज्ञानजन्य कहा जाता है। अन्यथा प्रपञ्चनिवृत्ति ब्रह्मज्ञान से न होती; क्योंकि अज्ञान और तत्कार्य—दोनों की निवृत्ति ज्ञान से ही होती है।

उपर्युक्त कथन के परिहारार्थ 'तदप्युक्तम्' इति ग्रन्थकार ने कहा है। ज्ञान से प्रपञ्च का बाध होने पर भी उसका असत्त्व (अविद्यमानता) होना सम्भव नहीं है; क्योंकि असत्त्व रहने पर बाध किसका होगा? और असत्त्व का अभाव रहने से प्रपञ्च का अज्ञानजन्यत्व होना भी सम्भव नहीं है। तुम भी असत्त्व होने से ही उसे अज्ञानजन्य कह रहे हो, अर्थात् असत्त्वनिवृत्ति से ही अज्ञानजन्यत्व की भी निवृत्ति होती है। किसके अज्ञान से प्रपञ्च की जन्यता है? यह अनुपपत्ति पहले बता चुके हैं।

पूर्वपक्षी ने जो कहा है कि अज्ञान से प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है और उसका नाश ब्रह्मज्ञान से होता है—मृगजल तथा स्वप्नप्रपञ्च के समान; किन्तु यह उपर्युक्त कथन भी तर्कसंगत नहीं है। **यदि कुलालादिव्यापारस्थानीयेनेति।** जैसे कुलाल के व्यापार से घट की उत्पत्ति होती है और मुसलप्रहार से उस घट का नाश होता है, उसी तरह अज्ञान से उत्पद्यमान प्रपञ्च का नाश ज्ञान से होता है। यहाँ पर कुलाल के व्यापारस्थानापन्न

अज्ञान को समझना है और मुसलस्थानापन्न ज्ञान को समझना है। फिर भी प्रपञ्च का असत्त्व नही हो सकता; क्योंकि उत्पत्तिविनाश के द्वारा केवल अनित्यता ही निष्पन्न होगी। किसी पदार्थ का अत्यन्ताभाव नहीं होगा।

केन च ज्ञानेन नाशः? नाऽऽत्मज्ञानेन, विरोधाऽभावात्। निष्प्रपञ्चाऽऽत्मज्ञानेनेति चेत्? न, तत्राऽऽत्मज्ञानांशस्याऽविरोधात्। निष्प्रपञ्चत्वज्ञानं विनाशकमिति पारिशेष्यादापन्नम्– प्रपञ्चाऽभावश्च निष्प्रपञ्चत्वम्, न च विद्यमाने प्रपञ्चे तदभावज्ञानमुत्पत्तुमर्हति। ज्ञानेन हि उत्पन्नेन प्रपञ्चो नाशयितव्यः, प्राक् च ज्ञानात् सद्रूप एव प्रपञ्चः, तस्मिन् सद्रूपेऽवस्थिते कथं तदभावविषयस्य ज्ञानस्योत्पत्तिः? तत्र ज्ञानस्योत्पत्तौ सत्यां प्रपञ्चस्य नाशः, तद्विनाशे च सति तदभावविषयज्ञानोत्पत्तिरितीतरेतराऽऽश्रयत्वम्।

केन च ज्ञानेन नाशः? इति । तुम प्रपञ्च के नाश को किस ज्ञान से बता रहे हो? क्या आत्मज्ञान से अथवा निष्प्रपञ्च आत्मज्ञान से? प्रथम पक्ष का निराकरण कर रहे हैं—**नात्मज्ञानेनेति**। विरोध रहने पर ही बाध्य-बाधकभाव हुआ करता है। यदि आत्मज्ञान का प्रपञ्च के साथ विरोध हो, तब तो ज्ञानस्वरूप आत्मा में प्रपञ्च की प्रतीति ही नहीं होगी; किन्तु प्रतीति तो होती है। अतः कहना होगा कि विरोध नहीं है, किंवा आत्मज्ञान के रहने पर भी प्रपञ्च की अनुवृत्ति होती रहती है, उसी कारण आत्मज्ञान के साथ प्रपञ्च का विरोध नहीं है। तथा च आत्मज्ञान से प्रपञ्च का बाध होना सम्भव नहीं है । इस रीति से प्रथम पक्ष का निराकरण किया गया।

अब द्वितीय पक्ष को उपस्थित किया जा रहा है—**निष्प्रपञ्चेति**। यह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि आत्मज्ञान अंश का प्रपञ्च के साथ विरोध नहीं है। इस पक्ष में दो अंश हैं—निष्प्रपञ्चत्व और आत्मज्ञानत्व। ज्ञान अंश का प्रपञ्च से विरोध है ही नहीं, अतः पारिशेष्यात् निष्प्रपञ्चत्वज्ञान ही विनाशक होगा। एवञ्च निष्प्रपञ्चत्वज्ञान प्रपञ्च का विनाशक है। प्रपञ्चाभाव को ही निष्प्रपञ्चत्व कहते हैं। प्रपञ्च के विद्यमान रहने पर उसका अभावज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। ज्ञानेन हि उत्पन्नेन प्रपञ्चो नाशयितव्यः = उत्पन्न हुए ज्ञान से ही प्रपञ्च का नाश करना होगा। ज्ञान होने से पूर्व प्रपञ्च तो सद्रूप है। सद्रूप प्रपञ्च के रहने पर, तदभावविषयक ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होगी? क्योंकि अन्योन्याऽऽश्रयदोष होगा। उसी को बता रहे हैं—'तत्र ज्ञानोत्पत्तौ सत्यां प्रपञ्चस्य नाशः, तद्विनाशे च सति तदभावविषयज्ञानोत्पत्तिरितीतरेतरा-श्रयत्वम्' अर्थात् ज्ञान के उत्पन्न होने पर प्रपञ्च का नाश होगा और प्रपञ्च का नाश होने पर प्रपञ्चाऽभावविषयक ज्ञान उत्पन्न होगा। यही अन्योन्याश्रय दोष है। इसलिये प्रपञ्च अज्ञान से उत्पन्न है और उसका नाश ज्ञान से होता है—यह पक्ष उचित नहीं है; क्योंकि ज्ञान अपने विषय के अधीन होता है, प्रपञ्च का नाश होने पर ही प्रपञ्चाऽभावविषयक ज्ञान की उत्पत्ति होती है, यह अन्योन्याश्रयदोष का स्वरूप है।

अतः प्रपञ्चस्य न ज्ञानविनाश्यत्वम्, न वा अज्ञानजन्यत्वम्- प्रत्युत तस्य प्रपञ्चस्य सत्त्वमेव। और सुना भी जाता है—यदिदं किंच तत् सत्यमित्याचक्षते इति।

(पूर्वोक्तन्यायस्य अतिदेशः)

एतेन मृगतृष्णिकाजलस्य ज्ञानविनाश्यत्वं प्रत्यूढम्। न हि तज्जलं सत् पश्चान्नाश्यते? प्रागपि हि तत्र नैव जलम्, अजलमेव हि रश्मिप्रतप्तमूषरं भ्रान्त्या जलात्मनाऽवगतम्पश्चाद्बाधकेन यथाऽवस्थितरूपमवगम्यत इत्यलमनेन बालजल्पितेन।

।। इति अद्वैतमतनिरासः ।।

उक्त न्याय का अन्यत्र अतिदेश करते हैं—**एतेनेति**। उक्त न्याय के अतिदेश से मृगतृष्णा के जल का नाश ज्ञान से होता है—इस कथन का भी खण्डन हो जाता है। उसी को 'न हि तज्जलम्' से बताया जा रहा है। निष्कर्ष यह है कि यथार्थ ज्ञान होने पर मृगतोय (मृगजल) की तरह प्रपञ्च का नाश हो जाता है, तथापि मृगजल (मृगतोय) का ज्ञान से नाश नहीं होता, जिससे उसके दृष्टान्त से प्रपञ्च का ज्ञान से नाश होना कहा जा सके। पहिले भी वहाँ जल नहीं था, जल नहीं रहने पर भी सूर्य की रश्मियों से सन्तप्त हुआ मरुस्थल ही जल के रूप में ज्ञात होता है, पश्चात् इदं जलं न इत्याकारक बाधज्ञान से वह मरुस्थल पूर्ववत् ही दिखाई देने लगता है। निष्कर्ष यह है कि वहाँ पर न जल की उत्पत्ति हुई और न ही उसका बाध हुआ; अपितु जलज्ञान का ही बाध होता है। यही कहना उचित है। अब आगे अज्ञानी बालकों जैसी बातें मत कीजिए—इसी को ग्रन्थकार ने 'इत्यलमनेन बालजल्पितेन' शब्द से कहा है।

प्राभाकरकृतमपि अद्वैतवादखण्डनम्

अद्वैतवाद का खण्डन प्राभाकरों ने भी किया है। प्राभाकरों ने कहा है—अद्वितीयमसंसृष्टं सकलोपाधिपरिशुद्धं ब्रह्म, तदनाद्यविद्यावशेन शरीरादिसद्वितीयमिवोपाधिकलुषिताऽवभासमानं लब्धजीवव्यपदेशं सद् बद्धमिव कल्प्यते, अतोऽनाद्यविद्यैव संसारो निखिलविकल्पातीतपरिशुद्धविद्योदयात् तदस्तमय एव मोक्षः।

तदिदं श्रद्धाविजृम्भितमिति प्रमाणपरतन्त्राः। न खलु अद्वैतं कस्यचित् प्रमाणस्य गोचरः । स्यान्मतम्, प्रत्यक्षमेव विधिमात्रोपक्षीणव्यापारमपरिस्पृष्टाऽन्योन्यभेदं तदेकमेव तत्त्वं साक्षात् करोतीति? तदसत्; सत्यं विधायकमेव प्रत्यक्षं तत्तु विदधदपि रूपं रूपतया रसं च रसतया विदधाति, न पुनः सर्वमेकरूपमेव । अथाऽऽगमादेवाऽद्वैतं सिध्यति? तन्न; आगमस्य कार्यैकविषयतया सिद्धे तत्त्वे प्रामाण्याऽनुपपत्तेः । अपि च वाक्यार्थे आगमः प्रमाणमिष्यते, तच्चाऽनेकपदार्थात्मनि वाक्यार्थे धियमुपजनयत् कथमद्वैतमवभासयेत्? अथेदमुच्यते—स एष नेति नेति इति सकलोपाधिप्रतिषेधेन नानाभूतवस्त्वन्तराऽपाकरणादद्वैतमागमेन साध्यते? इति। तदप्यसारम्; यः खलु एष इति सद्रूपतया प्रत्यव-

मृष्टः पदार्थः सोऽसत्त्वापादकेन नञर्थेन सह सम्बद्धुमयोग्योऽस्ति नास्तीतिवत्। अन्वयाऽयोग्ययोश्च पदार्थयोरन्वयाऽभावान्न वाक्यार्थीभवनम्। तर्हि निराकृतान्येव सर्वाणि निषेधवाक्यानि? मन्द! मैवं परिभाषय नहि निषेधवाक्येषु कस्यचिदात्यन्तिको निषेधः, किन्तु क्वचिन्निषिध्यते, अद्वैताऽभिमानी तूभयानात्यन्तिकमेव निषेधमभिलषति सोऽयमात्मीय एव वाणो भवन्तं प्रहरति। अथोच्येत– वित्तेर्भिन्नस्याऽप्रकाशात्मनः प्रकाश एवाऽनुपपन्नः इति यद् यत् प्रकाशते तत्तत् प्रकाशादभिन्नं प्रकाशात्मकं हि ब्रह्म, अतो ब्रह्मात्मकं जगदिति सिद्धमद्वैतमिति? तदिदं स्वपक्षविरुद्धम्। एवं हि नानाभूतानामाकाराणां प्रकाशाऽभेदे प्रकाशस्याऽपि नानाभावाऽऽपत्तेरद्वैतं दूरापरास्तम्। अपि चाऽप्रकाशात्मन एव प्रकाशः सम्भवति। अपि च अत्यन्तमसन्तं प्रपञ्चं कथमविद्यां प्रकाशयितुमलम्? अतो नाऽविद्यास्तमयो मोक्षः। आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निःशेषधर्माधर्मपरिक्षयनिबन्धनो मोक्ष इति सिद्धम्।

(परिणामवादिनो भाष्यकरस्य मतोपपादनम्)

केचित्त्वौपनिषदाः—परमार्थत एवाऽऽत्मा प्रपञ्चरूपेण स्वेच्छया परिणमतीति मन्यन्ते, तथा च सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाऽद्वितीयम्, तदैक्षत बहुस्याम्प्रजायेय इत्येकस्यैव सन्मात्ररूपतया प्रगवस्थितस्याऽऽत्मनोऽनेकव्योमादिभेदभिन्नप्रपञ्चरूपेण बीजस्येव वृक्षरूपेण परिणामो दर्शितः, तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः इत्यौपनिषदां वादा पुराणवादाश्चाऽस्मिन्नर्थे शतशो दृश्यन्ते। पुरुष एवेदं सर्वम्, नेह नानास्ति किञ्चन इत्यादि तु धर्मिभेदाऽभावाऽभिप्रायम्, तद्यथैको वृक्षः प्रादेशमात्रादूर्ध्वं नानाशाखोऽवस्थितो दूरस्थैर्नानावृक्षा इति गम्यते तद्वेदिनश्चाऽन्ये तेभ्यः कथयन्ति—नेमे नानावृक्षाः किंत्वेक एवाऽयं वृक्षो नानाशाखोऽवस्थितः इति, तथा नामरूपप्रपञ्चं नानारूपं पश्यताम्, मूलकारणस्यैकस्याऽऽत्मनोऽयं नानारूपः परिणाम इत्येवमजानतां तत्त्वकथनार्था एवंविधा वादाः। सर्वमेकस्यैव विस्तारो न किञ्चिदत्र नानाऽस्तीति।

ग्रन्थकार श्रीपार्थसारथिमिश्र ने अभी तक अद्वैतवाद का खण्डन किया, तदनन्तर अब परिणामवादी भास्कर के मत का खण्डन करने के लिये प्रथमतः उसका (अर्धजरतीय अद्वैतवाद का) उपपादन कर रहे हैं—**केचित्त्विति**।

ये भास्कर अविकृत ब्रह्मपरिणामवादी हैं। उपनिषद् के व्याख्याकार भास्कर आदि विद्वानों का अर्थात् उपनिषत् प्रतिपाद्य पुरुषोपासना में तत्पर रहनेवाले भास्कर प्रभृति-विद्वानो का कहना है कि परमार्थतः एक एव आत्मा प्रपञ्चरूपेण स्वेच्छया परिणमति इति। अर्थात् परमार्थरूप से ही आत्मा प्रपञ्च के रूप में अपनी इच्छा से परिणत होता

है। कहा भी है—

वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः।
भुवनानामुपादानं कर्ता जीवनियामकः॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाऽव्ययौ॥
परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथमं द्विज।
व्यक्ताऽव्यक्ते तथैवाऽन्ये रूपे कालस्तथा परः॥

महर्षि जैमिनि के गुरु, समस्त वेदज्ञान के एकमात्र निधि श्रीवेदव्यास ने भी 'उपसंहारदर्शनान्नेति चेत् क्षीरवृद्धिः' इस सूत्र में क्षीरदृष्टान्त के द्वारा परिणामवाद में ही अपनी सम्मति प्रकट की है। भगवती श्रुति कह रही है—सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाऽद्वितीयम्, तदैक्षत बहु स्याम्प्रजायेय अर्थात् सृष्टि के पूर्व यह सद्रूप ब्रह्म ही था और वह सजातीय-विजातीय स्वगतभेदशून्य था, उसने सङ्कल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ। इस प्रकार एक ही सन्मात्ररूप से आत्मा सृष्टि के पूर्व था। वही (आत्मा) आकाशादि भेद से भिन्न अर्थात् प्रपञ्चरूप से परिणत हुआ, जैसे बीज वृक्ष के रूप में परिणत होता है। उक्त अर्थ को बतानेवाले उपनिषद् वाक्य तथा पुराणवचन—इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ आदि शतशः दिखाई देते हैं।

शङ्का—यदि वास्तविक भेद ही है, तो पुरुषएवेदं सर्वम् यह सब पुरुष ही है, इसमें नानाभेद है ही नही अर्थात् धर्मी का भेद है ही नही। इत्यादि अभेदबोधक वाक्यों की गति क्या होगी?

इसी को दृष्टान्त के द्वारा बता रहे हैं— जैसे एक पौधा प्रादेशमात्र उसके बाद और ऊँचा होने पर अनेक टहनियों वाला एक वृक्ष रहने पर भी दूरस्थित लोगों को नाना वृक्षों की तरह प्रतीत होता है और उस वृक्ष का एकता को जानने वाला व्यक्ति दूसरे लोगों से कहता है कि ये अनेक वृक्ष नहीं है, किन्तु एक ही वृक्ष नाना शाखाओं (टहनियों) के रूप में खड़ा है। उसी प्रकार अनेक रूपों वाला जो प्रपञ्च है, उसका यह नाम है, यह रूप है—ऐसे प्रपञ्च को देखने वाले लोग यह नहीं जानते कि इसका मूल कारण आत्मा एक ही है, उसी का यह नानारूप में परिणाम है। इस तथ्य को जो लोग नहीं जानते, उनको वास्तविक तत्त्व (तथ्य) का बोधन कराने के लिये इसी प्रकार के वाद हैं। वस्तुतः यह सभी एक का ही विस्तार है। इसमें कुछ भेद नहीं है। निष्कर्ष यह है कि धर्मि अर्थात् कारणभूत जो ब्रह्म है और उससे अभेदप्रतिपादक जो वाक्य हैं, वे प्रपञ्चकारणीभूत एक ही ब्रह्म के प्रतिपादक हैं, वे वाक्य अद्वैत के प्रतिपादक नहीं हैं। इसी को दृष्टान्त के द्वारा और स्पष्ट किया जा रहा है अर्थात् प्रपञ्च कारणत्वेन रूपेण अभिमत वस्तु में नानात्व नहीं है।

ये च पुनरसत्त्ववादाः प्रपञ्चविषया अविद्यावादा भ्रान्तिवादा मायावादाश्च,

ते सर्वे प्रपञ्चस्याऽनित्यत्वादौपचारिकाः। यथा मृगतोयरज्जुसर्पस्वप्न-प्रपञ्चादयः किंचित्कालमाविर्भूय पश्चाद्विलीयन्ते, तथा भेदप्रपञ्चरूपो ब्रह्मपरिणामोऽप्याविर्भवति, विलीयतेचेत्याऽऽविर्भावतिरोभावधर्मकत्व-साम्यादसन्नित्युपचर्यते, तस्य चाऽसत्कल्पत्वे तद्विषयस्य ज्ञानस्याऽपि सिद्ध्यत्यौपचारिकं भ्रान्तित्वम्। मायानिबन्धनत्वं च 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादिषु युक्तमुपचारेण वक्तुम्। आत्मैवैकः सत्यः इति च तस्यैव नित्यत्वादुच्यते, यथा—गो अश्वा एव पशवोऽन्ये त्व-पशवः इति, तथेदं द्रष्टव्यम्।

प्रपञ्च को जो लोग असत् कहते हैं, उनका अभिप्राय प्रपञ्च का असत्त्व-प्रतिपादन में नहीं है; किन्तु लक्षणावृत्ति से अनित्यत्व-प्रतिपादन में ही है। अर्थात् असत् पदार्थ की तरह यह प्रपञ्च भी अनुपादेय है। प्रपञ्चविषयक असत्त्ववाद इस प्रकार के हैं—

परमार्थस्त्वमेवैको नाऽन्योस्ति जगतः पते।

तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चित् क्वचित् कदाचित्द्विज वस्तुजातम्।

प्रपञ्चविषयक अविद्यावाद इस प्रकार के हैं—

भवत्यभेदो भेदश्च तस्याऽज्ञानकृतो भवेत्।
चतुर्विधो विभेदोऽयं मिथ्याऽज्ञाननिबन्धनः॥
चतुर्विधत्वं देव-तिर्यङ्मनुष्य-स्थावरभेदेन ज्ञेयम्।

भ्रान्तिवाद इस प्रकार के हैं—

भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः।
ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः।
तदेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्॥

मायावाद इस प्रकार के हैं—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्॥
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिँश्चाऽन्यो मायया सन्निरुद्धः॥ इत्यादि।

दृष्टान्तपुरःसर असत्त्वादि वादों का औपचारिकत्व (लाक्षणिकत्व) स्पष्ट किया जा रहा है—**यथा मृगतोयेति**। ब्रह्मसूत्रकार भगवान् व्यास को भी प्रपञ्च का सत्त्व ही अभिप्रेत है; क्योंकि उन्होंने यतश्च न कहकर जन्माद्यस्य यतः कहा है।

असत्त्ववाद का विषय प्रपञ्च है। यथा—हे ईश्वर! आप स्वयं एकाकी ही परमार्थ हैं, जगत् का स्वामी आपके अतिरिक्त और कोई नहीं है। इसलिये ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है।

प्रपञ्च के अनित्य होने से ये सभी औपचारिक हैं। इसमें दृष्टान्त दे रहे हैं—

यथामृगतोय-रज्जुसर्प-स्वप्नप्रपञ्चादय इति। मृगजल, रज्जु-सर्प, स्वाप्नप्रपञ्च आदि। ये कुछ कालतक आविर्भूत होकर पश्चात् विलीन हो जाते हैं, इसी प्रकार ब्रह्म का भेद प्रपञ्चरूप परिणाम भी आविर्भूत होकर विलीन हो जाता है। अतः आविर्भाव-तिरोभाव धर्मों की समानता रहने से प्रपञ्च भी असत् है—यह उपचार से कहा जाता है। यह प्रपञ्च असत् कल्प (असत्तुल्य) होने से तद्विषयक ज्ञान भी औपचारिक भ्रम के रूप में सिद्ध होता है।

शङ्का—यद्यपि प्रपञ्च का असत्त्व न भी हो तथापि इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते– इस वचन से मायिकत्व तो कहा ही जायेगा प्रपञ्च का मायिकत्व भी आविर्भाव-तिरोभावधर्मक होने से औपचारिक ही है, अर्थात् उसका असत्त्व होने से वास्तविक मायिकत्व नहीं है। प्रपञ्च का सत्त्व स्वीकार करने पर 'आत्मैवैकः सत्यः' इस वचन से विरोध होगा; क्योंकि उक्त वाक्य से आत्ममात्र का सत्यत्व कहा गया है। उसी कारण प्रपञ्च का असत्त्व स्वीकार किये बिना वह सत्यत्व अनुपपन्न होगा।

समाधान—आत्मैव एकः सत्यः– अर्थात् आत्मा (परमात्मा) और सत्य शब्द का अर्थ नित्य है। एवञ्च परमात्मा ही नित्य है, और प्रपञ्च अनित्य है उसी कारण कोई विरोध नहीं है।

किञ्च—आत्मैव में एवकार अयोगव्यवच्छेदक है। वह यहाँ पर अन्ययोगव्यवच्छेदपरक नहीं है, जिससे यहाँ पर प्रपञ्च का असत्त्व कहा जा सके। तथा च आत्मा सत्य एव, स चैकः अथवा आत्मा एक एव, स च सत्यः—यही स्वीकार करना होगा।

किञ्च—यहाँ पर सत्य शब्द को आत्मप्रशंसापरक समझना चाहिये। जैसे—प्रथमाध्याय के चतुर्थपादीय सोलहवें अधिकरण में प्रशंसासूत्र में अपशवा वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः पशवो गो अश्वरः—इस श्रुति से गौ अश्व की प्रसंशा बताई गयी है, अन्येभ्यः पशुभ्यो गवाश्वौ प्रशस्तौ कहकर गो–अश्व से भिन्न अजादिकों में अपशुत्व को नहीं बताया गया है, उसी तरह यहाँ पर आत्मैवैकः सत्यः—इस श्रुति से परमात्मा के नित्य होने से उसकी प्रशंसा बताई गयी है, उससे भिन्न प्रपञ्च का असत्त्व नहीं बताया है। अथवा सत्य शब्द नित्यत्व समानाधिकरण सत्यत्व का प्रतिपादक भी हो सकता है तथा अनित्यसमानाधिकरण सत्यत्व का प्रतिपादक भी हो सकता है। उसमें आत्म शब्द से गृहीत जीवात्मा और परमात्मा दोनों में नित्यत्व समानाधिकरण सत्यत्वप्रतिपादक सत्य शब्द का वाच्यत्व है—इसे सत्यः श्रुति बता रही है और अनित्यत्व समानाधिकरण सत्यत्व प्रतिपादक सत्यशब्दाभिधेयत्व प्रपञ्च में है।

यस्त्वेवं विधान् वादान् यथाश्रुतार्थान् गृह्णाति स पश्वन्तरेष्वपशुत्ववादम् आदित्यो यूपः इत्यादि च यथाश्रुतं गृह्णीयात्। अथ तत्र प्रमाणान्तरविरोधः सोऽत्रापि समानः। अथार्थवादत्वात्तत्र न यथाश्रुतार्थग्रहणम्,

तदपि समानम्। प्रपञ्चस्यापि असत्यत्वं वैराग्यजननार्थम्, आत्मनश्च परमार्थत्वं मुमुक्षूणामुत्साहजननार्थम्।

यस्त्वेवमिति। यः = जो अद्वैतवादी, एवंविधान् = उपचार से अर्थात् प्रपञ्च के असत्त्वप्रतिपादक वादों को यथाश्रुत अर्थों का ग्रहण करता है, अर्थात् प्रपञ्च के असत्त्वप्रतिपादक वादों का अर्थवादत्व न जानकर प्रपञ्च के असत्त्व को समझ बैठा है, उसी कारण अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः—इस वाक्य से गवाश्व दोनों की प्रशंसा को त्यागकर अजा आदि में अपशुत्व का ही अवधारण करेगा तथा आदित्यो वै यूपः में भी यूप प्रशंसा को त्यागकर यूप में आदित्यत्व धर्म का अवधारण करेगा; क्योंकि दानों समान हैं; किन्तु ऐसा अवधारण करना सम्भव नहीं है। अतः प्रपञ्च का असत्त्ववाद भी हेय = त्याज्य है। इसी में उसका तात्पर्य है। प्रपञ्च के असत्त्व में उसका तात्पर्य नहीं है; क्योंकि वह असत्त्ववाद उपचारेण अनित्यत्व का ही प्रतिपादक है। वह अन्य पशुओं में भी अपशुत्ववाद को यथाश्रुत ग्रहण करेगा।

शङ्का—अजा आदि पशुओं को अपशु समझना तथा यूप को आदित्य समझना तो प्रत्यक्षविरुद्ध ही है, अतः ऐसे स्थलों पर प्रशंसारूप अर्थवाद माना जाता है। इस प्रकार प्रपञ्च को असत् मानने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरों से कोई विरोध नहीं प्रतीत होता है, जिससे इसको अर्थवाद माना जाय?

समाधान—सोऽत्राऽपि समानः यहाँ भी विरोध, समान है।

शङ्का—यदि उसे अर्थवाद माना जाय तो वहाँ यथाश्रुत अर्थ का ग्रहण नहीं है।

समाधान—तदपि समानम् = वह भी समान है।

प्रपञ्चस्याऽपि असत्यत्वमिति। प्रपञ्च की असत्यता भी वैराग्यजनन के लिये है और आत्मा की परमार्थता मुमुक्षु लोगों के उत्साहवर्धनार्थ है। अभिप्राय यह है कि प्रपञ्च का असत्त्व रहने पर भी प्रत्यक्ष का विरोध तो है ही; क्योंकि प्रपञ्च सत्यत्वेन ज्ञात होता है।

शङ्का—प्रपञ्च के सन्दर्भ में अर्थवादत्व निश्चित है, इसलिये वहाँ यथाश्रुत अर्थ का ग्रहण नहीं किया जाता; किन्तु उसे केवल प्रशंसापरक जाना जाता है। प्रपञ्च का असत्त्व प्रतिपादन करने वाले वाक्यों में यद्यपि अर्थवादत्व निश्चित नहीं है, जिससे यथाश्रुत अर्थ का परित्याग किया जा सके।

समाधान—प्रपञ्च का असत्त्व बतानेवाले वाक्यों में भी वह अर्थवादत्व समान ही है। उसे अर्थवाद क्यों माना जाता है? वह इसलिये माना जाता है; क्योंकि प्रपञ्च अनित्य है, इसलिये वह त्याज्य ही है और आत्मा परमार्थतः नित्य है, उसी कारण उसे नित्य प्राप्तव्य कहा जाता है, अर्थात् आत्मप्राप्ति मोक्षप्राप्ति में है, यही निष्कर्ष है।

विस्पष्टं चैतन्मृत्पिण्डविकारदृष्टान्तदर्शनात्। सर्वत्र हि दृष्टान्तोपादानं

साध्यप्रतिपादकस्य तात्पर्याभिव्यक्त्यर्थम्। ततश्च यथा कारणभूतमृत्पिण्ड-विज्ञानेन मृण्मयो विकारः सर्वो विज्ञातो भवति शरावादिविकारो हि वाचारम्भणं नामधेयमात्रं मृत्तिकेत्येव सत्यम्, एवं प्रपञ्चोऽपि सद्-विज्ञानेन विज्ञातो भवति, विकारो हि वाचारम्भणं नामधेयमात्रं सदित्येव सत्यम् इत्युक्तेन ज्ञायत एतत्—यथाऽऽविर्भाव तिरोभावधर्मा नानाविधो विकारः शरवादिः प्रपञ्चो मृत्तिका च सर्वत्राऽनपायिनी तेषां कारणम्, कार्यकारणयोश्चाऽवस्थामात्रभेदात् स्वरूपभेदाऽभावात्कारणज्ञानेन तत्सर्वं कार्यमवस्थाभेदेनाऽज्ञातमपि स्वरूपेण ज्ञातं भवति। तथा प्रपञ्चोऽप्याविर्भाव-तिरोभावधर्माऽनवस्थायी तत्कारणं चाऽऽत्मा सद्रूपः सर्वाऽनुयायी नाऽपायधर्मा। तस्मिन् विज्ञाते सर्वं तदात्मकम-विज्ञातमपि व्यासरूपेण समासेन ज्ञातं भवतीत्येतदत्र विवक्षितमस्ति, तस्मादेकस्यैव आत्मनः परिणामोऽयं भेदप्रपञ्चो न त्वसन्नेव।

असत्त्वे हि कथं सद्विज्ञानेन विज्ञातः स्याच्छशविषाणवत्। न हि मृत्पिण्डे विज्ञाते सति शशविषाणं विज्ञातं भवति, तथा प्रपञ्चोऽपि स्यात्, ततस्तु प्रस्तुतहानिरेव स्यात्। एकोऽप्यात्माऽन्तःकरणोपाधिभेदाद् भिन्नो जीव इत्युच्यते, जीवभेदाच्च बन्धमुक्तिव्यवस्थाऽप्युपपन्नेति।

प्रश्न—प्रपञ्च का असत्त्व बताने वाले वाक्यों को अर्थवाद मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

उत्तर—विस्पष्टमिति। प्रपञ्च का असत्त्व बताने वाली अर्थापत्ति ही स्पष्ट प्रमाण है।

प्रपञ्च और ब्रह्म का कार्यकारणभाव प्रतिपादनार्थ और ब्रह्मविज्ञान होने पर सर्वविज्ञान हो जाता है। इस तथ्य को भगवती श्रुति ने एक दृष्टान्त देकर स्पष्ट कर दिया है। जैसे मृत्तिका का परिणाम ही तो घट आदि हैं और वे सब सत्य भी हैं, उसी तरह यह प्रपञ्च भी ब्रह्म का ही परिणाम है और वह सत्य भी है। यह बात अर्थापत्ति प्रमाण से ज्ञात होती है। अन्यथा ब्रह्मज्ञान होने पर समस्त विज्ञान की प्राप्ति होने में मृत्तिका का दृष्टान्त नहीं दिया जाता। प्रपञ्च को ब्रह्म का परिणाम न मानने पर ब्रह्मज्ञान से प्रपञ्च का ज्ञान होना कभी सम्भव नहीं है।

केवल विवर्तोपादान के ज्ञान से कार्यज्ञान का होना सम्भव नहीं है। जैसे तुम्हारे मत के अनुसार शुक्ति-रजत का विवर्तोपादान शुक्ति ही है, तथापि शुक्ति के ज्ञान होने मात्र से शुक्ति-रजत का ज्ञान होना सम्भव नहीं है, प्रत्युत शुक्तिज्ञान से शुक्ति-रजत और उनके ज्ञान की निवृत्ति ही होती है, उसी तरह यहाँ भी यदि प्रपञ्च ब्रह्म का विवर्त होता, तो ब्रह्म ज्ञान से वह ज्ञात नहीं हो पाता, किन्तु ब्रह्मज्ञान से प्रपञ्च और उसके ज्ञान की निवृत्ति ही हुई होती। तथा च—येनाऽश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति इत्याकारक

ब्रह्मज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा की व्याघात ही हुआ होता और विवर्तत्व भी नहीं रह पाता और प्रपञ्च का सत्त्व (सत्ता) ही प्राप्त होता। ग्रन्थकार अपना अभिप्राय बता रहे हैं— **सर्वत्र हि दृष्टान्तोपादानमिति**। अर्थात् सभी जगह दृष्टान्त इसीलिये दिया जाता है कि जिससे साध्यप्रतिपादक वाक्य के तात्पर्य की अभिव्यक्ति हो सके। जैसे पर्वतो वह्निमान् इस वाक्य के तात्पर्य की अभिव्यक्ति के लिये महानसवत् कहा जाता है, तब वाक्य के तात्पर्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। जैसे महानस के धूमवान् होने में वह्निसंयोग सम्बन्ध से विद्यमान रहता ही है, उसी तरह पर्वत पर भी धूम के विद्यमान होने से अग्नि (वह्नि) संयोग सम्बन्ध से रहता ही है उसी तरह प्रस्तुत में भी मृत्तिका के दृष्टान्त से समझ में आता है कि जिस प्रकार मृत्तिका का शराव आदि (सकोरा, कूल्हड) परिणाम ही है। अतएव मृत्तिका के जानने मात्र से सामान्य तथा शराव आदि का ज्ञान होना सम्भव हो जाता है, तथा ब्रह्म का परिणाम ही प्रपञ्च है। अतएव ब्रह्मज्ञान से सामान्यतया प्रपञ्च का ज्ञान होना सम्भव है।

'ततश्च यथेति' से दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभाव का उपपादन कर रहे हैं। सदित्येव सत्यम् से यही बताया गया है कि ब्रह्मैव सत्यम् = वह ब्रह्म ही सत्य है, वही सर्वत्र अनुगत (व्याप्त) है, प्रपञ्च का व्यक्तिगत (वैयक्ति = प्रातिस्विक) पृथिव्यादिरूप जो भाव है, वह तो आविर्भाव-तिरोभावधर्मक है। एवञ्च सद्रूप ब्रह्म के ज्ञान से प्रपञ्चरूप कार्य का भी ज्ञान हो जाता है। विकार तो केवल शब्द-प्रयोग का विषय है, अर्थात् नामधेयमात्र है, सत्य तो सत् (ब्रह्म) ही है। इससे स्पष्ट होता है कि जैसे उत्पत्ति और विनाश धर्म वाले नाना प्रकार के विकार (भूत) शराव (सकोरा) आदि प्रपञ्च में मृत्तिका सर्वत्र अनुस्यूत है, अतः मृत्तिका उन सभी का कारण है। कार्य और कारण इन दोनों की अवस्था का भेदमात्र है। स्वरूप से भेद नहीं है। अर्थात् पदार्थ का भेद नहीं है। कारण के ज्ञान से सभी कार्य अवस्थाभेद से अज्ञात रहने पर भी स्वरूपतः ज्ञात होते ही हैं। इसी प्रकार प्रपञ्च भी उत्पत्ति-विनाशधर्मवान् एवं स्थायी नहीं है। इसका आत्मा सद्रूप है, वह सभी में अनुगत है और वह विनाशी नहीं है। उसके जान लेने पर तदात्मक सभी कार्य विस्तार से अज्ञात रहने पर भी संक्षेप से ज्ञात होते ही हैं, यही यहाँ विवक्षित है। अतः यह भेदप्रपञ्च एक आत्मा का ही परिणाम है, वह असत् नहीं है; क्योंकि असत् होने पर सद्रूप आत्मा के ज्ञान से वह कैसे ज्ञात हो पाता? निष्कर्ष यही है कि यद्यपि आत्मपरिणामरूप प्रपञ्च अनित्य है, तथापि वह असत् नहीं है। सत् के जान लेने से असत् शशविषण का ज्ञान होना जैसे असम्भव है, वैसे ही प्रपञ्च भी यदि असत् होता तो उसका ज्ञान सत् के विज्ञान से नहीं हो पाता। अर्थात् सत् का ज्ञान होने पर भी प्रपञ्च अज्ञात ही रहता है।

प्रश्न—प्रपञ्च के अज्ञात होने से हानि क्या है?

उत्तर—ततस्तु प्रस्तुत हानिरेव स्यात्। अर्थात् वाचारम्भणश्रुति से एक विज्ञान से सकल विज्ञान का होना ही प्रस्तुत है, उसकी हानि होगी। यही विरोध होगा। प्रपञ्च के

स्वरूप को बताकर अब जीव के स्वरूप को बता रहे हैं—**एकोऽप्यात्माऽन्तःकरणोपाधिभेदात् भिन्नो जीव इत्युच्यते, जीवभेदाच्च बन्धमुक्तिव्यवस्थाऽप्युपपन्नेति।** जीव के एक होने पर देवदत्तो बुद्धः, यज्ञदत्तश्च मुक्तः इत्याकारक बन्ध–मुक्तिव्यवस्था नहीं हो सकेगी, अन्तःकरणकृत जीवभेद से ही सब व्यवस्था यथास्थित हो जायेगी।

(भास्करमतस्य निराकरणम्)

तदिदमयुक्तम्; चिद्रूपस्याऽऽत्मनो जडरूपपरिणामाऽसम्भवात्। एकत्वे चाऽऽत्मनः सर्वशरीरेषु प्रतिसन्धानं स्यात्—देवदत्तोऽहं यज्ञदत्तोऽहमेवेति, तथा देवदत्तशरीरे मे सुखं यज्ञदत्तशरीरे मे दुःखमिति, पादे मे सुखं, शिरसि मे वेदनेतिवत् सर्वसुखदुःखोपलब्धिश्च स्यात्, अन्तःकरणभेदाद् व्यवस्थेति चेत्? न, अचेतनत्वात्। न हि अन्तःकरणं सुख-दुःखे अनुभवति, अचेतनत्वात्, आत्मा त्वनुभविताः स च सर्वत्रैक इति, कः प्रतिसन्धानं वारयेत्? तस्मादिदमपि नातीवसुन्दरमिति।

।। इत्यात्मपरिणामवादनिरासः ।।

जीवात्मा के एक रहने पर भी अन्तःकरणरूप उपाधि के भेद से भिन्नो जीवः = जीवों की अनेकता कही जाती है और जीवों की अनेकता से बन्ध-मुक्ति की व्यवस्था भी संगत हो जाती है; किन्तु तदिदम् अयुक्तम्– उक्त कथन युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि परिणाम तो सरूप का ही होता है। विरूप का परिणाम होना कभी सम्भव नहीं है, अतः चिद्रूप (चैतन्यस्वरूप) आत्मा का जड़रूप में परिणत होना नितान्त असम्भव है।

जीव का स्वरूप स्वीकृत करने में दोष यह है अर्थात् जीवात्मा को एक मानने पर समस्त शरीरों में उसकी प्रतीति (प्रतिसन्धान) होनी चहिये, यज्ञदत्त को देवदत्तोऽहम् = मैं देवदत्त हूँ इत्याकारक अनुसन्धान (अनुभव) भी होना चाहिये; क्योंकि देवदत्त के शरीर में भी वही आत्मा है तथा समस्त शरीरवर्ती सुख-दुःखादि का अनुसन्धान भी होना चाहिये। जैसे—पादे में सुखं, शिरसि में वेदना इत्याकारक उभयज्ञान होता है, वह क्यों होता है? वह इसीलिये होता है कि समस्त शरीर में एक ही आत्मा विद्यमान है, यही कहना होगा। अर्थात् सकल शरीरों में यदि एक ही आत्मा है, तो सकल शरीरों के सुख-दुःखादिकों का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होगा? अर्थात् अवश्य ही होगा। अन्तःकरणों के भिन्न-भिन्न (अनेक = पृथक्-पृथक्) रहने से अनुभवात्मक प्रत्यक्ष भी भिन्न-भिन्न ही होगा, अतः व्यवस्था की उपपत्ति हो जाती है।

इस पर प्रत्युत्तर यह दिया जा सकता है—न हि अन्तःकरणं, सुख-दुःखे अनुभवति, अचेतनत्वात्, आत्मा त्वनुभविता, स च सर्वत्रैक इति कः प्रतिसन्धानं वारयेत्? उपर्युक्त अन्तःकरणभेद से व्यवस्था प्रदर्शित की है; क्योंकि अन्य कोई प्रकार नहीं है, इसलिये अन्तःकरण को ही अनुभविता कहना होगा किन्तु वह सम्भव नहीं है; क्योंकि वह

(अन्त:करण) अचेतन (जड़) है। इसलिये आत्मा को ही अनुभविता कहना होगा; क्योंकि वह चेतन है और सर्वत्र एक है। अत: उसके प्रतिसन्धान = अनुभव का अपलाप कैसे किया जा सकता है? जैसे एक ही राजा के राज्य के पूर्व भाग में सुभिक्ष हो और पश्चिम भाग में दुर्भिक्ष की प्रतीति हो, तथैव आत्मा को सकलशरीरवर्ती सुखादि का अनुभव हो सकता है, तब तो सर्वज्ञत्वापत्ति ही कहनी होगी, किन्तु वह सम्भव नहीं है। इसलिये नेदं मतं सुन्दरम् यह मत भी उचित नहीं है। उक्त मत अत्यधिक सुन्दर नहीं होने के कारण सांख्यदर्शन के मत को उपस्थित कर रहे हैं—

(साङ्ख्यमतेन पूर्वपक्षः)

आत्मभेदं प्रकृतिपरिणामं च जगत् साङ्ख्या मन्यन्ते। द्विविधं च साङ्ख्यम्—निरीश्वरं सेश्वरं च। निरीश्वरवादिनस्तावदाहु:—प्रकृतिरचेतना त्रिगुणात्मिका प्रधानशब्दाभिधेया महदादिविशेषपर्यन्तेन प्रपञ्चरूपेण चेतनानामुपभोगाय परिणमतीति।

सेश्वरवादिनोऽप्येवमाहु:; इयाँस्तु विशेषः—पुरुषशब्दाऽभिधेयमीश्वरं क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टमाश्रित्य प्रकृतिर्जगत् सृजतीति। यथा हि संस्कृतं क्षेत्रमधिष्ठाय तत्सम्पर्कवशाद् बीजमङ्कुरादिक्रमेण महान्तं वृक्षमारभते, तथा सर्वव्यायिनमीश्वरमधिष्ठाय सर्वव्यापिनी प्रकृतिस्तत्सम्पर्कवशान्मदहङ्कारतन्मात्रादिक्रमेण परिणमन्ती विशेषान्तं प्रपञ्चमारभत इति। इतिहासपुराणेष्वपि प्रायेणैतदेव मतम्। सेयं प्रकृत्युपादाना सृष्टि:, ईश्वरस्तु निमित्तमात्रम्, क्षेत्रज्ञास्तु भोक्तार:, प्रकृतिरेव तु सर्वकार्याणां कर्त्रीति भोग्या। सा च सर्वत्रैका, भोक्तृणाञ्च भेदाद्बद्धमुक्तव्यवस्थोपपत्ति:। तथा च—

अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णां बह्वी: प्रजा: जनयन्तीं सरूपा: ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य: ।।

(महानारा. उप. ८।४, ना. पू. ता. उप. ५।५)

इति व्यक्तमेव भोग्याया: प्रकृते रजस्सत्त्वतमोरूपाया एकत्वम्, भोक्तृणाञ्च भेदाद्बद्धमुक्तव्यवस्थानं च दर्शितम्।

सांख्यदर्शन का मत यह है— **आत्माभेदमिति** ।

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।। (सां. का. १७)
जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ।। (सां. का. १८)

प्रकृतिरिति—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।। (सां. का. ३)
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनप्रसवधर्मि ।
व्यक्तम् तथा प्रधानम् तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ।। (सां. का. ११)
प्रकृते महाँस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ।। (सं का. २२)
तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ।। (सं. का. ३८)

प्रकृति से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है, उससे अहंकार, उससे एकादश इन्द्रियाँ और पञ्च तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं, उन पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। यह सृष्टिप्रक्रिया है। यह त्रिगुणात्मिका कहलाती है। सत्त्व-रजस्-तमस– ये तीन गुण हैं। सत्त्वरजस्तमाँसि– गुणाः, तदात्मिका गुणत्रयस्य साम्यावस्थैव प्रकृतिः। तीनों गुणों की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहा गया है। उक्त तीनों गुणों में वैषम्य होने पर सृष्टि होती है। सृष्टि के प्रारम्भ में महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। विशेष पर्यन्त अर्थात् घट-पटादि दृश्यमान समस्त पदार्थों तक महदादिक्रमेण प्रकृति ही परिणत होती रहती है। प्रकृति का इस प्रकार परिणत होना जीवकर्तृक भोग के लिये ही है। यह कापिल सांख्य की प्रक्रिया है।

सेश्वरसांख्य (पातञ्जलयोग) की प्रक्रिया—सेश्वर सांख्य में प्रकृति को स्वातन्त्र्य नहीं माना जाता; किन्तु परमेश्वर के अधीन रहती हुई प्रकृति जगत् के रूप में परिणत होती है; क्योंकि प्रकृति जड़ पदार्थ है, उसी कारण वह स्वतन्त्र प्रवृत्ति में समर्थ नहीं है। इस प्रकृति को प्रधान शब्द से भी कहा जाता है। सेश्वर सांख्यवादियों का ईश्वर पुरुषविशेष शब्द से कहा जाता है। वह पञ्चक्लेशों से अस्पृष्ट रहता है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश को पञ्चक्लेश कहते हैं। अविद्या का स्वरूप पातञ्जल योग शास्त्र में 'अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या' सूत्र से बताया गया है।

कर्मविपाक = भोग, आशय = वासना, अपरामृष्टः = सम्बन्धरहितः। पुरुषविशेषः = चेतनविशेषः। इतिहास-पुराणादिकों में भी सांख्यमतानुसार ही कहा गया है।

सांख्यमत का निष्कर्ष यह है—सेयं प्रकृत्युपादाना सृष्टिः, ईश्वरस्तु निमित्तमात्रम्, क्षेत्रज्ञास्तु भोक्तारः, प्रकृतिरेव तु सर्वकार्याणां कर्त्रीति भोग्या, सा च सर्वत्र एका, भोक्तृणां च भेदात् बद्ध-मुक्तव्यवस्थोपपत्तिः । प्रकृत्युपादाना—प्रकृतिरुपादानं यस्याः सा। अत एव ईश्वरो निमित्तकारणमेव । क्षेत्रज्ञाः = जीवाः। भोक्तृणाम् = जीवानाम् ।

सांख्यसिद्धान्त की प्रामाणिकता में उपनिषत् का प्रमाण दे रहे हैं— **अजामेकामिति।** अजा प्रकृतिः सा च एकव्यक्तिका इति एका । लोहितं = रजः, शुक्लं = सत्त्वम्,

कृष्णम् = तमः इति गुणत्रयात्मिका, सरूपाः = स्वसमाना अचेतनाः बह्वीः प्रजाः जनयन्तीं, एवंभूता प्रकृतिरिति प्रपञ्चस्य प्रकृतिपरिणामत्वे प्रमाणं प्रदर्शितम्। अजो जीवः तेषु एको जुषमाणः = प्रकृतिं सेवमानोऽनुशेते = प्रकृतिसंसक्तो बद्ध इत्युच्यते, अन्यश्च जातप्रकृति-पुरुषविवेको भुक्तभोगामेनां प्रकृतिं जहाति मुक्तो भवतीति यावत्। प्रकृति-पुरुषयोर्व्यापकत्वेन सम्बन्धे विद्यमानेऽपि भोगाऽभाव एव मोक्षः। अत्र च एकः इति जातावेकवचनम् पुरुषबहुत्वात्। एकः अन्यः- इति शब्दाभ्यामेव पुरुषाऽनेकत्वम्, श्रुत्या प्रतिपादितम् इति स्पष्टमेव।

अजामेकाम्- इस औपनिषद् मन्त्र में बताया गया है कि प्रकृति एक है और तीन गुणों का समानता से होना ही उसका स्वरूप है—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। मन्त्रगत लोहित शब्द से रजोगुण, शुक्ल शब्द से सत्त्वगुण और कृष्ण शब्द से तमोगुण का निर्देश किया गया है। अतएव प्रकृति को त्रिगुणात्मिका कहते हैं। वह अनेक जीवों को उत्पन्न करती है। इन जीवों का चैतन्य एक सा (समान) है। प्रकृति के द्वारा समर्पित भोगों को अकेला जीव भोगता है और भुक्तभोगी विरक्त व्यक्ति, उक्त प्रकृति का परित्याग कर देता है। वह प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, अर्थात् सत्त्व-रजस्तमोरूपा है और एक है। आत्माओं के भिन्न-भिन्न रहने से भोक्ता बद्ध रहता है। वही मुक्त भी होता है, इस व्यवस्था को भी प्रदर्शित किया है।

ऐकात्म्यवादास्तह्यौपनिषदाः कथम्? अवैलक्षण्येनेति ब्रूमः—भेद-शब्दो हि वैलक्षण्यवचनो लोके प्रसिद्धः। तथाहि—सुसदृशेषु वक्तारो भवन्ति, नाऽस्याऽस्य च कश्चिद् भेदोऽस्ति इति। तथाऽऽत्मनामपि नर-पशु-तिर्यग्भेदभिन्नशरीरवर्तिनां शरीरसम्बन्धमपोह्य केवलं नैज-रूपेण निरूप्यमाणानां पद्मरजःपरमाणुद्वयवन्न किञ्चिदपि वैलक्षण्यम-स्तीत्येनेनाऽभिप्रायणैकत्ववादा नानात्वनिषेधवादाश्च। एतदभिप्रायमेव चैतदपि भगवद्वासुदेववचनम्—

विद्या-विनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। इति।।

(श्रीमद्भगवद्गीता-५.१८)

शङ्का—यदि आत्माओं का भेद स्वीकार किया जाय तो **एकस्तथा सर्वभूतान्त-रात्मा** (कठोप. ५।९।१०।११) एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा (कठोप. ५।१२) यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुत (तैत्ति०उप० २।७) इत्यादि ऐकात्म्यवादी वाक्यों की उपपत्ति कैसे हो पायेगी?

समाधान— अवैलक्षण्येन = विलक्षणता नहीं होने से ऐकात्म्यवाद की उपपत्ति हो जायेगी। भेद-शब्द वैलक्षण्य (विलक्षणता का) वाचक है—यह लोकव्यवहार में

प्रसिद्ध है। दृष्टान्त के द्वारा उक्त तथ्य को स्पष्ट कर रहे हैं—**तथाहि इति**। व्यावहारिक लोग अत्यन्त सदृश वस्तुओं के विषय में कहा करते हैं, कि नाऽस्य, अस्य च कश्चिद् भेदोऽस्ति = इसका उससे कोई भेद नहीं है। इति। इसी प्रकार मनुष्य, पशु, तिर्यक् (पक्षी आदि) आदि भिन्न-भिन्न शरीरों में जो रहते हैं, उन आत्माओं की शरीर सम्बन्ध को छोडकर केवल स्वरूप से निरूपण करने पर कमल-रज (पराग) के दो परमाणुओं के समान किञ्चिन्मात्र भी विलक्षणता नहीं है। उसी को दृष्टि में रखकर एकत्ववाद का आरम्भ होता है। तथैव नेह नानाऽस्ति- यह निषेधवाद भी चल पड़ा है। उपर्युक्त भगवद्वचन भी उक्त अभिप्राय को ही अभिव्यक्त कर रहा है। उपर्युक्त भगवद् वाक्य का अर्थ इस प्रकार है—विद्या एवं विनय (नम्रता) से समलंकृत ब्राह्मण और परम पवित्र गोमाता, हाथी, श्वान (कुत्ता), तथा चाण्डाल—इन सभी को जो समान दृष्टि से देखता है, उसे पण्डित समझना चाहिये। उक्त श्लोक में समदर्शिनः पद बड़े महत्त्व का है। अर्थात् स्व और पर में भेददृष्टि नहीं रखते हुए सुख-दुःख को समझना चाहिये; न कि हड़पने की इच्छा करे। यदि यह अर्थ होता तो समवर्त्तिनः कहा होता; किन्तु ऐसा नहीं कहा है। अतएव ईशावास्योपनिषद् में मा गृधः कस्यस्विद्धनम्- यह उपदेश दिया है। इसे विस्मृत नहीं करना चाहिये।

ऐकात्म्यवाद में एक शब्द व्यक्त्यैक्यपरक नहीं है; किन्तु स्वरूपैक्यपरक है अर्थात् स्वरूप तुल्यतापरक है। सभी आत्माएँ अविलक्षण होने से एकरूप हैं। ऐकात्म्यवाद के अभिप्राय को बताने के लिये भेद शब्द के अर्थ को समझना होगा। भेद शब्द वैलक्षण्य-परक होने से अभेद शब्द अवैलक्षण्य- परक है। यह बताने की आवश्यकता नहीं है। वह तो अर्थात् ही प्राप्त है। अभेद को ही एक शब्द से बताया जाता है। अतः एक शब्द से भी अवैलक्षण्य को ही बताया गया है, व्यक्ति के एकत्व को नहीं। जैसे पद्मरजः परमाणुद्वय में व्यक्तिभेद रहने पर भी स्वरूपभेद नहीं होता; क्योंकि दोनों की सर्वथैव समानरूपता रहती है, उसी तरह आत्माओं का व्यक्तिशः भेद रहने पर भी समानरूपता होने से उनका स्वरूपतः भेद नहीं है। अतएव उनके स्वरूपभेद परिहारार्थ ही श्रुतियों में आत्मा के लिये एक शब्द का प्रयोग किया है, व्यक्तिभेद के निषेधार्थ नहीं।

व्यक्तिभेद के रहने पर भी स्वरूपैक्यभिप्रायक अर्थ को एतदभिप्रायम् से ग्रन्थकार ने कहा है। अपने पक्ष के समर्थनार्थ श्रीमद्भगवद्गीता का प्रमाण भी विद्याविमानयसम्पन्ने कह कर दिया है। पण्डिताः समदर्शिनः- अर्थात् सदसद्विवेचनशील विद्वान् लोग समदर्शिनः- देव-तिर्यक्-मनुष्य आदि सभी के शरीरों में एकरूप, नित्य, चेतन जीवात्मा को समझते हैं और भेद तो बाह्य शरीरकृत ही भासता है। यदि जीवात्मा एक ही होता तो क्या समदर्शित्व का प्रयोग किया जाता? एक ही वस्तु स्व (अपने स्वयं) के समान नहीं हुआ करती; क्योंकि समानता (सादृश्य = सदृशता) प्रतियोग्यनुयोगिसापेक्ष रहती है। शरीरों का साम्याऽभाव (समानता का न होना) तो पारमार्थिक ही है—इसे सभी जानते

हैं। इसलिये तद्विषयक समदर्शित्व का होना सम्भव नहीं है। इसलिये यही स्वीकारना होगा कि अनेक जीवात्माओं के स्वरूपैक्य को ध्यान में रखकर ही भगवान् ने समदर्शित्व का उपदेश दिया है।

तथैव 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (बृह०उप०–२.५.१५), (ऋ०सं०, अ.४.७.३३, मं० ६.४७.१८) इति स्वयमविलक्षणोऽप्यात्मा नरपश्वादिविचित्रशरीरसम्पर्कवशाद् भ्रान्त्या स्वयमपि विलक्षणरूपः प्रतीयत इत्यर्थः। ये च मुक्तानां क्षेत्रज्ञानामीश्वरेण सहैकत्ववादास्तेऽप्यत्यन्तसाम्याद् वैलक्षण्याऽभावाच्च। तथा च श्रुत्यन्तरम्—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।।

(मुण्ड.उप.-३.१.३)

इतीश्वरसादृश्यापत्तिमेव मुक्तस्य दर्शयति । तथा भगवता वासुदेवेनाऽप्युक्तम्—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।। इति।

(श्रीमद्भगवद्गीता– अ. १४।२)

अर्थात् क्षेत्र (जड, विकारी, क्षणिक, नाशवान्) और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा विकारसहित प्रकृति से मुक्त होने के उपाय को जो पुरुष ज्ञान चक्षु के द्वारा यथार्थतः जानते हैं, वे महात्मा पुरुष परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। उक्त ज्ञान को धारण करके मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि के आदि में पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकाल में भी व्याकुल नहीं होते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि में मुझ वासुदेव से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। मम साधर्म्यमागताः– कहकर यह बताया है कि मुक्त लोगों को परमात्मसाम्य की प्राप्ति ही कही गई है। साम्य = समानता, भिन्न पदार्थों का ही हुआ करता है। अभिन्न पदार्थों का नहीं। एवञ्च निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति श्रुति से परमात्मा के साम्य की प्राप्ति बतायी गई है। उक्त श्रुति के साहचर्य से परमात्मैक्य बोधकश्रुतियों का भी तात्पर्य साम्यप्रतिपादन में ही समझना चाहिये। तथा च आत्मैक्य कहना प्रामाणिक नहीं है। इदं ज्ञानमुपाश्रित्य कहकर श्रीमद्भगवद्गीता ने भी इसी का समर्थन किया है।

यत्तु 'ममैवांशोजीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गी.-१५.७) **इति भगवद्वचनं, तत् स्वामिभृत्यभावपरम्— यथा खल्वमात्या राज्ञोऽशा व्यपदिश्यन्ते तथा जीवोऽपीश्वरांश इत्युच्यते, अन्यथा जीवत्वनाशात् सनातनत्वाऽनुपपत्तिः । यान्यपि—**

विभेदजनकेऽज्ञाने [1]नाशमात्यन्तिकं गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ।।

(जाबालदर्शनोपनि.-४.६३)

इत्यादीनि पुराणवचनानि, तेषामयमेवाऽर्थः—वैलक्षण्यमात्मनो ब्रह्मणश्चान्यत्वमन्तमविद्यमानमेवाऽज्ञाननिमित्तमज्ञाने विनष्टे स्वयमेव विलीयते इति। विस्पष्टं हि पराऽपरपुरुषयोर्भेदो गीतादिषूपदर्शितः—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । (गी.-१५.१७)
उपद्रष्टाऽनुमन्ता च कर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाऽप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ।। इति।

(गी.-१३.२२)

अलमतिदूरं गत्वा । तस्मात् प्रकृत्युपादानेयम्प्रपञ्चसृष्टिरिति, नाऽनुपादानोपालम्भः ।

शङ्का—यदि सर्वथा भेद का स्वीकार किया जाय तो भगवान् ने ही जो कहा है कि ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः अर्थात् इस शरीर में यह जीवात्मा मेरी ही सनातन अंश है। (जैसे विभाग रहित होने पर भी महाकाश, घट-मठ आदि में पृथक्-पृथक् की तरह प्रतीत होता है, उसी तरह समस्त प्राणियों में विद्यमान रहता हुआ भी परमेश्वर पृथक्-पृथक् की तरह प्रतीत होता है, अतएव देह में (शरीर में) स्थित जीवात्मा को भगवान् ने अपना (स्वयं का) सनातन अंश कहा है।) ममैव अंशः (गीता० १५।७) कहकर अंशांशिभाव कहा है, वह उपपन्न नहीं हो सकेगा। अन्यथा देवदत्त और यज्ञदत्त का भी अंशांशिभाव होने लगेगा। इससे प्रतीत होता है कि (जीवात्मा और परमात्मा का) अभेद भी है। उक्त कथन की संगति इस प्रकार लगानी चाहिये, उसे दृष्टान्त के द्वारा बता रहे हैं—**स्वामिभृत्यभावपरम् इति**। दास (सेवक) होने के कारण ही जीव को अंश कहा गया है, अभेद की दृष्टि से नहीं। जैसे अमात्य को राजा का अंश कहा करते हैं, उसी तरह जीवात्मा को भी ईश्वर का अंश कहा जाता है। अन्यथा जीवत्वनाशात् सनातनत्वाऽनुपपत्तिः। यदि यहाँ पर अंश शब्द से ऐक्य अर्थ किया जाय, तो मोक्षावस्था में ब्रह्म के साथ जीव की एकता होने से। उसका जीवत्व ही नष्ट हो जायेगा और जीवत्व का नाश होने से जीव का सनातनत्व संगत नहीं हो सकेगा; किन्तु यहाँ तो जीवभूतः सनातनः कहकर जीवभाव का सनातनत्व अर्थात् नित्यत्व कहा गया है; किन्तु जीवत्व का सनातनत्व भेद के विना उपपन्न होना असम्भव है।

---

१. विभेदजनके ज्ञाने नष्टे ज्ञानबलान्मुने ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं किं करिष्यति ।। — इति पाठान्तरम् ।

शङ्का—यान्यपीति। विभेदजनकेऽज्ञाने- इत्यादि से भेद का असत्त्व भी तो कहा गया है? उक्त पद्य का अभिप्राय अपने मत के अनुसार बता रहे हैं—**वैलक्षण्यमिति**। अज्ञान के नष्ट होने पर जीवात्मा और ब्रह्म का जो वैलक्षण्य भासित होता है, वह नितान्त अविद्यमान ही है। अर्थात् अज्ञान के नष्ट होने पर वह भी स्वयमेव नष्ट हो जाता है। अथवा उक्त पद्य में जो भेद शब्द है, वह स्वरूप भेदपरक ही है, वह व्यक्तिभेदपरक नहीं है, जिससे व्यक्ति का अभेद सिद्ध किया जा सके। भेद में एक अन्य प्रमाण भी प्रदर्शित रहे **हैं—विस्पष्टं** हि पराऽपरपुरुषयोर्भेदो गीतादिषूपदर्शितः। पर और अपर पुरुष का भेद श्रीमद्भगवद्गीता में स्पष्टतया प्रदर्शित किया है। जैसे—उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः। अर्थात् उत्तम पुरुष (पुरुषोत्तम्) दूसरा है, जिसे परमात्मा कहा करते हैं। **उपद्रष्टाऽनुमन्ता चेति**। वही उपद्रष्टा है, वही अनुमन्ता (अनुमोदक = समर्थक) है, वही कर्ता, भोक्ता और महेश्वर है, उसे ही परमात्मा कहा जाता है। **देहेऽस्मिन् पुरुषः परः इति**। और इस शरीर में रहने वाला पुरुष दूसरा है। इस सन्दर्भ में अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं है।

तस्मादिति। अतः इस प्रपञ्चात्मक सृष्टि का उपादानकारण प्रकृति ही है। **नाऽनुपादानोपालम्भः इति**। अर्थात् किस उपादानकारण से यह प्रपञ्चात्मक सृष्टिरूप कार्य उत्पन्न होगा? इत्याकारक आक्षेप करना उचित नहीं है। अर्थात् जड़प्रपञ्च का उपदानकारण ब्रह्म नहीं हो सकता—यह उपालम्भ हमारे मत में नहीं दिया जा सकता; क्योंकि जड़प्रपञ्च के प्रति जडप्रकृति को ही हमने उपादानकारण माना है।

(सांख्यसिद्धान्तस्य निरसनम्)

अत्राऽभिधीयते—कथं खल्वेकरूपा प्रकृतिर्नर-पशु-तिर्यग्भेदभिन्नम्प्रपञ्चमारभते? न ह्यविलक्षणं कारणं विलक्षणं कार्यं निर्मातुमर्हति। क्षेत्रज्ञगतधर्माऽधर्मसहायवैचित्र्याद् वैचित्र्यमिति चेत्? न, अन्तःकरणवृत्तित्वाद् धर्माऽधर्मयोः, अन्तःकरणस्य च कार्यवर्गान्तःपातित्वात् सर्वस्य महदादेः कार्यस्य प्राकृतप्रतिसञ्चरे प्रकृतौ विलीनत्वाद् धर्माऽधर्मावपि तस्यामवस्थायामविद्यमानावेवेति न तद्बलेन वैचित्र्यम्।

पूर्वोक्त प्रकार से सांख्यमत का उपपादन करने के पश्चात् अब उसका खण्डन कर रहे हैं— **अत्राऽभिधीयते इति**। **कथं खल्वेकरूपेति**। सदैव एकरूप रहने वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति से एकरूप प्रपञ्च की उत्पत्ति का होना सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रथमतः पृथिवी आदि भूतों का ही परस्पर वैलक्षण्य है। एक नियम (न्याय) है—न हि अविलक्षणं कारणं, विलक्षणं कार्यं निर्मातुमर्हति अर्थात् एकरूप (अविलक्षण) विशिष्ट (एकरूप वाला) कारण भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले (विलक्षण) कार्य का निर्माण नहीं कर सकता।

शङ्का—जीवगत धर्माऽधर्म सृष्टि के सहायभूत (सहायक) हुआ करते हैं, अतः उनके वैचित्र्य से ही सृष्टि में वैचित्र्य की उपपत्ति हो सकती है।

समाधान—न, इति। उपर्युक्त कथन उचित नहीं है। **अन्तःकरणवृत्तित्वादिति।** अपने अधिकरणस्वरूप अन्तःकरण के सहित धर्माऽधर्म का भी प्रलय के समय विनाश हो जाता है, उसी कारण पुनः प्रपञ्च का उत्पत्ति के समय तत्कृत सहायता का होना कैसे सम्भव हो सकता है?

शङ्का—प्रलयकाल में अन्तःकरण के विना भी धर्माऽधर्म की स्थिति को मान लिया जाय।

समाधान—उक्त शङ्का नहीं की जा सकती। अन्यथा इस समय भी वैसी कल्पना करने का प्रसंग प्राप्त होगा और धर्माऽधर्म अन्तःकरण में रहते हैं। अन्तःकरण भी कार्यवर्ग के ही अन्तर्गत है। सभी महत्तत्त्वादि कार्यों का लय प्रकृति में हुआ करता है। अतः प्राकृत पदार्थों का प्रकृति में लय होने पर धर्माधर्म भी नहीं रह पायेंगे। इसलिये उन धर्माधर्म की विचित्रता से प्रपञ्च में विचित्रता कैसे हो सकेगी? प्राकृतप्रतिसञ्चर = प्रलय।

महदादिविकारारम्भे चास्याः किं कारणम्? स्वरूपमेवेति चेत्? सर्वदा-ऽऽरम्भप्रसङ्गस्ततः प्रलयाऽनुपपत्तिः। ईश्वरेच्छया विक्रियत इति चेत्? न, ईश्वरस्य समस्तक्लेशरहितस्याऽपास्तसमस्तकामस्येच्छाऽसम्भ-वात्, इच्छायाश्चाप्यन्तः-करणधर्मत्वात्, तस्मिन् काले तदसम्भवात्।

मीमांसक शङ्का करता है—**महदादिविकारारम्भे** इति। **अस्याः = प्रकृते** अर्थात् प्रकृति से महदादिकार्य की उत्पत्ति क्यों होती है?

उत्तर—प्रकृति का स्वरूप ही कारण है।

शङ्का—प्रकृति के नित्य होने से उसका रूवरूप भी नित्य होगा, तब तो सर्वदैव आरम्भप्रसंगः अर्थात् सर्वदैव सृष्टि की स्थिति होती रहेगी, प्रलय कभी होगा ही नहीं। इसपर यदि यह कहा जाय कि ईश्वर की सृष्टिरचनाविषयक इच्छा को जब महदादिविकार के आरम्भ का सहकारित्व प्राप्त होता है तभी ईश्वर की इच्छा होती है, यह मानने पर सर्वदैव आरम्भ प्रसंग प्राप्त नहीं होगा।

उत्तर—न, उक्त कथन उचित नहीं है; क्योंकि ईश्वर तो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप समस्त क्लेशों से रहित है और अपास्त समस्त काम है, अपास्ताः कामा = मनोरथाः यस्य, तस्य ईश्वरस्य। अतः उसे इच्छा होना असम्भव ही है। दूसरा कारण यह भी है कि इच्छा भी अन्तःकरण का धर्म है, उसी कारण तस्मिन् काले = प्रलयकाल में अन्तःकरण के विनष्ट हो जाने से तत्समवेत इच्छा का होना भी सम्भव नहीं है।

किञ्च—परमात्मा का अन्तःकरण नित्य इच्छा से युक्त रहता है, ऐसा स्वीकार किया जाय तो सर्वदैव सर्गोत्पत्ति का होते रहना अनुपपन्न ही है और उसी तरह प्रलय की भी अनुपत्ति होगी। यदि अन्तःकरण के विना भी इच्छा को मान लिया जाय तो इच्छा

के नित्य रहने पर वही दोष है और अनित्य रहने पर प्रलयकाल में वह विनष्ट होगी ही, तब पुनः सर्गोत्पत्ति का होना अनुपपन्न ही है और इदानीं = इस समय सर्ग है और तदानीं = उस समय प्रलय है—यह कहने में कोई युक्ति अथवा प्रमाण आदि भी नहीं है।

किञ्च प्राकृते प्रलये प्रकृतिमात्रमात्मानश्च केवलमवतिष्ठन्ते, सर्वे चात्मानो निर्विशेषाः सर्वेषां चैतन्यमात्ररूपत्वात् न च धर्माधर्मकृतमपि वैलक्षण्यमात्मनां सम्भवति, तयोरात्मधर्मत्वाऽभावात्। अन्तःकरणवृत्तित्वात् तस्य च तदानीमभावात् इत्युक्तम्। एवञ्च धर्माऽधर्मरहितेषु निर्विशेषेषु पुरुषेष्ववस्थितेषु सर्गकाले प्रकृतिः शरीरा रम्भेणाऽऽत्मनो बध्नातीति चेत्? ये पूर्वसृष्टौ मुक्ता ये चाऽमुक्ताः, तान् सर्वान् बध्नीयादविशेषात्। तथा येऽश्वमेधमनुष्ठाय फलमभुक्त्वा पूर्वसृष्टौ स्थिताः, ये च ब्रह्महत्याकारिणः, तेषां सर्वेषामैकविध्यमेव स्यात् पूर्वकृतयोर्धर्माऽधर्मयोर्नष्टत्वात्।

और प्राकृत प्रलय में केवल प्रकृति और आत्मा ही शेष रहते हैं। सभी आत्मा निर्विशेष हैं; क्योंकि सभी का स्वरूप चैतन्यमात्र है। अर्थात् परस्परविशेष रहित है। यहाँ पर निर्विशेषत्व में हेतु चैतन्यमात्र रूपत्व है।

शङ्का—आत्माओं में स्वतः कोई विशेषता न रहने पर भी धर्माऽधर्म के द्वारा विलक्षणता (विशेषता) हो सकती है।

समाधान—तयोरात्मधर्मत्वाऽभावात् = धर्माऽधर्म आत्मा के धर्म नहीं हैं, वे तो अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं और प्रलयकाल में अन्तःकरण नहीं रहता—यह पहिले बता चुके हैं। उसी का निष्कर्ष बता रहे हैं—**एवञ्च इति**।

एवञ्च आत्मा धर्माऽधर्म से रहित (शून्य) अर्थात् निर्विशेष हो जाने के कारण सृष्टिकाल में यह प्रकृति शरीरोत्पत्ति के द्वारा क्या आत्माओं को बन्धन में डालती है? यदि ऐसा हो तो सभी को बन्ध की प्राप्ति होगी; क्योंकि किसी में कोई विशेषता ही नहीं है। तब बद्ध और मुक्त को पहचानने की कोई व्यवस्था ही नहीं रह पायेगी। अव्यवस्था के होने पर इस सर्ग (सृष्टि) में जो मुक्त हुए हों, वह भी सर्गान्तर में बन्ध हो ही जायेगा तथा मोक्षोपायभूत प्रकृति-पुरुषविवेक में प्रवृत्ति भी किसी की नहीं होगी। पूर्व सृष्टि में जो लोग मुक्त हो चुके हैं और जो लोग मुक्त नहीं हुए हैं, उन सभी को शरीरोत्पत्ति के द्वारा यह प्रकृति बन्धन में डाल देगी; क्योंकि किसी में कोई विशेषता ही नहीं है।

तथा येऽश्वमेधमनुष्ठाय फलमभुक्त्वेति। उसी प्रकार जिसने अश्वमेधयज्ञ किया, किन्तु उसका फल बिना प्राप्त किये ही पूर्वसृष्टि में स्थित रहते हैं और जिन्होंने ब्रह्महत्या जैसे महापातक किये हैं, उन सभी की एक सी ही स्थिति रहेगी; क्योंकि पूर्वकृत

धर्माऽधर्म तो नष्ट हो चुके हैं, अर्थात् सुख-दु:खादि विशेष सम्पादक जो धर्म-अधर्म हैं, उनका अपने अधिकरणभूत अन्त:करण के साथ ही प्रलयकाल में विनाश हो चुका है।

(अत्र सांख्या: स्व-सिद्धान्तावष्टम्भेनाऽऽरेकन्ते)

ननु नाशो नाम नाऽत्यन्ताऽभाव:, किन्तु कारणे कार्याणां तिरोभावमात्रं विनाश:, उत्पत्तिरपि विद्यमानानामेव कारणे कार्याणामाविर्भावमात्रं नह्यत्यन्ताऽसतामुत्पत्ति: सम्भवति, शशविषाणस्याऽप्युत्पत्तिप्रसङ्गात्, असदुत्पत्तौ च सर्वत्र सर्वं स्यात्, नियमो न स्यात्, तन्तुभ्य: पटो मृत्तो घट इति। यथाहु:—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाऽभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।। इति।

(सां. कारिका–७)

तथा— नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सत:। इति भगवद्वासुदेववचनम्। तस्मात् प्रलये धर्मादि: शक्त्यात्मनाऽवस्थितत्वात् तद्वशेन युक्तं सृष्टिवैचित्र्यम्।

सांख्यदर्शनवादी अपने सिद्धान्त के अनुसार शङ्का करते हैं—हमारे सांख्यसिद्धान्तानुसार नाश का अर्थ– अत्यन्ताऽभाव नहीं है, किन्तु नाश का अर्थ है— कार्यों का अपने कारणों में केवल तिरोभाव होना और उत्पत्ति का अर्थ—कारण में विद्यमान रहनेवाले कार्यों का आविर्भाव होना मात्र है; क्योंकि अत्यन्त असत् पदार्थ की उत्पत्ति कदापि नहीं होती। अन्यथा शशविषाण (खरगोश के सींग) की उत्पत्ति होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

असदुत्पत्तिपक्ष में अर्थात् कारण में अविद्यमान (न रहने वाले) कार्य की भी उत्पत्ति होती है—इस पक्ष में सभी से सभी कार्य होने लगेंगे। जैसे कि तन्तु से ही पट उत्पन्न होता है तथा मिट्टी से ही घट उत्पन्न होता है—ऐसा नियम नहीं रहेगा। श्रीमदीश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका में उक्त अर्थ का समर्थन भी किया है—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाऽभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।। (सां. कारि.–७)।

उपर्युक्त कारिका में कार्यं सत् यह प्रतिज्ञा की गई है। उक्त प्रतिज्ञा के सिद्धार्थ पाँच हेतुओं को निर्दिष्ट किया गया है। विधिविवेक नामक ग्रन्थ की व्याख्या न्यायकणिका में इन हेतुओं को ही अवीतपञ्चक के नाम से बताया गया है—

तदिदं सत्कार्यसाधनमवीतपञ्चकमाचख्यु: साङ्ख्या:।

(विधिविवेक–न्या. काणि. पृ.–३०)

उपर्युक्त सांख्यकारिका (७वीं) में प्रथम हेतु—असदकरणम् है। यदि कोई भी कार्य

अपने कारणव्यापार के पूर्व असत् है तो कोई भी उसे सत् नहीं बना सकता। इसलिये कार्य को कारणव्यापार के पूर्व और पश्चात् भी सत् ही कहना होगा।

द्वितीय हेतु—उपादानग्रहणात् है। यहाँ उपादान शब्द से कारण की विवक्षा की गई है, उसका ग्रहण अर्थात् कार्य के साथ कारण का सम्बन्ध। निष्कर्ष यह है कि कारण के साथ कार्य का सम्बन्ध रहने से कार्य सत् है।

तृतीय हेतु—सर्वसम्भवाऽभावात् है। इससे यह बताया गया है कि सबसे सभी की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है; क्योंकि कारण से असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति मानने पर सभी कार्य सभी कारणों से उत्पन्न होने लगेंगे। अत: जो जिस कार्य से सम्बद्ध है, उस सम्बद्ध कारण से ही तत्सम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति होती है।

चतुर्थ हेतु—शक्तस्यशक्य करणात् है। शक्ति सर्वदा कारणाश्रित रहती है। अत: शक्त (समर्थ) कारण ही शक्य (कार्य) को उत्पन्न कर पाता है; क्योंकि वही उस कार्य से सम्बद्ध है। परस्पर असम्बद्ध मानने पर अव्यवस्था होने लगेगी। इसलिये कार्यं सत् यह प्रतिज्ञा की गई है।

पञ्चम हेतु— कारणभावात् है अर्थात् कार्य सदैव कारणात्मक ही होता है। इसीलिये कहा जाता है– कारणगुणा: कार्ये आरभन्ते। यदि कार्यं को कारण से भिन्न कहें तो कारण तो सत् है, और कार्य, असत् है– तब दोनों का (सत् और असत् का) सम्बन्ध कैसे हो पायेगा? विरुद्ध धर्म वालों का सम्बन्ध नहीं होता है। उसी तरह दोनों असत् हों तो उनका भी परस्पर सम्बन्ध होना सम्भव नहीं। इसलिये कार्य को सत् ही कहना चाहिये। अत: प्रलयकाल में धर्म आदि सूक्ष्मरूप से रहते हैं, उसी कारण सृष्टिवैचित्र्य की उपपत्ति होने लग जाती है। अर्थात् धर्माऽधर्मवशेन सृष्टि वैचित्र्यमुपपद्यते।

उपर्युक्त कथन का मीमांसक, खण्डन करते हैं—

नैतदेवम्—नहि मृत्पिण्डावस्थायां वा कपालावस्थायां वा घटरूपमस्ति, दृश्याऽदर्शनविरोधात्। यत्तु—नाऽसतो विद्यते भाव: इति वचनम्, तदात्माभिप्रायम्।

पूर्वत्र हि— न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपा: ।
न चैव न भविष्याम: सर्वे वयमत: परम् ।।

इत्याऽऽत्मनित्यत्वं प्रतिपादयितुमुपक्रान्तमेवानेनोच्यते—नाऽविद्यमानस्याऽऽत्मन उत्पत्ति:, न विद्यमानस्य विनाश:, सर्वे एवाऽऽत्मानोऽनुत्पत्तिविनाशधर्माणो नित्या इति। न पुन: कार्यजातस्य सर्वस्य नित्यत्वाऽभिप्रायम्, असर्वगतत्वादनुपलब्धिविरोधाच्चेत्युक्तम्।

यदि परम् उपादानोपादेययोरभेदमाश्रित्य, मृदात्मनाऽऽदौ घटो व्यवस्थित

इत्युच्यते । न च तावता कार्यसिद्धिः । न हि मृदवस्थेन घटेनोदकाऽऽ-हरणं क्रियते, तथा धर्माऽधर्मावपि स्वरूपेणाऽविद्यमानौ प्रकृत्यात्मना स्थितावपि न स्वकार्याय पर्याप्ताविति, न तद्वशेन वैचित्र्यसम्भवः। प्रमाणमपि महदादिक्रमेण प्रकृतिपरिणामे किञ्चिन्नास्ति—पुरुषवचसां प्रमाणान्तराऽगोचरार्थे प्रमाणत्वाऽसम्भवात्, वेदानामपि पौरुषेयत्वात्, इतरपुरुषवचनवदप्रामाण्यात्।

पूर्वोक्त अर्थ का निराकरण कर रहे हैं—**नैतदेवमिति**। यदि कारण में विद्यमान कार्य का ही प्रादुर्भाव हो, तो कारणावस्था में भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिये; किन्तु होती नहीं। उसी कारण कार्य को सत् नहीं कह सकते; किन्तु कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है—यही कहना होगा। अभिप्राय यह है कि मृत्पिण्डावस्था में अथवा कपालावस्था में घट का आकार (आकृति) नहीं रहता। यदि रहता होता तो अवश्य दिखाई देता। अत: दृश्यादर्शन का अर्थात् योग्यानुपलब्धि का विरोध है। कारणकार्यसत्त्वं न अभ्युप-गम्यते इत्यर्थ:।

यत्तु इति। यह जो कहा गया है कि असत् का सद्भाव नहीं होता इत्यादि श्रीमद्भ-गवद्गीता का वचन है, वह तो आत्मा के अभिप्राय से कहा गया है।

यत्तु नाऽसतो विद्यते भाव: से श्रीमद्भगवद्गीता के वाक्य का अभिप्राय बता रहे हैं। नासत: यह वाक्य आत्मसत्त्व प्रतिपादनपरक है। कारण में कार्य का सत्त्व (होना) नहीं बता रहा है। किसी भी अर्थ का निर्णय उपक्रम-उपसंहार आदि से ही किया जाता है, केवल तत्सम्बन्धित शब्दमात्र से उपक्रम (प्रारम्भ) में आत्मसत्त्व प्रतिपादन का आरम्भ किया गया है, इसलिये नासत: से भी आत्मसत्त्व का ही प्रतिपादन किया जा रहा है। यह कहना ठीक नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीतोक्त उपक्रम को प्रदर्शित कर रहे हैं— **नत्वेवाहम् इति**। अहं नाऽऽसम् इति न, किन्तु आसम् एव। त्वम् नाऽऽसी: इति न, किन्तु आसी: एव। इमे जनाऽधिया: नाऽऽसन् इति न, किन्तु आसन् एव। अत: परं सर्वे वयं न भविष्याम: इति न, किन्तु भविष्याम: एव। तथा च इस प्रकार का जो प्रारम्भ किया है, वह आत्मा के नित्यत्व का प्रतिपादन ही है। उसी को नासतो विद्यते भाव: पद्य से भी भगवान् कर रहे हैं। समस्त कार्यों की विद्यमानता (सत्त्व) उक्त कथन से नहीं बता रहे हैं।

नाऽसत: की यथार्थ व्याख्या इस प्रकार है—**ना विद्यमानेति**। नासत: में अकार प्रश्लेष का परित्याग करने से अर्थ यह होगा—सत: = विद्यमानस्य आत्मन:, भाव: = उत्पत्ति: और अकारप्रश्लेष का परित्याग नहीं करने पर सत: = विद्यमानस्य आत्मन: अभाव: = विनाश: अपि नाऽस्ति । सर्वे एव आत्मान:, अनुत्पत्ति-विनाशधर्माण: नित्या इति अर्थात् समस्त आत्माएँ उत्पत्ति-विनाश से रहित हैं। इसलिये वे नित्य हैं। इसका अर्थ, यह नहीं है कि सभी कार्य नित्य है; क्योंकि कार्य सभी अनित्य ही होते हैं। इसलिये

वे सर्वगत (व्यापक) नहीं हुआ करते और अनुपलब्धि से भी विरोध है अर्थात् मृदादि कारण में घटादि कार्य का नहीं दिखाई देना—यही अनुपलब्धि-विरोध है। सर्वगत = व्यापक ही नित्य और सत् हुआ करता है।

अतएव घटादि परिच्छिन्न पदार्थ नित्य नहीं हुआ करते। घटादि पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होते हैं। अनुपलब्धिविरोधात् = नित्यत्वाऽनुपलब्धि-विरोधात्।

शङ्का—यदिपरम् इति। कार्य की उत्पत्ति के पूर्व यद्यपि उसका स्वरूपतः सत्त्व नहीं कहा जाता किन्तु कारणात्मना अर्थात् कारण के रूप में उसका सत्त्व माना जाता है। तथा च—योग्यानुपलब्धि विरोध नहीं है; क्योंकि कारण उपलभ्यमान है ही।

समाधान—उपर्युक्त आशङ्का का समाधान कर रहे हैं **न च तावता इति**। घटादि कार्य के द्वारा सम्पादनीय जो उदकाहरणादि कार्य है, उसका सम्पादन मृदादि कारण से सम्भव नहीं है और कार्य के सत्त्व का स्वीकार कार्य सिद्ध्यर्थ ही किया जाता है, अतः कारणात्मना (कारण के रूप में) कार्य के सत्त्व का स्वीकार नहीं किया जाता; क्योंकि उसका कोई उपयोग नहीं देखा जाता।

इस उपर्युक्त न्याय का प्रकृत सन्दर्भ में अतिदेश कर रहे हैं—**तथा धर्माऽधर्मावपि इति**। इसी प्रकार धर्म-अधर्म दोनों अपने रूप से विद्यमान नहीं रहते तथापि प्रकृति (कारण) के रूप में रहते हैं; किन्तु न स्वकार्याय पर्याप्तौ इति। न तद्वशेन वैचित्र्यसम्भव। प्रमाणमपि महदादिक्रमेण प्रकृतिपरिणामे किञ्चिन्नास्ति पुरुषवचसां प्रमाणान्तराऽगोचरार्थे प्रमाणत्वाऽसम्भवात्, वेदानामपि पौरुषेयत्वात्, इतर पुरुषवचनवत् अप्रामाण्यात्। (किन्तु) अपने कार्य सम्पादनार्थ पर्याप्त नहीं होते, अतः धर्माऽधर्म के द्वारा कार्यवैचित्र्य का होना असम्भव है। अन्य कारण यह भी है कि महदादिक्रम से प्रकृति के परिणत होने में कोई प्रमाण भी नहीं है; क्योंकि पौरुषेयवाक्य प्रमाणान्तरों से ज्ञात नहीं होने वाले अर्थ के बोधक (प्रमाण) नहीं हुआ करते। अतः वेदवाक्य भी पौरुषेय होने के कारण अन्यान्य पुरुषवाक्यों के समान ही प्रमाण नहीं माने जा सकते।

सांख्यदर्शन सम्मत सृष्टिप्रक्रिया के प्रमाण पर आक्षेप कर रहे हैं—**प्रमाणमपीति**।

शङ्का— बुद्ध्यादयो विशेषान्ता अव्यक्तादीश्वरेच्छया।
पुरुषाधिष्ठितादेव जज्ञिरे मुनिपुङ्गवाः ॥

उत्तर—प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा ज्ञात (प्रमित) हुए अर्थ में ही पौरुषेय वचन का प्रामाण्य हुआ करता है। महदादिक्रम से प्रकृति का जो परिणाम (परिवर्तन) होता है, वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात (प्रमित) नहीं होता, उस कारण पौरुषेयवाक्यों का प्रामाण्य उस विषय में नहीं माना जाता। वेद भी पौरुषेय होने से उसी तरह प्रमाण नहीं माना जा सकेगा।

यदि तु सृष्टिप्रलयपरम्परामनादिमङ्गीकृत्य प्रतिसृष्टि—

सर्वेषां चैव नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् ।

वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।।

(मनुस्मृति- १।२१)

इत्यादिवचनैः क्रतुलिङ्गन्यायेननामप्रभावव्यवहारवस्तूत्पत्त्या शब्दानामनाद्यर्थसम्बद्धानां वेदानां च नित्यत्वमाश्रित्य प्रामाण्यमङ्गीक्रियते, तथाप्येकस्य प्रजापतेः सम्प्रदायप्रवर्तकत्वे कृतकाशङ्का स्यादेव ।

उक्त सन्दर्भ में एक पक्षान्तर बता रहे हैं—**यदीति**। सृष्टि-प्रलय परम्परा अनादिकाल से चलती आ रही है, उसमें जैसी ऋतु के आरम्भ में ऋतु के चिह्न (ऋतुलिङ्ग) पूर्व ऋतु के समान ही प्रादुर्भूत (प्रकट) होते हैं, उसी तरह सृष्ट्यन्तर (अन्य सृष्टि) पूर्व सृष्टि के समान ही होता है। अतएव सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में ऋतुलिङ्ग न्याय से सभी के नाम तथा कर्म की वैदिक शब्दों के सहारे से ही पृथक्-पृथक् मर्यादा का निर्माण किया है, इत्यादि वचनों से समान संज्ञायें, समान प्रभाव और समान व्यवहार वालें पदार्थों की उत्पत्ति हो सकती है। अतः अनित्यता दोष का प्रसंग उपस्थित नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष यह है कि न कदाचिदनीदृशं जगत्- इस न्याय से तथा भगवती श्रुति के वचन धाता यथा पूर्वमकल्पयत् से भी यह स्पष्ट हो रहा है कि सृष्ट्यन्तर में जो भी पदार्थ (वस्तुएँ) उत्पन्न होते हैं, वे सभी तुल्यनाम, प्रभाव, व्यवहार वाले ही उत्पन्न होते हैं। तथा च प्रवाह नित्यता के कारण वेदों का और शब्दों का प्रामाण्य अकाट्य है, यह कहा जा सकता है अर्थात् उक्त प्राकृत परिणाम में प्रमाण नहीं है, यह नहीं कह सकते—**तुल्यनाम-प्रभाव-व्यवहारवस्तूत्पत्त्येति**। सम्पूर्ण सृष्टि में घट को घट के नाम से ही कहा जाता है–यही तुल्यनामता है। ब्रह्महत्या आदि महापापों से नरक प्राप्ति होती है—यही तुल्यप्रभावता है। घट के उदकाहरण (तलाहरण) तथा पट से प्रावरण ही किया जाता है—यही तुल्यव्यवहारता है। संस्थाः = मर्यादाओं का प्रजापति ने निर्माण किया।

सिद्धान्ती ने पहिले कहा था कि प्रलय और सृष्टि के आरम्भ को स्वीकार करने पर वेदों की उत्पत्ति को भी स्वीकार करने पर उसे पौरुषेय कहाना होगा, तब उसका अप्रामाण्य भी मानना होगा, इसके भय से यदि सांख्यसम्मत प्रकृति का महदादिक्रम पूर्वक परिणाम मानने में भी पौरुषेय वाक्यों के प्रामाण्य का सम्भव नहीं है, उस कारण पौरुषेयत्वेन तत्तुल्य वेदवाक्यों के प्रामाण्य का होना भी सम्भव नहीं हो सकेगा। यह सच है किन्तु जब सृष्टि-प्रलय परम्परा को अनादि ही मानते हैं, तब वेदों के भी अनादि होने से उनके नित्य होने से तथा शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य रहने से पौरुषेय वाक्यों का विशेषतः प्रामाण्य माना जाना सम्भव है इसी प्रकार प्रकृति का परिणाम मानने पर

अजामेकाम्- इत्यादि वेदवाक्यों का प्रामाण्य उपपन्न हो सकता है प्रवाहनित्यता के कारण वेदों की नित्यता होने से। प्रमाणान्तर के अविषयभूत प्रकृति परिणाम को भी प्रमाण माना जा सकता है।

तथापि—'तथाप्येकस्य प्रजापतेः सम्प्रदायप्रवर्तकत्वे कृतकाशङ्का स्यादेव' अर्थात् अकेले एक ही प्रजापति ने अन्यान्य सभी कार्यों का निर्माण करते हुए पौर्वकालिक वेदों को ही पढ़ाया, नवीन वेदों का निर्माण नहीं किया—यह कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है, अतः कृतकत्व की आशङ्का बनी रहती है, इसी कारण वेदों को प्रमाण मानना सम्भव नहीं हो रहा है। सम्प्रदायप्रवर्तकत्वम् = वेदाध्यापकत्वम् इत्यर्थः; किन्तु वार्त्तिककार भट्टपाद का कहना है कि एकस्य प्रतिभानन्तु कृतकान्न विशिष्यते। अतश्च सम्प्रदाये च नैकः पुरुष इष्यते (श्लो० वार्ति०, चोदनासूत्र, कारि०-१५०) अर्थात् सम्प्रदाय का प्रवर्तक कोई एक ही व्यक्ति नहीं होता। अतः सम्प्रदाय में एक पुरुष ही प्रधान रूप से नहीं माना जाता।

अथ पुनः अष्टाशीतिसहस्राणि सम्प्रदायप्रवर्तकाः—इत्यादिवचनाऽनुरोधेन बहूनां महर्षीणां सृष्ट्यन्तराधीतं वेदं स्मरतां सुप्त-प्रतिबुद्धन्यायेन सम्प्रदायप्रवर्तकत्वमाश्रित्य कृतकाशङ्कां निरस्य नित्यता समर्थ्येत? तथाऽप्यनुपादानं जगन्निर्माणमशक्यमभ्युपगन्तुम्, प्रकृत्यादीनां ह्युपादानत्वं निरस्तम्।

औपनिषदास्तु सृष्टिप्रलयवादाः पौराणिकाश्चाऽर्थवादतया नेतव्याः। भवतु चैवम्, तथापि नाऽस्माकं काचित् क्षतिः, सम्बन्धनित्यत्ववेदप्रामाण्ययोरविघातात्।

।। इति साङ्ख्यमतनिरासः ।।

शङ्का—अट्ठासी हजार (अष्टाशीति सहस्राणि) सम्प्रदायप्रवर्तक वैदिक ब्रह्मर्षि हुए हैं। इन वैदिक ब्रह्मर्षियों ने पौर्वकालिक सृष्टि में अधीयमान वेदों का स्मरण करके सुप्तप्रतिबुद्ध न्याय से सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया—इत्यादि वाक्यों से निश्चित होता है कि पूर्व दिन अधीत किये हुए का स्मरण दूसरे दिन जैसे किया जाता है, उसी तरह उन महर्षि ब्रह्मर्षियों ने अपनी योगसाधना के सामर्थ्य (बल) से सृष्ट्यन्तर में अध्ययन किये हुए वेदों का वर्तमान सृष्टि में पुनः स्मरण किया। अतः वेदों के कृतकत्व की आशङ्का नहीं की जा सकती उसी कारण वेद का स्वतः प्रामाण्य और उसकी नित्यता सुस्थिर ही मानी जाती है।

शङ्का—उक्त कथन से निष्कर्ष यह निकलता है कि उसे प्रकृति का परिणामविशेष मानने में भी वेद ही प्रमाण है।

समाधान—तथापीति। आपका कहना ठीक है, वेदों की नित्यता होने से वेदों का

प्रामाण्य सुस्थिर है, तथापि उसके अनुसार जगत् (सृष्टि) का निर्माण किया जाता है, इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि ज़गत् के उपादानकारण (समवायिकारण) की उपलब्धि नहीं है। उपादानकारण के नहीं मिलने पर कार्य की निर्मिति करना सम्भव नहीं है।

शङ्का—प्रकृति को ही उपादानकारण मान लिया जाय?

समाधान—प्रकृत्यादीनां हि उपादानत्वं निरस्तम्। वेदों का नित्यत्व होने से उनका प्रामाण्य माना तो जा सकता है, किन्तु उससे जगत् का निर्माण किया जाता है—यह स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि जगद्रूप कार्य का उपादान कारण उपलब्ध नहीं है। उपादान कारण के अभाव में निर्माण का होना सम्भव नहीं है। जैसे- कुलाल, मिट्टी (मृत्तिका) के होने पर ही घट (कलश), शराव (सकोरे), पुनवे (कूल्हड) आदि वस्तुओं का निर्माण हो पाता है, अन्यथा नही; क्योंकि मिट्टी ही उन सभी का उपादन कारण है। तथैव तन्तुओं के होने पर ही पट, साड़ी, धोती, चादर आदि कार्य बनाये जाते हैं, क्योकि तन्तु ही उन सभी का उपादान कारण (समवायिकारण) है। तथा च कार्यनिर्माण में उसके उपादानकारण का होना अत्यावश्यक है।

शङ्का—प्रकृति को ही सभी का उपादानकारण मान लीजिये।

समाधान—प्रकृति एक ही है, अत: अकेली एक ही प्रकृति का अनेकविध प्रपञ्च के प्रति उपादानकारण बनना सम्भव नहीं है; क्योंकि पहिले बता चुके हैं कि कथं खलु एकरूपा प्रकृतिः, नर-पशु-तिर्यग् भेदभिन्नं प्रपञ्चमारभते- इति।

शङ्का—तदैक्षत बहुस्याम्- इत्यादि सृष्टि-प्रलय का प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है, पुराणों में भी बुद्ध्यादयो विशेषान्ताः- इत्यादि वाक्यों को अर्थवाद के रूप में समझना चाहिये।

अब 'भवतु चैवम्' से सृष्टि-प्रलय को स्वीकार करते हुए भी मीमांसकों के सिद्धान्त में कोई हानि नहीं है। वार्त्तिककार भट्टपाद कहते हैं कि श्रुति-स्मृति इतिहास का प्रामाण्य होने से सृष्टि और प्रलय को भी माना गया है—मन्त्रार्थवादेतिहासप्रामाण्यात् सर्ग-प्रलयावपीष्येते इति (तंत्रवा पृ०- १२६) यह स्वीकार करने पर भी कोई क्षति नहीं है; क्योंकि मीमांसकाभिमत सम्बन्धनित्यत्व तथा वेदप्रामाण्य का कोई बाधक नहीं है। मीमांसकविद्वान् जगत् को सादि और तद्रूप मानते हैं- न कदाचिदनीमीदृशं जगत्- यह जगत् वर्तमान में जैसा जिस रूप में है, इसके विपरीत न कभी था और न कभी होगा। इस कारण मीमांसकों के मतानुसार सृष्टि और प्रलय नहीं हुआ करते।

तथापि जिज्ञासा होती है कि मन्त्र-अर्थवाद आदि वाक्यों में सृष्टि और प्रलय का वर्णन उपलब्ध होता है, उसकी संगति कैसे होगी? जैसे धाता यथापूर्वमकल्पयत्, दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथोसुवः- यह अघमर्षण करने का मन्त्र है। अर्थात् ब्रह्मदेव ने पूर्व सृष्टि

(कल्प) में सृष्टि द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्गलोक, सूर्य, चन्द्रमा की सृष्टि की। तदनन्तर प्रजापति ने चाहा– मैं प्रजा का निर्माण करूँ, उसने प्रजा का निर्माण किया— प्रजापतिरकामयत प्रजा सृजेय इति, स प्रजा असृजत् इति। यह कथन कैसे संगत हो पायेगा?

उक्त प्रश्न का उत्तर यह है—ये मन्त्र और अर्थवाद खण्डसृष्टि और खण्डप्रलय का कथन करते हैं। महासृष्टि तथा महाप्रलय का कथन नहीं कर रहे हैं; क्योंकि उस समय सभी का विनाश (उच्छेद) हो जाता है। कोई वस्तु शेष नहीं बचती; किन्तु उक्त कथन में कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् सर्ग-प्रलय में तात्पर्य न होकर केवल अनित्यत्व में उसका तात्पर्य है। वार्तिककार भट्टपाद कह रहे हैं—

प्रलयेऽपि प्रमाणं न सर्वोच्छेदात्मके नहि ।
तस्माद‌द्यवदेवाऽत्र सर्ग-प्रलयकल्पना ।।
(श्लो०वार्ति०सम्ब०कारि०–११३)।

मत्स्यपुराण में भी अवान्तर सृष्टि का निरूपण किया गया है। अन्तः ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र ने तिर्यगाधिकरण में संसार को अनादि माना है। अतः मीमांसकों के सिद्धान्त में प्रपञ्च को सत्य तथा अनादि माना गया है और शब्दार्थसम्बन्ध नित्य होने के कारण वेदाध्ययन परम्परा भी अनादि मानी गई है इसी कारण कोई अनुपपत्ति नहीं है। इस प्रकरण में शब्दार्थ सम्बन्ध का कर्ता ईश्वर है, इसका विशेष रूप से खण्डन किया गया है। सृष्टि-प्रलय को स्वीकार करने पर भी वेदों का और शब्दार्थ सम्बन्ध का नित्यत्व स्वीकृत किया गया है।

(वैशेषिकमतेन पूर्वपक्षः)

वैशेषिकास्तु—पौरुषेयत्वमेव शब्दार्थसम्बन्धानां वेदानां चाऽङ्गी-कुर्वन्तोऽनुमानेन सृष्टिप्रलयावीश्वरञ्च सिषाधयिषन्तः प्रयोगमारचयन्ति। त्रिविधं हि वस्तुजातम्—सम्प्रतिपन्नचेतनकर्तृकं घटादि, सम्प्रतिपन्नाऽ-तत्कर्तृकं व्योमादि, विप्रतिपन्नतत्कर्तृकं मही महीधरदूर्वाङ्कुरादि। तत्राऽन्तिममधिकृत्योच्यते—शित्यादिकं बुद्धिमत्कर्तृकं कार्यत्वात् घटा-दिवत् कार्यत्वं च क्षित्यादेः सावयवत्वाद् घटादिवत्।

वैशेषिकमत (सिद्धान्त) के अनुसार सृष्टिप्रलय में दोष-प्रदर्शनार्थ कहा जा रहा है— **वैशेषिकास्तुः आरभन्ते इति**। इदं पदमिममर्थं बोधयतु, अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः— इस प्रकार परमेश्वर के द्वारा शब्दार्थसम्बन्ध बनाया गया है, उसी कारण वह पौरुषेय है तथैव प्रत्येक सर्ग (सृष्टि) में वेदों की रचना करके उनका उपदेश किया जाता है, इसलिये वे (वेद) पौरुषेय ही प्रतीत होते हैं। सृष्टि और प्रलय की सिद्धि अनुमान प्रमाण से की जाती है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—प्रपञ्चः, उत्पत्ति विनाशशाली, सावयव-

त्वात्, घटवत् इति। वैशेषिक विद्वान् शब्दार्थसम्बन्ध तथा वेदों को पौरुषेय मानकर अनुमान प्रमाण के द्वारा सृष्टि, प्रलय तथा तथा ईश्वर को सिद्ध करने के लिये अनुमान-प्रयोग करते हैं। वस्तुएँ (पदार्थ) त्रिविध (तीन प्रकार की) होती हैं—(१) सम्प्रतिपन्नचेतन-कर्तृक, जैसे–घट-पट आदि; क्योंकि घट का कर्ता चेतन कुंभकार है—यह सभी लोग जानते हैं। इसलिये यह सम्प्रतिपन्न चेतनकर्तृक है। (२) सम्प्रतिपन्नाऽतत्कर्तृक, जैसे—आकाश आदि– इसके कर्ता का किसी को पता (जानकारी) नहीं है; क्योंकि ये व्योम (आकाश) आदि नित्य हैं। अत: यह, सम्प्रतिपन्न चेतन-अकर्तृक है। (३) विप्रतिपन्न-तत्कर्तृक, जैसे—पृथ्वी, पर्वत, दूर्वा, अङ्कुर आदि हैं। इनके कर्ता के विषय में विप्रति-पत्ति है। विप्रतिपन्नतत्कर्तृकम् = न स्वीकृतं सन्दिग्धं वा चेतनकर्तृकत्वं यस्य तत्। अन्तिम अर्थात् क्षित्यङ्कुरादिव। बुद्धिमत्कर्तृक = चेतनकर्तृक। उपर्युक्त तृतीय संख्याक जो विप्रतिपन्नत्वकर्तृक है, उसका क्षित्यादिकं बुद्धिमत्कर्तृकं कार्यत्वात् घटादिवत् कार्यत्वं च क्षित्यादे: सावयवत्वात् घटादिवत्— इस उच्यमान अनुमान से चेतनकर्तृत्व सिद्ध हो जाने पर जीवात्माओं का तत्कर्तृत्व होना सम्भव नहीं है। इससे यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि क्षित्यादीनां य: कर्ता स ईश्वर:। इस रीति से ईश्वर की सिद्धि हो जाती है और क्षित्यादि पदार्थों का कृतकत्व सिद्ध होने से सृष्टि और प्रलय की सिद्धि हो जाती है।

शङ्का—यदि क्षिति आदि प्रपञ्च में चेतनकर्तृकत्व की सिद्धि कार्य हेतु से होती हो तो उनका (क्षिति आदि का) चेतनकर्तृकत्व सिद्ध हो भी सकता है; किन्तु क्षिति आदि पदार्थों में कार्यत्व की उपलब्धि नहीं होती; क्योंकि उन क्षिति आदि पदार्थों की उत्पत्ति को आज तक किसी ने भी नहीं देखा है।

समाधान—यद्यपि अपने चक्षुरिन्द्रिय से उसकी उत्पत्ति को नहीं देखा है, तथापि क्षित्यादिकं कार्यं सावयवत्वात् घटवत्—इस अनुमानप्रमाण से तो जाना ही जाता है।

किं पुन: पृथिव्यादे: समवायिकारणम्? पार्थिवाऽऽप्यतैजसवायवीय-परमाणुजातं यथास्वं पृथिव्यप्तेजोवायूनां समवायिकारणम्, न हि प्रलये परमाणूनां प्रलयोऽस्माकमस्ति सांख्यादिवत्। कार्यद्रव्याणि तु द्व्यणुकादीनि सर्वाण्येवेश्वरेच्छया विशिलष्टावयवानि प्रलीयन्ते, पर-माणवस्तु मिथोऽसंयुक्तास्तिष्ठन्ति व्योमादयश्च क्षेत्रज्ञाश्चात्मीयधर्माऽ-धर्मयुक्ता एवाऽवतिष्ठन्ते। सर्गकाले पुनरीश्वरेच्छां क्षेत्रज्ञाऽदृष्टं च निमित्तमासाद्य परमाणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते, तद्वशाच्च मिथस्संयुक्ता-श्चतुष्टयेऽपि परमाणवो द्व्यणुकादिक्रमेण यथास्वं पृथिव्यादिकं भूत-चतुष्टयमारभन्ते। निमित्तभूतक्षेत्रज्ञाऽदृष्टवैचित्र्याच्च जरायुजाण्ड-जोद्भिज्जस्वेदजभिन्नं शरीरभेदमीश्वरेच्छाकारितसंयोगविशेषवशात् परमाणव आरभन्ते।

शङ्का—पृथिवी आदि पदार्थों का समवायिकारण कौन है? क्योंकि कोई भी कार्य अपने समवायि-कारण के बिना पैदा नहीं होता। अतः क्षिति (पृथिवी) आदि कार्यों का भी समवायिकारण बताना ही होगा।

उत्तर—पार्थिवाऽऽप्यतैजसवायवीयपरमाणुजातं यथास्वं पृथिव्यप्तेजोवायूनां समवायिकारणम्। यथास्वम् = यथासंख्यम् । जैसे- पृथिवी का समवायिकारण पार्थिव परमाणु है, उसी तरह आगे भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् (१) पार्थिव परमाणुसमूह, (२) आप्य (जलीय) परमाणुसमूह (३) तैजस परमाणुसमूह (४) वायवीय परमाणु-समूह—ये चारों क्रमशः (यथाक्रम) , (१) पृथिवी, (२) अप्, (३) तेजस्, (४) वायु- इन चारों को समवायिकारण कहा जाता हैं।

प्रश्न—प्रलयकाल में परमाणुओं का विनाश हो जाता है, तब विनष्ट हुए परमाणुओं में समवायिकारणता का होना कैसे सम्भव हो सकता है?

उत्तर—हमारे अर्थात् वैशेषिकों के मत में परमाणुओं का लय नहीं होता, जैसे सांख्यदर्शन के सिद्धान्त में प्रधान (प्रकृति) का लय नहीं होता। अर्थात् परमाणु नित्य होते हैं। **कार्यद्रव्याणि तु द्व्यणुकादीनि सर्वाण्येवेति** । अर्थात् सभी कार्यद्रव्य द्व्यणुकादि परमेश्वर की इच्छा के अनुसार अपने-अपने अवयवों से अलग (पृथक्) होकर अपने-अपने कारणों में विलीन हो जाते हैं, किन्तु परमाणु तो परस्पर असंयुक्त ही रहते हैं। आकाश, काल, दिक्, मन और क्षेत्रज अपने-अपने धर्माऽधर्म से संयुक्त ही रहते हैं। सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरेच्छा तथा क्षेत्रज्ञों (जीवात्माओं) के अदृष्ट रूप निमित्त से परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है, तदनुसार चारों परमाणु परस्पर मिलकर द्व्यणुक, त्र्यणुकादि क्रमशः अपने-अपने पृथिवी आदि चारों भूतों को उत्पन्न करते हैं और क्षेत्रज्ञों (जीवात्माओं) के अदृष्ट रूप निमित्त की विचित्रता से (भिन्नता से) (१) जरायुज, (२) अण्डज, (३) उद्भिज्ज, (४) स्वेदज से पृथक् शरीर भेद को ईश्वर की इच्छा से उत्पन्न जो संयोगविशेष, तदनुसार परमाणु ही आरम्भ करते हैं। अतएव जगत् के समवायिकारण परमाणु कहे जाते हैं और ईश्वर को निमित्तकारण माना जाता है। वह ईश्वर ही सृष्टि के आदि में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का निर्माण करता है तथा वेद का भी निर्माण करता है। अतः वैशेषिकों के मतानुसार सृष्टि, प्रलय तथा लोकयात्रा (लोकव्यवहार) आदि निष्पन्न होती है—यह वैशेषिकदर्शन का मत है।

(वैशेषिकमतखण्डनम्)

न त्वेतदपि युक्तम्; नहीच्छामात्रेण प्रयत्नमन्तरेण परमाणुषु स्पन्दोत्पत्तिः सम्भवति, इच्छाकारितप्रयत्नवशेन शरीरस्पन्दोत्पत्तिरद्यत्वेऽपि दृश्यते। ईश्वरोऽपि प्रयतत इति चेत् ? न, अशरीरस्य प्रयत्नाऽसम्भवात् । सर्वगता अपि ह्यात्मानः शरीरप्रदेश एव प्रयत्नमारभन्ते, न बहिः;

अतः शरीरापेक्षः प्रयत्नः। प्रलयकाले च सर्वकार्याणां प्रलयादीश्वर-शरीरमपि प्रलीनमिति कथमशरीरः प्रयतते? न चाऽशरीरस्येच्छाऽपि सम्भवति मुक्तात्मनामिव। नाऽपि ज्ञानं सम्भवति इन्द्रियादेरभावात्।

नित्यमस्य ज्ञानं, नित्या चेच्छा, नित्यश्च प्रयत्न इति चेत्? न, सर्वज्ञानेच्छा-प्रयत्नामनित्यत्वव्याप्तेः। शक्यते हि प्रयोक्तुम्—क्षित्यादिकं नाऽशरीरि-चेतनकर्तृकम्, न नित्यप्रयत्ननित्येच्छानित्यज्ञानकर्तृकम्, कार्यत्वाद् घट-वदिति।

ननु घटस्यापीश्वरकर्तृकत्वमस्त्येवेति, साध्यहीनो दृष्टान्तः? तथापि कुलालस्याऽपि कर्तृत्वान्न केवलेश्वरकर्तृकत्वं घटस्य। ततश्चैवं प्रयोक्त-व्यम्, क्षित्यादिकं न केवलाऽशरीर्यात्मादिकर्तृकं कार्यत्वात् घटवदिति, वस्तुत्वाद् व्योमवदिति हेतु-दृष्टान्तौ सर्वथाऽपि निर्दोषौ। तथा क्षित्या-दिकं न बुद्धिमत्कर्तृकम्, शरीरिकर्तृकत्वविरहाद् व्योमवदिति साक्षादेव प्रतिसाधनं कर्तव्यम्।

न त्वेतदपीति। शरीर में स्पन्द की उत्पत्ति प्रयत्न से ही होती है, अतः ईश्वर की इच्छामात्र से परमाणुओं में भी प्रयत्न के बिना स्पन्द (स्पन्दनक्रिया) का होना सम्भव नहीं है, अन्यथा शरीर में भी बिना प्रयत्न के ही स्पन्द का होना सम्भव मानना होगा। प्रयत्न के विना इच्छामात्र से क्रिया की उत्पत्ति होने में ग्रन्थकार दृष्टान्त प्रदर्शित कर रहे हैं— इच्छाकारितप्रयत्नवशेन शरीरस्पन्दोत्पत्तिः अद्यत्वेऽपि दृश्यते। अद्यत्वे = इदानीमपि शरीरे स्पन्दोत्पत्तिः इच्छाकृतप्रयत्नवशेन दृश्यते। इच्छा से जन्य जो प्रयत्न, उसके द्वारा ही शरीर में क्रिया की उत्पत्ति का होना आजकल भी देखा जाता है।

प्रश्न—क्या ईश्वर अपनी इच्छामात्र से ही जगत् की उत्पत्ति करता है? तब तो प्रयत्न की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

उत्तर—ईश्वर को भी प्रयत्न करना पड़ता है—यह नहीं कह सकते; क्योंकि अशरीरस्य प्रयत्नाऽसम्भवात्, बिना शरीर के प्रयत्न का होना-सम्भव नहीं है।

सर्वगता अपि ह्यात्मानः इति। सभी आत्मा सर्वगत है तथापि शरीर देश में ही वे प्रयत्न का आरम्भ करते हैं, शरीर के बाहर नहीं। अतः प्रयत्न को शरीर की अपेक्षा रहती है। प्रलयकाल में सभी कार्यों का लय होने से ईश्वर का शरीर भी प्रलीन हो जाता है, तब वह बिना शरीर के अर्थात् अशरीर ईश्वर प्रयत्न कैसे कर सकेगा? तथा बिना शरीर के इच्छा का होना भी सम्भव नहीं है। **मुक्तात्मनाविति**।– जैसे– मुक्तात्माओं को इच्छा नहीं हुआ करती, उसी तरह उन्हें ज्ञान का होना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि इन्द्रिया-देरभावात्– वे मुक्तात्मा इन्द्रियों से रहित होते हैं। अथवा जानाति, इच्छति, यतते, करोति

यह क्रम है, अर्थात् पहिले ज्ञान होता है, तदनन्तर इच्छा, तदनन्तर प्रयत्न, तदनन्तर क्रिया हुआ करती है। ये सब क्रमभावी होने से प्रयत्नकारणीभूत इच्छा का होना भी अशरीरी को कैसे सम्भव हो सकता है? जब इच्छा ही नहीं, तब प्रयत्न का होना भी असम्भव ही है। उसी तरह इच्छा का कारण जो ज्ञान, उसका होना भी सम्भव नहीं है, जिससे इच्छा की उत्पत्ति हो सके। इन सबके नहीं होने में कारण शरीरराहित्य ही है।

शङ्का—नित्यमस्य ज्ञानं, नित्या चेच्छा, नित्यश्च प्रयत्नः इति चेत् इति । जो ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, अनित्य है, उनके लिये शरीर की अपेक्षा (आवश्यकता) हुआ करती है; किन्तु ईश्वर का ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न तो नित्य ही माने जाते हैं, वे अनित्य नहीं हैं। उसी कारण उन्हें शरीर की अपेक्षा नहीं रहती। एवञ्च ईश्वर अशरीरी होते हुए भी उसके ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न नित्य रहते हैं अर्थात् ईश्वर के कार्य बिना शरीर के भी होते रहते हैं।

समाधान—इति चेत्? न, सर्वज्ञानेच्छाप्रयत्नानामनित्यत्व व्याप्तेः । ईश्वर के अशरीरी रहते हुए भी उसके सभी कार्य होते रहते हैं—यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सभी ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न अनित्य ही रहते हैं; क्योंकि शरीर के बिना ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न हो ही नहीं सकता है; किन्तु ईश्वर के ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न सर्वदा नित्य ही कहे जाते हैं, उनके लिये शरीर की अपेक्षा नहीं है।

उपर्युक्त कथन उचित नहीं है—सर्वज्ञानेच्छाप्रयत्नानामनित्यत्वव्याप्तेः। क्योंकि ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न—ये सभी अनित्य ही हैं। ऐसा अनुभव सभी को है। अतः ईश्वर के ज्ञानादि भी अनित्य ही हैं—यह मानना ही होगा। अनुमान प्रयोग, इस प्रकार किया जायेगा ज्ञानादयः अनित्याः ज्ञानादित्वात्, जीवज्ञातादिवत् । ईश्वर की इच्छा को नित्य मानने पर सृष्टि कारणीभूत इच्छा को भी नित्य कहना होगा, तब सर्वदैव सृष्टि स्थिति माननी पड़ेगी। प्रलय कभी होगा ही नहीं। इसी तरह प्रलयकारणीभूत इच्छा भी नित्य होने से सर्वदैव प्रलय ही होता रहेगा, सृष्टि कभी रहेगी ही नहीं। यह दोष उपस्थित होगा।

और वैशेषिकों के विरोध में सत्प्रतिपक्ष दोष भी दिया जा सकता है—क्षिति (पृथिवी) जल आदि, अशरीरी चेतनकर्तृक हैं और नित्यप्रयत्न-इच्छा-ज्ञानकर्तृकत्व भी वैशेषिकों को मान्य है। उसके विरोध में भी प्रयोग किया जा सकता है—क्षित्यादिकं न अशरीरिचेतनकर्तृकं, न नित्यप्रयत्ननित्येच्छानित्यज्ञानकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत् इति। अशरीरिचेतनकर्तृकत्वाभाव, नित्येच्छा-प्रयत्नज्ञानवत्कर्तृकत्वाऽभाव घट में प्रसिद्ध ही है, क्येंकि शरीरधारी अनित्येच्छा-प्रयत्न-ज्ञान वाले कुलाल के द्वारा निर्माण किया हुआ है। क्षिति, जल आदि पदार्थों की सृष्टि (निर्माण) अथवा प्रलय में जीवनकर्तृकत्व नहीं है अर्थात् बाधित है। अतः क्षित्यादि पदार्थों की सृष्टि तथा प्रलय नहीं होता, उनकी तो प्रवाहनित्यता ही मानी जाती है। श्लोकवार्तिक में भट्टपाद ने कहा भी है—

यदा सर्वमिदं नासीत्का[१]ऽवस्था तत्र गम्यताम् ।
प्रजापतेः[२] क्व वा स्थानं किं रूपं च प्रतीयताम् ॥
ज्ञाता च कस्तदा तस्य यो जनान् बोधयिष्यति ।
उपलब्धेर्विना चैतत् कथमध्यवसीयताम् ॥
प्रवृत्तिः कथमाद्या च जगतः सम्प्रतीयते ।
शरीरादेर्विना चास्य कथमिच्छाऽपि सर्जने ॥
शरीराद्यथ तस्य[३] स्यात्तस्योत्पत्तिर्न तत्कृता ।
तद्वदन्य[४]प्रसङ्गोऽपि नित्यं यदि तदिष्यते ॥
पृथिव्यादावनुत्पन्ने किमयं [५]तत् पुनर्भवेत् ।
प्राणिनां प्रायदुःखा[६] च सिसृक्षाऽस्य न युज्यते ॥
साधनं चास्य धर्मादि तदा किंचिन्न विद्यते ।
न च निःसाधनः कर्ता कश्चित् सृजति किंचन ॥
नाऽऽधारेण विना सृष्टिरूपेणानाभेदपष्यते ।
प्राणिनां भक्षणाच्चाऽपि तस्य[७] लाला प्रवर्तते ॥
अभावाच्चानुकम्प्यानां नाऽनुकम्पाऽस्य[८] जायते ।
सृजेच्च शुभमेवैकमनुकम्पाप्रयोजितः ॥
तथा चाऽपेक्ष[९]माणस्य स्वातन्त्र्यं प्रतिहन्यते ।
जगच्चाऽसृजतस्तस्य किं नामेष्टं न सिध्यति? ॥
क्रीडार्थायां प्रवृत्तौ च विहन्येत कृतार्थता[१०]।
बहुव्यापारतायां च क्लेशो बहुतरो भवेत् ॥
एवं वेदोऽपि [११]तत्पूर्वस्तत्सद्भावादिबोधने ।
साशङ्को न प्रमाणं स्यान्नित्यस्य व्यापृतिः कुतः ॥
वेदस्याऽऽदि[१२]प्रवृत्तौ च नाऽकृतत्वमतिर्भवेत् ।
प्रलयेषु स्थितिश्चाऽस्य सा शङ्का स्यात्प्रजापतौ ॥
कर्तृसर्गविनाशानामथाऽनादित्वकल्पना ।
सैवं युक्ता यथेदानीं भूतानां दृश्यते क्रमात् ॥

---

१. का = कीदृशी। तत्र = प्रलये।
२. अयं प्रजापतिः सर्गकर्ता।
३. तस्य = ईश्वरशरीरस्य।
४. ईश्वरशरीरनिर्माणार्थमन्यशरीरस्वीकारेऽनवस्था।
५. तत् = ईश्वरशरीरम्।
६. प्रायदुःखा = दुःखबहुला।
७. तस्य = उर्णनाभेः।
८. अस्य = ईश्वरस्य।
९. जीवकर्मापेक्षायाम्।
१०. कृतार्थता = आप्तकामता।
११. तत्पूर्व = प्रजापतिकृतः।
१२. आदिप्रवृत्तौ = प्रजापतिनोपदिष्टत्वे।

प्रलयेऽपि प्रमाणं नः सर्वोच्छेदात्मके नहि ।
न च प्रयोजनं तेन स्यात् प्रजापतिकर्मणा ॥
अशेषकर्मनाशे वा पुनः सृष्टिर्न युज्यते ।
कर्मणां वाऽप्यभिव्यक्तौ किं निमित्तं तदा भवत् ॥
ईश्वरेच्छा यदीष्येत सैव स्थाल्लोककारणम् ।
ईश्वरेच्छावशित्वे हि निष्फला कर्मकल्पना ॥
कुलालवच्च[१] नैतस्य व्यापारो यदि कल्पते ।
अचेतनः कथं [२]भावस्तदिच्छामनुरुध्यते ॥
तस्मान्न परमाण्वादेरारम्भः स्यात्तदिच्छया ।
पुरुषस्य च शुद्धस्य नाऽशुद्धा विकृतिर्भवेत् ॥
स्वयं च शुद्धरूपत्वादसत्त्वाच्चाऽन्यवस्तुनः ।
स्वप्नादिवदविद्यायाः प्रवृत्तिस्तस्य किंकृता ॥
अन्येनोपप्लवेऽभीष्टे द्वैतवादः प्रसज्यते ।
स्वाभाविकीमविद्यां तु नोच्छेतुं कश्चिदर्हति ॥
तस्मादद्यवदेवाऽत्र सर्गप्रलयकल्पना ।
समस्तक्षयजन्मभ्यां न सिध्यत्यप्रमाणिकी ॥
कर्मक्षयो हि विज्ञानादित्येतच्चाऽप्रमाणवत् ।
सर्वज्ञवन्निषेध्या च स्रष्टुः सद्भावकल्पना ॥

शङ्का—तुम्हारे अनुमान में प्रदर्शित दृष्टान्तरूप जो घट है, उसमें भी अशरीरि-चेतनकर्तृकत्व है ही; क्योंकि कार्यमात्र के प्रति ईश्वर को कर्ता माना ही जाता है। अतः अशरीरि चेतनकर्तृकत्वा-ऽभावात्मक साध्य का अभाव रहने से दृष्टान्त साध्यविकल हो गया है। तथा च निष्कर्ष यह हुआ कि अशरीरिचेतन कर्तृकत्वाऽभावरूप कार्यत्व का घटादि में व्याप्तिग्रह न होने से अनुमान प्रयोग ही नहीं हो पाता।

तथापीति। उपर्युक्त कथन का परिहार किया जा रहा है। ऊपर जो साध्यवैकल्प–दोष प्रदर्शित किया था। उसका खण्डन कर रहे हैं—घट में सशरीर कुलाल कर्तृकत्व के विद्यमान होने से केवल अशरीरिचेतनकर्तृकत्वाऽभाव रहने से अर्थात् केवल अशरीरि चेतन कर्तृकत्वाऽभाव (घट में) रहने से ही साध्य वैकल्प दोष नहीं है।

अपने अभिप्राय को प्रकट करते हुए प्रयोगान्तर के द्वारा सत्प्रतिपक्ष दोष प्रदर्शित किया जा रहा है—**क्षित्यादिकं नेति**। क्षित्यादिकं न केवलाऽशरीर्याऽऽत्मकर्तृकं, कार्यत्वात्, घटवत् इति और वस्तुत्वात् व्योमवत् इति—यह दूसरा हेतु प्रदर्शित किया गया

---

१. एतच्च = ईश्वरस्य।
२. भावः = परमाणुः।

है। हेतु और दृष्टान्त—दोनों में अर्थात् उक्त दोनों हेतुओं में व्यभिचारित्वादि दोष नहीं है और दोनों दृष्टान्तों में भी साध्यवैकल्य दोष नहीं है। घट में कुलालकर्तृकत्व भी है, और केवल अशरीरिचेतनकर्तृकत्व का अभाव तो है ही और व्योम (आकाश) में नित्यता रहने के कारण कृतकत्व नहीं है; अतएव केवल अशरीरिचेतनकर्तृकत्वाऽभाव भी है, इस कारण साध्यवैकल्य (साध्यहीनता) नहीं है।

वैशेषिक विद्वान् क्षित्यादिकं बुद्धिमत्कर्तृकम् ऐसा प्रयोग करते हैं; किन्तु उसमें सत्प्रतिपक्ष दोष साक्षात् (प्रत्यक्ष) है। जहाँ शरीरिकर्तृकत्वाऽभाव रहता है, वहाँ बुद्धि-मत्कत्वाऽभाव भी रहता है, जैसे नित्य रहने वाले व्योम (आकाश) में। तथा च क्षित्यादि पदार्थों से शरीरिकर्तृकत्व की निवृत्ति से बुद्धि-मत्कर्तृकत्व की भी निवृत्ति होती है अर्थात् सशरीर (शरीरी) में ही बुद्धिमत्ता का होना सम्भव रहता है।

(ईश्वरस्य नित्यशरीरमङ्गीकृत्याऽऽशङ्का)

अथेश्वरशरीरं नित्यमङ्गीकृत्य प्रलयेऽपि सशरीरमेवेश्वरमभ्युपगच्छेत्? ततः सावयवत्वमीश्वरशरीरेऽनैकान्तिकं न क्षित्यादेः कार्यत्वं साधयेत्, सशरीरकर्तृत्वं च दूर्वाङ्कुरादीनामनुपपन्नमनुपलब्धिविरोधात्।

शङ्का—यदि कोई कहे कि ईश्वर का भी शरीर होता है, ऐसा मान लिया जाय, और उसे नित्य भी कहा जाय, तो क्या हानि है? प्रलयकाल में भी ईश्वर को शरीरी ही मानें तो क्या दोष है?

समाधान—ईश्वरशरीर में सावयवत्व अनैकान्तिक है, वह उससे पृथिवी आदि में कार्यत्व की सिद्धि नहीं हो पायेगी और सशरीर कर्तृकत्व, दूर्वा, अंकुर आदि में अनुपपन्न है; क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं होती–यह अनुपलब्धिरूप विरोध है। अर्थात् क्षित्या-दिकों में कार्यत्व सिद्ध्यर्थ जो सावयत्व हेतु प्रदर्शित किया है, वह ईश्वरशरीर में व्यभि-चरित है। अतः उससे साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

शङ्का—ईश्वर का शरीर किस वस्तु से निर्माण किया जायगा? क्योंकि सृष्टि के आरम्भकाल में पृथिवी आदि पदार्थ तो विद्यमान हैं नहीं। शरीर को ही भोगायतन कहा जाता है। अतः शरीर का लक्षण कैसे घटित हो सकेगा? तथा दयालु हितैषी परमेश्वर दुःखमय जगत् की निर्मिति भी नहीं कर सकता और साधनसामग्री के विना सृष्टिकर्तृकत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती। जीवात्मा के साधन धर्माऽधर्म हैं—यह भी नहीं कहा जा सकेगा; क्योंकि सृष्टि के पूर्व उनका अस्तित्व ही नहीं है। और केवल धर्माधर्म मात्र से ही सृष्टि का निर्माण नहीं होता, घट का उपादानकारण मिट्टी तथा वस्त्र का उपादानकारण तन्तु हुआ करते हैं। सृष्टि के प्रति यदि ईश्वर की दया ही कारण है, तो उसे सृष्टि संहार करने की इच्छा भी नहीं होनी चाहिये। एवञ्च सृष्टि की तरह बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाले

ईश्वर के द्वारा संहार भी कैसे हो सकेगा? क्योंकि संहार का कोई प्रयोजन, दृष्टिपथ में नहीं आता।

किञ्च प्रतिकार्यं प्रयत्नभेदेन भवितव्यम्, अन्यो हि पादसञ्चरणे प्रयत्नः, अन्यश्च बाहूद्धरणे, तथा सति यद्यपीश्वरे प्रयत्नो नित्यः स्यात्, तथापि तस्यैकत्वान्न विचित्रकार्योदयहेतुत्वं सम्भवतीति, व्यर्थ एवाऽसौ। यदि-त्वनन्तकार्यानुरूपा अनन्ता एव प्रयत्नाः सर्वदैवेश्वरेऽवतिष्ठेरन्, तथा सति प्रलयकारणीभूतस्य परमाणुविश्लेषकस्य प्रयत्नस्य सर्गकालेऽ-प्यवस्थानात्, संयोजकस्य च सर्गहेतोः प्रलयकालेऽप्यवस्थानात्, उभयोः परस्परविघातान्न सृष्टिः स्यात्, न प्रलयः।

दूसरी बात यह भी है—प्रत्येक कार्य की निष्पत्ति के लिये पृथक्-पृथक् (भिन्न-भिन्न) प्रयत्न आवश्यक रहते हैं। जैसे– पादसंचारण (पैर के चलाने में) में पृथक् (दूसरा) ही प्रयत्न करना पड़ता है, हाथ के उठाने में पृथक् (दूसरा) ही प्रयत्न करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में यद्यपि ईश्वर का प्रयत्न नित्य हो सकता है, तथापि उसके एक होने से विचित्र (भिन्न-भिन्न) कार्यों के लिये वह (ईश्वर का प्रयत्न) प्रयत्न हेतु (कारण) नहीं बन सकता। इसलिये उसका (ईश्वर का) नित्य प्रयत्न मानना व्यर्थ है।

शङ्का—यदि त्वनन्तकार्यानुरूपेति। यदि अनन्त कार्यों के अनुरूप अनन्त प्रयत्नों को माना जाय, तो वे प्रयत्न, ईश्वर में सर्वदा रहेंगे।

उत्तर—तथा सति इति। (नहीं,) ऐसा मानने पर प्रलयकारणीभूत जो परमाणु विश्लेषक (परमाणुओं को विभक्त करने वाले) प्रयत्न विशेष; वह सृष्टि काल में भी रहता है और परमाणुओं का संयोजक प्रयत्न, जो सर्ग का कारण है, वह प्रलय काल में भी रहता है, उस कारण सुन्दोपसुन्दन्यायानुसार दोनों के परस्पर विघात से न सृष्टि हो पायेगी और न प्रलय ही हो पायेगा।

उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि ईश्वर का प्रयत्न नित्य है, अतः उसे एक ही कहना होगा, तब एक प्रयत्न से विविध कार्यों का होना कभी सम्भव नहीं है; क्योंकि कार्य की विविधता के लिये प्रयत्न की विविधता का होना आवश्यक है। अन्यथा एक ही प्रयत्न यदि सभी कार्यों का कारण हो तो लोक व्यवहार में भी एक ही प्रयत्न से सभी कार्य सिद्ध होने लगेंगे। भिन्न-भिन्न प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। उसी तरह ईश्वर के एक ही प्रयत्न को सभी कार्यों का कारण मानने पर भी वह ईश्वरीय प्रयत्न सृष्टि-प्रलय दोनों का कारण कहलायेगा, तब एक ही समय में सृष्टि-प्रलय दोनों का युगपत् प्रसंग प्राप्त होने लगेगा।

यच्च क्षेत्रज्ञाऽदृष्टवैचित्र्यात् कार्यवैचित्र्योपपत्तिरिति, तदप्ययुक्तम्; न हि दृष्टकारणवैलक्षण्यमन्तरेणाऽदृष्टवैलक्षण्यमात्रात् कार्यवैलक्षण्यं

सिध्यति। नह्यदृष्टशतेनाऽपि तालबीजमन्तरेण तालवृक्षो निष्पद्यते। विनाऽपि बीजमीश्वरमहिम्ना सर्वं सिध्यतीति चेत्? न, तत्रैव प्रमाणाऽभावात्। नित्यत्वे हि वेदानामवसिते तत्प्रामाण्यबलेनेश्वरस्याऽपरिच्छेद्यो महिमा सृष्टिप्रलयौ च क्रतुलिङ्गन्यायमाश्रित्य सिध्येयुर्न वा। वेदांस्त्वनादृत्य दृष्टाऽनुसारेण पर्वते इवाऽनुमानमत्यन्ताऽलौकिकेऽर्थे प्रवर्तयतामुपेक्षैवोत्तरमित्युपरम्यते। तस्मान्न सर्गाऽऽदिकालेऽपि सम्बन्धकारणम्।

यच्च क्षेत्रज्ञेति। इसी प्रकार सृष्टि और प्रलय के होने में ईश्वर की अच्छा आदि कारण नहीं है, अपितु जीवों का अदृष्ट भी कारण मानने वालों का खण्डन 'यच्च क्षेत्रज्ञाऽदृष्ट' से कर रहे हैं अर्थात् क्षेत्रज्ञों (जीवों) के भिन्न-भिन्न अदृष्टों के कारण भिन्न-भिन्न कार्य हुआ करते हैं–यह कहना उचित नहीं है अर्थात् दृष्टकार्यवैलक्षण्या के प्रति दृष्टकारण वैलक्षण्य ही कारण होता है। अदृष्ट वैलक्षण्य से दृष्ट कार्य वैलक्षण्य नहीं होता है। इसी तथ्य को व्यतिरेक दृष्टान्त से बता रहे हैं—**नहि दृष्टकारणवैलक्षण्यमिति**। अर्थात् दृष्ट कारण की विलक्षणता के बिना अदृष्ट की विलक्षणतामात्र से कार्य की विलक्षणता नहीं हुआ करती। ताड़ (ताल) वृक्ष की (अर्थात् किसी भी वृक्ष की) उपपत्ति में कारण ताड का (उसका) बीज ही हुआ करता है अर्थात् तत्तत् वृक्ष की उत्पत्ति में तत्तद् बीज ही कारण होता है, बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति नहीं हुआ करती। भले ही सैंकडों अदृष्ट हों, किन्तु बीज न हो तो वृक्षोत्पत्ति नहीं होती।

शङ्का—यदि कोई यह शङ्का करे कि बीज के न रहने पर भी ईश्वर की अमोघ शक्ति से सभी कुछ हो सकता है।

उत्तर—न, तत्रैव प्रमाणाऽभावात्। नहीं उपर्युक्त कथन उचित नहीं है; क्योंकि वैसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। बिना कारण के कार्य नहीं होता है। अर्थात् कारण रहने पर ही कार्य का अस्तित्व हुआ करता है। एवञ्च विनाऽपि बीजं, ईश्वरमहिम्नैव सर्वं सिध्यति— इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है; क्योंकि ईश्वर की महिमा का अपरिच्छेद्य होना वेदों के नित्यत्व और प्रामाण्य के बल पर ही सिद्ध होता है। ऋतुलिङ्ग न्याय की दृष्टि से सृष्टि तथा प्रलय सिद्ध हो सकते हैं। **वेदाँस्त्वनादृत्येति**। जो नास्तिक अर्थात् वेदनिन्दक (नास्तिको वेदनिन्दकः) वेदों में श्रद्धा न करने वाले प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानकर पर्वत पर अग्नि का अनुमान कर लेते हैं, तद्वत् ही अत्यन्त अलौकिक अर्थों को जानने की चेष्टा करते हैं, वे स्वैर अर्थात् स्वेच्छाचारी कहलाते हैं। उसमें से ही ये वैशेषिक हैं, अतः उनकी उपेक्षा करना ही उनके लिये उत्तर देना है। कहा भी है—

भद्रं कृतं, कृतं भद्रं, कोकिले, जलदाऽऽगमे ।
माण्डूका यत्र गायन्ति, तत्र मौनं हि शोभनम् ।।

इत्युपरम्यते- अतः विचार को आगे न बढाकर हम यहीं पर विराम कर लेते हैं।

सम्बन्ध सकर्तृक है, सम्बन्ध सर्वदा सकर्तृक (कृत्रिम) होता है।

प्रश्न—शब्दार्थसम्बन्ध होने से जैसे वृद्धिरादैच् के समान ऐसा अनुमान क्या नहीं किया जा सकता है?

उत्तर—नहीं, जो सकर्तृक होता है, वह स्मृति के विषयभूत कर्तृत्व का प्रयोजक होता है, अत: अनुमानप्रयोग में निर्दिष्ट हेतु अप्रयोजक है अर्थात् सम्बन्ध के कर्ता को सिद्ध नहीं कर सकता।

शङ्का—अगृहीत सम्बन्ध वाले शब्द से अर्थप्रतीति (अर्थज्ञान) नहीं होती है, इसलिये अर्थापत्ति प्रमाण से सम्बन्ध के कर्ता की कल्पना कर लेंगे।

उत्तर—यह भी नहीं कह सकेंगे; क्योंकि अनादिकालीन वृद्धव्यवहार से सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है, अत: कोई अनुपपत्ति नहीं है। अत एव श्रीपार्थसारथिमिश्र ने उक्त विचार के निगमन का निर्देश 'तस्मात्' कहकर कर दिया है। अर्थात् सर्ग के आदिकाल में भी सम्बन्ध नही किया गया है। एवञ्च सृष्टि के आदिकाल में भी सम्बन्ध का निर्माण नहीं किया जा सकता; क्योंकि यदि प्रलय और पुन: सर्ग, प्रामाणिक होता, तो सृष्टि के आदि में परमेश्वर ने शब्द और अर्थ का सम्बन्ध किया भी होता, किन्तु ऐसा नहीं किया; क्योंकि सर्ग (सृष्टि) तथा प्रलय के होने में ही कोई प्रमाण नहीं है।

(शब्दार्थसम्बन्धस्य नित्यत्वसाधनम्)

अशक्यं च कर्तुं सर्वशब्दानां सम्बन्धकरणम्; यदा न कश्चिदपि शब्द: केनाऽप्यर्थेन सम्बद्ध आसीत्तदा कथं सम्बन्ध: क्रियेत? सम्बन्धं हि कुर्वताऽवश्यं केनचिद्वाक्येन स कर्तव्य:—गौ: सास्नादिमान् इत्यादिना। न चाऽप्रसिद्धमर्थप्रतिपादकत्वेन सास्नादि-शब्दमर्थप्रतिपादनाय शक्नोति कर्त्तोच्चारयितुम्, तथा हस्तसञ्ज्ञादयोऽपि प्रतिपादकत्वाऽसिद्धे:।

नन्वेवमप्रसिद्धसम्बन्धस्य कथनमप्यनुपपन्नम्—यद्यपि हि तदा वक्तु: प्रसिद्धसम्बन्धत्वात् सम्बन्धकथनाय वाक्योच्चारणं सम्भवति तथापि श्रोतारोऽप्रसिद्धसमस्तपदार्था बाला: कथं वाक्येन सम्बन्धं प्रतिपद्येरन्? तस्मात् करणवत् कथनमप्यनुपपन्नम्।

ग्रन्थकार सम्बन्धकरण की अशक्यता को बताते हैं—**अशक्यं चेति**। सम्बन्धकरण शब्द का अर्थ है–गोशब्देन सास्नादिमान् पदार्थो ज्ञातव्य: इति । अर्थात् गो शब्द से सास्नादिमान् (गलकम्बल-वाला) पदार्थ समझना चाहिये। उक्तकथन का अभिप्राय इतना ही है कि जैसे गो शब्द का गो– व्यक्ति के साथ सम्बन्ध नहीं है, उसी तरह सास्ना शब्द का भी गलकम्बल के साथ भी सम्बन्ध नहीं है। अत: किस वाक्य से सम्बन्धकरण किया

जायगा? तदर्थ अन्य शब्द और अन्य अर्थ के सम्बन्ध की अपेक्षा करने पर अनवस्था दोष ही उपस्थित होगा और किसी भी शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध कहने में तर्कसंगत कोई युक्ति अथवा प्रमाण नहीं है। अपने कथन को ही स्पष्ट (विशद्ध) कर रहे हैं—**यदा न कश्चिदपीति**। सिद्धान्ती का कहना है कि सभी शब्दों का सम्बन्ध करना भी शक्य नहीं है; क्योंकि जब कोई भी शब्द किसी भी अर्थ से सम्बद्ध नहीं था, तब सम्बन्ध कैसे किया जायगा? **सम्बन्धं हि कुर्वताऽवश्यमिति**। सम्बन्ध करने वाला व्यक्ति निश्चित ही किसी न किसी वाक्य से ही सम्बन्ध करेगा। जैसे गौ सास्नादिमती (गलकम्बलवाली) है। अथवा घट कम्बुग्रीवादिमान् है—इत्यादि अर्थप्रतिपादकत्वरूपेण अप्रसिद्ध सास्ना आदि शब्द को अथवा घट कम्बुग्रीवा वाला अर्थात् शंखाकार कण्ठ का तथा पृथूदर वाला है–इत्यादि अर्थप्रतिपादकत्वरूपेण अप्रसिद्ध सास्नादि शब्द का उच्चारण कोई भी नहीं करेगा; क्योंकि उसका अर्थप्रतिपादकत्व अभी किसी को ज्ञात नहीं है। अर्थात् सास्ना शब्द अगृहीतशक्तिक है। शक्तिग्रह का अभाव रहने से वाक्य के उच्चारण से सम्बन्धज्ञान नहीं हो पायेगा—यह कहना उचित ही है। इस पर यदि कोई कहे कि हस्तचेष्टा आदि से ही सम्बन्धकरण हो जायेगा अर्थात् मुख से शब्दोच्चारण करके और तद्बोध्य पदार्थ को करसंकेत के द्वारा प्रदर्शित करने पर उस पदार्थ के साथ उस शब्द का सम्बन्ध ज्ञात होना असम्भव नहीं है, अपितु सम्भव ही है। तथा हस्तादि संकेत से भी नहीं बता सकता। ऐसा होने पर भी जिस शब्द का उच्चारण करके मैं जिस पदार्थ को अपने हाथ से प्रदर्शित करुँ, उन दोनों का सम्बन्ध जानना होगा। एवञ्च उपदेश की अपेक्षा तो रहेगी ही, किन्तु इस उपदेश का उस समय होना सम्भव नहीं है; क्योंकि इस उपदेश घट का शब्दों का भी सम्बन्ध, गृहीत नही है। अतः कर संकेत (हस्त संज्ञा भी) आदि भी नहीं किया जा सकता।

शङ्का—सिद्धान्ती के मत में शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता रहने पर भी उसका कहना (बताना) तो आवश्यक ही है– गोशब्देन सास्नावान् पदार्थो बोद्धव्यः इति अर्थात् गोशब्द सुनने पर सास्नावान् (गलकम्बलवाला) पदार्थ जानना चाहिये—इस प्रकार वक्ता का कथन सम्भव रहने पर भी छोटा बालक उसे नहीं समझ पाता; क्योंकि उस छोटे बालक को किसी भी शब्द का शक्तिग्रह (शक्ति का ज्ञान) नहीं है और कथन भी अनुपपन्न (सुसंगत नहीं है।

(सम्बन्धाक्षेपपरिहारः)

नैष दोषः, कथयितुस्तावन्न कर्तुरिवाऽशक्तिः—उपायसम्भवात्, प्रतिपत्तारस्तूपायाऽभावान्न प्रतिपद्यन्त इति इष्टविरुद्धम्, दृयसान्ते हि अप्रसिद्धसमस्तशब्दार्था बाला वृद्धेभ्यः सम्बन्धम्प्रतिपद्यमानाः।

किञ्चाऽस्त्युपायो बालानाम्—नाऽवश्यं सम्बन्धकथनवाक्येनैव वृद्धेभ्यो

बालाः सम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते, किन्तु यदा वृद्धाः प्रसिद्धसम्बन्धाः स्व-कार्यार्थेन व्यवहरन्ति तदा तेषामुपश्रृण्वन्तो बालाः सम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते। यदा हि केनचित् गामानय इत्युक्तः कश्चित् सास्नादिमन्तमानयति, तदा समीपस्थोबालोऽवगच्छति यस्मादयमतद्वाक्यश्रवणानन्तरमस्मिन्नर्थे प्रवर्तते तस्मादस्माद् वाक्यादयमर्थः प्रत्योयितः, इत्येवं सम्मुग्धरूपेणाऽ-वगतं प्रत्यायकत्वं पश्चाद् बहुषु प्रयोगेष्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्य-भागानाम्पदानाम्पदभागानां च प्रकृतिप्रत्ययानां वाक्यार्थभागेषु पदार्थेषु विविच्यते, तस्मान्न पौरुषेयः सम्बन्ध इति, न तद्वशेन पुरुषाऽपेक्षाऽ-स्तीति सिद्धमनपेक्षं वेदानाम्प्रामाण्यम्।

सिद्धान्ती मीमांसक के द्वारा उसका परिहार किया जा रहा है—**कथयितुरिति**। करने वाले की अशक्ति के समान कहने वाले की अशक्ति नहीं है; क्योंकि उपाय-सम्भव है। अतः समझने वाले लोग कोई उपाय न होने के कारण नहीं समझ पा रहे हैं—यह कहना प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। **दृश्यन्ते हीति**। क्योंकि यह देखा जाता है कि जो बालकगण सब शब्दों को नहीं समझ पाते हैं, वे बालक वृद्ध लोगों से सम्बन्ध को समझते हुए दिखाई देते हैं। अप्रसिद्धसमस्तपदार्थो बालाः- अप्रसिद्धः अज्ञातः समस्तानां शब्दानामर्थो यैस्ते बालाः इति।

सम्बन्धकथन के अतिरिक्त शक्तिग्रहोपाय को भी बता रहे हैं—**किञ्च इति**। व्यवहार से भी शक्तिग्रह (शक्तिज्ञान) होता है, उस कारण बालकों को वाक्यान्तर (अन्तवाक्य) को जानने की अपेक्षा नहीं होती। क्योंकि वृद्धव्यवहार को देखकर ही बालक सम्बन्ध को स्वयं ही समझ लेते हैं। **यदा केनचिदति**। जब कोई व्यक्ति (मनुष्य) गाम् आनय कहता है, उसे सुनकर दूसरा व्यक्ति गलकम्बल = सास्नादिमति गाय को ले आता है। इस व्यवहार को देखने वाला समीपस्थित बालक यह समझ जाता है कि उक्त वाक्य अर्थात् गाम् आनय वाक्य को सुनकर ही दूसरा व्यक्ति गाय को लाने के लिये प्रवृत्त हुआ। जबकि यह व्यक्ति गामानय वाक्य को सुनकर गाय लोने के लिये प्रवृत्त हुआ, उससे यह स्पष्ट प्रतीति होती है कि लाने वाले को उक्त वाक्य के अर्थ का ज्ञान हो गया है। इस रीति से सम्मुग्धरूप से प्रत्यायकता (बोधकता), का बोध होता है। तदनन्तर अनेक व्यावहारिक प्रयोगों में अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा वाक्य के अंशभूत पद, पदों के अंशभूत, प्रकृति-प्रत्यय आदि का वाक्यार्थ के अंशभूत पदार्थों का विवेक कर लेता है। अर्थात् जिज्ञासु बालक अपने मन में निश्चय कर लेता है कि वाक्य के भाग (अंश) रूप पदों का पदार्थों में सम्बन्धरूप शक्ति ग्रह होता है। **तस्मान्न पौरुषेयः सम्बन्ध इति।** अतः सम्बन्ध (शब्दार्थसम्बन्ध) भी पौरुषेय (पुरुषकृत) नहीं है। एवञ्च शब्दार्थसम्बन्ध के माध्यम से भी किसी पुरुष की वेदरचयिता के रूप में कल्पना नहीं की जा सकती।

अतएव सिद्ध हो जाता है कि 'अनपेक्षं वेदानाम् प्रामाण्यम्' वेदों के प्रामाण्य में किसी की भी अपेक्षा नहीं है. इस कारण वेदों का स्वत: (स्वयंसिद्ध) प्रामाण्य ही सिद्ध होता है।

(अथ चित्राक्षेपपरिहार:)

यच्चाऽनन्तरफलाऽनुपलब्ध्या चित्रादीनां न पश्वादिफलत्वमिति; स्यादेवम्। यदि प्रत्यक्षादिपञ्चकमेव प्रमाणं स्यात्? तदा ह्यनन्तरफलोपलम्भादेव तत्साधनत्वं स्यात्, नाऽन्यथा। शब्दस्याऽपि तु प्रमितिजनकतया प्रत्यक्षादिवत् प्रमाणत्वात्, तेन च चित्रादीनां पशुसाधनत्वाऽवगमादसत्यप्यनन्तरोपलम्भे सिध्यति तत्साधनत्वम्।

यच्चाऽनन्तरफलानुपब्ध्येति। पूर्वपक्षी का जो कहना है कि कर्म का अनुष्ठान करने के पश्चात् तत्काल में ही उस कर्म से, फल की उपलब्धि का होना नहीं दिखाई देता, अत: चित्रायाग से पशुफल की उपलब्धि का होना कैसे कहा जा सकता है?

उस पर सिद्धान्ती उत्तर देता है—स्यादेवम्, यह तब हो सकता है, यदि प्रत्यक्षादिपञ्चकमेव प्रमाणं स्यात्। यदि प्रत्यादि पाँच ही प्रमाण होते। तदा हि अनन्तरफलोपलम्भादेव तत्साधनत्वं स्यात्, नाऽन्यथा। अर्थात् शब्द को छोड़कर प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि—ये पाँच ही प्रमाण होते, एवञ्च उक्त प्रत्यक्षादि पाँच ही प्रमाणों के होने पर कर्मानुष्ठान के तत्काल पश्चात् फलोपलब्धि के होने से ही चित्रासंज्ञक इष्टि, पशुफल की साधन हुई होती। अन्यथा नहीं अर्थात् कर्म के अनन्तर ही फलोपलब्धि न होने पर चित्रा इष्टि को पशुफलोपलब्धि का साधन नहीं कहा जा सकता था।

किञ्च—**शब्दस्यापि त्विति**। ऐसी बात नहीं है, शब्द को भी प्रत्यक्ष आदि के समान प्रमाण माना जाता है। **तेन च चित्रादीनां पशुसाधनत्वावगमादिति**। तेन = चित्रया पशुकामो यजेत—इस शब्द प्रमाण से चित्रासंज्ञक इष्टि में फलसाधनता को बोध होने पर अव्यवहित उत्तरकाल में फलोपलब्धि के न होने पर भी चित्रेष्टि में फलसाधनता बाधित नहीं होती है। पशुफलसाधनता चित्रेष्टि में ही रहती है।

ननु प्रमाणान्तर विरोधादप्रामाण्यमित्युक्तम्। न, तदभावात्। न हि शब्द: अनन्तरमेव चित्राफलसाधनम् इति ब्रूते, येन विरोध: स्यात्। साधनत्वमेव प्रतिपन्नं तन्मात्रवचनात्, तस्य चाऽपूर्वद्वारेण कालान्तरेऽपि तैलपानादिवत् फल-साधनत्वोपपत्ते:।

प्रश्न—प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ विरोध होने से शब्द को अप्रमाण कहा गया है।

उत्तर—न, तदभावादिति। नहीं, विषयभेद होने से प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ कोई विरोध नहीं है। इसी तथ्य को यह अग्रिम पंक्ति 'न हि शब्द: अनन्तरमेव चित्राफलसाधनम् इति ब्रूते' स्पष्ट कर रही है। शब्द: = चित्रया यजेत पशुकाम:– इस वाक्य ने कहाँ बताया

है कि चित्रेष्टि का अनुष्ठान करते ही तत्काल उससे पशुफल की प्राप्ति होगी? यदि ऐसा बताया होता तो विरोध प्रदर्शन करना उचित हो भी सकता था। चित्रया तृतीया विभक्ति का रूप है, तृतीया विभक्ति का प्रयोग कारण = साधन के अर्थ में किया जाता है हेतौ—(२।३।२३)। लोकव्यवहार में हेतु और कारण परस्पर पर्याय कहे जाते हैं। अत: हेतु = कारण के अर्थ में तृतीया विभक्ति का विधान किया गया है। इससे इतना ही ज्ञात होता है कि चित्रासंज्ञक याग पशुफल प्राप्ति का साधन = कारण मात्र है। अत: चित्रेष्टिजन्य अपूर्व के द्वारा कालान्तर में भी पशुफल प्राप्तिसाधनत्व उपपन्न हो सकता है। जैसे- तैलपान करने से शारीरिकपुष्टि, कालान्तर में ही होती है, तत्काल नहीं। उसी तरह चित्रादि इष्टियागों का भी फल यदि अव्यवहित उत्तर काल में नहीं मिलता है, तो कालान्तर में यागजन्य अपूर्व के द्वारा फल-प्राप्ति होना असम्भव नहीं है, अत: चित्रया यजेत पशुकाम आदि वेदवाक्यों को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता।

यत्तु प्रागनुष्ठानाच्छास्त्रार्थावधारणवेलायां नाऽपूर्वमन्तर्भावितमित्युक्तम्, यद्यप्येवम्, तथापि पश्चादेवमवगच्छति—साधनत्वमात्रेऽपि शब्देनोक्ते भ्रान्त्या मया साक्षात् साधनत्वमेव प्रतिपन्नम्, तच्चेदानीमन्यथा जातम्, अतो नूनमस्य केनाऽपि द्वारेण कालान्तरे फलमिति।

प्रश्न—यदि चित्रया यजेत इत्यादि वाक्यों में अपूर्वोत्पत्ति का आश्रय किया होता, तब तो वह कह भी सकते थे कि अपूर्वोत्पत्ति के द्वारा कालान्तर में फल की प्राप्ति होती है; किन्तु वैसी स्थिति है नहीं। तुमने तो चित्रया यजेत पशुकाम: इत्यादि विधिवाक्यरूप शास्त्रवाक्यों का अर्थनिश्चय करते समय अपूर्व-कल्पना करने में कोई कारण (हेतु) नहीं है—ऐसा कहा है।

उत्तर—यद्यप्येवमिति। यद्यपि चित्रया यजेत इस विधि वाक्यात्मक शास्त्र का अर्थ करते समय अपूर्व की कल्पना नहीं की है, तथापि पश्चात् अपूर्व को द्वार (माध्यम) के रूप में माना है। जिसे मैंने विना अपूर्व के ही साक्षात् साधन समझा है, वह मेरा केवल भ्रम ही है—ऐसा बाद में समझ पाया है; क्योंकि शब्द तो साधनमात्र को बता रहा है। मेरा भ्रम अब नष्ट हो गया है।

अतो नूनामस्य केनाऽपि द्वारेण कालान्तरे फलम्। इसलिये इसका कोई अन्य द्वार (अवान्तर व्यापार) अवश्य होना चाहिये। उसी से कालान्तर में फलप्राप्ति होती है। केनाऽपि द्वारेण = अपूर्वक्षणेन द्वारेणेत्यर्थ:। फलप्राप्ति के समय कारणभूत चित्रेष्टि के विद्यमान न रहने पर भी तज्जन्य अपूर्व लक्षण द्वार की कल्पना की गई है। अत: कालान्तर में फलप्राप्ति के होने में कोई बाधा नहीं है।

प्रागपि च शक्यमेवाऽपूर्वमवगन्तुम्—अनेकेषामङ्गप्रधानकर्मणां क्षणिकानामपूर्वमन्तरेण यौगपद्याऽसम्भवात्, पश्वादीनां च दृष्टकारणापेक्षत्वान्न

क्षणमात्रेणोत्पत्तिः सम्भवतीत्यवश्यंभाव्यपूर्वम्। न च पश्वाद्युत्पत्तिमात्रं फलम्, उपभोगस्य तु चिरकालत्वाद् यावदुपभोगमवस्थास्यमानेन केनचिद्भवितव्यम्। न च क्रियायास्तावत्कालमवस्थानं सम्भवतीत्यपूर्वमङ्गीकर्तव्यमिति तद्द्वारेण युक्तं कर्म, कालान्तरे फलदमिति नाऽनन्तराऽनुपलब्ध्या शास्त्रस्य बाधः।।

।। इति चित्राक्षेपपरिहारः।।

प्रागपीति। प्राक् = शास्त्रार्थाऽवधारण के समय अर्थात् विधिवाक्य के अर्थज्ञज्ञान के समय भी अपूर्व का आश्रय किया जा सकता है। अत: पूर्वपक्षी ने जो कहा है कि कर्मानुष्ठान के पूर्व शास्त्रार्थ का (विधिवाक्य का) निर्णय करते समय अपूर्व का विधिवाक्यार्थ में अपूर्व का अन्तर्भाव क्यों नहीं किया?

आपका प्रश्न तो उचित है, विधिवाक्यार्थबोध के समय में ही हेतु के रूप में अपूर्व की कल्पना होनी चाहिये थी तथापि क्षणिक स्थिति वाले अंग-प्रधान शब्दों से कहे जाने वाले कर्मों का अनुष्ठान यौगपद्येन होना सम्भव नहीं है अर्थात् सांग प्रधानकर्म का एक काल में अनुष्ठान करना असम्भव है। अत: कर्म के फलप्रदत्व होने का निश्चय करना असम्भव है; क्योंकि सांग कर्म (अंग संहित कर्म) ही फलप्रदायक होता है—ऐसा नियम है, अन्यथा नहीं। अंग और प्रधान कर्म का यौगपद्य होना अपूर्व के द्वारा ही सम्भव हो सकता है; इसलिये वाक्यार्थबोध के समय में भी अपूर्व के द्वारा चित्रादि कर्मों का फलप्रदत्व समझ में आता है और जहाँ-कहीं इष्टि–याग के अव्यवहित उत्तरकाल में ही फल की प्राप्ति होती हो, वहाँ पर भी अनेक अंगप्रधान कर्मों का फलोत्पत्त्यव्यवहित पूर्वक्षण में अथवा यागसमाप्ति के क्षण में यौगपद्य को अवश्य स्वीकार करना होगा, अन्यथा इष्टि का कारण ही नहीं कहा जा सकेगा और उन कर्मों के क्षणिक रहने से यौगपद्य भी नहीं हो सकेगा अत: वाक्यार्थबोध के समय में ही अपूर्व के द्वारा ही यौगपद्य का निश्चय करना उचित है, इसलिये पहिले भी अपूर्व के अन्तर्भाव का होना सम्भव है। **पश्वादीनां चेति।** पशु आदि फल की प्राप्ति यागसमाप्ति के तात्कालिक क्षण में ही होना सम्भव नहीं है, इसलिये यागजन्य अपूर्व का स्वीकार करना आवश्यक है। पशु आदि फल भी दृष्ट कारण की अपेक्षा रखते हैं। अर्थात् जब कोई आदमी पशु देगा, तभी पशु की प्राप्ति होगी; क्योंकि भूमि (जमीन) फोड़कर तो पशु प्रकट होगा नहीं। इसलिये किसी अन्य व्यक्ति से पशु की प्राप्ति होगी, किन्तु तबतक इष्टि का स्थिर रहना शक्य नहीं है। अत: फल निरूपित कारणता इष्टि में बताने के लिये मध्य में अपूर्व की कल्पना करना आवश्यक है। जिससे इष्टि और फल का कार्य-कारणभाव उपपन्न इष्टि यागजन्य अपूर्व को मानने में अन्य कारण (हेत्वन्तर) भी है। पशु आदि की केवल उत्पत्तिमात्र होना ही फल नहीं है, किन्तु उनका चिरस्थायी उपभोग प्राप्त करना फल है। जब तक वह उपभोग

विद्यमान रहता है, तब तक स्थिर रहने वाली कोई वस्तु अवश्य होनी चाहिये। **न च क्रियायास्तावत्कालमिति।**

प्रश्न—उतने काल तक क्रिया को ही स्थिर क्यों नहीं मान लेते?

उत्तर—कोई भी क्रिया उतने काल तक स्थिर नहीं रहती; क्योंकि वह (क्रिया) क्षणिक रहती है, अतः वह उतने काल तक स्थिर नहीं रह सकती। इसलिये अपूर्व की ही कल्पना करनी पड़ती है। एवञ्च अनुष्ठित कर्म अपूर्व के द्वारा ही कालान्तर में फलप्रद माना गया है। अतः अनुष्ठीयमान कर्म के समनन्तर ही फल की अनुपलब्धि होने मात्र से शास्त्र (विधिवाक्य) का बाध नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि शास्त्र (विधिवाक्य) तो कर्म का विधान सामान्यरूप से करता है और उससे फलप्राप्ति अनुष्ठीयमान कर्म के पश्चात् होती है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इष्टियाग के समनन्तर ही (अव्यवहितो-काल में ही) उससे फलोपलिब्ध हो। अतः शास्त्र (विधिवाक्य) और प्रत्यक्ष– दोनों का अपना-अपना विषय नितान्त भिन्न रहने से कोई विरोध नहीं है।

(आत्मवादारम्भः)

यत्तु प्रत्यक्षविरुद्धं वचनमुपन्यस्तम् 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति' इति; एतच्छब्देन प्रत्यक्षं शरीरं यज्ञाऽऽयुधसंयुक्त-मुपदिशतीति। तदभिधीयते— अर्थवादत्वादस्याऽन्यपरत्वान्न स्वार्थे प्रमाणान्तरविरोधो दोषः। न च विरोधोऽपि विद्यते। न ह्यनेन शरीरस्य स्वर्गगमनमुच्यते। किं तर्हि? आत्मनो यस्यैतच्छरीरम्, सोऽपि हि शरीरशरीरिणोरभेदोपचारेण शरीरस्थेन यज्ञायुधित्वेन प्रत्यक्षत्वेन च व्यपदिश्यते। आत्मनो वा स्वर्गगमनं शरीरे उपचर्यत इति नास्ति विरोधः।

यत्तु प्रत्यक्षविरुद्धमिति। चित्रादिवाक्यों का बाध भले ही न हो, तथापि स एष यज्ञायुधी—इस वाक्य से शरीर का स्वर्गगमन बताया जा रहा है, किन्तु उसका स्वर्ग में जाना किसी के द्वारा भी देखा नहीं गया है; क्योंकि मृत होने पर उसके शरीर को यहीं पर जला दिया जाता है। अतः इस प्रकार के वेदवाक्यों का मिथ्यात्व (बाध) स्पष्ट ही है। जबकि स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति— यह वाक्य एतत् शब्देन = स एष इत्यनेन अर्थात् स एष शब्द से प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले यज्ञायुध (यज्ञीयपात्र) संयुक्त हुए शरीर का स्वर्गगमन बता रहा है। इस यज्ञायुधीवाक्य में प्रतीय-मान दृष्ट विरोध को दूर करने के लिये ग्रन्थकार 'तदभिधीयते' से कह कर रहे हैं—इस पार्थिव शरीर का स्वर्ग में जाना प्रत्यक्षविरुद्ध है; क्योंकि उसे तो यहीं पर जला दिया जाता है। इस आशङ्का का समाधान यह है कि स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति—इस वाक्य का तात्पर्य शरीर के स्वर्गगमन में नहीं है। यह स एष यज्ञायुधी

वाक्य अर्थवादरूप है। सम्पूर्ण वेद पाँच भागों में (विधिभाग, अर्थवादभाग, मन्त्रभाग, नामधेयभाग, निषेधभाग—इन पाँच भागों में) विभक्त है। इसलिये स्वार्थ में (शक्य अर्थात् मुख्यार्थ में (शरीर के स्वर्गगमनरूप मुख्यार्थ में) प्रमाणान्तर के विरोध का भी दोष नहीं है; क्योंकि उसमें वाक्य का तात्पर्य ही नहीं है। स्तुति-निन्दापरक वाक्य को अर्थवाद कहते हैं। यज्ञायुध वाक्य को प्रशंसापरक समझना चहिये अर्थात् अर्थवादवाक्य के रूप में जानना चाहिये। न च विरोधोऽपि विद्यते— से प्रमाणान्तरविरोध के अभाव को बताया है; अर्थात् 'न हि अनेन शरीरस्य स्वर्गगमनमुच्यते' स एष यज्ञायुधी वाक्य से शरीर का स्वर्ग में जाना नहीं कहा गया है। किं तर्हि? यदि उक्त वाक्य से शरीर का स्वर्गगमन नहीं कहा गया है तो क्या कहा गया है?

उक्त प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—**आत्मन इति**। आत्मनो यस्यैतच्छारीरं, सोऽपि हि शरीर-शरीरि-णोरभेदोपचारेण शरीरस्थेन यज्ञायुधित्वेन प्रत्यक्षत्वेन च व्यपदिश्यते। आत्मनो वा स्वर्गगमनं शरीरे उपचर्यते इति नास्ति विरोधः। अर्थात् जिस आत्मा का यह शरीर है, उस आत्मा का स्वर्गगमन उक्त वाक्य से कहा गया है।

शङ्का—स एष यज्ञायुधी—इन शब्दों से प्रत्यक्ष दृश्यमान शरीर को उद्देश्य कर उसी के स्वर्गगमन को बताया जा रहा है, तब आत्मा के स्वर्गगमन में उसका तात्पर्य कैसे माना जायगा? तथा यज्ञायुधित्व भी शरीर से ही सम्बन्ध रखता है; आत्मा से नहीं।

समाधान—सोऽपीति। वह आत्मा भी शरीर और शरीरी अर्थात् शरीर और आत्मा दोनों के अभेदोपचार से ही शरीर के स्वर्गगमन को बताया गया है। अभिप्राय यह है कि यज्ञीय पात्रों को धारण करके आत्मा का स्वर्ग में जाना प्रत्यक्षतया तो असम्भव ही है, अतः शरीर का ही आत्मा में औपचारिक (उपचार से) अभेद मानकर शरीर का स्वर्गगमन कहा गया है अथवा आत्मा के स्वर्गगमन का शरीर में आरोप किया गया है। अतः विरोध नहीं है।

यजमानशब्दोऽपि तस्यैव यागस्वामित्वात् कर्तृत्वाच्च वाचकः। न च शक्यते तस्य कापिलवदकर्तृत्वम् वक्तुं श्रुतिविरोधात्, सर्वत्र हि कर्तृभोक्तृशब्दयोः सामानाधिकरण्यं दृश्यते। यथा अत्रैव—यजमानः स्वर्गं लोकं याति इति। तथा य एवं विद्वानग्निं चिनुते ऋध्नोत्येव, य एवं विद्वान् द्विरात्रेण यजते स्वर्गमेव लोकमेति तथोपनिष-त्स्वपि संकल्पादेवाऽस्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति इति कर्तृत्वाभिधायिन्या षष्ठ्या-ऽऽत्मनः संकल्पं प्रति कर्तृत्वमुक्तम्।

शङ्का—यजमान शब्द आत्मा का वाचक कैसे होगा? क्योंकि आत्मा तो अकर्ता (निष्क्रिय) है, कर्तृत्व तो शरीर में ही रहता है; क्योंकि करना-धरना आदि क्रिया करने वाला तो शरीर ही होता है। **यजमानशब्दोऽपीति**। यजमान शब्द भी याग का उसी का

प्रतिपादक है और वही कर्ता होने के कारण भी आत्मा का ही वाचक है।

शङ्का—सांख्यदर्शन ने आत्मा में कर्तृकत्व होने का निषेध किया है, सांख्य का सिद्धान्त है— प्रकृतिः कर्त्री, आत्मा तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः। न च शक्यते तस्य कापिलवदकर्तृकत्वं वक्तुं, श्रुतिविरोधात् सर्वत्र हि कर्तृभोक्तृशब्दयोः सामानाधिकरण्यं दृश्यते, यथाऽत्रैव—यजमानः स्वर्गं लोकं याति इति । अर्थात् सांख्यदर्शन के अनुसार आत्मा में कर्तृत्व का निषेध श्रुतिविरोध के कारण नहीं किया जा सकता; क्योंकि हम पुण्यभूमि आर्यावर्त के निवासी आर्य लोग वेदप्रामाण्यवादी हैं।

सांख्यवादियों के समान आत्मा को अकर्ता कहने वाले नहीं है। सर्वत्र हि कर्ता और भोक्ता के वाचक शब्दों का सामानाधिकरण्य रहता है। सांख्यदर्शनवादी तो कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टत्वमकर्तृभावश्च कहते हैं। सर्वत्र ही आत्मा का कर्तृत्व बताया गया है।

सांख्यवादियों ने भी पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च इत्यादि वाक्यों से आत्मा का भोक्तृत्व बताया है। जिस व्यक्ति में भोक्तृत्व रहता है, उसी में कर्तृत्व भी रहता है। अन्यथा कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष उपस्थित होगा। प्रस्तुत में भी कर्मकर्ता यजमान को ही स्वर्ग फल का भोक्ता बताया गया है। यजन और स्वर्ग लोकगमन का परस्पर अन्वय होने से कर्तृभोक्तृ शब्दों का सामानाधिकरण्य समझना चाहिये—य एव कर्ता स एव भोक्ता। अतः शरीर को कर्ता मानना और आत्मा को भोक्ता मानना उचित नहीं है। इसी तरह अन्यत्र भी सामानाधिकरण्य दिखाई देता है। जैसे यहीं पर (यजमान स्वर्गलोक में जाता है।) यजमान कर्ता तथा भोक्ता एक ही है। तथा य एवं विद्वानग्निं चिनुते ऋध्नोत्येव—जो ऐसा जानते हैं, वे अग्नि का चयन करते हैं, अर्थात् स्थण्डिल को (अग्नि के अधिकरणभूत स्थान को) बनाते हैं, वे समृद्धि प्राप्त करते हैं और ऐसा जानकर जो द्विरात्रसंज्ञक याग करता है, उसे स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार उपनिषदों मे भी कर्तृभोक्तृशब्दों का सामानाधिकरण्य दृष्टिगोचर होता है। जैसे– संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति (छान्दो. उपनिषद्)। अर्थात् इस पुरुष के संकल्प से ही उसके पितर उपस्थित होते हैं। इस वाक्य में कर्तृवाचक (कर्तरि) षष्ठी से बताया गया है कि संकल्प का कर्ता आत्मा है। अतः सर्वत्र व्यापक आत्मा का भी याग, ज्ञान, प्रयत्न, संकल्प आदि में साक्षात् कर्तृत्व माना जा सकता है। संकल्पादेव अस्य वाक्य में अस्य इस षष्ठी के द्वारा यदि मुक्त पुरुष में संकल्पकर्तृत्व न कहा जाय तो इस मुक्त पुरुष का संकल्प के साथ कौन सा सम्बन्ध होगा? जिससे संकल्प भोक्तृत्त्व इसमें घटित हो सकेगा? और कर्तृत्व रहने पर कर्तृत्व ही सम्बन्ध होगा।

सम्भवति च सर्वगतस्याऽप्यात्मनो यागज्ञानप्रयत्नसंकल्पादिषु साक्षादेव कर्तृत्वम्। न हि वयं स्पन्दमेव क्रियामुपगच्छामो वैशेषिकवत्, येनाऽऽत्मनः कर्तृत्वं न स्यात्, धात्वर्थमात्रस्य क्रियात्वात्। स्पन्देष्वपि प्रयोजकत्वेनाऽस्यैव कर्तृत्वं सम्भवति, प्रयत्नेन ह्यसौ शरीरं स्पन्दे प्रयोजयति।

साक्षात्तु न सम्भवति, सर्वगते स्पन्दस्याऽसम्भवात्—इत्यनेनाऽभिप्रायेण पुराणेषूपनिषत्सु चाऽकर्तृत्ववादाः।

सम्भवति चेति। स्पन्द को ही क्रिया मान लिया जाय तब शरीर के द्वारा तो आत्मा में कर्तृत्व की सम्भावना की जा सकती है। आत्मा में साक्षात् कर्तृत्व की सम्भावना कैसे की जा सकेगी? क्योंकि आत्मा व्यापक है, उस कारण व्यापक पदार्थों में स्पन्द का होना कभी सम्भव नहीं है। याग-ज्ञानादिकर्तृत्व के रूप में ही आत्मा को यागकर्ता मानना उचित ही है। अकेले एक शरीर से ही सम्पूर्ण याग का सम्पादन नहीं किया जा सकता। **न हि वयं स्पन्दमेवेति**। हम मीमांसक वैशेषिकों के समान स्पन्द को ही क्रिया के रुप में स्वीकार नहीं करते. जिससे आत्मा में कर्तृत्व उपपन्न न हो सके; क्योंकि धात्वर्थमात्र को क्रिया कहा जाता है। स्पन्द में भी प्रयोजकत्व रूप से आत्मा का कर्तृत्व होता है। यह आत्मा शरीर को स्पन्दात्मक व्यापार में प्रयत्नपूर्वक लगाता है, साक्षात् नहीं; क्योंकि व्यापक आत्मा का साक्षात् स्पन्द होना सम्भव नहीं है। अर्थात् सर्वगत (व्यापक) आत्मा में स्पन्द का होना सम्भव नहीं है। इसी अभिप्राय से उपनिषदों में तथा पुराणों में आत्मा के अकर्तृत्ववाद का सिद्धान्त किया गया है।

(शरीराऽतिरिक्तात्मसाधनम्)

किं पुनः शरीरव्यतिरिक्ताऽऽत्मसद्भावे प्रमाणम्? प्राणनादिलिङ्गं सुखादयश्च प्राणनादिशब्देन कोष्ठ्यस्य वायोरूर्ध्वाऽधोगमनवृत्तिविशेषस्य प्राणनादिशब्दवाच्यस्य हेतुभूतः प्रयत्न उच्यते। स च सुखादयश्च न शरीरधर्माः सम्भवन्ति, अयावच्छरीरभावित्वात्। ये हि कार्यद्रव्यवर्त्तिनो विशेषगुणा रूपादयस्ते विरोधिगुणान्तराद्वा द्रव्यविनाशाद् वा विनश्यन्ति, प्राणनादयस्तु तद्भावेऽपि नश्यन्ति मृतावस्थायामिति न शरीरगुणाः। तथा ज्ञानमप्ययावच्छरीरभावित्वादेव न शरीरधर्मः। तथा ये प्रत्यक्षविषयाः शरीरगुणास्ते स्वयमिव परैरपि प्रत्यक्षेण गृह्यन्ते। यथा रूपादयः, सुखादयस्तु प्रत्यक्षा अपि सन्तो न परप्रत्यक्षग्राह्याः। तस्मान्न शरीरगुणाः। तदिदमपि द्वयं सुखादीनां शरीरगुणत्वं निवारयदन्यगुणतां सूचयति। योऽसावन्यः, स आत्मा।

किं च सर्व एव विशेषगुणाः कारणेऽपि वर्तमाना एव कार्यद्रव्यगुणतां भजन्ते। न च शरीरकारणभूतेषु पार्थिवपरमाणुषु चैतन्यमस्तीति कथं शरीरगुणता चैतन्यस्य स्यात्? तस्मादन्यश्चेतनः।

शङ्का—पूर्वपक्षी के अनुसार आत्मा में कर्तृत्व की सम्भावना तभी कर सकते हैं, जब उसका (आत्मा का) अस्तित्व हो अर्थात् आत्मा के अस्त्विव में कोई प्रमाण उपलब्ध

हो। परन्तु वही तो (प्रमाण ही तो) उपलब्ध नहीं हो रहा है। इसी अभिप्राय से आत्मा के सद्भाव (अस्तित्व) पर आक्षेप किया गया है—**किं पुनः शरीरव्यतिरिक्तात्मसद्भावे प्रमाणम् इति**।

उक्त शङ्का का समाधान तार्किकों के मतानुसार दिया जा रहा है—**प्राणनादीति**। प्राणनादि व्यापार (प्राणनादिक्रिया) और सुख-दु:खादि का अनुभव होना ही प्रमाण है। अर्थात् प्राणनादि क्रिया और सुखादि अनुभव से ही शरीरातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। **प्राणनादिशब्देन कौष्ठ्यस्य वायोरिति**। यहाँ प्राणन शब्द का अर्थ है—उदर में स्थित वायु का ऊपर-नीचे आने-जाने का जो व्यापारविशेष है, वही प्राणनअपान आदि शब्द का वाच्य है, उसके हेतुभूत प्रयत्न को बताया गया है। उसी प्रकार सुखादि ये दोनों शरीर के धर्म नहीं है; क्योंकि ये यावच्छरीरभावी नहीं है अर्थात् जब तक शरीर रहता है, तबतक ये नहीं रहते। यावच्छरीरभावी उसे कहते हैं, जो स्वाश्रय का नाश होने से जिसका नाश होता है; किन्तु शरीर के रूपादि उपर्युक्त प्रयत्न सुख आदि उनसे भिन्न है। भाष्यकार ने स्वाश्रयनाशजन्यप्रतियोगित्वं यावद् द्रव्यभावित्वम्, तदभाव: अयावद् द्रव्यभावित्वम्—इसी को वैधर्म्य शब्द से कहा है। जो विशेष गुण-रूपादि कार्यद्रव्यों में रहते हैं; वे विरोधी दूसरे (अन्य) गुणों के तथा द्रव्य के विनाश से नष्ट हो जाते हैं। विरोधी गुणान्तर का उदाहरण—पाक से घट में रक्तरूप उत्पन्न होने पर घट का श्यामरूप नष्ट हो जाना है तथा द्रव्य के विनाश से रस आदि का नाश होना है; किन्तु प्रकृत में अर्थात् कार्यद्रव्य में रहने वाले विशेष गुण उक्त दोनों के विना नष्ट नहीं होते। प्राणनादि तो शरीर का विनाश न होने पर भी नष्ट हो जाते हैं, अत: वे शरीर के गुण नहीं हैं। जिसके ये गुण हैं, वही आत्मा है; किन्तु प्राणन आदि तो शरीर के रहने पर भी मृतावस्था में नष्ट हो जाते हैं, इसलिये उन्हें शरीर के गुणों के रूप में नही कहा जाता।

तथा ज्ञानमपीति। उसी प्रकार ज्ञान भी शरीर का धर्म नहीं है। यदि ज्ञान को शरीर का धर्म (शरीर धर्म) माना जाय तो मृत शरीर में भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिये, किन्तु उसकी उपलब्धि नहीं होती; क्योंकि शरीर का विनाश न होने पर भी ज्ञान का अभाव (विनाश) हो जाता है, इसलिये वह (ज्ञान) शरीर का गुण (धर्म) नहीं है। ज्ञान जिसका गुण (धर्म) है, वही आत्मा है। **तथा ये प्रत्यक्षविषया इति**। यदि सुखादि शरीर के धर्म होते, तो शरीर के धर्मभूत रूप आदि के समान अन्य लोगों के द्वारा भी उनका ग्रहण होता, किन्तु स्वप्रत्यक्ष होने वाले स्व-सुखादिकों का भी ज्ञान दूसरों को नहीं हो पाता; अत: मानना होगा कि सुखादि शारीरिक धर्म नहीं हैं। ये सुखादिधर्म आत्मा के ही हैं।

अब ग्रन्थकार श्री पार्थसारथिमिश्र, अपने अभिप्राय को बता रहे हैं—**तदिदमपीति**। एवञ्च अयावच्छरीरभावित्व तथा परप्रत्यक्ष से अग्राह्य रहना—ये दोनों सुख आदि में शरीरगुणत्व का निषेध करते हैं। अर्थात् सुख-दु:खादि धर्म शरीरातिरिक्त किसी अन्य के गुण (धर्म) हैं—यह सूचित किया गया है। 'सूचयति' शब्द से यह निर्दिष्ट किया गया

है कि आत्मा शरीर से भिन्न है। जो नास्तिक लोग शरीर को ही आत्मा मानते हैं, उनका कहना है कि चैतन्य शरीर का ही गुण है इस नास्तिक मत का खण्डन 'किञ्च सर्व एव' से किया जा रहा है। घट का जो रूप है; वह उसके अवयवभूत परमाणुओं में भी होता है, अत: कार्य में विद्यमान विशेषगुण की सत्ता कारण में नियत रहती है। यदि चैतन्य को शरीर का गुण (धर्म) माना जाय तो शरीर के कारणभूत, पार्थिव परमाणुओं में भी उस चैतन्य की उपलब्धि होनी चाहिये, किन्तु उसकी उपलब्धि नहीं होती, उस कारण चैतन्य को शरीर का गुण (धर्म) नहीं कह सकते। जिसमें चैतन्य गुण (धर्म) है, वहीं आत्मा है; वह शरीर से व्यतिरिक्त (पृथक् = भिन्न) ही है।

(प्राभाकरमतेन देहभिन्नात्मसाधनम्)

कश्चित् पुनराह—सर्वथा वित्तिषु तावद् वेत्ताऽवभासते, अन्यथा स्व-परवेद्ययोरनतिशयप्रसंगात्। न च शरीरस्य करचरणाद्यवयवसन्निवेशविशिष्टस्यास्ति तथाऽवभास:, अतोऽन्य: शरीरादात्मेति।

'कश्चित् पुनराह' कहकर प्रभाकर के शिष्य श्रीशालिकनाथमिश्र के मत का खण्डन करने के लिये ग्रन्थकार श्री पार्थसारथिमिश्र कर रहे हैं। यहाँ कश्चित् शब्द से श्रीशालिकनाथमिश्र का निर्देश किया गया है। **स्वर्थावित्तिषु इति**। श्रीशालिकनाथमिश्र का अपना मत है कि यच्च यावत् ज्ञान में, त्रिपुटी भासती है- (१) ज्ञाता, (२) ज्ञान, और (३) ज्ञेय। इस त्रिपुटी में ज्ञान स्वयंप्रकाश है और ज्ञाता अर्थात् आत्मा कर्ता (ज्ञान के आश्रय रूप में) के रूप में प्रतीत होता है। अन्यथा नहीं तो, स्वयं का तथा अन्य का (अपने-पराये का) भेद ही नहीं हो पायेगा, स्व-परवेद्ययोरनतिशयप्रसंगात्। ज्ञानों में वेत्ता (ज्ञाता) का अवभास न होने पर अहं जानामि—यह प्रतीति नहीं हो सकेगी, किन्तु जानाति—यही प्रतीति होगी। यह जानाति इत्याकारक प्रतीति परवेद्यविषयक भी होती है, तब स्वज्ञात और परज्ञात- घट में घटं जानाति- इत्याकारक एकरूपा प्रतीति होने लगेगी। तब स्व-परवेद्य में कोई भिन्नता ही नहीं रहेगी, किन्तु भेद तो हुआ करता है। परवेद्य में जानाति और स्ववेद्य में जानामि कहा जाता है। अत: जानामि और जानाति- इन द्विविध प्रतीतियों में आत्मावभास और आत्मानवभासकृत अर्थात् प्रतीतिकृत ही भेद प्रतीति होती है। दोनों में ज्ञानत्व समानरूप से है और जानामि प्रतीति स्पष्टतया आत्मा को बताती है। अत: सभी ज्ञानों में आत्मावभासता तो होता ही है। इसी तरह से ज्ञानमात्र में समझना चाहिये। तथा च वित्तियों में (ज्ञानों में) विषय और ज्ञान—इन दोनों से अतिरिक्त जो भासित होता है, वही आत्मा है—यह प्रभाकर मत है। इसी रीति से प्रत्येक ज्ञान में अव्यभिचरित अवभास शरीर का नहीं होता। इस कारण शरीर को आत्मा समझना उचित नहीं है, किन्तु शरीरातिरिक्त ही आत्मा है, यह सिद्ध होता है।

प्रश्न—शरीर में कर-चरण आदि अवयवों का समवेश रहने से ही कर-चरण अवयवविशिष्ट शरीर की आश्रय के रूप में प्रतीति हो पायेगी।

उत्तर—नहीं हो पायेगी। क्योंकि इस प्रकार इस प्रकार से शरीर की प्रतीति (भान) होने पर वही (शरीर ही) ज्ञाता कहलायेगा। तब तो अत्यन्त अनुचित ही होगा, अर्थात् जड और चेतन में कोई भेद ही नहीं रहेगा। इसलिये यही कहना होगा कि जड़ शरीर से पृथक् ही चेतन आत्मा है। सुख-दु:खादि से आत्मा का अस्तित्व नहीं जाना जाता; क्योंकि सुख-दु:खादि आत्मा के धर्म नहीं है। इस प्रकार प्रभाकरमत के अनुसार प्रभाकर के शिष्य शालिकनाथमिश्र ने पूर्वपक्ष का उत्थापन किया है। तथा च—ज्ञानभिन्नत्वे सति विषयभिन्नत्वे सति प्रतिज्ञानं भासमानत्वम् आत्मत्वम्—यह निष्कर्ष निकलता है। प्राभाकरों ने कहा भी है—

सर्वविज्ञानहेतूत्था मितौ मातरि च प्रमा ।
साक्षात् कर्तृत्वसामान्यात् प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ।।

ग्रहण स्मरणरूपा जो कोई भी स्ववेद्यविषया प्रतीति हो, उसमें आत्मा का भान साक्षात् होता है; क्योंकि आत्मा का अवभास न होने पर विषय भासित नहीं हुआ करते। प्रत्येक प्रतीति इस प्रकार से ४ही होती है—**अहं जानामि इति**। जानाति इत्याकारक कोई ज्ञान नही होता, अन्यथा स्व-पर के वेद्य में कोई अतिशय (भेद) ही नहीं होगा। अत: सभी ज्ञानहेतुओं से आत्मा में साक्षात्कारवती धी (ज्ञान) उत्पन्न होती है। तब तो सभी को प्रत्यक्ष ही कहना होगा? यह प्रत्यक्ष प्रमाता के अभिप्राय से हो तो वह इष्ट ही है। और प्रमेय के अभिप्राय से हो, तो वह उचित नहीं है; क्योंकि सर्वत्रैव प्रमेय का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) होने का नियम नहीं है। तथा 'घटमहमुपलभे' कहने पर घट का अनुभव करने वाला शरीरातिरिक्त कोई प्रतिभासित होता है; क्योंकि करचरणादि अनेकावयवयोगी शरीर का अवभास घटादि के अनुभव के समय नहीं होता; अत: अन्य: शरीरादात्मा इति।

तत्त्वयुक्तम्—सन्निवेशाऽप्रतिभासेऽपि शरीरप्रतिभाससम्भवात्। न हि सन्निवेश एव शरीरं; शरीरधर्मो हि सन्निवेशः, सम्भवति च धर्माऽप्रतिभासोऽपि धर्मिणः प्रतिभासः, अन्यथाऽऽत्मनोऽपि प्रतिभासो न स्यात्, तद्धर्माणां सर्वगतत्वादीनामर्थवित्तिष्वप्रतिभानात्। न चैकान्तिकमर्थवित्तिषु वेत्तुभानम्, अर्थ एव हि तदा भासते, न वेत्ता।

तत्त्वयुक्तम् इति से उपर्युक्त कथन का खण्डन कर रहे हैं। कर-चरणादि अवयव सन्निवेश विशिष्ट शरीरधर्म का प्रतिभास होना ज्ञानों में सम्भव नहीं है, तथापि धर्मीरूप शरीर का आश्रय के रूप में प्रतिभास होना तो सम्भव है ही। आत्मा में जो ज्ञानोत्पत्ति होती है, वह शरीरावच्छेदेनैव होती है, अत: अवच्छेदक का भी प्रतिभास होना सम्भव है। इस कारण ज्ञानों में भासमान शरीर का भी आत्मत्व होना असम्भव नहीं है, अर्थात् सम्भव है; क्योंकि न हि सन्निवेश एवं शरीरं; शरीरधर्मो हि सन्निवेश:, सम्भवति च धर्माऽप्रतिभासेऽपि धर्मिण: प्रतिभास: अन्यथा आत्मनोऽपि प्रतिभासो न स्यात्, तद्धर्माणां

सर्वगतत्वादीनामर्थवित्तिषु अप्रतिभानात्। न चैकान्तिकवित्तिषु वेत्तृभानम्, अर्थ एव हि तदा भासते, न वेत्ता।

श्रीशालिकनार्थमिश्र ने जो कहा कि आत्मा शरीर से पृथक् (अतिरिक्त) ही है—उस कथन का खण्डन तत्त्वयुक्तम् से कर रहे हैं अर्थात् श्री शालिकनाथ मिश्र का उक्त कथन उचित नहीं है। यदि सन्निवेश रूप शरीर धर्म का प्रतिभास होना सम्भव न होता तो शरीर प्रतिभास भी न हो पाता, तब सर्वगतत्वादि आत्मधर्मों का भी ज्ञानों में प्रतिभास न होता और आत्मा का प्रतिभास तो हो ही नहीं पाता। सभी अर्थ (विषय) ज्ञानों में वेत्ता (ज्ञाता) का भान (प्रतीति) तो अवश्य ही होता है—ऐसा कोई नियम नहीं है। उस समय तो अर्थ का ही भान होता है, वेत्ता–का भान नहीं होता।

न च स्व-परवेद्ययोरनतिशयः। नहि वेदित्तृभासनकृतोऽयमतिशयः, किन्तु कस्यचिदेव किञ्चिदाभासते नाऽन्यस्य इत्येतावानतिशयो नाऽन्यः। तस्मान्न ज्ञातृप्रतिभासेन शरीरविवेकसिद्धिः; किन्तु पूर्वोक्तादेव कारणात् ज्ञानसुखादीनां शरीरगुणत्वाऽसम्भवात्, ततोऽन्य एतेषामाऽऽश्रयः, स एवाऽऽत्मा।

प्रश्न—वेत्ता (ज्ञाता) का भान (प्रतीति) न मानने पर अपने-पराये (दूसरे) के ज्ञान में कोई विशेषता (अतिशयता) नहीं होगी।

उत्तर—विशेषता प्रतीत होगी। यह विशेषता अतिशयरूप है, वह वेत्ता (ज्ञाता) का प्रतीति (भान) होने से नहीं हुई है; क्योंकि किसी व्यक्ति को कोई वस्तु भासित होती है; किन्तु दूसरे को यह नहीं भासित होती। व्यवहार में भी देखा जाता है कि एक भाई को किसी वस्तु का ज्ञान हुआ; किन्तु दूसरे भाई को उस वस्तु का ज्ञान नहीं हुआ। यही विशेषता (अतिशय) है। इसके अतिरिक्त विशेषता (अतिशय) पदार्थ कोई नहीं है। अतः शरीर से अतिरिक्त आत्मा का विवेक ज्ञाता के भान से होता है– यह नहीं कहा जा सकता। एवञ्च अयावच्छरीरभावित्व तथा दूसरों के द्वारा सुख आदि की अग्राह्यता आदि कारणों से ही शरीर के गुणज्ञान, सुख आदि नहीं है। इसलिये ज्ञान सुख आदि का जो आश्रय है वही आत्मा है।

(अथ बौद्धमतेन विज्ञानमेव आत्मा)

सौगतास्त्वाहुः—सिद्धे ज्ञानसुखादीनां गुणत्वे गुणिकल्पना।
न तु तत्सिद्धमस्माकं तावन्मात्रोपपत्तितः ॥१९॥

न ह्याश्रयमन्तरेण ज्ञानमात्रमनुपपन्नम्, स्वतन्त्रमेव ज्ञानं किं नेष्यते? सुखादयोऽपि ज्ञानविषयाः स्वतन्त्रा एव, अन्यस्याऽऽश्रयस्याऽनुपलब्धेः। ज्ञानमेव च नीलमहं जानामीति ज्ञातृत्वेन विपर्यासितदर्शनैरध्यवसीयते, नान्यः प्रमाणाभावात्।

प्राभाकर पक्ष का निराकरण करके अब सौगतपक्ष के खण्डन का आरम्भ कर रहे हैं— **सौगतास्त्वाहुः इति**। सौगत = बौद्ध कह रहे हैं—**सिद्धे ज्ञानसुखादिनामिति**। यदि ज्ञान सुख आदि में गुणत्व होता तो तदाश्रयरूप गुणित्व के कारण आत्मा की कल्पना कर भी सकते थे, किन्तु ऐसी स्थिति है नहीं; क्योंकि ज्ञान-सुख आदि में गुणत्व का अभाव है। तदाश्रयभूत गुणी के विना भी तावन्मात्र अर्थात् स्वतन्त्रभूत ज्ञान आदि की उपपत्ति लग जाना सम्भव है अर्थात् असम्भव नहीं है। सिद्धे ज्ञान- सुखादिनाम् इस कारिका में तत् शब्द से गुणत्व समझना चाहिये। सौगत (बौद्ध) के मत में ज्ञान ही विविध आकार से भासित होता रहता है, इसलिये तदाश्रयत्वेन आत्मा की कल्पना नहीं की जाती। कहा भी है—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाऽद्वये ।।

सौगत (बौद्ध) अपना अभिप्राय प्रकट करते हुए आक्षेप करता है—**न हि आश्रय-मन्तरेणेति**। आत्मा के सम्बन्ध में बौद्ध का कहना है कि ज्ञान ही आत्मा है, उसका कोई आश्रय नहीं है; क्योंकि हम बौद्ध लोग ज्ञान को गुण नहीं मानते। **सिद्धे ज्ञानसुखादीना-मिति**। अर्थात् ज्ञान, सुख आदि में गुणत्व की सिद्धि होने पर वे गुण आश्रय के विना नहीं रह सकते, इसलिये गुणी की कल्पना करनी पड़ती है, किन्तु हमारे मत के अनुसार अर्थात् बौद्धमत में ऐसा नहीं माना जाता। हम बौद्ध लोग ज्ञान को गुण के रूप में नहीं स्वीकार करते। ज्ञान मात्र से ही यच्च यावत् समस्त व्यवहार उपपन्न होते हैं।

उक्त कारिका की व्याख्या ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र स्वयं करते हैं—आश्रय के बिना ज्ञानमात्र का होना अनुपपन्न नहीं है, अतः उसे (ज्ञान को) स्वतन्त्र ही क्यों न स्वीकार किया जाय? सुखादि भी जो ज्ञान के विषय हैं, उन्हें किसी अन्य का आश्रय उपलब्ध न रहने से ज्ञान के विषयभूत उन सुखादिकों को भी स्वतन्त्र ही माना जाता है। नीलमहं जानामि इत्याकारक ज्ञान को ही ज्ञाता के रूप में विपर्यासितदर्शनैः जनैः अध्यवसीयते = भ्रम् से भ्रान्त हुए (विकृत मस्तिष्क) लोग ही समझा करते हैं; किन्तु स्वस्थमस्तिष्क विद्वान् लोग प्रमाणोपलब्धि के न होने से वैसा नहीं समझते।

ननु ज्ञानस्य क्षणिकत्वात् कथं पूर्वेद्युरुपलब्धेः परेद्युः स्मरणम्, इच्छा, प्रत्यभिज्ञा च? न हि स्वयमनुपलब्धे तानि सम्भवन्ति—नहि देवदत्तेन उपलब्धेऽर्थे यज्ञदत्तस्य स्मरणादीनि सम्भवन्ति। सत्यम्; न सम्भवन्ति सन्तानभेदे, समानायान्तु सन्ततावेकेनोपलब्धेऽन्यस्य स्मरणाद्युपपन्नं, दृष्टत्वात्। न ह्युपलब्धुः स्मर्तुश्चैकत्वं क्वचिदपि दृष्टम्, एकस्य स्थास्नोः पुरुषस्य क्वचिदप्यनुपलब्धत्वात्। तस्माज्ज्ञानमेव ज्ञातृ, नान्यो ज्ञाताऽ-स्तीति।

ननु ज्ञानस्य क्षणिकत्वादिति। जिसने जिसे प्रथम जाना है, उसी को कालान्तर में ज्ञातविषयक स्मरण अथवा इच्छा अथवा प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) होती है—यह नियत है। अन्यथा देवदत्त के द्वारा ज्ञात पदार्थ का स्मरण यज्ञदत्त को भी होने लगेगा; किन्तु ऐसा होता नहीं।

शङ्का—ज्ञान क्षणिक है, अत: कल देखे हुए पदार्थ का दूसरे दिन स्मरण, इच्छा तथा प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) कैसे होगी? जिसने स्वयं जिस पदार्थ को देखा नहीं, उसे स्मरण, इच्छा, कैसे होगी? अभिप्राय यह है कि जिसने प्रथम जान लिया है, उसी को अन्य समय में (कालान्तर में) जाने हुए अर्थात् (पूर्वज्ञात) ज्ञातविषयक स्मरण अथवा इच्छा अथवा प्रत्यभिज्ञा हुआ करती है—यह नियम है, अन्यथा देवदत्त के द्वारा ज्ञात वस्तु का यज्ञदत्त को भी स्मरण होने लगेगा; किन्तु ऐसा होता नहीं; क्योंकि ज्ञान क्षणिक है, वह विषय को जानकर दूसरे क्षण में ही नष्ट हो जाता है। अत: उसे ज्ञानान्तर के द्वारा कैसे जाना जायगा?

समाधान—आप ठीक कह रहे हैं। ज्ञान सन्तान (ज्ञान प्रवाह) का भेद (भिन्नता) होने पर स्मरण, इच्छा, प्रयत्न, प्रत्याभिज्ञा नहीं हुआ करती। समान ज्ञान सन्तान (समान ज्ञान प्रवाह) में एक ज्ञान से उपलब्ध पदार्थ में दूसरे का स्मरण आदि का होना सम्भव है; क्योंकि उनका प्रत्यक्ष किया गया है। उपलब्धा और स्मर्ता की एकता कहीं देखी नहीं गई है। एक स्थायी (स्थास्नु) पुरुष को कहीं की इतनी उपलब्धि नहीं होती। इसलिये ज्ञान ही ज्ञाता है, दूसरा नहीं।

(उक्तमतस्य निरसनम्)

अत्रोच्यते— प्रत्यभिज्ञायते कर्ता यः पूर्वापरकालयोः ।
तस्य स्थास्नोः स्फुटो भेदो विज्ञानात् क्षणभङ्गुरात् ।।

विषयप्रत्यभिज्ञानानुपपत्तेर्ज्ञातुरेकत्वकल्पनायां स्यादप्येतदुत्तरम्—सन्तानैकत्वादेवोपपद्यते इति। यदा तु ज्ञातैवैकः पूर्वाऽपरकालयोः प्रत्यभिज्ञायते—योऽहं पूर्वमद्राक्षं स एवाऽहमनुपश्यामि इति, तदा प्रत्यभिज्ञयैव ज्ञातुरेकत्वावगमात्, विज्ञानस्य च क्षणिकत्वात् ततोऽन्यो ज्ञाता सिद्धो भवतीति।

अत्रोच्यते इति। पूर्वोक्त कथन का खण्डन कर रहे हैं। मूलोक्त कारिका (प्रत्यभिज्ञायते कर्ता) का अर्थ पूर्वापरकालयो: = पूर्वोत्तर काल (समय) में जो कर्ता, वही प्रत्यभिज्ञा का विषय रहता है, स्थास्नो: = उस स्थायी पुरुष का क्षणिक (क्षणभंगुर = क्षणविनाशी) विज्ञान से भेद: स्फुट: = भेद स्पष्ट है। यह कारिका का अर्थ है।

विषयप्रत्यभिज्ञानाऽनुपपत्तेरिति। अन्यथा विषय प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति से ज्ञाता की एकत्व कल्पना यदि होती, तब तो सन्तान = धारा के एक होने से आश्रय के न

रहने पर भी व्यवहार होता है– यह उत्तर दिया जा सकता है। **यदा तु ज्ञातैवैक इति**। निष्कर्ष यह है कि योऽहं पूर्वमद्राक्षं स एवाऽहं स्मरामि, स्पृशामि इत्यादि वाक्य से पूर्वापर कालवर्ती स्थिर रहने वाले दर्शन-स्मरण करने वाले एक ही कर्ता की प्रत्यभिज्ञा होती है, इस प्रत्यभिज्ञा को मिथ्या भी नहीं कह सकते; क्योंकि बाध न होने से तथा किसी दोष की उपलब्धि भी नहीं हो रही है, इसलिये उक्त प्रत्यभिज्ञा का कोई विषय स्वीकार करना ही होगा, वह स्थिर विषय अन्य कोई न होकर स्थिर आत्मा ही है। प्रत्यभिज्ञा का विषयभूत वह स्थिर आत्मा क्षणभङ्गुर ज्ञान से नितान्त पृथक् ही है; क्योंकि ज्ञान क्षणिक है और आत्मा स्थिर है।

संक्षेप में उक्त कथन को ही ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र विशद कर रहे हैं—**विषय-प्रत्यभिज्ञानानुपपत्तेरिति**। यदि स एवाऽयं घटः– इस विषय-प्रत्यभिज्ञा के उपपादनार्थ ज्ञाता को एक मानने की कल्पना की जाय, तो वह सन्तान अर्थात् धारावाहिकज्ञान से भी उपपन्न हो सकती है। इस प्रकार से तुम्हारे द्वारा दिया गया उत्तर उचित हो भी सकता था, परन्तु ज्ञाता की ही जो प्रत्यभिज्ञा है, वह सन्तानैकत्व से उपपन्न नहीं हो सकती; क्योंकि प्रत्यभिज्ञा के विषय में पूर्वापर काल का सम्बन्ध होना आवश्यक है और पूर्वपर कालसम्बन्ध स्थिर पदार्थ का ही हो सकता है। अतः तद्विषय प्रत्यभिज्ञा से ही ज्ञाता का एकत्व सिद्ध हो जाता है। ज्ञान के क्षणिकत्व के कारण उसमें प्रत्यभिज्ञाविषयत्व का होना, सम्भव नहीं है, जिससे ज्ञान में ही ज्ञातृत्व उपपन्न हो सके।

ततोऽन्यो ज्ञाता सिद्धो भवति—ततः = ज्ञानात् अन्यो ज्ञाता = आत्मा सिद्धो भवति, अर्थात् ज्ञान से ज्ञाता पृथक् ही है। विज्ञानस्य च क्षणिकत्वात् ततोऽन्यो ज्ञाता सिद्धो भवतीति—इस मूलस्थित पङ्क्ति की व्याख्या पूर्णरूप से हो चुकी।

किमहंप्रत्ययगोचरो ज्ञाता स्यात्? तथा सति शरीरमेव जानामि कृशोऽहं, स्थूलोऽहं गच्छाम्यहमिति कार्श्यादिबुद्धिसामानाधिकरण्यादहम्बुद्धेर्गोचरः, आत्मनश्च सर्वगतस्य कार्श्याद्यनुपपत्तेः।

यह जो कहा जाता है कि योऽहं पूर्वमद्राक्षं स एवाऽमनुपश्यामि, उस पर अद्वैती पूछा रहा है किं योऽहम्प्रत्ययगोचरः स एव ज्ञाता? अर्थात् जो अहम्प्रत्यय का विषय होता है, क्या उसी को ज्ञाता कहा जाता है? यदि अहम्प्रत्ययगोचर को ही ज्ञाता कहा जाता हो तो कृशोऽहम्—इस प्रतीति में अहं प्रत्ययगोचर शरीर ही है, अतः शरीर को ही ज्ञाता कहना होगा। तब अहं बुद्धि का विषय शरीर ही होगा; क्योंकि कार्श्यादिबुद्धि और अहं बुद्धि—दोनों के द्वारा शरीर को ही विषय किया जा रहा है। शरीरविषयक कार्श्यबुद्धि होने में कारण यह है कि आत्मा तो व्यापक है, अतः उसमें कार्श्य आदि का होना सम्भव नहीं है और शरीर में कार्श्यादि का प्रत्यक्ष होता है। उस कारण शरीर को ही अहंप्रत्यय का विषय मानना उचित प्रतीत होता है। अतः जो अहं प्रत्ययगोचर हो, वही ज्ञाता होता है—यह कहने पर शरीर को ही ज्ञाता कहना पड़ेगा, किन्तु यह

कहना उचित नहीं है, अन्यथा शरीरात्मवाद का प्रसंग प्राप्त होगा। इसलिये अहम्प्रत्यय का गोचर (विशेष) होने वाले को ज्ञाता कहना उचित नहीं है।

उच्यते—ज्ञातृविषयस्तावदहंप्रत्यय इत्यविवादम्। यो हि परामृशति स स्वात्मानम् अहम् इति परामृशति, परान् इदम् इति। तेन निस्संशयमस्य ज्ञातृगोचरत्वम् शरीरस्य च ज्ञातृत्वं निराकृतम्, अतोऽत्यन्तसंसृष्टयोरे-कत्वभ्रान्त्या सामानाधिकरण्यप्रतीतिरुष्णतोयप्रतीतिवद् भास्वराऽयः-पिण्डप्रतीतिवच्च।

उच्यते से उत्तर दे रहे हैं। अहम्। इत्याकारक जो प्रतीति होती है, वह ज्ञाता को अपना विषय बनाती है। इसमें किसी के भी भिन्न विचार नहीं हैं। जो अपना परामर्श करता है, वह स्वयं को अहम् से परामर्श करता है और अन्य (दूसरे) का इदम् से करता है। यह ज्ञान ज्ञाता को ही विषय बनाता है। शरीर के ज्ञातृत्व का (ज्ञाता होने का) निराकरण करता है।

शङ्का—अहं प्रत्यगोचरो ज्ञाता—इस वचन को इष्टापत्ति के रूप में स्वीकार किया जा रहा है; क्योंकि आत्मा को (अपने को) अहं शब्द से परामर्श किया जाता है, उस कारण अहम्प्रत्ययविषयत्व आत्मा में रहता है और आत्मा से (अपने से) भिन्न पदार्थ अहम्प्रत्यय का विषय न होकर वह इदम् प्रत्यय का विषय होता है। अपने उक्त अभिप्राय को स्पष्ट कर रहे हैं—तेन निस्संशयमस्य ज्ञातृगोचरत्वम्, शरीरस्य च ज्ञातृत्वं निराकृतम्, अत: अत्यन्तसंसृष्टयोरेकत्वभ्रान्त्या सामानाधिकरण्यप्रतीतिरुष्णतोयप्रतीतिवद् भास्वराय: पिण्डप्रतीतिवच्च। अर्थात् उक्त हेतु से अस्य = अहम्प्रतीति में ज्ञातृगोचरत्व अर्थात् ज्ञातृविषयकत्व सिद्ध हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उक्त कथन से शरीर की ज्ञातृता का निराकरण कर दिया गया। तथा ज्ञानमापे अयावच्छरीरभावित्वादेव न शरीरधर्म: अहम्प्रत्यविषयत्व शरीर का धर्म नहीं है।

प्रश्न—यदि शरीर में अहम्प्रत्ययविषयता ही नहीं है, तो कृशोऽहम्—यह प्रतीति कैसे हो सकेगी?

उत्तर—अहम्प्रत्यय के विषय को उद्देश्य करके कृशत्व का विधान किया जाता है। जिस शरीर में कृशत्व की सम्भावना हो रही है, वह अहम्प्रत्यय का विषयक नहीं है। और तुम्हारे मत के अनुसार जो आत्मा अहंप्रत्यय का विषय है, उसमें कृशत्व का होना सम्भव नहीं है; क्योंकि कृशत्वप्रत्यय और अहम्प्रत्यय—दोनों के विषय ही भिन्न-भिन्न हैं, तथापि दोनों के सामानाधिकरण्य की जो प्रतीति होती है, वह केवल भ्रम ही है। जैसे जलं दहति, अयो दहति इस कथन में न जल में दाहकत्व है और न लोहे (अयस्) में दाहकत्व धर्म है, तथापि अग्नि के सम्बन्ध से वैसी प्रतीति होती है, उसी तरह शरीर और आत्मा दोनों की अत्यधिक संसृष्टता रहने से एकत्व का भ्रम होता है। उस भ्रम के

कारण शरीर में अहम्प्रत्यय होता है और आत्मा में कृशता का ज्ञान होता है।

प्रश्न—शरीर और आत्मा की अभिन्नता (अभेद = एकता) ही क्यों नहीं मान लेते? अथवा शरीर और आत्मा दोनों में जो एकत्वज्ञान हो रहा है, वह केवल भ्रम ही है, उसे सिद्ध करने के लिये भेदसाधकव्यवहार को प्रदर्शित कर रहे हैं—

(शरीरात्मनोर्भेदोपपादनम्)

तथा व्यतिरेकबुद्धिरपि दृश्यते 'ममेदं शरीरं कृशम्' इति षष्ठ्याऽस्मदर्थस्य शरीर-व्यतिरेकात्, शरीरस्य च परविषयेदङ्कारास्पदत्वात्, ततोऽस्माद् विवेकावभासात् पूर्वोक्तन्यायेन च शरीस्याऽज्ञातृत्वात्, अभेदावगमस्य च संसर्गदोषवशेन भ्रान्त्याऽप्युपपत्तेः, पूर्वाऽभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धेन च विना जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्त्यनुपपत्तेः। जातिस्मराश्च केचित-द्यत्वेऽपि देहान्तररहोवृत्तं वृत्तान्तं सम्बोधयन्त उपलभ्यन्त इत्युपलब्धि-सिद्ध शरीरात्मनोर्भेदः।

तथेति। मूल ग्रन्थ में प्रयुक्त व्यतिरेक बुद्धि शब्द का अर्थ है—भेदबुद्धि। षष्ठ्या = मम इति षष्ठ्या। अस्मदर्थस्य = आत्मनः। **तथा व्यतिरेकबुद्धिरपीति**। इसीतरह भेदज्ञान का भी अनुभव होता है। ममेदं शरीरं कृशम् = यह मेरा शरीर है, इस वाक्य में निर्दिष्ट षष्ठी विभक्ति के द्वारा शरीर से अस्मदर्थ की भिन्नता स्पष्ट हो रही है। अतएव शरीर से भिन्न जो विषय है, उसका इदम् शब्द से निर्देश किया जाता है। इस विवेक ज्ञान से और पूर्वोक्त न्याय से सिद्ध होता है कि शरीर में ज्ञातृत्व नहीं है, अर्थात् शरीर को ज्ञाता भी (ज्ञातृत्व) नहीं कह सकते तथा ज्ञान भी यावच्छरीरभावी न होने से उसे शरीर का धर्म भी नहीं कह सकते। इस कारण शरीर में अहम्प्रत्यय की विषयता नहीं है।

यदि शरीर और आत्मा का अभेद हो तो मम शरीरम् = मेरा शरीर—ऐसी प्रतीति नहीं हो सकेगी, किन्तु अहं शरीरम्—यह प्रतीति होगी। एवञ्च मम शरीरम् मेरा शरीर यह जो प्रतीति होती है, वह यथार्थ ही है; क्योंकि उस प्रतीति का बाध नहीं होता, अतः शरीर और आत्मा—ये दोनों वस्तुतः भिन्न-भिन्न (पृथक्-पृथक्) हैं।

शरीर से आत्मा के भिन्न होने का कारण बताकर आत्मा से शरीर के भिन्न रहने का कारण ग्रन्थकार बता रहे हैं—**शरीरस्य च परविषयेदङ्कारास्पदत्वात् इति**। अर्थात् मम इदं शरीरम् इस कथन में शरीर को इदम् शब्द से बताया जाता है। ग्रन्थकार के द्वारा (मूल ग्रन्थ में) प्रयुक्त परविषय का अर्थ है—आत्माभिन्नविषयक जो इदङ्कार तदास्पद-त्वात् अर्थात् तद्विषयत्वात्। मम शरीरम्- यहाँ षष्ठा विभक्ति से अस्मदर्थ का शरीर से भेद स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। इस कारण शरीर से परविषय = अन्य विषय इदङ्कारास्पद है। इस विवेकज्ञान से तथा पूर्वोक्त न्याय से शरीर को ज्ञाता नहीं कह सकते, तथापि अभेद ज्ञान जो हो रहा है, वह (शरीर और आत्मा के) संसर्ग दोष के कारण हो रहा

है, अत: उसे (अभेद ज्ञान को) भ्रम ही समझना चाहिये। एवञ्च शरीराद्भिन्न एव आत्मा इत्यर्थ:। तथा बालक को किसी वस्तु के लाभ होने पर हर्ष होता है और सर्प आदि घातक पदार्थ के दर्शन से भय उत्पन्न होता है तथा माता-पिता के मरने पर शोक होता है; किन्तु उस जन्म में बालक को यह पूर्वानुभव (वस्तु की उपलब्धि होने से उपकारित्व का अनुभव) कभी नहीं हुआ है, जिससे उस वस्तु के उपलब्ध होने से हर्ष हो और न ही सर्प की अनिष्टकारिता का कभी अनुभव हुआ है, जिससे उसे भय हो सके और न ही मातृमरण से किसी हानि का अनुभव हुआ है, जिससे उसे शोक हुआ हो। अत: मानना होगा कि पूर्व जन्म में अनुभव किये हुए उपकारित्व आदि का ही इस वर्तमान जन्म में स्मरण हो जाना कहना होगा; क्योंकि उसके अतिरिक्त और कोई गति नहीं है।

यदि यह कहें कि शरीर का अनेक जन्मों के साथ सम्बन्ध है, तो यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि नूतन शरीर के साथ सम्बन्ध होना ही जन्म पदार्थ है। इस कारण शरीर से अतिरिक्त किसी स्थायी वस्तु को ही आत्मा कहना होगा। **पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धेन च विनेति**। पूर्वजन्म में अभ्यस्त विषय की स्मृतिरूप कारण के विना नवजात शिशु (बालक) को हर्ष, शोक, भय आदि का निश्चयात्मक ज्ञान शरीर को आत्मा मानने पर नहीं हो सकेगा। एवञ्च आत्मा को शरीर से अतिरिक्त (भिन्न = पृथक्) मानने पर ही उसमें (आत्मा में) स्मृति, हर्ष, शोक, भय आदि का होना सम्भव होता है। इसलिये शरीर से अतिरिक्त = भिन्न आत्मा को अवश्य स्वीकार करना होगा।

शरीर और आत्मा—ये दोनों नितान्त पृथक्-पृथक् हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न हैं—यह बताने के लिये एक अन्य उदाहरण दे रहे हैं—**जातिस्मराश्चेति**। आजकल भी कहीं-कहीं कतिपय लोग जिन्हें अपने पूर्वजन्म का स्मरण अच्छी तरह यथास्थित हुआ करता है। पूर्वजन्म के शरीर के द्वारा एकान्त में घटित हुईं बातों को भी कहते हुए उपलब्ध होते हैं। इन घटनाओं से भी शरीर और आत्मा की भिन्नता निश्चित होती है।

एवञ्च शरीरान्तर वृत्तान्त के बोधन से जाना जाता है कि शरीर से व्यतिरिक्त ही कोई आत्मा है। अन्यथा इस वर्तमान जन्म के शरीर का पूर्वजन्म में अभाव रहने से किस विषय का वृत्तान्त बताया जा सकेगा? अत: शरीर और आत्मा की भिन्नता उपलब्धिसिद्ध है अर्थात् प्रत्यक्षसिद्ध है।

यद्यपि चानेन प्रकारेण शरीरात्मनोर्विस्पष्टो भेदो न सिध्येत्, तथापि तावदभेदोऽपि न विस्पष्टः, मम शरीरमितिविवेक स्याऽपि प्रतिभासात्। तत्र संमुग्धे तत्त्वे श्रुतार्थापत्त्या साक्षात् श्रुत्या वा निर्णयः। स्वर्ग-कामादिश्रुतयो हि शरीरातिरिक्तं परलोकफलोपभोग्यं कर्तारमन्त-रेणाऽनुपपद्यमानास्तमाक्षिपन्ति, ताभिश्चाऽऽक्षिप्तं साक्षादेवोपनिषदः समर्थयन्ति 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा' इत्येवमादयः, इति सिद्धः शरीरातिरिक्तो मानसप्रत्यक्षरूपाहम्प्रत्ययगम्यो ज्ञाता।

प्रश्न—कृशोऽहम् इत्यादि व्यवहार होते ही रहते हैं, किन्तु शरीर और आत्मा—ये दोनों परस्पर एक-दूसरे से पृथक् रहने से कृशोऽहम् आदि व्यवहार अनुपपन्न प्रतीत होते है, तब शरीर और आत्मा ये परस्पर भिन्न हैं—यह कैसे माना जा सकता है? क्योंकि शरीर और आत्मा के भेद की प्रतीति स्पष्टतया नहीं होती है। अत: शरीर और आत्मा दोनों भिन्न ही है, यह कैसे कह सकते हैं?

उत्तर—तथापीति। तथापि तावद भेदोऽपि न विस्पष्ट: मम शरीरम् इति विवेकस्याऽपि प्रतिभासात्। एवञ्च भेद एवं अभेद—दोनों ही स्पष्ट नहीं प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति में न भेद की सम्भावना तथा न अभेद की ही सम्भावना की जा सकती है। तब उभय (भेदाऽभेद) हानि ही मानी जायगी अथवा संशय ही स्थिर रहेगा। तब सम्मुग्ध (सन्दिग्ध) का विषय का निर्णय श्रुति से अथवा श्रुतार्थापत्ति से ही किया जाता है। तथापि जो वेद एवं शास्त्रों पर श्रद्धा-भक्ति-विश्वास रखते हैं, उन्हें समझाना तो ठीक है, वे समझ भी सकते हैं; किन्तु जो कुतर्क से भ्रान्तमस्तिष्क होने के कारण विचार शक्ति से रहित (शून्य) हैं, अत एव वेद की निन्दा करने में ही जो तत्पर रहने वाले नास्तिक हैं, उनके प्रति श्रुति अर्थात् वेद के वचनों का उपन्यास करना वैसा ही होगा, जैसे भैंस के सामने बीन बजाना होता है। वे नास्तिक वेद के वाक्यों से समझ नहीं सकते।

उनको युक्ति, तर्क आदि से ही समझाना होगा; किन्तु जो वेद का अनुसरण करने वाले हैं, वेदों में आस्था, श्रद्धा रखने वाले वैदिक धर्मी कहने-कहलाने में अपना गौरव समझते हैं, उनके प्रति तो श्रुति = वेद के वचनों को उपन्यास करना ही समुचित होता है। उसी तरह जो स्थूल अर्थात् मोटी बुद्धिवाले लोग भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति और विनाश को सुनकर भ्रान्त हो गये हैं, उन्हें समझाने के लिये श्रुति = वेद के वचनों का उपन्यास किया जाता है। वार्तिककार भट्टपाद कुमारिल ने स्पष्ट कहा है—

वेदादेवात्मनास्तित्वं यो नाम प्रतिपद्यते ।
विरोधं वाऽऽत्मना ब्रूयात् तम्प्रति ब्राह्मणाभिधा ।।
अन्यथाऽनुपपत्तेश्च विधिनात्मन्यपेक्षिते ।
अस्तित्वद्योतनादेतैरर्थाक्षिप्तसमर्थनम् ।।

(श्लो. वा.– आत्मवाद, कारि.–१४०-१४२)

पूर्व कथन के अनुसार सन्दिग्ध वस्तु का निर्णय श्रुतार्थापत्ति से अथवा साक्षात् श्रुतिवाक्य से ही किया जाता है। यदि शरीरातिरिक्त स्वर्गभोक्ता कोई आत्मासंज्ञक वस्तु न हो तो यागादिविधायक श्रुतिवाक्यों को व्यर्थ ही मानना होगा। स्वर्गादिभोक्ता के विना स्वर्गाभोगों की उपपत्ति नही हो सकेगी, तब वेदविहित यागादिकों को भी अनुपन्न कहना होगा। अत: श्रुतार्थापत्ति प्रमाण से आत्मतत्त्व की सिद्धि का होना स्पष्ट हो जाता है। आत्मतत्त्व की सिद्धि में साक्षात् श्रुति कहती है—अविनाशी वा अरेऽयमात्मा आदि।

ऐसी अनेक श्रुतियाँ उपलब्ध होती है। एवञ्च शरीरातिरिक्त मानसप्रत्यक्ष अहम्प्रत्यय गम्य जो ज्ञाता है। वही आत्मा है।

शङ्का—मानसप्रत्यक्ष रूप अहम्प्रत्ययगम्य जो कहा, उस पर प्राभाकरों की ओर से शङ्का की जा रही है—

(आत्मनो मानसाऽहम्प्रत्ययगम्यत्वम्)

कथं पुनर्ज्ञातुर्ज्ञेयत्वम्? न ह्येकस्य कर्तृत्वं कर्मत्वं च स्वात्मनि क्रियाविरोधात् सम्भवति। तस्मान्नाहंवित्तिर्नाम घटादिवित्तिव्यतिरेकेण-काचिदस्ति, घटावित्तावेव तु विषयवदात्मा भासत इत्युक्तम्।

पहिले बता चुके हैं कि जो आत्मा है, वह शरीर से भिन्न है। वह मानस प्रत्ययक्षरूप अहम् प्रतीति का विषय होता है, किन्तु प्राभाकर मीमांसक ऐसा नहीं मानते। इसलिये वे (प्राभाकर) शङ्का कर रहे हैं—**कथं पुनर्ज्ञातुर्ज्ञेयत्वमिति**। जो ज्ञाता हो, वही ज्ञेय कैसे हो सकता है? अपने स्व-विरचित प्रकरणपञ्चिका नामक ग्रन्थ में वे कह रहे हैं—

बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो भिन्न आत्मा विभुर्ध्रुवः ।
नानाभूतः प्रतिक्षेत्रमर्थवित्तिषु भासते ॥

तथा—न ह्येकस्य कर्तृत्वं कर्मत्वं च स्वापेक्षमुपपद्यते, स्वात्मनि क्रियावृत्तिविरोधात्। न चाहं संविद्वशेनाऽविरोधः स्वयंप्रकाशत्वेन विषयप्रतीतिगोचरत्वेनाऽपि तदुपपत्तेः विषयैः सहोपलम्भनियमश्चैवं सत्युपपन्नः इति।

कः पुनरयं स्वात्मनि क्रियाविरोधो नाम? यस्यां क्रियायां यः कर्ता न सा तस्मिन्नेव स्वफलं जनयतीत्यर्थः। किं पुनः संवित्तिक्रियायाः फलम्? भासनम्। किमिदं कर्तरि न भवति? ओमिति चेत्? कथं तर्ह्यसौ भासते? न ह्यसति भासने इति भासत इति शक्यते वक्तुम्। तस्मादर्थ-वित्तिष्वप्यात्मनो भासनाऽभ्युपगमेऽपि स्वात्मनि क्रियाविरोधस्तुल्य एव। व्यवहारयोग्यतामात्रं संवित्तेः फलम्, नान्यदिति चेत्? भवत्वेवम्, अस्ति तावत् फलम्, तच्च विषयेष्विवात्मनि संवित्तितो जायत इत्यङ्गीकृतं भवद्भिः, अतस्तुल्यो विरोधः।

मीमांसक शङ्का कर रहा है—**कः पुनरयमिति**। आत्मा में क्रियाविरोध नाम का कौन सा पदार्थ है? यह प्रश्न करने पर क्रियाविरोध के स्वरूप को बता रहे हैं—**यस्यां क्रियायामिति**। जिस छेदनक्रिया में जो कर्ता है, उस कर्ता में ही वह छेदनक्रिया अपना द्वैधीभावरूप फल उत्पन्न नहीं करती, किन्तु उस फल (द्वैधीभाव) को वृक्षादि में वह पैदा (उत्पन्न) करती है। इसी प्रकार अहम् इत्याकारक ज्ञान क्रिया में कर्ता आत्मा ही है। तब वह उस कर्ता में ही भासन रूप फल को कैसे उत्पन्न करेगी? उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि ज्ञानरूप क्रिया का फल प्रकाश करना है। उसी को भासन कहते हैं। यह

भासनरूप फल किमिदं कर्तरि न भवति? क्या कर्तृविषयक नहीं है? (कर्तरि यह विषय सप्तमी है) अर्थात् क्या यह फल कर्ता में नहीं हो सकता? ओम् इति चेत्- हाँ, हो सकता है, तो कैसे भासित होता है? नहि असति भासने, भासते इति शक्यते वक्तुम्। भान न होने पर भी भासति = होता है— यह नहीं कह सकते। एवञ्च सभी अर्थज्ञानों में आत्मा का भान (प्रतीति) होता है, यह स्वीकार करने पर भी स्वात्मनि = स्वरूप (अपने) में क्रियाविरोध तुल्य (समान) ही है। अर्थात् स्वपक्ष में प्राप्त जो आत्मनि क्रियाविरोध है, वह प्रभाकर के पक्ष में भी है। इसी अभिप्राय को प्रकाशित करने के लिये कहा गया है—तस्मात् अर्थवित्तिषु अपि आत्मनो भासनाभ्युपगमे स्वात्मनि क्रिया-विरोधस्तुल्य एव। क्योंकि अयं घट: इत्यादि ज्ञानों में भी यदि आत्मा का भान होता है, तब उसमें भी आत्मा ज्ञेय है ही और घटादि ज्ञानों में भी यदि आत्मा का भास होता है तब भी उसमें ज्ञेयत्व प्राप्त ही है। वही (आत्मा) ज्ञाता भी है, इस कारण तुम्हारे पक्ष में भी कर्म-कर्तृविरोध तुल्य ही है। ज्ञान का फल व्यवहारयोग्यता प्राप्त होना ही है। यह फल जैसे विषय = पदार्थ में है, वैसे ही आत्मा में भी होता है। इस तथ्य को आपने भी स्वीकार किया है। इसका कारण विरोध तो समान ही है। निष्कर्ष यह है कि घटादि ज्ञानों में यद्यपि ज्ञाता (जानने वाला) आत्मा भासमान हो रहा है तथापि उसे (आत्मा को) ज्ञेय नहीं कहा जाता, ज्ञेयत्व तो केवल घट आदि पदार्थों में ही रहता है और आत्मा में तो स्फुरणमात्र फल होता है। अर्थात् घटादि का ज्ञान होने पर व्यवहारयोग्यता मात्र फल के रूप में प्रतीत होती है। इसलिये हमारे पक्ष में स्वात्मनि क्रिया विरोध नहीं है।

उक्त शङ्का का समाधान 'भवत्वेवम्' से कर रहे हैं। ज्ञाता में ज्ञान का फल व्यवहार-योग्यतामात्र ही है। इसपर उत्तर रहे रहे हैं—'भवतु एवम्' जो आपने कहा, वैसा हो सकता है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि फल होता है और वह (फल) जैसे विषयों में होता है, वैसे ही आत्मा में भी (संवित्ति) ज्ञान के द्वारा होता है। यह आपने स्वीकार किया है। अत: विरोध समान ही है; क्योंकि व्यवहारयोग्यतामात्र ज्ञानफल को भी ज्ञाता में आपने माना है। अत: विरोधतुल्य ही अर्थात् तदवस्थ ही है।

यदि परमार्थविरोधमुद्भाव्य सत्यप्यात्मन: क्रियाजन्यफलभागित्वे कर्म-संज्ञा कर्मविभक्तिश्च न भवतीत्युच्यते। परसमवायिक्रियाफलभागित्वं कर्मत्वम् इत्यभिधानात्।

शङ्का—अन्य एव तद्विदितादथोऽविदितादधि- इत्यादि श्रुतियों से विदिक्रिया-कर्मत्व का निषेध करने पर भी कर्मत्व का स्वीकार किया जाता है, तो परमार्थविरोध होगा, उस कारण ज्ञानक्रियाजन्य स्फुरणाख्य फलभागिता के रहने पर भी आत्मा की कर्मसंज्ञा नहीं होती, कर्मसंज्ञा न होने से आत्मबोधक शब्दों से कर्मविभक्ति भी नहीं होती, कर्मत्व रहने पर ही कर्मसंज्ञा होती है। आत्मा में कर्मत्व का होना सम्भव ही नहीं है; क्योंकि जिसमें परसमवेतक्रियाजन्य फलभागित्व रहता हो, उसी में कर्मत्व रहता है।

प्रस्तुत में क्रियाजन्यफल भागी कर्म तथा कर्ता—दोनों होते हैं। अतः कर्ता का निवारण करने के लिये परसमवेत यह विशेषण दिया गया है। पर शब्द में कर्मकारक से पर = भिन्न कर्ता विवक्षित है। उक्त लक्षण के अनुसार आत्मा की कर्मसंज्ञा और द्वितीय विभक्ति नहीं की गई है। आत्मा में परसमवेतज्ञान क्रियाजन्य फलभगित्व रहना सम्भव ही नहीं है; क्योंकि आत्मा तो स्वयंप्रकाश है। उसकी स्वयम्प्रकाशता के प्रतिपादक अनेक श्रुतिवाक्य हैं—येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्, यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते, न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः, इत्यादि श्रुतिवाक्यों के साथ विरोध होने से यह आशङ्का होती है।

तच्चाऽयुक्तम्; शब्दसाधुत्वं हि प्रयोगतोऽवगन्तव्यम्। अस्ति चाऽऽत्मनः स्वकर्तृकायामेव क्रियायां कर्मव्यवहारो लोके वेदे च—यथा तावद्भाष्य एव स्वसंवेद्यः सम्भवति इति कर्मवाची कृत्यप्रत्ययप्रयोगः। वेदेऽपि आत्मानमुपासीत, आत्मानं वेद, आत्मा ज्ञातव्यः इत्यनेकशः प्रयोगः।

पूर्वोक्त आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—**तच्चाऽयुक्तमिति**। उपर्युक्त आशङ्का उचित नहीं है। कर्मविभक्ति की जाती है या नहीं की जाती इत्यादि शब्दसाधुत्व विचार तथा शब्दसाधुत्व हमारे अधीन नहीं है, किन्तु विद्यावृद्ध, वयोवृद्ध और तपोवृद्ध लोगों के व्यावहारिक प्रयोग से ही उन्हें जानना चाहिये। अतएव शब्दसाधुत्वं हि प्रयोगतोऽवगन्तव्यम् कहा गया है।

अस्ति चाऽऽत्मन इति। आत्मा का स्वकर्तृका क्रिया में ही कर्म शब्द का प्रयोग लौकिक व्यवहार तथा वैदिक व्यवहार दोनों में किया जाता है।

तथा तावद्भाष्य एवेति। जैसे शाबरभाष्य में ही कहा गया है—एवमसौ पुरुषः स्वयमात्मानमुपलभते, न चाऽन्यस्मै शक्नोति दर्शयितुमन्यस्य द्रष्टुस्तं पुरुषं प्रति दर्शनशक्त्यभावात्, सोऽप्यन्यः पुरुषः स्वयमात्मानमुपलभते न च परमाऽऽत्मानम् इति। स्वसंवेद्यः स भवति नाऽसावन्येन शक्यते द्रष्टुं कथमसौ निदर्शयेत इति। अर्थात् अन्य की आत्मा से अन्य की आत्मा नहीं देखी जा सकती; क्योंकि स्वात्मनः स्वमात्रप्रत्यक्षत्वात् में कर्मवाचक कृत्य-प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। तथा वेद में भी आत्मानम् उपासीत्, आत्मानं वेद, आत्मा ज्ञातव्यः आत्मा की उपासना करनी चाहिये, आत्मा को जानना चाहिये, आत्मा जानने योग्य है—इस प्रकार के प्रायः अनेकानेक प्रयोग उपलब्ध होते हैं।

शारीरभाष्य में भी आत्मा का कर्मत्वेन (कर्म के रुप में) व्यवहार किया है—ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात् प्रधानं, तस्मिन् प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते, ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म इत्यादि। आत्मा के कर्मत्व में और आत्म शब्द के कर्मविभक्तियुक्त होने में श्रुति का भी प्रमाण है। अर्थात् वेद में भी आत्मा का कर्मत्वेन और कर्मविभक्तियुक्त प्रयोग किया गया है।

न च गन्तुर्गमने कर्मत्वम्, प्रयोगाऽभावात्। शब्दसाधुत्वे हि प्रयोगपरवशा वयं न स्वयमीशमहे यथा हि चलनार्थत्वे समाने गच्छतिः सकर्मकः, चलतिश्च अकर्मकः, प्रयोगस्य तथा दर्शनात्, एवं ज्ञातुः कर्मत्वं गन्तुश्चाऽकर्मत्वं भविष्यति। तस्मान्मानसाहम्प्रत्ययगम्य आत्मा। तथा च श्रुतिः—स मानसीन आत्मा जनानाम्– (तै. आर. ३।११।२१) **इति। तेन यद्यपि विषयवित्तिवेलायामेवात्मावभासः, तथापि न विषययावभासःवित्तिकर्तृत किन्तु मानसाहंप्रत्ययकर्मतयाऽवभासः। न तद्वित्तिकर्मतयाऽव्याप्तेः।**

शङ्का—एक ही क्रिया में आत्मा को यदि कर्म मानते हैं, तो देवदत्तः ग्रामं गच्छति—इस वाक्य में गमनकर्ता (देवदत्त) में कर्मत्व मानना होगा।

समाधान—नहीं मानना पडेगा; क्योंकि गन्ता अर्थात् गमनकर्ता को गमन क्रिया में कर्म नहीं कहा जाता; क्योंकि ऐसे प्रयोग कभी उपलब्ध नहीं होते। हमलोग तो प्रयोग-परवश हैं। हम लोग अमुक शब्द साधु है—यह साक्ष देने में असमर्थ हैं। उक्त तथ्य को दृष्टान्त देकर समझाते हैं—**यथाहीति**। जैसे गम् धातु और चल् धातु दोनों का अर्थ चलना है। तथापि गच्छति क्रिया सकर्मक कहलाती है और चलति क्रिया अकर्मक कहलाती है। इस तथ्य को सभी लोग जानते हैं। उसी प्रकार ज्ञाता की सकर्मकता और गन्ता की अकर्मकता भी हो सकती है। इसलिये मानसाऽहं प्रत्ययगम्यः आत्मा। आत्मा मानस अहम्प्रतीति का विषय है। तथा च श्रुति = उक्त अर्थ में श्रुति को प्रमाण के रूप में उपस्थित कर रहे हैं—**स मानसीन आत्मा जनानाम्**– सभी मानवों को वह आत्मा, मानस-प्रत्यक्ष का विषय होता है। **तेन यद्यपीति**। उस कारण यद्यपि विषयज्ञान के समय ही आत्मा का आभास तो अवश्य होता है, तथापि विषय-ज्ञान के समय उसका आभास कर्ता के रूप में नहीं होता और कर्म के रूप में भी उसका भान नहीं होता। तथापि मानस जो अहम्-प्रत्यय होता है, उसमें वह कर्म के रूप में प्रतीत होता है। अभिप्राय यह है कि सभी विषयों के ज्ञानों में आत्मा का मान न होना—यह कोई नियम (व्याप्ति) नहीं है कि सभी विषयज्ञानों में आत्मा का भान होना ही चाहिये। तथापि मानस अहम्प्रत्यय-कर्मतया उसका भास होता है।

ननु शरीरवदात्मन्यप्यहमभिमानो भ्रान्तिरेव न, बाधाऽभावात्। योगिना-मस्ति बाध इति चेत्? न, प्रमाणाऽभावात्।

तथा हि येऽपि योगस्य परां काष्ठामुपागताः ।
योगेश्वरेश्वरास्तेऽपि कुर्वन्त्यात्मन्यहंमतिम् ।।२१।।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ।।२२।।

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।।२३।।
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
एवमादावहंशब्दः परस्मिन् पुंसि हि ध्रुवम् ।।२४।।

न हि महद्विकारोऽहङ्कारः कृत्स्नस्य प्रभवः, नाऽपि क्षराऽक्षराभ्यामुत्तमः, नाऽपि ब्रह्मशब्दवाच्ये प्रधाने गर्भं दधाति, पुरुषसम्पर्ककृतत्वात् प्रकृतिक्षोभस्य। तथोप-निषत्स्वपि—ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवाऽवेत् अहम्ब्रह्माऽस्मि इति। मन्त्रवर्णोऽपि—अहं मनुरभवं सूर्यश्च(ऐ. उप. ३) **इति। तस्मादहम्प्रत्ययगम्यत्वमात्मनोऽनिच्छन्तः श्रुतिविरोधादेव उपेक्षणीयाः।**

शङ्का—जैसे शरीर में कृशोऽहम् इत्याकारक प्रतीति अभिमान (भ्रम) है, उसी तरह आत्मा में अहं प्रत्यय होना अभिमान भ्रम ही है; क्योंकि अहम् पद अहंकार का वाचक है। इस कारण आत्मा को शरीर से भिन्न मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

समाधान—आत्मा में अहं प्रतीति (अहम्प्रत्यय) होना भ्रम नहीं है; क्योंकि उस प्रतीति का बाध नहीं हो रहा है, भ्रम तो बाध होने पर ही माना जाता है। जैसे शुक्ति में जब रजत का ज्ञान होता है, तब कुछ ही समान के पश्चात् उस ज्ञान का बाध हो जाता है, उस कारण ही शुक्ति में रजतज्ञान को भ्रम शब्द से कहा जाता है, किन्तु आत्मा में अहम् प्रतीति को भ्रम नहीं कह सकते; क्योंकि उसका बाध नहीं होता।

शङ्का—हम जैसे साधारण लोगों के अहम् प्रत्यय का बाध न होने पर भी योगिनामस्ति बाधः इति चेत् ? तत्त्वदर्शी योगियों को अहम्प्रत्यय का बाध तो अपनी आत्मा में हो ही जाता है।

समाधान—न, प्रमाणाऽभावात्। उक्त कथन में कोई प्रमाण नहीं है। योगीश्वरों को भी अपनी आत्मा में अहम्प्रत्यय होता ही है। इस उक्त तथ्य का उपपादन मूलोक्त श्लोकों के द्वारा किया गया है। आशय यह है कि जो महापुरुष योग की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए हैं, वे योगेश्वर है। वे भी अपनी आत्मा में अहम्बुद्धि करते है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कह रहे हैं—हे अर्जुन! मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय का कर्ता हूँ। मैं उन सभी जन्मों को जानता हूँ, जिन्हें तुम नहीं जानते; क्योंकि मैं क्षर से अतीत (परे) हूँ और अक्षर से भी उत्तम हूँ। मैं इस सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होकर उसे धारण करता हूँ । मेरा कारण जो परब्रह्म है, उसमें मैं बीज का आधान करता हूँ—इत्यादि स्थलों में अहम् शब्द का प्रयोग परम-पुरुष परमात्मा के अर्थ में किया गया है—यह निश्चित समझना चाहिये। एवञ्च आत्मा में अहम् प्रतीति का होना भ्रम- नहीं है। उपर्युक्त कथन करने पर भी ग्रन्थकार का सन्तोष नहीं हो रहा है, अत: वे स्वयं व्याख्या कर रहे हैं—

न हि महद्विकारोऽहङ्कार इति। महत्तत्त्व का विकार अहङ्कार नहीं है। अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्तिकारण अहङ्कार नहीं है और न ही क्षर-अक्षर से उत्तम अहंकार है और न ही अहंकार ब्रह्म शब्द से वाच्य भूत प्रधान में गर्भाधान करता है, क्योंकि पुरुष-सम्पर्ककृतत्वात् प्रकृतिक्षोभस्य– सृष्टि का कारण है प्रकृतितत्त्व का क्षोभ (सत्त्वादि तीनों गुणों का वैषम्य), जो पुरुष के सम्पर्क से होता है। इसलिये अहंकार को भ्रम कहना उचित नहीं है।

तथोपनिषत्स्वपीति। उपनिषदों में भी ऐसा ही बताया गया है। सृष्टि के पूर्व यह जगत् ब्रह्म ही था, उसने अपना साक्षात्कार किया, उसी का अनुकरण अहं ब्रह्माऽस्मि है। मन्त्र वर्ण भी (मन्त्र भी) इसी उक्त अर्थ का समर्थन करता है—मैं मनु हूँ सूर्य भी मैं ही हूँ (वृह. उपनिषद्– १।४।१०)। अत: जो लोग आत्मा को अहम्प्रत्ययगम्य नहीं स्वीकार करते, वे उपेक्षा के योग्य हैं; क्योंकि वे श्रुतिविरुद्ध अर्थ का स्वीकार कर रहे हैं।

एवञ्च श्रुति–स्मृतियों के वचनों द्वारा अहम् इत्याकारक जो प्रतीति होती है, उसका विषय ज्ञाता ही (आत्मा ही) है, इसे सिद्ध किया गया। अब अपने मत में श्रुतिविरोध नहीं है, उसे बता रहे हैं।

यत्तु निर्मुक्ताऽहङ्कारममकारवचनम्, तदपि पौर्वापर्येण परामृष्यमाणं नाऽहङ्कारस्वरूपनिषेधार्थं भवति। एवं हि तद्वचनम्—नाऽस्य कश्चित् नाऽयं कस्यचित् निर्मुक्ताऽङ्कारममकार एवाऽयम् इति। तदयमर्थः— यस्मान्नास्य कश्चित्, तस्मान्निर्मुक्तममकारः, यस्मान्नाऽयं कस्यचित्, तस्मान्निर्मुक्ताऽहंकार इति। यद्यहङ्कारस्वरूपनिषेधः स्यात्, न पूर्वेण सम्बध्येत्, यस्मान्नाऽयं कस्यचित् तस्मादस्मिन्नहं-भावो भ्रान्तिः इति किं केन सङ्गतम्? तस्मान्नायमहन्तास्वरूपनिषेधः।

यत्तु निर्मुक्ताऽहङ्कारमिति। यह जो कहा गया है कि आत्मा में अहंकार (ममकार) नहीं है, उन वाक्यों के पौर्वापर्य का विचार करने पर प्रतीत होता है कि आत्मा में अहंकार (ममकार) नहीं है—यह कथन अहंकार के स्वरूप का निषेध करने के लिये है। यह नहीं कहा जा सकेगा। निर्मुक्ताहङ्कार अहंकार वचन का अर्थ यह है—इसका कोई नहीं है और यह भी किसी का नहीं है, अत: यह आत्मा अहंकार तथा ममकार से निर्मुक्त है। इसका अर्थ यह है कि इसका कोई नहीं है, अत: यह आत्मा अहंकार ममकार से विमुक्त है। जबकि वह किसी का नहीं है, अतएव वह निर्मुक्त अहंकार है।

यदि कोई यह कहें कि अहंकार के स्वरूप का निषेध करता ही इसका अर्थ है, तो वह पूर्व से सम्बद्ध नहीं हो सकेगा। तदयमर्थ: कहकर इस तथ्य को ही और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं—**यस्मादिति**। यस्मान्नाऽस्य कश्चित्, तस्मान्निर्मुक्तममकार, यस्मान्नाऽयं कस्यचित्, तस्मान्निर्मुक्ताऽहङ्कार इति। यदि अहङ्कारस्वरूप का निषेध मानते हैं तो पूर्व के साथ

सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। जैसे यस्मान्नाऽयं कस्यचित् तस्मादस्मिन्नहम्भावो भ्रान्तिः इति किं केन सङ्गतम्? जबकि यह किसी का नहीं, अतः इसमें अहम्भाव भ्रम इस तरह कहने में कौन किससे सम्बद्ध हैं? इसे अहन्ता स्वरूप का निषेध न कहें तो किसका निषेध कहें?

किं तर्हि? जन्मसम्बन्धितयात्मन्यहंमतिः अहमस्य पिता, अहमस्य पुत्रः इत्यादिः, स भ्रम इत्येवं सङ्गतं भवति। अयमात्मा न कस्यचिदपि पुत्रादिरूपेण सम्बन्धी जन्यजनकभावस्य शरीरविषयत्वात्। शरीरं हि शरीराज्जायते, न त्वात्माऽत्मान्तरात्। तस्मादन्यसम्बन्धितयाऽऽत्मन्यहंमतिः कृशादिमतिवच्छरीराद् विवेकमबुध्यमानानां भ्रान्तिरिति। तदिदमस्यान्यसम्बन्धित्वनिषेधेन पुत्रादिविषयस्नेहनिवर्तनेन वैराग्यजननार्थमुच्यते, नाऽहंकारस्वरूपस्याऽयं निषेधोऽनुपयोगात्, असङ्गतत्वात्। प्रमाणान्तरविरोधात्। अहम्ब्रह्मास्मि इति वचनविरोधाच्च। तस्मादहम्प्रत्ययगम्यो ज्ञाता शरीरातिरिक्त इन्द्रियव्यतिरिक्तश्च।

पूर्वपक्षी पूछता है—**किं तर्हीति**। तो किसका निषेध है? **जन्मसम्बन्धितयेति**। आत्मा में जन्मसम्बन्धितया जो अहम्बुद्धि होती है—अहमस्य पिता, अहमस्य पुत्रः-इत्यादिः स भ्रम इत्येव सङ्गतं भवति। अर्थात् मैं इसका पिता हूँ, मैं इसका पुत्र हूँ इत्यादि यह सब भ्रम ही और वह संगत भी है।

उक्त सम्बन्धाऽभाव का प्रयोजन बात रहे हैं—**अयमात्मेति**। यह आत्मा पुत्र आदि रूप से किसी का सम्बन्धी नहीं होता। जन्य-जनकभाव—तो शरीर को विषय करता है। शरीर ही शरीर-से उत्पन्न होता है। न तु आत्मा, आत्मान्तरात्– न कि आत्मा, दूसरी आत्मा से उत्पन्न होता है। जन्मसम्बन्धितया = शरीरसम्बन्धेन। अहम् अस्य मम इदम्—इत्याकारक प्रतीति जो होती है, उसे भ्रम ही समझना चाहिये। इस प्रकार से आत्मा में पुत्रादि–रूप से किसी का किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है, इतना कहने मात्र से ही अहन्ताममताराहित्य का प्रतिपादन किया गया है। आत्मा में अहन्ताऽभाव को नहीं बताया गया है। जैसे आत्मा में कृशोऽहम्– इत्यादि ज्ञान की प्रतीति होना भ्रम ही है, उसी तरह आत्मा में अहम् अस्य, ममेदम्– यह ज्ञान भी शरीर से आत्मा को भिन्न न समझने वाले ज्ञानशून्य मूर्खों का भ्रम ही है। इस भ्रम (भ्रान्ति) के उत्पन्न होने में कारण अन्यसम्बन्धिता ही है, अर्थात् दूसरे सम्बन्धी के रूप में आत्मा में अहम् बुद्धि का होना। जैसे मैं कृश हूँ; अतः निरुपाधिक अहम् बुद्धि को भ्रम (भ्रान्ति) नहीं कहना चाहिये।

शङ्का—यदि आत्मा में अहन्ता है ही, तो अहमस्य, ममेदम् इस बुद्धि (ज्ञान) को भ्रम (भ्रान्ति) कहने में निर्मुक्त अहङ्कार ममकार वचनों का क्या प्रयोजन है?

समाधन—तदिदमस्याऽन्यसम्बन्धित्वनिषधेन पुत्रादिविषयस्नेहनिवर्तनेन वैराग्य-

जननार्थमुच्यते, नाऽहंकारस्वरूपपस्य अयं निषेधः, अनुपयोगात्, असङ्गतत्वात्, प्रमाणान्तरविरोधात् अहं ब्रह्माऽस्मि इति वचनविरोधाच्च। अर्थात् यह (आत्मा) दूसरे का सम्बन्धी नहीं है—इत्याकारक निषेध का प्रयोजन यही है कि पुत्रादिविषयक स्नेह आसक्ति आदि के निवारण से वैराग्य की उत्पत्ति हो सके। अहंकारस्वरूप का यह निषेध नहीं है। इसमें यथाक्रम चार हेतु (कारण) दे रहे हैं—अनुपयोग, असंगत, प्रमाणान्तरविरोध और अहम्ब्रह्माऽस्मि- मैं ब्रह्म हूँ, इस महावाक्य का विरोध। इन कारणों से अहम् इत्याकारक प्रतीति का विषय जो ज्ञाता है (आत्मा है), वह शरीर से अतिरिक्त (पृथक्) है तथा इन्द्रियों से भी अतिरिक्त (पृथक्) है।

(इन्द्रियाऽऽत्मनोर्भेदः)

कथमिन्द्रियभेदः? इन्द्रियाऽभावेऽपि ज्ञातुरेकस्य प्रत्यभिज्ञानात्—योऽहं रूपमद्राक्षं सोऽहं स्पृशामीति, योऽहमग्रहीषं सोऽहं स्मरामीति। मनस्तु प्रत्यक्षसिद्धस्य ज्ञातृ रूपादिज्ञानेषु व्यतिरिक्तकरणाऽधीनत्वात् सुखादिज्ञानेषु भवितव्यं करणेनेत्येवं कल्प्यते इति नाऽस्य ज्ञातृत्वमाशङ्कनीयम्।

प्रश्न—काणोऽहम् इत्याकारक प्रतीति होने से इन्द्रयों में ही आत्मत्व की प्रतीति होती है; क्योंकि काणत्व धर्म इन्द्रिय का है, काण और अहम् पदों का सामानाधिकरण्य भी है तथा अहम् पद आत्मा का वाचक है, तब आत्मा को इन्द्रियों से अतिरिक्त (पृथक्) कैसे समझा जाय?

उत्तर—इन्द्रियाऽभावेऽपीति। देवदत्त ने घट को अपनी आँखों (नेत्रों) से देखा, तदनन्तर नेत्र (आँखें) नष्ट हो गये अर्थात् अंधा हो गया, तब घट का स्पर्श करते हुए उसे योऽहंरूपमद्राक्षं, सोऽहं स्पृशामि- ऐसी आत्मप्रत्यभिज्ञा होती है। यदि इन्द्रिय ही आत्मा होती, तो रूपग्राहक चक्षु (नेत्र) के नष्ट होने पर सोऽहं स्पृशामि- ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं होनी चाहिये, किन्तु प्रत्यभिज्ञा तो होती है। इससे निश्चित होता है कि आत्मा इन्द्रिय से भिन्न ही है। आत्मा यदि इन्द्रिय से भिन्न न होता तो इन्द्रिय के अभाव में अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय के नष्ट होने पर एक ज्ञाता की प्रत्यभिज्ञा नहीं होनी चाहिये थी, किन्तु होती तो है, इससे निश्चित होता है कि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न (पृथक्) ही है। प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप (आकार) इस प्रकार है—योऽहं रूपमद्राक्षं सोऽहं स्पृशामि इति। योहमग्रहीषं सोऽहं स्मरामि इति। आत्मा यदि इन्द्रियों से भिन्न न होता, तो इन्द्रिय के अभाव में अर्थात् उसके न होने पर एक ज्ञाता की प्रत्यभिज्ञा भी न होती, किन्तु होती तो है। अतः इन्द्रियों से आत्मा भिन्न है, यह सिद्ध है।

प्रश्न—मन को ही ज्ञाता मान लिया जाय, उसके अतिरिक्त आत्मा की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यद् यज्ज्ञानं, तत्तत् सकरणकमेव—यह नियम है। जो-जो ज्ञान (जो भी ज्ञान कहलाता है) हो, वह सकरणक ही होता है। जैसे बाह्यरूपादि के ज्ञानों में आत्मा अपने से भिन्न चक्षुरादि इन्द्रियों के अधीन ही रहता है। उसी तरह सुखादि ज्ञानों में भी स्वव्यतिरिक्ताधीनत्व रहने से शरीर के भीतर रहने वाले (अनुभूत होने वाले) सुखादि में चक्षुरादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है, इसलिये सुखादिज्ञान के कारण (साधन) के रूप में मनस्– (मन) की कल्पना की गई है। अत: मन को आत्मा कहना सम्भव नहीं है। आत्मा के विना मन:कल्पना करना ही असम्भव है। अत: मन को आत्मा कैसे कहा जायगा? एवञ्च मन में ज्ञातृत्व की आशङ्का करना भी उचित नहीं है।

ये तु कर्तृतयैवाऽऽत्मसिद्धिर्न कर्मतयेत्याहु:, तेषामात्मनि स्मरणप्रत्यभिज्ञाने नोपपद्येयाताम्, तत्राऽपि हि पूर्वकालसम्बन्धित्वेनात्मन: प्रतिभासोऽङ्गीकरणीय:, न च साम्प्रते स्मरणे पूर्वकालसम्बन्धिन: कर्तृत्वं सम्भवतीति कथं कर्तृतया सिध्येत्? तस्मादहंप्रत्ययकर्मतयैवाऽऽत्मन: सिद्धिरिति रमणीयम् ।

इसी अवसर पर सिंहावलोकनन्याय से प्रभाकर के सिद्धान्त का खण्डन कर रहे हैं—**ये तु कर्तृतयैवेति**। जो लोग ऐसी आशङ्का करते हैं कि यद्यपि अहम्प्रत्यय से आत्मसिद्धि हो सकती है, तथापि जानाम्यहम्, गच्छाम्यहम्, देवदत्तोऽहम्– इत्यादि में सर्वत्र अहम् प्रत्यय हो रहा है, उसमें आत्मा का कर्ता के रूप में ही भान हो रहा है, उस कारण अहम्प्रत्यय कर्तृकत्वेन ही आत्मा की सिद्धि क्यों न कही जाय? अहम्प्रत्यय-कर्मत्वेन कहने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि एक ही में कर्तृत्व और कर्मत्व का होना विरुद्ध है।

समाधान—**तेषामात्मनीति**। उनके मत में आत्मविषयक स्मरण और प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी, स्मरण में स्मर्यमाण का और प्रत्यभिज्ञा में– प्रत्यभिज्ञायमान का कर्तृत्वेन रूप से भान नहीं होता है। वहाँ तो कर्मत्वेन अथवा विषयत्वेनैव भान का सम्भव रहता है। **तत्रापीति**। तत्र = स्मरण और प्रत्यभिज्ञान में पूर्वकालसम्बन्धित्वेनैव विषय की प्रतीति हुआ करती है, उसी तरह आत्मा के स्मरण में भी अथवा प्रत्यभिज्ञा में पूर्वकाल-सम्बन्धित्वेनैव प्रतीति का स्वीकार कर लिया जाय।

न च साम्प्रते स्मरणे इति। साम्प्रते = इदानीन्तने। अभी वर्तमानकालिक स्मृति में पूर्वकाल से सम्बद्ध आत्मा का कर्तृत्व सम्भव नहीं हो सकता तब कर्ता के रूप में उसकी सिद्धि कैसे हो सकेगी?

तस्मात् अहम्प्रत्ययकर्मत्वयैव आत्मन: सिद्धिरिति रमणीयम्– इसलिये अहम् इत्याकारक प्रतीति के कर्मरूप में ही आत्मा की सिद्धि होती है– यह स्वीकार ही रमणीय = शोभावह होगा।

(वेदान्तिनां शङ्का)

अथ स्वप्रकाशत्वमात्मनः सुखादीनां च किं नेष्यते? स्वप्रकाशस्य कस्यचिदप्यदर्शनात्। सर्वस्यैव हि वस्तुनः परप्रकाश्यत्वनियमात्। स्वप्रकाशत्वे चाऽऽत्मा सुषुप्तावपि प्रकाशेत, न च प्रकाशते। यथोक्तम्—अचेतयन्नेव सुषुप्त इत्युच्यते इति।

ननु सुषुप्तावपि प्रकाशत एवाऽऽत्मा स्वाभाविकपरमानन्दयुक्तः, अन्यथा कथम् सुखमहमस्वाप्सम् इति प्रबोधे प्रतिसन्धानं स्यात्? अर्थान्तरन्तु न किञ्चिच्छरीरम्, इन्द्रियमन्यद् वा वस्तु प्रकाशत इत्येतावान् स्वप्न-जागराभ्यां सुषुप्तेर्भेदः।

अद्वैतवेदान्ती आत्मा को तथा सुख आदि को स्वयंप्रकाश मानते हैं। आत्मा स्वयम्प्रकाश ही है, तब उसे अहम्प्रत्यय का भी विषय कैसे कहा जा सकेगा? किञ्च—स्वयम्प्रकाश होने से ही जब आत्मा की सिद्धि होती है तो अहम्प्रत्ययविषयत्वेन आत्मा को सिद्ध करने की क्या आवश्यकता? उसी तहर सुखादिक भी स्वयम्प्रकाश ही है, तब मनस् (मन) की कल्पना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उक्त कथन में कोई दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता। दीपक आदि भी स्वप्रकाश नहीं है। उनका प्रकाश भी चक्षुरादि के ही अधीन रहता है, अन्यथा अन्धे को भी सब कुछ दिखाई देगा। चक्षुहीन को कोई भी पदार्थ नहीं दिखाई देता। अत: दीपक भी प्रकाश्य ही है। दीपादि के समान औपचारिक स्वप्रकाशत्व आत्मा में भी स्वीकार किया गया है। यदि आत्मा को स्वप्रकाश स्वीकार किया जाय तो सुषुप्ति में भी उसे प्रकाशित होना चाहिये, किन्तु वह सुषुप्ति में प्रकाशित नहीं रहता। सुषुप्ति में आत्मा प्रकाश रूप न रहने में अचेतयन्नेव सुषुप्त इत्युच्यते—यह प्रमाण भी है। जो जागता हुआ भी अचेत रहता है अर्थात् सोया हुआ सा प्रतीत होता है। जो अचेत रहता है, उसे सुषुप्त कहते हैं। जो प्रकाशमान हो, उसमें अचेतनता नहीं रहती। अत: अचेतनरूप रहने के कारण ही उसे 'सुषुप्त' कहा जाता है।

शङ्का—ननु सुषुप्तावपीति। सुषुप्ति में भी स्वभावत एव परमानन्द से युक्त हुआ आत्मा प्रकाशित होता ही है, अन्यथा कथं सुखमहमस्वाप्सम् इति प्रबोधे, प्रतिसन्धानं स्यात्? नहीं तो मैं सुख से सोया—ऐसा प्रतिसंधान (स्मरण) जागरित होने पर कैसे होगा? अर्थात् नहीं हो सकेगा; क्योंकि अनुभूत का ही स्मरण हुआ करता है। सुषुप्ति में आत्मप्रकाश का स्वीकार करने पर सुषुप्ति में प्रकाशमान (प्रकाशित रहने वाले) सुखस्वरुप आत्मा का ही, जगने पर सुखमहस्वाप्सम्– मैं सुख से सोया इत्याकारक स्मरण होता है, किंवा आत्मा की सुखपूर्वक स्थिति का ही स्मरण होता है। सुषुप्ति में इन्द्रिय आदि पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, अत: उनका स्मरण होता है, यह कैसे कहा जा सकेगा? क्योंकि स्वप्न और जागरण– इन अवस्थाओं से सुषुप्ति की अवस्था भिन्न

कही जाती है। यदि सुषुप्ति में भी आत्मा के अतिरिक्त शरीर आदि का ज्ञान होता है—कहें तो स्वप्न-जागरण अवस्थाओं से सुषुप्ति अवस्था को भिन्न (पृथक्) नहीं कहा जा सकेगा—यह कहना ठीक नहीं है। जागरित अवस्था में शरीर आदि का भी ज्ञान (प्रकाश) होता है और स्वप्न में बाह्य पदार्थों का ज्ञान न होने पर भी मन का प्रकाश तो रहता ही है, किन्तु सुषुप्ति में केवल आत्मा का ही प्रकाश रहता है; स्वप्न-जागर अवस्थाओं से सुषुप्ति की यही भिन्नता है।

(वेदान्तिमत-निरसनम्)

नैतदेवम्—संविद्विरोधात्, नहि सुप्तानामात्मा सुखं वा प्रकाशते, न ह्यभासमानं व्यवहारमात्रेण प्रकाशत इति शक्यमङ्गीकर्तुम्। किञ्च—

सुष्वापादुत्थिताश्चैवं निर्विद्यन्ते हि कामुकाः ।
वृथेयमन्तरेणैव कामिनीं यामिनी गता ।।२५।।
आश्लिष्टामप्यबुद्ध्वैनां मृतवच्छयितं मया ।
भुक्त्वा च परमानन्दं तस्य च स्मरणादयम् ।।२६।।
स्वल्पाल्पसुखहान्यैवं निर्वेदो नाऽवकल्पते ।
तत् सुखं विस्मृतं चेत् स्यात् सुखमस्वाप्समित्ययम् ।।२७।।
व्यवहारो न युज्येत दुःखाननुभवे त्वियम् ।
सुखव्यवहृतिस्तस्माद् गुणवृत्त्येति निश्चयः ।।२८।।

प्रबुद्धा हि सुषुप्तावगतं किञ्चिदपि दुःखमसंस्मरन्तः स्मरणाऽनुपपत्त्यैव सुषुप्त्यवस्थायां मे न किञ्चिदपि दुःखमासीदित्यवगम्य तत्रैव सुख-व्यवहारं गुणवृत्त्या कुर्वन्ति, तथा च व्यवहरन्ति—एतावन्तं कालमह-मात्मानमप्यबुद्ध्वा शयितोऽस्मीति। तस्मात् सुषुप्तावप्रकाशान्नात्मनः स्वप्रकाशत्वम्। अतो मानसप्रत्यक्षगम्य एवाऽयमिति स्थितम्।

नैतदेवमिति । ऊपर जो कहा गया है कि स्वप्न में केवल मन का प्रकाश रहता है और सुषुप्ति में केवल आत्मा का ही प्रकाश रहता है—यह कथन अनुभवविरुद्ध होने से ठीक नहीं है।

निद्रित व्यक्ति के आत्मा का अथवा सुख का भान नहीं होता। जिस पदार्थ का भास नहीं होता, उसका प्रकाशन केवल व्यवहार से होता है, यह नहीं कह सकते। इसी तथ्य को कतिपय पद्यों से स्पष्ट कर रहे हैं—**नैतदेवमिति**। अनुभव का विरोध होने से उक्त कथन, उचित प्रतीत नहीं हो रहा है; क्योंकि संविद्विरोधात् = सुप्तेन मया न किञ्चिदपि ज्ञातम्- इस ज्ञान का विरोध होता है, अन्यथा सुषुप्ति में अन्य प्रकाश के न रहने पर भी आत्मा का प्रकाश तो था ही; अत: इस प्रकार का परामर्श होना ही चाहिये।

किञ्च—यदि सुषुप्ति मे आत्मा प्रकाशित होता है, तो योगसाधनासिद्ध योगी समाधि का त्याग करके सुषुप्तिपरायण ही हो जायेंगे। एवञ्च सुप्त व्यक्ति का आत्मा अथवा सुख का ज्ञान दूसरे को नहीं होता। अभासित पदार्थ केवल व्यवहार के द्वारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता।

उक्त कथन को ही कतिपय पद्यों द्वारा बता रहे है—**किञ्चेति। सुष्वापादिति।** निद्रा से जगकर उठे हुए कामुक लोग खेद प्रकट करते हैं कि इस कामिनी के विना व्यर्थ ही रात्रि अतीत हो गयी।

मेरा आलिङ्गन करती हुई, मेरे गले से लिपटी कामिनी को मैं नहीं जान पाया, मृतवत् मैं सोता ही रहा। परमानन्द का अनुभव कर अल्प-स्वल्प सुख की हानि से ऐसा निर्वेद (खेद) नहीं होता। तत्सुखं विस्मृतं चेत् स्यात्– उस सुख को हमने भुला दिया है—यह कहें तो मैं सुख से सोया था–यह व्यवहार नहीं हो सकेगा। दुःखानुभव के अभाव में जो सुख का व्यवहार किया जा रहा है, वह गौणी वृत्ति से (उपचार से) हो रहा है—यह निश्चित है।

यदि सुषुप्ति में आत्मा का प्रकाश रहे तो कामुक को ऐसा पश्चात्ताप नहीं होगा। अतः सुषुप्ति में सुख का प्रकाश नहीं है। परमानन्द का स्मरण न होने से ही यह निर्वेद होता है; यह आशङ्का होने पर कहा गया है—**स्मरणात् इति।**

निष्कर्ष यह है कि सुषुप्ति में आत्मा का प्रकाश न होने से उसे (आत्मा को) स्वप्रकाश नहीं कह सकते। अतः आत्मा को मानस प्रत्यक्ष का ही विषय समझना चाहिये। ज्ञानघनपादाचार्य ने तत्त्वशुद्धि नामक ग्रन्थ में आत्मा के स्वप्रकाशत्व का समर्थन किया है। वे कहते हैं—इह खलु भाट्टमतानुसारिणो वर्णयन्ति न स्वयम्प्रकाश आत्मा अहम्प्रत्ययगम्यत्वात् (तत्त्वशुद्धि, प्रकरण, ३३ पृ.–१९९) यह कहकर भाट्टमीमांसकों के मत का खण्डन किया है, उसी का शास्त्रदीपिकाकार ने प्रकृत में निराकरण किया है।

(आत्मनोऽणुत्वनिरासपूर्वकं विभुत्वस्थापनम्)

स पुनरयमात्मा अणुः, शरीरपरिमाणः, विभुर्वेति चिन्तनीयम्। तत्राऽणुपरिमाणत्वे युगपच्छिरःपादयोर्वेदनाऽनुपपत्तिः। अयौगपद्येऽप्यतिशैघ्र्यात् यौगपद्यावगतिरिति चेत्? स्यादेवं यद्यणुत्वं कुतश्चित् सिद्धं स्यात्, तदसिद्धौ दृष्टाऽनुसारादनणुत्वमेव युक्तम्। तत्र शरीरपरिमाणत्वे सावयवः स्यात्। द्विविधमेव हि निरवयवद्रव्यम्— अणु, विभु वा। तदसौ शरीरसम्मितः सन् सावयवः स्यात्। तत्र बह्ववयवकल्पना, तावतां चाऽन्यूनाऽनधिकानामवयवानां पुत्तिकाहस्तिदेहयोरतिसङ्कोचविस्तारकल्पनं नाऽतीव हृदयमनुरञ्जयति। तस्माद् विभुत्वमेव युक्तम्। तथा च श्रुतिः—अनन्तमपारम् इति (बृह. उपनिषद्)। **श्रीमद्भगवद्गीतासु**

च वचनम्—'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' इति (श्रीमद्भगवद्गीता, २।२४)। **ये चोपनिषत्सु अणुत्ववादाः, पुराणेषु च अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषम् इत्यादयः, ते सूक्ष्मग्रहणगोचरत्वाऽभिप्रायाः।**

स पुनरयमात्मेति। अयम् = आत्मा। अणु, मध्य और विभु (व्यापक) भेद से अर्थात् त्रिविध परिणामों में से किं परिमाणकोऽयं जीवात्मा? इसी का विचार करते हैं। प्रथमतः अणुपरिमाणकत्व का निराकरण कर रहे हैं—**तत्राऽणुपरिमाणत्वे इति**। जीवात्मा को अणुपरिमाण मानने पर शिर और पाद (पैर) दोनों के साथ युगपत् सम्बन्ध होना सम्भव न रहने से युगपत् शिरः-पाद में होने वाली वेदना का ज्ञान नहीं हो पायेगा।

अणुत्ववादी शङ्का कर रहा है—**अयौगपद्येति**। उत्पन्नशतपत्रभेदनन्याय से क्रम लक्षित नहीं हो पाता। अतः यौगपद्य के न रहने पर भी यौगपद्यज्ञान शिरः पाद—दोनों की वेदना में होता है।

अणुत्ववादी की आशङ्का का निराकरण—**स्यादेवम् इति**। एवम् = अतिशैघ्र्याद् यौगपद्यावगतिः। सुख-दुःख का अनुभव एक साथ नहीं होता, तथापि अतिशीघ्र होने से सुख-दुःख युगपद् हो रहे हैं- ऐसा प्रतीत होता है।

अतः कोई दोष नहीं है। एवञ्च आत्मा अणु परिमाण वाला है।

समाधान—स्यादेवमिति। किसी प्रमाण से आत्मा यदि अणु परिमाण वाला सिद्ध होता, तो शङ्काकार के अनुसार स्वीकार किया जा सकता था, किन्तु उसका कथन स्वप्रमाण न होने से वैसा नहीं माना जा सकता।

तदसिद्धाविति। किन्तु आत्मा का अणुपरिमाण सिद्ध न स्वीकार करना ही उचित है, अर्थात् आत्मा का परिमाण अणु नहीं है।

शङ्का—तत्र शरीरपरिमाणत्वे इति। यदि आत्मा को अणु परिमाण नहीं माना जा सकता है तो उसे शरीरपरिमाण वाला मान लिया जाय?

समाधान—तत्र शरीर परिमाणत्वे सावयवः स्यात्। उसे शरीरपरिमाण मानने पर (आत्मा) सावयव हो जायगा; क्योंकि द्विविधमेव हि निरवयवद्रव्यम्- अणु विभुवा। निरवयव द्रव्य दो ही प्रकार के होते हैं—अणु अथवा विभु। यदि आत्मा शरीर में व्याप्त होकर रहेगा तो उसे सावयव कहना होगा। अर्थात् उसमें अनेक अवयवों की कल्पना करनी होगी। मध्यम परिमाण को ही शरीर परिमाण कहते हैं और वह सावयवत्व से व्याप्त रहता है, अतः उसे सावयव ही कहना होगा। और जो सावयव होता है, वह अनित्यत्व से व्याप्त होता है। इसी कारण सावयव को अनित्य कहा जाता है।

आत्मा को शरीर परिमाण का मानने पर एक अन्य दोष भी उपस्थित होता है—तत्र बह्वयवयवकल्पना अर्थात् तत्र = परिमाणत्वे = शरीरपरिमाण मानने पर अनेक अवयवों की कल्पना करनी होगी और उन अवयवों की पुत्तिका (शब्द की व्युत्पत्ति—

पुत्त + ठन् + टाप्, पुत्तिका का अर्थ है—एक प्रकार की मधुमक्षिका तथा दीपक) के शरीर में प्रवेश करने पर संकुचितता माननी होगी, और हाथी के शरीर में प्रवेश करने पर विस्तार कहना होगा; किन्तु बुद्धि में अपना स्थान नहीं बना पा रहा है—बुद्धिगत नहीं हो रहा है।

तस्माद् विभुत्वमेव युक्तम्– इस कारण आत्मा का मध्यमपरिमाण मानना सम्भव न हो पाने से विभुपरिमाण मानना ही उचित प्रतीत हो रहा है। भगवती श्रुति भी उक्त अर्थ का समर्थन कर रही है– अनन्तम् अपारम् इति (बृह. उपनिषद्–२।४।१२)। कतिपय विद्वान् आत्मा को अणुपरिमाण मानते हैं; किन्तु ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र सर्वगत शब्द से उसका विभुत्व ही मानते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि सर्वगत शब्द से यहाँ पर विभुव लक्षण व्यापकत्व अभिप्रेत नहीं है, किन्तु अन्तःप्रवेश लक्षण ही अभिप्रेत है। भगवती श्रुति भी कह रही है—एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः (मुण्डक, ३।१।९) बालाग्र-शतभागस्य इन वचनों से आत्मा का अणुत्व—स्पष्टतया बताया गया है। भगवद्गीता की तत्त्वार्थ- सुदर्शनी व्याख्या में विस्तरेण अणुत्व का ही प्रतिपादन किया गया है।

शङ्का—जब ग्रन्थकार श्रीपार्थसारथिमिश्र सर्वगत शब्द से विभुत्व को ही बताते हैं, तो अणुत्ववादियों की गति क्या आत्मा को अणु बताया है, मन से ही स्मरण करने योग्य है—एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः (पुण्डक– ३।१।९) इत्यादि पुराणों में भी आत्मा को अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषम्– अंगूठे के बराबर परिमाण वाला कहा गया है। जैसे– सत्यवान् के शरीर से यमराज ने अङ्गुष्ठमात्र पुरुष को खींचकर निकाल लिया– इत्यादि कथन कैसे उपपन्न होगा?

समाधान—ते सूक्ष्मग्रहणगोचरत्वाऽभिप्रायाः– वे उक्त कथन सूक्ष्मग्रहण (सूक्ष्मज्ञान) विषयक है। आत्मा की दुर्ज्ञेयता उसके सूक्ष्म होने के कारण ही है। आत्मा को जानने के लिये बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। उक्त वादों का यही तात्पर्य है। घट-पट आदि के समान यह आत्मा बाह्यज्ञान का विषय नहीं है, किन्तु योगज सूक्ष्मज्ञान का विषय है। कहा भी है—दृश्यते त्वग्रया सूक्ष्मया बुद्ध्या (कठोपनिषद्– ३।१२), पराञ्चि सानिव्यतृणत् स्वयम्भूस्त स्मात् पराङ्पश्यति नाऽन्तरात्मन् (कठोपनिषद्– ४।१)।

ननु विभुत्वे सर्वशरीरेष्वेक एवाऽऽत्माऽस्तु, किं नानाऽऽत्मभिरभ्यु-पगतैः? नैवम्— एकत्वे सति यथा करणभेदेऽपि कर्तुरेकत्वाच्चक्षुषा दृष्टमर्थं मनसा स्मरति, त्वचा च प्रत्यभिजानाति—यमहमदर्शं तमहं स्पृशामीति, तथा देवदत्तशरीरस्थेनाऽऽत्मना दृष्टमर्थं यज्ञदत्तः प्रत्यभि-जानीयात्, शरीरभेदेऽप्यात्मनः प्रत्यभिज्ञातुरेकत्वात्। कर्तुरेकत्वेऽपि मनोभेदाद्व्यवस्थेति चेत्, न। करणत्वान्मनसः, करणभेदस्य चक्षुरादे-र्भेदव्यवस्थापकत्वाऽयोगादित्युक्तम्।

प्रश्न—यदि आत्मा विभु ही है तो उसे एक ही माना जाय, अनेक आत्माओं का स्वीकार करने की क्या आवश्यकता? एक एक आत्मा भी विभु होने से उसका सम्बन्ध समस्त शरीरों से होना सम्भव है। उस कारण समस्त व्यवहारों की उपपत्ति हो सकती है।

नैवम् इति। आत्मा को एक मानने पर जैसे इन्द्रियाँ अनेक (भिन्न-भिन्न) होने पर भी नेत्र (आँख) से देखी हुई वस्तु का मन से स्मरण किया जाता है और त्वगिन्द्रिय (त्वचा) से प्रत्यभिज्ञा का अनुभव भी करता है अर्थात् जिसे मैने अपनी आँखों से देखा था, उसे मैं स्पर्श आत्मा से कर रहा हूँ, उसी तरह देवदत्त के शरीर में रहने वाले आत्मा के द्वारा देखे हुए वस्तु की प्रत्यभिज्ञा यज्ञदत्त को भी होगी; क्योंकि दोनों का शरीर भिन्न रहने पर भी प्रत्यभिज्ञा का कर्ता तो (आत्मा तो) एक (अभिन्न) ही है। इसलिये आत्माओं को एक मानना उचित नहीं है।

शङ्का—कर्तुरेकत्वेऽपि मनोभेदात् व्यवस्थेति चेत्? अर्थात् कर्ता के एक होने पर भी मन के भेद (भिन्न-भिन्न) होने से व्यवस्था हो सकेगी।

समाधान– न, करणत्वान्मनसः। व्यवस्था नहीं हो सकेगी; क्योंकि मन तो करण है। करणभेद से चक्षुरादि के भेद की व्यवस्था नहीं हो सकती इसे बता चुके हैं।

चक्षुरादिकरणानामव्यवस्थापकत्वेऽपि मनः करणं व्यवस्थापकमिति चेत्? न, करणत्वाऽविशेषात्। स्यादप्येषा कल्पना, यद्येकात्मत्वे दृढं प्रमाणं स्यात्। न तु तदस्ति। ये त्वात्मैकत्ववादाः श्रुतिषु स्मृतिषु पुराणेषु वा, ते निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति (मुण्डकोपनिषद्–३।१।३)। **मम साधर्म्यमागताः** (श्रीमद्भगवद्गीता अ. १४।२), **उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः** (श्रीमद्भगवद्गीता अ. १५।१७)। **इत्यादिभिरात्मभेदवचनैः प्रत्यक्षादिभिश्च विरोधान्नैकान्ततः शक्नुवन्त्यात्मैकत्वं निश्चाययितुम्।**

शङ्का—चक्षुरादि इन्द्रियाँ आत्मभेद (आत्मनानातत्व) की व्यवस्थापक न हो सकने पर भी आत्मभेद के व्यवस्थापक के रूप में मन को स्वीकार कर लिया जाय, आत्मनानात्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

समाधान—न, करणत्वाऽविशेषात्– नहीं; क्योंकि करणत्व धर्म सबमें एक सा ही है, करणत्व धर्म में कोई विशेषता नहीं है। निष्कर्ष यह है कि जैसे चक्षु-श्रोत्रादिकरण (इन्द्रियाँ) भेद के व्यवस्थापक नहीं होते, उसी तरह मन भी व्यवस्थापक नहीं होता। यदि मन, व्यवस्थापक हो सकता है तो चक्षु-श्रोत्रादि-इन्द्रियाँ क्यों नहीं हो सकेंगी? क्योंकि करणत्व धर्म तो सभी में समान है।

स्यादप्येषा कल्पना यद्येकात्मत्वे दृढं प्रमाणं स्यात्? किन्तु उक्त कल्पना भी तब की जा सकती है, जब एक आत्मा के स्वीकारने में कोई दृढ़ (पुष्ट) प्रमाण उपलब्ध हो। न तु तदस्ति– किन्तु प्रमाण तो है नहीं। इसलिये एकात्मवादपक्ष उचित नहीं है।

प्रश्न—तब आत्मैकत्ववाद के प्रतिपादक वचनों की क्या गति होगी?

उत्तर—ये त्वात्मैकत्ववादा इति। श्रुति, स्मृति, पुराण, उपनिषद् आदि ग्रन्थों में जो एकात्मवाद के प्रतिपादक वाक्य हैं। जैसे श्रुतियों में– एकमेवाऽद्वितीयम् ब्रह्मैवाऽहं न संशयः—(तेजोबिन्दूपनिषद्– ३।३९)। एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा कठोपनिषद्– ५।१२), एको वशी सर्वगः कृष्ण ईडयः (गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्–३।२); उसी तरह स्मृति-पुराणों में जैसे– यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिवसत्तम। एकमेवाऽद्वितीयम्– इत्यादि वाक्य जीवपरक ही समझने चाहिये। इन वाक्यों का मम साधर्म्यमागताः– इत्यादि अनेकात्मप्रतिपादक वचनों के साथ विरोध होने से आत्मैक्य में तात्पर्य नहीं है, किन्तु स्वरूपवैलक्षण्याऽभाव में ही तात्पर्य है। अर्थात् सभी आत्माएँ तुल्यस्वरूप ही हैं, स्वरूपभेद की जो प्रतीति होती है, वह शरीरभेद के कारण होती है अर्थात् स्वरूपभेद की प्रतीति शरीरभेदप्रयुक्त है। श्रुति, स्मृति, पुराण, उपनिषद् आति ग्रंथों में जो एकात्म-वाद के प्रतिपादक हैं, उनका आत्मभेद के प्रतिपादक वाक्यों के साथ तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ विरोध होगा अर्थात् श्रुत्युक्त निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति (मुण्डकोपनिषद्– ३।१।३), निष्कःल्मष (निष्पाप) होकर परम साम्य को प्राप्त करता है। मम साधर्म्यमागताः (श्रीमद्भगवद्गीता– १४।२) मेरे साधर्म्य को प्राप्त हुए हैं।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्य मागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।

(गीता, अध्या.–१४।२)।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः—(श्रीमद्भगवद्गीता–१५।१७)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।

उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सभी का धारण-पोषण करता है, उसी को अविनाशी (नित्य), परमेश्वर, परम आत्मा शब्दों से कहा गया है। आत्मभेद के प्रतिपादक वाक्यों के साथ तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ आत्मैकत्ववाद का विरोध होगा। अतः ये वाद निश्चित रूप से आत्मैकत्व का निर्णय नहीं करा सकते।

वचनानां हि मिथो विरोधे सिद्धवस्तुविषयत्वेन च विकल्पाऽसम्भवे प्रमाणान्तरान्निर्णयः स्यात्, तच्च प्रमाणान्तरं भेद एव समर्थमित्यैकात्म्य-वादानामवैलक्षण्यपरत्वं पूर्वोक्तन्यायेनाऽवगन्तव्यम् विस्पष्टं चैतद्वायु-दृष्टान्तोपादानात्–

वेणुरन्ध्रादिभेदेन भेदः षड्जादिसञ्ज्ञितः ।
अभेदव्यापिनो वायोस्तथा तस्य महात्मनः ।। इति ।

नहि वायुद्रव्यं सर्वत्रैकं, व्यक्तिभेदस्य स्पष्टत्वात्। अविलक्षणस्वभावस्य

तु वायोर्वेणुरन्ध्रकृतं षड्जादिवैलक्षण्यम्, एवमात्मनोऽपि पशुमनुष्यादि-वैलक्षण्यं देहसम्बन्धकृतम्, न स्वाभाविकमित्ययमेवाऽर्थः। वायोरिति तस्येति चैकवचनं सामान्याऽभिप्रायम्। तस्मात् प्रतिशरीरं भिन्ना एवाऽऽ-त्मानः सर्वगता नित्याः एवञ्च बद्धमुक्तादिव्यवस्थापि युक्ततरा भवति।

।। इत्याऽऽत्मवादः ।।

शंका—आत्मैक्य-प्रतिपादक और आत्मनानात्व-प्रतिपादक वाक्यों का परस्पर विरोध उपस्थित होने पर एकपक्ष का निर्धारण कैसे हो सकेगा?

समाधान—वचनों का परस्पर विरोध होने पर और सिद्ध वस्तु विषय होने के कारण विकल्प का होना असम्भव है; क्योंकि विकल्प तो क्रिया में होता है; सिद्धवस्तु में नहीं। अतः किसी प्रमाणान्तर से ही निर्णय हो सकेगा और वे प्रमाणान्तर प्रत्यक्षादि भेदप्रतिपादन में ही समर्थ हैं, अभेद (एकत्व) का प्रतिपादन वे नहीं कर सकते। इसलिये श्रुति, स्मृति, पुराण आदि में जो एकत्ववाद हैं, वे परस्पर विलक्षण (भिन्न) नहीं हैं। अतः पूर्वोक्त न्याय से ही तात्पर्य समझना चाहिये इस तथ्य को वायु के दृष्टान्त से जानना चाहिये। विष्णुपुराण में जडभरत की कथा प्रसिद्ध है।

वेणुरन्ध्रादिभेदेनेति। जैसे अभेदव्यापी वायु का वेणुरन्ध्रों की भिन्नता से षड्जादि स्वरों की भिन्नता होती है, वैसे ही उस महान् आत्मा का भेद होता है।

उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या ग्रन्थकार-पार्थसारथिमिश्र स्वयं कर रहे हैं—**नहि वायुद्रव्यं सर्वत्रैकमिति**। सभी में वायुसंज्ञक द्रव्य तो एक ही है, उसके स्वभाव में कोई विलक्षणता नहीं है। तथापि षड्जादि स्वरों की विलक्षणता (भिन्नता) वेणु के रन्ध्रों (छिद्रों) से ही होती है, उसी प्रकार आत्मा की विलक्षणता (भिन्नता)—यह पशु है, यह मनुष्य है— इत्यादि शरीर के सम्बन्ध से होती है, वह स्वाभाविक नहीं है। एवमात्मनोऽपि अर्थात् आत्मा का नानात्व स्वीकार करने पर ही शरीर के सम्बन्ध से मनुष्य-पशु इत्यादि की प्रतीति होती है। वार्तिककार कहते हैं—

साक्षाद् यद्यपि सम्बन्धो नाऽऽत्मनो यज्ञसाधनैः ।
तथापि लक्षणावृत्त्या शरीरद्वारको भवेत् ।।
प्रत्यक्षत्वं च देहस्थं भाक्तमात्मनि कल्पितम् ।
आत्मनः स्वर्गयानं वा शरीरस्योपचर्यते ।।
जान्मान्तरेऽभ्युपेतेऽपि ज्ञानमात्राऽऽत्मवादिनाम् ।
ज्ञानानां क्षणिकत्वाद्धि कर्तृभोक्त्रन्यता भवेत् ।।
निष्क्रियत्वाऽविभुत्वाभ्यां न च देहान्तराऽऽश्रितिः ।।
ज्ञानशक्तिस्वभावोऽतो नित्यः सर्वगतः पुमान् ।
देहान्तरक्षमः कल्प्यः सोऽगच्छन्नेव योक्ष्यते ।।

यजमानत्वमप्यात्मा सत्क्रियत्वात् प्रपद्यते ।
न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत् ॥
न च स्वसमवेतैव कर्तृभिः क्रियते क्रिया ।
क्रिया धात्वर्थमात्रं स्यादन्याधारेऽपि कर्तृता ॥
सत्ता ज्ञानादिरूपाणां कर्ता तावत्स्वयं पुमान् ।
योऽपि भूतपरिस्पन्दस्तत्राऽधिष्ठानतो भवेत् ॥
तदुद्देशप्रवृत्तेश्च या या देहेन्द्रियैः क्रिया ।
क्रियते पुरुषेणैव सा सा सर्वा कृतोच्यते ॥
नैव ह्येषाम्प्रवृत्तिः स्यात् पुरुषेणाऽपरिग्रहे ।
अस्वातन्त्र्यादतो नैषां परिस्पन्देऽपि कर्तृता ॥
तत्कर्मोपार्जितैश्चैतैः क्रियमाणेषु कर्मसु ।
कर्तृता यजमानानामृत्विक् परशुकर्मवत् ॥
यथा परिक्रयाम्नानाद् ऋत्विग् द्वारा क्रियेष्यते ।
गमनादिविधेस्तद्वद्भूतद्वारत्वमाश्रितम् ॥
न च सर्वत्र तुल्यत्वं स्यात् प्रयोजककर्मणाम् ।
चलनेन ह्यसिं योद्धा प्रयुङ्क्ते छेदनम्प्रति ॥
सेनापतिस्तु वाचैव भृत्यानां विनियोजकः ।
राजा सन्निधिमात्रेण विनियुङ्क्ते कदाचन ॥
तस्मादचलतोऽपि स्याच्चलने कर्तताऽऽत्मनः ।
यथावाऽभिद्यमानस्य देवदत्तस्य भेतृता ॥
तस्माद्यथाऽकृतौ शास्त्रं प्रवृत्तं व्यक्तिमाश्रयेत् ।
तथा पुंसि प्रवृत्तस्य भूतेन्द्रियसमाश्रयः ॥
गुणो द्रव्यविनाशाद्वा विनाशमुपगच्छति ।
गुणान्तरोपपाताद्वा तस्मादुत्कृत्व नाश्यते ॥
न तावत्तद् द्वयं मृत्यौ सर्वस्यैवोपलभ्यते ।
अविनष्टशरीरस्य प्राणादिश्चापगच्छति ॥
तस्मान्न देहधर्मत्वं प्राणादेरिति गम्यते ।
अन्तः स्थितेर्न दृष्टिश्चेत् पाटितेऽप्यनुपग्रहात् ॥
अतः शरीरे रूपादि पाटितस्योपलभ्यते ।
न सुखादिरतोऽस्याऽसौ न मनोबुद्धिवद्गुणः ॥
गुणत्वादाश्रितत्वं हि सुखादेः स्याद्रसादिवत् ।
य आश्रितः स आत्मेति ब्रुवाणस्यैतदुत्तरम् ॥
हेतुष्वेवं परोक्तेषु प्रतिषिद्धेषु सम्प्रति ।
अहम्प्रत्ययविज्ञेयः स्वयमात्मोपपाद्यते ॥

यदि स्याज्ज्ञानमात्रं च क्षणिकं ज्ञातृ तत्र वः ।
न भवेत् प्रत्यभिज्ञानं पूर्वज्ञातरि सम्प्रति ॥
ज्ञातुरन्यश्च विषयस्तस्य न स्यात् स्वभावतः ।
अहम्प्रत्ययविज्ञेयो ज्ञाता नः सर्वदैव हि ॥
गुरुः स्थूलः कृशो वाऽहमिति देहेऽपि यो मतिः ।
भ्रान्तिः सा भेदरूपं हि गुरुर्मेतदितीष्यते ॥
इदं ममेदृशं चक्षुर्मनो मे श्रान्तमित्यपि ।
इन्द्रियेष्वपि भेदेन व्यवहारश्च दृश्यते ॥
ममेत्येतस्य मुख्यार्थो नाऽऽत्मनोऽन्यः प्रतीयते ।
तेनाऽसौ भेदहेतुः स्याद् भेदश्च ज्ञानहेतुकः ॥
ये चेहाऽज्ञातनानात्वास्तेषां देहेष्वहं मतिः ।
तत्राऽप्यात्माऽभिमानेनेत्यहम्बुद्धिर्ध्रुवाऽऽत्मनि ॥
ये तु विज्ञातनानात्वस्ते देहेष्वनहं कृताः ।
जानाम्यहमितीदं तु ज्ञानं नैव निवर्तते ॥
अविनाशी स्वरूपेण पुरुषो या तु नाशिता ।
मात्राणां साधिकाराणां, भूतादीनामसंज्ञिता ॥

मूल श्लोकों में वायोः और तस्य– ये दोनों एकवचनान्त हैं।

यह जो कहा गया है– एवञ्च बद्ध-मुक्तव्यवस्थाऽपि युक्ततरा भवति। आत्मनानात्व पक्ष में एक का बद्धत्व, दूसरे आत्मा का मुक्तत्व भी सम्भव रहता है, ऐकात्म्यवाद में एक आत्मा में बन्धत्व और मुक्तत्व इन परस्पर विरुद्ध धर्मों का रहना सम्भव नहीं है। अतः प्रत्येक शरीर में आत्मा भिन्न-भिन्न ही है। वे आत्मा सर्वगत और नित्य हैं—यह स्वीकारने पर यह बुद्ध है और यह मुक्त है इत्यादि व्यवस्था भी युक्त-युक्त प्रतीत होती है।

(मोक्षवादारम्भः)

कः पुनरयं मोक्षो नाम? विचित्रवासनावशेन विचित्रनीलपीतादिरूपेण प्रवहतो ज्ञानसन्तानस्य निश्शेषवासनोच्छेदान्नीलपीतादिवैचित्र्यं हित्वा केवलं संविन्मात्रेणाऽवस्थानमिति केचित् ।

कः पुनरिति । प्रसंगसंगति से मोक्ष के स्वरूप का विचार कर रहे हैं—कः पुनरयं मोक्षो नाम? मोक्ष पदार्थ क्या है?। योगाचार बौद्ध के मतानुसार मोक्ष के स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं— **विचित्रवासनावशेनेति**। यद्यपि ज्ञानमात्र में क्षणविनाशित्व रहने पर भी ज्ञानसन्तान = (ज्ञानप्रवाह) एक होने से (ज्ञान सन्तान की एकता रहने से) समस्त वासनाओं को उच्छेद हो जाने के कारण नील-पीत आदि की विचित्रता को त्यागकर (छोडकर) केवल संविन्मात्र से स्थित रहना ही मोक्ष है। बौद्धों ने प्रमाणवार्तिक में बताया है—

बुद्ध्या विचिच्यमानानां स्वभावो नाऽवधार्यते ।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च दर्शिताः ।।
नाऽन्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्यानानुभवोऽपरः ।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ।।
तत्स्यादालयविज्ञानं, यद्भवेदहमास्पदम् ।
तत् स्यात् प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ।।
रागादिज्ञानसन्तानवासनोच्छेदसम्भवा ।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ।।

माध्यमिक बौद्ध और योगाचार बौद्ध बाह्यार्थ = बाह्यपदार्थ को नहीं मानते, योगाचार बौद्ध ज्ञान को तो स्वीकारते हैं, किन्तु बाह्यार्थ को नहीं मानते, माध्यमिक शून्यवादी बौद्ध तो ज्ञान का भी अभाव कहते हैं। यही इन दोनों बौद्धों में भेद है; किन्तु अन्य सिद्धान्तों में दोनों की समानता है। श्रीकुमालिभट्टपाद ने वार्त्तिक में कहा भी है—

तत्र बाह्यार्थशून्यत्वं योगाचाराः समाश्रिताः ।
तस्याऽप्यभावमिच्छन्ति ये माध्यमिकवादिनः ।।

बाह्यपदार्थ का अस्तित्व सिद्ध किये विना मीमांसा को बताना उचित नहीं है। इस तथ्य को वार्त्तिककार भट्टपाद ने भी बताया है—

प्रमाणत्वाऽप्रमाणत्वे पुण्यपापादि तत्फलम् ।
विध्यर्थवादमन्त्रार्थनामधेयादिकल्पना ।।
सर्वेषु लक्षणेष्वेवं स्वप्रमाणगणैः स्थितिः ।
वचनव्यक्तिभेदेन पूर्वसिद्धान्तपक्षता ।।
कर्मभ्यः फलसम्बन्धः पारलौक्यैहलौकिकः ।
सर्वमित्याद्यमुक्तं स्यादर्थशून्यासुबुद्धिषु ।।
तस्माद्धर्मार्थिभिः पूर्वं प्रमाणैर्लोकसम्मतैः ।
अर्थस्य सदसद्भावे यत्नः कार्यः क्रियाम्प्रति ।।

(श्लोकवार्त्तिक, निरालम्बनवाद)।

बाह्य पदार्थ के आकार में ज्ञान के परिणाम को ही संसार कहते हैं और उसके परिणाम का जो त्याग, उसे ही मोक्ष कहा जाता है, अतः सभी लोगों ने संसार-निवृत्ति को ही मोक्ष शब्द से कहा है। इसी तथ्य को बौद्धों ने भी कहा है—

बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नाऽवधार्यते ।
अतो निरभिलप्यास्ते निस्स्वभावाश्च दर्शिताः ।।
नाऽन्योऽनुभाव्यो बुद्ध्याास्ति तस्या नाऽनुभवोऽपरः ।

नास्तिकशिरोमणि चार्वाक (चारुवाक्) के मतानुसार मोक्षस्वरूप को बता रहे हैं— जैसे तैल के समाप्त होने पर दीप (दीप सन्तान) का विनाश हो जाता है (दीपक बुझ

जाता है) तथा यथायोग चार भूतों के संयुक्त होने पर उनमें चैतन्य प्राप्त होता है, चैतन्यभाव को प्राप्त हुए उन चार भूतों में विकार विशेष के कारण उसके चैतन्य का जो विनाश, वही मोक्ष पदार्थ है। अत एव उसे निर्वाण शब्द से कहा गया है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य प्रकार बताना शक्य नहीं है। निष्कर्ष यह है कि शरीर के अतिरिक्त आत्मा की उपलब्धि न हो पाने से उसका निरूपण करना असम्भव ही है।

यदि शरीर के अतिरिक्त, कोई नित्य आत्मा होता, तो वह बद्ध है, या मुक्त ही है– यह विचार किया भी जा सकता था। चार्वाकों का कहना है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।
यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेव विनिर्गतः ।
कस्माद् भूयो न चाऽऽयाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ।।
अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलाऽनिलः ।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ।।
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ।।
देहे स्थौल्यादियोगाच्च स एवाऽऽत्मा न चाऽपरः ।
न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ।।

तथा– तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्वानि, तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यों मदशक्तिवच्चैतन्यमुपजायते तेषु विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति इति ।

अपरे तु दीपसन्तानस्येव ज्ञानसन्तानस्योपरमम्। उभयमप्येतद्बाह्यार्थाऽभावमूलमिति तत्सद्भावप्रतिपादनेनैव निराकृतम्।

सर्वशून्यवादी माध्यमिक बौद्ध के मतानुसार मोक्षस्वरूप को बता रहे हैं—**अपरे-त्विति**। दूसरे माध्यमिक बौद्ध दीपसन्तान के तुल्य प्रवाहित होने वाले ज्ञानसन्तान की उपरति को मोक्ष मानते हैं। उक्त कथन में प्रमाण दे रहे हैं—जैसे दीपशिखा शान्त हो जाती है। मूल ग्रन्थ में अपरे तु दीपसन्तानस्येव ज्ञानसन्तानस्योपरमम् के बाद मोक्षं वदन्ति—ऐसा अध्याहार कर लेना चाहिये। माध्यमिक शून्यवादी बौद्धों का कहना है कि भावनाचतुष्टय से समस्त वासनाओं की निवृत्ति होने पर निर्वाण शून्यरूप होता है, इसी से हमलोग कृतार्थ होते हैं।

माध्यमिक और योगाचार बौद्धों में अन्तर (भिन्नता) इतना है कि योगाचार बौद्ध के मतानुसार बाह्य पदार्थसंज्ञक कोई वस्तु ही नहीं है। केवल ज्ञान मात्र है, वह ज्ञान ही बाह्य पदार्थ के आकार में परिणत हो जाता है। मोक्ष की अवस्था में ज्ञान स्वरूपतः स्थित रहता है। सर्वशून्यवादी माध्यमिक बौद्ध के मतानुसार मोक्षावस्था में ज्ञान की भी निवृत्ति (अभाव) हो जाती है। इसलिये उसके मत में ज्ञान सन्तान का विनाश होना ही मोक्ष है

अर्थात् अकृतक होने से शून्य ही मोक्ष है। अन्यथा किसी कृतक को मोक्ष मानने पर उसे (मोक्ष को) अनित्य मानना होगा, घट-पट- आदि के समान। कहा भी है—तदेवंभावना-चतुष्टयवशान्निखिलवासनानिवृत्तौ परनिर्वाणं शून्यरूपं सेत्स्यतीति वयं कृतार्थाः इति। योगाचार बौद्ध के मतानुसार बाह्य पदार्थों के अभाव में भी ज्ञान तो रहता ही है अर्थात् मोक्षावस्था में भी ज्ञान की अवस्थिति स्वरूपेण (स्वरूपतः) रहती है, किन्तु सर्वशून्यवादी माध्यमिक बौद्ध के मत में ज्ञान भी मोक्षावस्था में नष्ट हो जाता है। उस कारण वह कहना है कि ज्ञानसन्तानस्य विनाश एव मोक्षः । यही दोनों में अन्तर है। ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र ने जो ज्ञानसन्तानोपरमम् लिखा है, उसके साथ (उसके अन्त में) मोक्षं वदन्ति- इन और जोड़ लेना चाहिये।

उभयमपीति। उभयमेतत् अपि = योगाचार बौद्ध के मतानुसार संविन्मात्रेण अवस्थान और माध्यमिक बौद्ध के मतानुसार ज्ञानसन्तानस्य उपरमः अर्थात् योगाचार बौद्ध के अनुसार ज्ञानरूप से रहना और माध्यमिक बौद्ध के मतानुसार ज्ञानसन्तान (ज्ञान प्रवाह) की उपरति (उपरम = समाप्ति)—दोनों में बाह्य पदार्थाऽभाव अर्थात् बाह्य पदार्थ का न होना ही मूल कारण है। इन दोनों मतों का खण्डन बाह्यार्थ (बाह्यपदार्थ) की सिद्धि कर देने से हो जाता है। यदि बाह्य पदार्थ न हो तो ज्ञान परिणाम का स्वीकार करने पर ज्ञानपरिणाम को ही संसार कहना होगा और उसकी निवृत्ति को मोक्ष कहना होगा। एवञ्च ज्ञान की स्व-स्वरूप से जो अवस्थिति, उसी को मोक्ष कह भी सकते हैं, किन्तु बाह्य-पदार्थ के अस्तित्व के कारण वैसा नहीं कह सकते। तथा च ज्ञानपरिमाण ही संसार नहीं है, जिससे यह कहा जा सके कि ज्ञान की परिमाण-निवृत्तिपूर्वक स्वरूपेण अवस्थिति ही मोक्ष है। इसी प्रकार सर्वशून्यवाद में भी शून्य हो तो उसे मोक्ष कहा भी जा सके; किन्तु ऐसी स्थिति नहीं है; क्योंकि बाह्य पदार्थों की सत्ता (सत्त्व) बताई गई है। उससे भी अधिक आत्मा की सत्ता बताई जाती है। बाह्य पदार्थों की सत्ता तो केवल व्यावहारिक ही है और आत्मतत्त्व की सत्ता पारमार्थिक है। एवञ्च शून्यमपि न मोक्षः- शून्य को भी मोक्ष शब्द से नहीं कह सकते। यद्यपि दीपसन्तान के समान ज्ञानसन्तानोपरम को मोक्ष कहना चार्वाक मत में भी सम्भव नहीं है। तथापि उभयमपि एतद् बाह्यार्थाऽभावमूलम्— इस प्रकार उक्त कथन का परिहार किया जा सकता है। उस कारण दीपसन्तानस्य इव माध्यमिक मत से ही यह पूर्वपक्ष किया सा प्रतीत होता है। चार्वाक ने पृथिव्यादिभूत-चतुष्टय होना माना है, उस कारण उभयमपि एतद् बाह्यार्थाऽभावमूलम्— यह परिहार करना असंगत ही कहा जायगा।

(अद्वैत वेदान्तिमतानुसारं मोक्षनिरूपणम्)

अपरे तु प्रपञ्चविलयमपवर्गमाहुः। अविद्यानिर्मितो हि प्रपञ्चः, स्वप्न-प्रपञ्चवत्, प्रबोधेनैव ब्रह्मविद्यया अविद्यायां विलीनायां स्वयमेव विलीयते। तथाहि श्रुतिः— यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति (जिघ्रति)

(बृहदारण्यक उपनिषद्–२।४।१४)। **यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्** (बृहदारण्यक, उपनिषद्., अध्याय ४।५।१५) **इति। तदिदमपि प्रपञ्चस्याऽविद्यानिर्मितत्वनिराकरणेन परमार्थत्वप्रतिपाद-नान्निरस्तमेवेति।**

अब 'अपरे त्विति' ग्रन्थ से मोक्ष के स्वरूप का निरूपण अद्वैतवाद (सिद्धान्त) के अनुसार कर रहे हैं—**प्रपञ्चविलयम् अपवर्गमाहुः**– प्रपञ्च का नाश होना ही मोक्ष है; क्योंकि अविद्यानिर्मितो हि प्रपञ्चः, स्वप्नप्रपञ्चवत्– यह प्रपञ्च अविद्या से निर्मित हुआ है, स्वप्नप्रपञ्च के समान । संसार की निवृत्ति (समाप्ति) होना ही मोक्ष है। वह मोक्ष ज्ञान से ही होता है। अर्थात् तरति शोकम् आत्मवित् (तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति—छान्दो. उपनिषद्– ७।१।३) **नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** (नारदपरिव्राजकोपनि.– ९।१।, श्वेता.– ३।८६।१५। चित्युपनि.– १३।११, त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत्– ४।३) इत्यादि। **ज्ञानेन च अज्ञानतत्कार्य-**योरेव नाशः सम्भवति, इति अर्थापत्त्या प्रपञ्चस्य अज्ञानकार्यत्वं प्राप्तं भवति। **प्रबोधे-नैवेति**। प्रबोध होने पर अर्थात् ब्रह्मविद्यया = ब्रह्मज्ञान से अविद्या के विलीन = होने पर (नष्ट होने पर) स्वयमेव विलीयते = कारण का विनाश होने पर कार्य का विनाश होना अवश्यंभावी है।

अतः अविद्या के विलीन होने पर उसका कार्य = प्रपञ्च भी स्वयं निवृत्त हो जाता है। उक्त तथ्य को श्रुति से प्रमाणित कर रहे हैं—यत्र तमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति (जिघ्राति) (बृहदा.– २।४।१४)। यत्र तत्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत् केन कं पश्येत् (बृहदा.– ४।५।१५)। अर्थात् यत्र = यदा द्वैतं भवति= द्वैतज्ञान (भेदज्ञान) होता है, तब इतरः इतरं पश्यति, अर्थात् प्रपञ्चः अवतिष्ठते = प्रपञ्च उपस्थित रहता है, किन्तु जब सर्वम् आत्मैव अभूत् अर्थात् जब अद्वैत ज्ञान = अभेदज्ञान हो जाता है, तब केन कं पश्येत् अर्थात् प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाती है।

अद्वैतवेदान्तियों के कथन को सुनकर मीमांसक उसका उत्तर दे रहे हैं—**तदिदमपीति**। यदि प्रपञ्च अविद्या से निर्मित = उत्पन्न हुआ होता तो ज्ञान से अविद्या = अज्ञान की निवृत्ति होने पर प्रपञ्च की निवृत्ति का होना सम्भव हो सकता था, उसी तरह प्रपञ्चविलय को, अपवर्ग = मोक्ष कहा जा सकाता था; किन्तु उक्त कथन वास्तविकता से बहुत दूर है; क्योंकि प्रपञ्च पारमार्थिक = वास्तविक है, मिथ्या नहीं है। अतः उसे (प्रपञ्च को) अविद्यानिर्मित नहीं कहा जा सकता। अत एव ज्ञान से उसकी = प्रपञ्च की निवृत्ति होना भी असम्भव है। उस कारण न प्रपञ्च का विलय होता है और न ही उसे (प्रपञ्चविलय को) अपवर्ग = मोक्ष ही कहा जा सकता है।

आत्मैवेदं सर्वम् इति सर्वस्याऽऽत्मा भोक्तेत्यर्थः। यथा यः कामयेत राष्ट्रं स्याम् इति राष्ट्रस्य भोक्तेत्यर्थः। यथा—यः कामयेत सर्वमिदं

भवेयम् इति सर्वस्य भोक्ता भवेयमित्यर्थः। तथा—आत्मा सर्वम् इति सर्वस्याऽऽत्मा भोक्तेत्यर्थः।

प्रश्न—यदि ज्ञान से प्रपञ्च का विलय होना सम्भव नहीं है, तो **आत्मैवेदं सर्वम्.... स वा एष एवं पश्यन्** (छान्दो. उपनिषद्- ७।२५।२) इस श्रुति से क्या बताया जा रहा है?

उत्तर—प्रपञ्च का विलय होने पर केवल एक आत्मा ही विद्यमान रहता है; क्योंकि प्रपञ्च तो आत्मा का विवर्त रूप है। जैसे यः कामयेन राष्ट्रम्स्याम्- यहाँ पर राष्ट्र शब्द की राष्ट्रभोक्तृत्व में लक्षणा की जाती है; क्योंकि जीव में राष्ट्रत्व सम्पत्ति का होना सम्भव नहीं है।

उसी तरह जैसे- यः कामयेत सर्वमिदम्- में सर्वं शब्द की सर्वभोक्तृत्व में लक्षणा की जाती है, और सम्पूर्ण प्रपञ्च में आत्मभोग्यत्व होने से सम्पूर्ण प्रपञ्च का भोक्ता एकमात्र आत्मा ही माना जाता है, यह अर्थ श्रुति का किया जाता है, अतः श्रुति का अर्थ अद्वैत नहीं किया जाता।

यत्तु यत्र हि द्वैतमिव भवति इति द्वैतभावस्य भ्रान्तित्ववचनम्, तदौपचारिकम्— यथा खलु स्वप्नप्रपञ्चेन्द्रजालमृगतोयादिः कियन्तं चित्कालं दृष्टिपथमापन्नः पश्चाद् विलीनो भोग्यतामतिवर्तति, तथाऽयं शरीरेन्द्रियविषयरूपप्रपञ्चोऽपि अस्याऽऽत्मनः कियन्तञ्चित्कालमुपभोग्यः सन् पश्चाद्विनाशादनुपभोग्यो भवति—इत्यनेन सादृश्येन भ्रान्तिरित्युपचारेणोच्यते पुरुषाणां विषयभोगेषु आस्थानिवर्तनेन मुक्तावभिरुचिञ्जनयितुम्।

यदि द्वैतवाद का स्वीकार किया जाय तो अद्वैतपारमार्थिकत्व प्रतिपादक 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्राति (पश्यति)' (बृह. उपनिषद्- २।४।१४) इस वचन की गति क्या होगी? यह आशङ्का करने पर द्वैतवाद में मिथ्यात्व की प्रतीति होने से उसे भ्रम (भ्रान्ति) ही समझा जायगा।

उत्तर—तदिति। तदौपचारिकम् अर्थात् द्वैत की जो प्रतीति होती है, उसमें कारण द्वैत की सत्यता ही तो है। अतः द्वैतप्रतीति को भ्रम कहना औपचारिक है। जैसे स्वाप्निक प्रपञ्च इन्द्रजाल (जादू) मृगतोय (मृगजल), आदि, कुछ समय तक दिखाई देता है, पश्चात् विलीन (नष्ट) हो जाता है, भोग्यताम तिवर्तते = भोग्य नहीं रहता। उसी तरह यह शरीरेन्द्रियविषयरूप प्रपञ्च भी कुछ काल तक आत्मा का उपभोग्य बनकर पश्चात् उसका विनाश हो जाता है अर्थात् अनुपभोग्य हो जाता है—इस प्रकार सादृश्य होने से उपचार किया जाता है, अतः द्वैतमति भ्रान्ति (भ्रम) शब्द से कहा जाता है। उपचार (व्यवहार) में हेतु सादृश्य ही है। उपचार से भ्रम का प्रतिपादन करने का प्रयोजन यह

है—पुरुषाणां विषयभोगेषु आस्थानिवर्तनेन मुक्तौ अभिरुचिं जनयितुम्। अर्थात् मानवमात्र को मिथ्याभूत प्रपञ्च में प्रेम करना आसक्ति रखना उचित नहीं है।

इसी प्रकार अद्वैतवाद के पूर्वाचार्यों ने प्रपञ्च का जो मिथ्यात्व बताया है, वह भी प्रपञ्च के त्यागने की इच्छा मुमुक्षुओं के मन में उपपन्न हो, इस अभिप्राय से ही है। अतः प्रपञ्च का मिथ्यात्व वास्तविक नहीं है।

यदपि—यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् इति मुक्तावाऽऽत्मनोऽत्मनोऽद्वितीयत्ववचनं; तदपि न प्रपञ्चस्वरूपनिषेधार्थं, किन्तु सत एव प्रपञ्चस्याऽऽत्मसम्बन्धनिषेधार्थम्, अस्येतिवचनात्, न ह्यत्रैतावदुच्यते—यत्र सर्वमात्मैवाऽभूत् इति। किं तर्हि? यत्र त्वस्य सर्वमात्मैव इति।

उक्त रीति से श्रुति के पूर्वार्ध की गति तो बता दी, किन्तु उत्तरार्ध की गति क्या होगी? उसमें तो स्पष्टतया ही अद्वैत को बताया गया है? ऐसी आशङ्का करने पर कहते हैं—**तदपि इति**। मुक्ति (मोक्ष) की अवस्था में **यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्** आत्मा के अद्वितीयत्व को बताने वाला जो यह वचन है, वह भी प्रपञ्चस्वरूप के निषेधार्थ नहीं है, किन्तु सत एव प्रपञ्चस्य– विद्यमान प्रपञ्च के ही आत्मसम्बन्ध के निषेधार्थ है; क्योंकि उक्त श्रुति में अस्य कहा गया है। न हि अत्र में अत्र का अर्थ है—उक्त श्रुति में। यदि यत्र सर्वमात्मैव अभूत्—इतना ही कहते तो प्रपञ्च का निषेध कहा भी जा सकता था, किन्तु वैसा नहीं कहा गया है, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैव अभूत्– कहा है, उक्त वाक्य षष्ठ्यन्त अस्य पद से घटित (युक्त) है। इस कारण मुक्ति होने पर उसके साथ आत्मा का स्वरूप से ही सम्बन्ध होता है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं। इससे स्पष्ट है कि प्रपञ्च सम्बन्ध-निषेध को ही बताया गया है। प्रपञ्च निषेध को नहीं। तेनाऽस्यायमर्थः– अपने मतानुसार उक्त वाक्य की व्याख्या कर रहे हैं। यत्र = आत्मनः दृश्यत्वेन, दर्शनसाधनत्वेन दर्शतायतनत्वेन वा न किञ्चिदन्यत् सम्बन्धि विद्यते किंत्वात्मैवाऽस्य सर्वं नाऽन्यत् किञ्चित् तदा केन कं पश्येदिति। अर्थात् प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाती है।

तेनाऽस्यायमर्थः—यत्र यस्यामवस्थायां मुक्तावित्यर्थः। अस्य आत्मनो दृश्यत्वेन दर्शनसाधनत्वेन दर्शनायतनत्वेन वा न किञ्चिदन्यत् सम्बन्धि विद्यते, किन्त्वात्मैवाऽस्य सर्वं नाऽन्यत् किञ्चित्, तदा केन कं पश्येदिति। यथा लोके यस्य न किञ्चिदपि बान्धवो वित्तं वाऽस्ति, स एवं वदति—न मे किञ्चिदस्ति, अहमेव सर्वम्; तत्र सम्बन्ध्यन्तरं न किञ्चिदस्तीत्येतावद् विवक्षितम्, एवं मुक्तावात्मैवात्मनः सर्वमिति सम्बन्ध्यन्तराऽभावमात्रं विवक्षितं न प्रपञ्चस्वरूपाऽभावः, तस्मान्न प्रपञ्चविलयो मोक्षः, किन्तु प्रपञ्चसम्बन्धविलयः। त्रेधा हि प्रपञ्चः पुरुषं बध्नाति—भोगायतनं शरीरम्, भोगसाधनानीन्द्रियाणि, भोग्याः शब्दादयो विषयाः। भोग

इति च सुख-दुःखविषयोऽपरोक्षाऽनुभव उच्यते, तदस्य त्रिविधस्याऽपि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः।

पूर्वोक्त प्रपञ्चसम्बन्ध का निषेध करने के कारण अस्य = यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् वचन का अर्थ यह है—मोक्षावस्था में अस्य = इस आत्मा के लिये दृश्यत्वेन = भोग्यत्वेन अर्थात् भोग्य पदार्थ दर्शनसाधनत्वेन = इन्द्रिय दर्शनाऽऽयतनत्वेन = शरीर आदि कोई भी सम्बन्धी पदार्थ नहीं रहता, किन्तु सब कुछ एकमात्र आत्मा ही रहता है। उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रहता। ऐसी यह मुक्ति (मोक्ष) अवस्था होती है। ऐसी अवस्था में कौन किस साधन से किसको देखेगा? जैसे लोकव्यवहार में देखा जाता है कि जिसे कोई भी बन्धु आदि सम्बन्धीजन अथवा धन (स्थावर आदि) भी न हो, वह यही कहता है कि न मे किञ्चिदस्ति, अहमेव सर्वम्, उसी तरह मुक्तावस्था में आत्मैव आत्मनः सर्वम् कहता है। कहने वाले का अभिप्राय यही रहता है कि मेरा अपना सब कुछ केवल आत्मा ही है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मेरा सम्बन्धी अब नहीं है। अर्थात् प्रपञ्चस्वरूपाभाव विवक्षित नहीं है। इससे स्पष्ट है कि मोक्ष पदार्थ प्रपञ्चविलय स्वरूप नहीं है, अपितु प्रपञ्चसम्बन्ध विलयस्वरूप है। यह ग्रन्थकार श्री पार्थसारथिमिश्र का कहना है। तथा केन कं पश्येत्– इस वाक्य में जो तदा पद है, उसका अन्वय यत्र–पद के साथ करना होगा। अर्थात् यत्र = मुक्तौ । इस प्रसंग में दृष्टान्त दे रहे हैं—यथा लोके यस्य न कि किञ्चिदपि .... अहमेव सर्वम्– तत्र = उक्त लौकिक व्यावहारिक वाक्य में, दूसरा सम्बन्धी कोई भी नहीं है—यह विवक्षित है। इसी प्रकार मुक्ति प्राप्त होने पर आत्मैव आत्मनः सर्वम्– स्वयं ही स्वयं के सब कुछ हैं अर्थात् अन्य (दूसरा) सम्बधी का अभाव मात्र विवक्षित है, प्रपञ्चस्वरूपाभाव विवाक्षित नहीं है। तस्मात् = अतः मोक्ष का स्वरूप प्रपञ्च का विलेय हो जाना नहीं है।

ग्रन्थकार अपना मत बता रहे हैं—किन्तु प्रपञ्चसम्बन्धविलयमोक्षः– प्रपञ्च के साथ सम्बन्ध न रहना ही मोक्ष पदार्थ है। **त्रेधा हि प्रपञ्च इति**। यह प्रपञ्च पुरुष को तीन प्रकार से बाँधता है—अर्थात् शरीर से इन्द्रियों से और विषयों से मनुष्य (प्राणिमात्र) को बाँधता है। भोगायतन = शरीर, भोगसाधन = इन्द्रियाँ, भोग्य = शब्दादि विषय = शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विषय कहलाते हैं। भोगायतन पद का एकदेश भोग है, उसे बता रहे हैं—भोग इति च सुख-दुःखविषयः, अपरोक्षाऽनुभवः = प्रत्यक्ष = साक्षात् अनुभव उच्यते। तदस्य त्रिविधस्याऽपि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः अर्थात् तत्तत् शरीर, इन्द्रिय, विषयरूप जो त्रिविध = तीन प्रकार का बन्ध, उसका आत्यन्तिक विलय हो जाना ही मोक्ष पदार्थ है; क्योंकि समस्त प्रपञ्च का विलय होना तो असम्भव ही है, इसलिये त्रिविध बन्ध का आत्यन्तिक विलय होना ही मोक्ष कहा गया है।

किमिदमात्यन्तिकत्वम्? पूर्वोत्पन्नानां शरीरेन्द्रियविषयाणां विनाशः, अनुत्पन्नानां चाऽत्यन्तिकोऽनुत्पादः। कथमत्यन्ताऽनुत्पत्तिः? उत्पादकयो-

धर्माऽधर्मयोर्निश्शेषयोः परिक्षयात्, सोऽयम्प्रपञ्चसम्बन्धो बन्धस्तद्विमोक्षश्च मोक्षः।

किमिदमात्यन्तिकत्वमिति। त्रिविधस्याऽपि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः– इस वाक्य में प्रयुक्त आत्यन्तिक पद का अर्थ क्या है? अर्थात् आत्यान्तिकत्व = अत्यन्तिकता (आत्यन्तिकपना) क्या है? यह पूछने पर उसका उत्तर दे रहे हैं— पूर्वोत्पन्नानां शरीरेन्द्रियविषयाणां विनाशः, अनुत्पन्नानां च आत्यन्तिकोऽनुत्पादः– अनुत्पन्नानाम् = अप्राप्तानां; जो उत्पन्न ही नहीं (प्राप्त ही नहीं हुए) हैं, उनकी कभी भी उत्पत्ति न होना– इसी को आत्यन्तिक अनुत्पाद कहते हैं। इस अत्यन्त अनुत्पाद में कारण (हेतु) क्या है? कथम् अत्यन्ताऽनुत्पत्तिः? यह पूछने पर उत्तर दे रहे हैं— उत्पादकयोर्धर्माऽधर्मयोर्निःशेषयोः परिक्षयात् अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, विषय की प्राप्ति कराने वाले धर्म-अधर्मरूप जो कारण हैं, उनका निश्शेषतया (सम्पूर्ण) परिक्षय = विनाश हो चुका है, अतः शरीर-इन्द्रिय-विषयों की उत्पत्ति का जब कारण ही नहीं है, तब उनकी उत्पत्ति होने का सम्भव ही नहीं है। एवञ्च निष्कर्ष यह है कि प्रपञ्च सम्बन्ध का होना बन्ध है और उससे छुटकारा पाना मोक्ष है। यही ग्रन्थकार श्रीपार्थसारथिमिश्र का मत है।

(आनन्दमोक्षवादः)

नन्वेवमशेषधर्मक्षयान्मुक्तस्य न किञ्चित् सुखं स्यात्, ततश्चाऽपुरुषार्थो मोक्षः स्यात्? नैष दोषः—न हि धर्मजन्यो मुक्तस्याऽऽनन्दः तथा सत्युत्पत्तिमत्वाद् विनाशी स्यात् तत्राऽपुनरावृत्तिश्रुतेर्विरोधः स्यात्। स्वाभाविकस्त्वात्मानन्दः संसारेणाऽभिभूतः सन् निर्मुक्तसंसारस्याऽभिव्यक्तो भोग्यो भवति स्वाभाविकत्वे चाऽऽनन्दस्य आनन्दम्ब्रह्म इत्यादिश्रुतिसहस्रम्प्रमाणम्।

शङ्का—जब सुख ही पुरुषार्थ है और वह धर्मजन्य है अर्थात् धर्म से ही उत्पन्न होता है—यह निश्चित है, तब धर्म का सम्पूर्णतया क्षय (विनाश) हो जाने पर मुक्त पुरुष को सुख की प्राप्ति तो होनी ही नहीं चाहिये तथा मोक्ष में पुरुषार्थता भी नहीं होनी चाहिये अर्थात् मोक्ष को पुरुषार्थ भी नहीं कहना चाहिये।

समाधान—वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार समाधान दे रहे हैं—नैष दोषः। शङ्काकार ने जो दोष प्रदर्शित किये हैं, वे संगत नहीं हो रहे हैं। न हि धर्मजन्यो मुक्तस्य आनन्दः– मुक्त पुरुष को जो आनन्दानुभव होता है, वह धर्मजन्य नहीं है; क्योंकि मुक्त पुरुष के द्वारा अनुभूयमान आनन्द को धर्मजन्य मानने पर उसे उत्पत्तिमान् कहना होगा। जो भी कोई पदार्थ उत्पत्तिमान् (उत्पन्न) होता है, उसका विनाश होना निश्चित रहता है। इस नियम के अनुसार अपुनरावृत्ति श्रुति के साथ विरोध होने लगेगा। तत्र अपुनरावृत्तिश्रुतेर्विरोधः

स्यात्– मोक्षसुख को विनाशी मानने पर मोक्ष ही नष्ट हो जायेगा, तब मुक्त पुरुष को पुनः संसार बन्धन प्राप्त होगा। तथा च न स पुनरावर्तते– इस श्रुति के साथ विरोध होगा। अतः मुक्त पुरुष के द्वारा अनुभूयमान सुख को धर्मजन्य कहना अनुचित है, वह आत्मसुख तो स्वाभाविक है, तथापि संसार सम्बन्ध से वह अभिभूत रहता है और मोक्ष होने पर संसारसम्बन्ध की निवृत्ति होने पर उसी का आविर्भाव होता है, अर्थात् भोग्य होता है। आनन्द की स्वाभाविकता में आनन्दम्ब्रह्म आदि सहस्रशः श्रुतिवाक्यों को प्रमाण के रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है। ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति वचन से मुक्त की ब्रह्मरूपता और ब्रह्मरूप की अनन्दरूपता आनन्दं ब्रह्म– इस वचन से अवगत होती है।

ननु सुखाऽभावेऽपि श्रुतिरस्ति अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः इति। सत्यम्—विषयसुखाऽभिप्रायं त्वेवंजातीयकम्, अन्यथाऽऽनन्दश्रुतिविरोधात्। अथ सुखाऽभाववचनबलेनाऽऽनन्दवचनमेव दुःखाऽभावाऽभिप्रायं किमिति न व्याख्यायते?

सुखाऽभाववचनानामत्यल्पत्वात् तेषामेवाऽन्यथाकरणं युक्तं, न भूयसामानन्दवचनानाम्। किं चाऽऽनन्दशब्दस्य दुःखाऽभावपरत्वेऽत्यन्तस्वार्थहानिः स्यात्, सुखशब्दस्य तु सामान्यवचनस्य विशेषव्याख्यानेऽपि नातीव स्वार्थहानिरिति तदेव युक्तम्।

मोक्ष (मुक्ति) होने पर सुख प्राप्त का होना जो बताया गया है, उस पर शङ्का कर रहे हैं—**ननु सुखाऽभावेऽपीति**। अर्थात् मोक्ष प्राप्ति होने पर सुख– आनन्द आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है, उन प्रयोगों से दुःखाऽभाव को ही बताया जाता है; क्योंकि अशरीरम् इत्यादि श्रुतिवाक्य से सुख और दुःख दोनों का ही अभाव बोधित किया गया है। प्रियाऽप्रिये = सुख, दुःख दोनों का स्पर्श तक नहीं होता है। श्रुतिवचन का स्वीकार करते हुए उसका परिहार कर रहे हैं—**सत्यम् इति**। मोक्ष होने पर प्रियं न स्पृशति का अर्थ है विषयजन्यं सुखम् न स्पृशति। तथा च– सुखाऽभाव का प्रतिपादक वचन विषयसुखाऽभावपरक समझना चाहिये; मोक्ष में स्वरूपसुख के विद्यमान रहने पर भी बन्धरूप जो विषयसुख है, उसका अभाव रहता है। अन्यथा आनन्दश्रुति के साथ विरोध होगा।

प्रश्न—भगवती श्रुति ने तो मुक्त पुरुष के लिये स्पष्टतया ही सुख का अभाव बताया है; अतः आनन्दवचन को ही दुःखाऽपरक क्यों न मान लिया जाय?– अथ सुखाभाववचनबलेन आनन्दवचनमेव दुःखाऽभावाऽभिप्रायं किमिति न व्याख्यायते?

उत्तर—सुखाभाववचनानामत्यल्पत्वादिति। सुखाऽभाव के प्रतिपादक वाक्य अत्यधिक अल्प (स्वल्प) होने के कारण उन्हीं का अन्यथाकरण करना उचित है, अत्यधिक मात्रा में विद्यमान आनन्द वाक्यों (वचनों) का अन्यथाकरण करना, अन्यथाकरण अर्थात् विषयसुखाऽभापरक वर्णन करना उचित नहीं है।

एक अन्य परिहार और भी है—**किंच आनन्तशब्दस्येति**। अर्थात् भावपदार्थ-बोधक आनन्द शब्द का अर्थ दु:खाऽभाव करने पर सर्वथा वाच्यार्थ का परित्याग करना होगा, किन्तु ऐसा करना उचित नहीं है, सुख शब्द समान रूप से नित्यसुख और विषयसुख में प्रयुक्त होता है। अत: सुख शब्द का विशेष व्याख्यान अर्थात् विषय सुखपरक स्वीकार करने पर भी सर्वथा वाक्यार्थपरित्याग करने का प्रसंग नहीं आवेगा। अर्थात् विषयसुख का अभाव रहने पर भी स्वरूपसुख प्राप्ति का सम्भव तो रहेगा ही, उस कारण सुखाऽभाव शब्द से विषयसुखाऽभाव को ही मोक्ष (मुक्ति) की अवस्था में कहा गया है।

ननु विद्यमानोऽपि आनन्दोऽननुभूयमानोऽकिञ्चित्कर एव, न च मुक्तस्य सर्वकरणहीनस्याऽनन्दानुभव: सम्भवति। स्वप्रकाशोऽयमानन्द इति चेत्? न, संसाराऽवस्थायामप्रकाशात्। ननु तत्राऽप्यानन्दस्वभाव: पुरुष: प्रकाशत एव आत्मनि प्रेमोत्पत्ते:, न ह्यसुखे प्रेमोत्पत्ति: सम्भवति, नाऽप्यविज्ञाते सुखे। किमिदानीमस्माभिरात्मा सुखरूपोऽनुभूयते? सत्यमिति ब्रुवाणस्याऽतिसाहसिकस्य नोत्तरं वाच्यम्। यदि संसारिणो-ऽपि परमानन्दमनुभवेयुस्ततो मुक्तस्य न कश्चिदतिशय इति तदेवाऽ-पुरुषार्थत्वं मोक्षस्याऽऽपद्येत, अतो बलादसुखरूपस्याऽप्याऽऽत्मन: प्रेमवियत्वंदृष्टत्वादङ्गीकर्तव्यम्।

प्रश्न—आनन्द के अनुभूयमान होने पर ही उसमें पुरुषार्थत्व की सम्भावना की जाती है, केवल स्वरूपत: नहीं। तब मुक्त पुरुष सर्वेन्द्रिय रहित रहने से उसमें अनुभव कर्तृत्व की सम्भावना कैसे जा सकती है?

उत्तर—यह आनन्द तो स्वप्रकाश है, उसका अनुभव करने के लिये करण = किसी करण = इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं है—आशङ्का गर्भित उत्तर सिद्धान्ती (वेदान्ती) ने दिया।

तब पूर्वपक्षी मीमांसक कहता है—वेदान्ती के द्वारा दिया गया उत्तर ठीक नहीं है; क्योंकि संसारावस्थायामप्रकाशात्। पूर्वपक्षी मीमांसक का अभिप्राय यह है कि यदि स्वरूपानन्द– स्वप्रकाश होता, तो वह संसारावस्था में भी प्रकाशित रहता, किन्तु नहीं प्रकाशित रहता, अत: उसे स्वप्रकाश नहीं कहा जा सकता। इस पर वेदान्ती (सिद्धान्ती) अपने पक्ष को उपस्थित कर रहा है—ननु तत्राऽपि आनन्दस्वभाव: पुरुष: प्रकाशत एव आत्मनि प्रेमोत्पत्ते:। संसारावस्था में भी आनन्द स्वभाव वाला पुरुष प्रकाशित होता ही है; क्योंकि आत्मनि प्रेमोत्पत्ते:– आत्मा में प्रेम उत्पन्न होता ही है। जैसे, मान भूवं हि भूयासम्– इत्याकारक प्रेमदर्शन आत्मा में होता दिखाई देता है। अन्यथा न हि असुखे प्रेमोत्पत्ति: सम्भवति, नाऽपि अविज्ञाते सुखे। यदि आत्मविषयक प्रेम न होता, तो न हि असुखे प्रेमोत्पत्ति: सम्भवति, नाऽपि अविज्ञाते सुखे—असुखकारक में प्रेम का होना

कभी सम्भव ही न होता। यदि कोई यह आशङ्का करे कि उसे आनन्दस्वरूपता ज्ञात न होने से प्रेमोत्पत्ति नहीं हुई, तो क्या इस समय हमलोगों के द्वारा आत्मा की सुखस्वरूपता का अनुभव किया जा रहा है? यह सुनकर यदि कोई कहे कि हाँ-हाँ, सचमुच हमें उसकी सुखरूपता का अनुभव हो रहा है। यह उत्तर कोई साहसिक व्यक्ति ही दे सकता है, ऐसा मत सोचिये। यदि संसारी लोगों को भी परमानन्द का अनुभव होता है—यह कहें तो मुक्त पुरुष और संसारी व्यक्ति में कोई विशेषता ही नहीं हो पायेगी, तब तो मोक्ष में अपुरुषर्थता ही माननी पड़ेगी। इसलिये इच्छा न रहने पर भी तथा सुखस्वरूप न रहने पर भी आत्मा को प्रेम का विषय होते देखा जाता है। अत: उसमें प्रेमविषयता माननी ही होगी। निष्कर्ष यह हुआ कि जैसे असुखरूप होने पर भी शरीर आदि में प्रेम होता है, उसी तरह असुखस्वरूप आत्मा में भी प्रेम का होना असम्भव नहीं है।

अथ स्वप्रकाशोऽप्यानन्दः संसारावस्थायामभिभूतो न प्रकाशते। कोऽयम्प्रकाशमानस्याऽभिभवो नाम, प्रकाशनिवारणं ह्यभिभवः। न च प्रकाशमानस्याऽप्रकाशनं सम्भवति, यदि तु नैव प्रकाशते संसारावस्थायाम् तस्यामवस्थायामसतः प्रकाशस्य मुक्तावस्थायामुत्पद्यमानस्य कारणं वक्तव्यम्, विज्ञानमेव च प्रकाशाख्यस्य फलस्य कारणं, तच्चेन्द्रियाधीनम्। न च मुक्तस्येन्द्रियाणि सम्भवन्तीति कथमानन्दाऽनुभवः स्यात्? उच्यते—बाह्येन्द्रियाण्येव मुक्तस्य निवर्तन्ते, मनस्तु तस्यामवस्थायामनुवर्तते, इत्यानन्दश्रुतिबलादेवाऽध्यवसीयते। एवं ज्ञानं च नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते इति श्रुतेः, विज्ञानघनश्रुतेश्च, तस्मान्मुत्त्यवस्थायां मानसप्रत्यक्षेण परमानन्दमनुभवन्नात्माऽवतिष्ठते। तदुक्तम्—

जिनं यत्त्वात्मचैतन्यमानन्दश्चेष्यते च यः ।
यच्च नित्यविभुत्वादि तैरात्मा नैव मुच्यते ।। इति।

अथ स्वप्रकाश इति। आनन्द स्वप्रकाश रहने पर भी संसारावस्था में प्रकृति के सम्बन्ध से अभिभूत होने के कारण वह प्रकाशित नहीं हो पाता, तथापि उसके कारण (प्रकाशाऽभाव के कारण) उसका अभाव (वह नहीं है) है, यह कहना सम्भव नहीं है। अन्यथा गृह (घर) के भीतर रखा हुआ भी घट प्रकट न होने के कारण उसे भी नहीं है—कहना होगा।

इस पर पूर्वपक्षी पूछता है—कोऽयं प्रकाशमानस्य अभिभवो नाम? अर्थात् प्रकाशमान पदार्थ (वस्तु) का किस प्रकार यह अभिभव है? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं ही दे रहे हैं—प्रकाशनिवारणं हि अभिभव:– प्रकाश निवारण ही अभिभव है। जो प्रकाश का निवारण है, वही अप्रकाशमानत्व है।

प्रश्न—न च प्रकाशमानस्य अप्रकाशनत्वनं सम्भवति । जो स्वयं प्रकाशमान है, उसका अप्रकाशमानत्व होना तो परस्पर विरुद्ध है। संसारावस्था में स्वरूपानन्द का प्रकाशमानत्व मानने पर विरोधसंज्ञक दोष का उद्भावन करके अप्रकाशमानत्व पक्ष में भी दोष दे रहे हैं—**यदि तु नैव प्रकाशतें इति**। यदि संसारावस्था में प्रकाशित नहीं होता है, तो उस संसारावस्था में अविद्यमान (असत्) प्रकाश का मुक्तावस्था में उत्पन्न होने वाले (उत्पद्यमान) पदार्थ की उत्पत्ति का कारण बताना होगा। निष्कर्ष यह है कि मुक्तावस्था में स्वरूपानन्द प्रकाश की उत्पत्ति ही होती रहेगी, किन्तु उत्पत्ति तो कारण के अधीन हुआ करती है। मुक्तावस्था में उत्पादक कारण का होना सम्भव नहीं है; क्योंकि मुक्तावस्था में केवल एक आत्मस्वरूप मात्र का ही स्वीकार किया गया है।

किञ्च—स्वरूपानन्द प्रकाश का अनुभव होना ही फल है, वह भी मुक्त के लिये प्राप्त होना असम्भव है; क्योंकि अनुभव कराने में हेतुभूत जो इन्द्रियाँ हैं, उनका भी अभाव रहता है—उस अवस्था में तो केवल एकमात्र विज्ञान ही शेष रहता है। आनन्द-विषयक अनुभवलक्षण प्रकाशरूप फल प्रकाशविषयक जो विज्ञानात्मक कारण है, उसका कारण इन्द्रियवर्ग है, किन्तु मुक्त पुरुष को तो इन्द्रिय है ही नहीं, तब इन्द्रियों का अभाव रहने से विज्ञान भी नहीं हो सकता; अतः आनन्दविषयक विज्ञान का अभाव रहने से आनन्द का अनुभव होना असम्भव है।

उक्त कथन पर वेदान्ती का कहना है कि बाह्येन्द्रियाण्येव मुक्तस्य निवर्तन्ते, मनस्तु तस्यामवस्थामनुवर्तते, इत्यानन्दश्रुतिबलादेवाऽध्यवसीयते अर्थात् मुक्तावस्था में बाह्येन्द्रियों का अभाव रहने पर भी मनस् संज्ञक (मन) इन्द्रिय की सत्ता (विद्यमानता) रहती ही है, अतः उसी से आनन्द का अनुभव होता है, मुक्तावस्था में मनस् (मन) की सत्ता (विद्यमानता) का निश्चय आनन्दम्ब्रह्म आदि आनन्दश्रुति के बल से ही अर्थवाद के द्वारा हो पाता है।

यदि उस समय मन की विद्यमानता न होती तो आनन्द का अनुभव भी न होता, तब श्रुति भी आनन्द का प्रतिपादन न करती। **एवं ज्ञानं चेति**। उक्त रीति के अनुसार मुक्तावस्था में श्रुति ही ज्ञान का प्रतिपादन भी करती है—एवं ज्ञानं च नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते इति श्रुतेः। अर्थात् विज्ञासा के विज्ञान का लोप नहीं होता है—ऐसा श्रुति कह रही है। तथा विज्ञानघन श्रुति भी बता रही है—विज्ञानघनश्रुतेः = विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय–यह श्रुति है। इस श्रुतिवाक्य से बताया गया है कि आत्मा विज्ञानघन है। मुक्तावस्था में आत्मा स्वरूप का नाश नहीं होता, अतः उस समय ज्ञान भी रहता है। **तस्मादिति**। इस कारण मुक्तावस्था में मानस प्रत्यक्ष से परमान्द का अनुभव करते हुए आत्मा की अवस्थिति रहती है। उक्त कथन में प्रमाण भी उपस्थित कर रहे हैं—

निजं यत्त्वात्मचैतन्यमानन्दश्चेष्यते च यः ।
यच्च नित्यविभुत्वादि तैरात्मा नैव मुच्यते ॥

निजम् = स्वाभाविकम्। मुक्त पुरुष में आनन्द भोक्तृत्व और मनस्सत्त्व—मन की विद्यमानता को निगद के द्वारा भी श्रुति ने प्रदर्शित किया है– स वा एष दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके, स तत्र तथैंति जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा, स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवाऽस्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति और सूत्र भी प्रदर्शित किया है—संकल्पादेव तच्छ्रुतेः, भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्, द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोतः इति वेदान्तसिद्धान्तः।

यत्तु— तस्मात् कर्मक्षयादेव हेत्वभावेन मुच्यते।
न ह्यभावात्मकं मुक्त्वा मोक्षनित्यत्वकारणम् ।।

इति वार्त्तिकं तत्परमतं इत्येवमानन्दमोक्षवादिनो मतम्। अपरे त्वाहुः—अभावात्मकत्ववचनमेव स्वमतमुपपत्त्यभिधानात्, आनन्दवचनं तूपन्यासमात्रत्वात् परमतम्। न हि मुक्तस्याऽऽनन्दाऽनुभवः सम्भवति करणाऽभावात्। मनः स्यादिति चेत्? न, अमनस्कत्वश्रुतेः—अमनोऽवाक् इति।

प्रश्न—श्लोकवार्तिक में मोक्ष में अभावकरणकत्व की आशङ्का उठाकर कहा है—यत्तु तस्मात् कर्मक्षयादेव हेत्वभावेन मुच्यते। न ह्यभावात्मकं मुक्त्वा मोक्ष नित्यत्वकारणम्। इस वार्त्तिक के द्वारा दूसरे के मत को बताया है। इस प्रकार से आनन्दमोक्षवादियों के मत का प्रदर्शन किया गया है।

उक्त वार्तिक के अभिप्राय की व्याख्या करने वाले अन्य विद्वानों के मत को उपस्थित करते हैं—**अपरे त्विति**। वार्तिक की व्याख्या जो अन्य विद्वानों ने की है—अभावात्मकत्ववचनम् = तस्मात् कर्मक्षयादेव इति। यह वचन ही स्वमत = श्लोकवार्तिककार श्री कुमारिलभट्टपाद का मत है; क्योंकि उपपत्त्यभिधानात् अर्थात् अभावात्मकत्व में ही उपपत्ति = युक्ति का प्रतिपादन किया है। तथाहि—

न ह्यभावात्मकं मुक्त्वा मोक्षनित्यत्वकारणम् ।
न च क्रियायाः कस्याश्चित् अभावः फलमिष्यते ।।
तत्र ज्ञाताऽऽत्मतत्त्वानां भोगात् पूर्वक्रियाक्षये ।
उत्तरप्रचयाऽसत्त्वाद् देहो नोत्पद्यते पुनः ।।
कर्मजन्योपभोगार्थं शरीरं न प्रवर्तते ।
तदभावे न कश्चिद्धि हेतुस्तत्राऽवतिष्ठते ।।
मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्य-निषिद्धयोः ।
नित्य-नैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया ।।

आनन्दवचनं यथा—

सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्षः प्रकल्प्यते ।
स्वर्ग एव भवेदेष पर्यायेण क्षयी च सः ।।

इस प्रकार केवल उल्लेखमात्र किया है, उसमें कोई उपपत्ति (युक्ति-तर्क) नहीं दी है। प्रत्युत अनुपपत्ति ही प्रदर्शित की है, अतः यह वार्तिककार का मत नहीं है।

(मोक्षावस्थायां ज्ञानाभावोपपादनम्)

यत्तु—न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते इति तज्ज्ञानशक्त्यभिप्रायम्, अन्यथा हि सुषुप्तावपि ज्ञानाऽनुवृत्तिरुक्ता स्यात्, सा च संविद्विरुद्धेत्युक्तम्। विस्पष्टं चाऽस्य शक्त्यभिप्रायत्वम्। एवं हि श्रूयते—यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति, न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात् न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्।

मोक्ष होने पर सुखानुभव होने का खण्डन कर रहे हैं—**यत्तु नहि विज्ञातुरिति**।

शङ्का—न हि विज्ञातुर्विज्ञातेः यह श्रुति तो मोक्षावस्था में भी ज्ञान की अवस्थिति को बता रहा है और ज्ञान मन के विना कैसे हो सकेगा?

उत्तर—उक्त वचन ज्ञानशक्ति के अभिप्राय से कहा है, आत्मा की ज्ञान शक्ति का लोप, नहीं होता, किन्तु मोक्षावस्था में तो होता ही नहीं। अतः मोक्षावस्था में मनःकल्पना करने का प्रसंग ही नहीं है। अन्यथा हि सुषुप्तावपि ज्ञानानुवृत्तिरुक्ता स्यात्, सा च संविद्विरुद्धेत्युक्तम्। यदि मोक्ष में ज्ञान की निवृत्ति न हो, तो सुषुप्ति में भी उसकी निवृत्ति नहीं होगी; क्योंकि दोनों अवस्था में समान (तुल्य) हैं; किन्तु यह होना सम्भव नहीं है। सा च संविद्विरुद्धा इत्युक्तम्। अथवा यदि मोक्षावस्था में ज्ञान रहे, तो सुषुप्ति अवस्था में भी उसे होना चाहिये। सा = सुषुप्ति में ज्ञानाऽनुवृत्ति, संविद्विरुद्धा = ज्ञानाऽभावविषयक ज्ञानविरुद्ध है। अन्यथा सुषुप्ति की तो स्वरूपहानि ही हो जायगी। इस तथ्य को हमने पीछे कहा है- संविद् विरोधात् न हि सुप्तानामात्मा सुखं वा प्रकाशते इति ।

शङ्का— न हि विज्ञातुर्विज्ञातेः- में विज्ञाति शब्द विज्ञानशक्ति के अभिप्राय से ही प्रयुक्त किया गया है, केवल विज्ञान के अभिप्राय से नहीं यह कहने में प्रमाण क्या है?

समाधान—विस्पष्टं चाऽस्य शक्त्यभिप्रायत्वम्। अस्य अर्थात् उक्तवचनस्य। उक्त कथन में प्रमाण यह है—यद् द्वैतं न पश्यति, पश्यन् वैतन्न पश्यति, न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात् न तु तद् द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्। 'यद् द्वैतं न पश्यन् वैतत्' में एतत् = मुक्तो न पश्यति, पश्यन् = ज्ञानशक्ति सम्पन्न होने पर भी नहीं देखता अर्थात् ज्ञानशक्तिानपि न पश्यतीत्यर्थः। यदि मोक्षावस्था में ज्ञान होता तो भगवती श्रुति 'न पश्यति' इस प्रकार ज्ञान का निषेध न करती; अतः ज्ञान का निषेध करने से ही यह जाना जाता है कि 'न हि विज्ञातुर्विज्ञाते' में विज्ञाति शब्द भी ज्ञानशक्ति के अभिप्राय से ही प्रयुक्त किया गया है। शक्ति लोप के न होने में कारण अविनाशित्व ही है। ज्ञानाऽभाव का प्रतिपादक अन्य वचन = वचनान्तर भी है- न तु तद् द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्- इस वाक्य से अत्यन्त स्पष्टतया

ज्ञानाऽभाव को बता दिया है। निष्कर्ष यह है कि तद् द्वितीयम् = मुक्तात्मभिन्न ज्ञानकरण आदि मोक्ष की अवस्था में नहीं होते हैं।

एवमन्यान्यपि वाक्यानि—जिघ्रन् वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यते, न श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यते, न स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, न ज्ञातुर्ज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते इति, तत्र तत्र दृष्टिघ्रातिश्रुतिस्पृष्टिशब्दाश्चक्षुर्घ्राणश्रोत्रत्वगिन्द्रियजन्यानां रूपगन्धशब्दस्पर्शविषयाणां विज्ञानविशेषाणां वाचकाः नार्थान्तरविषयाणां नाऽपि विज्ञानसामान्यस्य, न चैषां ज्ञानविशेषाणां सुषुप्तौ मुक्तौ वा कथंचिदप्यपरिलोपः सम्भवति, न हि तदानीमिन्द्रियाणि सन्ति, नाऽपि गन्धादयो ज्ञायन्ते तदुभयाऽभावे च न श्रुत्यादि शब्दवाच्यज्ञानविशेषाः सम्भवन्ति।

एवमन्यान्यपीति। इसी प्रकार अन्यान्य वाक्यों को भी प्रमाण के रूप में उपस्थित कर रहे हैं— जैसे- जिघ्रन् वै. ..... विद्यते, न श्रोतुः .... विद्यते, न स्प्रष्टुः ..... विद्यते, न ज्ञातुर्ज्ञाते..... विद्यते इति। तत्र- तत्र दृष्टिघ्रातिश्रुतिस्पृष्टिशब्दाश्चक्षुर्घ्राणश्रोत्रेति। उपर्युक्त वचनों में जैसे दृष्टि शब्द रूपविषयक चाक्षुष ज्ञान का ही वाचक होता है। नाऽर्थान्तविषयस्य = न गन्धादिविषयकज्ञानस्य अर्थात् गन्धादिविषयक ज्ञान का तथा ज्ञानसामान्य का भी वाचक नहीं होता है। यदि दृष्टि शब्द ज्ञानसामान्य का वाचक होता तो मुक्ति की अवस्था में भी वह वाचक होता, तब न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते- वचन से उक्त दृष्टिलोपाऽभाव उपपन्न हो भी जाता, किन्तु वह उपपन्न नहीं होता है; क्योंकि दृष्टि शब्द रूपविषयक चाक्षुष ज्ञानमात्र का वाचक है और चाक्षुष ज्ञान चक्षु के विना सम्भव नहीं है, मुक्त पुरुषों को चक्षुरिन्द्रिय होते ही नहीं हैं।

न हि द्रष्टुर्दृष्टेः- इत्यादि वाक्य श्रुतिवाक्य होने से उसे अनुपपन्न नहीं कह सकते। उस कारण दृष्टि आदि शब्दों का तात्पर्य दर्शनादि शक्ति में ही समझना होगा। दर्शनादि शक्ति का होना मुक्त पुरुष में भी सम्भव है, उस कारण दर्शनादि शक्तियों को ही अपरिलोप का प्रतिपादन श्रुति ने किया है। उक्त कथन का ही उपपादन 'न चैषां ज्ञानविशेषाणाम्' से कर रहे हैं। इन ज्ञानविशेषों का अर्थात् रूपादिविषयक चाक्षुषादि ज्ञानों का सुषुप्ति में अथवा मुक्ति में कथंचिदपि (किसी भी प्रकार से) परिलोपाऽभाव होना सम्भव नहीं है। मुक्ति की अवस्था में ज्ञानविशेष का अभाव होने में हेतु (कारण) बता रहे हैं— न हि तदानीमिन्द्रियाणि सन्ति, नाऽपि गन्धादयो ज्ञायन्ते, तदुभयाऽभावे च न श्रुत्यादिशब्दवाच्य- ज्ञानविशेषः सम्भवन्ति। तदानीम् अर्थात् सुषुप्ति और मुक्ति में इन्द्रियवर्ग नहीं होता है। तथा नाऽपि गन्धादयो ज्ञायन्ते = यदि मुक्तपुरुष को गन्धादि = गन्धादि ज्ञानविषयता किसी तरह प्राप्त हो जाय तो भी अर्थात् गन्धादिविषयक ज्ञानाविशेष का उक्त अपरिलोप होना उपपन्न हो भी सकता है, किन्तु ऐसा होता नहीं है। तदुभयाऽभावे- इन्द्रिय और गन्धादि ज्ञान के अभाव की प्राप्ति होने पर श्रुत्यादि शब्दवाच्य ज्ञानविशेष

का होना सम्भव नहीं है, और न ही ज्ञानसामान्य का होना सम्भव है; क्योंकि निर्विशेषं न सामान्यम्– यह नियम (न्याय) है। अतः दृष्टि श्रुति आदि शब्दों का अभिप्राय तत्तज्ज्ञान शक्ति में ही समझना चाहिये।

ननु यथा प्रकाश्याऽसन्निधावपि सवितुः प्रकाशकत्वं नित्यम्, एवमिन्द्रियाऽभावेऽपि दृष्टिरिति चेत्? स्यादेवं यदि ज्ञानमात्रं दृष्ट्यादिशब्दानां वाच्यं स्यात्, न तु तथाऽस्ति, लोकप्रसिद्ध्यभावात्। यथा लोकं च शब्दार्थावधारणं, न यथेच्छम्। न हि लोके गन्धादन्यत् घ्राणादन्येनाऽनुमानादिना जानाति तदा न जिघ्रातीत्युच्यते, तस्माद् घ्राणादीन्द्रियजन्यगन्धादिविषयज्ञानविशेषवाचिनो घ्रात्यादिशब्दाः, न च तेषां सुषुप्तौ मुक्तौ वा सम्भवत्यपरिलोपः, तस्माद् घ्राणादिशक्तावेव प्ररोचनार्थं घ्राणाद्युपचारः। यथा तेन ह्यन्नं क्रियते इति शक्तिवर्तमानत्वेन प्ररोचनार्थं क्रियते इति वर्तमानोपचारः। तस्मात् न ज्ञातुर्ज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते इत्येतदपि शक्त्यभिप्रायमेव।

'तदुभयाऽभावे' जो कहा गया है, उसी पर पुनः प्रश्न कर रहे हैं—**ननु यथा प्रकाश्याऽसन्निधावपीति**। किसी प्रकाश्य पदार्थ के विद्यमान रहने पर ही सूर्य का प्रकाश होता है—यह नहीं कह सकते, किन्तु सर्वदा ही उसका प्रकाश होता है, उसी तरह मुक्त पुरुष का भी ज्ञान ज्ञानसाधन के अभाव में भी क्यों नहीं हो सकता? अर्थात् हो सकता है।

उत्तर—स्यादेवमिति। दृष्टि आदि शब्दों का यदि ज्ञान मात्र ही अर्थ होता, तो वह रूपविषयक न होने से रूप के विना भी उसका सत्त्व कहा जाता, उसी तरह गन्धादिविषयकत्व न होने से गन्धादि के विना भी उसका सत्त्व कहा गया होता, किन्तु ऐसी स्थिति है नहीं; क्योंकि दृष्टि आदि शब्द चाक्षुषादि ज्ञानविशेष के वाचक हैं। चाक्षुषादि ज्ञानविशेष के वाचक होने में कारण यह है कि 'य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः' इस लोकवेदाधिकरण न्याय से अर्थात् लोकव्यवहार में दृष्टि आदि शब्दों का चाक्षुषादि ज्ञानविशेष में ही प्रयोग होता है, उसी तरह वेद में भी होना चाहिये; न यथेच्छम्– मनमाना प्रयोग नहीं। लोग भी घ्राणं जिघ्रति कहते हैं। गन्ध से भिन्न वस्तु के लिये घ्राणं जिघ्राति का प्रयोग नहीं करते। घ्राण से भिन्न अनुमान आदि से जब गन्ध को जानते हैं, तब जिघ्राति का प्रयोग नहीं करते। अतः घ्राण आदि इन्द्रियजन्य गन्धादिविषयभूत ज्ञानविशेष के वाचक घ्राति आदि शब्दों को कहा जाता है। सुषुप्ति अथवा मुक्ति की अवस्था में उन शब्दों का लोपाऽभाव नहीं होता। अतः घ्रणादि शक्ति में ही घ्राणादि का उपचार प्ररोचनार्थ किया जाता है। जैसे 'तेन ह्यन्नं क्रियते' में वर्तमानकाल का प्रयोग शक्ति वर्तमान है–यह सूचित करने के लिये प्ररोचनार्थ किया गया है। अतः 'न ज्ञातुर्ज्ञातेर्विपरि-

लोपो विद्यते'– यह कथन भी शक्ति के अभिप्राय से ही किया है।

यत्त्वादित्यप्रकाशकत्ववदिति, किं तस्य प्रकाशकत्वमभिप्रेतम् यदि तिमिरोत्सारणम्? तन्नित्यमस्त्येव, सर्वदा ह्यसावव्यवहितेषु देशेषु तिमिर-मुत्सादयत्येव, नन्वेवमात्मा सर्वदा शृणोति, सुषुप्तावश्रवणात्। अथ ज्ञानजनकत्वमादित्यस्य प्रकाशकत्वम्?। न तन्नित्यम्, तत्सामर्थ्यमेव तत्राऽपि नित्यम्, तस्माज्ज्ञान-शक्त्यभिप्रायमिदं नित्यत्वाऽभिधानम्।

सूर्य के प्रकाशकत्व को दृष्टान्त के रूप में जो बताया गया है, उसका विवेचन 'यत्त्वादित्य' से किया जा रहा है।

प्रश्न—किं तस्य प्रकाशकत्वमिति। तस्य = आदित्यस्य। क्या आदित्य का प्रकाशकत्व तिमिरोत्सारकत्व अथवा ज्ञानजनकत्व है? यदि प्रथम पक्ष का स्वीकार करते हैं, तो वह नित्य = सर्वदा ही रहता है; अर्थात् नित्यत्व का स्वीकार कर लिया– कहना होगा; क्योंकि आदित्य का प्रकाश सर्वदैव अव्यवहित देशों = स्थानों में तिमिरोत्सारण करता ही है, किन्तु आत्मा सर्वदैव सुनता है– यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में वह नहीं सुनता है। अतः तिमिरोत्सारकत्व के समान ज्ञानजनकत्व को नित्य नहीं कहा जा सकता; अर्थात् आत्मा में सर्वदैव ज्ञान का होना सम्भव नहीं है, जिससे मुक्ति की अवस्था में भी उसे कहा जाय। अत एव ग्रन्थकार ने स्वयं ही कहा है कि न त्वेवमात्मा सर्वदा शृणोति, सुषुप्तौ अश्रवणात् ।

अब द्वितीय पक्ष को लेकर विचार कर रहे हैं—अथ ज्ञानजनकत्वम् आदित्यस्य प्रकाश-कत्वम्। अर्थात् आदित्यनिष्ठं ज्ञानजनकत्वम्– की भी नित्यता नहीं है। अतः इस पक्ष में भी आदित्य के प्रकाशकत्व को नित्य नहीं कह सकते; किन्तु उसके ज्ञानजनकत्वरूप सामर्थ्य को ही कहा जा सकता है। आदित्य के प्रकाशकत्व को ही ज्ञानजनकत्व कह सकते हैं, किन्तु वह भी नित्य नहीं है। अतः उसके सामर्थ्य को ही नित्य माना जाता है। एवञ्च न ज्ञातुर्ज्ञातेः– इत्याकारक जो ज्ञाननित्यत्व का प्रतिपादन किया गया है, उसे ज्ञानशक्ति के अभिप्राय से ही समझना चाहिये।

एषा ह्यत्र वचनव्यक्तिः—यदेतत् सुषुप्तौ मुक्तौ वाऽऽत्मा न पश्यति पश्यन्नेव = द्रष्टुं शक्नुवन्नेव न पश्यति। नहि दृष्टुरात्मनो या दर्शन-शक्तिस्तस्याः कदाचिदपि लोपो विद्यते, सा ह्यविनाशिनीति, न द्रष्टु-र्द्वितीयमन्यद् दर्शनसाधनं चक्षुर्व्यापाररूपं दृश्यं वा तस्यामवस्थायामस्ति, यतो दर्शनं स्यात्, यद्यपि दृश्यं रूपादिकं स्वरूपतस्तस्यामवस्थायामस्ति, तथापि दृश्यता = दर्शनयोग्यता तस्यामवस्थायां नास्तीति तेन रूपेणाऽ-भावाद् दृश्यं नास्तीत्युच्यते, तस्मात् साधनान्तरवैकल्यात् तस्यामवस्थायां न पश्यति न शक्तिवैकल्यात्, शक्तिस्तु न कदाचिदपि लुप्यत इति।

एवमन्येषामपि वाक्यानां योजना। तथा ज्ञानशक्त्यपरिलोप एव ज्ञानाऽपरिलोप उच्यते, ज्ञातिशब्दश्चात्रानुमानादिज्ञानपरः चक्षुरादिज्ञानानां स्वशब्दैरुक्तत्वात्।

'अद्वैतन्न पश्यति' इस श्रुति की व्याख्या अपने मत के अनुसार कर रहे हैं—**एषा हि अत्र वचनव्यक्तिः**। यहाँ वाक्यार्थ इस प्रकार है—सुषुप्ति अथवा मुक्ति की अवस्था में आत्मा न पश्यति, पश्यन्नेव = द्रष्टुं शक्नुवन्नेव न पश्यति। द्रष्टा जो आत्मा है, उसकी दर्शन शक्ति का कदाचिदपि लोप नहीं होता है, वह दर्शनशक्ति विनाशिनी (नष्ट होने वाली) नहीं है। ननु तद् द्वितीयमस्ति—इस श्रुति का अर्थ इस प्रकार है— द्रष्टा जो आत्मा है, उसके अतिरिक्त दर्शनसाधनरूप चक्षुर्व्यापार अथवा उस मुक्तावस्था में कोई रूपादि दृश्य भी नहीं है, जिससे दर्शन हो सके। यद्यपि रूपादि दृश्य स्वरूपतः उस अवस्था में रहता है, तथापि दृश्यता (दर्शनयोग्यता) उस अवस्था में नहीं है, उस कारण उस रूप से न रहने के कारण यह कहा जाता है कि दृश्यं नास्ति। एवञ्च साधनान्तर न होने के कारण उस अवस्था में (मुक्तावस्था में) न पश्यति कहा जाता है। न पश्यति कहने में शक्तिवैकल्य कारण नहीं है। शक्तिस्तु न कदाचिदपि लुप्यते– शक्ति का विनाश (लोप) तो कभी भी नहीं होता। तथा च—ज्ञानशक्ति का लोप न होना ही ज्ञानाऽपरिलोप शब्द से कहा जाता है। यहाँ पर ज्ञाति-शब्द को अनुमानादि ज्ञानपरक समझना चाहिये; क्योंकि चक्षुरादि ज्ञानों को स्व शब्दों से अर्थात् अपने वाचकशब्दों से ही कहा जाता है; अर्थात् दृष्टि आदि शब्दों से चाक्षुषज्ञान को कहा जाता है। पारिशेष्यात् न ज्ञातुर्ज्ञातेः में ज्ञाति शब्द को अनुमानादि ज्ञानपरक ही समझना चाहिये। इस उक्त तथ्य को वाजसनेय उपनिषद् के षष्ठाध्याय के तृतीय ब्राह्मण में कहा गया है।

एवम् विज्ञानं ब्रह्म, विज्ञान घन इत्यादीनामपि शक्तिपरत्वं वेदितव्यम्। स्वयमेव श्रुत्या शक्तिपरत्वं व्याख्यातम् विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्यति इति भूतेन्द्रियनाशादात्माऽपि प्रमाणाऽगोचरत्वमापन्नो विनष्ट इव भवतीति। न तस्येतः 'प्रेतस्य मुक्तस्य संज्ञाऽस्तीति। एवं याज्ञवल्क्येनोक्ते मैत्रेयी चोदयतिस्म—अत्रैव भगवान् मा मोहितवान्– विज्ञानघन इति, न चाऽस्ति संज्ञेति, विरुद्धाऽभिधानात् इति। षष्ठाऽध्याये तु विनाशाऽविनाशविरोधश्चोदयिष्यत इति विवेकः। एवञ्चोदितो याज्ञवल्क्यः परिहारमाह—न वा अरे अहं मोहम्, परस्परविरुद्धं ब्रवीमि, अलं वा अरे इदं विज्ञानाय, अत्राऽऽत्मतत्त्वं सर्वास्ववस्थासु विज्ञानाय समर्थमित्यर्थः, तेन विज्ञानघनत्वाभिधानं सामर्थ्याऽभिप्रायमिति व्याख्यातं भवति। सम्भवति च शक्तस्याऽपि ज्ञानाऽभाव

इति नास्ति विरोध इत्यभिप्रायः। अनया श्रुत्या सर्वविज्ञानश्रुतयः शक्त्यभिप्राया व्याख्याताः।

उपर्युक्त न्याय की योजना, अन्यत्र भी कर लेनी चाहिये– इस अभिप्राय से ग्रन्थकार कह रहे हैं— **एवमिति**। विज्ञान ब्रह्म, विज्ञानघनः– इत्यादि वाक्यों को भी शक्तिपरक ही जानता चाहिये। शक्तिपरत्व का अर्थ = विज्ञानशब्द को विज्ञानशक्ति परक समझना चाहिये। विज्ञान क्रिया परक नहीं। विज्ञान को शक्तिपरक मानने में वाजसनेयोपनिषद् के चतुर्थाध्यायीय चतुर्थ ब्राह्मण प्रमाण के रूप में उपलब्ध होता है।

प्रश्न—'तान्येवाऽनुविनश्यति' इस श्रुति ने नित्य आत्मा के विनाश को कैसे बताया?

उत्तर—जैसे धन के नष्ट होने पर नष्टोऽहम् कहा जाता है, जैसे समुद्र में हाथ से कलश के गिर जाने पर नष्टो घटः कहा जाता है, उसी तरह प्रस्तुत में भी इन्द्रियों का विनाश होने पर स्वयं को नष्ट हुआ कहा जाता है, जब वह स्वरूपतः नष्ट नहीं है; क्योंकि आत्मा तो नित्य है, उसका नष्ट होना कभी सम्भव नहीं है। **न तस्येतः प्रेतस्य = मुक्तस्य संज्ञाऽस्तीति**। इस श्रुति का अर्थ मोक्ष की अवस्था में ज्ञान का अभाव स्पष्टतया बताया गया है। संज्ञा = ज्ञान । योगीश्वर याज्ञवल्क्य के उपदेश करने पर मैत्रेयी उनसे प्रश्न करती है—अत्रैव भगवान् मा मोहितवान्– विज्ञानघन इति, न चाऽस्ति संज्ञेति विरुद्धाऽभिधानात् इति। षष्ठाऽध्याये तु विनाशाऽविनाशविरोधश्चोदयिष्यत इति विवेकः। एवञ्चोदितो याज्ञवल्क्यः परिहारमाह—न वा अरे अहं मोहम् = परस्पविरुद्धं ब्रवीमि, अलं वा अरे इदं विज्ञानाय अत्राऽऽत्मतत्त्वं सर्वास्ववस्थासु विज्ञानाय समर्थम् इत्यर्थः, तेन विज्ञानघनत्वाऽभिधानं सामर्थ्याभिप्रायमिति व्याख्यातं भवति, सम्भवति च शक्त-स्याऽपि ज्ञानाऽभाव इति, नास्ति विरोधः इत्यभिप्रायः । अनया श्रुत्या सर्वविज्ञानश्रुतयः शक्त्यभिप्राया व्याख्याताः ।

ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य के कथन का अभिप्राय यह है—मुक्तावस्था में भी आत्मतत्त्व विज्ञानाय अलम् = समर्थ है अर्थात् विज्ञानशक्तिमत् ही है। तेन विज्ञानघनत्वाऽभिधानं आदि कथन से अपना अभिप्राय बताया है। जो ज्ञान कराने में समर्थ है, उसमें ज्ञानाऽभाव की संभावना कैसे की जा सकती है? उसका उत्तर है—सम्भवति च शक्तस्याऽपि ज्ञानाऽभावः; अतः कोई विरोध नहीं है।

अनया श्रुत्येति। अलं वा अरे इदं विज्ञानाय इस श्रुतिवाक्य के द्वारा ज्ञानशक्ति का होना बताया गया है। और न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति– इस श्रुतिवाक्य से ज्ञानक्रिया का निषेध किया गया है। अत एव न द्रष्टुर्दृष्टेः इत्यादि श्रुतियों में दृष्टि आदि शब्दों को दृष्टिशक्ति-परक ही माना गया है।

यदि शक्तिरस्ति ततस्तस्यामवस्थायां ततः केन ज्ञानाऽनुत्पत्तिः? ज्ञान-

साधनानामिन्द्रियाणां ज्ञेयानां च विषयाणामभावात्। तदाह—यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरम्पश्यति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत् केन कम्पश्येत्? इत्यादि, तदेतत् प्रागेव व्याख्यातम्। एवमर्थान्तरज्ञाने साधनाऽभावात् निराकृते सति आत्मानमेव मुक्ताऽवस्थायां जानात्वित्याऽऽशङ्क्याऽऽह—विज्ञातारमरे केन विजानीयात् इति न ह्याऽऽत्माऽपि विना साधनेन ज्ञातुं शक्यते मनसा खल्वसौ संसाराऽवस्थायां ज्ञायते, न च मुक्तस्य मनस्सम्बन्धोऽस्ति। अतः केनाऽऽत्मानं जानातु इति व्यक्त एव मुक्तस्याऽऽत्मज्ञानस्याऽभावो ज्ञानशक्तिमात्रस्याऽवस्थानं श्रुत्या दर्शितम्, तस्मान्निस्सम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्षः।

यदि शक्तिस्तीति। इस वाक्य से ज्ञानाऽनुत्पत्ति की आशङ्का की जा रही है। तस्यामवस्थायां = मुक्तावस्था में केन ज्ञानाऽनुत्पत्तिः- ज्ञानशक्ति के विद्यमान रहने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो रही है, इसमें कारण क्या है?

उत्तर—ज्ञानसाधनानामिन्द्रियाणां ज्ञेयानां च विषयाणामभावात्। अर्थात् मुक्तावस्था में इन्द्रियों का और ज्ञेय पदार्थों (विषयों) का अभाव रहता है। मुक्तावस्था में इन्द्रियों का और विषयों का अभाव रहने में श्रुति को प्रमाण के रूप में उपस्थित कर रहे हैं—यत्र हि द्वैतमिव तदितर इतरं पश्यति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत् केन कम्पश्येत्? इत्यादि अर्थात् यत्र = जब द्वैतज्ञान होता है, तब प्रपंञ्च की स्थिति रहती है, किन्तु जब अद्वैतज्ञान होता है, तब प्रपञ्च निवृत्त हो जाता है।

प्रश्न—मोक्ष की अवस्था में ज्ञेय विषय के अभाव में अर्थात् ज्ञेयविषय के न रहने पर भी क्या स्वरूपज्ञान हो सकेगा?

उत्तर—विज्ञाता जो आत्मा है, उसे किस साधन से जाना जायगा? किसी साधन के विना आत्मा का ज्ञान भी नहीं हो सकता। संसारावस्था में उसे मन के द्वारा जाना जाता है; किन्तु न च मुक्तस्य मनस्सम्बन्धोऽस्ति अर्थात् मुक्त पुरुष का मन के साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं है।

एवञ्च मुक्त पुरुष को आत्मज्ञान होने का कोई साधन ही नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुक्त पुरुष को आत्मज्ञान नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि मुक्त पुरुष को आनन्द भी नहीं होता तथा ज्ञान भी नहीं होता। अत एंव कहा गया है—केन आत्मानं जानातु। श्रुति ने इतना ही बताया है—केवल ज्ञानशक्ति मात्र की स्थिति रहती है। अतः निस्सम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्षः ।

प्राभाकर मीमांसकों ने भी इसी प्रकार कहा है—न च मोक्षस्याऽपुरुषार्थता सांसारिकविविधदुःखोपरमरूपत्वान्मोक्षस्य, दुःखोपरमो हि पुरुषैरर्थ्यते। मोक्षस्तु सांसारिकदुःखोपशमात् पुरुषार्थ इति।

(आत्मनो ज्ञानानन्दस्वरूपत्वस्य खण्डनम्)

ननु नाऽऽत्मनोऽन्यद् विज्ञानमानन्दो वा किन्तु आत्मैव ज्ञानमानन्दश्च विज्ञानम्ब्रह्म, आनन्दम्ब्रह्म इति श्रुतेः, आत्मा च सुषुप्तितुरीययोरपि भवतीति, कथं विज्ञानस्य चाऽऽनन्दस्य चाऽभावः? नैतदेवम्; यद्धि वस्त्वन्तरप्रकाशजननस्वभावं वस्तु यस्मिन् सति किमप्यर्थान्तरं प्रकाशत एव, तल्लोके विज्ञानशब्देनोच्यते, न चाऽऽत्मनि सति किञ्चिदन्यत् प्रकाशत एव, विद्यमानेऽपि तस्मिन् सुषुप्त्यवस्थायामर्थान्तरस्य कस्यचिदप्यदर्शनात्। अतो न ज्ञानमात्मा।

शङ्का—यह जो कहा गया था—ज्ञानसाधनानामिन्द्रियाणां ज्ञेयानां च विषयाणामभावाज्ज्ञानाऽनुत्पत्तिः, तस्मान्निःसम्बोधो निरानन्दश्च मोक्षः, इस पर पुनः शङ्का करते हैं—**ननु नाऽऽत्मन इति**। यदि आत्मा के अतिरिक्त विज्ञान और आनन्द होता तो उसके साधन और विषय के न होने से मोक्ष में ज्ञान और आनन्द का भी अभाव रहता, किन्तु ऐसा तो है नहीं। आत्मा ही विज्ञान और आनन्द है। वह आत्मा मोक्ष में भी रहता है, अतः मोक्षावस्था में ज्ञान और आनन्द के अभाव का होना कैसे सम्भव होगा?

समाधान—**नैतदेवमिति**। लोकव्यवहार में वस्त्वन्तर प्रकाशक को ही ज्ञान शब्द से हमेशा कहा जाता है; किन्तु आत्मा वस्त्वन्तर का प्रकाशक सर्वदा नहीं रहता। जैसे—सुषुप्ति में। सुषुप्ति अवस्था में वह किसी वस्तु का प्रकाशक न होने से उसको (आत्मा को) ज्ञान शब्द का वाच्य नहीं माना जाता, जिससे आत्मा को ज्ञानरूप कहा जा सके। अतः मोक्ष में ज्ञान की स्थिति रहना सम्भव नहीं है। अतः निस्सम्बोधो मोक्षः अर्थात् ज्ञानाऽभाव ही मोक्ष है।

धर्माऽधर्म (कर्माऽकर्म) के अधीन रहने वाला जीव तत्तद् योनियों (तत्तत् शरीरविशेषों) में संसरण करता है, उस धर्माधर्म का एकान्त उच्छेद होने पर भी देहेन्द्रियसम्बन्ध से रहित हुआ सांसारिक समस्त दुःखबन्धनों से रहित हुआ जो मनुष्य है, उसे मुक्त कहा जाता है।

प्रश्न—धर्माऽधर्म का अशेष (संपूर्ण) परिक्षय कैसे होगा? ऐसा सम्पूर्णतया परिक्षय होना सम्भव नहीं है। यदि कोई कहे कि धर्माधर्म का उपभोग करने से ही उनका क्षय (नाश) हो जायगा तो यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि अनादि शरीरसन्ततिसञ्चित कर्मों के अर्थात् धर्माधर्मों को भोगते समय सञ्चीयमान अनन्त कर्माशयों को हटाया नहीं जा सकता।

उत्तर—सांसारिक दुःखों से उद्विग्न (व्याकुल) हुआ मनुष्य उन्हीं दुःखों से सम्बन्धित रहने वाले सुखों से भी गतस्पृह अर्थात् निःस्पृह (इच्छारहित) हो जाता है और मोक्षप्राप्ति के लिये तैयार हो जाता है। इतना ही नहीं, बन्ध के कारणीभूत निषिद्ध प्रत्यवाय

के हेतुभूत और अभ्युदय के साधनभूत कर्मों से निवृत्त हो जाता है और पूर्वोत्पन्न हुए धर्माधर्मों का उपभोग लेकर उनका क्षय हो जाने पर भी शम-दम-ब्रह्मचर्यादि अंगों से उपबृंहित हुए आत्मज्ञान को प्राप्त कर उसके द्वारा न च पुनरावर्तते– के अनुसार अपुनरावृत्ति कि लिये पूर्वोक्त विहित आत्मज्ञान से कर्माशय का नि:शेष विनाश होने पर मुक्ति होती है।

प्रश्न—समस्त उपलब्धियों से रहित होने पर मुक्तात्मा के सन्मात्ररूप से स्थिति होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—अकारणक जो सत् होता है, वह अविनाशी होता है, आकाश (गगन) के समान। ऐसा अकारणक सत् यह आत्मा है, इसलिये वह अविनाशी है।

ननु प्रकाशजननस्वभावोऽपि सहकारिवैकल्यात् न जनयेत्? सत्यं न जनयति, यस्मिँस्तु सहकारिसंनिधाने तत्कृते वाऽन्यस्मिन् आगन्तुके सति नियमेन प्रकाशत एवाऽर्थान्तरं तज्ज्ञानशब्दवाच्यम्। तथा गीतिश्रवणप्रियाऽऽलिङ्गनचन्द्रदर्शनमधुराऽऽस्वादसुरभिघ्राणादि-जन्यमाह्लादमानन्दसुखशब्दावभिदधाते, न चैवंरूपत्वात्मनोऽस्ति, तथा ह्यन्यसुखेशु सुखरूपं प्रत्यभिज्ञायते नैवमात्मनि प्रत्यभिजानीमो, येना-नन्दशब्दस्याऽभिधेयः स्यात्।

ननु प्रकाशजननस्वभावोऽपीति। सर्वत्र ही कार्य की उत्पत्ति में उसके कारण को सहकारि कारणों के सन्निधान की अपेक्षा हुआ करती है। जैसे बीजरूप कारण को अङ्कुररूप कार्य की उत्पत्ति करने में मृत् (मिट्टी), सलिल (जल) के संयोग की अपेक्षा रहती है। तथैव आत्मा के ज्ञानस्वरूप रहने पर भी पदार्थान्तर को प्रकाशित करने के लिये विषयेन्द्रियसंयोग आदि सहायक कारणों के सन्निधान (सामीप्य) की अपेक्षा आवश्यक रहती ही है। उसी तरह आत्मा प्रकाशजननस्वभाव रहने पर भी मुक्तावस्था में सहकारियों का वैकल्य होने के कारण (वस्त्वन्तर) के प्रकाश को वह उत्पन्न नहीं कर पाता; क्योंकि मुक्त हुए पुरुष को इन्द्रियाँ नहीं होतीं और विषयसंविध्य भी नहीं रहता। केवल प्रकाश के उत्पन्न न होने मात्र से उसके ज्ञानस्वरूपत्व की हानि नहीं होती है।

उक्त आशङ्का का समाधान—**सत्यं न जनयति इति**। यद्यपि प्रकाशजननस्वभाव वाला है, तथापि सहायक कारणों के अभाव में वह प्रकाश को उत्पन्न नहीं कर पाता, तथापि सहकारियों का (सहायकों के) सन्निधान होने पर अथवा तत्कृत (सहकारि-सन्निधानकृत) आगन्तुक किसी विशेष के हो जाने पर जो वस्तु निश्चित ही प्रकाश करती है, वही लोक में ज्ञान शब्द से वाच्य कही जाती है, किन्तु आत्मा– वैसा नहीं है। कदाचित् संसारावस्था में भी सहकारियों का सन्निधान होने पर भी अर्थान्तर (वस्त्वन्तर) का प्रकाशन नहीं होता। उस कारण आत्मा को ज्ञानस्वरूप नहीं कह सकते, जिससे मोक्ष

की अवस्था में ज्ञान होने की सम्भावना की जा सके। अभी तक आत्मा की ज्ञान-रूपता का निरसन किया गया, अब उसकी आनन्दरूपता का भी निरास तथा गीति-श्रवण-प्रियाऽऽलिङ्गन-चन्द्रदर्शन-मधुराऽऽस्वाद–सुरभिघ्राणाऽऽदि से किया जा रहा है। सुख शब्द और आनन्द शब्द का वाच्य विषयसुख ही है। वैसी तद्रूपता अथवा तत्सदृशता आत्मा में अनुभव नहीं की जाती, जिससे आत्मा को सुखस्वरूप अथवा आनन्दरूप कहा जा सके।

यदि पुनर्यदेवाऽऽत्मरूपं प्रतीयते तस्यैव ज्ञानमिति चानन्दमिति च संज्ञेत्युच्यते, न सा लौकिकी नापि वैदिकी। यदि परं वृद्ध्यादिवत् परिभाष्येत तदस्तु यथाकामम्। यत्तु विज्ञानम्ब्रह्म, आनन्दम्ब्रह्म इति च सामानाधिकरण्यं तद्धर्ममात्रवचनत्वेन धर्म-धर्मिणोरभेदान्नीलोत्पलादिवदुपपन्नम्।

यदि पुनः आत्मा का जैसा भी रूप प्रतीत होता है, उसी को ज्ञान और आनन्द की संज्ञा दी जाती है तो वह न लौकिक है और न वैदिक ही है; अतः वास्तविक ज्ञान और आनन्द का आत्मा में अभाव रहने से लोकव्यवहार में तथा वेद में भी उसे ज्ञान शब्द से तथा आनन्द शब्द से नहीं कहा जाता।

यदि पुनः पाणिनिमुनि ने अपने शास्त्र में वृद्धिगुण-नदी आदि के समान पारिभाषिक संज्ञा ज्ञान तथा आनन्द को कहा जाय तो तदस्तु यथाकामम्। केवल परिभाषा के रूप में मानने पर स्वपक्ष की न कोई हानि है तथा पर पक्ष का कोई प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता है। परिभाषामात्र से आत्मा की ज्ञानानन्द स्वरूपता सिद्ध नहीं होती।

प्रश्न—यदि आत्मा को ज्ञानस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप नहीं मानते हैं, तो विज्ञानं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्म में सामानाधिकरण्य की उत्पत्ति कैसे हो पायगी?

उत्तर—'नीलोत्पलम्' में नील शब्द की धर्मवाचकता रहने पर भी जैसे नीलम् उत्पलम्—यह सामानाधिकरण्य होता है, उसी तरह यहाँ पर भी समझना चाहिये। जैसे उत्पल में द्रव्यत्वेन रूपेण नीलत्व का अभाव रहने पर भी नीलम् उत्पलम्– प्रयोग किया जाता है, उसी तरह प्रस्तुत में भी आत्मा में ज्ञानत्व तथा आनन्दत्व का अभाव रहने पर भी विज्ञानं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्म प्रयोग भी किया जा सकता है। ज्ञान और आनन्द में भी संसारावस्था में ही आत्मधर्मत्व समझना चाहिये। मुक्तावस्था में उन कारणों के (ज्ञान और आनन्द के) न होने से उनमें आत्माधर्मत्व का होना भी सम्भव नहीं है।

प्रश्न—नील आदि शब्दों का नीलमुत्पलम् प्रयोग किया जाता है, उस कारण गुणी द्रव्य में नील शब्द का प्रयोग करना असम्भव नहीं है। नील शब्द का उत्पल शब्द के साथ सामानाधिकरण्य का औचित्य इसलिये है कि उत्पल शब्द गुणपरक नहीं है। इस तरह लोकव्यवहार में आनन्द आदि शब्दों का गुणी रूप द्रव्य में प्रयोग न होने से आनन्द आदि शब्दों में द्रव्यपरत्व नहीं है, उस कारण उसमें केवल गुणपरत्व ही प्राप्त है। यदि

आत्मा आनन्दस्वरूप न होता, तथैव ज्ञानस्वरूप न होता, तो ज्ञान शब्द और आनन्द शब्द दोनों का ब्रह्म शब्द के साथ सामानाधिकरण्य कैसे हो पाता? प्रस्तुत में विज्ञानं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्म– इत्याकारक सामानाधिकरण्य का निर्देश स्पष्ट ही दृष्टिगोचर हो रहा है। अत: यह जो समानाधिकरण्य है, वह धर्ममात्र का वाचक है, धर्म-धर्मी के अभेद के कारण नीलोत्पल के समान उसे अनुपपन्न नहीं कहा जा सकता।

नन्वानन्दादिशब्दा गुणमात्रनिष्ठा न नीलादिवद् गुणिनि वर्तन्ते? सत्यं न बाहुल्येन वर्तन्ते, कदाचित्तु गुणमात्रवचनानामपि गुणिनि प्रयोगो भवति। यथा शीतो मधुरो रसः स्निग्धो गुरुश्चेति रसशब्दो द्रव्ये प्रयुज्यते, अन्यथा शीतादिशब्दसामानाधिकरण्याऽयोगात्। किञ्च— रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति इति मत्वर्थीयनिर्देशादात्मानन्दयोर्भेदोऽवगम्यते। तथा आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, स एको ब्रह्मण आनन्दः इति षष्ठ्यानन्दाद् ब्रह्म व्यतिरिच्यते।

यद्यपि गुणमात्रबोधक आनन्दादि शब्दों को द्रव्यरूप गुणी में बाहुल्येन प्रयोग नहीं होता है, तथापि कदाचित् (कभी-कभी) प्रयोग तो होता ही है। जैसे—शीतो मधुरो रस: स्निग्धो गुरुश्च। इस प्रकार रस शब्द का प्रयोग द्रव्य में लोग किया करते हैं।

रस शब्द का गुण में ही प्रयोग क्यों नहीं होता? इस प्रश्न का उत्तर तो गुणादिर्निर्गुणक्रियः यह नियम है। इस नियम के कारण गुणे गुणो न वर्तते– गुण में गुण नहीं रहता। यदि रस शब्द गुणपरक होता तो रसगुण में शीतगुण के न रहने से शीतो रस: यह सामानाधिकरण्य न होता। रस शब्द को द्रव्यपरक मानने पर द्रव्य में शीतत्वादि गुणों का सम्भव होने से सामानाधिकरण्य का होना असम्भव नहीं है, अत: सामानाधिकरण्य का सम्भव हो सकता है। इसी रीति से मधुरो रस: में भी समझना चाहिये। इसी रीति से गुणमात्रवाचक आनन्दादि शब्दों का भी द्रव्यरूप गुणी में प्रयोग किया जा सकता है— ऐसा श्रुति कर रही है विज्ञानं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्म इति। उक्त वचनों से प्रतीत होता है कि विज्ञान और आनन्द ये दोंनों आत्मधर्म ही हैं। आत्मा के ये स्वरूप नहीं हैं। आनन्द और आत्मा की भिन्नता को श्रुति बता रही है—रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। आन्दी– यह मत्वर्थीय निर्देश है। आनन्द: अस्य अस्ति इति = आनन्दी। यदि आनन्द ही आत्मा होता, तो आनन्दी– यह प्रयोग न होता; क्योंकि भेद होने पर ही मत्वर्थीय प्रयोग होता है। भेदसाधक एक श्रुति भी उपलब्ध है—आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् (शरभोपनिषद्–१८) स एको ब्रह्मण आनन्दः । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन (तैत्ति०–२।४), ए एको ब्रह्मण आनन्द:– (तैत्ति.– २।८) । ब्रह्मसम्बन्धिनमानन्दं विद्वान् जानन् कस्मादपि न विभेति । स एको ब्रह्मण आनन्द:– उक्त दोनों श्रुतियों में षष्ठी विभक्ति से ब्रह्म का आनन्द बताया गया है। अत: आत्मा (ब्रह्म) और आनन्द—दोनों में भेद (भिन्नता) का

प्रतिपादन स्पष्टतया भगवती श्रुति ने किया है। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा (ब्रह्म) आनन्दरूप नहीं है।

किञ्च न मे साम्प्रतं किञ्चिदपि सुखं दुःखमेव तु सर्वात्मना मम इति सुखाऽभावे दुःखाऽनुभवे चाऽनुसंधीयमानस्याऽऽत्मनः कथमानन्दरूपता स्यात्? किञ्च स्व-प्रकाशाऽऽनन्दरूपमात्मानमभ्युपगच्छतामस्माकं चैतावदविवादम् सुषुप्तितुल्या मुक्तिरिति। संसाराऽनुवृत्त्यननुवृत्तिमात्रं भिद्यते, अन्यत्सर्वं तुल्यम्। तथा च श्रुतिरपि– ता एताः प्रजा अहरह-र्ब्रह्मलोकं यन्ति, अहरह आगच्छन्ति इति सुषुप्तिं ब्रह्मलोकशब्देन वदन्ती तुल्यत्वमेतयोर्दर्शयति, सुषुप्तिश्चास्माकमपि गोचरो न च तत्राऽऽ-नन्दाऽनुभवोऽस्ति इति व्यक्तमेतत्, तस्मान्निरानन्दो मोक्षः, दुःख-परिलोपाच्च पुरुषार्थत्वम्।

आत्मा के आनन्दरूप न रहने में लौकिक प्रतीति को प्रमाण के रूप में उपस्थित कर रहे हैं— **किञ्च न मे साम्प्रतं किञ्चिदपि इति**। साम्प्रत काल में = वर्तमान काल में मुझे किञ्चिदपि अर्थात् किञ्चिन्मात्र भी सुख नहीं है, सर्वात्मना = सभी परिस्थितियों में सभी प्रकार से मुझे दुःख ही दुःख है।

इस प्रकार सुखाऽभाव के काल में दुःखानुभव अर्थात् अहं दुःखी– इस प्रकार अपने को समझने वाले आत्मा को आनन्दरूप कैसे कहा जा सकता है? किञ्च– सुषुप्ति और मोक्ष के विषय में आपके तथा मेरे भी विचार एक से ही (समान ही) हैं। अपने दोनों के विचारों में भेद केवल इतना ही है कि सुषुप्ति के अनन्तर भी संसार की अनुवृत्ति होती है, किन्तु मोक्ष के अनन्तर वह नहीं होती। सुषुप्ति और मोक्ष– दोनों की समानता (तुल्यता) को श्रुति ने भी बताया है—ता एताः प्रजा अहरहर्ब्रह्मलोकं यन्ति, अहरहरा-गच्छन्ति। यह कहकर ब्रह्मलोक शब्द से सुषुप्ति को बताती हुई श्रुति ने ब्रह्मलोक और सुषुप्ति– दोनों को तुल्य बताया है। यदि सुषुप्ति और मोक्ष की तुल्यता = समानता न होती तो मोक्षवाचक ब्रह्मलोक शब्द से सुषुप्ति को यहाँ न बताया होता। हम सभी को सुषुप्ति में आनन्द का अनुभव होता है, यदि वस्तुतः सुषुप्ति में आनन्द का अनुभव होता तो उसी को दृष्टान्त में रखकर मोक्ष में भी आनन्दाऽनुभव को माना लिया जाता, किन्तु सुषुप्ति में आनन्दानुभव नहीं होता, यह प्रत्यक्ष ही है। अतः उसी तरह मोक्ष में भी आनन्द का अनुभव होना सम्भव नहीं है।

प्रश्न—सुख के अभाव में मोक्ष को पुरुषार्थ शब्द से कैसे कहा जायगा?

उत्तर—दुःखपरिलापात्– अर्थात् दुःख का निश्चित रूप से आत्यन्तिक अभाव हो जाने से मोक्ष को पुरुषार्थ शब्द से कहा जाता है। एवञ्च– दुःखपरिलोपाच्च पुरुषार्थत्वम्।

सुखलोपादपुरुषार्थत्वमपीति चेत्—

नैवमल्पं हि संसारे सुखं तदपि सूरयः ।
बहुप्रयाससाध्यत्वाद् दुःखमेवाऽनुजानते ।।१।।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखान्यनुदिनं नृणाम् ।
स्वयमेव विना यत्नान्निपतन्ति सहस्रधा ।।२।।

प्रश्न—सुख का लोप = अभाव होने से मुक्ति को अपुरुषार्थ ही क्यों न कहा जाय?

उत्तर—नैव मल्पमिति। संसार में सुख का परिमाण = मात्रा अल्पतर है; क्योंकि वह प्रयाससाध्य है, कितने ही लोगों को तो सुख की प्राप्ति तक नहीं हो पाती, दुःख ही अधिकतर होता है और वह भी प्रयत्न के विना अर्थात् स्वयं ही प्राप्त होता है, इस कारण दुःखबहुल संसार की निवृत्ति रूप होने से मोक्ष को पुरुषार्थ शब्द से कहा जाता है। मोक्ष में सुखरूपता होने से उसे पुरुषार्थ नहीं कहा जाता। एवञ्च असुख रूप से उसे अपुरुषार्थ ही कहना चाहिये। लोगों को प्रतिदिन जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि के कारण दुःखों का अनुभव करना पडता है। विना प्रयत्न के ही सहस्रशः = हजारों प्रकार के दुःख प्राप्त होते रहते हैं।

विहिताऽकरणान्नित्यं प्रतिषिद्धनिषेवणात् ।
महदामुष्मिकं दुःखं यन्नरैर्नैव गम्यते ।।३।।

विहित कर्म के न करने से तथा निषिद्ध कर्म के करने से परलोक में नरकादि महान् दुःखों को भोगना पड़ता है, जिनका ज्ञान, मनुष्यों को पहिले से नहीं रहता।

बहुदुःखपरिष्वक्तं यन्नाम स्वल्पकं सुखम् ।
सुरापानादिसुखवद्वर्जनीयं विवेकिनाम् ।।४।।

सांसारिक सुख की हेयता (ज्याज्यता) को बताते हैं—**बहुदुःखपरिष्ववक्तमिति**। जैसे विषमिश्रित मधु का त्याग किया जाता है, उसी तरह दुःख की अधिकता से परिपूर्ण सांसारिक सुख को भी त्याज्य ही जानना चाहिये; क्योंकि संसार में सुख की मात्रा बहुत ही न्यून (कम) रहती है। अतः विचारशक्ति (विवेक) सम्पन्न लोगों को चाहिये कि वे सुरा (मदिरा) पान के सुख को जैसे त्याज्य समझते हैं, वैसे ही बहुदुःखपरिष्वक्त अर्थात् अल्प-अल्पतर सुख वाले संसारसुख का भी वे त्याग करें।

एवंभूतेऽपि संसारे ये रक्ताः सुखतृष्णया ।
न तेषामधिकारोऽस्ति मुक्तिशास्त्रे कथञ्चन ।।५।।

दुःख बहुल सांसारिक सुख में ही अनुरक्त (आसक्त) रहने वाले लोगों को मोक्ष शास्त्र में कथंचन भी अधिकार नहीं है—एवं भूतेऽपि संसारे इति। एवभूते = दुःख प्रधाने।

संसारादुद्विजन्ते ये दृष्टलोकपरावराः ।
त एव खलु मुच्यन्ते न तु यः प्राकृतो जनः ।।६।।

मोक्ष का अधिकारी कौन है? उसे बता रहे हैं— **संसारादुद्विजन्ते ये इति** । दृष्टलोकपरावराः = अनुभूतसंसारविषया जनाः। ते एव खलु मुच्यन्ते। न तु यः प्राकृतो जनः- इसके स्थान पर न तु ये प्राकृता जनाः यह पाठ उचित प्रतीत हो रहा है; क्योंकि बद्ध मनुष्यों की संख्या अधिक है, मुक्तों की संख्या अल्प है।

तेषामेवापवर्गाख्यः पुरुषार्थो महात्मनाम् ।
तेषामेवाऽधिकारश्च मुक्तिशास्त्रो मनीषिणाम् ।।७।।

संसार से जो लोग उद्विग्न (व्याकुल = घबड़ा गये हैं) हो गये हैं। उनका ही मोक्ष-शास्त्र में अधिकार है और उन्हीं को ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। मनीषिणाम् = स्वाधीनमनसाम्। जिन्होंने अपने मन को अपने वश में कर लिया है अर्थात् मन पर जिन्होंने विजय प्राप्त कर लिया है।

तेनाऽभावात्मकत्वेऽपि मुक्तेर्नाऽपुरुषार्थता ।
सुख-दुःखोपभोगो हि संसार इति शब्द्यते ।।८।।

उक्त श्लोक के द्वारा अपना अभिप्राय बता रहे हैं। मुक्ति को अभावरूप मानने पर भी उसे अपुरुषार्थ नहीं कहा जा सकेगा; क्योंकि सुख-दुःखानुभव भी संसारपक्ष में ही होता है, अतः मोक्ष को अभावात्मक (अभावरूप) मानने पर भी अर्थात् सुखाभावात्मक मानने पर भी उसे (मोक्ष को) अपुरुषार्थ कहना उचित (युक्तियुक्त = तर्कसंगत) नहीं है: क्योंकि पुरुषार्थता (त्व) तो सांसारिक विविध अनन्त दुःखों की निवृत्तिमात्र से ही उपलब्ध हो जाती है।

तयोरनुपभोगं तु मोक्षं मोक्षविदो विदुः ।
श्रुतिरप्येतमेवाऽऽह भेदं संसार-मोक्षयोः ।।९।।

जबकि सुख-दुःख का उपभोग ही संसार है, अतः तयोः = सुख-दुःखयोः अनुपभोगस्यैव अर्थात् सुख-दुःख के अनुपभोग = उपभोगाभाव को ही मोक्ष कहना उचित है। अपने सिद्धान्त में श्रुति की सम्मति भी प्रदर्शित कर रहे हैं—संसार एवं मोक्ष की भिन्नता (भेद) को श्रुति ने भी बताया है। एतमेव भेदं संसार-मोक्षयोः श्रुतिरपि आह अर्थात् संसार में सुख-दुःख—दोनों का उपभोग प्राप्त होता है और मोक्ष में उक्त दोनों का अभाव रहता है अर्थात् मोक्ष में सुख-दुःख का उपभोग प्राप्त नहीं होता, अर्थात् अप्राप्त रहता है। संसार और मोक्ष में यही भेद है। दोनों अवस्थाओं में आत्मस्वरूप की समानता (तुल्यता) ही रहती है।

न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रियविहीनता ।
अशरीरं वा वसन्तं स्पृशतो न प्रियाऽप्रिये ।।१०।।

उक्त श्रुति को अर्थत. बता रहे हैं--शरीरस्य = संसारिणः । अशरीरम् = मुक्तम् । प्रियाऽप्रिये = सुख-दुःखे। उपर्युक्त अर्थ का वाचक श्रुतिवाच्य इस प्रकार है—न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा व सन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः इति।

आनन्दात्मकमात्मानं ये वदन्ति स्वयम्प्रभम् ।
तन्मतेऽपि च संसारान्मुक्तेरेतावती भिदा ।।११।।

अर्थात् एतावती भिदा = संसार में सुख-दुःख का भोग प्राप्त होता है और मोक्ष में उसकी प्राप्ति नहीं होती यही भेद है। आशय यह है कि अपरपक्षी को भी संसार और मोक्ष का भेद यही बताना होगा।

आत्मा ह्यानन्दरूपोऽसौ संसारेऽपि प्रकाशते ।
तावानेव स मोक्षेऽपि नाऽधिक्यं तस्य किञ्चन ।।१२।।

विपक्षी की दृष्टि से बाधक बताते हैं—तावानेव = आनन्दरूप एव। सः = आत्मा। तस्य = मोक्षस्य। अर्थात् आत्मा तो आनन्दरूप है, वह संसार में भी प्रकाशित रहता है और उतना ही प्रकाश उसका मोक्ष में भी रहता है, संसार की अपेक्षा मोक्ष में कोई अधिकता नहीं है।

अथ संसारवेलायामानन्दो न प्रकाशते ।
न ह्यऽप्रकाशनं युक्तं स्वप्रकाशस्य वस्तुनः ।।१३।।

आत्मा की आनन्दस्वरूपता संसारावस्था में रहती हुई भी वह प्रकाशित क्यों नहीं होती? स्वयं- प्रकाश वस्तु का अप्रकाशित रहना (प्रकाशित न होना) उचित नहीं है।

यद्यसौ न प्रकाशेत किन्तर्ह्यन्यत् प्रकाशते ।
आत्मस्वरूपमिति चेत् ननु चाऽऽनन्द एव तत् ।।१४।।

मीमांसक प्रश्न करता है—यदि असौ = आत्मानन्दः यह आत्मानन्द प्रकाशित नहीं होता है, तो- अन्यत् किं प्रकाशते? उससे भिन्न प्रकाशमान होने वाला दूसरा पदार्थ कौन सा है, जो प्रकाशित हो रहा है? यदि आत्मस्वरूप प्रकाशित हो रहा है, अतः आत्मस्वरूप ही तो आनन्द है, इसलिये कहना होगा कि आनन्द भी प्रकाशित हो रहा है। तत् = आत्मस्वरूपम् ।

तच्चेत् प्रकाशते नूनमानन्दोऽपि प्रकाशते ।
तेन शब्दादिविषयजन्ययोः सुख-दुःखयोः ।।१५।।

तच्चेदिति। आत्मस्वरूप यदि प्रकाशित होता है, तो आनन्द भी प्रकाशित होता है- कहना होगा; क्योंकि आत्मस्वरूप और आनन्द—दोनों एक-दूसरे से अभिन्न हैं। स्वपक्ष में—संसार की अपेक्षा मोक्ष की विशेषता—इन विषयों के भोग से सुख-दुःख का अनुभव होता है और मोक्ष में विषयभोगजन्य सुख-दुःख की निवृत्ति होती है। इसी

से दोनों (संसार और मोक्ष) की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। निष्कर्ष यह है कि मोक्ष में आनन्द का अनुभव नहीं होता।

निवृत्तिरेव संसारादपवर्ग इतीर्यते ।
ततश्च सुखलोपेन मुक्तेर्न पुरुषार्थता ।।१६।।

पूर्वोक्त अर्थ को ही सुदृढ करने के लिये पुनः बता रहे हैं—**निवृत्तिरेव संसारात्**। संसार (प्रपञ्च) से निवृत्ति को प्राप्त करना ही अपवर्ग = मुक्ति कहलाती है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि जैसे हमारे मत में सुख के अभाव के कारण मोक्ष की अपुरुषार्थता के समान ही आपके मत में भी एषा = अपुरुषार्थता समान ही है; क्योंकि आत्मा आनन्दरूप है और वह संसार में भी प्रकाशमान रहता है। उसकी अपेक्षा, मोक्ष, में कोई विशेषता नहीं है, उस कारण मोक्ष में अपुरुषार्थता ही है।

यद्यस्माकं भवेत्तर्हि तुल्यैषा भवतामपि ।
सुखहानिमतस्तस्य भूयो दुःखविवर्जनात् ।।१७।।

अब सिद्धान्त बता रहे हैं— सुखहानिमान् = सुखाऽभावरूप मोक्ष में भी सांसारिक विविध अनेक दुःखों की निवृत्ति होती है, उस कारण ही अपने दोनों के मत में पुरुषार्थता समान ही है। तुमने भी सांसारिक सुखाभाव को ही मोक्षदशा में स्वीकार किया है, उस कारण मोक्ष में सुखाऽभाव को सर्वथैव स्वीकार करना ही उचित है।।

मोक्षस्य पुरुषार्थत्वमावयोरुभयोः समम् ।
सुख-दुःखविहीनोऽतो मुक्तः स्वस्थोऽवतिष्ठते ।।१८।।इति।

अतः दुःखरहित हुआ मुक्त पुरुष अपने स्वरूप में स्थित रहता है। वार्त्तिककार श्री भट्टपाद ने भी कहा है—

सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्षः प्रकल्प्यते ।
स्वर्ग एव भवेदेष पर्यायेण क्षयी च सः ।।

यदि मोक्ष पदार्थ को सुखोपभोगस्वरूप माना जाय तो उसे स्वर्ग ही कहना चाहिये, वह स्वर्गरूप मोक्ष पर्यायेण अर्थात् क्रमशः क्षीण हो जाता है। अत एव कहा गया है— क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशान्ति; क्योंकि धर्मजन्य पुण्य से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

(युक्तिस्वरूपकथनम्)

किमिदं स्वस्थ इति? योऽस्याऽऽगमाऽपायिनो धर्मा बुद्धिसुखदुःखेच्छा-द्वेषप्रयत्नधर्माऽधर्मसंस्कारास्तानपहाय यदस्य स्वं नैजं रूपं ज्ञानशक्ति-सत्ताद्रव्यत्वादि तस्मिन्नवतिष्ठते इत्यर्थः।

यह जो कहा गया है– मुक्तः स्वस्थोऽवतिष्ठते, उक्त कथन को सुनकर मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है—किमिदं स्वस्थ इति? यह स्वस्थत्व = स्वस्थता, नामक वस्तु क्या है?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—**येऽस्याऽऽगमाऽपायिन इति**। अर्थात् संसार के साथ सम्बन्ध प्राप्त कर जो आगमापायि = उत्पत्ति-विनाशशील बुद्ध्यादि धर्म हैं, उनकी निवृत्ति होना ही स्वस्थत्व = स्वस्थता है। यह स्वस्थता = निवृत्ति (स्वस्थतारूप निवृत्ति) मोक्षावस्था में ही होती है। आत्मा का अपना निज स्वरूपज्ञान शक्ति (ज्ञान की शक्ति) सत्ता द्रव्यत्व आदि—ये सभी आत्मस्वरूप के ही अन्तर्गत होते हैं।

यदि तु संसाराऽवस्थायामविद्यमानोऽप्यानन्दो मुक्ताऽवस्थायां जन्यत इत्युच्यते, ततो जनिमत्त्वादनित्यो मोक्षः स्यात्। केन चाऽसावनुभाव्यः? न हि स्वप्रकाशत्वं कस्यचित् सम्भवतीत्युक्तम्। न च मनसाऽनुभवः सम्भवतीति, मुक्तस्य मनसोऽभावात्, अमनस्कत्वश्रुतेरित्युक्तम्। अत एव नित्योऽप्यानन्दः संसारदशायामभिभूतत्वादननुभूतोऽपि मुक्ताव-भिभवे निवृत्ते मनसाऽनुभूयते इत्येतदपि निरस्तम्।

मोक्ष की आनन्दरूपता में एक अन्य बाधक भी है—**यदि तु संसाराऽवस्थाया-मिति**। मोक्ष को आनन्दरूप मानने में बाधक यह है कि आनन्द के अनित्य होने से मोक्ष को भी अनित्य स्वीकारना होगा। क्योंकि मोक्ष को आनन्द से अभिन्न माना जा रहा है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य अनुपपत्ति यह भी है—केन चाऽसावनुभाव्यः? असौ = मोक्षकालिक आनन्द का अनुभव किसके द्वारा किया गया है?

उत्तर—यह मोक्षकालिक आनन्द तो स्वयम्प्रकाश है, उसके अनुभवार्थ किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती। इस पर यदि कोई कहे कि कोई भी वस्तु (पदार्थ) स्वप्रकाश नहीं होती, मन से उस आनन्द का अनुभव होता है—कहें तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि मुक्त होने पर उसे मन नहीं होता, इसका समर्थन भगवती श्रुति ने किया है। अतः मुक्त पुरुष को नित्य आनन्द का अनुभव होता रहता है; यह भी नहीं कह सकते।

किञ्च—प्रपञ्चजन्य अभिभवनिवृत्ति के अनन्तर मोक्ष प्राप्ति होती है—यह यदि स्वीकार करें तो संसारदशा में ही अभिभवनिवृत्ति होने से आनन्द का प्रकाश होना चाहिये। यदि मोक्षप्राप्ति के पश्चात् अभिभवनिवृत्ति का स्वीकार करते हैं तो अभिभव के विद्यमान रहते मोक्षप्राप्ति की उपपत्ति लगना सम्भव नहीं है। मोक्षप्राप्ति होने के कुछ समय के पश्चात् अभिभवनिवृत्ति होती है—कहें तो मोक्ष में सातिशयत्व मानना होगा। संसार और मोक्ष के मध्य में (बीच में) कोई अवस्था भी नहीं होती है, जिससे अभिभवनिवृत्ति होने पर मोक्षप्राप्ति होती है—यह कहा जा सके।

किञ्च—सुखविशिष्टात्मानुभवः पुरुषार्थो, न सुखमात्राऽनुभवः न च मुक्तावात्मानुभवः सम्भवति, विज्ञातारमरे केन विजानीयात् इति कण्ठेनैव श्रुत्या निषिद्धत्वात्, अलं वा अरे इदं विज्ञानाय इति च श्रुत्या विज्ञान-शब्दस्य शक्तिपरत्वं व्याचक्षाणया मुक्तौ शक्तिमात्रमवतिष्ठते, न ज्ञानम्

इति व्यक्तमेवोक्तभिति श्रुतिविरुद्धं मुक्तस्य विज्ञानमशक्यमभ्युपगन्तुम्। न ह्यस्याः श्रुतेः प्रियाऽप्रियास्पर्शश्रुतेश्च तत्त्वकथनं मुक्त्वा कथंचिदन्यपरत्वं सम्भवति। विज्ञानश्रुतयस्तु शक्तावेव विज्ञानोपचारं कुर्वन्ति, प्ररोचनार्थतयेत्युपपन्नम्। एवमानन्दश्रुतयोऽपि पुरुषार्थत्वसामान्यात्सुखत्वोपचारेण प्ररोचनार्थतया प्रवृत्तः। युक्तं चैतत्, वचनयोर्विरोधेऽन्यतो निर्णयः इति। विरोधश्चात्राऽऽनन्दप्रियाऽभाववचनयोः।

किञ्च—आनन्द मोक्षवाद के स्वीकारने पर एक अन्य अनुपपत्ति होती है— केवल सुखमात्र के अनुभव को पुरुषार्थ कहते हैं तो विवेकी पुरुष के सांसारिक सुखानुभव को भी पुरुषार्थ कहना होगा। मुक्ति की अवस्था में आत्मा का अनुभव नहीं हुआ करता। उक्त तथ्य में श्रुतिप्रमाण भी उपलब्ध होता है—विज्ञातारमरे केन विजानीयात् (बृ. उपनिषद्– २।४।१४,)।

इस प्रकार भगवती श्रुति ने कण्ठोक्त ही निषेध किया है। अलंवाआरे इदं विज्ञाना– (बृह. उपनिषद्– २।४।१३) इस श्रुति से विज्ञान शब्द शक्तिपरक है—यह बताया गया है अर्थात् प्रस्तुत में विज्ञान शब्द ज्ञान-परक नहीं है—यह स्पष्ट हो रहा है। अतः मुक्त पुरुष को ज्ञान का अभाव रहता है—यह कहना श्रुतिविरुद्ध है। एवं अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः इस श्रुति से बताया गया है कि मोक्षावस्था में दुःखसम्बन्ध की तरह सुखसम्बन्ध भी नहीं रहता।

प्रश्न—विज्ञातारम् अरेकेन विजीनयात्, अलं वा अरे इदं विज्ञानाय– इन ज्ञाननिषेध श्रुति का तथा अशरीरम् = इस प्रियाऽप्रियस्पर्शश्रुति को अन्यार्थपरक अर्थात् वैषयिक ज्ञानसुखाभाव प्रतिपादक क्यों न मान लिया जाय? जिससे मोक्षावस्था में ज्ञान और सुख की सिद्धि हो सके, ऐसी आशङ्का यदि कोई करे तो—

समाधान—उसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है—न हि अस्याः श्रुतेः सम्भवति। उक्त वाक्य में प्रयुक्त तत्त्वकथनम् का अर्थ है—शक्यार्थम्।

प्रश्न—विज्ञानं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्म—इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा की ज्ञानाऽनन्दरूपता को भी बता रहीं हैं। अतः मोक्षावस्था में ज्ञान और आनन्द का अभाव ही रहता है— यह कैसे कहा जा सकेगा? अतः यही कहना होगा कि मोक्षावस्था में वैषयिक विज्ञान और तज्जन्य सुख के अभाव को ही भगवती श्रुति बता रही है, न कि विज्ञान और सुख की स्वरूपतः सत्ता को। विज्ञानश्रुतस्तु शक्तावेव विज्ञानोपचारं कुर्वन्ति, प्ररोचनार्थतयेत्युपपन्नम्।

इसी का अन्यत्र अतिदेश कर रहे हैं—**एवम् आनन्दश्रुतयोऽपि**। यह कहने का अभिप्राय यह है कि सुख भी पुरुषार्थ है और आत्मा भी पुरुषार्थ है। अतः पुरुषार्थत्वबोधन करने के लिय आत्मा को सुखस्वरूप (आनन्दस्वरूप) कहा करते हैं। वचनों

(वाक्यों) में परस्पर विरोध उपस्थित होने पर अन्य वाक्य से निर्णय (विरोधपरिहार) किया जाता है। अत एव कहा गया है—वचनयोर्विरोधेऽन्यतो निर्णयः इति। इसी तथ्य को पूर्व भी आत्मस्वरूपप्रतिपादन की समाप्ति करते हुए कहा है—वचनानां हि मिथो विरोधे सिद्धवस्तुविषयत्वेन च विकल्पाऽसम्भवे प्रमाणान्तरान्निर्णयः स्यात् इति। निर्दिष्ट विरोध को ही विशद कर रहे हैं—विरोधश्चाऽत्राऽऽनन्दप्रियाऽभाववचनयोः। आनन्दम्ब्रह्म श्रुति से आत्मा की सुखरूपता को बताया गया है। तथा अशरीरम् श्रुति से मोक्षावस्था में सुखाऽभाव बताया गया है। ऐसी स्थिति में यदि आत्मा सुखरूप है, तो मोक्ष में आत्मा का सत्त्व रहने से सुखाऽभाव का होना सम्भव ही नहीं है और यदि मोक्ष में सुखाऽभाव है तो आत्मा को सुखस्वरूप कहना सम्भव नहीं है। अन्यथा मोक्ष में आत्मा का सत्त्व (विद्यमानता) रहने से अर्थात् सुख भी रहेगा—यह निश्चित ही है; अतः विरोध है। इसी तरह विज्ञानम् ब्रह्म, विज्ञातारमरे केन विजानीयात्—इन वाक्यों का भी परस्पर विरोध पूर्वपक्ष में होगा।

न चाऽभाववचनं वैषयिकाऽभिप्रायम्, इतरत्तु स्वाभाविकाऽभिप्राय-मिति शक्यं वक्तुम्। उभयत्राऽपि सामान्योपादानात्, अत्यन्तसमान-विषयत्वात्। अतः प्रमाणाऽन्तरवशादाऽऽनन्दवचनं दुःखाऽभावपरम्, इतरत्तु यथाश्रुतमिति न्याय्यम्। तस्मात् सुखदुःखादिसमस्तवैशेषिका-त्मगुणोच्छेदो मोक्षः। सुखदुःखोच्छेदश्च धर्माऽधर्मयोरुच्छेदात्। धर्माऽ-धर्मयोरुच्छेदश्चोत्पन्नानां धर्माऽधर्माणामुपभोगेन नित्य-नैमित्तिककर्माऽ-नुष्ठानेनाऽऽत्मज्ञानेन च विरोधात्, उत्पाद्यानां च काम्याऽनुष्ठाननिमित्तानां धर्माणां तदननुष्ठानेनाऽनुत्पादात्, विहिताऽकरणप्रतिषिद्धाऽनुष्ठान-निमित्तानां चाऽधर्माणां विहिताऽनुष्ठानेन प्रतिषिद्धाऽकरणेन च परि-हारात्, असति शरीराऽऽरम्भे पूर्वशरीरनिपाते चाऽशरीरोऽवस्थितो मुक्तो भवति।

शङ्का—'अशरीरम्' यह श्रुतिवचन वैषयिक सुखाऽभाव को बताता है और आनन्दम्ब्रह्म यह वचन स्वरूपसुख को बता रहा है। ऐसी स्थिति में मोक्ष में वैषयिक सुखाऽभाव के रहने पर भी स्वरूप सुख का सम्भव होने से कोई विरोध नहीं है—यह आशङ्का की है।

उक्त आशङ्का का समाधान—**न चाऽभाववचनमिति**। अर्थात् अभाव-वचन वैषयिक अभिप्राय से है और दूसरा वचन स्वाभाविक अभिप्राय से है—यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उक्त दोनों में ही सामान्य शब्द से कहा गया है; क्योंकि दोनों श्रुतियों का विषय नितान्त समान (एक-सा) है।

आनन्दम् में उसकी (आनन्द की) स्वाभाविकता भी नहीं बतायी गई है और अशरीरम् में अभाव प्रतियोगी सुख की वैषयिकता भी नहीं बतायी गई है, जिससे तुम्हारा

कथन उपपन्न हो सके, किन्तु सामान्य एव कहा गया है। अर्थात् दोनों श्रुतियों का विषय अत्यन्त समान है। अभिप्राय यह है कि सामान्यत: सुखविषयक होने से वैषम्य की उपपत्ति नहीं हो रही है। अत: प्रमाणान्तरवशात् = आत्मा की आनन्दरूपता न प्रत्यक्ष से और न हि श्रुतिवाक्यों से उपलब्ध हो रही है, इस कारण अनुपलब्धिरूप अन्य प्रमाणवशात् आनन्दवचन को दु:खाऽभावपरक ही स्वीकार करना चाहिये। ता एता: प्रजा अहरहर्ब्रह्मलोकं यन्ति, अहरहरागच्छन्ति। इस श्रुति से सुषुप्ति और मोक्ष की तुल्यता (समानता) कही गई है। सुषुप्ति में आनन्दानुभव नहीं होता है, इस कारण सुषुप्ति के तुल्य मोक्ष में भी आनन्द का अनुभव नहीं है—यह तथ्य कहना अर्थात् ही प्राप्त होता है। अथवा अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है। किंच मन आनन्दम्—इस श्रुति से आनन्द की मनोधर्मता अथवा मनोरूपता प्राप्त है और मोक्ष में अमनोऽवाक्—इस श्रुति से मुक्त के मन का निषेध होने से मोक्ष में आनन्द का होना सम्भव नहीं है, इसलिये प्रमाणान्तर से आनन्दब्रह्म—इस आनन्दवचन को दु:खाऽभावपरक समझना चाहिये। आनन्दवचनम = आनन्दं ब्रह्म- यह वचन। इतरत् = अशरीरम्- यह वचन, यथाश्रुतम् = सामान्यत: सुखमात्राऽभावबोधक समझना चाहिये।

अब स्वसिद्धान्त बता रहे हैं—तस्मात् सुख-दु:खादिसमस्तवैशेषिकात्मगुणोच्छेदो मोक्ष:। सुख-दु:खोच्छेद का प्रकार बता रहे हैं—सुखदु:खोच्छेदश्च धर्माऽधर्मयोरुच्छेदात्। धर्माऽधर्मयोरुच्छेदश्चोत्पन्नानां धर्माणामुपभोगेन नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेनाऽऽत्मज्ञानेन च विरोधात्, उत्पाद्यानां च काम्यानुष्ठाननिमित्तानां धर्माणां तदननुष्ठानेनाऽनुत्पादात्, विहिताऽकरणप्रतिषिद्धाऽनुष्ठानाच्च परिहारात्, असति शरीराऽऽसम्भवे पूर्वशरीरनिपाते चाऽशरीरोऽवस्थितो मुक्तो भवति।

सुख-दु:खोच्छेद धर्माऽधर्म के उच्छेद से होता है। धर्माऽधर्म का उच्छेद कैसे होगा? धर्माधर्म के दो प्रकार होते हैं—उत्पन्न और भावी (भविष्य में उत्पन्न होने वाले)। उनमें से उत्पन्न धर्माधर्मों का उच्छेद (नाश) नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से, उपभोग से और आत्मज्ञान से होता है। इनमें भी आत्मज्ञान का और धर्माऽधर्म का परस्पर विरोध रहता है; किन्तु प्रबलता आत्मज्ञान की रहती है। उस कारण आत्मज्ञान से धर्माऽधर्म का उच्छेद होता है। भगवान् स्वयं अपने श्रीमुख से कह रहे हैं—**ज्ञानाग्नि: सर्वकार्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन इति**। नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से अधर्ममात्र का उच्छेद होना ही ग्रन्थकार को अभिप्रेत प्रतीत होता है—ऐसा लग रहा है। भावी धर्माऽधर्मों के उच्छेद का प्रकार यह है—**उत्पाद्यानां चेति**। भविष्यत् कालिक धर्मों का काम्यकर्मों के अनुष्ठान से ही उत्पत्ति हो जायगी, अत: काम्य कर्मपरित्याग से उनकी अनुत्पत्ति ही उच्छेद है। तथा भावी अधर्मों की उत्पत्ति, विधिविहित नित्य-नैमित्तिक कर्मकलाप के परित्याग से और निषिद्ध कर्म के करने से होगी, अत: विहित के अनुष्ठान से तथा निषिद्ध

कर्म के परित्याग से उनकी जो अनुत्पत्ति वही उच्छेद है। धर्माऽधर्म शब्द से यहाँ पर शुभाऽशुभ अपूर्व का ही ग्रहण करना है।

निष्कर्ष यह है—असति शरीराऽऽरम्भे पूर्वशरीरनिपाते चाऽशरीरोऽवस्थितो मुक्तो भवति। अर्थात् मृत्यु के पश्चात् भावी शरीर से अथवा शरीरान्तर से सम्बन्ध न होना ही मोक्ष है। उक्त कथन से यह प्रतीत होता है कि मुक्त व्यक्ति को न शरीर होता है, न इन्द्रियाँ होती हैं और न आनन्द का अनुभव होता है, किन्तु भार का अपगम अर्थात् सिर पर बोझा हट जाने पर अहं सुखी संवृत्तः—मैं सुखी हो गया—यह अनुभव होने लगता है, उसी तरह सांसारिक सकल दुःखों की निवृत्ति होने से मोक्ष को पुरुषार्थ कहा गया है; किन्तु यह कथन आधुनिक मीमांसकों का ही प्रतीत हो रहा है; क्योंकि भगवान् जैमिनि मुनि का उक्त स्वरूप मोक्षप्रतिपादक कोई सूत्र नहीं है। प्रस्तुत जैमिनि के गुरु भगवान् व्यासमहर्षि ने मुक्त व्यक्ति के शरीरादि होते हैं अथवा नहीं– यह विचार प्रारम्भ करके जैमिनि मुनि के अभिप्राय को उद्देश्य करके भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्– सूत्र से बताया है कि मुक्त पुरुष को दिव्य शरीर आदि होता है—यह वेदान्तभाष्यों में कहा गया है। अतः भगवान् जैमिनि मुनि को आनन्दमोक्षवाद ही अभीष्ट है, किन्तु यह कथन ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र को अभिमत नहीं है।

(आत्मज्ञानस्य क्रतुमोक्षोभयोपयोगित्वम्)

नन्वात्मज्ञानं क्रत्वर्थम्। सत्यं, पुरुषार्थमपि च तत्, संयोगभेदात्। यत्तावत् अविनाशी वा अरेऽयमात्मा इत्यादिना शरीराद्व्यतिपिरिक्त-नित्याऽऽत्मस्वरूपसद्भावज्ञानं तत्पारलौकिकफलकर्माऽनुष्ठानौपयिक-त्वात् कर्मज्ञानवदेव सामर्थ्यतः क्रतुसंयोगात् क्रत्वर्थम्। यथा हि ज्योति-ष्टोमादिवाक्याध्ययनं दृष्टेनैवाऽनुष्ठानौपयिकं ज्ञानं जनयतीति तदर्थतयैवा-ध्ययनविधिना विधीयते, तथा अविनाशी वा अरेऽयमात्मा इत्यादि-वाक्यानामप्यध्ययनविधिरेव कर्मानुष्ठानोपयोग्याऽऽत्मज्ञानार्थतां विधत्ते। तद् यदि प्रमाणान्तरेणाऽऽत्मनः शरीरादिविवेको नैकान्ततः सिध्यति ततो दृढविवेकप्रतिपादकानामुपनिषद्वाक्यानां विस्पष्टमेव फलम्। यथोक्तम्—

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयः प्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ।। इति ।

(श्लोकवार्तिक)

पहिले बता चुके हैं कि 'आत्मज्ञानेन धर्माऽधर्मोच्छेदः' उस पर शङ्का की जा रही है—

शङ्का—आत्मा की नित्यता का ज्ञान न रहने पर और स्थूल शरीर जो दृश्यमान

है, उसका विनाश यहीं पर हो जाता है, उस कारण याग में प्रवृत्ति होना संम्भव नहीं है, अत: आत्मज्ञान को क्रत्वर्थ ही कहना चाहिये, उसे (आत्मज्ञान का) धर्माऽधर्मोच्छेदक कहना उचित नहीं है; क्योंकि वह मोक्षार्थ नहीं है अर्थात् उससे मोक्षप्राप्ति नहीं होती।

समाधान—सत्यम् इति। तत् = क्रत्वर्थ रहता हुआ भी वह (आत्मज्ञान), पुरुषार्थ भी है, उसकी मोक्षसाधनता (मोक्षर्थता), तो संयोगभेदात् = संयोगपृथक्त्व न्याय से रहती ही है। उक्त तथ्य को सूत्रकार भगवान् जैमिनिमुनिने कहा भी है—एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् (अ. ४। पा. ३। सू. ५। उभयार्थताधिकरणं तृतीयम्)। अर्थात् दधि नामक द्रव्य एक ही पदार्थ (वस्तु) है, तथापि संयोगभेदात् = भिन्न-भिन्न वाक्य से वह एक ही पदार्थ (वस्तु) नित्य तथा काम्य भी माना जाता है। उक्त तथ्य को माधवाचार्यकृत जैमिनीय न्यायमाला में (अध्या. ४। पाद–तृतीय के तृतीय अधिकरण में) तस्मात् एकस्याऽपि दध्नो वाक्यद्वयेन नित्यत्वं काम्यत्वं चाऽविरुद्धम्। उसी तरह आत्मज्ञानस्याऽप्येकस्य क्रत्वर्थत्वं मोक्षार्थत्वं च संयोगभेदादविरुद्धम्। जैसे दध्ना जुहोति—इस वाक्य से दध्नो नित्यत्वम् = दधि में नित्यत्व माना जाता है और दध्नेन्द्रिय कामस्य जुहुयात्—इस वाक्य से उसमें (दधि में) काम्यत्व भी माना जाता है, उसी तरह जहाँ भी न स पुनरावर्तते—इस वाक्य से उपासनात्मक आत्मज्ञान में मोक्षार्थत्व, और अविनाशी वा अरे इत्यादि वाक्यजन्य अनुपासनात्मक आत्मज्ञान में क्रत्वर्थत्व भी प्राप्त होता है।

उक्त तथ्य का ही उपपादन 'यत्तावत्' ग्रन्थ से कर रहे हैं। यत् = तत् = अत्मज्ञानम्। अविनाशी वा अरेऽयमात्मा आदि से शरीरादिजड पदार्थ से अतिरिक्त नित्य आत्मस्वरूप के सद्भाव का जो (यत्) ज्ञान है, वह (तत्) पारलौकिक (आमुष्मिक) फल प्राप्ति के कर्मानुष्ठान में उपयोगी होने के कारण कर्मज्ञान समान ही सामर्थ्यत: क्रतुसंयोग होने से क्रत्वर्थ है। कर्मज्ञानवदेव इत्याकारक जो दृष्टान्त बताया है, उसी को बता रहे हैं 'यथा हि' से। जैसे ज्योतिष्टोमादि वाक्य का अध्ययन दृष्टेनैव दृष्टरूप से ही अर्थात् दृष्टफलक है, कर्मानुष्ठानोपयोगी ज्ञान को बताता है, तदर्थतयैव = अनुष्ठानौपयिकर्मज्ञानार्थं हि अध्ययनविधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्य: विधि) अध्ययन का विधान करता है, उसी तरह अर्थात् यदि शरीरातिरिक्त आत्मा कोई नित्य पदार्थ न हो तो शरीर का विनाश तो यहीं पर हो जाता है, तब स्वर्गादि जो यागफल है, उसकी प्राप्ति किसे होगी? ऐसी परिस्थिति में यागानुष्ठानार्थ कौन प्रवृत्त होगा? अत: शरीरातिरिक्त नित्य आत्मा का ज्ञान भी कर्मानुष्ठानोपयोगी ही है, वह आत्मज्ञान कौन करायेगा? यह जिज्ञासा होने पर स्वाध्यायोऽध्येतव्य:—यह अध्ययनविधि ही अविनाशी वा अरे अयमात्मा इत्यादि वाक्यों में आत्मज्ञानार्थता का विधान करता है। अभिप्राय यह है—अविनाशी वा अरे अयमात्मा इत्यादि वाक्यों से ही आत्मज्ञान का सम्पादन करना चाहिये। उसी उक्त तथ्य को तद् यदि प्रमाणान्तरेण इत्यादि ग्रन्थ से बता रहे हैं—तद् यदि प्रमाणान्तरेण आत्मन: शरीरादिविवेको नैकान्तत: सिध्यति ततो दृढविवेकप्रतिपादकानामुपनिषद् वाक्यानां विस्पष्टमेव फलम्। उपर्युक्त शरीरात्मभेदरूप तथ्य का बोध यदि अनुमानादि अन्य प्रमाणों से निर्णीत

नहीं हो पाता है, तो अध्ययन विधि ही अविनाशी वा इत्यादि वाक्यों की आत्मज्ञानार्थता का विधान करता है। अर्थात् अविनाशी वा इत्यादि वाक्यों से ही आत्मज्ञान का सम्पादन करे। शरीर और आत्मा दोनों के दृढतया भेदबोधक उपनिषद्वाक्यों से शरीरात्मबोधन और आत्मा का नित्यत्व बोधनरूप फल तो स्पष्ट ही है। इसी तथ्य को श्लोकवार्तिक के द्वारा प्रमाणित किया गया है—इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या। दृढत्वमेतद् विषयः प्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन। अत्र का अर्थ है—पञ्चमसूत्र के अन्तिम भाष्य में। एतद्विषयः = आत्मविषयको बोधः। वेदान्तवाक्यविचारेण दृढत्वं प्रयाति = दृढो भवति इत्यर्थः।

अथ त्वन्यतोऽपि सिध्यति? ततो यथैवाऽन्यथाऽपि क्रतुज्ञानसम्भवेऽध्ययनोपात्तवेदवाक्यावगतकर्मरूपाणामेव पुँसां कर्मस्वधिकारः तथैवाऽध्ययनोपात्तोपनिषद्वाक्याऽवगताऽऽत्मतत्त्वानामेवाऽधिकार इत्यध्ययनविधिबलादेव कल्प्यते।

शङ्का—जबकि अनुमानादि प्रमाणों से ही आत्मज्ञान हो जाता है तो अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा: (बृह. उप.- ४।५।१४) इत्यादि वाक्यों को व्यर्थ ही मानना होगा।

समाधान—ततो यथैवाऽन्यथापीति। अध्ययनविधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) को नियामक मानकर (नियमविधि मानकर) जैसे कर्मज्ञान प्रकारान्तर से होने पर भी उसे वेदवाक्यों से जानना चाहिये—इस नियम के अनुसार जिन्होंने कर्म का स्वरूप वेदवाक्यों से जाना है, उन्हीं का कर्मानुष्ठान में अधिकार होता है, उसी तरह आत्मज्ञान की जानकारी प्रकारान्तर से होने पर भी उपनिषद्वाक्यों से ही वह अवगत (ज्ञात) होनी चाहिये—यह नियम है। अतः उपनिषद् वाक्यों से जिन्होंने आत्मतत्त्व को जाना है, उन्हीं का कर्म में अधिकार माना गया है—यह नियम अध्ययन विधि के होने से ही किया गया है। अतः उपनिषद् वाक्य व्यर्थ नहीं है।

प्रश्न—अविनाशी अरे इत्यादि वाक्यों की कर्मानुष्ठानोपयोगी आत्मज्ञानार्थता का विधान भी अध्ययनविधि से ही किया गया है। यदि आत्मज्ञान अध्ययनविधिप्रयुक्त ही है तो आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः- आदि आत्मज्ञान के विधिवाक्यों का वैयर्थ्य ही समझना चाहिये। उनकी क्या आवश्यकता है?

यत्त्वात्मसद्भावप्रतिपादनोपक्रमे विधिसरूपं वाक्यम्—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः इत्यादि तद्वक्ष्यमाणस्यार्थस्याऽतिगहनत्वान्महोपयोगत्वाच्च कथं हि नामाऽऽलस्यं हित्वा श्रद्धाविशेषेण वक्ष्यमाणमर्थम्प्रतिपद्येत इत्येतावन्मात्रार्थम्। तस्मादेतज्ज्ञानं दृष्टोपयोगित्वात् क्रत्वर्थम्।

उत्तर—आत्मनिरूपणप्रकारण के आरम्भ में वाजसनेय उपनिषद् में षष्ठाध्याय के पञ्चम ब्राह्मण में द्रष्टव्य शब्द का प्रयोग करने से विधिसदृश (विधिसरूप) वाक्य का उल्लेख किया गया है— आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः आदि इसका अर्थ आगे बताया जायगा,

जो अतिगम्भीर है और अत्यन्त उपयोगी भी है। ऐसा आत्मज्ञान के उद्देश्य से मनुष्य को प्रवृत्त करने के लिये द्रष्टव्यः कहा गया है। वस्तुतः आत्मज्ञान का विधान तो अध्ययनविधि ने ही कर दिया है, तथापि पुनः कथन करना अनर्थक (व्यर्थ) नहीं है; क्योंकि मनुष्य को आत्मज्ञान प्राप्त की ओर प्रवृत्त करने में सहायक ही है। अन्यथा मनुष्य अपने आलस्य का त्यागकर श्रद्धाविशेष के साथ वक्ष्यमाण तत्त्व को कैसे जान सकेगा? यही विशिष्ट प्रयोजन है। तस्मात् एतज्ज्ञानम्– अविनाशी वा वाक्यजन्य आत्मज्ञान का दृष्टोपयोगित्वात् याग आदि कर्मों में प्रवृत्ति कराने के लिये उसका उपयोग होता है। अतः उसे क्रत्वर्थ समझना चाहिये।

यानि पुनरितिकर्तव्यताविशेषयुक्तान्युपासनात्मकानि विधीयन्ते, तेषां क्रतौ दृष्टोपयोगाभावाददृष्टफलत्वम्। अदृष्टं च फलं वाक्यशेषाद् द्विविधम्—अभ्युदयरूपं निःश्रेयसरूपं च। सर्वान् कामानाप्नोति, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् इत्याद्यभ्युदयफलम्। न स पुनरावर्तते इत्यादि निःश्रेयसफलमिति विवेकः।

आत्मज्ञान की क्रत्वर्थता बताकर पुरुषार्थता बता रहे हैं—**यानि पुनरितिकर्तव्यता-विशेषयुक्तानीति**। जो इतिकर्तव्यताविशेष के रहित उपासना रूप ज्ञानों को बताया गया है, जैसे—मनो ब्रह्मेत्युपासीत इत्यादि वाक्यों का क्रतु में दृष्ट– उपयोग न होने से उन्हें अदृष्टफलक समझा जाता है वह अदृष्ट फल वाक्यशेष से दो प्रकार का होता है—अभ्युदयरूप (स्वर्गरूप) और निःश्रेयसरूप। जैसे—सर्वान् कामानाप्नोति, सोऽश्नुते सर्वान् कामान्—यह सप्रमाण अभ्युदय फल बताया है। न स पुनरावर्तते—यह मोक्षफल बताया है। निःश्रेयसम् = मोक्षः। उक्त द्विविध पुरुषार्थप्राप्ति के लिये भी भगवती श्रुति ने आत्मज्ञान को ही साधन के रूप में बताया है। एवञ्च आत्मज्ञान से धर्माऽधर्म का उच्छेद होना सम्भव है। मीमांसकों के विचारानुसार धर्माऽधर्मोच्छेद की प्रणाली के द्वारा ही मोक्षप्राप्ति का प्रयोजक आत्मज्ञान ही सिद्ध होता है; किन्तु उपासनारूप आत्मज्ञान को क्रत्वङ्ग नहीं माना जाता; क्योंकि अनुपासनारूप आत्मज्ञान से भी क्रतुनिष्पत्ति का होना सम्भव है। अतः आत्मज्ञान के क्रत्वर्थ होने में कोई बाधा नहीं है। स्वर्गादि भोगप्राप्त्यर्थ शरीरातिरिक्त नित्य जो आत्मस्वरूप, उसका निश्चयमात्र ही अपेक्षित है। परमोत्कृष्ट जो उपासनात्मक ज्ञान है, वह तो स्वत एव (स्वयं ही) प्रधान होने से क्रत्वङ्ग नहीं है।

शङ्का—आत्मज्ञान को क्रत्वर्थ (क्रत्वंग) तब माना जा सकता है, यदि वह शरीर से पृथक् (अतिरिक्त) रहे, किन्तु वह शरीर से पृथक् (अतिरिक्त) नहीं है। भगवती श्रुति स्वयं बता रही है— **विज्ञानघन एव** आदि वाक्य से शरीर को ही आत्मा कहा गया है। अथवा आत्मा को भी विनाशी बताया गया है।

(आत्मनित्यत्वेनाधिकरणोपसंहारः)

यत्तु विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्यति न

प्रेत्य सञ्ज्ञाऽस्ति— इत्यनेन ब्राह्मणेन भूतचैतन्यमुक्तमित्याऽऽशङ्क्यते, तत् स्वयमेव ब्राह्मणेनाऽत्रैव मा भगवन् मोहान्तं प्रापितवान् पूर्वमजराऽमृतत्वमभिधायाऽधुना विनाशीत्यभिधानात् इति पूर्वपक्षं चोद्याख्यमुक्त्वा सिद्धान्तपरिहार उक्तः। अविनाशी वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा इत्युक्त्वा, कथं तर्हि विनाशवचनमित्याशङ्क्य मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति इत्युक्तम्, मात्राशब्देन भूतेन्द्रियाणि धर्माऽधर्मौ च विकारशब्दवाच्या उच्यन्ते।

समाधान—विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः (बृह. उपनिषद्– २।४।१२)– इस ब्राह्मण-वाक्य से चार्वाकमत के अनुसार शरीर को ही (भूतचैतन्य को ही) चैतन्य शब्द से जो बताया गया है। इस श्रुत्युक्त पूर्वपक्ष को स्वयं ब्राह्मणवाक्य ने पुनः दोहराया है—मा भगवान् मोहान्तम्प्रापितवान्। उसके परिहार के रूप में सिद्धान्त बताया है—अविनाशी वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा इति। अतः पुनः जिज्ञासा होती है कि– यदि वह अविनाशी है, तो तान्येवाऽनुविनश्यति यह कैसे कहा है?

'मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' कहकर उत्तर दिया है। संसर्ग = सम्बन्ध। अस्य = आत्मनः। मात्रा शब्द का अर्थ बता रहे हैं—भूतेन्द्रियाणि, धर्माऽधर्मौ च विकारशब्दवाच्या उच्यन्ते। अभिप्राय यह है कि भूतादिकों के साथ आत्मा का सम्बन्ध होता है, अतः भूतादिकों के विनाश के साथ ही आत्मा का भी विनाश कहा करते हैं। जैसे गृह का विनाश होने पर उसमें निवास करने वाला देवदत्त ही नष्ट हो गया—कहा जाता है। आत्मा का विनाश स्वरूपतः नहीं होता है; क्योंकि आत्मा नित्य है।

एतदुक्तं भवति—विज्ञानघनशब्देन ज्ञानशक्तिस्वभावस्याऽऽत्मनोऽभिधानं स ह्यतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय मुक्तो भूत्वा तान्येवाऽनुविनश्यति भूतविनाशात् सोऽपि विनष्ट इव भवतीति, भूतस्थो ह्यसौ स्वयं प्रत्यक्षेण गृह्यते, परैश्च शरीरचेष्टालिङ्गकेन अनुमानेन। मुक्तस्तु प्रमाणपथातिवर्तनाद् विनष्ट इव भवतीति विनश्यतीत्युच्यते, तदनेन प्रकारेण मात्राणामेव विनाश इत्युच्यते, नाऽऽत्मन इत्यविरोधः। तदुक्तम्—

अविनाशी स्वरूपेण पुरुषो या तु नाशिता ।
मात्राणां साधिकाराणां भूतादीनामसंज्ञिता ।। इति।

भगवती श्रुति की व्याख्या करते हुए ग्रंथकार अपने अभिप्राय को प्रकट कर रहे हैं—**एतदुक्तं भवति**। उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है—विज्ञानघन शब्द से ज्ञान-शक्तिस्वभाव वाले आत्मा का अभिधान करना स हि एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय = मुक्तो भूत्वा तान्येव विनश्यति = भूत विनाशात् सोऽपि विनष्ट इव भवतीति, भूतस्थो ह्यसौ स्वयंप्रत्यक्षेण गृह्यते, परैश्च शरीरचेष्टालिङ्गकेन अनुमानेन, मुक्तस्तु प्रमाणयथातिवर्तनाद्

विनष्ट इव भवतीति विनश्यतीत्युच्यते, तदनेन प्रकारेण मात्राणामेव विनाश इत्युच्यत्ते नाऽऽत्मन इत्यविरोधः। अर्थाः सः = आत्मा। वह आत्मा इन भूतों से समुत्थाय = मुक्त होकर, तान्येव अनुविनश्यति = भूतों के निष्ट होने से वह (आत्मा) भी नष्ट इव = नष्ट हुआ-सा प्रतीत होता है, भूतस्थो हि असौ = शरीर में स्थित रहने वाला यह आत्मा स्वयं प्रत्यक्षतया ज्ञात होता रहता है और अन्य लोगों के द्वारा शारीरिक चेष्टादि कारणों से होने वाले अनुमान प्रमाण से जाना जाता है; किन्तु मुक्त पुरुष तो प्रमाण पथ का उल्लंघन करने के कारण विनष्ट इव– विनष्ट हुआ–सा जान पड़ता है। एवञ्च इस प्रकार से भूत इन्द्रियाँ आदि विकार शब्दवाच्य मात्राओं का ही विनाश होता है, आत्मा का विनाश कभी भी नहीं होता। अतः कोई किसी प्रकार से भी विरोध नही है। अर्थात् तान्येव अनुविश्यति, अविनाशी वा—इन दोनों वाक्यों के साथ कोई विरोध नहीं होता। अविनाशी वा इस वाक्य से आत्मस्वरूपमात्र का अविनाशित्व बताया है और तान्येवाऽनुविनश्यति—इस वाक्य से मात्राओं का ही अथवा मात्रासंसर्ग का ही विनाशित्व बताया गया है। आत्मस्वरूप का विनाश नहीं बताया गया है, इसलिये परस्पर कोई विरोध नहीं है। उक्त तथ्य को वार्त्तिककार श्रीभट्टपाद ने भी प्रदर्शित किया है—

अविनाशी स्वरूपेण पुरुषः या तु नाशिता ।
मात्राणां साधिकाराणां भूतादीनामसंज्ञिता ।।

अर्थात् पुरुषः = आत्मा स्वरूपेण अविनाशी ही है। यह जो कहा जाता है कि आत्मा का विनाश होता है—इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आत्मा का स्वरूप नष्ट होता है, किन्तु मात्राणां साधिकाराणाम् अर्थात् अधिकार शब्द से वाच्य = कहे जाने वाले धर्माऽ-धर्म के सहित मात्राणाम्– इन्द्रियाणामेव, अर्थात् साधिकार (धर्माऽधर्म के सहित) इन्द्रियों का आत्मा के साथ जो सम्बन्ध है, उसका नाश मोक्षकाल में हो जाने से पुरुषो (आत्मा) विनष्टो भवति, तान्येव अनुविनश्यति। यह कहा जाता है। आत्मा का स्वरूपेण विनाश कभी भी नहीं होता; क्योंकि वह (आत्मा) तो नित्य है, अर्थात् सर्वदैव उसकी स्थिति रहती है। निष्कर्ष यह है कि मुक्त पुरुष किसी भी प्रमाण का विषय न हो पाने से लुप्त पदार्थ के सामान गौण विनाश उसका (आत्मा का) कहा जा सकता है, वास्तव में उसका विनाश कभी भी नहीं है।

वार्त्तिककार भट्टपाद प्राकरणिक अर्थ बता रहे हैं—**भूतादीनामसंज्ञिता इति**। भूतेन्द्रियाविज्ञानानां तु असंज्ञिता = अचैतन्यमेव। एवञ्च भूतादि जड़ पदार्थों से अतिरिक्त (अन्य) ही आत्मा है; क्योंकि वह (आत्मा) चेतन है। वार्त्तिककार भट्टपाद ने 'भूतादीनाम् असंज्ञिता' जो कहा है, उस पर पुनः जिज्ञासा की जा रही है।

किमिदं भूतादीनामसंज्ञिता इति? यदि तावत् न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति इत्यस्य व्याख्यानम्? तदयुक्तम्– न हि न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति इत्यनेन भूतादीनाम-संज्ञित्वमुच्यते। किं तर्हि? आत्मन एव मुक्तस्य संज्ञाऽभावोऽनेनोच्यते, तस्यैवोपायाऽभावेन तत् केन कं पश्येत् इत्यादिना विज्ञातारमरे केन

विजानीयात् इत्यन्तेन विज्ञानाऽभावोपपादनात्। सत्यं, नेदमस्य व्याख्यानम्, प्रकरणार्थोपसंहारस्त्वयम्—यत एवं पूर्वोक्तेन न्यायेन भूतचैतन्यं न सम्भवति, ब्राह्मणेनाऽपि तथैवोक्तं, तस्मात् भूतेन्द्रियाणामसंज्ञित्वमचैतन्यम्, अन्यस्तु तेभ्यो नित्यश्चेतनः, तस्य स्वर्गगमनसम्भवान्न स्वर्गं लोकं याति इत्यस्य प्रत्यक्षविरोधः।।५।।

।। इति पञ्चमसूत्रं पञ्चमाऽधिकरणं च समाप्तम् ।।



प्रश्न—पूर्वोक्त भूतादीनाम् असंज्ञिता के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है—**किमिदम् इति**। क्या न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति—इस कथन की यह व्याख्या है? उसकी व्याख्या कहना तो उचित नहीं होगा; क्योंकि व्याख्येय वाक्य और व्याख्यान वाक्य—दोनों की समानार्थता होनी चाहिये, यह नियम है। इस पर सिद्धान्ती पूछता है—**किं तर्हि?** अर्थात् न प्रेत्य इस वाक्य से क्या कहना चाहते हैं?

तब पूर्वपक्षी उत्तर देता है—**आत्मन एव मुक्तस्येति**। मुक्त हुए आत्मा की ही यह संज्ञा (नाम) कही गई है। मुक्त आत्मा की संज्ञा इसलिये कही गई है कि तस्यैव उपायाऽभावेन– आत्मा के जानने का कोई साधन (उपाय) नहीं है। इसी कथन को 'तत् केन कं पश्येत्' से लेकर 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' तक के वाक्यों से उसके विज्ञानाऽभाव को ही बताया गया है।

सिद्धान्ती पूर्वपक्षी के उक्त कथन का खण्डन कर रहा है—**सत्यं, नेदमस्य व्याख्यानमिति**। इदम् = भूतादीनामसंज्ञिता—यह वाक्य, अस्य = न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति—इस वाक्य का व्याख्यान (व्याख्या) नहीं है, किन्तु प्राकरणिक अर्थ का यह उपसंहार ही है। अर्थात् भाष्य के प्राकरणिक अर्थ का उपसंहार है। **यत एवं पूर्वोक्तेन न्यायेनेति**। क्योंकि पूर्वोक्त न्याय से भूतचैतन्य कहना तो सम्भव नहीं है। ब्राह्मण ने भी वैसा ही (भूतानामचैतन्यं) न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति कहा है। तेभ्यः = भूतादिभ्यः = उन जडात्मक भूत आदिकों से अन्य (अतिरिक्त = पृथक्) ही यह चेतन (आत्मा) नित्य (अविनाशी) पदार्थ है। तस्य स्वर्गगमनसम्भवात् न स्वर्गं लोकं याति– इत्यस्य प्रत्यक्षविरोधः अर्थात् तस्य = उस चेतन आत्मा का स्वर्गगमन सम्भव है, असम्भव नहीं है, उस कारण स्वर्गं लोकं याति का प्रत्यक्षविरोध नहीं है। अर्थात् स एष यज्ञायुधी इस वाक्य में पूर्वोक्त प्रत्यक्षविरोध जो प्रदर्शित किया गया था, वह नहीं है; क्योंकि उक्त वाक्य से शरीर का वस्तुतः स्वर्ग-गमन नहीं बताया जा रहा है, किन्तु आत्मा (चेतन) के स्वर्ग-गमन का शरीर में उपचार किया गया है अर्थात् लाक्षणिक प्रयोग किया गया है।।

।। इति पञ्चमसूत्र व्याख्यानं पञ्चमाऽधिकरणं च समाप्तम् ।।



षष्ठं शब्दनित्यताऽधिकरणम्

कर्मैके तत्र दर्शनात् ।।६।।

[अस्थानात्।।७।। करोतिशब्दात्।।८।। सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात्।।९।। प्रकृतिविकृत्योश्च।।१०।। वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य।।११।। समं तु तत्र दर्शनम्।।१२।। सतः परमदर्शनं विषयानागमात्।।१३।। प्रयोगस्य परम्।।१४।। आदित्यवद्यौगपद्यम्।।१५।। वर्णान्तरमविकारः।।१६।। नादवृद्धिपरा।।१७।। नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्।।१८।। सर्वत्र यौगपद्यात्।।१९।। संख्याभावात्।।२०।। अनपेक्षत्वात्।।२१।। प्रख्याभावाच्च योग्यस्य।।२२।। लिङ्गदर्शनाच्च।।२३।।]

शब्दस्याऽर्थप्रत्यायकत्वं स्वाभाविकमिति यदुक्तं तदाऽऽक्षिप्यते शब्दस्याऽनित्यत्वात्, न ह्यभिनवस्य शब्दस्य वृद्धव्यवहारपरम्परया स्वाभाविकं प्रत्यायकत्वं शक्यते गृहीतुम्, अगृहीतमपि चेत् स्वभावतश्चक्षुरादिवत् प्रत्याययेत्। प्रथमश्रवणेऽपि प्रत्याययेत्। तस्मादनित्यत्वे शब्दस्य देवदत्तादिशब्दवत् पुरुषकृतमेव प्रत्यायकत्वमापद्यते ।

इस अधिकरण में अष्टादश (अठारह = १८) सूत्र हैं। जैसे कि **पूर्वपक्ष में**—छः सूत्र कर्मैके तत्र दर्शनात्, अस्थानात्, करोतिशब्दात्, सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात्, प्रकृतिविकृत्योश्च, वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य।

उत्तरपक्ष में—समंतु तत्र दर्शनम्, सतः परमदर्शनं विषयाऽनागमात्, प्रयोगस्य परम्, आदित्यवद् यौगपद्यम्, वर्णान्तरमविकारः, नादवृद्धिपरा, नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्, सर्वत्र यौगपद्यात्, संख्याभावात्, अनपेक्षत्वात्, प्रख्याभावाच्च योगस्य, एवं लिङ्गदर्शनाच्च। शब्द की नित्यता को सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत अधिकरण का आरम्भ कर रहे हैं— **कर्मैके इति** ।

शङ्का—शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य तब कह सकते हैं जब शब्द नित्य हो; क्योंकि सम्बन्ध की नित्यता सम्बन्धी की नित्यता के अधीन होती है। शब्द तो नित्य है नहीं।

कर्मैकि तत्र दर्शनात् सूत्र मे तत्र शब्द में सप्तमी का अर्थ विषयत्व है। कर्मण: = क्रियाया दर्शनात् अर्थात् शब्दोत्पादक क्रिया के दर्शन से। तथा च क्रिया से जन्य (उत्पन्न) होने के कारण अनित्य: शब्द: = अनित्य है। इसलिये शब्द और अर्थ का (दोनों का) सम्बन्ध भी अनित्य ही है— यह सूत्रार्थ है। इस षष्ठ सूत्र से पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया है। वार्त्तिक में कहा भी है—

यद्यनित्यत्वपक्षेऽपि शब्दादर्थोऽवगम्यते ।
अनादिर्व्यवहारश्च नित्यत्वं किं नु साध्यते ।।

भाष्य तथा वार्त्तिक के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए स्वयं व्याख्या कर रहे हैं— **शब्दस्याऽर्थप्रत्यायकत्वमिति** । शब्द का अर्थप्रत्यायकत्व (अर्थबोधकत्व) होना स्वाभाविक (नैसर्गिक) है अर्थात् नित्य है— यह जो कहा गया है, उस पर आक्षेप कर रहे हैं। आक्षेप इसलिये कर रहे हैं— शब्दस्य अनित्यत्वात् । यत: यस्मात् कारणात् शब्द: अनित्य:, तस्मात् अर्थप्रत्यायकत्वस्य नित्यत्वे आक्षेप:। शब्द यदि नित्य होता तो उसका अर्थप्रत्यायकत्वरूप धर्म भी कदाचित् नित्य कहलाता। जबकि धर्मी रूप शब्द ही अनित्य है तो उसका अर्थप्रत्यायकत्व धर्म कैसे नित्य हो सकेगा?

इस पर पूर्वपक्षी अर्थप्रत्यायकत्व की अनित्यता का उपपादन करता है— न हि अभिनवस्य शब्दस्य वृद्धव्यवहारपरम्परया स्वाभाविकं शक्यते गृहीतुम् । अभिनवस्य = अगृहीतशक्तिकस्य = अभी अभी उत्पन्न हुए अथवा सुनाई देने वाले (श्रूयमाण) शब्द अर्थात् वाक्य का स्वाभाविक बोधकत्व (प्रत्यायकत्व) वृद्धव्यवहारपरम्परा द्वारा होना सम्भव हो सकता है। जैसे किसी वृद्ध (अधिक अवस्था वाले बडे) आदमी ने अपने से न्यून (कम) अवस्था वाले व्यक्ति से कहा— गाम् आनय = गाय को यहाँ ले आओ और घोडे को वहाँ ले जाओ इन वाक्यों को सुनने के पश्चात् गाय को लाना और घोड़े को अन्यत्र ले जाना आदि व्यापार किया जाता है। शब्द के नित्यत्व होने के कारण उसके प्राक्तन होने की सम्भावना रहने पर भी वृद्धजनों के व्यवहारपरम्परा से पूर्व-पूर्वतर लोगों के द्वारा अमुक शब्द का अर्थ ज्ञान होना स्वाभाविक ही है, अत: शब्द का अर्थबोधक होना स्वाभाविक ही है।

शङ्का—जब कि वह अनित्य है, उस कारण जो शब्द अभी-अभी सुना है, उससे अर्थबोधन नहीं हो पाता है, तब उसका अर्थप्रत्यायकत्व (अर्थबोधकत्व) स्वाभाविक है-यह कैसे समझा जा सकेगा? सर्वदा ही उसका अर्थप्रत्यायकत्व मानने पर उसकी अर्थप्रत्यायकता को कदाचित् नित्य कहा भी जा सकता है, किन्तु अभिनव शब्द के प्रथमश्रवण काल में वह अर्थ का प्रत्यायक (बोधक) नहीं हो पाता, उस कारण शब्द की अर्थप्रत्यायकता को नित्य नहीं कह सकते।

किञ्च—शब्द की अर्थप्रत्यायकता को नित्य मानने पर शक्तिग्रह की आवश्यकता ही नहीं रहेगी, उसे व्यर्थ ही कहना होगा; किन्तु शब्द का अर्थप्रत्यायकत्व होना ही

शक्तिग्रह का प्रयोजन माना जाता है। **अगृहीतमपि चेत् इति** उक्त पद का अर्थ अगृहीत-शक्तिमपि पदं वाक्यं वा समझना चाहिये। अगृहीतम् का प्रत्यायकत्व के साथ अन्वय नहीं करना है। अगृहीतमपि का अर्थ प्रथमश्रुतमपि समझना चाहिये। जैसे– चक्षु का सम्बन्ध किसी भी वस्तु के साथ होते ही द्वितीयक्षण में ही वह पदार्थ = (वस्तु) का ज्ञान करा देता है, अत एव चक्षु का प्रत्यायकत्व स्वाभाविक कहा जाता है; किन्तु शब्द का प्रत्यायकत्व (बोधकत्व) वैसा नहीं है। प्रथम श्रवण मे पहले-पहले सुनने पर अर्थज्ञान नहीं हो पाता, इस कारण शब्द का प्रत्यायकत्व (बोधकत्व) स्वाभाविक नहीं कह सकते। इस प्रकार शब्द की अनित्यता सिद्ध होने पर जैसे– देवदत्त का पुरुषकृत प्रत्यायकत्व है, क्योंकि देवदत्त के पिता ने अपने पुत्र के शरीर के साथ देवदत्त शब्द का सम्बन्ध निर्माण किया है, इस कारण यह प्रत्यायकत्व पुरुषकृत (पौरुषेय) है, उसी तरह अन्यान्य शब्दों का भी प्रत्यायकत्व (बोधकत्व) अनित्य ही है; क्योंकि वह पुरुष कृत (पौरुषेय) है। वह प्रत्यायकत्व स्वाभाविक नहीं है।

कथं पुनरनित्यत्वं शब्दस्य? प्रयत्नाऽनभिव्यङ्ग्यत्वे सति तदनन्तर-मुपलब्धेर्घटादिवत् तज्जन्यत्वमध्यवसीयते, अन्यथा किमिति तदनन्तर-मेवोपलभ्यते; न पूर्वम्, उपलब्धस्य च द्रागेव तिरोभावाद् विनाशित्व-मध्यवसीयते। न चाऽसिद्धमनभिव्यङ्ग्यत्वम्, अभिव्यक्त्ययोगात्। सा हि प्रतिबन्धकनिरासेन वा संस्कारविशेषाऽऽधानेन वा। न तावत् प्रतिबन्ध-निरासः, प्रतिबन्धकाऽनुपलब्धेः। स्तिमिता वायवः श्रोत्रमाच्छाद्याऽव-स्थिताः शब्दोपलब्धिं प्रतिबध्नन्ति, तेषु प्रयत्नोत्थापितैः कौष्ठ्यैर्वायुभि-रुत्सारितेषूपलभ्यते शब्द इति चेत्? एवं एर्हि सर्वे शब्दाः सर्वगतत्वाच्छ्रोत्रं प्राप्याऽवस्थिताः प्रतिबन्धकेषूत्सारितेषु युगपच्छ्रूयेरन्।

मीमांसक शब्द को अनित्य कहने में कारण पूछ रहा है— **कथं पुनरिति।** शब्द को अनित्य मानने में कारण (हेतु) क्या है?

पूर्वपक्षी उत्तर दे रहा है— **प्रयत्नाऽनभिव्यङ्ग्यत्वे सति इति।** यदि प्रयत्न करने के अनन्तर (पश्चात्) भी उपलभ्यमान शब्द पुनः प्रयत्नाऽभिव्यङ्ग्य होता है, तो यह मानना होगा कि प्रयत्न से पुनः नित्य शब्द की अभिव्यक्ति ही हो रही है, उसकी (शब्द) की उत्पत्ति होती है— यह नहीं कहा जा सकेगा।

प्रयत्न करने पर शब्द की उत्पत्ति ही होती है, तब उत्पद्यमान वस्तु को नित्य कहना उचित नहीं है। अन्यथा घट-पटादि पदार्थों को भी नित्य कहना पड़ेगा। यदि शब्द को प्रयत्नजन्य न माना जाय, तो प्रयत्न करने के पूर्व भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिये, किन्तु प्रयत्न के पूर्व उसकी उपलब्धि नहीं होती। अतः उसकी उपलब्धि को प्रयत्नजन्य ही कहना होगा। व्याकरणशास्त्र में शाब्दप्रयत्न को बताया गया है— प्रयत्नो **द्विधा**

आभ्यन्तरो बाह्यश्च इत्यादि: । शब्द का विनाशित्व उपलब्धस्य च द्रागेव तिरोभावात् विनाशित्वमध्यवसीयते बताया है। प्रयत्न से शब्द की अभिव्यक्ति ही होती है। अत: शब्द अनभिव्यङ्ग्य नहीं है, जिससे शब्द को अनित्य कहा जा सके।

समाधान— न च असिद्धमनभिव्यङ्ग्यत्वम् = प्रयत्नजन्यत्वमेव सिद्धम् इत्यर्थः। अभिव्यङ्ग्य न होने में हेतु बताते हैं— **अभिव्यक्तयोगात्** । **अभिव्यक्ति दो प्रकार से हो** सकती है— प्रतिबन्धक के न रहने पर अथवा संस्कारोत्पादन होने पर। प्रतिबन्धक का न रहना, जैसे- परदे के भीतर रखे हुए घट की उपलब्धि तभी होती है, जब प्रतिबन्धकीभूत परदे को (जवनिका को) दूर किया जाता है। संस्काराधान का उदाहरण, जैसे- दर्पण पर भस्ममर्दन करने से प्रतिबिम्ब की स्पष्टतया उपलब्धि होती है। न तावत् प्रतिबन्धनिरास: प्रतिबन्धकाऽनुपलब्धे: से प्रतिबन्धकनिरास पक्ष का निरासकरण किया गया है। यदि प्रतिबन्धक हो तो उसका निरास भी किया जा सकता है; किन्तु प्रतिबन्धक तो कोई है ही नहीं, जिस कारण उसका निरास होने पर शब्द की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं— यह कहा जा सके।

शङ्का- श्रोत्रगत बाह्य वायु (स्तिमित = निश्चल वायु, श्रोत्राकाश को आच्छादित कर देता है, जिससे शब्द की उपलब्धि होना प्रतिबद्ध (रुक) हो जाता है। उसका निरास प्रयत्नपूर्वक उत्थापित कोष्ठगत वायुओं से हो जाता हैं। (स्तिमिता: वायव का अर्थ विस्तृत अर्थात् स्थित = निश्चल वायु) ही प्रतिबन्धक हैं, उन्हीं का उत्सारण करना ही प्रतिबन्धक निरास है। प्रतिबन्धक वायुओं को दूर कर देने पर शब्द की उपलब्धि होती है— ऐसा यदि कहा जाय, तो वह उचित नहीं है।

समाधान- **एवं तर्हि इति** । तुम्हारे मत के अनुसार वर्णों की व्यापकता रहने से वर्णात्मक शब्द भी व्यापक ही कहलायेंगे, तब एक श्रोत्र में सभी शब्द स्थित ही हैं, तब कोष्ठ की वायुओं से प्रतिबन्धकीभूत वायुओं को उत्सारित कर देने पर सभी शब्द एक साथ (युगपत्) ही सुनाई देने चाहिये? किन्तु ऐसा नहीं होता है अर्थात् एक साथ नहीं सुनाई देते। अत: यह पक्ष समीचीन (तर्कसंगत) नहीं प्रतीत हो रहा है।

अथ संस्काराऽऽधानं तत्राऽपि त्रैविध्यम् शब्दस्य वा संस्कारमादध्यु: कौष्ठ्या वायव: श्रोत्रस्य वोभयोर्वा शब्दस्य चेत् ? तस्यैकत्वात् सर्वगतत्वादनवयवत्वेनाऽवयवसंस्काराऽयोगात् स्रुघ्नस्थैर्वायुभि: संस्कृत: शब्द:, पाटलिपुत्रेऽप्युपलभ्येत। तदिदमुक्तम्— तत्र सर्वै: प्रतीयेत— इत्यादिना । श्रोत्रसंस्कारपक्षेऽप्यमेव दोष: ।

अब संस्काराऽऽधानपक्ष को उपस्थित कर रहे हैं— **अथ संस्काराऽऽधानमिति।** संस्काराऽऽधान भी त्रिधा = तीन प्रकार से सम्भव हो सकता है— **तत्राऽपि त्रैविध्यम् इति।** उक्त त्रैविध्य को ही बता रहे हैं— **शब्दस्येति** । उक्त संस्काराऽऽधान शब्द का

होगा या श्रोत्र का होगा या शब्द और श्रोत्र— दोनों का होगा? उक्त तीन पक्षों में से प्रथम पक्ष का निराकरण कर रहे हैं— **शब्दस्य चेत् इति** । शब्द का संस्कार इस प्रथम पक्ष का ग्रहण यदि करते हैं, तो पहिले यह बताइये कि शब्द का जो संस्कार है, वह श्रावणप्रत्यक्षयोग्यत्वरूप संस्कार है अथवा श्रावण प्रत्यक्षविषयत्वरूप संस्कार है?

यदि शब्द का संस्कार है तो कौष्ठ्य वायुओं के द्वारा उसका (शब्द का) संस्कार होने पर वह शब्द समस्त देशों में (स्थानों में) सुनाई देना चाहिये; क्योंकि शब्द एक है और व्यापक भी है, किन्तु सर्वत्र नहीं सुनाई देता।

शङ्का—यदि यच्च-यावत् सभी शब्दों का संस्कार होता तो सर्वत्र सुनाई भी देता; किन्तु सभी शब्दों का संस्कार न होने से सर्वत्र नहीं सुनाई देता।

समाधान—अनवयवत्वेनेति । यच्च-यावत् समस्त शब्दों का संस्कार नही है— इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्दावयव का संस्कार होता है, किन्तु यह कहना अब सम्भव नहीं है; क्योंकि तुमने शब्द को अनवयव (अवयवशून्य = अवयवरहित) माना है। उक्त कथन की प्रामाणिकता में पूर्वपक्षीय श्लोकवार्तिक को प्रमाण के रूप में उपथित कर रहे हैं—

सा हि स्याच्छब्दसंस्कारादिन्द्रियस्योभयस्य वा ।
तत्र सर्वैः प्रतीयेत शब्दः संस्क्रियते यदि ॥
निर्भागस्य विभोर्न स्यादेकदेशे हि संस्क्रिया ।
न चाऽस्याऽऽधारभेदेन संस्कारनियमो भवेत् ॥
यतः शब्दो निराधारो व्योमाऽऽत्मादिवदेव च ॥

श्रोत्रसंस्कारपक्ष में भी पूर्वोक्त दोष का ही अतिदेश कर रहे हैं। श्रोत्रसंस्कारपक्ष में भी यही दोष है। कणाद महर्षि के मतानुसार श्रोत्र को आकाशरूप कहा जाता है। सांख्याचार्य कपिल ऋषि के मतानुसार श्रोत्र को अहंकाररूप कहा जाता है। मीमांसादर्शन के प्रवर्तक महर्षि जैमिनि ने श्रोत्र को दिग्रूप माना है। इनके मत में आकाशादि पदार्थ दिग्रूप हैं और एक है तथा व्यापक है। अतः श्रोत्र भी व्यापक और एक है। एक श्रोत्र का संस्कार होने पर सभी श्रोत्र संस्कृत हो जाते हैं। अर्थात् सभी लोग एक ही समय में शब्द को सुन लेते हैं।

यदि काणादकापिलवैदिकमतेनाऽऽकाशमहङ्कारो वा दिग्वा श्रोत्रं तस्यैकत्वात् सर्वगतत्वादनवयवत्वाच्च सर्वपुँसामेकमेव श्रोत्रं स्यात्, तच्चैकदेशस्थैरपि ध्वनिभिः संस्कृतमिति कः सर्वेषां शब्दोपलब्धिं वारयेत् ? तदिदम् आकाशश्रोत्रपक्षे च इत्यादिना श्रोत्रादेरियमेव दिक् इत्यन्तेन दर्शितम् । अस्मिँश्च पक्षे श्रोत्रस्य सर्वशब्दसाधारणत्वादेक-शब्दोपलब्ध्यर्थमपि संस्कृतं श्रोत्रं प्रसङ्गात् सर्वान् शब्दान् घटार्थोन्मीलित-

मिव नेत्रं समानदेशस्थान् पटादीनवबोधयेत् तदिदम्। सकृच्च संस्कृतं श्रोत्रम् इत्यादिना दर्शितम् ।

पूर्वोक्त कथन को ही और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं— **यदि काणादेति** । यदि काणाद, कापिल तथा वैदिक मत के अनुसार अर्थात् वैशेषिक, सांख्य तथा मीमांसक मत के अनुसार आकाश को अहंकार को, अथवा दिक् = दिशा को श्रोत्र कहते हैं, तो (तस्य = आकाश आदि को। तच्च = श्रोत्रम् । सर्वेषां जनानाम्) तस्य = उस आकाश के एक रहने से और सर्वगत = सर्वत्र व्यापक रहने के कारण वह अनवयव है। उस कारण सर्वपुंसाम् = समस्त लोगों का एक ही श्रोत्र है— यह मानना होगा। काणादेति वाक्य का आकाशेति वाक्य के साथ यथासंख्य अन्वय करना चाहिये। इस सन्दर्भ में श्लोकवार्त्तिक को प्रमाण के रूप में दे रहे हैं— तदिदम्- आकाशश्रोत्रपक्षे च से लेकर श्रोत्रादेरियमेव दिक् तक प्रदर्शित किया है। तथाहि—

आकाशश्रोत्रपक्षे च विभुत्वात् प्राप्तितुल्यता ।
दूरभावेऽपि शब्दानामिति[1] ज्ञानं प्रसज्यते ॥
श्रोत्रस्य चैवमेकत्वं सर्वप्राणभृतां भवेत् ।
तेनैकश्रुतिवेलायां शृणुयुः सर्व एव ते ॥
तस्याऽनवयवत्वाच्च न धर्माऽधर्मसंस्कृतः ।
नभोदेशो भवेच्छ्रोत्रं व्यवस्थाद्वयसिद्धये ॥
वैशेषिकादिसिद्धान्तेष्वेवं तावत् प्रसज्यते ।
कापिलेऽपि विभुत्वेन श्रोत्रादेरियमेवदिक् ॥

इस प्रकार सभी लोगों के लिये शब्दोपलब्धिरूप आपत्तिदोष प्रदर्शित कर अब सभी शब्दों की उपलब्धिरूप आपत्ति दोष को बता रहे हैं— अस्मिँश्च पक्षे इति । अस्मिन् = श्रोत्र संस्कार पक्ष में (सकृच्च संस्कृतं श्रोत्रम्- इस पक्ष में) श्रोत्रं सर्वान् शब्दान् अवबोधयेत्— यह अन्वय होगा। इसमें दृष्टान्त बता रहे हैं— **घटेति** । पट देखने के लिये उन्मीलित (खोले गये) नेत्र समानदेशस्थान् = घट के समीप स्थित पटादि वस्तुओं को भी देख पाते हैं। इस सन्दर्भ में श्लोकवार्त्तिक का प्रमाण भी दे रहे हैं—

सकृच्च संस्कृतं श्रोत्रं सर्वशब्दान् प्रबोधयेत् ।
घटायोन्मीलितं चक्षुः पटं न हि न बुध्यते ॥

अयं च दोषः पूर्वोपक्षिप्तेऽपि शब्दसंस्कारपक्षे दर्शयितव्यः। सर्वे हि शब्दाः श्रोत्रदेशेऽवस्थितास्तत्रैकस्मिन् संस्क्रियमाणे बलादन्येषामपि संस्कारः स्यादेव। नहि समानदेशानां समानेन्द्रियग्राह्याणां कस्यचि-

---

१. यहाँ पर 'इति' शब्द हेतु के अर्थ में है।

त्संस्कारः कस्यचिच्चाऽसंस्कार इति व्यवस्था सम्भवति घटादाव-दर्शनात्, तदिदमुक्तम्— ''एतदेव प्रसङ्क्तव्यम्' इत्यादिना।

सभी लोगों को सर्व शब्दों की उपलब्धि का प्रसंग पूर्वोक्त शब्दसंस्कार-पक्ष मे भी होता ही है। इसी दोष को अधिक स्पष्ट कर रहे हैं— सर्वे हि शब्दाः श्रोत्र देशे अवस्थिताः तत्रैकस्मिन् संस्क्रियमाणे बलादन्येषामपि संस्कारः स्यादेव।

ऊपर प्रयुक्त किये तत्र का अर्थ शब्देषु और एकस्मिन् का अर्थ है— शब्दे। अन्येषा-मपि अर्थात् शब्दानामपि समझना चाहिये। ऊपर प्रयुक्त स्यादेव के साथ 'सर्वैः श्रोत्रवद्भिः सर्वे शब्दा गृहीताः स्युः' अंश जोड़ना चाहिये। ऐसा न करने पर बाधा यह उपस्थित होगी— न हि समानदेशानां समानेन्द्रियग्राह्याणां कस्यचित् संस्कारः, कस्यचिच्च असंस्कारः- इति व्यवस्था सम्भवति, घटादावदर्शनात्। अर्थात् अव्यवस्था होने लगेगी। निष्कर्ष यह है कि एकस्मिन् शब्दे संस्कृते, सर्वेषामेव संस्कारः स्यादेव इति। उक्त तथ्य की पुष्टि के लिये श्लोकवार्त्तिक का प्रमाण दे रहे हैं—

एतदेव प्रसङ्क्तव्यं विषयस्याऽपि संस्कृतौ।
समानदेशवर्तित्वात् संस्कारोऽप्यविशेषतः॥
स्थिरवाय्वपनीत्या च संस्कारोऽस्य भवन् भवेत्।
दृष्टं वाऽऽवरणाऽपाये तद्देशाऽन्योपलम्भनम्॥
संस्कृताऽसंस्कृतत्वे च शब्दैकत्वे न सिध्यतः॥ इत्यादि।

उभयसंस्कारपक्षे तूभयेऽपि दोषाः समुच्चित्य दर्शयितव्याः। तस्मान्न प्रयत्नऽभिव्यङ्ग्यः शब्दः, तज्जन्यस्त्वसौ प्रादेशिकश्च, श्रोत्रं च कर्ण-शष्कुल्येव, तथा सति हि कैश्चिदेव कश्चिदेव शब्दः श्रूयत इत्युपपद्यते, अन्यथा श्रोत्रव्यवस्था शब्दव्यवस्था चोभयमपि न स्यात्।

शब्द और श्रोत्र इन दोनों के ही संस्कार होने के पक्ष में तो उक्त दोनों ही दोष समुच्चित्य प्रदर्शित करने होंगे। तस्मात् न प्रयत्नाऽभिव्यङ्ग्यः शब्दः अर्थात् शब्द को प्रयत्नाऽभिव्यङ्ग्य नहीं कहना चाहिये। यदि शब्द, प्रयत्नाऽभिव्यङ्ग्य हो, तब तो उसे नित्य कहा भी जा सकेगा, किन्तु वैसी स्थिति है नहीं। अतः अपना सिद्धान्त बता रहे हैं- तज्जन्यस्त्वसौ प्रादेशिकश्च, श्रौत्रं च कर्णशष्कुल्येव। अर्थात् तज्जन्यः = प्रयत्नजन्य ही उसे = शब्द को स्वीकारना चाहिये। अतः शब्द नित्य नहीं है। तथैव वह (शब्द) विभु भी (व्यापक भी) नहीं है। अर्थात् प्रादेशिक है। उसी तरह श्रोत्र भी व्यापक नहीं है। श्रोत्रं च कर्णशष्कुल्येव। कर्णशष्कुली को ही श्रोत्र कहते हैं। शब्द और श्रोत्र को व्यापक मानने पर ही सभी लोगों को सर्वशब्दोपलब्धि का प्रसंग प्राप्त होता है, किन्तु हमारे मत में यह प्रसंग प्राप्त नहीं होता है; क्योंकि हम तो उन दोनों को अर्थात् शब्द और श्रोत्र को व्यापक नहीं मानते। हमारे मत में तो दोनों ही प्रादेशिक हैं।

उपर्युक्त तथ्य को यदि न स्वीकार करें अर्थात् श्रोत्र को आकाशरूप स्वीकार करें तो उसे व्यापक और एक कहना होगा। तब यह देवदत्त का श्रोत्र है और यह यज्ञदत्त का श्रोत्र है— यह व्यवस्था नहीं हो सकेगी और शब्द को व्यापक मानने पर अयं शब्दः अनेन श्रुतः, अनेन च न श्रुतः- यह व्यवस्था भी नहीं हो सकेगी।

किञ्च नानादेशस्थैश्च वक्तृभिरुच्चारितः शब्दो युगपन्नानादेशेषूपलभ्यते तदेकस्य नित्यस्याऽनुपपन्नम् इति भाष्यं, तत्र नित्यस्याऽनुपपन्नमिति प्रतिज्ञा, एकस्येति हेतुः, नित्यो ह्यसावेकः स्यात् एकस्य चाऽनुपपन्नं नानादेशेषूपलम्भनमिति।

किञ्च नानादेशस्थैश्चेति । इस सन्दर्भ में शाबरभाष्य भी संगत होता है। यहाँ पर तदेकस्य नित्यस्याऽनुपपन्नम् यही भाष्यवाक्य है। इस वाक्य से पूर्व का भाष्यवाक्य अर्थतः यहाँ पढा गया है- किञ्च नाना आदि भाष्य समझना चाहिये। भाष्यवाक्य की आनुपूर्वी इस प्रकार है— नानादेशेषु च युगपच्छब्दमुपलभामहे, तदेकस्य नित्यस्याऽनुपपन्नम् । तत् = नानादेशों में उपलम्भन = उपलब्धि। **तत्र नित्यस्येति** । उक्त भाष्य में साध्य और हेतु का भेद प्रदर्शित किया है। तत्र नित्यस्य अनुपपन्नम्- यह प्रतिज्ञा की गई है। और एकस्य को हेतु बनाया है। अर्थात् नित्यस्य नानादेशेषु उपलम्भनम्, अनुपपन्नम्, एकत्वात्, परमाणुवत् । ग्रन्थकार अपना अभिप्राय प्रकट कर रहे हैं— असौ = शब्दः। यह शब्द यदि नित्य है, तो वह एक भी है— यह कहना होगा; क्योंकि वह (शब्द) व्यापक है; किन्तु उसकी व्यापकता की ओर ध्यान न देकर दोष प्रदर्शित कर रहे हैं— नित्यो ह्यसावेकः स्यात्, एकस्य चाऽनुपपन्नम् अर्थात् प्रादेशिक और एक शब्द की उपलब्धि अनेक देशों में होना तो अनुपपन्न ही है। अन्यथा घट एक होने पर भी उसकी उपलब्धि नाना (अनेक) देशों में होनी चाहिये, किन्तु नहीं होती।

ननु नावश्यं नित्यत्वे सत्येकत्वं भवति, अनेकान्येव हि गकारादीनि नित्यानि भवन्तु इत्यत आह— असति विशेषे नित्यस्य नाऽनेकत्वम् इति ।

एतदुक्तं भवति— प्रत्यभिज्ञाख्यविशेषप्रत्ययबलेन ह्यस्तनाऽद्यतनगकारयोरेकत्वाऽवगमान्नित्यत्वमाऽऽश्रीयते, अस्ति चाऽसावविशेषप्रत्ययो युगपन्नानावक्तृभिरुच्चारितेऽपि गकारे नहि तत्राऽपि प्रत्ययविशेषोऽस्ति, असति च विशेषे नित्यस्य नाऽनेकत्वं सम्भवति । अनेकत्वे हि प्रत्यभिज्ञाया अप्रामाण्यमस्माकमिव भवतोऽपि स्यात्, तदप्रामाण्ये नित्यत्वाऽनुपपत्तिः, तस्मान्नित्यत्वे सत्येकत्वमङ्गीकर्तव्यम्, एकस्य चाऽनुपपन्नं नानादेशोपलम्भनमिति ।

प्रश्न—'यन्नित्यं तदेकमेव' यह कोई व्याप्ति नहीं है। यदि यह व्याप्ति (नियम)

होती, तो कदाचित् यह कहा जा सकता था कि शब्द की नित्यता के कारण उसकी एकता भी मानी जाय। शब्द की एकता होने पर उसकी अनेक स्थानों में उपलब्धि होना अनुपपन्न नहीं है; क्योंकि गकार आदि के नित्य रहने पर भी उनका अनेकत्व सम्भव हो सकता है। इस पर शाबरभाष्य के पूर्वपक्षीय वचन से पूर्वपक्षी उसका परिहार करता है— **असति विशेषे नित्यस्य नाऽनेकत्वम् इति**। यदि विशेष के न रहने पर भी नित्यस्य अनेकत्वम् माना जाय तो आकाश की भी अनेकता क्यों नहीं मानी जायेगी?

यदि यह कहें कि अनेक स्थानों में उपलब्धि होना ही विशेष है, उसके लिये ही अनेकत्व की कल्पना कर रहे हैं; किन्तु यह कहना (कल्पना करना) उचित नहीं है। शब्द को अनित्य मानने पर भी अनेक स्थानों में उसकी उपलब्धि होती है और नित्य मानने पर भी उसके व्यापक होने के कारण उसकी (शब्द की) उपलब्धि होना सम्भव है। अतः उसे (शब्द को) अनेक मानना उचित नहीं है।

उपर्युक्त कथन को ही और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं— **एतदुक्तम्** इति । एतदुक्तं भवति– प्रत्यभिज्ञाख्यविशेषप्रत्ययबलेनेति । स एवाऽयं गकारः– इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा से यदि एकत्व की प्रतीति नहीं होगी, तो नित्यत्व की प्रतीति भी नहीं होगी; क्योंकि श्रुत शब्द तो विनष्ट हो चुका, उस कारण अन्य गकार ही श्रूयमाण था– यही कल्पना की गई है। अतः एकत्व की कल्पना करना ही उचित है। उक्त कथन का ही उपपादन कर रहे हैं— **अस्ति चासावविशेषप्रत्यय** इति। असौ = स एवाऽयं गकारः इत्याकारक अविशेषप्रत्यय युगपत् = एक साथ अनेक वक्ताओं के द्वारा गकार उच्चारित होने पर भी उस गकार में कोई प्रत्ययविशेष नहीं होता है और किसी विशेष के न होने पर नित्य का अनेक होना सम्भव नहीं है।

अथवा जैसे अनेक वक्ताओं के द्वारा एक साथ ही गकार का उच्चारण करने पर प्रत्ययविशेष = बोधविशेष नहीं होता, किन्तु स एवाऽयम् = यह वही है, इत्याकारक अविशेष ही प्रतीत होता है, तथा तत्राऽपि = ह्यस्तन और अद्यतन (कल के और आज के) उच्चरित गकारों में भी कल के उच्चारित गकार से आज का उच्चारित गकार एक दूसरे से पृथक् ही है– इत्याकारक प्रत्ययविशेष (बोधविशेष) नहीं होता, जिससे अनेकत्व की कल्पना की जा सके।

इस सन्दर्भ में अपना अभिप्राय प्रकट कर रहे हैं— **असति इति।** आशय यह है कि विशेष के विद्यमान न रहने पर नित्य का अनेक होना सम्भव नहीं है। 'अनेकत्वे हि प्रत्यभिज्ञाया' इति इस ग्रन्थ से एकत्वविपक्ष में बाधक बता रहे हैं— **अनेकत्वेति** । स एवाऽयम्– इत्याकारक ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा शब्द से कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा में पूर्वापर काल से सम्बन्धित पदार्थ, जो उक्त ज्ञान का विषय है, वह यदि दोनों का एक ही हो तभी प्रत्यभिज्ञा का प्रामाण्य माना जायगा; क्योंकि प्रत्यभिज्ञा पदार्थैक्य की अवगाहक होती है। प्रत्यभिज्ञा का विषय भिन्न-भिन्न होने पर उसका अप्रामाण्य ही सिद्ध होगा;

क्योंकि वह एकत्व की अवगाहक होती है। विषय के अनेक होने से विषयसारूप्य का अभाव रहने के कारण शुक्ति-रजतज्ञान के समान उसका अप्रामाण्य ही होगा।

हमारे मत में सादृश्यमात्र से ही स एवाऽयं गकारः— यह प्रत्यभिज्ञा होती है। प्रत्यभिज्ञा का विषय जो एकत्व है, वह गकार में न होने से प्रत्यभिज्ञा को अप्रमाण ही कहना होगा तथा तुम्हारे मत में भी गकारों का अनेकत्व मान लेने पर प्रत्यभिज्ञा का अप्रामाण्य ही स्वीकार करना होगा, किन्तु प्रत्यभिज्ञा का अप्रामाण्य तो तुम्हें भी अभीष्ट नहीं है।

तदप्रामाण्ये च नित्यत्वाऽनुपपत्तिः। प्रत्यभिज्ञा का अप्रामाण्य मानने पर प्रत्यभिज्ञा-स्थल में गकार के न रहने पर भी स एवायं गकारः- इत्याकारक ज्ञान हुआ, यह कहना होगा। तब इस गकार का पूर्वकाल के साथ सम्बन्ध न रहने पर पूर्वश्रुत गकार अन्य ही था और वह तो नष्ट हो चुका और अब जो है, वह अन्य ही है— यह कहना होगा। तथा च अनित्यता तो स्पष्ट ही है, अतः नित्यत्व की उपपत्ति का होना सम्भव नहीं है। प्रत्यभिज्ञा का अप्रामाण्य मान लेने पर अनेक गकारव्यक्तियों का नित्यत्वाऽभ्युपगम भी व्यर्थ ही कहना होगा तब अनित्यत्व की ही हठात् (बलात्) प्राप्ति होगी। तस्मात् नित्यत्व के प्रतिपादनार्थ एकत्व को अवश्य ही मानना होगा। तब निष्कर्ष यह निकला कि एक की अनेक देशों में उपलब्धि होनी सम्भव नहीं है।

वार्त्तिकेऽपि– यौगपद्योपलम्भाद् वा भेदो भेदाच्च कार्यता इति द्वयमुपक्षिप्य यथा यौगपद्योपलम्भाद् भेदो भवति तथा दर्शितम्— अविभुत्वे हि युगपत् इत्यादिना स्फुटेऽन्यत्वेऽवकल्पते इत्यन्तेन। यथा च भेदात् कार्यता भवति नाऽकार्यस्य नित्यस्य भेदोऽवकल्पते तथा दर्शितम्— नित्यत्वे त्वेकबुद्धिः स्यात् इति। न हि नित्यत्ववादिना प्रत्यभिज्ञाया भ्रान्तित्वमिष्यते। तथा च वक्ष्यते— अपि चैकरूप्ये सति देशभेदेन कामं देशा एव भिन्नाः स्युर्न तु शब्दः इति। न हि तदप्रामाण्ये नित्यत्वं सिद्ध्यति प्रमाणान्तराभावात्। अतो नित्यत्वे सत्येकत्वं स्यात्, तच्च नानादेशोपलम्भेन विरुध्यत इति। ततश्च यौगपद्योपलम्भाद् भेदो भेदे च प्रत्यभिज्ञाया अप्रामाण्यं, तदप्रामाण्ये च नित्यत्वाऽभावात् कार्यत्वम्, तदेतदानुपूर्व्यं स्वतन्त्रसिद्धम्। दृढे चाऽनित्यत्वे दीपवत् सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञा भवति। तस्मादनित्यः शब्द इति प्राप्ते।

वार्तिकेऽपीति। प्रकृत सन्दर्भ में श्लोकवार्तिक को भी प्रमाण के रूप में उपस्थित कर रहे हैं। वार्त्तिक में भी यौगपद्योपलम्भाद् वा भेदोभेदाच्च कार्यता- इति द्वयमुपक्षिप्य अर्थात् यौगपद्योपलम्भ से भेद और भेद से कार्यत्व इस प्रकार दोनों का उपक्षेप करके अविभुत्वे हि युगपत् इत्यादि से यौगपद्योपलम्भाद् = युगपत् नाना देशों में उपलम्भ होने से गकारादिकों का भेद प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार वार्त्तिककार भट्टपाद भी कह

रहे हैं—

अविभुत्वे हि युगपन्नैको नानाऽवगम्यते ।
कात्स्र्न्येन चाऽवगम्यत्वादेकदेशे घटादिवत् ॥
शब्दस्याऽविभुता तस्मादन्यताऽस्य मुखान्तरे ।
एक: सन्नेकदेशस्थो यदैकेन प्रयुज्यते ॥
तदा वक्त्रन्तरे न स्यादेकवक्तृमुखादिवत् ।
कार्यत्वे स्यात् क्रियाभेदात् फलभेद: प्रतिक्रियम् ॥
तेनैकबुद्धि: सादृश्यात् स्फुटेऽन्यत्वेऽवकल्पते ॥
नित्यत्वे त्वेकबुद्धि: स्यान्न किञ्चिद् भ्रान्तिकारणम् ।
कामं देशा इति न्यायात् तच्चैकत्वं विरुद्ध्यते ॥

नित्यत्वे त्वेकबुद्धि: स्यात्– इस वाक्य से भेदात् कार्यत्वं शब्दस्य– पूर्वपक्ष के रूप में वार्तिककार ने प्रदर्शित किया है— इसे यथा च भेदात् कार्यता भवति, नाऽकार्यस्य नित्यस्य भेदोऽवकल्पते तथा दर्शितम्— नित्यत्वे त्वेकबुद्धि: स्यात् इति।

पूर्वपक्षी कहता है कि 'स एवाऽयं गकार:' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा होती है। उसके बल पर नित्यत्व कहा जा सकता है, किन्तु वह प्रत्यभिज्ञा प्रमाण नहीं है, जिससे एकत्व की सम्भावना की जा सके। तस्मात् गकार आदि के अनेक होने से उनकी उपलब्धि अनेक देशों में होना विरुद्ध नहीं है।

समाधान—न हि नित्यत्ववादिनेति । तुम्हारे मत में गकारादिकों का नित्यत्व प्रत्यभिज्ञा से सिद्ध होता है, अत: तुम, प्रत्यभिज्ञा को अप्रमाण (भ्रम) नहीं कह सकते।

अब शब्द की एकता में शाबरभाष्य को प्रमाण के रूप में उपस्थित कर रहे हैं— **अपि चेति** । अपि चैकरूप्ये सति देशभेदेन कामं देशा एव भिन्ना: स्युर्न तु शब्द: इति । एकरूप्ये = शब्दैक्ये। शब्द को एक मानने पर देशभेद के कारण देश भले ही भिन्न हों, किन्तु शब्द भिन्न नहीं होता। प्रत्यभिज्ञा को अप्रमाण नहीं माना जा सकता; क्योंकि उसे अप्रमाण मानने में बाधक उपस्थित है— न हि इति। तदप्रामाण्ये = प्रत्यभिज्ञाया अप्रामाण्ये। प्रत्यभिज्ञा को यदि अप्रमाण कहते हैं तो शब्द का नित्यत्व सिद्ध नहीं हो पायेगा; क्योकि शब्द की नित्यता सिद्ध करने वाला कोई प्रमाणान्तर नहीं है।

शब्द का नित्यत्व स्वीकार करने पर एकत्व तो स्वत एव सिद्ध होगा, अन्यथा स एवाऽयं गकार:– इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा का प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकेगा। इसी तथ्य को अतो नित्यत्वे सति एकत्वं स्यात्, तच्च = एकत्वं नानादेशेषु उपलम्भेन सह विरुध्यते, एकस्य अनेकदेशेषु उपलम्भाऽसम्भवात्। ग्रन्थकार अपने उक्त तथ्य का संकलन स्वयं ही कर रहे हैं— **ततश्चेति** । उससे लाभ यह होगा कि यौगपद्य की प्राप्ति हो सकेगी अर्थात् अनेक देशों (स्थानों) में एक साथ ही (अनेक स्थानों में एक साथ ही) प्राप्ति (उपलब्धि) हो सकेगी। अभिप्राय यह है कि एक की भी प्राप्ति क्रम से अनेक

स्थानों में हो सकेगी। एवञ्च यौगपद्य की प्राप्ति होने से भेद और भेद के होने से प्रत्यभिज्ञा का अप्रामाण्य, उसका अप्रामाण्य होने पर नित्यत्व (नित्यता) का अभाव, तब कार्यत्व की सिद्धि स्वत एव हो जायगी। मूल में 'ततश्च' इत्यादि से उक्त पूर्वपक्षानुपूर्वी रूप स्वतन्त्रसिद्ध = प्रत्यक्षसिद्ध है, अर्थात् किसी अन्य कारणान्तर की अपेक्षा किये विना ही सिद्ध है।

प्रश्न– शब्द को यदि अनित्य कहते हैं, तो स एवाऽयं गकारः— यह प्रत्यभिज्ञा कैसे हो सकेगी? अर्थात् नहीं होगी।

उत्तर– दृढे च अनित्यत्वे दीपवत्, सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञा भवति, तस्मात् अनित्य शब्दः इति प्राप्ते अर्थात् शब्द का अनित्यत्व निश्चित होने पर दीपवत् सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञा भवति– जैसे बिन्दु भेद से प्रतिक्षण ज्वाला के (दीपज्वाला के) भिन्न रहने पर भी सादृश्यात् सैवेयं ज्वाला– इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा होती है तथा सादृश्य से ही स एवाऽयं गकारः– यह प्रतीति होती रहती है, न एकत्वात् = एक होने से नहीं। इस प्रकार शब्द की अनित्यता के पूर्वपक्ष के उपपादन का उपसंहार (समाप्ति) कर रहे हैं— तस्मात् अनित्यः शब्दः इति यह पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर।

(शब्दनित्यत्वोपादनम्)

अभिधीयते— प्रयत्नानन्तरं दृष्टेर्नैकान्त्यात् कार्यता ध्वनेः ।
तदभिव्यङ्ग्यपक्षेऽपि युज्यते तत्र दर्शनम् ।।

यत्तु कथमभिव्यङ्ग्यत्वम् इति, श्रोत्रसंस्कारेणेति ब्रूमः । यत्त्वाऽऽकाशस्याऽहङ्कारस्य वा श्रोत्रत्वे तत्संस्कारत्वे च सर्वत्र पुँसामुपलब्धिः स्यादित्युक्तम्, तत्र ब्रूमः— यदि तयोः श्रोत्रत्वे भवेदयं दोषः? तत् कर्णशष्कुली भवतु श्रोत्रं, सा च प्रतिपुरुषं भिन्नेति नातिप्रसङ्गः। यद्यपि चाऽऽकाशमेव श्रोत्रं तत्तु न साक्षात् संस्क्रियते, किन्त्वधिष्ठानद्वारेण, ततश्च यद्यपि श्रोत्रं सर्वेषामेकं तथाऽप्यधिष्ठानानां भिन्नत्वात् संस्कारव्यवस्थया श्रवणस्य व्यवस्था भविष्यति।

अभिधीयते इति—उपर्युक्त पूर्वपक्ष का निराकरण किया जा रहा है— **प्रयत्नेति।** ध्वनेः = शब्दस्य प्रयत्नाऽनन्तरमपि दृष्टेः = उपलब्धेः न कार्यता प्राप्नोति, ध्वनेः तदभिव्यङ्ग्यपक्षेऽपि = प्रयत्नाऽभिव्यङ्ग्यत्वपक्षेऽपि तत्र = प्रत्यत्नानन्तरं दर्शनम् = उपलब्धिर्युज्यते एव अभिव्यङ्ग्यानामपि अभिव्यञ्जकादनन्तरमेव उपलब्धिनियमात् ।

प्रयत्नानन्तरं दृष्टेः— इस कारिका की व्याख्या करते हैं। ध्वनेः प्रयत्नानन्तरमपि दृष्टेः न कार्यता प्राप्नोति, ध्वनेः तदभिव्यङ्ग्यपक्षेऽपि तत्र दर्शनं युज्यते एव। अर्थात् ध्वनेः = शब्द की, दृष्टेः = उपलब्धि, प्रयत्न करने के पश्चात् भी होती है, तथापि उस उपलब्धि को कार्य शब्द से नहीं कहा जाता। ध्वनि के अभिव्यङ्ग्य पक्ष में अर्थात्

प्रयत्नाऽभिव्यङ्ग्यत्व पक्ष में भी तत्र = प्रयत्न के पश्चात् दर्शन = उपलब्धि का होना उचित ही माना जाता है; क्योंकि अभिव्यङ्ग्य पदार्थों की उपलब्धि अभिव्यञ्जक के अनन्तर ही होने का नियम है।

शब्द यदि प्रयत्नाऽभिव्यंग्य होता तो कदाचित् उसकी नित्यता का स्वीकार किया भी जा सकता था, किन्तु ऐसी स्थिति नहीं है। प्रयत्नाभिव्यंग्यत्त्व पक्ष का निराकरण पहिले ही किया जा चुका है, उस कारण उसकी अभिव्यंग्यता कैसे हो सकेगी? यह शङ्का 'यत्तु कथमभिव्यंग्यत्वम्' से की जा रही है।

समाधान—श्रोत्रसंस्कारेण- इति ब्रूमः। शब्द के व्यापक रहने से वह श्रोत्र में स्थित ही है, तथापि श्रोत्र का संस्कार न होने से उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है और श्रोत्र का संस्कार हो जाने पर विद्यमान रहने वाले शब्द की ही अभिव्यक्ति मात्र होती है। इसलिये शब्द को प्रयत्नाऽभिव्यङ्ग्य ही उचित है, प्रयत्नजन्य नहीं।

प्रश्न—श्रोत्रसंस्कारपक्ष में भी दोष बताने के लिये कहा जा रहा है- यत्तु आकाशस्य अहंकारस्य वा श्रोत्रत्वे तत्संस्कारत्वे च सर्वत्र पुँसामुपलब्धिः स्यात्, इत्युक्तम् । अर्थात् आकाश अथवा अहंकार को श्रोत्र मानने पर और उसका संस्कार करने पर सभी मनुष्य-मात्र को सर्वशब्दोपलब्धि होने का दोष उपस्थित होगा, अतः कर्णशष्कुलि को ही श्रोत्र समझना चाहिये। सा च प्रतिपुरुषं भिन्ना इति नातिप्रसंगः । अर्थात् सा = वह कर्णशष्कुली, प्रत्येक मनुष्य की भिन्न-भिन्न (अलग-अलग) होती है। अतः एक ही व्यापार (क्रिया) से सभी के श्रोत्र (कर्ण) संस्कृत नहीं हो सकते, जिससे सभी को उस शब्द का श्रवण हो सकेगा। यद्यपि आकाश को ही श्रोत्र कहा जाता है, उसका भी साक्षात् संस्कार नहीं किया जाता, किन्तु अधिष्टान के माध्यम से ही संस्कार किया जाता है; अर्थात् कर्ण-शष्कुली के माध्यम (द्वारा) से ही संस्कार किया जाता है। तथा च जिस व्यक्ति की कण-शष्कुली संस्कृत होती है, उसी को वह शब्द सुनाई देता है, दूसरे को नहीं— यह व्यवस्था हो जायगी।

यद्यपि सभी का श्रोत्र एक ही है अर्थात् आकाश एक ही है, तथापि अधिष्ठानानां भिन्नत्वात् = कर्णशष्कुलियों के भिन्न-भिन्न होने से उनकी संस्कार व्यवस्था के माध्यम से श्रवण की व्यवस्था हो जाती है।

नन्वेकत्वे सति इन्द्रियस्य यद्यप्यधिष्ठानानि भिन्नानि तथाप्येकेनाऽप्यधिष्ठानेन संस्कृतेनेन्द्रियस्य संस्कृतत्वात् सर्वपुँसामिन्द्रियं संस्कृतमिति सर्वेषामुपलब्धिः स्यादेव। तदुक्तम्— नन्वेकस्मिन्नधिष्ठाने लब्धसंस्कार-मिन्द्रियम् ।

बोधकं सर्वदेहेषु स्यादेकेन्द्रियवादिनः ।। इति।
सर्वदेहवर्तिनां पुँसामित्यर्थः ।

प्रश्न— कर्णशष्कुलीरूप अधिष्ठानों के भिन्न-भिन्न रहने पर भी इन्द्रियरूप आकाश के एक होने से एक जगह (स्थान) संस्कार के होने से सर्व = सभी संस्कृत हो ही जाता है। तब सभी को समस्त शब्दों की उपलब्धि क्यों नहीं होगी? श्लोकवार्त्तिक में कहा भी है—**नन्विति**। एकस्मिन्नपि अधिष्ठाने = कर्णशष्कुल्याम् अर्थात् कर्णशष्कुली का संस्कार होने पर वह संस्कार समस्त इन्द्रियों का ही कहा जायगा; क्योंकि श्रोत्र इन्द्रिय आकाशरूप होने से एक ही है। अत: लब्ध संस्कार वाला इन्द्रिय मनुष्यों के समस्त शरीरो में बोधक = शब्द ग्राहक हो ही जायगा, शब्दग्राहक होने से एकेन्द्रियवादी के पक्ष में उक्त दोष उपस्थित होता है। सर्वदेहेषु पद का अर्थ है- सर्वदेहवर्त्तिनाम्। अर्थात् समस्त देहधारी मनुष्यों का बोधक होगा।

अत्रोत्तरम्— पुँसां देहप्रदेशेषु विज्ञानोत्पत्तिरिष्यते ।
तेन प्रधानवैदेश्याद् विगुणा सा तु संस्कृतिः ।। इति।

अयमर्थः स्वशरीरे एव भोगायतने सर्वपुँसामपि ज्ञानमुत्पद्यते, नाऽन्यत्र, शब्दज्ञानाङ्गं चाऽयमधिष्ठानसंस्कारः प्रधानसमानदेशत्वं चाऽङ्गानां गुणस्तेन देहान्तरवर्तिनः पुरुषस्य यत् स्वदेहे निष्पादयितव्यं विज्ञानं तस्य तद्देहगत एव संस्कारो निष्पादको भवति, न देहान्तरगतः। स हि तत्प्रधानभूतेन ज्ञानेन विदेशत्वाद् विगुणः ।

अत्रोत्तरमिति। श्रीभट्टपादविरचित श्लोकवार्त्तिकोक्त परिहार का ही अतिदेश किया जा रहा है—**पुंसामिति** । जीवात्मा की व्यापकता रहने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति देहावच्छेदेनैव होती है, अत: शब्दज्ञान भी देहावच्छेदेनैव कहना होगा। अत: यद्देहीय कर्णशष्कुली में संस्कार उत्पन्न हुआ है, तद्देहावच्छेदेनैव शब्दश्रवण होगा, अन्यदेहाऽवच्छेद नहीं; क्योंकि सगुण संस्कार ही उपकारक होता है, उस कारण संस्कार का प्रधान समानदेशत्व ही गुण कहा जाता है। ऐसी स्थिति में देवदत्तीय कर्णशष्कुली का संस्कार यज्ञदत्तीय देहावच्छेदेन उत्पाद्य ज्ञान में वैदेश्य (भिन्नदेशता) होने से विगुणः अर्थात् गुणहीनता ही रहती है, अत एव उस समय यज्ञदत्तीय देहावच्छेदेन ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि अंगभूत संस्कार में प्रधान समानदेशत्व रहने पर ही उपकारकता (उपकारकत्व) हुआ करती है— यह नियम है।

उक्त पद्य की व्याख्या ग्रन्थकार स्वयं कर रहे हैं— **अयमर्थः इति**। सभी लोगों को अपने भोगायतनरूप शरीर में ही ज्ञान उत्पन्न होता है। उसके अतिरिक्त अन्यत्र कही नहीं। स हि तत्प्रधानभूतेन ज्ञानेन विदेशत्वाद् विगुणः- सः अर्थात् देहान्तरगत संस्कार, तत्प्रधानभूतेन = संस्कारप्रधानभूत अङ्गीरूप ज्ञान से = शब्दश्रवण से विदेशत्वात् = भिन्नदेशवृत्ति होने के कारण। अर्थात् जिस देह (शरीर) में ज्ञानोत्पत्ति का होना अभीष्ट है, उस देह (शरीर) में वह नहीं हुआ है। अत: वह संस्कार गुणहीन है।

ननु संस्कार्यस्यैकत्वात् तद्द्वारत्वाच्च संस्काराङ्गभावस्य देशभेदोऽकिञ्चित्कर एव, यथा बर्हिरेकत्वात् तत्संस्काराणामातिथ्याकालानामप्युपसदग्नीषोमीयाङ्गत्वं न विहन्यते तद्वदत्राऽपि स्यात् ? न, अदर्शनात्— न हि एकस्मिन्नधिष्ठाने सर्वेषां ज्ञानमुपलभ्यते। अतः साधारणमपीन्द्रियं विज्ञानसमानदेशसंस्कारसचिवमेव ज्ञानमुत्पादयति, नाऽन्यथेति दर्शनबलादध्यवसीयते, ततो नाऽतिप्रसङ्गः।

प्रश्न—आतिथ्येष्टि, उपसदिष्टि, अग्नीषोमीय पशुयाग में एक ही बर्हि होता है— यह निर्णय चतुर्थ अध्याय, द्वितीय पाद के त्रयोदश (१३वें) अधिकरण में किया गया है— अपि वोत्पत्तिसंयोगादर्थसम्बन्धोऽविशिष्टानां प्रयोगैकत्वहेतुः स्यात् इति, श्रूयते च यदातिथ्यायां बर्हिस्तदुपसदां तदग्नीषोमीयस्य च इति, तत्र यथा बर्हिष उपसत्स्वग्नीषोमीये च पुनः संस्कारो न भवति, किन्त्वातिथ्यायामेव कृतेन संस्कारेण बर्हिस्तत्र कार्यकरं भवति आतिथोपसदग्नीषोमीयेषु त्रिष्वपि संस्कार्यस्य बर्हिष एकत्वात्, तदुक्तं द्वादशाध्यायप्रथमपादस्यैकोनविंशेऽधिकरणे— न वा कृतत्वात् तदुपदेशो हि इति, तथा बर्हिष एकत्वात् सकृत् प्रोक्षणादिभिः संस्कारे कृते, पुनः प्रोक्षणाद्यपेक्षा नास्ति, ते च प्रोक्षणादयः प्राथम्यादातिथ्यायां कार्यास्तत उपसत्स्वग्नीषोमीये च प्रसंगसिद्धिर्न वारयितुं शक्यते इति माधवेन। तथाऽत्राऽपि संस्कार्यस्येन्द्रियस्यैकत्वाद् देशभेदः = कर्णशष्कुलीरूपाऽधिष्ठानभेदोऽकिञ्चित्करः = न व्यवस्थापकः सम्भवति संस्काराङ्गभावस्य = शब्दश्रवणं प्रति संस्कारस्य यदङ्गत्वं, तस्य तद्द्वारत्वात् = संस्कारद्वारा शब्दश्रवणोपायत्वात्, तथा च संस्कार्यस्य इन्द्रियस्य आकाशरूपत्वेन एकत्वात् एककर्णशष्कुलीसंस्कारेणाऽपि संस्कृतत्वसम्भवात् सर्वेषामेव पुँसां तच्छब्दश्रवणं स्यादेव इति। मूलगत तत्संस्कारणां प्रोक्षणादीनाम्, आतिथ्याकालानाम् = आतिथ्येष्टौ कृतानाम् उपसदग्नीषोमीयाङ्गत्वम् = उपसदग्नीषोमीयाङ्गबर्हिरङ्गत्वं न विहन्यते। तद्वदत्राऽपिस्यात् = श्रवणेन्द्रियसंस्कारपक्षेऽपि। तद्वत् स्यात् = एकत्र संस्कारेण सर्वश्रवणसंस्कारः स्यात्।

उपर्युक्तं परिहरति—न, अदर्शनात् इति। बर्हिष्पक्ष में संस्कार कार्य के अदृष्ट रहने के कारण प्रत्यक्षविरोध न होने से एकत्र = एक का संस्कार करने से ही सर्वत्र = सभी अदृष्टोत्पादक हो जाते हैं; किन्तु यहाँ वैसी स्थिति नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में तो संस्कार का दृष्टफल (प्रत्यक्षफल) शब्दश्रवण ही है और उसकी सर्वत्र उपलब्धि एक का संस्कार करने मात्र से नहीं होती है। अतः सभी को ज्ञान होता नहीं दिखाई देता, उस कारण एकत्र = एक के संस्कार को सभी का संस्कार होना नहीं कहा जा सकता— इस तथ्य को मूल में अदर्शनात् से कहा गया है। उक्त तथ्य का ही उपपादन स्पष्टतया 'न हि एकस्मिन् अधिष्ठाने' से किया गया है। अधिष्ठाने = कर्णशष्कुल्याम्, संस्कारेण इतिशेषः— संस्कार से इतना जोड़ लेना चाहिये। अतः **साधारणमपीन्द्रियं विज्ञानसमानदेशसंस्कारसचिवमेव ज्ञानमुत्पादयति नान्यथेति दर्शनबलादध्यवसीयते, ततो**

नाऽतिप्रसङ्गः। अर्थात् जिस देह (शरीर) में विज्ञान को उत्पन्न करना है, तद्देहीय कर्णशष्कुलीसंस्कार की सहायता से ज्ञानोत्पत्ति होती है। अतः कोई अतिप्रसंग नही है। अर्थात् सभी लोगों को तच्छब्दश्रवण का प्रसंग इसलिये प्राप्त नहीं होगा; क्योंकि तद्देहीय कर्णशष्कुली में संस्कार नहीं हुआ है।

न चाऽवश्यमेकमेवेन्द्रियम्— यद्यप्याकाशमेकमनवयवं च तथापि तस्य प्रादेशिकैर्घटादिभिर्ये संयोगास्तेऽपि प्रादेशिकास्ततश्च कर्णशष्कुलीसंयोगानां प्रतिपुरुषं भिन्नत्वात् तदवच्छिन्नस्य चाऽऽकाशस्य श्रोत्रत्वात् सत्यपि स्वरूपैकत्वेऽवच्छिन्नरूपाणां श्रोत्राणां भेदाद् व्यवस्थासिद्धिः । एवमहङ्कारभागे दिग्भागे वा श्रोत्रे द्रष्टव्यम् ।

किञ्च = अन्य कारण यह भी है कि शुद्ध आकाश तो श्रवणेन्द्रिय है नहीं, किन्तु कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न ही आकाश है। तथा च जैसे महाकाश के एक रहने पर भी घटावच्छिन्न अनेक आकाश भिन्न-भिन्न ही होते हैं अर्थात् अनेकाऽनेक ही होते हैं, इसी तरह श्रवणेन्द्रियाँ भी अनेकाऽनेक होती हैं। एक ही श्रवणेन्द्रिय नहीं है, जिससे एकश्रोत्रेन्द्रिय का संस्कार होने से सभी श्रोत्रेन्द्रियों के संस्कार सम्पन्न हो सकें, अतः सभी लोगों को तच्छब्द सुनाई देने का अवसर प्राप्त नहीं हो सकता। इसी तथ्य को ग्रन्थकार 'न चाऽवश्यमेकमेवेन्द्रियम्' ग्रन्थ से स्पष्ट कर रहे हैं।

यत्तु सकृच्च संस्कृतं श्रोत्रं सर्वशब्दान् प्रकाशयेत् इत्युक्तम्, तत्रोच्यते— ध्वनयो हि ताल्वादिस्थानविशेषसम्पर्कात् विजातीया विलक्षणसामर्थ्यान्निष्पद्यन्ते ततश्च कश्चिदेव ध्वनिः कस्यचिच्छब्दस्याऽनुगुणं संस्कारमाधत्ते, न सर्वसाधारणमित्युपलब्धिव्यवकल्प्यते । शब्दसंस्कारपक्षेऽपि कश्चिदेव ध्वनिः कश्चिच्छब्दं संस्करोति, न सर्वः सर्वमिति युक्ततरैव व्यवस्था ।

पूर्वपक्ष के रूप में श्लोकवार्तिककार भट्टपाद ने जो कहा— सकृच्च संस्कृतं श्रोत्रम्— उसी को यहाँ उपस्थित कर रहे हैं— **यत्तु सकृच्च संस्कृतं श्रोत्रम् इति।**

उसी का उत्तर 'तत्रोच्यते' से दे रहे हैं— **ध्वनयो हि इति।** जैसे— ध्वनि वक्ता के तालुस्थान से संयुक्त होकर विशेष सामर्थ्यशाली हो जाता है, उस सामर्थ्यशाली ध्वनि से श्रोत्र का संस्कार होने पर समीपस्थित 'इचुयश' वर्णों में से किसी वर्ण का श्रवण हो जाता है, कवर्गादि वर्णों का नहीं और दूरस्थित पुरुषों की कर्णशष्कुलियों में संस्कारोत्पत्ति के न हो पाने से ध्वनि तालुसंयोग इचुयश वर्णों का ही अभिव्यञ्जक होता है। तथापि तालु के देशविशेष से संयोग होने के कारण कदाचित् चकार का, कदाचित् शकार का श्रवण होता है— यह कल्पना की जाती है, उसी तरह प्रस्तुत श्रोत्रसंस्कार पक्ष में भी व्यवस्था कर लेनी चाहिये।

शब्दसंस्कार पक्ष में भी इसी प्रकार ही व्यवस्था समझनी चाहिये। विशेषता इतनी

ही है कि श्रोत्रसंस्कार–पक्ष में श्रोत्रसंस्कार ही शब्दोपलब्धि का व्यवस्थापक माना जाता है; अत: शब्दसंस्कार की अपेक्षा नहीं रहती और शब्द संस्कार–पक्ष में शब्दसंस्कार ही शब्दोपलब्धि का व्यवस्थापक होता है, श्रोत्रसंस्कार की अपेक्षा नहीं होती। किसी ध्वनि-विशेष से कोई शब्दविशेष ही संस्कृत होता है, अत: वही सुनाई देता है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई शब्द नहीं सुनाई देता; क्योंकि उसके न सुनाई देने में कारण उसका संस्कारा-ऽभाव ही है। शब्द का संस्कार होने पर भी उसका श्रवण वक्ता के समीप बैठे हुए लोग ही कर पाते हैं, अन्य नहीं; क्योंकि उसकी उपलब्धि होने में अथवा संस्कार के होने में दूरता ही प्रतिबन्धक होती है। उत्पन्न हुए परिच्छिन्न ध्वनियों से स्वदेश (स्वस्थान) में ही शब्दसंस्कार का होना सम्भव है और बधिर (बहिरा) आदमी समीप में स्थित रहने पर भी श्रवण साधनीभूत इन्द्रिय ही उसके पास नहीं होता, उस कारण वह नहीं सुन पाता।

शङ्का—ध्वनि को शब्दसंस्कारक स्वीकार करने पर उसमें (ध्वनि में) समस्त (सभी) शब्द संस्कारकता तथा सर्वशब्दाऽभिव्यञ्जकता मानना भी उचित होगा। तब सभी शब्दों के श्रवण होने का प्रसंग प्राप्त होगा; क्योंकि किसी शब्दविशेष का ही ध्वनि संस्कार करता है और अभिव्यक्त करता है— इस कथन में कोई कारण (हेतु) नहीं दिखाया जा सकेगा।

दृष्टा च समानेन्द्रियग्राह्याणामप्यभिव्यञ्जकव्यवस्था— सावित्रं हि तेजो घटादीनामेवाऽभिव्यञ्जकं, न नक्षत्राणाम्, निम्बत्वक् चन्दनगन्धस्यैव अभिव्यञ्जिका, न गन्धान्तराणाम्, तस्माददोषः ।

समाधान—लोकव्यवहार देखकर उपर्युक्त शङ्का का समाधान कर रहे हैं— **दृष्टा च समानेन्द्रियग्राह्याणामिति ।**

समानेन्द्रियग्राह्य पदार्थों की भी अभिव्यञ्जक व्यवस्था रहती है, उसी को बता रहे हैं— **सावित्रं हि इति ।** घट-पटादि पदार्थों का तथा नक्षत्रादिकों का भी चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है, अर्थात् उक्त पदार्थ चक्षुरिन्द्रियग्राह्य हैं। अत: उनमे समानेन्द्रिय-ग्राह्यत्व मानना ही होगा। तथापि सूर्य के तेज (प्रकाश) से घट-पटादि पदार्थों की ही उपलब्धि होती है, नक्षत्रों (तारकाओं) की नहीं तथा निम्ब (नीम) की छाल (त्वक्) से चन्दनगन्ध की ही अभिव्यक्ति होती है, अन्य गन्ध की नहीं। उसी तरह किसी भी ध्वनि से किसी शब्दविशेष की ही उपलब्धि होती है, सभी शब्दों की नहीं। तस्माददोष:; अत: कोई दोष नहीं है। इसी तथ्य को वार्त्तिक में भी कहा गया है—

जातिभेदश्च तेनैव संस्कारो व्यवतिष्ठते ॥
अन्यार्थम्प्रेरितो वायुर्यथाऽन्यं न करोति[1] व:[2] ।

---

१. करोति = उत्पादयति।
२. व: = भवन्मते।

तथाऽन्यवर्णसंस्कारशक्तो नाऽन्यं करिष्यति[1] ।।
अन्यैस्ताल्वादिसंयोगैर्वर्णो नाऽन्यो यथैव ते ।
तथा ध्वन्यन्तराऽऽक्षेपो[2] न ध्वन्यन्तरसारिभिः[3]।।
तस्मादुत्पत्त्यभिव्यक्त्योः कार्यार्थापत्तितः समः ।
सामर्थ्यभेदः सर्वत्र स्यात् प्रयत्नविवक्षयोः ।।
[4]विषयस्याऽपि संस्कारे तेनैकस्यैव संस्कृतिः ।
नरैः सामर्थ्यभेदाच्च न सर्वैरवगम्यते ।।
यथैवोत्पद्यमानोऽयं न सर्वैरवगम्यते ।
दिग्देशादिविभागेन सर्वान् प्रति भवन्नपि ।।

न च शब्दसंस्कारे सर्वपुँसामुपलब्धिप्रसङ्गः— ध्वनीनाम्प्रादेशिकत्वात्, तद्देशे शब्दः संस्क्रियतेः न सर्वत्र। अतः संस्कृतेन शब्देन यस्येन्द्रियं सन्निकृष्टं स एव शृणोति, नाऽन्य इत्युपपन्नम् ।

युगपद्देशभेदश्च स्यादेकस्याऽपि सूर्यवत् ।
ये विन्ध्यनिलया ये च कामरूपे व्यवस्थिताः ।।
प्राग्भागे ह्यात्मनः सर्वैरुद्यन् भास्वान् निरीक्ष्यते ।
प्रत्यग्भागे तथाऽस्तं यन्मध्याह्ने चोपरि स्थितः ।।
भिन्नाश्च तेषां प्राग्भागास्तया प्रत्यक् तथोपरि ।
तेष्वस्य दृश्यमानस्य विस्पष्टा भिन्नदेशता ।।

तथा यस्मिन् यावद्दूरे देशे कैश्चित् सूर्योदयो दृश्यते, तद्देशवर्तिनोऽन्येऽपि ततः परस्तात् तावति पश्यन्ति ततोऽप्यस्ति भेदाभेदः। न च सूर्यनानात्वमाशङ्कनीयम्, न हि केचिद् भिन्नं सूर्यं पश्यन्ति ।

न च शब्दसंस्कारे इति । पूर्वकथन दोषशून्य है अर्थात् शब्दसंस्कारपक्ष के स्वीकार करने पर सभी लोगों को शब्दोपलब्धि का प्रसंग उपस्थित होगा– यह कहना अनुचित है; क्योंकि ध्वनीनां प्रादेशिकत्वात् अर्थात् ध्वनियों में अव्याप्यवृत्तिता = किंचिद्देशे वृत्तित्वात् अर्थात् किञ्चिद्देश = स्थान तक ध्वनि का वृत्तित्व रहता है। तद्देशे शब्दः संस्क्रियते, न सर्वत्र अर्थात् ध्वनि के देश (स्थान) में ही शब्द का संस्कार होता है, सर्वत्र नहीं।

अतः संस्कृतेन शब्देनेति । संस्कारक = संस्कार करने वाली ध्वनियाँ प्रादेशिक

---

१. करिष्यति = संस्करिष्यति।
२. आक्षेपः = प्रेरणम्।
३. सारिभिः = अनुगुणैः।
४. विषयस्य = शब्दस्य।

अर्थात् अव्याप्यवृत्ति होने से संस्कृत शब्द का सम्भव किञ्चिद् देश में ही रहने से उतने स्थान में स्थित रहने वाले लोग ही उस शब्द को सुन पाते हैं, अन्य स्थान (देश) में स्थित रहने वाले लोग नहीं सुन पाते। अत: जिसका श्रोत्रेन्द्रिय संस्कृत हुए शब्द के सन्निकृष्ट = समीप है, वही व्यक्ति उस शब्द को सुन पाता है, उसके अतिरिक्त अन्य व्यक्ति नहीं सुन पाता।

शङ्का— किसी भी एक पदार्थ (वस्तु) की उपलब्धि का होना एक ही समय (युगपत्) अनेक स्थानों (देशों) में सम्भव नहीं होता, उक्त आशङ्का का समाधान 'आदित्यवद् यौगपद्यम्' इस सूत्र के अभिप्राय को प्रकट करते हुए कतिपय पद्यों के द्वारा कर रहे हैं— **युगपद् देशभेदश्च इति** । जैसे एक ही सूर्य की उपलब्धि (प्राप्ति) अनेक (भिन्न-भिन्न) स्थानों में होती है तथैव एक ककार-चकार-टकार आदि शब्दों की उपलब्धि का होना अनेक (भिन्न-भिन्न) स्थानों में भी सम्भव है। अर्थात् अनेक स्थानों में शब्दोपलब्धि का होना विरुद्ध नहीं है (असम्भव नहीं है)। सूर्य प्रादेशिक (अव्याप्यवृत्ति) होने पर भी स्वयम्प्रकाश है और अतिदूरवर्ती है, उस कारण अनेक स्थानों में उसकी युगपत् उपलब्धि होती है और शब्द विभु (व्यापक) है, उस कारण उसकी भी युगपत् सर्वत्र उपलब्धि होती है। सूर्यबिम्ब एक होने पर भी नाना देशों में (अनेकानेक = सर्वत्र ही) उसकी उपलब्धि इस प्रकार होती है— **ये विन्ध्यनिलया इति** । जो लोग विन्ध्याचल-निवासी हैं और जो लोग कामरूप देश (कमरुकच्छा देश) के निवासी हैं, उन सभी को उदयाचल पर प्राप्त हुआ सूर्य अपने प्राग्भाग (पूर्वदिशा) में दिखाई देता है तथा वही सूर्य अस्ताचल पर प्राप्त होने पर उन सभी लोगों को अपने प्रत्यग् भाग में (पश्चिम दिशा में) दिखाई देता है और मध्याह्नकाल में अपने ऊपर (अपने शिर पर) स्थित हुआ दिखाई देता है। **भिन्नाश्च तेषामिति** । तेषाम् = तत्तद्देशीय लोगों के प्राग्भाग तथा प्रत्यक् = प्रत्यग्भाग और उपरि = ऊर्ध्वभाग स्पष्ट रूप से ही भिन्न-भिन्न हैं। विन्ध्याचलनिवासियों के द्वारा निश्चित सूर्याधिकरण देश भिन्न है, उसी तरह कामरूपदेश के निवासियों द्वारा निश्चित किये हुए सूर्याधिकरणदेश तात्कालिक रहने पर भी वे भिन्न-भिन्न हैं, उस कारण उनके प्रत्यग्भागादि देश भिन्न रहने पर भी दृश्यमान सूर्य की भिन्नदेशता अर्थात् अनेक देशों में (स्थानों में) उपलब्धि स्पष्टतया होती ही है। उसी तरह शब्द की भी भिन्न-भिन्न देशों में उपलब्धि होना विरुद्ध नहीं है; किन्तु शब्द के व्यापक रहने से समुचित ही है। इस सन्दर्भ में सूर्य की ही अनेकता की कोई आशङ्का न करे— इस अभिप्राय से देशों के भेद को बताया है। कोई भी भिन्न-भिन्न सूर्य को नहीं देखता। सभी को एक ही सूर्य सर्वत्र दीखता है।

प्रश्न— किसी एक वस्तु का अनेक स्थानों में भले ही उपलम्भ (उपलब्धि) हो, तथापि एकदेशस्थित वस्तु की उपलब्धि, अनेक स्थानों में होना सम्भव नहीं है। अत:

एकदेशस्थित सूर्य की उपलब्धि अनेक स्थानों में होने का कारण क्या है? इसे ग्रन्थकार ने 'किं पुनरेकदेशस्थस्यैव:' ग्रन्थ से पूछ रहे हैं।

उत्तर— उच्यते। यद्यपि एकदेशस्थित सूर्य की अनेक देशों में स्थिति नहीं होती; क्योंकि विरोध है, अर्थात् एक जगह रहने वाली वस्तु का अनेक स्थानों में रहन सम्भव नहीं है। तथापि सूर्य के स्थितिदेश (स्थितस्थान) को वस्तुत: न जाननेवाले लोग, **'स्व-सन्निध'** का अर्थात् स्व-सामीप्य का अध्यास करते हैं। अभिप्राय यह है कि स्व-सामीप्य न रहने पर भी सूर्य को अपने समीप ही समझते हैं। उसी तरह अग्रदेश में रहनेवाले भी अपने समीप ही समझते हैं। एवञ्च देशभेद न होने पर भी देशभेद को मानते हैं। उक्त तथ्य को ही और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं।

किं पुनरेकदेशस्थस्यैव सवितुर्नानादेशोपलम्भे कारणम् ? उच्यते— अतिदूरवर्त्तिनोऽस्य यथावद्देशमजानन्तः स्वसन्निधिमध्यस्यन्तो देशभेदं मन्यन्ते विस्पष्टञ्चैतत्। तथाहि— योऽपराह्णे यस्मिन् यावद्दूरे देशे सूर्यम्पश्यति— 'अस्मिन् क्षेत्रे, अस्मिन् पर्वते सूर्यः' इति स सवितार-मीक्षमाण एव तद्देशे गतस्ततः परस्तात् तथैव तं पश्यति, तेनाऽवगम्यते सर्वेषां देशानामग्रतः स्थितोऽसौ सन्निहितवदवभासत इति । ये चाऽऽ-दित्याऽपेक्षया स्तोकदेशाः पर्वतास्तेऽपि द्वियोजनस्थितानां त्रियोजन-स्थितानां च पुरुषाणां तुल्यवदवभासन्ते, तस्मादेकत्वेऽपि सम्भवति नानादेशोपलम्भः । तथैकमेव मुखं भिन्नेष्वादर्शेषु युगपद् दृश्यते।

प्रश्न— एक वस्तु की उपलब्धि अनेक स्थानों में भले ही हो, तथापि एकदेशस्थ अर्थात् एक स्थान में स्थित एक वस्तु की उपलब्धि अनेक स्थानों में होना सम्भव नहीं है।

पूर्वपक्षी पुन: प्रश्न करता है— **किम्पुनरेकदेशस्थस्यैव सवितुरिति**। अर्थात् एक देश में (एक स्थान में) स्थित रहने पर भी सूर्य की उपलब्धि अनेक स्थानों में क्यों होती है? अर्थात् उस उपलब्धि का कारण क्या है?

उत्तरपक्षी **समाधान** करता है— **उच्यते इति।** यद्यपि एकदेस्थ सूर्य की भी अनेक देशों (अनेक स्थानों) में स्थिति नहीं है; क्योंकि स्थिति मानने में विरोध होगा, तथापि— अतिदूरवर्ती (अस्य) सूर्य की स्थिति = रहने का स्थान, वास्तव में न जानने वाले लोग स्वसन्निधिमध्यस्यन्त: = अपने सामीप्य का अध्यास करते हैं। अर्थात् स्वसामीप्य न रहने पर भी सूर्य को अपने समीप ही समझते हैं। उसी तरह उसके अग्रदेशवर्ती लोग भी अपने समीप ही उसे समझते हैं। अर्थात् देशभेद न रहने पर भी देशभेद (भिन्न स्थान) समझते हैं। **विस्पष्टं चैतत्।** अपने उक्त कथन को ही और अधिक स्पष्ट (विशद) कर रहे हैं— **तथाहि इति।** जो व्यक्ति अपराह्णकाल में जिस स्थान में जितनी दूरी पर सूर्य को देखता है— अस्मिन् क्षेत्रे अस्मिन् पर्वते सूर्य: = इस क्षेत्र में इस पर्वत पर सूर्य है। वह व्यक्ति

सूर्य को देखता हुआ ही उस स्थान में (क्षेत्र में) गया, वहाँ उस क्षेत्र के आगे भी उसी तरह उसे (सूर्य को) देखता है। इससे यह समझ में आता है कि सभी देशों के अग्रत: स्थित वह सूर्य समीपस्थित के समान ही प्रतीत होता है। सूर्य के समीपस्थ पर्वत अतिदूर होने से उनकी भी यही गति है। स्तोकदेशा: = सूर्यसमीपस्था:। अर्थात् जो पर्वत सूर्य के समीप हैं, वे भी दो योजन दूरी पर स्थित लोगों को; तथैव तीन योजन दूरी पर स्थित लोगों को उसी तरह प्रतीत होते है। अत: सूर्य के एक रहने पर भी अनेक देशों में उसकी उपलब्धि होती है। अन्य उदाहरण भी दिया जा सकता है; जैसे— एक ही मुख अनेक दर्पणों में युगपत् दिखाई देता है, तथैव शब्द एक होता हुआ भी उसकी उपलब्धि अनेक देशों (स्थानों) में होती है।

ननु प्रतिबिम्बं नामाऽर्थान्तरं तत्र दृश्यते ? न, तस्याऽभावादनुपलम्भाच्च, न हि मूर्तमध्ये मूर्तान्तरं सम्भवति । किञ्च— शरावस्थमुदकं भूमेरुपरि नाभिदध्ने धारयित्वा तस्योपरिष्टादरत्निदध्ने स्वमुखं कुर्वन्नुदकस्याऽधस्तादरन्निमात्रे मुखप्रतिबिम्बं पश्यति, तस्मिँश्च देशे पार्श्वस्था: पुरुषा न किञ्चिदपि पश्यन्ति, तेन दृश्याऽदर्शननिरस्त: प्रतिबिम्बाऽऽख्योऽर्थो न शक्योऽभ्युपगन्तुम्। तस्मादादर्शतेजसा जलेन च प्रतिहतं नायनं तेज: परावृत्त्य गृह्णातीति युक्तम् । तस्मादनैकान्तिको नानादेशोपलम्भो न नानात्वं शब्दस्य साधयति ।

शङ्का— ननु प्रतिबिम्बमिति । अनेक दर्पणों में एक मुख की उपलब्धि नहीं होती, किन्तु उन अनेक दर्पणों में प्रतिफलित हुए अनेक प्रतिबिम्बों की उपलब्धि होती है। वे प्रतिबिम्ब प्रत्येक दर्पण में भिन्न-भिन्न ही हैं। अर्थात् दर्पण में दृश्यमान प्रतिबिम्ब पदार्थान्तर ही हैं।

समाधान— नेति । उपर्युक्त कथन उचित नहीं है। तस्य अभावात् अनुपलम्भाच्च— तस्य = प्रतिबिम्बस्य, प्रतिबिम्ब नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है, जो प्रत्येक दर्पण में भिन्न-भिन्न उपलब्ध हो सके, किन्तु मुख ही अनेकत्र उपलब्ध होता है। उसी तरह शब्द को भी समझना चाहिये।

प्रतिबिम्ब के पदार्थान्तरत्व का निराकरण— **न हि मूर्तमध्ये इति ।** मूर्तपदार्थरूप दर्पण के भीतर मूर्तान्तर का होना अर्थात् मुखरूप प्रतिविम्ब का होना सम्भव नहीं है। अर्थात् वह मुखरूप प्रतिबिम्ब उस दर्पण में प्रविष्ट नहीं हो सकता। **किञ्च शरावस्थमुदकमिति ।** प्रतिबिम्ब के पदार्थान्तर न होने में अन्य युक्ति भी बता रहे हैं किञ्चेति । शराव = सकोरे में स्थित जल को भूमि पर नाभिदध्ने = नाभिपरिमित स्थान में अर्थात् नाभि के समीप इतनी दूरी में रखकर— तस्योपरिष्टादरत्निदध्ने तस्य = नाभिसमान स्थान में स्थापित शराव स्थित जल के ऊपर अरत्नि परिमाण की दूरी पर अपने मुख को

झुकाकर उस जल के भीतर अर्थात् अरत्निमात्र जल के भीतर अपने प्रतिबिम्बित हुए मुख को जब देखता है, तब समीपस्थित अन्य लोगों को कुछ भी नहीं दिखाई देता। यदि प्रतिबिम्ब नामक कोई पदार्थ होता तो समीप बगल में बैठा हुआ। आदमी शराव (सकोरे) के अधोदश (भीतर) प्रतिफलित हुए प्रतिबिम्ब को अवश्य ही देख पाता, किन्तु वह नहीं देख पाता। तस्मात् दृश्याऽदर्शननिरस्तः— योग्याऽनुपलब्धि के कारण प्रतिबिम्बाख्य पदार्थ का निरसन हो जाता है। अर्थात् प्रतिबिम्ब नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है।

शङ्का— तब दर्पण में सुखप्रतीति कैसे होती है?

समाधान— तस्मात् आदर्शतेजसा जलेन च प्रतिहतं नायनं तेजः परावृत्त्य गृह्णातीति युक्तम् अर्थात् दर्पण और जल से प्रतिहत (पराभूत) हुआ नेत्र का तेज परावृत्त (वापस) होकर मुख को ही ग्रहण करता है— यह कथन उचित ही है। **तस्मादनैकान्तिक इति ।** शब्दनानात्ववादी के द्वारा तो शब्द को नाना (अनेक) ही माना जाता है, एक नहीं; क्योंकि अनेक देशों (स्थानों) में उसकी उपलब्धि होती है, घट के समान। अतः **'यत्र-यत्र नानादेशोपलम्भः, तत्र-तत्र नानात्वम्'** यही कहना होगा। एवञ्च उक्त रीति के अनुसार रवि (सूर्य) और मुख में नानात्व तो नहीं है, किन्तु नानादेशों में उपलब्धि होती है; इस कारण नानात्व लक्षणरूप साध्याऽभाव के रहने पर भी रवि और मुख में नानादेशोपलम्भरूप हेतु के रहने से हेतु व्यभिचारी (अनैकान्तिक) हो रहा है, इसलिये वह (हेतु) शब्द का नानात्व साधने में समर्थ नही है। अतः गकारादि शब्द एक ही हैं।

प्रतिबिम्ब की प्रतीति के विषय में प्राभाकर भी इसी प्रकार कहते हैं— 'प्रतिबिम्बज्ञानं तु सुखाद्यवभासं मुखादिविषयमेव भासुरे दर्पणादौ नयनरश्मिर्निपतितः प्रतिहतः परावृत्तो मुखादिना सम्प्रयुक्तः, तदेव मुखादि ग्राहयति, नन्वेवमपसव्यदक्षिणविपर्यासो देशविशेषपरिमाणत्वाऽल्पत्वमहत्त्वप्रतिभासश्च किं निबन्धनः? अत्राऽभिधीयते मुखादेदेशो न गृह्यते, दर्पणादीनां च ग्रहणमिति मुखादयस्तद्देशा एव भान्ति, अभिमुखेन मुखादिना नयनरश्मिः संयुक्तः, इति तथैव तदवगमात् सव्य-दक्षिणविपर्यासोऽपि युक्तः, अल्पत्वमहत्त्वे च दर्पणादे रश्मिप्रतिघातहेतोरल्पतया महत्तया च दोषभूतया मुखादिपरिमाणऽग्रहाद् दर्पणादिपरिमाणग्रहाच्च मुखादिष्विव भासेते' इत्यादि।

ननु सवितुः सांनिध्याऽध्यासाद् युक्ता नानादेशावगतिः, शब्दे तु कथम्? सर्वगतत्वात्— सर्वगतो हि शब्दो भिन्नदेशैर्ध्वनिभिः स्वे-स्वे देशेऽभिव्यज्यमानो भिन्नदेशोऽवभासते, ध्वनयो हि श्रोत्रदेशमागत्याऽपि शब्दं व्यञ्जन्तः स्वोत्पत्तिदेशमिव शब्दं भासयन्तीति दर्शनबलादभ्युपगम्यते ।

प्रश्न— भ्रम के कारण सभी को अपने-अपने समीप ही सूर्य के होने की प्रतीति होती है और सामीप्य = (सन्निधियाँ) सभी का भिन्न-भिन्न ही होता है। इसलिये सूर्य की

उपलब्धि नानादेशों में होना उचित है, किन्तु शब्द की स्थिति ऐसी नहीं है। अत: एक शब्द की उपलब्धि अनेक देशों (स्थानों) में कैसे हो सकेगी?

उत्तर— सर्वगतत्वात् इति । शब्द के एक रहने पर भी उसके (शब्द के) विभु (व्यापाक) रहने से अनेक देशोपलम्भ विरुद्ध नहीं है। किसी एक व्यापक वस्तु का देशभेद न रहने पर भी अव्याप्यवृत्ति ध्वनियों का देशभेद रहने से ही शब्द की देश भिन्नता भासित होती है।

शङ्का— कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न दिग्भाग को श्रोत्र कहते हैं। अत: ध्वनियाँ दूरदेशवर्ती रहने से ध्वनियों से अभिव्यक्त होने वाले शब्द के भी दूर देशवर्ती होने के कारण श्रोत्र के साथ संयोग न हो पाने से शब्द कैसे सुनाई पड़ेगा?

समाधान— ध्वनयो हि श्रोत्रदेशमागत्याऽपि इति। अर्थात् दूरी पर (दूर स्थान पर) ध्वनियों के उत्पन्न होने पर भी वे वीचितरङ्ग न्याय से श्रोत्रदेश तक आकर श्रोत्र-देशस्थ शब्द को अभिव्यक्त (प्रकट) करते हैं। उस अभिव्यक्त हुए शब्द के साथ श्रोत्र-संयोग विद्यमान रहने से शब्दश्रवण में कोई भी अनुपपत्ति नहीं हो पाती। अर्थात् शब्द की अभिव्यञ्जक ध्वनियाँ शब्द को अभिव्यक्त (प्रकट) करती हैं, तथापि वे शब्द को श्रोत्रदेशस्थत्वेन भासित नहीं करतीं, किन्तु स्वौत्पत्तिदेशस्थत्वेन रूपेण भासित करती हैं इस तथ्य को प्रतीतिबलात् अर्थात् देशान्तरवर्तित्वेन शब्दप्रत्यक्षबलात् स्वीकार किया जाता है।

ननु प्राप्यकारि श्रोत्रं न च ध्वन्युत्पत्तिदेश: श्रोत्रेण प्राप्यत इति, कथं तस्य श्रोत्रेण ग्रहणम्? तदग्रहे च कथं तद्विशिष्टशब्दग्रह:? उच्यते— नाऽयं श्रोत्रतस्तद्देशविशिष्टशब्दप्रत्यय:, किन्तु श्रोत्रं हि स्वदेशस्थितं शब्दं बोधयदपि न देशविशिष्टं बोधयति, किन्तु स्वरूपमात्रेण, यतस्तु दिश आगता ध्वनयस्तया विशिष्टं शब्दं बोधयन्ति, सा हि दिक् श्रोत्र-प्राप्ता शक्यते श्रोत्रेण ग्रहीतुम्, यद्यपि न स्वातन्त्र्येण दिश: श्रोत्रग्राह्यत्वं, तथापि शब्दे गृह्यमाणे तद्विशेषणतया दिगपि श्रोत्रेण गृह्यत इति दृष्टत्वाद् अङ्गीक्रियते कालवत् । यथा हि कालो न स्वातन्त्र्येणेन्द्रियैर्गृह्यते अथ च विषयेषु स्वेषु गृह्यमाणेषु तद्विशेषणतया सर्वैरपीन्द्रियैर्गृह्यते तद्वत् । ततश्चाऽस्यां दिशि शब्द इति विशिष्टग्रहणं तावत् सिद्धम् ।

शङ्का— ननु प्राप्यकारीति । श्रोत्र तो प्राप्यकारि = सम्बद्धग्राहि है, ध्वन्युत्पत्तिदेश का श्रोत्र के साथ सम्बन्ध ही नहीं है, तब श्रोत्र के द्वारा ध्वन्युत्पत्तिदेश का ग्रहण कैसे हो सकेगा? तदग्रहे = ध्वन्युत्पत्ति देश का ग्रहण न होने पर ध्वन्युत्पत्ति देशविशिष्ट शब्द का ग्रहण होना सम्भव नहीं है; क्योंकि विशिष्ट बुद्धि (विशिष्ट का ज्ञान होने) में विशेषण का ग्रहण भी कारण माना जाता है।

समाधान— उपर्युक्त शङ्का का समाधान कर रहे हैं—**नाऽयमिति।** यदि ध्वन्युत्पत्ति

देशविशिष्ट शब्द का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय से होता तो श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ध्वन्युत्पत्ति देश का ग्रहण होना सम्भव न होने से उक्त उपालम्भ किया जा सकता है, किन्तु ऐसी स्थिति नहीं है।

अब अपना अभिप्राय बता रहे हैं— **किन्तु श्रोत्रं हीति** । श्रोत्र तो शब्द को स्वरूपमात्र से ही जानता है, तथापि जिस दिशा से ध्वनियाँ आती हैं, तद्दिग्विशिष्ट शब्द को तो श्रोत्र जानता ही है, उस दिशा का सम्बन्ध श्रोत्र से होने के कारण श्रोत्र से उसका ग्रहण होना सम्भव है, फिर भी केवल दिशा विशेष्य होने के कारण उसका ग्रहण श्रोत्र से होना सम्भव नहीं है। शब्दविशेषणीभूत दिशा का ग्रहण तो श्रोत्र से होता ही है; अतः तद्दिग्विशिष्ट शब्द का ग्रहण होना असम्भव नहीं है। इस विषय में उदाहरण (दृष्टान्त) बता रहे हैं— **कालवत्** इति । काल की इन्द्रियग्राह्यता को बताते हैं— **यथाहीति** । जैसे- काल का स्वातंत्र्येण (स्वतन्त्र रूप से) इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता और ग्रहण किये जाने वाले अपने विषयों में तद्विशेषण तथा सभी इन्द्रियों से वह (विषय) ग्रहण किया जाता है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये। जैसे तदानीं घटः इत्यादि स्थल में घटविशेषणतया काल का इन्द्रियग्राह्यत्व होना स्पष्ट ही है। कालविशिष्ट होकर ही घट विषय होता है। यदि यहाँ पर काल का ग्रहण न किया जाय तो तद्विशिष्ट घट का भी ग्रहण कभी भी नहीं होगा। ऐसी स्थिति में भी जहाँ काल चाक्षुषविषयका विशेषण होता ही है अर्थात् काल का चक्षु से ग्रहण होता ही है। प्रकृत में जो बताया जा रहा है, उसे कहते हैं— **ततश्चेति** । ततः = शब्दविशेषणीभूत दिक् = दिशा का श्रोत्र से ग्रहण होना सम्भव होने से अस्यां दिशि शब्दः अर्थात् इस दिशा में शब्द हो रहा है। एवञ्च दिग्विशिष्ट शब्द का ग्रहण होना सिद्ध होता है। अन्यथा श्रोत्र से दिशा का ग्रहण न होने पर अस्यां दिशि शब्दः—ऐसी प्रतीति नहीं हो सकेगी, किन्तु शब्दः— इतनी ही प्रतीति होगी; क्योंकि श्रोत्रातिरिक्त अन्य किसी इन्द्रिय से शब्द का ग्रहण नहीं होता है। शब्द का ग्रहण तो श्रोत्र से ही होता है, अतः शब्दाविशेषणीभूत दिक् = दिशा का भी ग्रहण (ज्ञान) श्रोत्र से ही होता है— यह स्पष्ट हो जाता है।

(दिक्कालयोर्विशेषणतयेषग्राह्यत्वम्)

ध्वनयश्च क्रमेण मन्दीभवन्तः प्रत्यासन्नात् दूराद् दूरतराच्च देशादागताऽस्तवं मन्दं मन्दतरं च शब्दं बोधयन्ति । बोधविशेषाच्च ध्वन्युत्पत्तिदेशः प्रत्यासन्नदूरादिरूपेणाऽनुमानाद् हृदयदेशमागच्छन्ति, तत्र यः शब्दस्य परमार्थदेशः श्रोत्रदेशस्यऽग्रहणाद् दिग्विशिष्टस्य शब्दस्वरूपस्य ध्वन्युत्पत्तिदेशस्य च ग्रहणात् तयोः संसर्गभ्रमादेवंविधः प्रत्ययो भवति— प्राच्यां दिश्येतावदन्तराले शब्द इति, तस्मादभिव्यञ्जकदेशभेदादुपपन्नं नित्यस्याऽपि नानादेशोपलम्भनमित्यदोषः ।

शङ्का— श्रोत्रेन्द्रिय स्वसम्बद्ध पदार्थ का ही ग्राहक होता है; अतः ध्वन्युत्पत्तिदेश

का ग्रहण करना उसके द्वारा कभी सम्भव ही नहीं है। एवञ्च तस्मिन् देशे शब्दः = उस स्थान में शब्द हो रहा है— इत्याकारक प्रतीति कैसे हो पायेगी?

समाधान— ध्वनयश्चेति । प्रत्यासन्न = समीपतर स्थान (देश) से आने वाली ध्वनियाँ तीव्र और दूर-दूरतर स्थान से होने वाली ध्वनियाँ मन्द-मन्दतर शब्द का बोधन करती हैं। **बोधविशेषाच्चेति।** तीव्र शब्द के बोध से ध्वन्युत्पत्ति देश की प्रत्यसन्नता (समीपता) प्रतीत होती है और मन्द शब्द के बोध से ध्वन्युत्पत्ति देश की दूरता का अनुमान होता है। अर्थात् अनुमान से ही उसकी दूरता को मन समझ लेता है। एवञ्च श्रोत्र देशस्थ शब्द का ही ग्रहण होता है। अतः गृह्यमाण शब्द का श्रोत्रदेश ही वास्तविक स्थान (देश) है, तथापि उसका ग्रहण न हो पाने से और ध्वन्युत्पत्तिदेश का उक्त रीति से ग्रहण और शब्द का भी ग्रहण हो जाने से शब्द और ध्वन्युत्पत्तिदेश दोनों का परस्पर सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध का भ्रम हो जाता है, उस कारण प्राच्यां दिशि, तस्मिन् देशे शब्दः इत्यादि प्रतीति होती है। जैस— पुरोवर्तिदेश का प्रत्यक्ष होने पर रजत का स्मरण हो जाता है, अर्थात् पुरोवर्त्तिदेश और रजत का सम्बन्ध न रहने पर भी भ्रम से रजतमिदम् इत्याकारक पुरोवर्त्तिदेश और रजत— दोनों का सम्बन्ध भासित होता है, उसी तरह प्रस्तुत में भी ध्वन्युत्पत्ति देश और शब्द दोनों का सम्बन्ध भासित होता है।

उक्त कथन के पूर्व भी ननु सवितुः इत्यादि से आक्षेप होने पर सर्वगतत्वात् से आक्षेप का समाधान किया गया है। **तस्मादिति** । अभिव्यञ्जक ध्वनियों के उत्पत्तिस्थान का भेद रहने पर भी एकाकी गकार आदि वर्ण का भी नानादेशोपलम्भ का होना असम्भव नहीं है, अपितु सम्भव है। मूलग्रन्थोक्त नित्यय की एकत्व में लक्षणा समझनी चाहिये; क्योंकि नित्य विभु (व्यापक) पदार्थ एक रहने पर भी उसकी उपलब्धि नाना (अनेक) देशो (स्थानों) में होती ही है, अतः कोई विरोध नहीं है।

नन्वयं दोषो यदसति बाधके भ्रान्तित्वम्, प्रत्यभिज्ञायां वा कः पक्षपातो, येन सा भ्रान्तिर्न स्यात्? अयमस्ति पक्षपातः— न ह्यसम्भवति तद्भ्रान्तित्वे भ्रान्तित्वमङ्गीकर्तुं युक्तम्, नानादेशोपलब्धेस्त्वपरिहार्यं भ्रान्तित्वम्— अनित्यत्वपक्षेऽपि श्रोत्रगत एव परमार्थतो गृह्यते, श्रोत्रस्य प्राप्यकारित्वात्, न च वक्तृमुखगतो येन तद्देशग्रहणस्याऽभ्रान्तित्वं स्यात् ।

इसके पूर्व जो कहा गया था— तस्मादभिव्यञ्जकदेशभेदादुपपन्नं नित्यस्याऽपि नानादेशोपलम्भनमित्यदोषः— इस कथन पर पुनः आक्षेप किया जा रहा है— **नन्वयं दोष इति** । बाधक के होने पर भ्रम (भ्रान्ति) हुआ करती है, जैसे- नेदं रजतम्- इस बाधक वाक्य से शुक्ति में होने वाले रजतज्ञान को भ्रम कहा जाता है, प्राच्यां दिशि एतावदन्तराले शब्दः- इत्याकारक प्रतीति को तुमने भ्रम (भ्रान्ति) कहा है, किन्तु वहाँ बाधकज्ञान नहीं हो रहा है। बाधकज्ञान के न होने पर भी उक्त प्रतीति को भ्रम कह देना ही दोष है।

किञ्च— शब्द की एकता और नित्यता होने से उक्त प्रतीति को भी भ्रम कहना होगा, अन्यथा नाना (अनेक) देशों में उत्पत्ति-विनाशशाली नाना (अनेक) शब्दों की उपलब्धि होने से प्राच्यां दिशि एतदन्तराले शब्दः- इस प्रतीति को भ्रम (भ्रान्ति) नही कह सकेंगे और शब्द को नित्य मानने पर उसकी उत्पत्ति और विनाश न होने से श्रोत्र-शस्थ शब्द को ही ध्वनियों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है— यह कहना होगा। और ध्वनिदेशस्थ शब्द की अभिव्यक्ति के पक्ष में ध्वनिदेश के साथ श्रोत्र का सम्बन्ध न होने से और श्रोत्र की सम्बद्धग्राहिता रहने से शब्द की उपलब्धि ही नहीं हो सकेगी, अतः श्रोत्रदेशस्थ शब्द की अभिव्यक्ति को ही कहना होगा, और श्रोत्रदेशस्थ शब्द का ध्वन्युत्पत्तिदेश के साथ सम्बन्ध न रहने पर भी तत्र शब्दः- इस सम्बन्धप्रतीति को भ्रान्ति (भ्रम) ही कहना होगा; किन्तु यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि शब्द की एकता और नित्यता को स एवाऽयं गकारः— इस प्रत्यभिज्ञा से ही बताना होगा। इस परिस्थिति में प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति सादृश्य प्रदर्शन से भी हो सकती है; अतः प्रत्यभिज्ञा को ही भ्रम (भ्रान्ति) क्यों न कहा जाय? जिससे तत्र शब्दः इत्यादि प्रतीति को भ्रान्ति (भ्रम) शब्द से नहीं कहा जा सकेगा— यह पूर्वपक्षी का अभिप्राय है। मूलग्रन्थस्थ 'येन सा भ्रान्तिर्न स्यात्'- में सा = स एवाऽयं गकारः- इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा को समझना चाहिये।

इस पूर्वपक्ष पर उत्तरपक्षी उत्तर दे रहा है- **अयमस्ति पक्षपात इति**। नहि असम्भवति तद्भ्रान्तित्वे भ्रान्तित्वमङ्गीकर्तुं युक्तम् । तद्भ्रान्तित्वे = प्रत्यभिज्ञाया भ्रान्तित्वे। प्रत्यभिज्ञा में भ्रान्तित्व (भ्रम) का स्वीकार करने पर भी तुम्हारे विचार के अनुसार नानादेशोपलब्धि का प्रामाण्य होना सम्भव नहीं है। उसी का उपपादन 'अनित्यत्व-पक्षेऽपि' से किया जा रहा है। शब्द के अनित्यत्व पक्ष मे भी श्रोत्र को सम्बद्ध का ग्राहक ही माना जाता है। अतः श्रोत्रगत शब्द का ही ग्रहण किया जाता है— यह कहना होगा और श्रोत्रगत शब्द का वक्ता के मुखदेश (स्थान) के साथ जो सम्बन्ध प्रतीति होती है, उसे भ्रम (भ्रान्ति) ही मानना होगा; इसलिये प्रत्यभिज्ञा और नानादेशोपलब्धि— दोनों को भ्रम (भ्रन्ति) कहने की अपेक्षा नानादेशोपलब्धि को ही भ्रम (भ्रान्ति) के रूप मे क्यों न स्वीकार किया जाय? अनित्यपक्ष में भी श्रोत्रगत शब्द को ही परमार्थतः ग्रहण किया जाता है; क्योंकि श्रोत्र को 'प्राप्यकरी' कहा जाता है।

शङ्का- जब इन्द्रियों को प्राप्यकारी = सम्बद्ध ग्राहक, कहा जाता है, तब श्रोत्र को भी सम्बद्धग्राहक कहना होगा। तथा च- श्रोत्रदेशस्थ ग्राह्य शब्द का ध्वनिदेश के साथ सम्बन्ध न रहने पर भी तस्यां दिशि शब्दः- इत्याकारक जो सम्बन्धप्रतीति होगी, उसे भ्रम शब्द से कहा भी जा सकता था; किन्तु ऐसी स्थिति नहीं है; क्योंकि इन्द्रियाँ अप्राप्यकरी है। अर्थात् वे असम्बद्धग्राहक होती है। यदि बाह्य होता, तो उससे इन्द्रिय सम्बन्ध की सम्भावना भी की जा सकती थी, किन्तु बाह्य है ही नहीं, तब किससे इन्द्रिय सम्बन्ध होगा?

किंवा— दूरस्थित रहने वाले विषय को ही इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है, विषय

प्रत्यक्ष करते समय विषयेन्द्रियसंयोग का अनुभव नहीं होता? जिससे प्राप्यकारित्व की जाय, प्रत्युत इन्द्रियसंयोग के होने पर ही प्रत्यक्ष का सम्भव नहीं होता; क्योंकि नेत्र-संसक्त काजल की उपलब्धि नही होती। गृह्यमाण विषय की स्थिति तो इन्द्रियदेश से दूर रहती है– यह प्रत्यक्ष ही है। तस्मात् इन्द्रिय असम्बद्ध का ही ग्राहक है। यद्यपि असम्बद्ध-ग्राहकत्व का त्वक् और रसना में व्यभिचार दिखाई देता है, तथापि नेत्र और श्रोत्र असम्बद्ध के ही ग्राहक होते हैं यह कहना ही होगा। तथा च ध्वनिदेशस्थ शब्द का ही ग्रहण होने से और ध्वनिदेशस्थित शब्द का ध्वनिदेश के साथ सम्बन्ध की यथार्थता से ही शब्द और ध्वनिदेश के सम्बन्धग्रहण को भ्रम कहना सम्भव नहीं है— यह आशङ्का 'यदपि सौगतोऽपि' ग्रन्थ से की जा रही है।

(शब्दप्रत्यक्षे बौद्धमतखण्डनम्)

यदपि सौगतोऽप्यप्राप्यकारित्वमेवाऽङ्गीकुर्वन्नभ्रान्तित्वं समर्थयते, तदयुक्तम्—अप्राप्यकारित्वे हि सन्निकृष्टविप्रकृष्ट स्थितौ युगपच्छब्द-मुपलभेयाताम्, तयोस्तु क्रमेणोपलब्धिर्न कथंचिदप्यप्राप्यकारित्वे समर्थयितुं शक्या।

वार्त्तिक में भी कहा गया है—

येषां त्वप्राप्त एवाऽयं शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते ।
तेषामप्राप्तितुल्यत्वं दूरव्यवहितादिष ।।

वार्त्तिक के ही टीकाकार ने भी कहा है— अप्राप्यकरीन्द्रियवादिनः शाक्यान् प्रत्याह— येषामिति । **यदपीति** । यद्यपि सौगतों (बोद्धों) ने भी अप्राप्यकारिता को ही मानकर अभ्रातित्व का समर्थन किया है, वार्त्तिक के टीकाकार ने भी कहा है— अप्राप्यकारी इन्द्रियवादियों ने शाक्यों से कहा है— येषामिति ।

उनका निरसन करते हैं—**तदयुक्तम्।** इन्द्रियवादियों का कथन उचित नहीं है। प्राप्यकारित्व का स्वीकार करने पर तो शब्द अथवा शब्दाभिव्यञ्जक ध्वनि, जिसके श्रोत्र से पश्चात् सम्बद्ध होता है, उसे शब्द का प्रत्यक्ष प्रथम होता है और जिसके श्रोत्र से पश्चात् सम्बद्ध होता है, उसे पश्चात् (बाद में) शब्द का प्रत्यक्ष होता है— यह व्यवस्था उपपन्न होती है, किन्तु अप्राप्यकारित्व का स्वीकार करने पर इस व्यवस्था का होना सम्भव नहीं है।

इसलिये दूरस्थित तथा समीपस्थित पुरुषों के श्रोत्र का शब्द के साथ असम्बन्ध की समानता से ही और शब्द प्रत्यक्ष के विलम्ब होने में अन्य कारण के न होने से दूर तथा समीप में स्थित मनुष्यों को युगपत् (एक साथ) ही उसका शब्द सुनाई देना चाहिये— यही दोष है; किन्तु यह होना सम्भव नहीं है; क्योंकि क्रम से ही शब्द प्रत्यक्ष होता है, जैसे— समीपस्थित आदमी को प्रथमतः और दूरस्थित आदमी को उसके बाद सुनाई देता है। अप्राप्यकारित्व पक्ष में क्रम से शब्दोपलब्धि के होने का समर्थन कथमपि नहीं किया

जा सकता। इसी तथ्य को '**तयोस्तु क्रमेण उपलब्धिर्न कथंचिदपि अप्राप्यकारित्वे समर्थयितुं शक्या**' से बताया गया है। तयो: का अर्थ है— संनिकृष्ट–विप्रकृष्टस्थितयो: अर्थात् दूर-समीपस्थयो:। एवञ्च श्रोत्र की प्राप्यकारिता का स्वीकार करना चाहिये। प्राप्यकारिता का स्वीकार करने पर **श्रोत्रदेशस्थ शब्द का ही प्रत्यक्ष कहना होगा। ध्वनि के** देश मे श्रोत्र का जाना सम्भव नहीं है। उस कारण श्रोत्रदेशस्थ शब्द का ध्वनिदेश के साथ सम्बन्ध न रहने पर भी श्रोत्रदेशस्थ शब्द और ध्वनि के देशों (स्थानों) की जो सम्बन्ध-प्रतीति होती है, उसे भ्रमरूप (भ्रान्ति) ही समझना चाहिये। वार्त्तिक मे भी कहा हैं—

तत्र दूर-समीपस्थग्रहणाऽग्रहणे समे ।
स्यातां न च क्रमो नाऽपि तीव्रमन्द्रादिसम्भव: ॥

तत्र = अप्राप्यकारित्वपक्ष में दूरस्थित और समीपस्थित पुरुषों की ग्रहण–अग्रहण में समानता होनी चाहिये, न कि समीपस्थित पुरुष के द्वारा ग्रहण और दूर स्थित पुरुष के द्वारा अग्रहण तथा समीपस्थित पुरुष का प्रथम श्रवण और दूरस्थित पुरुष के द्वारा पश्चात् (तदनन्तर) श्रवण— यह क्रम भी नहीं होना चाहिये; क्योंकि दोनो के लिये अप्राप्ति तुल्य (समान) ही है। अत एव वार्त्तिक में न च क्रमो नाऽपि तीव्रमन्द्रादिसम्भव: कहा गया है।

उपर्युक्त कारिकागत **न च क्रमेति** । समीप रहने वाले मनुष्य ने शब्द को प्रथम प्राप्त किया है, उस कारण उसे तीव्र स्वर में सुनाई दिया और दूर रहने वाले मनुष्य ने शब्द के पश्चात् प्राप्त किया, उस कारण उसे वही शब्द मन्दस्वर में सुनाई दिया– इत्याकारक तीव्र-मन्दादिव्यवस्था भी नहीं हो पायेगी; क्योंकि दोनों श्रोताओं को उसकी (शब्द की) अप्राप्ति तुल्य (समान) ही है— यह अर्थ उपर्युक्त वार्त्तिक का है।

किञ्च क्षणिको वा शब्द: स्यात् स्थायी वा? यदि क्षणिक:? तत: प्रत्यासन्नैर्गृहीतमात्रो नष्ट: कथं विप्रकृष्टै: पश्चाद् ग्रहीतुं क्षम:। स्थायित्वं तु सौगतानामनभिमतमेव। स्थायित्वे च प्रत्यासन्नानां शब्दश्रवणं चिरकाल मनुवर्तेत। तस्मादप्राप्यकारित्वाऽसम्भवादर्जनीयं नानादेशोप-लब्धे-र्भ्रान्तित्वम्। अस्मत्पक्षे तु ध्वनीनां क्रमेणाऽऽसन्नदूरगमनाद् गत्वरत्वेन चैकस्मिन् श्रोत्रे चिरमनवस्थानादुपपन्ना क्रमेणोपलब्धिश्चिरकालाऽ-ननुवृत्तिश्च। तस्मान्नैकान्ततस्त:वदनित्यत्वम् ।

प्रश्न— अन्य दोष भी बता रहे हैं— **किञ्चेति** । शब्द को क्षणिक माना जाय अथवा स्थायी माना जाय?

उत्तर— यदि उसे क्षणिक मानते हैं तो समीपस्थित लोगों के द्वारा शब्द को सुनते मात्र ही (वह) नष्ट हो जाता है, तब दूर स्थान पर स्थित लोगों को उसका (शब्द का) ज्ञान कैसे हो पायेगा। यदि उसे (शब्द को) स्थायी मानते हैं, तो उसका स्थायित्व सौगतों

(बौद्धों) को अभिमत नहीं है। यदि उसे स्थायी कहते हैं तो समीपस्थित लोगों को चिर (दीर्घ) काल तक उसका (शब्द का) श्रवण होते रहना चाहिये।

अत: उसका (शब्द का) अप्राप्यकारित्व सम्भव न होने से उसकी उपलब्धि नाना (अनेक) देशों में होनी चाहिये, अर्थात् अन्यान्य स्थानों में भी उसकी प्रतीति होना युक्ति-संगत कहा जायगा, उस कारण उसे भ्रम नहीं कहा जा सकेगा; किन्तु ऐसी स्थिति है नही। अत: वह भ्रम ही है। एवञ्च नाना देशों में उसकी (शब्द की) उपलब्धि अर्थात् देशान्तर में उसकी जो प्रतीति होती है, उसे भ्रम कहना ही उचित प्रतीत होता है।

किञ्च— सौगतों के (बौद्धों के) मत में आन्तर ज्ञान (भीतरी ज्ञान) ही बाह्यतया (बाहर) प्रतिभासित होता है तथा अन्य सौगतों के मतानुसार भी यच्च यावत् जो घट-पटादि बाह्य पदार्थ के रूप में भासित होते हैं, वे सभी भ्रान्ति (भ्रम) रूप ही हैं। अत: जो नानादेशोपलब्धि अर्थात् देशान्तर से सम्बद्ध प्रतीति है, उसे उक्त युक्ति से भ्रान्तित्व नहीं भी हो सकता है, किन्तु ऐसी स्थिति नहीं है, इसलिये नानादेशोपलब्धि को भ्रान्ति (भ्रम) ही कहना चाहिये।

किञ्च— सौगतों के (बौद्धों के) मत में बाह्यतया प्रतिभास होने से तथा अन्य सौगतों के मत में बाह्यज्ञान मात्र भ्रान्ति (भ्रम) के रूप में स्वीकृत होने से जो नानादेशोपलब्धि है, उसे यहाँ अभ्रान्तित्व बताना सर्वथा अपने सिद्धान्त को ही वे (बौद्ध) भूल गये हैं— यही कहना होगा।

अस्मत्पक्षे तु ध्वनीनामिति । अब सिद्धान्ती अपने मत का उपपादन कर रहा है। समीप और दूर के देश में क्रमश: ध्वनियो के प्राप्त होने से ध्वन्यभिव्यंग्य शब्द की उपलब्धि होनी ही उचित प्रतीत हो रही है। समीपस्थ व्यक्ति को शब्द का श्रवण प्रथम = पहिले सुनाई देता है और दूरस्थित व्यक्ति को उसके बाद सुनाई देता है। दूरता और समीपता को ध्वन्युत्पत्ति के देश की अपेक्षा (दृष्टि) से जानना चाहिये तथा ध्वनियों के विनाशित्व से (गत्वरत्वेन) अर्थात् ध्वनियाँ विनाशशील रहती है, उस कारण तदभिव्यंग्य जो शब्द है, दोषावह नहीं है। अर्थात् अभिव्यञ्जक के अभाव में तदभिव्यंग्य प्रत्यक्ष का विराम होना निश्चित ही है। तस्मात् एकान्तत: = निश्चयेन (निश्चित रूप से) शब्द की अनित्यता नही कह सकते। एवञ्च शब्द का नित्यत्व ही सिद्ध हो रहा है।

अर्थप्रतिपत्त्यनुपपत्त्या तु नित्यत्वमेव युक्तम्, न हि प्रत्युच्चारणमन्यस्याऽन्यस्य क्रियमाणस्यार्थप्रत्यायकत्त्वं सम्भवति, सम्बन्धग्रहणासम्भवादगृहीतसम्बन्धस्यचाऽप्रत्यायकत्वात्। न चान्यस्मिन् गृहीतसम्बन्धेऽन्यस्य प्रत्यायकत्वं सम्भवति। न हि गोशब्दे गृहीतसम्बन्धेऽश्वशब्द: प्रत्याययति ।

शब्द की नित्यता सिद्ध करने का एक अन्य प्रकार भी है—**अर्थप्रतिपत्त्यनुप-**

पत्त्येति। यदि शब्द को अनित्य कहने का आग्रह ही हो तो प्रत्येक उच्चारण को भिन्न-भिन्न ही कहना होगा। उच्चार्यमाण उन शब्दों की उत्पत्ति अभी-अभी ही हुई है, उनका अर्थ के साथ सम्बन्धग्रह (शक्तिग्रह = शक्तिज्ञान) भी नही हो पाया है, सम्बन्धज्ञान (शक्तिग्रह) के अभाव में अर्थप्रत्यायकत्व (अर्थबोधकत्व) का होना सम्भव नहीं है; किन्तु शब्द को अर्थप्रत्यायक तो माना ही जाता है। इसलिये शब्द की नित्यता तो सिद्ध (स्पष्ट) ही है। शब्द की नित्यता स्वीकारने पर एकदा वृद्धजनों के व्यवहारों में शब्दाऽर्थसम्बन्ध का ज्ञान हुआ, तब गृहीत सम्बन्ध (शक्तिग्रह) होने से उसका (शब्द का) अर्थप्रत्यायकत्व स्पष्ट हो जाता है। शब्द की नित्यता के अभाव में तो अर्थप्रतिपत्ति का होना कभी सम्भव ही नहीं है।

शङ्का— शब्दो के अनित्य रहने पर भी उनमें किसी शब्दव्यक्ति (शब्दविशेष) के अर्थ के साथ सम्बन्धग्रह = शक्तिज्ञान हो ही जाता है, अतः उसी से अर्थप्रत्यायकत्व मान लिया जाय।

समाधान— न च अन्यस्मिन् गृहीतसम्बन्धेऽन्यस्य प्रत्यायकत्वं सम्भवति– न हि गोशब्दे गृहीतसम्बन्धे अश्वशब्दः प्रत्याययति। गृहीत सम्बन्धवाले किसी एक घटादि शब्द में अर्थप्रत्यायकत्व भले ही हो जाय, किन्तु उसके अतिरिक्त घटादि शब्द का उतने मात्र से प्रत्यायकत्व होना सम्भव नहीं है, अन्यथा तद्भिन्न अगृहीत सम्बन्ध वाले समस्त गवादि शब्दों का भी अर्थप्रत्यायकत्व होने लगेगा, किन्तु न च अन्यस्मिन् गृहीतसम्बन्धोऽन्यस्य प्रत्ययकत्वं सम्भवति– न हि गोशब्दे गृहीतसम्बन्धेऽश्वशब्दः प्रत्याययति।

शङ्का— गो शब्द के सदृश (समान) अश्व शब्द नहीं है, इसलिये गो शब्द गृहीतसम्बन्ध होने पर भी अश्व शब्द उसका (गो का) प्रत्यायक (बोधक) नहीं होता।

सत्यम्, असदृशो हि न प्रत्याययति यस्त्वन्योऽपि गृहीतसम्बन्धेनार्थवता शब्देन सदृशः शब्दः स प्रत्याययतीति चेत्? न, तदसम्भवात्। नहि कश्चिदपि मुख्योऽर्थवान् सम्भवति, सर्वेषां तुल्यत्वेन सम्बन्धाऽग्रहणात्, न हि द्विस्त्रिर्वाऽनुपलब्धस्य सम्बन्धग्रहणं सम्भवति, अन्वय-व्यतिरेकाऽभावात्।

शङ्का— अन्य गो शब्द तो सभी गृहीत सम्बन्धवाले गो शब्द के सदृश ही होगा तो सम्भव हो सकता है। वर्तमान में उत्पन्न होने पर भी उनका अर्थप्रत्यायकत्व तो सम्भव हो सकता है– उक्त आशय को ही ग्रन्थकार 'सत्यम्; असदृशो हि न प्रत्याययति, यस्त्वन्योऽपि गृहीतसम्बन्धेन अर्थवताशब्देन सदृशः शब्दः, स प्रत्याययति इति चेत्?' ऐसी आशङ्का करने पर उसे अनुचित बताते हुए कहते **हैं— न, तदसम्भवात् इति**। यदि कोई शब्द, मुख्योर्थवान् अर्थात् गृहीतसम्बन्धवान् होना सम्भव हो सकता है, तो उसके सादृश्य से दूसरे (अन्य) गो शब्दों का भी अर्थप्रत्यायकत्व हो सकता है, किन्तु यह सम्भव नहीं है; क्योंकि 'न हि कश्चिदपि मुख्योऽर्थवान् सम्भवति, सर्वेषां तुल्यत्वेन

सम्बन्धाऽग्रहणात्'। किसी भी शब्द का मुख्य अर्थ वाला होना सम्भव नहीं है। यदि कोई गो शब्द मुख्योर्थवान् अर्थात् गृहीत शक्तिवाला होता है, तो उसके सादृश्य से अन्य शब्दों का अर्थात् अन्य गो शब्दों का भी अर्थप्रत्यायकत्व हो सकता है, किन्तु यह सम्भव नहीं है; क्योंकि सर्वेषां तुल्यत्वेन सम्बन्धाऽग्रहणात् = सभी गो शब्द के समान रहने से उनका सम्बन्धाऽग्रह अर्थात् शक्तिग्रह हो नहीं सकता। क्योंकि शक्तिग्रह अन्वय-व्यतिरेक से ही होता है और अन्वय-व्यतिरेक का ग्रहण (ज्ञान) दो बार अथवा तीन बार शब्द की उपलब्धि हुए बिना सम्भव नहीं है; किन्तु शब्द तो अनित्य है, अनित्य शब्द की दो बार उपलब्धि नहीं हो सकती; क्योंकि वह तृतीयलक्षणवृत्ति ध्वंस का प्रतियोगी है। प्रत्येक उच्चारण में शब्दभेद होने से एक का अनेक बार उच्चारण होना सम्भव भी नहीं है तथा उपलब्धि भी उच्चारण के अधीन ही होती है। अत: किसी भी गो शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्धग्रह होना सम्भव नहीं है। जिससे सादृश्य को लेकर अन्य गो शब्दों का अर्थ-प्रत्यायकत्व हो सके। अन्यत्र भी इसी तथ्य को बताया गया है— यद्युच्चरितमात्रविनाशी शब्दो भवेत् तदा तस्य वृद्धव्यवहारेण स्वाभाविकी स्वार्थाभिधानशक्तिरवसातुमशक्या, भूयोभूय: प्रयोगदर्शने हि तत्तदस्वार्थपरिहारेण निष्कृष्य स्वार्थाभिधानसामर्थ्यमवधार्यते, न चोच्चरितभावापवर्गिण: शब्दस्य पुन:-पुन: प्रयोगदर्शनमुपपद्याते, स्वार्थाऽभिधानसामर्थ्याऽनवधारणे च प्रथमश्रुत इव शब्दो नाऽर्थमवधारयितुमलम्, अर्थं च अनवबोधयत: प्रामाण्यमयुक्तमिति शब्दस्य प्रामाण्यमिच्छता युक्तमभिधानस्य (शब्दस्य) नित्यत्वस्थापनमिति सप्रयोजनम्।

अपौरुषेयसम्बन्धे शब्द: प्रामाण्यमृच्छति ।
स च नित्यत्वसिद्धौ स्यादिति तत् प्रतिपाद्यते ।। इति।

(शब्दनित्यत्वपूर्वपक्षस्तत्खण्डनञ्च)

अथ व्युत्पत्तिसमये सदृशेषु शब्देषु द्वित्रेषूपलब्धेषु पश्चाच्छ्रूयमाण: सम्बन्धग्रहणं लब्ध्वाऽर्थवान् भवति तदुत्तरकालास्तत्सादृश्यात् प्रत्याययन्तीत्युच्यते। तदयुक्तम्— य एवोपलब्धशब्दान्तरेण पश्चाच्छ्रूरूयमाणोऽर्थवान् निरूप्यते स एवाश्रुतशब्दान्तराणां पुरुषाणां प्रथमश्रुतोऽनर्थक इति विरोधापत्ते:।

तदुक्तम्— अप्रतीताऽन्यशब्दानां तत्कालेऽसावनर्थक: ।
स एवाऽन्यश्रुतीनां स्यादर्थवानिति विस्मय: ।। इति।

अथाऽर्थवानेवाऽयम्, अप्रतीतान्यशब्दास्त्वन्वयव्यतिरेकवैकल्यादर्थवत्त्वं न जानन्तीत्युच्यते? तथासति तदुत्तरकालानामपि शब्दानामेवमर्थवत्त्वसम्भवात् किमिति सादृश्येन प्रत्यायकत्वम्। तदुक्तम्— अथाऽस्य विद्यमानोऽपि इत्यादिना।

शङ्का— शक्तिग्रहकाल में प्रथमत: दो-तीन समान गो शब्द सुनाई दिये, तब उनकी अर्थप्रतीति होने के साथ अन्वय-व्यतिरेक के होने पर तत्सदृश श्रूयमाण चतुर्थ गो शब्द के अर्थ से सम्बन्धग्रह होता है, उस कारण वह अर्थवान् होता है, उसका अर्थप्रत्यायक (अर्थबोधक) होना उचित ही है और तदुत्तरकाल के गो शब्दों का तत्सादृश्य से ही अर्थप्रत्यायकत्व क्यों नहीं हो सकता है?

समाधान— **तदयुक्तम् इति।** उपर्युक्त कथन उचित नहीं है। **य एवोपलब्ध-शब्दान्तरेणेति।** जिस आदमी ने प्रथमत: दो-तीन गो शब्दों को सुना, उसी आदमी ने जब चतुर्थ (चौथी बार) गो शब्द सुना, तब वह उसे अर्थवान् कहते हैं, वही चौथी बार सुना गो शब्द ही अश्रुतपूर्व अन्यान्य गो शब्दों का उच्चारण लोगों के लिये अनर्थक ही (व्यर्थ ही) हो सकता है; क्योंकि लोगों ने उसे पूर्व सुन लिया है। एवञ्च एक ही को अर्थवान् और अनर्थक कहना विरुद्ध है। इसी सन्दर्भ में श्लोकवार्त्तिक को प्रमाण रूप में उपस्थित कर रहे हैं— **तदुक्तम्।** इति। जैसा कि श्लोकवार्त्तिक में कहा गया है— **अप्रतीतेति।** तथा च तत्सादृश्यात् अन्य गो शब्दों से उन आदमियों को अर्थप्रतीति नहीं हो सकेगी।

शङ्का— जैसे देवदत्त में पितृनिरूपित पुत्रत्व और पुत्रनिरूपित पितृत्व रहता है, और कोई विरोध भी नहीं है, क्योंकि निरूपकभेद से अविरोध है, उसी तरह प्रस्तुत में भी निरूपकभेद से अर्थवत्त्व और अनर्थवत्त्व भी विरुद्ध नहीं होगा— यह नहीं कह सकते।

समाधान— निरूपक भिन्न-भिन्न होने से सम्बन्ध का विरोध न होने पर भी अर्थवत्त्व और अनर्थवत्त्व (अनर्थकत्व) के विरोध न होने में कोई प्रमाण नहीं है।

शङ्का— जो यह अर्थवान् गो शब्द बताया, वह अर्थवान् ही है, अनर्थक नहीं है, जिससे विरोध की प्रतीति हो सकेगी; क्योंकि अन्य पुरुषों से (दूसरे लोगों से) अर्थवत्त्व ग्रहण में (ज्ञान में) कारणीभूत अन्वय-व्यतिरेक का ग्रहण (ज्ञान) न हो पाने से अर्थवत्त्व की प्रतीति नहीं हो पाती, जैसे— विद्यमान घट का ग्रहण (ज्ञान) न हो पाने से उसके असत्त्व की सम्भावना नहीं की जाती।

समाधान— **तथा सति इति ।** एवं उत्तरकालवर्ती गो शब्दों का भी अर्थवत्त्व होना, एवम् = स्वत एव = स्वत: ही हो जाना सम्भव है, उसके लिये तत्सादृश्य की आवश्यकता नहीं है। इस संदर्भ में श्लोकवार्त्तिक का प्रमाण उपस्थित कर रहे हैं—

अथाऽस्य विद्यमानोऽपि कैश्चिदर्थो न गम्यते ?
तत्तुल्यमुत्तरस्येति किं सादृश्येन वाचक: ।।

उत्तर गो शब्द का भी तत् = मुख्य अर्थवत्त्व ही उचित है, तथापि अर्थवत् पूर्व श्रुत गो शब्द के सादृश्य से वह उचित नहीं है।

शङ्का— दो-तीन बार गो शब्द के सुनने के पश्चात् जिस एक गो शब्द का देवदत्त

के द्वारा शक्तिग्रह प्राप्त करके अर्थवत्त्व का निश्चय (अवधारण) किया और तदुत्तर कालवर्ती गो शब्द के सम्बन्ध को गृहीत किये हुए देवदत्त के पति अर्थवत्त्व रहने पर भी अगृहीत सबन्ध वाले यज्ञदत्त आदि लोगों के प्रति उसके अप्रत्यापक (अबोधक) रहने से उसका आनर्थक्य ही है, उस कारण उक्त विरोध होना सम्भव नहीं है। विरोध का सम्भव तो तब होगा, जब एक ही पुरुष के प्रति एक ही शब्द का अर्थवत्त्व और अनर्थकत्व हो। पुरुष का भेद रहने पर तो एक शब्द का भी अर्थवत्त्व और अनर्थकत्व का विरोध नही रहता।

श्लोकवार्त्तिककार श्री भट्टपाद कहते हैं— तत्सादृश्य होने के कारण अन्य गो शब्दों से उन पुरुषों को अर्थप्रतीति नहीं हो सकेगी। जैसे- देवदत्त में पितृनिरूपित पुत्रत्व होता है, तथैव पुत्रनिरूपित पितृत्व भी रहता है, तथापि कोई विरोध नहीं होता। अर्थात् निरूपक भेद के कारण अविरोध ही रहता है, उसी तरह प्रस्तुत में भी निरूपक भिन्न-भिन्न रहने से अर्थवत्त्व और अनर्थकत्व का होना विरुद्ध नहीं है। निरूपकभेद से सम्बन्ध में विरोध न रहने पर भी अर्थवत्त्व और अनर्थकत्व दोनों में विरोधाऽभाव कहने में कोई प्रमाण भी तो नहीं है।

अथोत्तरकालस्य शब्दश्च काँश्चिदगृहीतसम्बन्धान् प्रत्यप्रत्यायकत्वादानर्थक्यमेवाऽऽश्रीयते? ततो योऽसावर्थवत्त्वेनाऽभिमतः शब्दो यत्सादृश्यादुत्तरेषां प्रत्यायकत्वं सोऽपि केषांचिदप्रत्यायकत्व इत्यनर्थक एवेति सर्वेषामानर्थक्यं स्यात्। तदुक्तम्—अनर्थकत्वमस्य स्यात् इत्यादिना।

उत्तरवर्ती गो शब्द का अर्थवत्त्व तत् = मुख्य मानना उचित ही है और वह भी अर्थवत् पूर्व श्रुत गोसादृश्य केवल पर ही उचित होगा। उत्तर कालवर्ती गो शब्द के सम्बन्ध को गृहीत किये हुए देवदत्त के लिये उसका अर्थवत्त्व रहने पर भी अगृहीत सम्बन्ध वाले यज्ञदत्तादि लोगों के लिये तो वह अप्रत्यायक ही रहेगा, अतः उसे अनर्थक ही समझना होगा। तथा च उक्तविरोध की यहाँ पर कोई प्राप्ति नहीं होगी। विरोध तो तभी हो सकता है, जबकि एक ही आदमी को एक शब्द में अर्थवत्ता और उसी में अनर्थकत्व— दोनों की प्रतीति हो तभी विरोध की सम्भावना की जा सकती है; किन्तु पुरुषभेद रहने पर एक ही शब्द में अर्थवत्त्व और अनर्थकत्व का विरोध न होने के कारण विरोध का कोई प्रसंग ही नहीं है— यह आशङ्का 'अथोत्तरकालस्य शब्दस्य' ग्रन्थ से की गई है। **'उत्तरकालस्य'** अर्थात् शक्तिग्रह होने पर श्रुत शब्द का वस्तुतः अर्थवत्त्व मानने पर अर्थप्रत्यायकत्व तो स्वत एव ही हो जायगा, न कि तत्पूर्वश्रुत शब्द के सादृश्य से। यह दोषप्रदर्शन करके अगृहीत सम्बन्ध वाले शब्दों के प्रति आनर्थक्य स्वीकार करने पर विप्रतिपत्ति = विरोध प्रदर्शित करते हुए उसका परिहार कर रहे हैं— **ततो योऽसावर्थवत्त्वेनाऽभिमतः शब्दः इति।** अभिप्राय यह है कि यदि उत्तरकालिक शब्द का अगृहीतसम्बन्ध वालों के प्रति अप्रत्यायकत्व (अबोधकत्व) होगा, तो उत्तरकालिक शब्द

का आनर्थक्य ही कहना होगा। तब मुख्यार्थवत्त्वेन रूपेण तुम्हारे द्वारा अभिमत शब्द का भी कतिपय शब्द अप्रत्यायक होने से उन्हें (शब्दों को) अनर्थक ही कहना होगा। इस तरह तो किसी का भी अर्थवत्त्व नहीं हो पायेगा। उक्त कथन के समर्थन में श्लोकवार्त्तिक का प्रमाण उपास्थित कर रहे हैं, जैसे—

अनर्थकत्वमित्थ्यं स्यादथाऽनन्यश्रुतीन् प्रति ।
पूर्वस्मिन्नपि तत्सत्त्वात् सर्वानर्थकता भवेत् ।।

अनर्थकत्वमिति । अनन्यश्रुतीन् प्रति = अश्रुताऽन्य गोशब्दान् प्रति यदि अस्य गोशब्दस्य अनर्थकत्वमेव आश्रीयते, तदा पूर्वस्मिन्नपि = यत्सादृश्यात् उत्तरेषां प्रत्यायकत्वं, तस्मिन् अपि कॉंश्चिदगृहीतसम्बन्धान् प्रति, तत्सत्त्वात् = अप्रत्यायकत्वस्य सत्त्वात् आनर्थक्यं स्यादिति सर्वेषामेव शब्दानाम् आनर्थक्यं स्यादित्यर्थः ।

जिस आदमी ने प्रथमतः दो-तीन बार गो शब्दों को सुना, उसी को अन्वय-व्यतिरेकवशात् चतुर्थ गोशब्द का अर्थ के साथ सम्बन्धग्रह होता है, उसी पुरुष के लिये वह चतुर्थ (चौथी बार बोला गया) गोशब्द प्रत्यायक = अर्थबोधक होने से सार्थक माना जाता है। उसके बाद पुनः पाँचवीं बार बोला गया गोशब्द चतुर्थ गोशब्द के सादृश्य से ही प्रत्यायक = बोधक होने से सार्थक होता है। तथा च- जिस पुरुष ने प्रथमतः दो-तीन बार गोशब्द का श्रवण न किया हो, किन्तु पञ्चम बार उच्चरित गो शब्द को ही सुना हो और वह भी प्रथम बार ही सुना हो, उस व्यक्ति को अन्वय-व्यतिरेक का ग्रहण न होने से अर्थ के साथ सम्बन्धग्रह का (सम्बन्धज्ञान) होना सम्भव नहीं है। उस कारण उस अश्रुत अन्य गोशब्द के प्रति पञ्चम गोशब्द भी अप्रत्यायक होने से अनर्थक ही कहना होगा, एवं अश्रुत गोशब्दान्तर के प्रति चतुर्थ गो शब्द भी अप्रत्यायक होने से वह भी अनर्थक ही माना जायगा। इस प्रकार सभी गोशब्दों का आनर्थक्य ही होगा; क्योंकि कतिपय अगृहीत सम्बन्ध वालों का अप्रत्यायक होने से यह अभिप्राय वार्त्तिक का है।

किञ्च व्युत्पत्तिकालवर्ती शब्दोऽर्थवान्, उत्तरे तु व्यवहारकालवर्तिनस्तत्सादृश्यात् प्रत्याययन्तीति ब्रुवाणस्य विरुद्धमापद्यते—य एव हि केषाञ्चिद् व्युत्पत्तिकालवर्ती स एवाऽन्येषां व्यवहारानुपातीत्येकस्यैवार्थवत्त्वं मुख्यं, तत्सादृश्याद् गौणमिति विरोधः, तदुक्तम्—अर्थवत्सदृशत्वेन इति तस्मान्न सादृश्येन प्रत्यायकत्वमित्येकत्वमेव शब्दस्याऽऽश्रयितव्यम्।

एक अन्य दोष भी बता रहे हैं— **किञ्चेति** । व्युत्पत्तिकालवर्ती एक गोशब्द का मुख्य अर्थवत्त्व और अन्यान्य गो शब्दों का जो व्यवहारकालवर्ती हैं— उनका अर्थवत्त्व, तत्सादृश्य से होता है- यह कहने वाले का एक अन्य विरोध भी होगा।

उक्त विरोध को ही प्रकट कर रहे हैं— **य एव हि केषांचिद् इति** । यज्ञदत्त के

प्रति एक ही गोशब्द का व्युत्पत्तिकालवर्त्तित्व और देवदत्त के प्रति व्यवहारकालवर्त्तित्व होना सम्भव होता ही है, उनमें भी व्युत्पत्तिकालवर्त्तित्वेन रूपेण मुख्य अर्थवत्त्व है और व्यवहारकालवर्त्तित्वेन अर्थवत्त्वसादृश्य प्रयुक्त होने से गौण अर्थवत्त्व होता है— यही विरोध है।

प्रस्तुत प्रसंग में श्लोकवार्त्तिक का प्रमाण दे रहे हैं— **अर्थवदिति** । तथाहि—

अर्थवत्सदृशत्वेन यो वा श्रुतवतां मतः ।
मुख्योऽसावश्रुतीनां स्यात् तदेकत्वे न युज्यते ॥

श्रुतवताम् = श्रुतार्थवद्गोशब्दान्तराणां जनानां यो गोशब्दः, सादृश्येन अर्थवान् व्यवहारकालवर्त्तित्वात् स एवाऽसौ गोशब्दोऽश्रुतीनाम् = अश्रुतार्थवद्गोशब्दान्तराणां जनानां मुख्यार्थवान् व्युत्पत्तिकालवर्त्तित्वात्, तत् = मुख्यं गौणं तत्सादृश्याद् इति विरोधः। तदुक्तम्— अर्थवत् सदृशत्वेन इति। तस्मान्न सादृश्येन प्रत्यायकत्वमित्येकत्वमेव शब्दस्य आश्रयितव्यम् । एवञ्च मुख्यं गौणं च अर्थवत्त्वमेकस्य न युक्तमिति वार्त्तिकार्थः। तस्मात् इति । शब्दस्य एकत्वे तु तस्य सम्बन्धग्रहे जाते मुख्यमेव अर्थवत्त्वम्, न गौणमिति सम्भवति । मुख्यस्याऽपि अर्थवत्त्वस्य वर्तमानस्य च अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां ग्रहणमिति न कोऽपि दोषः ।

अथ गत्वादिसामान्यमेकमाश्रित्य वाचकत्वं समर्थ्येत, तन्न। तदभावात्— व्यक्तिभेदे हि सामान्यमात्मानं लभते, नाऽन्यथा।

शङ्का— गवादि शब्दों के अनेक होने से ही उक्त दोष प्राप्त हो रहे हैं, इसी कारण तुमने शब्द का नित्यत्व और एकत्व स्वीकार किया है और नित्यत्व रहने पर एकत्व होने से उसी गो शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्धग्रहण होने से उसका प्रत्यायकत्व मुख्य ही मानना होगा— यही तो तुम्हारा अभिप्राय है। तब जैसे शब्द का नित्यत्व और एकत्व का आश्रय करने पर कोई भी दोष नहीं होता, उसी प्रकार गत्वादि सामान्य भी एक और नित्य है, अतः उसी का वाचकत्व मानलिया जाय; ऐसा मानने पर भी उक्त दोषों का प्रादुर्भाव नहीं हो पायेगा; क्योंकि उक्त दोष वाचकों की अनेकता पर निर्भर हैं। इस पक्ष में गोत्वादि सामान्य का वाच्यत्व और गत्वादि सामान्य का वाचकत्व मानने पर तर्क की भी अनुकूलता रहेगी, यह आशङ्का की गई है; क्योंकि मीमांसकों के मत में वर्णों को ही शब्द माना जाता है। अत एव 'गत्वादि सामान्यम्' यह कहा गया है। मीमांसक विद्वान् गोशब्दत्वादि सामान्य को नहीं स्वीकार करते।

समाधान— तन्नेति । उक्त कथन उचित नहीं है। तदभावात् = गत्वादिसामान्याऽभावात् । नित्यम् एकमनेकानुगतं च सामान्यम् इति नियमात्। गकारादिकों में एकत्व होने से गत्व आदि में सामान्य है ही नहीं, जिसे वाचक कहा जा सके। **तदभावादिति** । व्यक्तिभेदे हि सामान्यमात्मानं लभते, नाऽन्यथा। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के होने पर ही

सामान्य अपने स्वरूप को प्राप्त करवाता है, अन्यथा नहीं। अन्यथा = व्यक्त्यैक्ये। व्यक्ति के एक होने पर ही।

अन्यत्र भी कहा गया है– प्रत्युच्चारणं भिन्नेष्वपि वर्णेषु न गत्वादिकं कल्पयितुं शक्यते भेदाऽग्रहणेऽपि शुक्तिकारजतवदभेदप्रत्ययाऽभिमानोपपत्तेः, यत्र हि भेदमध्यवस्यतः एवाऽभेदज्ञानं तत्राऽन्यथाऽनुपपत्त्या सामान्याश्रणं घटते, न चाऽनित्यत्ववादिनो वर्णेषु प्रत्युच्चारणं साक्षाद्भेदाऽध्यवसानं सम्मतम् इति ।

(वर्णानामवयवत्वं नित्यत्वञ्च)

कश्चित् पुननाह—सत्यपि व्यक्तिभेदे निष्प्रमाणकमेव सामान्यम्, यत्र हि भेदवगतौ सत्यामेवाऽभेदावगतिस्तत्र सामान्यम्, इह तु सन्नपि व्यक्तिभेदो नाऽवगम्यते, अतोऽत्र विवेकाऽग्रहणादेव प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तिरूपा नाऽलं सामान्यं साधयितुमिति।

शङ्का— जिनके मत में गकारादि व्यक्तिभेद के अभाव से गकारादि व्यक्तिभेद पर गत्व आदि सामान्य नहीं रहता, उसके मत में अनेक गकारादि के सत्त्व का स्वीकार किया है; किन्तु जहाँ पर भेदप्रतीति और अभेदप्रतीति होती है, वहीं पर सामान्य का स्वीकार किया जाता है, जैसे गो आदि में खण्ड-मुण्डादि व्यक्तियों का परस्पर भेद होने से और गोरूप से अभेद रहने के कारण गोत्व सामान्य रहता है।

इह = शब्द में तो व्यक्तिभेद के विद्यमान रहने पर भी प्रतीति नहीं होती, अतः विवेक (भेद) का ग्रहण (ज्ञान) न होने से अर्थात् व्यक्तिभेदप्रतीति के न होने से ही 'स एवाऽयं गकारः' यह प्रत्यभिज्ञा होती है। वहाँ भी वस्तुतः गकारादिकों का व्यक्तिभेद रहने पर भी स एवाऽयम् इत्याकारक जो ज्ञानरूपा प्रत्यभिज्ञा होती है, वह भ्रमरूप ही होती है; क्योंकि भेद के रहने पर भी अभेद का बोध होता है, तस्मात् सामान्य की सिद्धि करने में वह समर्थ नहीं है। यह शङ्का 'कश्चित् पुनराह' से 'नाऽलं सामान्यं साधयितुमलम्' ग्रंथ से की गई है। अभिप्राय यह है कि गो आदि में गोव्यक्तियों का भेद भी प्रमाण से जाना जाता है और अभेद भी गौगौः इत्यादि भी प्रमाण से ही जाना जाता है। इस कारण गोत्व सामान्य की सिद्धि हो जाती है; किन्तु शब्दपक्ष में गकारव्यक्तियों के भेद का प्रत्यक्ष ही नहीं है और अभेद का ज्ञान स एवाऽयं गकारः– इस प्रत्यभिज्ञा से अवगत होता है। और वह प्रत्यभिज्ञा विवेकाऽग्रह से ही होने के कारण भ्रान्तिरूपा ही है, अतः अभेद में भी प्रमेयत्व की प्रतीति नहीं होती, अतः प्रत्यभिज्ञा के बल पर जो गत्वादि सामान्य की सिद्धि की जा रही है, वह असम्भव ही है, तस्मात् व्यक्तिभेद के रहने पर भी सामान्य को सिद्ध कर पाना सम्भव नहीं है। जो यह कहा गया है—'व्यक्तिभेदे हि सामान्यमात्मानं लभते' वह उचित नहीं है।

अभेदग्रह के होने पर ही सामान्य की सिद्धि सर्वत्र हो पाती है और अभेदग्राहकत्व

प्रत्यभिज्ञा में ही होता है— यह मानना ही होगा। इसलिये प्रत्यभिज्ञा से ही गत्वादिसामान्य का साधन करना होगा, किन्तु वह प्रत्यभिज्ञा तो भ्रान्ति (भ्रम) रूपा ही है, उस कारण वह सामान्य को सिद्ध करने में कदापि समर्थ नहीं है।

तत्त्वयुक्तम्—सति हि व्यक्तिभेदे कथमन्तरेण सामान्यं प्रत्यभिज्ञा स्यात्? विवेकाऽग्रहणादिति चेत्? कोऽयं विवेकाऽग्रहो नाम? ह्यस्तनाद् गकारादद्यतनस्य गकारस्य यद् व्यावृत्तंरूपं तन्न गृह्यत इत्यर्थः। किं तर्हि गृह्यते? अद्योच्चरितेऽपि गकारेऽवश्यं किञ्चिद्रूपं गृह्यते, व्यावृत्तं चेन्न गृह्यते व्यक्तमनुवृत्तग्रहणम्। अनुवृत्तं च सामान्यमित्युच्यते, तस्मात् सिध्यति सामान्यम्। न च सादृश्यादेव प्रत्यभिज्ञासिद्धेरलं सामान्येनेति वक्तव्यम्, अवयवसामान्ययोगात्मकत्वात् सादृश्यस्य वर्णानां चाऽनवयवत्वात्।

समाधान— **तत्त्वयुक्तमिति** । पूर्वोक्त कथन उचित नहीं है, इसी का उपपादन कर रहे हैं— **सति हि व्यक्तिभेदे इति**। यदि व्यक्तिभेद का अस्तित्व हो ही तो स एवायम्- यह प्रत्यभिज्ञा होना सामान्य के विना सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रत्यभिज्ञा अभेद को ही अपना विषय बनाती है, किन्तु व्यक्तियों में तो कभी अभेद होता ही नहीं। अतः सामान्य का ही आश्रय लेकर स एवायम्- इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा का उपपादन करना ही होगा; क्योंकि सामान्यस्य एकत्वात्, नित्यमेकनमनेकानुगतं सामान्यम्— यही तो सामान्य का स्वरूप है। अर्थात् जो स्वयं एक हो और नित्य हो तथा अनेक में अनुगत रहे, उसी को सामान्य कहते हैं।

शङ्का— सामान्य के विना भी भेदग्रहाऽभाव से ही (भेदज्ञान के न होने से ही) स एवाऽयम्- इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा हो सकती है, तो सामान्य को क्यों स्वीकार किया जाय?

समाधान— विवेकग्रहण (विवेकज्ञान) न होने से सामान्य का स्वीकार किया जाता है— यह कहें तो कोऽयं विवेकाऽग्रहो नाम? यह जिज्ञासा होती है।

उत्तर— ह्यस्तनाद् गकारादद्यतनस्य गकारस्य यद् व्यावृत्तं तन्न गृह्यते इत्यर्थः। विवेकाऽग्रह का स्वरूप यह है— **ह्यस्तनादिति** । कल (गत दिन) उच्चरित (बोले गये) गकार से आज उच्चरित किये गये गकार का जो व्यावृत्त = भिन्न रूप है, अर्थात् तद्-भिन्नमिदं (कल कहे गये गकार से आज कहे गये गकार का रूप भिन्न) उसका = तद्-भिन्नमिदम्- इत्याकारक ज्ञान न होना ही विवेकाऽग्रह शब्द से कहा जाता है।

प्रश्न— किं तर्हि गृह्यते? यदि कल (गत दिन) बोले गये गकार से आज के (अद्य-तन) गकार का व्यावृत्त रूप ग्रहण किया जाता है, तो किंस्वरूपं रूपं गृह्यते? किस स्वरूप वाले रूप का ग्रहण किया जाता है?

उत्तर— आज उच्चारण किसे गये गकार में भी कोई रूप तो अवश्य ही होगा,

अत: उसी का ग्रहण किया जाता है। इस पर यदि कोई यह कहे कि आज का रूप कल के रूप से व्यावृत्त = भिन्न है, उस कारण उसका ग्रहण नहीं किया जाता। जब व्यावृत्तरूप का ग्रहण नहीं किया जाता तो अनुवृत्त रूप का ग्रहण किया जाता है— यह नितान्त स्पष्ट है। एवञ्च गृह्यमाण जो अनुवृत्त रूप है, वही तो सामान्य है। एवञ्च गकारादिव्यक्ति व्यक्तिभेद का स्वीकार करने पर प्रत्यभिज्ञा के द्वारा गत्वादि सामान्य की सिद्धि हो जाती है। तस्मात् सिध्यति सामान्यम् । अत: सामान्य पदार्थ का स्वीकार तो अनिवार्य ही है।

प्रश्न— गकारादि व्यक्तिभेद के पक्ष की उपपत्ति के लिये ही गत्वादि सामान्य का स्वीकार किया जा रहा है, वह सामान्य एक और नित्य रहता है, अत एव स एवाऽयम्- इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा का उसे विषय भी माना जाता है।

उपर्युक्त कथन पर पुन: आक्षेप करते हुये कहते हैं कि उपर्युक्त प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति सादृश्य से भी हो सकती है, जैसे— सैवेयं दीपज्वाला इति । अत: गत्वादि सामान्य (गत्वादि जाति) को मानने की (स्वीकार करने की) आवश्यकता क्यों बताई जा रही है?

समाधान— अवयवसामान्ययोगात्मकत्वात् । अवयवसामान्य योगरूप जो सादृश्य, उसका होना अनवयव (अवयवभिन्न) वर्णों में सम्भव नहीं है, अर्थात् असम्भव है, इस कारण गकारादि व्यक्तिभेदपक्ष में स एवाऽयम्- इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा के उपपादक गत्व आदि सामान्य की निर्बाध सिद्धि हो जाती है।

यह पूर्वपक्ष प्रभाकर मत के अनुसार नहीं है, क्योंकि प्रभाकर गकारादि व्यक्तिभेद को नहीं मानते। कहा भी है—

अभिव्यञ्जकनानात्वाच्छब्दो नानेव लक्ष्यते ।
नेत्रवृत्तिविभेदेन चन्द्रस्तैमिरिकैरिव ॥

उक्त पूर्वपक्ष तार्किकों के मत के अनुसार भी नहीं है; क्योंकि तार्किक विद्वान्— 'यत्र हि भेदावगतौ सत्यामेव अभेदाऽवगतिस्तत्र सामान्यम् । अतोऽत्र विवेकाऽग्रहणादेव प्रत्यभिज्ञा। इत्यादि नियम को नहीं स्वीकारते, उस कारण वे 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतस्य सामान्यत्वं' का स्वीकार करते हैं। उस कारण व्यक्ति के अभेद से ही जाति (सामान्य) का बाध मानते हैं। अत: यह जो कहा है कि व्यक्तिभेदे हि सामान्यमात्मानं लभते इति। तार्किक विद्वानों के मतानुसार वर्णों का अनेकत्वमानकर अपनी रीति से प्रभाकर की शङ्का 'कश्चित् पुनराह- सत्यपि व्यक्तिभेदे:' इति। यदि केवल व्यक्तिभेदमात्र से सामान्य की सिद्धि होती तो तार्किक के द्वारा गकारादि व्यक्तिभेद का स्वीकार करने से सामान्य की सिद्धि हो ही जायगी, अत: व्यक्तिभेद मात्र से सामान्य की सिद्धि होती है- यह कहना उचित नहीं होगा, किन्तु भेद तथा अभेद— दोनों की ही प्रतीति होने पर ही सामान्य की सिद्धि होती है- यह कहना चाहिये। तथा गकारादि व्यक्तिभेद का स्वीकार करने पर भी भेदप्रतीति का तो स्वीकार तार्किक ने किया नहीं; अत: भेदप्रतीति के न होने से ही गत्वदि सामान्य का निराकरण मानना उचित है। और जो तार्किक ने स एवाऽयं गकार:-

इस प्रत्यभिज्ञा को गत्वादि सामान्य का साधक कहा है, वह भी उचित नही है; क्योंकि प्रत्यभिज्ञा तो भ्रमरूप है, उस कारण वह गत्वदि सामान्य को सिद्ध करने में समर्थ नही है। उपर्युक्त कथन पूर्वपक्षी का है। प्राभाकरों ने कहा भी है— यत्र हि भेदमध्यवस्यत: एवाऽभेदज्ञानं तत्राऽन्यथाऽनुपपत्त्या सामान्याऽऽश्रयणं घटते, न चाऽनित्यत्ववादिनो वर्णेषु प्रत्युच्चारणं साक्षाद् भेदाध्यवसानं संमतम् इति। इस प्रकार मिश्रित मत के प्राभाकरों ने जब आशंका की तब व्यक्तिभेद को सामान्य का साधक होने का 'सति हि व्यक्तिभेदे' से समर्थन किया गया है। व्यक्तिभेद रहने पर सामान्य के विना प्रत्यभिज्ञा का होना सम्भव नहीं है। सामान्य की सिद्धि तो व्यक्तिभेद से ही होती है, किन्तु गकारादि व्यक्तिभेद तो सम्भव नहीं है, अत: व्यक्तिभेदाऽभाव होने पर ही गत्वादि सामान्य का निराकरण करना उचित है, भेदप्रतीति के न होने से नहीं। यह जो कहा गया है कि 'व्यक्तिभेदे हि सामान्यमात्मानं लभते' यह कथन उचित ही है— यह कथन उत्तरपक्षी का है।

यह जो कहा गया है कि 'प्रत्यभिज्ञा हि विवेकाऽग्रहणादेव जायमाना न सामान्यं साधयितुं समर्था' उक्त कथन का परिहार 'अद्योच्चारितेऽपि गकारे अवश्यं किंचिद्रूपं गृह्यते' से किया गया है।

यदि विवेक का ग्रहण न होने से 'प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, तो सादृश्य से ही होने वाली प्रत्यभिज्ञा को ही मान लिया जाय, तथापि वह सामान्य (जाति) को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकेगी– इस प्रकार यदि कोई शङ्का करे तो उसका परिहार 'न च सादृश्यादेव प्रत्यभिज्ञासिद्धे: अलं सामान्येनेति वक्तव्यम्, अवयवसामान्ययोगात्मकत्वात् सादृश्यस्य वर्णानां च अनवयवत्वात्'।

अत: गकारादि व्यक्तिभेद के पक्ष में भेदप्रतीति के न होने पर भी प्रत्यभिज्ञा के उपपादनार्थ गत्वादि सामान्य तो गलेपतित ही हो जाता है, उसका निराकरण करना अशक्य ही है, और अभेद पक्ष में तो अभेद से ही प्रत्यभिज्ञा का उपपादन सहज हो जाता है, उसके लिये गत्वादि सामान्य की अपेक्षा नहीं है।

ननु सम्बन्धिसामान्यमात्रं सादृश्यम्, अतोऽनवयवानामपि तात्वादि-स्थानसामान्यं सादृश्यं भविष्यति। न, अश्रावणत्वात्, श्रवणजन्या हीयं प्रत्यभिज्ञा तदस्या: श्रवणग्राह्यमेवाऽऽलम्बनं वक्तव्यम्, न च ताल्वादिसामान्यं श्रावाणम्। अतो गत्वादिसामान्यनिबन्धनेयं प्रत्यभिज्ञा सिध्यति। एवं सति व्यक्तिभेदे सामान्यं तदभावात्तु नास्ति सामान्यमित्येव वक्तव्यम्, अत: सिद्धं प्रत्यभिज्ञया शब्दस्य नित्यत्वम्।

शङ्का— जैसे अवयवसामान्य सादृश्य कहलाता है, वैसे सम्बन्धिसामान्य भी सादृश्य होता है, जैसे— गोत्व की तरह अश्वत्व भी नित्य होता है, अर्थात् गोत्ववदश्वत्वमपि नित्यम्— इस वाक्य में गोत्व और अश्वत्व का अवयवसामान्यलक्षण सादृश्य असम्भव

रहने से उभयवृत्ति एक नित्यत्व वाले सम्बन्धी का सामान्य = समानता ही सादृश्य माना जाता है, उसी तरह अवयवरहित वर्णों के सम्बन्धी जो तालु आदि स्थान हैं, उन्हीं का जो सामान्य, वही उनका सादृश्य समझा जाता है; क्योंकि सभी गकारों का कण्ठस्थान तुल्य (समान) रहता है। अतः सादृश्यादेव प्रत्यभिज्ञा सादृश्य से ही प्रत्यभिज्ञा को जानना चाहिये। एवञ्च गकारादि व्यक्तिभेदपक्ष में भी गत्वादि सामान्य (जाति) को मानना आवश्यक नहीं है। यह आशङ्का 'ननु सम्बन्धिसामान्यमात्रं सादृश्यम् .... भविष्यति' तक के ग्रन्थ से की गयी है।

उक्त आशङ्का का परिहार 'न, अश्रावणत्वात्' से आरम्भ कर। अतः सिद्धं प्रत्यभिज्ञया शब्दस्य नित्यत्वम्' तक के ग्रन्थ से किया गया है।

न, अश्रावणत्वादिति । नहीं, श्रवण का विषय न होने से। सोऽयं गकारः यह प्रत्यभिज्ञा होती है। इसलिये उसका आलम्बन श्रवणेन्द्रियग्राह्यक ही मानना होगा। तालु आदि स्थानसामान्य की श्रवणेन्द्रियग्राह्यता नहीं है। अतः गत्वादि सामान्य को लेकर ही प्रत्यभिज्ञा को सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार व्यक्तिभेद की सिद्धि होने पर सामान्य की सिद्धि हो जाती है। तदभावात्तु नास्ति सामान्यम् इत्येव वक्तव्यम्। अर्थात् व्यक्तिभेद के न होने पर (व्यक्तिभेद के अभाव में) सामान्यसंज्ञक भी कोई पदार्थ है— यह नहीं कहा जा सकेगा। अतः प्रत्यभिज्ञा के बल पर शब्द की नित्यता सिद्ध की गई है।

(प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्यसाधनम्)

किं पुनरिदं प्रत्यभिज्ञाख्यं प्रमाणम्? प्रत्यक्षमिति ब्रूमः। पूर्वानुभवजनित-संस्कारसध्रीचीनेन्द्रियजन्यत्वाद् ग्रहणस्मरणरूपमिदमेकं ज्ञानम्। तत्र पूर्वानुभूतोंऽशः स्मर्यते, स्मर्यमाणेन तु तेन सहैकत्वविशिष्टं वर्तमानं रूपं प्रत्यभिज्ञया प्रत्यक्षेण गृह्यत इति वेदितव्यम्। तस्मान्नित्यः शब्दः। प्रदीपे तु प्रभामण्डलस्याऽवयवविश्लेषमन्तरेणाऽत्यन्ताऽनुपपत्ते-र्विश्लिष्टाऽवयवस्य चाऽवयविनोऽवश्यम्भावी विनाशः, विनष्टे च पूर्वस्मिन् प्रदीपे पश्चात्तनमवश्यं प्रदीपान्तरमेव भवति। दृढे च भेदे प्रत्यभिज्ञासादृश्यनिमित्तेति कल्प्यते। शब्दे तु न किञ्चिद् भेदे प्रमाण-मस्तीति विशेषः।

किं पुनरिदमिति । प्रत्यभिज्ञासंज्ञक प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यक्षादि प्रमाणों में किस प्रमाण से होता है? यह प्रश्न 'किं पुनरिदम्' से कर रहे हैं। अर्थात् शब्द की नित्यता सिद्ध करने में प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण के रूप में उपस्थित कर रहे हैं, तो उसका स्वरूप बताइये। यह प्रश्न करने पर उत्तर दे रहे हैं— **प्रत्यक्षमिति** । उसमें हेतु = कारण बता रहे हैं— **पूर्वेति** । पूर्वानुभव से संस्कार होते हैं, उनके सहित इन्द्रिय के द्वारा यह ज्ञान उत्पन्न हुआ, यह ज्ञान एक है। इसमें दो अंश है—एक ग्रहण है और दूसरा स्मरण है।

तत्र = इन दोनों में पूर्वाऽनुभूत अंश का स्मरण होता है। **स्मर्यमाणेनेति**। स्मृति के विषय के साथ एकत्वविशिष्ट जो वर्तमान रूप है, वही प्रत्यभिज्ञा का रूप प्रत्यक्षप्रमाण से गृहीत होता है, यह समझना चाहिये। अत: शब्द नित्य है। (यहाँ ग्रन्थकार ने प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्ष प्रमाण में अन्तर्भूत किया है। इस अंश में नैयायिक और मीमांसकों का एक मत है, यथा— अत्रोच्यते, एकमेवेदं विज्ञानं प्रत्यभिज्ञासमाख्यानम्। ....तस्मात् तत्ते-दन्तारस्पदस्य पद्मरागस्य तदवभासिनोऽनुभवस्य चैकत्वमनुभवाद् वा अनुमानाद् वा तदवभासलक्षणफलाऽभेदजन्मन: सिद्धम्—न्यायकणिका।

शंका— 'प्रदीप' में भी 'वही यह दीप है'—ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। उस कारण 'प्रदीप' की भी नित्यता क्या सिद्ध होगी?

समाधान— नहीं होगी। क्योंकि— **प्रदीपे तु प्रभामण्डलस्येति**। प्रदीप में प्रभा-मण्डल के 'अवयवविभाग' के बिना अत्यन्त (सर्वथा) उपपत्ति न होने के कारण विभक्त अवयवों वाले 'अवयवी' का विनाश होना अनिवार्य है। पूर्व प्रदीप के विनष्ट होने पर बाद में होने वाला 'प्रदीप' तो अवश्य ही दूसरा प्रदीप कहलाता है। इस प्रकार भेद सुनिश्चित होने पर सादृश्य का अवलम्बन कर 'प्रत्यभिज्ञा' होती है—यह कल्पना की जाती है। निष्कर्ष यह है कि 'प्रदीप' में 'भेदग्राहक प्रमाण' प्रत्यक्ष ही है। अत: यहाँ उपर्युक्त दोष नहीं है और शब्द के भिन्न होने में तो कोई प्रमाण ही नहीं है— यही दोनों में वैषम्य है।

(क्षणभङ्गवादेन पूर्वपक्ष:)

ननु सर्वभावानां क्षणिकत्वात् कथं शब्दस्य नित्यता? किं पुन: सर्व-क्षणिकत्वे प्रमाणं प्रत्यक्षं तावत् कालसत्तां बोधयति, न कालान्तरनिषेधं करोति। नीलप्रत्यक्षमिव न पीतिमानं निषेधति। दृश्यादर्शनेन तु तस्य निषेध:। न च सम्प्रति कालान्तरं दृश्यम्, येन दृश्यादर्शनात् तन्निषेध: स्यात्। न चान्यदपि प्रमाणं पश्याम:।

क्षणिकवादी बौद्ध पुन: प्रश्न करता है— **नन्विति**। जितने भी पदार्थ हैं वे सभी क्षणिक होते हैं। अत: 'शब्द' भी 'पदार्थ' होने के कारण, वह भी क्षणिक ही है। तब उसकी नित्यता कैसे हो सकेगी?

दूसरा प्रश्न यह है कि सभी पदार्थों के क्षणिक होने में क्या प्रमाण है? प्रत्यक्ष प्रमाण कहें तो वह उचित नहीं है, क्योंकि वह (प्रत्यक्ष) तो काल की सत्ता को बताता है। कालान्तर में सत्ता का निषेध नहीं करता। इस तथ्य को दृष्टान्त देकर स्पष्ट कर रहे हैं। जैसे—'नीलप्रत्यक्षमिव न पीतिमानं निषेधति' अर्थात् यह नील है—ऐसा प्रत्यक्ष होता है। यह प्रत्यक्ष नील को ही सिद्ध करता है। वह प्रत्यक्ष पीत का निषेध नहीं करता। दृश्याऽदर्शनेन तु तस्य निषेध:—दृश्य वस्तु के न दीखने से (अदर्शन से) ही उसका

निषेध है— यह भी नहीं कह सकते। न च सम्प्रति कालान्तरं दृश्यम्— अभी कालान्तार तो दृश्य नहीं है, जिससे दृश्यादर्शन के द्वारा उसका निषेध हो सके। न चाऽन्यदपि प्रमाणं पश्यामः से पुनः शंका करता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण भले ही न हो, अन्य कोई प्रमाण हो? इस पर कहते हैं कि अन्य (दूसरा) प्रमाण नहीं दिखाई दे रहा है।

पश्यामः, स्वभावहेतुकं प्रमाणं सत्तामात्राऽनुबन्धिसाध्यविषयत्वादिति। कथं पुनः सत्तामात्राऽनुबन्धसिद्धिः? क्षणिकतायाः विपक्षे बाधकप्रमाणप्रवृत्तेः क्षणिकत्वविपक्षे ह्यक्षणिकत्वे व्यापकाऽनुपलब्ध्या बाध्यमाना सत्ता क्षणिकत्वेन व्याप्यमाना तदनुमापयति।

'न चाऽन्यदपि प्रमाणं पश्यामः' यह जो ऊपर कहा गया है, उस पर क्षणिकवादी बौद्ध कह रहा है—**पश्यामः इति**। स्वभावहेतुक अनुमान ही इसमें प्रमाण है। स्व-प्रतीतिविषयक्षणिकत्वविषयक अनुमान प्रमाण का प्रयोग कर रहा है—स्वभावहेतुकम्प्रमाणं, सत्तामात्राऽनुबन्धिसाध्यविषयत्वात्। इस प्रयोग में प्रमाणम् पक्ष है, सत्तामात्राऽनुबन्धी साध्य है। साध्यविषयत्वात् = हेतु है। स्वभावहेतुकम् का अर्थ है—पदार्थ (स्व विषय) सत्ताहेतुकम्। यदि पदार्थ की सत्ता न होती तो प्रमाण भी न होता, क्योंकि विषय (पदार्थ = वस्तु) के न रहने से जो असत् = अविद्यमान है, उसमें विषयत्व का होना असंभव है। इसलिये पदार्थ की सत्ता (विद्यमानता) ही प्रमाण के होने में कारण है। पदार्थ की नित्यता का होना भी कारण नहीं है। अतः स्वभावहेतुकं प्रमाणं, सत्तामात्राऽनुबन्धि अर्थात् पदार्थ-सत्ता मात्रामूलक रहता है। अभिप्राय यह है कि प्रमाण को और उसके अपने विषय को कालान्तर के सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं हुआ करती।

अथवा यह भी कह सकते हैं कि स्वभावहेतुक का अर्थ है विपर्यय का अनुमापक। अथवा विपर्ययहेतुकम् भी कर सकते हैं। विपर्यय शब्द से स्थिरत्वविपर्यय = क्षणिकत्व को समझना चाहिये। स्थिर पदार्थ का क्रम से अथवा यौगपद्य से अर्थक्रियाकारिता (अर्थ-क्रियाकारित्व) का होना असंभव है। उस कारण स्वविषयक ज्ञानजननरूप अर्थक्रिया, कारित्व का होना भी असंभव है। उस कारण ज्ञानलक्षणप्रमाणोत्पत्ति भी नहीं हो सकेगी, तब निष्पन्न होने वाला प्रमाण क्षणिकत्व का अनुमापक और क्षणिकत्वहेतुक नहीं हो सकेगा।

निष्कर्ष यह है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं, इस क्षणिकत्वरूप साध्य से पदार्थ की सत्तामात्र प्रतीत होती है। क्षणिक होना तो सद्वस्तु का स्वभाव ही है। जो सत् (विद्यमान) रहता है, वह क्षणिक ही होता है। उसी को प्रश्नोत्तर के रूप में बता रहे हैं— कथं पुनः सत्तामात्राऽनुबन्धसिद्धिः? सत्ता मात्र से व्यापकता (व्याप्ति) की प्रतीति कैसे होगी? उत्तर देते हैं— क्षणिकताया विपक्षे बाधकप्रमाणप्रवृत्तेः। विपक्ष में क्षणिकत्व के बाधक प्रमाण की प्रवृत्ति होने से। क्षणिकत्वविपक्षे हि अक्षणिकत्वे व्यापकाऽनुपलब्ध्या बाध्यमाना सत्ता, क्षणिकत्वेन व्याप्यमाना तदनुमापपति। क्षणिकत्व का विपक्षी (विरोधी) अक्षणिकत्व होता है। व्यापकाऽनुपलब्धि से बाधित होने वाली जो सत्ता, वह क्षणिकता की व्याप्य

होकर उसका अनुमान कराती है। उक्त तथ्य को 'ज्ञानश्री' ने भी कहा है—

यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी।
सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा न सा॥

किं पुनः सत्ताया व्यापकम्? क्रमाऽक्रमाविति ब्रूमः। तथाहि— अर्थक्रियाकारितैव सत्ता नाऽन्या। नहि स भावः, सत्तां लभते, यो न काञ्चिदर्थक्रियामारभते, यतः स्वज्ञानस्याऽपि सर्वे भावाः कारणम्। यदपि किञ्चिदज्ञायमानमपि सत्त्वेन सम्भाव्यते, तदपि सर्वं विज्ञानं प्रत्यालम्बनत्वादर्थक्रियाकारि, तदर्थक्रियाकारितैव सत्ता। यदेवाऽर्थ-क्रियाकारि तदेव परमार्थसदिति। सा च क्रम-यौगपद्याभ्यां व्याप्ता, न चाऽक्षणिकत्वे ते सम्भवतः, स्थायी हि पदार्थो न तावदर्थक्रियाः सर्वा युगपत् कर्तुमर्हति, तथा सति द्वितीये क्षणे कृत्याऽभावादर्थक्रिया-कारित्वविरहादसल्लक्षणाऽऽपत्तेः क्षणिकत्वमेव स्यात्। नाऽपि क्रमः सम्भवति; स हि भावः सर्वार्थक्रियासमर्थः किमिति काञ्चिदेवाऽऽभते, नाऽन्याम्, समर्थस्य क्षेपाऽयोगात्।

प्रश्न— 'किम्पुनः सत्ताया व्यापकमि'ति। सत्ता का व्यापक कौन है?

उत्तर— क्रम और अक्रम। इसी को विशद रूप से बता रहे हैं— **तथाहि इति**। अर्थक्रियाकारिता ही सत्ता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो प्रयोजन का साधक रहता है, उसी को सत् कहते हैं। नाऽन्या—दूसरा नहीं। वह पदार्थ सत्ता को कभी प्राप्त नही करता, जो अर्थक्रिया (प्रयोजनवती क्रिया = सफल क्रिया) को उत्पन्न नहीं करता; क्योंकि सभी पदार्थ अपने ज्ञान के कारण हुआ करते हैं। **यदपि किञ्चिदज्ञायमानमपि इति**। अर्थात् जो कुछ अज्ञात भी है, सद् रूप से सम्भावित है, उसे भी सर्वज्ञ के ज्ञान का आलम्बन (विषय) माना जाता है, अतः वह अर्थक्रियाकारी है। अर्थक्रियाकारिता को ही सत्ता कहते हैं। जो अर्थक्रियाकारी हो, वही परमार्थ सत् है अर्थात् वास्तविक सत् है। वह सत्ता क्रम और अक्रम (योगपद्य) से व्याप्त है। स्थिर पदार्थ का अर्थक्रियाकारित्व होना क्रमशः अथवा यौगपद्य से संभव नहीं है। उस कारण क्रम तथा यौगपद्य (अक्रम) दोनों के द्रारा अर्थक्रियाकारित्व होने से क्षणिकत्व सिद्ध होता है; क्योंकि अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्ता के व्यापक जो क्रम और अक्रम हैं, उनका भी क्षणिकत्व व्यापक होता है। ग्रन्थकार इसी का उपपादन तथाहि से कर रहे हैं। जिस पदार्थ से जलाहरणादि कोई क्रिया नहीं की गई हो, उसका सत्त्व कैसे संभव हो सकेगा? यह प्रश्न करने पर उत्तर दे रहे हैं— **यतः स्वज्ञानस्याऽपीति**। क्योंकि स्वविषयक ज्ञान की उत्पत्ति भी अर्थक्रिया ही है, अर्थात् स्वविषयकज्ञान की उत्पत्ति होने से ही उसकी सत्ता (सत्त्व) हो सकेगी। जो पदार्थ कभी भी अर्थक्रिया (प्रयोजनवती क्रिया) को उत्पन्न नहीं करता, वह पदार्थ कभी भी सत्ता

को नहीं प्राप्त करता। क्योंकि सभी पदार्थ अपने ज्ञान के कारण होते हैं। सद्रूप से संभावित जो कुछ अज्ञात है, वह भी सर्वज्ञ के ज्ञान का विषय (आलम्बन) रहता है। इसलिये वह अर्थक्रियाकारी है। एवं च अर्थक्रियाकारिता को ही सत्ता शब्द से कहना चाहिये। जो अर्थक्रियाकारी है, वही परमार्थ सत् है। वह (सत्त्व) क्रम और यौगपद्य से व्याप्त है। अक्षणिकता को स्वीकार करने पर दोनों का होना (क्रम और यौगपद्य का होना) शक्य नही है। स्थायी पदार्थ; समस्त अर्थक्रियाओं को एक समय (काल) में नहीं कर सकता। तब दूसरे क्षण में किसी भी कार्य के हो पाने से 'अर्थक्रियाकारिता' नहीं हो पायेगी, तब असत् लक्षण हो जायेगा। उस कारण क्षणिकता की ही सिद्धि हो जायेगी और क्रम भी निष्पन्न नहीं हो सकेगा। सभी अर्थक्रियाओं को निष्पन्न करने में यदि (वह) स्थायी पदार्थ समर्थ हो तो वह एक ही अर्थक्रिया को क्यों आरम्भ करता है? दूसरी अर्थक्रिया को क्यों नहीं आरम्भ करता? 'समर्थस्य क्षेपाऽयोगात्' अर्थक्रिया करने में जो समर्थ है, उसे विलम्ब (देरी) नहीं करना चाहिये। उसे तो सभी क्रियाएँ युगपत ही (एक साथ ही) करनी चाहिये।

सहकार्यपेक्षया विलम्बत इति चेत्? न, सहकारिणो ह्यकिञ्चित्करा अनपेक्ष्याः किञ्चित्कराश्चेत् यत्तैः क्रियते, तदेव कार्यसाधनं स्यात्। तदनन्तरं कार्यनिष्पत्तेः भावस्तत्कारणमेव स्यात्। न ह्यागन्तुकेऽतिशये कार्यमारभमाणे भावस्य कारणता सम्भवति, भिन्नत्वात्। अभेदे वा भावोऽपि तत्कालजन्मा क्षणिक एव स्यात्। भेदाऽभेदौ तु विरुद्धावेव, तस्मान्नाऽक्षणिकस्य सत्ता सम्भवतीति सिद्धं सन्मात्राऽनुबन्धित्वं क्षणिकतायाः।

शंका— यदि कोई यह कहे कि सभी पदार्थ अर्थक्रिया करने में समर्थ तो हैं, किन्तु सहकारी कारण (सहायक कारण) की अपेक्षा रहने से विलम्ब (देर) होता है।

समाधान— **न**; नहीं। सहकारी कारण की अपेक्षा करना अकिंचित्कर है? अथवा किंचित्कर है? अर्थात् सहकारी से कारण में कोई अतिशय (उपकार) होता है? या उपकार नहीं होता? यदि सहकारी कारण किंचित्कर अर्थात् उपकार करते हैं—कहें तो उपकार की अपेक्षा ही नहीं है। यदि अकिंचित्कर है तो उन्हीं से (पदार्थों से ही) अर्थक्रिया होगी, उसके पश्चात् कार्य होने से वही कार्य का साधन (कारण) कहलायेगा। आगन्तुक अतिशय से कार्योत्पत्ति होने पर भाव पदार्थ को कारण कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि वह अतिशय से भिन्न है।

अभेदे वेति। अभेदपक्ष को मानने पर भाव अर्थात् पदार्थ और उस काल में उत्पद्यमान अतिशय दोनों ही क्षणिक होंगे। अर्थात् एकरूपता होने से पदार्थ की क्षणिकता ही सिद्ध होगी। भेदाऽभेद कहें तो वह परस्पर विरुद्ध है। जो पदार्थ क्षणिक नहीं है, उसकी सत्ता नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि क्षणिकता सत्तामात्र की

अनुबन्धिनी है। एवं च अक्षणिक स्थिर पदार्थ की अर्थक्रियाकारित्वरूपिणी सत्ता का होना संभव नहीं है। अतः सत्ता के होने से ही भावों (पदार्थों) की क्षणिकता सिद्ध होती है। 'क्षणिकतायाः' यह पञ्चम्यन्त पद है, इससे स्पष्ट होता है कि पदार्थनिष्ठ क्षणिकता से ही प्रमाण में सत्तामात्राऽनुबन्धित्व है। क्षणभंगवादियों ने कहा है कि 'तत्र क्षणिकत्वं नीलादिक्षणानां सत्त्वेन अनुमातव्यम्' यत् सत्, तत् क्षणिकम्, यथा जलधरपटलं सन्तश्चामी भावाः तस्मात् क्षणिकाः। उक्त हेतु को असिद्ध नहीं कह सकते, क्योंकि नीलादि क्षणों का अर्थक्रियाकारित्वलक्षण सत्त्व प्रत्यक्षसिद्ध है। उस कारण 'व्यापकव्यावृत्त्या व्याप्यव्यावृत्तिः' न्याय से व्यापक क्रम-अक्रम की व्यावृत्ति में अक्षणिकत्व होने से और सत्त्वव्यावृत्ति के भी होने से वह अर्थक्रियाकारित्व क्रमाऽक्रम के द्वारा व्याप्त है, क्रम-अक्रम के अतिरिक्त अन्य कोई प्रकार नहीं है।

परस्पर विरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः।
नैकताऽपि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः॥

इस न्याय से व्याघात की उद्भटता के कारण वे क्रम और अक्रम स्थायी से निवृत्त होने वाले अर्थक्रिया को भी पृथक् करते हुए क्षणिकत्व पक्ष में ही सत्त्व को व्यवस्थित करते हैं।

(क्षणभंगे युक्त्यन्तरनिरूपणम्)

किञ्च कृतकानां भावानामवश्यम्भावी विनाशस्तेनाऽपि क्षणिकत्वं घटादीनाम्। तथाहि—'यद् येषां ध्रुवभावि न तत्र तेषां हेत्वन्तराऽपेक्षा। ध्रुवभावी च कृतकानां विनाश इति विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः। ध्रुवभाविता हि निषिध्यमानहेत्वन्तरापेक्षित्वव्याप्ता, अग्न्युष्णत्वादिषूपलब्धा स्वव्यापकमनपेक्षत्वमुपस्थापयन्ती तद्विरुद्धं सापेक्षत्वं प्रतिक्षिपति।

अथवा हेत्वन्तरापेक्षाणां वाससि रागादीनामध्रुवभावित्वव्याप्तेस्तद्विरुद्धं ध्रुवभावित्वं व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या विनाशस्य हेत्वन्तराऽपेक्षां निवारयति। निरपेक्षश्च विनाशः स्वाभाविको जतिन्मानन्तरमेव भवतीनि सिद्धः क्षणभङ्गः।

पूर्व ग्रन्थ से सत्त्वेन रूपेण क्षणिकत्व को बताकर अब विनाशित्वेन रूपेण क्षणिकत्व को बता रहे हैं—**किञ्च इति**। क्षणिकता को सिद्ध करने के लिये एक अन्य युक्ति—जो भाव पदार्थ उत्पन्न होते हैं अर्थात् कार्य शब्द से कहे जाते हैं, उनका नष्ट होना (विनाश) निश्चित रहता है, कभी न कभी वे नष्ट होते ही हैं। इस प्राकृतिक नियम के अनुसार घट-पट आदि पदार्थों की क्षणिकता का अनुभव सभी को है। इसी तथ्य का प्रदर्शन ग्रन्थकार श्रीपार्थसारथि मिश्र 'तथाहि' से कर रहे हैं। जिन पदार्थों का उत्पन्न होना अवश्यभवी (अनिवार्य) है, उसमें उन पदार्थों को अन्य (दूसरे) कारणों की

आवश्यकता नहीं रहती। भावकार्यों का विनाश होना अनिवार्य होता है—इसे व्यापक-विरुद्धव्याप्तोपलब्धि कहा जाता है।

(धर्मकीर्ति ने अनुपलब्धि के ग्यारह (एकादश) भेद न्यायविन्दु नामक ग्रन्थ में बताये हैं, उनमें से पाँचवाँ प्रकार (भेद) विरुद्धव्याप्तोपलब्धि है। उत्पन्न हुए पदार्थ का विनाश होना स्वाभाविक ही है।)

उपर्युक्त व्यापकविरुद्ध व्याप्तोपलब्धि से व्याप्याभाव का अनुमान किया जाता है, जैसे—अग्नि की उष्णता में; अतः वह अपनी व्यापक अनपेक्षता को उपस्थित करती हुई अनपेक्षता की विरोधिनी सापेक्षता को दूर देती है। इस प्रकार व्यतिरेकव्याप्ति के द्वारा प्रकृत अर्थ को सिद्ध कर दिया है, अब अन्वयव्याप्ति के द्वारा भी उसे सिद्ध करते हैं 'अथवा हेत्वन्तरापेक्षाणाम्' इत्यादि ग्रन्थ से। अथवा अन्य हेतु की (हेत्वन्तर की) अपेक्षा करने वाले वस्त्रगत कपड़े के रागादि में अवश्यंभाविता अध्रुवभावित्व होने से नहीं है। उसी व्याप्ति के द्वारा व्यापकविरुद्धोपलब्धि होने से उस अध्रुवभाविता की विरोधिनी जो ध्रुवभाविता है, वह विनाश की हेत्वन्तरापेक्षा का निवारण कर देती है, क्योंकि निरपेक्ष विनाश स्वाभाविक होता है। वह जन्म के पश्चात् ही होता है। इस प्रकार 'क्षणभङ्ग' की सिद्धि हो जाती है।

प्रश्न—विनाश तो कार्यरूप है और कार्य सर्वदैव कारण की अपेक्षा रखता है। पटध्वंस में कारण मुसलप्रहार आदि हैं। तब विनाश को हेत्वन्तर निरपेक्ष कहना कैसे संभव हो सकता है? लोकव्यवहार में मुसलप्रहार आदि से घटादि पदार्थों का विनाश होना दीखता है, तब विनाश को आप स्वाभाविक कैसे बता रहे हैं?

मुसलप्रहारादयस्तु विसदृशसन्तानहेतवो न विनाशस्य। प्रतिपत्तारस्तु सदृशपराऽपरोत्पत्त्या क्षणानां भेदमलक्षयन्तस्तत्त्वभ्रान्त्या विनाशमबुध्वा मुसलप्रहारानन्तरं विसदृशसन्तानदर्शिनस्तदेव विनाशं मन्यमाना मुसला-देर्विनाशहेतुतां मन्यन्ते। परमार्थतस्तु न केऽपि विनाशहेतवः, हेत्वन्तर-जन्मा च विनाशो न तावत् भावादभिन्नो भवितुमर्हति हेतुभेदात्, भिन्नत्वे तु तस्मिन् जातेऽपि भावस्य पूर्ववदुपलब्धिः स्यात्; पटजन्मनि घटवत्; तस्मात् स्वहेतुत एव भावा विनाशस्वभावा जायन्त इति क्षण-भङ्गसिद्धिः।

उत्तर— मुसल प्रहार आदि तो विसदृश सन्तान के अर्थात् घटाऽभाव सन्तान के कारण (हेतु) होते हैं, मुसल प्रहार के होने पर घटाऽभावविषयक ज्ञान होता है, विनाश तो स्वाभाविक ही है। अतः प्रतिक्षण विनाश के होते रहने पर भी मुसलप्रहार से घटविसदृश विनाश की परम्परा का विस्तार होता है। लोगों को जो प्रतीति होती है, उसका कारण तो यह है—**प्रतिपत्तारस्त्विति**। प्रत्येक द्वितीय क्षण में दूसरा-दूसरा घट

उत्पन्न होता है। सदृश-सदृश अन्यान्य घटों की उत्पत्ति होने से प्रत्येक द्वितीय क्षण में उत्पन्न होने वाले घटों के भेद की प्रतीति नहीं हो पाती, उस कारण अर्थात् तत्त्वभ्रान्ति के कारण (तत्त्वभ्रान्त्या तस्य प्रथमघटस्य भाव: तत्त्वं, तद्भ्रान्त्या, तत्तद्भ्रान्त्या। ऐसा पाठान्तर हो तो उसका अर्थ यह करना होगा—तत्तद्घटस्य = प्रथम-प्रथमघटस्य भ्रान्त्या विनाशस्य अबोधेन मुसलप्रहारानन्तरं विसदृशे सन्ताने जाते पूर्वजातस्यैव विनाशस्य प्राकट्येन तदैव = मुसलप्रहारानन्तरमेव विनाशं मन्यमाना भ्रान्त्या मुसलादेर्विनाशहेतुतां जना मन्यन्ते।) अभिप्राय यह है कि जिस क्षण में घट उत्पन्न हुआ, उसके द्वितीय क्षण में ही वह घट तो नष्ट हो गया, किन्तु उसी क्षण में तत्सदृश ही (तत्समान ही) घटान्तर (अन्य घट) की उत्पत्ति हुई। उस कारण प्रतिक्षण घट का विनाश होने पर भी सदृश अन्यान्य घटों की उत्पत्ति से घटविनाश का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। प्रत्यक्ष न होने में सदृशपरम्परा (सन्तान) प्रतिबन्धक होती है, मुसलप्रहार से तो घटविसदृश सन्तान उत्पन्न होती है। इस कारण प्रतिबन्धकीभूत सदृश सन्तान का विनाश होने से 'घटविनाश' का प्रत्यक्ष होता है, इस कारण प्रत्यक्षदर्शी लोग उसी समय विनाश हुआ—यह समझते हैं। वस्तुत: स्वाभाविक विनाश पहिले ही हो चुका है, अत: क्षणमात्र उसकी स्थिति रहने से घट आदि पदार्थों को क्षणिक ही कहा जाता है। जैसे मिट्टी के भीतर विद्यमान रहने वाले उत्पन्न हुए भी अङ्कुर को नहीं जान पाते, किन्तु प्राकट्य होने से ही कहने लगते हैं— अङ्कुर उत्पन्न हुआ, उसी तरह मुसलप्रहार से पूर्व हुए विनाश को भी नहीं जान पाते, किन्तु मुसलप्रहार के होने पर ही विनाश का प्रत्यक्ष संभव होता है। इतना ऊहापोह करने के पश्चात् ग्रन्थकार स्वयं अपना विचार प्रदर्शित कर रहे हैं—**परमार्थत इति**। वस्तुत: विनाश के कारण कोई भी नहीं हैं। एवं च निर्हेतुक रहने से विनाश को स्वाभाविक ही समझना चाहिये। **हेत्वन्तरजन्मा च विनाश इति**। यदि विनाश को किसी हेत्वन्तर से (किसी अन्य कारण से) उत्पन्न हुआ कहा जाय, तो भावात् अर्थात् स्वप्रतियोगी से उसको अभिन्न नहीं कहा जा सकेगा, किन्तु उसे भिन्न ही कहना होगा; क्योंकि विनाश और उसका प्रतियोगी भिन्न-भिन्न कारण से उत्पन्न हुआ है, प्रतियोगी के कारणों को विनाश का कारण कहना संभव नहीं है। कहा भी है— अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माऽध्यास: कारणभेदश्च। हेतुभेद के कारण भिन्नता मानने पर जैसे भिन्नहेतुक पट की उत्पत्ति होने पर भी घट की उपलब्धि होती है, उसी तरह विनाश के होने पर भी उसके प्रतियोगी की उपलब्धि होनी चाहिये; किन्तु उसकी उपलब्धि नहीं होती। अत: कहना होगा कि विनाश किसी हेत्वन्तर से उत्पन्न नहीं है, किन्तु स्वाभाविक ही है। इसी तथ्य को 'भिन्नत्वे तु तस्मिन् जातेऽपि भावस्य पूर्ववदुपलब्धि: स्यात्, पटजन्मनि घटवत्'। हेतुभेद के कारण भिन्नता को मानने पर जैसे भिन्नहेतुक पटोत्पत्ति के होने पर भी घट की उपलब्धि होती है, उसी तरह विनाश के होने पर भी उसके प्रतियोगी की उपलब्धि होनी चाहिये थी, किन्तु उसकी उपलब्धि नहीं होती। अत: विनाश की उत्पत्ति हेत्वन्तर से न होकर स्वाभाविक ही है। एवं च—अपने कारणों से ही

भावपदार्थ विनाशस्वभाव वाले उत्पन्न होते हैं और द्वितीय क्षण में ही वे नष्ट होते हैं। इस प्रकार से क्षणभंगसिद्धि का निरूपण किया गया है।

किं च प्रयत्नरक्षितानामपि घटादीनां कियताऽपि कालेनाऽवयवक्षय-विश्लेषवशेन विनाशो दृश्यते विनैव मुसलप्रहाराऽऽदिभिः। सोऽय-मुत्पत्तिप्रभृति किञ्चित् किञ्चिदन्यथात्वमन्तरेण नोपपद्यते, प्रत्यक्षेणैव चाऽन्यथात्वमभिनव— पुराणावस्थयोरज्ञातघटोत्पत्तिकालैरपि पुरुषैरु-पलभ्यते। न चैकस्यैव घटस्य नानारूपत्वं सम्भवति, नानात्वैकत्व-योर्विरोधात्। तस्मात् प्रतिक्षणमन्यत्वं घटादेः। प्रयोगश्च भवति—

विवादाऽध्यासिता भावाः सत्त्वात् क्षणविनाशिनः।
दीपवत् प्रत्यभिज्ञाऽपि स्यात् प्रदीपवदेव नः॥५१॥

किञ्च प्रयत्नरक्षितनामपीति। प्रकारान्तर से भी क्षणिकत्व का उपपादन किया जा रहा है। प्रयत्नपूर्वक सुरक्षित रखे हुए घटदि पदार्थों का कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात् उनके अवयवों का क्षरण पृथक् होने से अर्थात् क्रमशः जीर्ण होते रहने से तथा अवयवों का विभाग होने से मुसलप्रहार के बिना भी उनका विनाश दृष्टिगोचर होता है। उसे प्रतिक्षण अन्यथात्वेन ही कहना होगा, प्रतिक्षण अन्यथात्व मानने पर तत्तदन्यथात्वविशिष्ट हुआ घट तत्तत् क्षण में ही अनेक क्षण तक स्थायी नहीं हो पाता, क्योंकि उत्तरोत्तर क्षणों में उसका उत्तरोत्तर अन्यथात्व से विशिष्ट (युक्त) होना ही संभव है। इस प्रकार प्रत्येक क्षण में उसके अवयवों का क्षय तथा विश्लेष होते रहने से मुसलप्रहार आदि के न होने पर भी उसका (घट का) विनाश हो जाता है। उस कारण विनाशी घट आदि पदार्थों का क्षणिकत्व सिद्ध हो जाता है। यह विनाश उत्पत्ति से लेकर कुछ न कुछ परिवर्तन हुए बिना वह नहीं होता। जिन लोगों ने घटोत्पत्ति के काल को नहीं जाना, वे भी नवीन और पुरानी अवस्था का अन्तर प्रत्यक्षतया समझ लेते हैं।

ग्रन्थकार अपने अभिप्राय को बता रहे हैं— **न चैकस्यैव घटस्येति**। नूतनत्व और पुराणत्व को जानना ही अन्यथात्व है।

शंका— यदि कोई कहे कि एक ही घट के नाना रूप होते हैं, उस कारण अन्यथाभाव दीखता है।

समाधान— नहीं, एक ही घट का अनेक रूप होना असंभव है; क्योंकि अनेकत्व और एकत्व में परस्पर विरोध है। अतः घट आदि पदार्थ प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न रहते हैं— इस तथ्य को अनुमान से जान सकते हैं। अनुमान प्रयोग; इस प्रकार होगा—

विवादाऽध्यासिता भावाः सत्त्वात् क्षणविनाशिनः।
दीपवत् प्रत्यभिज्ञाऽपि स्यात् प्रदीपवदेव नः॥

अर्थात् विवादविषयीभूत भाव = पदार्थ सत् होने के कारण क्षणिक होते हैं, जैसे— दीप। (भावाः क्षणविनाशिनः सत्त्वात् प्रदीपवत्)। 'इसकी सविस्तर व्याख्या विधिविवेक की न्यायकणिका में (पृ० १२६ पर) द्रष्टव्य है)।

शंका—यदि घट को क्षणिक कहते हैं तो स एवाऽयं घट ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी, जैसे दीप में स एवाऽयं दीपः—यह प्रत्यभिज्ञा सादृश्यमूलक है। प्रतिक्षण मे प्रदीप की भिन्नता उभयमतसिद्ध है; उसी तरह घटादि पदार्थों में भी जो प्रत्यभिज्ञा होती है, वह सादृश्यमूलक ही है। यद्यपि घटादि पदार्थ क्षणिक हैं, तथापि मुसलप्रहार आदि साधनों से विसदृशसन्तानोत्पत्तिपर्यन्त जब देखते हैं, तभी उस घट का विनाश हुआ—यह समझते हैं। अर्थात् मुसलप्रहार ही विनाश का कारण है—इत्याकारक भ्रम उन्हें होता है। निष्कर्ष यह है कि घटादि क्षणिक पदार्थों की सत्ता तब तक मानी जाती हैं, जब तक सदृश सन्तान परम्परा चलती रहती है, अर्थात् विसदृशसन्तानोत्पत्ति जब होने लगती है, तब तक क्षणिक पदार्थ की सत्ता रहती हैं।

(क्षणभङ्गवादखण्डनम्)

अत्राऽभिधीयते—न तावदर्थक्रियाकारितैव सत्ता, सतो ह्यर्थक्रियाकारिता, न तु सैव सत्ता। न च सर्वस्य भावस्याऽर्थक्रियाकारितानियमः, अतत्कारिणोऽपि सम्भवात्। न च ज्ञानकारणत्वमपि सर्वस्य नियतम्, अज्ञायमानस्याऽपि स्वरूपसद्भावसम्भवात्। न च सर्वेषां विज्ञानं प्रति आलम्बनहेतुताऽतीताऽनागतानां भावानां सम्भवति, सम्प्रत्यविद्यमानानां हेतुत्वाऽनुपपत्तेः। हेतुत्वे वा सर्वज्ञाननिष्पत्तौ सर्वेषां व्यापृतत्वात् क्रमाऽनभ्युपगमेन च पुनर्व्यापाराऽनुपपत्तेः, तल्लक्षणत्वाच्च सत्तायाः सर्वज्ञानानन्तरमेव समस्तस्य जगतः शून्यताप्रसङ्गः, इति यत्किञ्चिदेतत्।

इस प्रकार क्षणभङ्गवाद का उपपादन कर उसका परिहार करते हैं—**अत्राऽभिधीयते इति**। पहिले (प्रथमत) पदार्थ के स्वरूप की निष्पत्ति होती है, तदनन्तर उसके विद्यमान रहने से अर्थक्रिया होती है—यही उचित प्रतीत हो रहा है। यदि अर्थक्रियाकारिता को ही सत्ता कहा जाय तो अर्थक्रिया होने के पूर्व उसे असत् ही कहना होगा। तब किसके द्वारा अर्थ क्रिया की जायेगी? निष्कर्ष यह है कि पूर्वपक्षी ने जो कहा कि अर्थक्रियाकारिता ही सत्ता है—यह कथन उचित नहीं है। जो धर्म सत् होते हैं, उनकी अर्थक्रिया कारिता होती है किन्तु वही सत्ता नहीं है और सभी पदार्थों की अर्थक्रियाकारिता होने का कोई नियम भी नहीं है—न च सर्वस्य भावस्य अर्थक्रियाकारिता नियमः, अतत्कारिणोऽपि संभवात्। अर्थक्रियाकारी न होने पर भी पदार्थ का होना संभव रहता है। न च ज्ञानकारणत्वमपि सर्वस्य नियतम्; अज्ञायमानस्याऽपि स्वरूपसद्भावसंभवात्। ज्ञान के प्रति विषय कारण हुआ करता है—यह नियम भी सभी के लिये नहीं है, क्योंकि अज्ञायमान

(अज्ञात) पदार्थ की स्वरूपेण सत्ता का होना भी संभव रहता है। न च सर्वज्ञविज्ञानम्प्रति आलम्बनहेतुता अतीताऽनागतानां भावानां संभवति, सम्प्रति अविद्यमानानां हेतुत्वाऽनुपपत्तेः—पूर्वपक्षी ने यह भी कहा था कि सर्वज्ञ जो बुद्ध है, उसके ज्ञान के विषय सभी पदार्थ होते हैं—यह कथन भी यथार्थ (उचित) नहीं है, क्योंकि सभी पदार्थ अतीत (भूतकालिक) भी होते हैं तथा अनागत (भविष्यत् कालिक) भी होते हैं। उनका सर्वज्ञ के ज्ञान का विषय (आलम्बन) होना संभव नहीं है अर्थात् असंभव है। और सम्प्रति अविद्यमानानां हेतुत्वाऽनुपपत्तेः—जो पदार्थ है ही नहीं अर्थात् अस्तित्व में ही नहीं है, जैसे—आकाशपुष्प; उसे भी जानना यदि सर्वज्ञता का कारण कहें तो वह भी उचित नहीं है। अन्यथा सर्वज्ञ बुद्ध को ज्ञान होने पर सभी पदार्थों के व्याप्त हो जाने से उनका कोई क्रम तो है ही नहीं अतः पुनरपि व्यापार की अनुपपत्ति बनी ही रहेगी। **तल्लक्षणत्वाच्च सत्तायाः सर्वज्ञज्ञानानन्तरमेव समस्तस्य जगतः शून्यताप्रसंगः, इति यत्किञ्चिदेतत्।** अर्थक्रियाकारिता ही उनका स्वरूप होने से सर्वज्ञ को ज्ञान होने के बाद ही सम्पूर्ण जगत् की शून्यता का प्रसंग प्राप्त होने लगेगा। **इति यत्किञ्चिदेतत्**—अतः यह कुछ भी नहीं है अर्थात् क्षणिकता का सिद्धान्त मानना कदापि उचित नहीं है।

उपर्युक्त कथन को सरलता से इस तरह समझा जा सकता है—अर्थक्रियाकारित्व के न रहने पर भी स्वविषयक ज्ञानोत्पादनरूप अर्थक्रियाकारित्व तो रहेगा ही। ऐसा यदि कोई कहे तो वह उचित नहीं होगा; क्योंकि उक्त आशंका का समाधान यह है—न च ज्ञान कारणत्वमपि सर्वस्य नियतम्, अज्ञायमानस्याऽपि स्वरूपसद्भावसंभवात्। जैसे—भूमि के भीतर स्थित पदार्थों का ज्ञान न रहने पर भी उन पदार्थों का अस्तित्व तो भूगत है ही, उसे तो नकारा नहीं जा सकता। सभी पदार्थों का ज्ञान होना ही चाहिये—ऐसा कोई नियम भी नहीं है (आवश्यक नहीं है)। पदार्थविषयक ज्ञान के न रहने पर भी वे (पदार्थ) अपने स्वरूप से रहते ही हैं; भले ही उनका ज्ञान न हो।

सम्भवति च भावानां क्रमेणाऽर्थक्रियाकरत्वम्, सहकारिव्यपेक्षया विलम्बोपपत्तेः। सहकारिणश्चाऽतिशयमागन्तुकं भावाद् भिन्नाभिन्नं भिन्नमेव वा कुर्वन्त्येव। यथा बीजस्य क्षितिसलिलसंयोगेऽतिशयः, तदलाभे स्थायिनोऽपि बीजस्य प्रागङ्कुराऽनाऽरम्भः, लाभे चारम्भः इति न काचिदनुपपत्तिः।

पदार्थों में अर्थक्रियाकारिता का क्रम से होना संभव है। किन्तु उस अर्थक्रियाकारिता में सहकारि कारणों की भी अपेक्षा रहती है। अतः उस अर्थक्रियाकारिता में कुछ विलम्ब होना उचित है और वे सहकारी कारण भाव से भिन्न अथवा अभिन्न आगन्तुक अतिशय को उत्पन्न करते ही हैं। इसी तथ्य को दृष्टान्त के द्वारा भी बता रहे हैं, यथा—पृथिवी और जल से बीज का संयोग होने पर प्रधान कारण स्वरूप बीज में ही अतिशय सम्पन्न होता है, स्वरूप की अभिन्नता रहने से अभिन्नत्व और अतिशय का अतिशयस्वरूप

से भिन्नत्व—इस प्रकार भिन्नाऽभिन्नत्व रहता है। तदलाभे—क्षिति-सलिल संयोग के न होने पर बीज के स्थायी रहने पर भी प्राक् = उक्त संयोगलाभ के पूर्व बीज से होने वाले अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं होती। और उक्त संयोग का लाभ होने पर अङ्कुरोत्पत्ति होती है। अतः 'न काचित् अनुपपत्तिः' किसी प्रकार की कोई अनुपपत्ति नहीं हो पाती। एवं च उक्त प्रकार से प्रधान कारण तथा सहकारी कारणों की सफलता के कारण सहकारी कारण की आवश्यकता होती ही है। किन्तु सहकारी कारण का लाभ न होने पर प्रधान कारण को कार्य की उत्पत्ति करने में सहकारी कारण की प्राप्ति होने में जितनी देर (विलम्ब) होगी, उतना विलम्ब तो अनिवार्य ही है। एवं च कार्यजनक प्रधान कारण की कार्यजनकता क्रमशः होती है, अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है।

नन्वेवं संयोगस्यैव कारणत्वं स्यान्न तु बीजस्य? नैवम्, संयोगमात्रात्तदुत्पत्त्यदर्शनात्। न हि क्षिति-सलिल-संयोगोऽङ्कुरं जनयति। बीजविशिष्टस्य तु संयोगस्य कारणत्वे विशेषणीभूतस्य बीजस्याऽपि कारणत्वमङ्गीकार्यम्। यस्तु सहकार्यपेक्षां नानुमन्यते, तस्य क्षिति-सलिलसंयोगाऽनपेक्षात् कुसूलस्थादेव बीजादङ्कुरो जायेत। नन्वन्त्यक्षणप्राप्तः समर्थ एव भावोऽनपेक्षो जनयितुम्। निरपेक्षोऽप्यसौ सहकारिभिर्विना नास्तीति तैर्विना न करोति, कुसूलस्यं हि बीजमन्यदेव। अन्यच्चेदं क्षितिसंयुक्तं यतोऽङ्कुरो जायते।

शंका— नन्वेवं संयोगस्यैवेति। उपर्युक्त कथन के अनुसार कार्योत्पत्ति में सहकारी को ही कारण मान लिया जाय तो सहकारी कारण के रहने पर ही कार्योत्पत्ति होगी, अन्यथा नहीं अर्थात् क्षिति (पृथ्वी), जल (सलिल) के होने मात्र से ही भले ही बीज न हो; फिर भी कार्योत्पत्ति के होने में कोई बाधा नहीं होगी। एवं च अङ्कुरादि कार्योत्पत्ति में सहकारि कारणों का सम्बन्ध ही कारण है, बीज कारण नहीं है।

समाधान— नैवम् इति। उपर्युक्त कथन उचित नहीं है। क्योंकि—संयोगमात्रात् तदुत्पत्त्यदर्शनात्। अर्थात् पृथ्वी (क्षिति) और जल (सलिल) का संयोग होने मात्र से ही अंकुर की उत्पत्ति का होना आज तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। क्षिति-सलिल संयोग (पृथ्वी-जल के संयोग) मात्र से ही अंकुरोत्पत्ति का होना किसी ने देखा नहीं है। अंकुरोत्पत्ति के होने में प्रधान (मुख्य) कारण बीज ही है।

शंका— यद्यपि पृथ्वी-जल के संयोगमात्र से ही अंकुरोत्पत्ति का होना दृष्टिगोचर न होने पर भी क्षिति सलिल संयोग को ही मुख्य (प्रधान) कारण मान लिया जाय तो क्या हानि है ? और बीज को क्षिति-सलिल संयोग का विशेषण मान लीजिये। तथा च—बीज से विशिष्ट हुए क्षिति-सलिल संयोग से अङ्कुरोत्पत्ति का होना तो दिखाई देता है, तब तो विशेषणरूप बीज को कारण कहना ही होगा। सहकारी कारण की आवश्यकता न मानने वाले के अनुसार तो क्षिति (पृथ्वी), जल के संयोग की अपेक्षा बिना किये ही

कुसूलस्थ बीज से भी अंकुरोत्पत्ति होने लगेगी। अर्थात् क्षिति-सलिल संयोगाऽनपेक्षात् कुसूलस्थादेव बीजादङ्कुरो जायेत। कुसूलस्थात् क्षितिसलिलसंयोगरहितात् पात्रविशेषस्थात्।

शंका—यद्यपि सहकारी कारण की अपेक्षा न करने वाले बीज में ही अंकुरोत्पादकता होती है, तथापि केवल बीज को अंकुरोत्पादक नहीं कहा जाता, जिससे कुसूलस्थ बीज से भी अंकुरोत्पत्ति हो सके, किन्तु अन्तिम क्षण को प्राप्त हुआ बीज ही अंकुरादि कार्य को उत्पन्न करता है। उस बीज को अन्तिम क्षण की प्राप्ति उसके सहकारियों के बिना नहीं हो पाती। अत: बीज अपने सहकारियों के बिना अपना अंकुरोत्पत्तिरूप कार्य नहीं कर पाता। एवं च क्षिति-सलिल का संयोग होने पर जब बीज विनाश की अवस्था को प्राप्त होता है, तभी वह (बीज) अपना अंकुरोत्पत्तिरूप कार्य कर पाता है। इस कार्य के पूर्व क्षणभेद से बीजभेद होता है, उससे कुसूलस्थ क्षिति-सलिल संयुक्त हुए बीज के दो भाग ही (टुकड़े) होते हैं, इस कारण कुसूलस्थ को अंकुरोत्पत्ति का कारण नहीं कहा जाता; किन्तु क्षिति-सलिल से संयुक्त हुए को ही कारण कहा जाता है। अत: सहकारि कारणों का कार्योत्पादन में कोई व्यापार नहीं है, किन्तु कार्योत्पादक अन्त्य क्षणविशिष्ट कारणोत्पादन में ही सहकारि कारणों का व्यापार होता है। तथा च—भाव: पदार्थ: क्षणिक एव अर्थात् पदार्थ (भाव) क्षणिक ही है।

सत्यम्, इदं त्वत्र वक्तव्यम्—यदिदमन्त्यक्षणप्राप्तं क्षिति-सलिल-संयुक्तमङ्कुरजनकं तद् यदि कृषीवलप्रयत्नविरहात् कुसूलस्थमेव स्यात् तदाऽपि किमङ्कुरं जनयति? ओमिति चेत्? किमर्थं तर्हि कृषीवलस्य प्रेक्षापूर्वकारिण: प्रयास:? विदुषां च स्वर्गाऽपवर्गार्थं चैत्यवन्दनादि-प्रयास:, तदुपदेशश्च देशिकानामनर्थक: स्यात्, अन्त्यक्षणप्राप्ताद् विज्ञानादेव धर्माऽधर्माऽनपेक्षात् स्वर्गाऽपवर्गसिद्धेः। तस्मात् सहकार्य-पेक्षाऽङ्गीकर्तव्या। ततश्च सहकारिसन्निधिक्रमेण सम्भवति स्थायिनोऽपि भावस्य क्रमेणाऽर्थक्रियाकरणमिति विपक्षे बाधकप्रमाणाऽभावाद-नियता क्षणिकत्वेन सत्ता नाऽलं तदनुमापयितुम्। न च ध्रुवभावितया विनाशस्य हेत्वन्तराऽनपेक्षत्वम्, घटसन्ताने कपालसन्तानस्य ध्रुवभाविनो मुसलप्रहारादिहेत्वन्तराऽपेक्षादर्शनादनैकान्तिकत्वात्।

समाधान— सत्यम्, इदन्त्वत्र वक्तव्यम् अर्थात् आपका कथन सत्य है; प्रस्तुत प्रसंग में यह वक्तव्य है कि अन्तिम क्षण को प्राप्त हुआ यह बीज ही पृथ्वी तथा जल से सम्बद्ध होकर, अंकुर का उत्पादक होता है, तब किसान (कृषीबल) के प्रयत्न के बिना कुसूलस्थित बीज भी अंकुरोत्पादक क्यों नहीं होता? यदि होता है—कहोगे, तो कृषीबल का सोच-विचार कर प्रयत्न करना व्यर्थ ही कहा जायेगा तथा तुम्हारा चैत्य-वन्दनादि करना भी व्यर्थ कहना होगा, अभीष्ट स्वर्ग अथवा अपवर्ग की प्राप्ति के लिये

अग्निहोत्र आदि का अनुष्ठान आर्हत = जैन एवं बौद्ध विद्वानों का चैत्यवन्दनादि करना तथा आचार्यों के उपदेश भी व्यर्थ होंगे। क्योंकि अन्तिम क्षण में प्राप्त होने वाले विज्ञान से ही स्वर्ग और अपवर्ग की प्राप्ति हो जायगी। उस ज्ञान को धर्माऽधर्म की अपेक्षा भी नहीं होगी। इस प्रकार अनपेक्षित प्रसंग प्राप्त होंगे। इन अनपेक्षित प्रसंगों की प्राप्ति के निवारणार्थ सहकारी कारणों की अपेक्षा करनी चाहिये। खेती करने वाले कृषीवलों (किसानों) के प्रयत्नों को भी सहकारी कारणों की अपेक्षा होती है। तस्मात् सहकार्यपेक्षाऽङ्गी कर्तव्या; अत: सहकारी कारणों की आवश्यकताओं को भी मानना होगा। **ततश्चेति**। अर्थात् सहकारी कारणों की सन्निधि की क्रमता के अनुसार अस्थायी (क्षणिक) पदार्थों में भी क्रमश: अर्थक्रियाकारिता हुआ करती है। **विपक्षे बाधकप्रमाणाऽभावादिति।**

अत: क्षणिकता के विरोधी स्थायित्व पक्ष में भी बाधक प्रमाण के न होने से अनित्यता = अव्याप्त (अव्यापक) क्षणिकता से सत्ता उक्त अर्थक्रियाकारिता का अनुमान नहीं करा सकती। क्षणिकता के कारण सत्ता की व्याप्ति ही नहीं है; क्योंकि स्थिर पदार्थ में भी सत्ता रहती है। अत: सत्ता को क्षणिकता का अनुमापक कैसे कहा जा सकेगा?

न च ध्रुवभावितयावनाशस्येति। विनाश की ध्रुवभाविता रहने से किसी अन्य हेतु (कारण) की अपेक्षा का न होना जो कहा गया है, उसमें व्यभिचार प्रदर्शित करते हुए उसका निराकरण कर रहे हैं— **न च ध्रुवभावितयेति**। जैसे घटसंतान में अवश्य रहने वाली कपालसन्तान को मुसलप्रहारादि अन्य कारणों की अपेक्षा रहती है, उस कारण पूर्वोक्त पूर्वपक्षी का कथन (अर्थात् जहाँ-जहाँ ध्रुवभाविता होगी, वहाँ-वहाँ हेत्वन्तर की अनपेक्षा रहेगी— इस व्याप्ति का व्यभिचार रहेगा) क्षणिकता को सिद्ध नहीं कर सकता। अर्थात् घटसन्ताने ध्रुवभाविनि कपालसन्ताने हेत्वन्तराऽनपेक्षत्वं साध्यं नास्ति, मुसलप्रहारादिहेत्वन्तराऽपेक्षत्वादथ च तत्र ध्रुवभावित्वमस्ति इति साध्याऽभाववति वृत्तित्वात् व्यभिचारिध्रुवभावित्वं न विनाशस्य हेत्वन्तराऽनपेक्षत्वं साधयितुं समर्थमित्यर्थ। घटसन्तानस्य कपालसन्तानं विनाऽनुपपत्त्या घटसन्ताने कपालसन्तानो वर्तत एवेति ध्रुवभावी, स च कपालसन्तानोऽपि घटे मुसलप्रहारादिनोपलभ्यते, इति हेत्वन्तरसापेक्षस्तथा च विनाशोऽपि ध्रुवभाव्यपि हेत्वन्तरसापेक्ष एवेति न विनाश: स्वाभाविको येन द्वितीयक्षणे एव विनाशसम्पत्त्या घटादि: क्षणिक: स्यात्। क्षणिकत्वनिरासप्रकरणे प्रसन्नपदायां माध्यमिकेन चन्द्रकीर्तिनाऽपि उक्तम्— यस्तु विनाशस्याऽहेतुकत्वमभ्युपेत्य क्षणिकतां संस्काराणामाह, तस्य निर्हेतुकत्वात् खपुष्पवद् विनाशाऽभावात् कुत: क्षणिकत्वं भावानां सेत्स्यति, कुतो विनाशरहितानां संस्कृतत्वमपीति सर्वमेवाऽसमञ्जसं तस्य जायते इति।

ननु हेत्वन्तरेण भावाद् भिन्ने विनाशे जाते विनाशिनोऽपि भावस्य पूर्ववदुपलब्धि: स्यात्। तस्मात् स्वाभाविको विनाश:। किमिदं स्वाभाविको विनाश इति। भावस्वभावादेव विनाशो जायते, न हेत्वन्तरादित्यर्थ:।

ननु हेत्वन्तरेणेति । यदि यह कहें कि अन्य (दूसरे) कारण से विनाश होता है और वह भाव से भिन्न है, उससे विनाश होने पर भी पहिले की तरह घटादि भाव पदार्थ की उपलब्धि होनी चाहिये, किन्तु वैसी अर्थात् पूर्व की तरह उसकी उपलब्धि नहीं होती। निष्कर्ष यह है कि हेत्वन्तर से विनाश होने के कारण वह (विनाश) अपने प्रतियोगी से तो भिन्न ही रहेगा। तथाच विनाश होने पर भी तत्प्रतियोगी घटादि की उपलब्धि होनी चाहिये; किन्तु वह तो होती नहीं। अत: विनाश को स्वाभाविक ही कहना चाहिये। किमिदं स्वाभाविकम्?— यह प्रश्न सिद्धान्ती मीमांसक पूछ रहा है और क्षणभंगवादी बौद्ध उस प्रश्न का उत्तर दे रहा है— भावस्वभावादेव विनाशो जायते, न हेत्वन्तरात् इत्यर्थः । अत: विनाश कोई पृथक् वस्तु नहीं है। भाव: का अर्थ है—प्रतियोगी । जैसे विनाश होने के पहिले (पूर्वकाल में) घट की अपलब्धि होती है, उसी तरह विनाश के पश्चात् (उत्तरकाल में) भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिये; किन्तु नहीं होती। अत: विनाश होना स्वाभाविक है।

ननु भावादपि जातो विनाशो भावाद् भिन्नश्चेत्? तुल्य एव दोषः- पूर्ववदुपलब्धिः स्यादिति। अथ अभिन्न एव विनाशो भावात्? ततो विनाशस्याऽप्रत्यक्षत्वाद् भावोऽप्यप्रत्यक्षः स्यात्। अत्यन्तविपरीतस्वभावयोश्च भावाऽभावयोरेकत्वाऽभिधानं साहसमात्रम्।

मीमांसक शङ्का कर रहा है— **ननु भावादपीति** । क्षणभंगवादी बौद्ध ने विनाश को स्वाभाविक माना है। वह स्वाभाविकता क्या वस्तु (पदार्थ) है? क्या भावपदार्थ का विनाश स्वाभाव से ही (स्वाभाविक ही) होता है? किसी अन्य कारण से नहीं? क्षणभंगवादी बौद्ध के मतानुसार विनाश स्वाभाविक होने से भावात् = अपने प्रतियोगी स्वभाव से उत्पद्यमान होने पर भी स्वप्रतियोगी से वह भिन्न है या अभिन्न है- यह विकल्प करके उसे भिन्न कहने पर दोष की समानता ही (तुल्यता ही) रहेगी। दोष का स्वरूप यह होगा— पूर्ववत् = उपलब्धिः स्यात् । पूर्ववत् का अर्थ होगा— विनाशात् पूर्ववत् । जैसे- पटसत्त्वेऽपि घट: उपलभ्यते, अथवा जैसे- फलसत्त्वेऽपि तत्कारणं वृक्षः उपलभ्यते, अथवा शरीर पर स्वाभाविक रूप से होने वाले नख-लोमादि के विद्यमान रहने पर भी शरीर की उपलब्धि होती ही है, तथैव विनाश के होने पर भी भाव = विनाशप्रतियोगी की उपलब्धि भी होनी चाहिये; क्योंकि उभयत्र (दोनों में) भेद समान ही तुल्य) है।

अभेद पक्ष में प्रतीति के बाधक को बता रहे हैं। अत्यन्त विपरीतस्वभावयोश्च भावाऽभावयोरेकत्वाभिधानं साहसमात्रम् । यदि विनाश को भाव से अभिन्न कहा जाय तो विनाश जब अप्रत्यक्ष होगा, तब भाव भी अप्रत्यक्ष होगा— यह मानकर दोष दिया गया है। वस्तुत: विनाश और भाव का अभेद हो नहीं सकता। इसी तथ्य को ग्रन्थकार ने 'अत्यन्तविपरीतस्वभावयोश्च भावाऽभावयोरेकत्वाऽभिधानं साहसमात्रम्' ग्रन्थ से बताया है। जिन दो पदार्थों का स्वभाव अत्यन्त विपरीत है, उन भाव और अभाव की एकता

बताना अर्थात् भाव और अभाव को एक कहना साहस (धृष्टता) मात्र ही कहा जायगा।

अथाऽपि विनाशो नाम न किञ्चिद् भिन्नमभिन्नं वा तत्त्वम्, तुच्छत्वादिति। ततो जातस्य भावस्य असति विनाशे नित्यत्वमेव स्यादिति सुसमर्थितः क्षणभङ्गः। तस्माद् भिन्नेनाऽपि विनाशेन भावस्योपलब्ध्यादि निरस्यत इत्यकामेनाऽपि अभ्युपगन्तव्यम्।

अभेदपक्ष में भी विनाश की उपलब्धि होने से प्रतियोगी की भी उपलब्धि होगी तथा प्रतियोगी के काल में भी उसके विनाश की उपलब्धि होती। इसलिये उक्त दोष की उपेक्षा कर अन्य दोष को बता रहे हैं— **अथाऽपीति** । विनाशस्य अप्रत्यक्षत्वात् = अनुपलब्धिगम्य होने से विनाश से अभिन्न भाव का भी अप्रत्यक्ष ही होगा।

यद्यपि विनाश के अनन्तर भाव का अप्रत्यक्षत्व मीमांसकों को भी अभिमत ही है, तथापि बौद्ध के मत में भाव और उसके विनाश की अभिन्नता में और विनाश की स्वाभाविकता में और भाव की स्व-कारण से ही विनाश स्वभाव की उत्पत्ति का स्वीकार कर लेने से प्रथम लक्षण में भी भाव और उसके विनाश की अभेदापत्ति (अभिन्नता प्राप्ति) होने से और विनाश के अप्रत्यक्ष रहने से प्रथम क्षण में भी भाव का अप्रत्यक्ष ही होगा। प्रथम क्षण में भाव की अप्रत्यक्षता बौद्ध को भी अभीष्ट नहीं है, क्योंकि पदार्थ के क्षणिक होने से क्षणान्तर में उसका प्रत्यक्ष होना असम्भव है और विनाश की प्रत्यक्षता स्वीकार करने पर उसके (विनाश के) उत्पन्न होने पर भी उसके प्रतियोगी का प्रत्यक्ष होने लगेगा; क्योंकि वह विनाश से अभिन्न है अर्थात् भिन्न नहीं है— यह दोष प्राप्त होगा।

शङ्का— यदि यह कहें कि भाव से भिन्न अथवा अभिन्न विनाशसंज्ञक कोई तत्त्व नहीं है; क्योंकि वह तुच्छ है, तब उत्पन्न भाव का विनाश न होने से उसे नित्य कहना होगा— यह कहकर तो क्षणभङ्गवाद का अच्छी प्रकार से समर्थन कर दिया। विनाश के भिन्नत्व या अभिन्नत्व का विचार तब किया जा सकता है, जब वह किसी तत्त्व के रूप में हो, किन्तु वह कोई तत्त्व ही नहीं है; क्योंकि वह (विनाश) अत्यन्त तुच्छ है, अर्थात् असत्कल्प = नहीं के बराबर है।

समाधान— ततो जातस्य भावस्येति । विनायकम्प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्— इस न्याय से घटादि पदार्थों के क्षणभंग का निरूपण करते हुए आपने विनाश की तुच्छता = निःसारता को बताकर भावपदार्थों की नित्यता को ही सिद्ध कर दिया। आपने तो क्षणभंगवाद का बहुत अच्छी तरह समर्थन कर दिया। **तस्माद् भिन्नेनाऽपीति** । घटरूप भाव पदार्थ का कारण मृत् = मिट्टी आदि है, और विनाश का कारण मुसलप्रहार आदि हैं, इस प्रकार हेतुभेद (भिन्न-भिन्न कारण) होंने से भाव पदार्थ से विनाश को भिन्न ही समझना चाहिये। एवंच भाव पदार्थ से भिन्न रहने वाले विनाश पदार्थ से उपलब्धि आदि का निरसन हो जाता है। इसे न चाहते हुए भी स्वीकार करना पड़ेगा। निष्कर्ष **यह**

निकला कि यदि विनाश से स्व-प्रतियोगी की उपलब्धि का निरसन न हो सके तो प्रतियोगी घट आदि को नित्य ही कहना होगा, एवंच प्रतियोगी से भिन्न रहने पर भी विनाश से प्रतियोगी की उपलब्धि का निरास होता है— यह आपको स्वीकार करना होगा। तस्मात् 'न भावा विनाशस्वभावा:' अर्थात् भाव पदार्थ विनाश स्वभाव वाले नहीं हैं।

यत्तु प्रतिक्षणमवस्थाभेद इति, भवतु नैतावता अवस्थावतो भावस्य प्रतिक्षणं विनाशेन भवितव्यम्, प्रमाणाऽभावात्। नानाऽवस्थानामपि युगपदेकस्मिन् धर्मिणि सविरुद्धानाम्, क्रमेणाविरुद्धानाञ्च सम्भवात्। ततश्च नूतनाद्यवस्था: क्रमेण अनुभूय पुराणाऽवस्थां प्राप्तस्य प्रयत्नरक्षितस्याऽपि युक्तोऽवयवविश्लेषाद्विनाश:। न च सत्तया दीप-दृष्टान्तमात्रेण घटादेरपि क्षणिकत्वम्, सत्ताया: सन्दिग्धविपक्ष-व्यति-रेकात् अहेतुत्वात्। प्रतिज्ञायाश्च प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधात्।

यत्तु प्रतिक्षणमवस्थाभेद इति— इस ग्रन्थ से प्रत्येक क्षण में अवस्थाभेद होते रहने से क्षणिकत्व की आशङ्का को उत्थापित किया गया है। अर्थात् पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि प्रतिक्षण भावपदार्थों का अवस्थाभेद होता है (भिन्न-भिन्न अवस्था होती रहती है), इससे स्पष्ट है कि सभी पदार्थ क्षणिक होते हैं।

उपर्युक्त पूर्वपक्षी के कथन पर सिद्धान्ती का कहना है कि अवस्थाभेद होने मात्र से अवस्थाविशिष्ट पदार्थ का प्रत्येक क्षण में विनाश होना चाहिये, किन्तु यह कहने में कोई प्रमाण नहीं है। जिनका परस्पर आपस में कोई विरोध नहीं है, उन नाना अवस्था वाले पदार्थों का एक ही धर्मी में युगपत् होना सम्भव है और विरुद्ध अवस्थाओं का भी एक ही धर्मी में क्रमश: होना भी सम्भव है। अत: केवल अवस्थाभेद के आधार पर क्षणिकता की सिद्धि नहीं हो सकती— यह अभिप्राय है।

अन्यथा अवस्था हि धर्म एव धर्मिण: = अवस्था भी धर्मी का धर्म ही है। तथाच विनाश से जब अवस्थावान ही नष्ट हो गया, तो प्रतिक्षण अवस्थाभेद किसमें होगा?

यह जो कहा था— न चैकस्य घटस्य नानारूपत्वं सम्भवति नानात्वैकयोर्विरोधात्, इसका उत्तर दे रहे हैं— नानाऽवस्थानामपि युगपदेकस्मिन् धर्मणि अविरुद्धानां क्रमेण विरुद्धानां च सम्भवात् अर्थात् अविरोधी नाना अवस्था वालों का एक ही धर्मी में युगपत् (एक साथ) होना सम्भव है और विरुद्ध अवस्थाओं का एक ही धर्मी में क्रमश: होना भी सम्भव है, जैसे क्षणवादी त्रिगुण परस्पर अविरुद्ध है, उस कारण उनका युगपत् होना भी सम्भव है, किन्तु नूतनत्व-पुराणत्व, शीतत्व–उष्णत्व, स्थिति-विनाश आदि का होना क्रम से ही सम्भव है; क्योंकि ये परस्पर विरुद्ध हैं। एवंच विरुद्ध अवस्थायें क्रमश: होती हैं। निष्कर्ष यह है कि केवल अवस्थाभेद से क्षणिकत्व को सिद्धि नहीं हो सकती।

ततश्च नूतनाद्यवस्था क्रमेण अनुभूय पुराणावस्थाम्प्राप्तस्य प्रयत्नरक्षितस्याऽपि

युक्तोऽवयवविश्लेषाद् विनाशः । इसलिये नवीन (नूतन) आदि अवस्थाओं का क्रमशः अनुभव करके पुरातन अवस्थाओं को प्राप्त हुए जो भाव पदार्थ प्रयत्नपूर्वक सुरक्षित रहने पर भी उनके अवयव विश्लिष्ट हो जाने से उनका विनाश होना उचित ही है।

किञ्च— यदि प्रतिक्षण घट की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है तो प्रतिक्षण नवीन (नूतन) घट की उत्पत्ति होनी चाहिये, तब जीर्ण घट की (पुराने जीर्ण-शीर्ण घट की) उपलब्धि कभी होगी ही नहीं। कदाचित् नूतनः उत्पद्यते, कदाचित् जीर्णः– इत्यत्र विनिगमना विरह एव ।

यह जो कहा था कि 'भावाः क्षणविनाशिनः सत्त्वात् प्रदीपवत्' इसका उत्तर दे रहे हैं— न च सत्तया दीपदृष्टान्तमात्रेण घटादेरपि क्षणिकत्वम्, सत्तायाः संदिग्धविपक्ष-व्यतिरेकादहेतुत्वात्। प्रतिज्ञायाश्च प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधात्। दीप का दृष्टान्त देने मात्र से स्थायित्वपक्ष में अर्थात् विवक्ष में सत्ता का होना सम्भव रहने से हेतु व्यभिचारी हो गया है। अतः सत्ता को घटाादि भावपदार्थों की क्षणिकता में हेतु नहीं बताया जा सकता; क्योंकि विमतं सत् इस प्रतिज्ञा का प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष से विरोध है, इस कारण विपक्ष में सत्ता का व्यतिरेक सन्देह का विषय हो गया है, अर्थात् सन्दिग्ध हो गया है। इसलिये भी क्षणिकता का अनुमान नहीं किया जा सकता।

अभिप्राय यह है कि दीप का दृष्टान्त प्रदर्शन करके सत्ता (अस्तित्व) मात्र से घटादि भाव पदार्थों का क्षणिकत्व सिद्ध करना सम्भव नहीं है। व्यभिचार का सन्देह किया जा सकता है; क्योंकि सन्दिग्धविपक्षव्यतिरेक के कारण सत्ता को हेतु नहीं बनाया जा सकता। अन्यथा विपक्ष में अर्थात् क्षणिकत्वाऽभाववत् (स्थिरता) के पक्ष में = पदार्थ को स्थायी मानने पर हेतु भूतसत्ता का (कारणीभूत सत्ता का) वृत्तित्व तो है ही नहीं; क्योंकि उसका निश्चय नहीं है। एवञ्च विपक्ष में हेतु का अवृत्तित्व निश्चित होने पर ही पक्ष में उस हेतु को साध्य का अनुमापक माना जाता है। यह स्थिति सत्ता में दृष्टिगोचर नहीं होती। विपक्षभूत स्थायी पदार्थ में भी सत्ता का सम्भव रहता है— यह हेतु दोष है।

शङ्का— क्षणविनाशिनः— इस प्रतिज्ञा का प्रत्यभिज्ञा लक्षण प्रत्यक्ष के साथ साक्षात् विरोध है। स एवाऽयं घटः– इस प्रत्यभिज्ञा से घट आदि पदार्थों का स्थायित्व बताया जाता है और प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमानादि प्रमाणों की अपेक्षा प्रबल माना जाता है। अतः प्रत्यक्ष से बाधित हुए अनुमान के उदय होने की सम्भावना भी नहीं की जा सकती— यह कहकर प्रतिज्ञा में दोषप्रदर्शन किया गया है।

शङ्का— घट के क्षणिक रहने पर भी अपरापर सदृश घट की ही उत्पत्ति प्रतिक्षण होती रहती है, उस कारण स एवाऽयं घटः— इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा को सादृश्यमूलक कहना चाहिये ।

समाधान— शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथिमिश्र उपर्युक्त शङ्का का समाधान कर रहे हैं—

न च सादृश्यात् तदुपपत्तिः, अवयवसामान्याऽसम्भवात्। अनुवृत्तं हि सामान्यं सम्भवति, न च सर्वक्षणिकवादिनामनुवृत्तं किञ्चित् सम्भवति। सम्भवे वा न सर्वं क्षणिकम्। तस्मान्न सर्वभावानां क्षणिकत्वम्, नतरां शब्दस्य। तस्य हि अन्तेऽपि विनाशो नास्ति, यतः सूक्ष्मविनाश-कल्पना स्यात्, तस्मान्नित्यः शब्दः। प्रयोगश्च भवति—नित्यः शब्दः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववत्।

समाधान— न च सादृश्यात्तदुपपत्तिरिति । भूयोऽवयवसामान्यमेव हि सादृश्यम्— इत्याकारक सादृश्य की सम्भावना भी क्षणभंगवाद मे नहीं की जा सकती। क्योंकि अनुवृत्तं हि सामान्यं भवति अर्थात् जो अनुवृत्त = अनुगत रहता है, उसे ही सामान्य शब्द से कहा जाता है। अवयवसामान्य का होना कदापि सम्भव नहीं है। उत्पाद-विनाश-शाली पदार्थो में ही किसी एक नित्य पदार्थ का अनुवृत्तत्व (अनुवृत्ति) सम्भव रहता है। भूत-भविष्यद्वर्तमान कालों में अनुवृत्त = अनुगत रहने वाले धर्म को ही सामान्य शब्द से कहा जाता है; किन्तु बौद्धों के क्षणभंगवाद में यच्चयावत् अर्थात् समस्त पदार्थमात्र क्षणिक माने जाते हैं। उस कारण किसी भी अनुवृत्त होने वाले सामान्य की सम्भावना तक नहीं की जा सकती। अत: अवयवसामान्यलक्षण सादृश्य की सिद्धि कैसे हो सकती है? जिससे प्रत्यभिज्ञा को सादृश्यमूलक कहा जा सके। तुमने स्वयं ही सादृश्य का निराकरण किया है। सम्भवे वा न सर्वं क्षणिकम् अर्थात् यदि सम्भव हो तो भी सभी पदार्थों की क्षणिकता सिद्ध नहीं हो पायेगी। दुर्जनपरितोषन्याय से यदि सादृश्य का स्वीकार किया भी जाय तो उसे भूयोऽवयव सामान्यरूप ही कहना होगा और वह सामान्य सर्वाऽनुवृत्त ही होता है और सर्वानुवृत्तत्व नित्यत्व के विना उपपन्न नहीं होता— इन सब कारणों से पदार्थमात्र में क्षणिकत्व का होना सम्भव नहीं है; क्योंकि सामान्य में नित्यता को स्वीकार किया गया है। शब्द में क्षणिकता का होना तो किसी भी रीति से सम्भव नहीं है। तस्य = शब्दस्य तु हि अन्तेऽपि = कदाचिदपि विनाशो न भवति । जैसे घटादि पदार्थों का अन्त में विनाश होना निश्चित है, अत: विनाश एक बार ही होता है और जब तक विनाश नहीं होता, तब तक प्रतिक्षण में सूक्ष्मविनाश अर्थात् जीर्णता अथवा अवस्थान्तर (पुरानापन) होता रहता है, तथापि यह स्थिति शब्द में दृष्टिगोचर नहीं है, अत: नित्य: शब्द: = शब्द नित्य है। अन्यथा घटादि पदार्थों के समान शब्द भी कदाचित् जीर्ण-शीर्ण रूप में उपलब्ध होने लगेगा। शब्द की नित्यता को अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध कर सकते हैं— शब्द: नित्य: श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्। शब्द नित्य है, श्रवणेन्द्रिय-जन्यज्ञान का विषय होने से, शब्दत्व के समान। इस प्रकार उपपत्तियों (युक्तियों) द्वारा उपपादित अर्थ का अनुमान के द्वारा भी समर्थन किया है। तथापि यहाँ जिज्ञासा होती है कि उक्त अनुमानप्रयोग में श्रावणत्व हेतु वायु के धर्मरूप ध्वनियों में व्यभिचरित है; क्योंकि ध्वनि भी श्रावणप्रत्यक्ष का विषय होता है।

उक्त जिज्ञासा का समाधान यह है कि उक्त हेतु में ध्वनिधर्माऽन्यत्वे सति—इस सत्यन्त विशेषण को अन्वित करना चाहिये। इसी तथ्य को वृद्धविद्वानों ने बताया है—

हेतुरेव त्वसौ स्पष्टो नित्यत्वस्योपलभ्यते।
भूतावयवधर्माख्यध्वन्यन्यत्वविशेषितः ॥

एवञ्च– येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते, तेनैव तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्च गृह्यते— इस नियम के अनुसार शब्दत्व भी श्रावणप्रत्यक्ष का विषय है और वह नित्य भी है। उसी दृष्टान्त के अनुसार शब्द की नित्यता का भी होना स्पष्ट हो जाता है।

(शब्दत्वसामान्यस्य समर्थनम्)

न च शब्दत्वं नास्तीति भ्रमितव्यम् प्रत्यभिज्ञानात्। अरण्ये हि गच्छन्तोऽश्रुतपूर्वं शब्दविशेषं श्रुत्वा प्राणिनः कस्याऽयं शब्द इति सन्दिहन्ते, न च सामान्यदर्शनमन्तरेण विशेषसंशयो घटते। तथावान्तरजातिरपि वर्गतृतीयगकारादिष्वनुवृत्ता ककारादिभ्यो व्यावृत्ता कचित् अस्ति।

शङ्का— यदि शब्दत्व नामक कोई पदार्थ होता तो उसे उक्त अनुमान प्रयोग में दृष्टान्त के रूप में उपस्थित करना उचित होता। शब्दत्व तो है ही नहीं।

समाधान— शब्दत्व है ही नहीं– ऐसा भ्रम करना ठीक नहीं है; क्योंकि प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष से शब्दत्व सिद्ध है। उसी को बता रहे हैं— **अरण्ये हि गच्छन्तोऽश्रुतपूर्वं शब्दविशेषं श्रुत्वेति** । अरण्य में जाते हुए लोग अश्रुत पूर्व शब्द को सुनकर यह शब्द किस प्राणी का है? ऐसा सन्देह करते हैं। यदि शब्दत्व नामक कोई सामान्य न होता, तो सामान्यज्ञान न होने से कस्याऽयं शब्दः— यह विशेष संशय न होता। अतः शब्दत्व सामान्य नामक कोई पदार्थ है— यह मानना ही होगा। इस प्रकार शब्दत्व इस महासामान्य को बताकर अब अवान्तर सामान्यों को बता रहे हैं— **तथाऽवान्तरजातिरपीति**। तथा अवान्तरजातिरपि वर्गतृतीयगकारादिषु अनुवृत्ता, ककारादिभ्यो व्यावृत्ता काचिदस्ति। महासामान्य का स्वीकार जैसे किया, वैसे ही अवान्तर सामान्य को भी स्वीकार करना होगा। जैसे कवर्ग के तृतीय गकारादिकों में अनुगत ककारादि से भिन्न कोई अवान्तर जाति है, उसी प्रकार वर्गप्रथम, वर्गद्वितीय, वर्गचतुर्थ तथा वर्गपञ्चम में भी क्रमशः अनुगत जातियाँ रहती हैं। निष्कर्ष यह है कि ककारादिकों में वर्गप्रथमत्व जाति, खकारादिकों में– वर्गद्वितीयत्वजाति, गकारादिकों में– वर्ग तृतीयत्वजाति, घकारादिकों में वर्गचतुर्थत्व जाति और ङकारादिकों में वर्गपञ्चमत्व जाति— ये अनुगत जातियाँ क्रमशः रहती हैं।

(अवान्तरसामान्यसाधनं तत्प्रयोजनकथनञ्च)

तथा वर्गप्रथमेषु द्वितीयेषु चतुर्थेषु पञ्चमेषु च यथास्वमनुवृत्ताः सन्ति जातयः। कथमवगम्यन्ते? प्रत्यभिज्ञानादेव। तथाहि कियत्यपि दूरदेशे

दकारमुच्चरितं श्रुतवतां गकारादिषु संशयो भवति, न चाऽयं संशयो दत्वनिबन्धनो गकारादिष्वभावात्। अतोऽस्ति तृतीयादिष्वनुवृत्तमन्येभ्यो व्यावृत्तं रूपम्, यदुपलम्भादेष संशयः।

तथा धकारोच्चारणे भकारादिषु संशयः, नाऽन्येषु। तेन चतुर्थेष्वप्यस्ति सामान्यम्। एवं प्रथमेषु द्वितीयेषु पञ्चमेषु च यथास्वं सामान्यानि तैरेव दृष्टान्तैः शब्दस्य श्रावणत्वहेतुना नित्यत्वाऽनुमानम्।

शङ्का— अब अवान्तर सामान्य के होने में प्रमाण क्या है? यह कैसे जाना जाता है?

समाधान— प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष से ही जाना जाता है। इसी तथ्य को बता रहे हैं— **तथाहि इति। कियत्यपि दूरदेशे इति** । कुछ दूरी पर उच्चरित शब्द को श्रवण करने वालों के मन में गकारादिकों के प्रति सन्देह उत्पन्न होता है। यह सन्देह दत्व अर्थात् दकार को लेकर नहीं होता; क्योंकि गकारादिकों में उसका अभाव है। अत: तृतीयादि अक्षरों में अनुगत तथा अन्य से पृथक् कोई रूप है, जिसको देखकर यह सन्देह हो रहा है। उसी प्रकार धकार का उच्चारण करने पर भकारादि में सन्देह होता है। किसी अन्य = दूसरे में नहीं। इससे चतुर्थ वर्ण में भी सामान्य है। इसी प्रकार प्रथम, द्वितीय, पञ्चम वर्णों में भी यथाक्रम सामान्य होते हैं। इन्हीं दृष्टान्तों से अर्थात् तैः = शब्दत्वादि सामान्य से श्रावणप्रत्यक्षविषयत्व- हेतु से नित्यता का अनुमान किया जाता है।

ननु शङ्खादिनादानामनित्यत्वेऽपि श्रावणत्वादनैकान्तिको हेतुः? न, तेषामपि प्रत्यभिज्ञया नित्यत्वात्। यदि तेषु प्रत्यभिज्ञा नास्ति, ततो ध्वन्यन्यत्वे सति इति विशेषणादव्यभिचारः। यदा चाऽनित्यत्वं ध्वनीनां तदा कार्यस्याऽनाश्रितस्याऽनुपपत्तेराश्रयभूतेन केनचिद् द्रव्येण भवितव्यम्। तस्य चाऽनेकत्वे प्रमाणाऽभावादेकत्वे द्रव्यस्यैकद्रव्याश्रितस्याऽभावाद्, द्रव्याऽन्यत्वे शब्दस्य संयोग-विभागयोरनपेक्षकारणत्वाऽभावादकर्मत्वे सति पारिशेष्याद् गुणत्वमेव ध्वनीनां भवति।

शङ्का— नित्यत्वाऽभाव वाले अनित्य शंखनाद में भी श्रावणत्व रहता है, अत: साध्याऽभावाधिकरण में रहने के कारण श्रावणत्व हेतु व्यभिचारी हो गया है, उससे शब्द का नित्यत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। निष्कर्ष यह है कि शंखादि ध्वनि (नाद) अनित्य रहने पर भी साध्याऽभाववत् (साध्याऽभावाधिकरण) में श्रावणत्व हेतु के जाने से हेतु व्यभिचरित (व्यभिचारी) हो गया है। अर्थात् हेतु व्यभिचार दोष से ग्रस्त है। दोषग्रस्त (दूषित) हेतु से शब्द के नित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

समाधान— न, तेषामपीति । ए एवाऽयं शङ्खनादः— इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा से शंखनादों की भी नित्यता रहने से श्रावणत्व हेतु में व्यभिचारित्व नहीं है। तेषामपि प्रत्यभिज्ञया नित्यत्वात् अर्थात् ध्वनियों का भी नित्यत्व प्रत्यभिज्ञा से सिद्ध है।

यदि तेष्विति। यदि उनमें प्रत्यभिज्ञा नहीं है, तो ध्वन्यन्यत्वे सति अर्थात् ध्वनि-भिन्नत्वे सति— यह विशेषण जोड़ना चाहिये था, जिससे व्यभिचार दोष न होता। यदा च अनित्यत्वं ध्वनीनां तदेति— इस ग्रन्थ से पार्थसारथि मिश्र अपना मत बता रहे हैं— जब ध्वनियों की अनित्यता है, तो ध्वनिरूप कार्य किसी आश्रय के बिना नहीं रह सकता। इसलिये ध्वनियों का कोई आश्रभूत द्रव्य होना ही चाहिये। जैसे घटरूप कार्य का आश्रयभूत द्रव्य कपालद्वय हैं। **तस्य च अनेकत्वे प्रमाणाऽभावात् इति।** वह द्रव्य एक ही है; क्योंकि ध्वनियों के आश्रयभूत द्रव्य के अनेक (बहुत) होने में कोई प्रमाण नहीं है।

लाघव की दृष्टि से ध्वन्याश्रय द्रव्य ही है और वह एक ही है— यह स्वीकार करना होगा। ध्वनि को आश्रित मानने पर भी उसका अन्तर्भाव क्या द्रव्य में या गुण में या कर्म में होगा? यह पूछने पर उत्तर में कहा गया है कि गुण में अन्तर्भाव होगा। यह पूर्व में बता चुके हैं– ध्वनि का आश्रय द्रव्य है और वह एक है। यदि ध्वनि को भी द्रव्य मान लिया जाय तो वह एक द्रव्य के आश्रित नहीं हो सकता; क्योंकि द्रव्यस्य अनेक-द्रव्याश्रितत्वनियमात् अर्थात् कोई भी द्रव्य अनेक द्रव्याश्रित रहने का नियम है। जैसे– घटरूप द्रव्य अनेक कपालद्रव्य के आश्रित रहता है तथा पटरूप द्रव्य भी अनेक तन्तुरूप द्रव्य के आश्रित रहता है। अत: ध्वनि भी अनेक द्रव्याश्रित ही है, वह (ध्वनि) स्वयं द्रव्य नही है। इस रीति से ध्वनि में द्रव्याऽन्यत्व प्राप्त होता है।

प्रश्न— उसका (ध्वनि का) अन्तर्भाव कर्म में क्यों नहीं करते?

उत्तर— ध्वनि का अन्तर्भाव कर्म में इसलिये नहीं हो सकता कि शब्दस्य संयोग-विभागयोरनपेक्षकारणत्वाऽभावादकर्मत्वे सति पारिशेष्याद् गुणत्वमेव ध्वनीनां भवति। अभिप्राय यह है— शब्दस्य = ध्वने:। ध्वनि के संयोग और विभाग की निरपेक्षकारणता नहीं है और कर्म उसे कहते हैं, जो संयोग-विभाग के प्रति अन्याऽनपेक्ष कारण हो। कहा भी है— एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागयोरनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्। तथाच ध्वनि में संयोगविभागनिरूपिताऽनपेक्षकारणता के न होने से अथवा संयोगेत्यादि एक द्रव्य में अर्थात् एक द्रव्य का आश्रय करके वह ध्वनि नहीं रह सकता। अत: ध्वनि को द्रव्य से पृथक (भिन्न) ही मानना होगा। इसी प्रकार शब्द भी कर्म से पृथक् (भिन्न) है; क्योंकि संयोग-विभाग की जिसे अपेक्षा रहती है उसी को कर्म कहते हैं। जैसा कि वैशेषिक सूत्रकार कणाद महर्षि ने कहा है— 'एकं द्रव्यगुणं संयोग-विभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्' (वै. दर्श. सू. १।१।१७)।

एवञ्च शब्द, कर्म से भी भिन्न (पृथक्) है। इस कारण परिशेषन्याय से ध्वनियों का गुणत्व ही सिद्ध होता है।

(परिशेषन्यायेन ध्वने: वायुगुणत्वम्)

तत्र पार्थिव भेर्यादिगुणत्वे, तरङ्गाद्याप्यद्रव्यगुणत्वे वाश्रवणप्राप्यसम्भवात्

न तद्ग्राह्यत्वं सिध्येत्। तस्मात् न पृथिव्यादिगुणत्वम्। वायुगुणत्वं तु युक्तम्। वीणामुखशंखादिसंयोगात् भेरी-दण्डसंयोगादन्यतो वा निष्पद्यमाना वायस्तच्छब्द विषेगुणका निष्पन्नाः सर्वासु दिक्षु प्रविशमानाः श्रोत्रेण संयुज्यन्ते, ततश्च संयुक्त-समवायात् तद्गतः शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते।

यस्मादेव वायुगुणः शब्दः, तस्माद् यत् कैश्चित् उच्यते— शब्द-लिङ्गमाकाशम् इति तन्निरस्तम्। वर्णानान्तु नित्यानां द्रव्यत्वमेवा-ऽङ्गीक्रियते।

उपर्युक्त मूलग्रन्थ के द्वारा ध्वनियों में गुणत्व की सिद्धि होने पर पृथिवी आदि द्रव्यों में से किस द्रव्य में उस ध्वनि का सम्बन्ध होगा? यह प्रश्न होने पर ग्रन्थकार अपने विचारें के अनुसार वायु का गुण होगा— इस तथ्य को तत्र पार्थिवभेर्यादि गुणत्वे-- इस उपर्युक्त ग्रन्थ से बता रहे हैं। पृथ्वी का गुण मानने पर ध्वनि की सर्वत्र उपलब्धि नही हो सकेगी; क्योंकि श्रवणेन्द्रिय से उसका संयोग (सम्बन्ध) होना सम्भव नही है। अथवा तरङ्ग आदि जलीय द्रव्य का गुण मानने पर भी श्रवणेन्द्रिय की प्राप्ति अर्थात् संयोगसम्बन्ध न होने के कारण वह (ध्वनि) श्रवणेन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय भी नहीं हो सकेगा। अतः ध्वनि को पृथ्वी आदि का गुण नहीं माना जा सकता; किन्तु वायुगुणत्वं तु युक्तम्– वायु का गुण मानना ही उचित होगा।

वीणामुख-शंखादिसंयोगादिति । ध्वनि को वायु का गुण मानना ही उचित है— इस उक्त वाक्य का ही उपपादन से कर रहे हैं। शंखादि के संयोग से अथवा भेरी-दण्ड संयोग से होने वाले शब्दविशेष ही जिनका गुण है, ऐसे वायु भी दिशाओं में प्रविष्ट होकर श्रवणेन्द्रिय से संयुक्त होते हैं, उस कारण स्वसंयुक्तसमवाय से वायुगत शब्द ही श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाता है; क्योंकि वायु का गुण है— शब्द। इस कथन से वैशेषिकदर्शन के विद्वानों ने जो कहा है कि शब्दलिङ्ग आकाश है उसका खण्डन हो जाता है।

वीणामुखशङ्खादि संयोगात् तच्छब्दविशेषगुणकाः अर्थात् ध्वनिविशेषगुणवन्तः एव उत्पन्नः वायवः श्रोत्रिण संयुज्यन्ते श्रोत्रसंयुक्तेषु च वायुषु तद्गुणभूताः ध्वनयः तत्र समवेता इति संयुक्तसमवायात् सन्निकर्षात् तद्गतः अर्थात् वायुगतः अर्थात् ध्वनिः श्रोत्रेण गृह्यते।

ध्वनि को आकाश का गुण मानने वाले वैशेषिकों का खण्डन— यस्मादेव वायु-गुणः शब्दः तस्मात् यत् कैश्चित् उच्यते— शब्दलिङ्गमाकाशम् इति तन्निरस्तम् । वर्णानां तु नित्यानां द्रव्यत्वमेव अङ्गीक्रियते– यह कहकर वर्णो में द्रव्यत्व की सिद्धि की जा रही है।

(वर्णानां द्रव्यत्व-साधनम्)

नन्वेषामपि शब्दत्वात् ध्वनिवद् गुणत्वानुमानमिति चेत्? न। वर्णा न

गुणाः ध्वन्यन्यत्वे सति श्रावणत्वाच्छब्दत्ववत् दिग्वत् कालवच्चेति प्रतिसाधनसद्भावात्। यथाच दिक्कालयोः श्रावणत्वम्, तथा प्रागेवोक्तम्। यत्तु स्पर्शविरहित्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वाद्रूपादिवच्छब्दस्य गुणत्वमिष्यते, तस्याऽपि यथोक्तमेव प्रतिसाधनमित्यास्ता तावत्। तस्माद् ह्यस्तनाऽद्यतनयोः प्रत्यभिज्ञानाद् वर्णानां न तावत् प्रत्युच्चारणमन्यत्वम्। एवञ्चोच्चारणं शब्दस्य न कारणम्, किन्त्वभिव्यञ्जकम् इति सिद्धम्। न चोच्चारणादन्यत् कारणं सम्भवतीत्यकार्यत्वम्, अत एवाऽविनाशान्नित्यत्वसिद्धिः। इदमेव हि नित्यत्वम्— यत्स्वरूपसद्भावे सत्युत्पत्तिविनाशरहितत्वम्।

।। इति षष्ठं शब्दनित्यताऽधिकरणं समाप्तम् ।।

शङ्का— वर्णा गुणाः शब्दत्वात् ध्वनिवत् अर्थात् वर्ण गुण हैं, शब्दत्व हेतु से ध्वनि में गुणत्व की कल्पना जैसे की जाती है, वैसे ही शब्दत्व हेतु से वर्णों से भी गुणत्व का अनुमान कर लीजिये।

समाधान— न, वर्णा न गुणाः ध्वन्यन्यत्वे सति श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्, दिग्वत्, कालवत् च, इति प्रतिसाधनसद्भावात्। अर्थात् वर्णों को गुण नहीं कह सकते, उन्हें गुण न मानने में अनुमान ही प्रमाण है। तथाहि– वर्णा न गुणाः ध्वन्यन्यत्वे सति श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्, दिग्वत्, कालवत् च इति प्रतिसाधनसद्भावात्। वर्णों को गुण शब्द से नहीं कह सकते; क्योंकि वे ध्वनि से भिन्न हैं तथा वे श्रवण के विषय होते हैं, जैसे— शब्दत्व। येन इन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनैव इन्द्रियेण तन्निष्ठा जातिः तद्भाव गृह्येते— यह नियम है। इस सन्दर्भ में दिक् और काल को भी दृष्टान्त के रूप में दिया जा सकता है। प्रतिसाधनसद्भावात् इस प्रतिसाधन = सत्प्रतिपक्ष हेतु के विद्यमान होने से। जैसे दिशा और काल में श्रावणत्व है। अतः वर्णात्मक शब्द गुण नहीं है, अपितु वह द्रव्य है।

प्रश्न— नैयायिक विद्वानों ने शब्द में गुणत्व को अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया है। वर्णा गुणाः शब्दत्वात् ध्वनिवत्— इस अनुमान प्रयोग से वर्णों में भी गुणत्व क्यों नहीं माना जा सकेगा? अनुमान इस प्रकार किया जायेगा—शब्द गुण है, स्पर्शरहित होने से तथा एकेन्द्रिय ग्राह्य होने से, रूप आदि के समान। शब्दो गुणाः स्पर्शरहितत्वे सति एकेन्द्रियग्राह्यत्वात् रूपादिवत् । इस अनुमान से नैयायिकों ने शब्द को गुण के रूप में स्वीकार किया है।

उत्तर— न, वर्णा न गुणाः ध्वन्यन्त्वे सति श्रावणत्वात्, शब्दत्ववत्, दिग्वत्, कालवत् चेति । प्रतिसाधनसद्भावात् । यद्यपि दिक् को स्वतन्त्र रूप से श्रोत्रग्राह्यत्व नहीं है, तथापि शब्द का ग्रहण (ज्ञान = सुनाई देने पर) तद्विशेषण के रूप में दिक् = दिशा

का ज्ञान भी श्रोत्र से ही हो जाता है, इस तथ्य का सभी को अनुभव है। उस कारण उसे स्वीकार किया जाता है, काल के समान। जैसे काल का ज्ञान स्वतन्त्र रूप से श्रोत्रेन्द्रिय से नहीं होता है, किन्तु श्रोत्र विषयीभूत शब्दों का ग्रहण होने पर तद्विशेषण के रूप में दिक् (दिशा) का श्रोत्र से ग्रहण होना असम्भव नहीं है, अर्थात् सम्भव है। अस्यां दिशि शब्दः– इस प्रकार दिग्विशिष्ट शब्द का ग्रहण सभी को होता है। अन्यथा श्रोत्रेन्द्रिय से दिशा का ज्ञान न होने पर अस्यां दिशि शब्दः– यह प्रतीति नहीं हो सकेगी; किन्तु केवल शब्दः– इतनी ही प्रतीति होगी। श्रोत्रातिरिक्त अन्य किसी इन्द्रिय से हो जाएगी— कहना उचित नहीं है; क्योंकि शब्द का ग्रहण (ज्ञान) अर्थात् प्रतीति श्रोत्रेन्द्रिय से ही होती है; क्योंकि उपर्युक्त नियम के अनुसार शब्दविशेषणीभूण जो दिक् (दिशा) है, उसका ज्ञान (ग्रहण) भी श्रोत्रेन्द्रिय से ही होता है। एवञ्च अस्यां दिशि शब्दः— ऐसा विशिष्ट ज्ञान (ग्रहण) होना सम्भव है।

शङ्का— श्रोत्रेन्द्रिय अपने से सम्बद्ध का ही ग्राहक अर्थात् ज्ञान कराता है, अतः ध्वनि की उत्पत्ति के देश (स्थान) का ग्रहण होना सम्भव ही नहीं है, एवञ्च तस्मिन् देशे शब्द इत्यादि प्रतीति का होना कैसे सम्भव हो सकता है? यह आशङ्का होने पर उसकी प्रतीति होने का उपपादन कर रहे हैं।

समाधान— जैसे काल का इन्द्रियों के द्वारा स्वतन्त्रतया ग्रहण (ज्ञान) नहीं होता, तथापि काल से सम्बद्ध विषयों का विशेषणीभूत काल का भी ज्ञान सभी इन्द्रियों से हो जाता है।

शङ्का— वर्णों में गुणत्व शब्दत्व के कारण भले ही न हो, तथापि वर्णाः गुणाः स्पर्शरहितत्वे सति एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात् रूपवत्— इस प्रकार अनुमान प्रमाण से गुणत्व हो सकेगा, तथापि उक्त अनुमान में भी एकेन्द्रियग्राह्यत्व मात्र यदि कहा जाय तो वायु में व्यभिचार होगा। स्पर्शरहितत्व मात्र कहने पर आकाश में व्यभिचार होगा। वह न हो, इसलिये दोनों दलों को (अर्थात् स्पर्शरहितत्वे सति एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्) कहा गया है। एवञ्च वर्णात्मक शब्द गुण नहीं है, किन्तु द्रव्य है।

शङ्का— नैयायिक विद्वानों ने अनुमान प्रमाण से शब्द को गुण माना है। इतना विचार ही पर्याप्त है, अतः यहीं पर विराम करते हैं। **तस्माद् ह्यस्तनाऽद्यतनयोरिति**। इसलिये कल और आज के वर्णों को वे ही ये वर्ण हैं— ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, उस कारण प्रत्येक उच्चारण में वर्णों की भिन्नता नहीं है। इस कारण वे ही वर्ण हैं—यह कहा जाता है। निष्कर्ष यह है कि उच्चारण शब्द की उत्पत्ति का कारण नहीं है, किन्तु वह (उच्चारण) शब्द का अभिव्यंजक है।

तस्याऽपि यथोक्तमेव प्रतिसाधनम् इत्यास्तां तावत् अर्थात् उक्त सप्रतिसाधन (सत्प्रतिपक्ष) से ही उक्त अनुमान का निरसन समझ लेना चाहिये। **तस्मादिति** । अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कथन से निष्कर्ष यह निकला कि शब्द की उत्पत्ति नहीं होती। उच्चारण से

शब्दोत्पत्ति नहीं होती। उच्चारण तो शब्द का अभिव्यञ्जक है। उच्चारणरूप अभिव्यञ्जक से शब्द की अभिव्यक्ति हुआ करती है। अत: शब्द को कार्य नही समझना चाहिये; क्योंकि जो उत्पन्न होता हैं, उसे कार्य कहते हैं और उत्पत्ति कभी भी विना कारण के नहीं होती। अर्थात् कारणविशेष से ही कार्यविशेष होता है। कारण का स्वरूप ही कार्यनियतपूर्ववृत्तित्व होता है। एवञ्च शब्द कार्यस्वरूप न होने से उसकी उत्पत्ति और विनाश होना भी कभी सम्भव नहीं है। अत: शब्द को अनित्य नहीं कहा जा सकता। उसे (शब्द को) सदा-सर्वदा नित्य ही कहना तथा समझना होगा। इस प्रकार शब्द का नित्यत्व अकाट्यरूपेण सिद्ध होता है।

प्रश्न— नित्य किसे कहते हैं? यह प्रश्न करने पर उत्तर यही होगा कि— इदमेव हि नित्यत्वम्। नित्य उसी को कहा जाता है— यत् स्वरूपसद्भावे सति उत्पत्तिविनाश-रहितत्वम् नित्यत्वम्— यह परिष्कृत स्वरूप है। अर्थात् नित्यत्व (नित्यता) यही है कि स्वरूप के रहने पर उत्पत्ति और विनाश का न होना।

शङ्का— उत्पत्ति विनाश के अभाव (राहित्य) को नित्य का स्वरूप मानने पर तुच्छ में अतिव्याप्ति दोष उपस्थित होगा।

समाधान— उस दोष के निवारणार्थ 'स्वरूपसद्भावे सति' इस सत्यन्त विशेषण को निविष्ट करना चाहिये, किन्तु उसे लक्षणघटक नहीं समझना है, किन्तु उसे परिचायक मात्र समझना है।

नैयायिक दार्शनिक विद्वानों ने नित्यत्व का यह लक्षण किया है— जो प्रागभाव का प्रतियोगी न होकर प्रध्वंस का भी प्रतियोगी नहीं होता, उसे नित्य समझना चाहिये। अभिप्राय यह है कि प्रागभावप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाऽप्रतियोगित्वं नित्यत्वम् । एवञ्च शब्द की न तो उत्पत्ति हैं और न विनाश ही है, उस कारण शब्द का नित्यत्व ही सिद्ध होता है। एवञ्च स्वरूपसद्भाव: उत्पत्ति-विनाशरहितत्वं च वर्णेष्वपि अस्त्येवेति तेषां सिद्धं नित्यत्वम्। अत: वर्णों की नित्यता में किसी प्रकार का और कोई भी सन्देह नही करना चाहिये।

।। इति षष्ठं शब्दनित्यताऽधिकरणं समाप्तम् ।।



सप्तमं वेदस्याऽर्थप्रत्यायकताऽधिकरणम्

वाक्याऽधिकरणम्, तद्भूताऽधिकरणं वा

उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्युरर्थस्याऽतन्निमित्तत्वात् ।। २४ ।।

[तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् ।। २५ ।।

लोके सन्नियमात् प्रयोगसन्निकर्षः स्यात् ।। २६ ।।]

यद्यपि पद-पदार्थसम्बन्धस्यापौरुषेयत्वाद् वृद्धव्यवहारादेवाऽर्थाऽवगतिः सिध्यति, तथापि वाक्यार्थरूपे धर्मे पुरुषसङ्केताऽनपेक्षत्वान्न किञ्चिन्मूलं सम्भवति इति अप्रामाण्यं धर्मे चोदनायाः। तथाहि—प्रत्येकं वा पदानि वाक्यार्थमवगमयेयुः, तत्संघातः वाक्यं वा पदार्था वा। न तावत् प्रत्येकं पदेभ्यो वाक्यार्थप्रतीतिर्दृश्यते, न पदानां वाक्यार्थविशेषैः सम्बन्धग्रहणमस्ति, न च सम्भवति, अनन्तत्वाद्वाक्यार्थानाम्। वेदार्थस्य च प्रमाणान्तराऽगोचरत्वात्, तेन सम्बन्धग्रहणमत्यन्ताऽसम्भाव्यम्। अनन्तवाक्यार्थसाधारणत्वाच्च पदार्थानां प्रत्येकं वाक्यार्थविशेष-प्रतिपादनमनुपपन्नम्।

अगृहीतसम्बन्धत्वादेव च पदसंघातवाक्यपदार्थानामपि न सम्भवति प्रत्यायकत्वम्। न चाऽगृहीतसम्बन्धः शब्दोऽर्थं प्रत्याययति, बाला-नामप्रतीतेः, प्रतीतौ व्युत्पत्तिवैयर्थ्याच्च।

यद्यपीति । यद्यपि शब्द और शब्दार्थ सम्बन्ध नहीं हैं, तथापि वाक्यार्थप्रत्यय = वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं हो पाता, अतः चोदना = विधिवाक्य को धर्मज्ञान कराने में प्रमाण कैसे माना जा सकता है? यह आक्षेप उक्त सूत्र 'उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्युः' से किया जा रहा है। सूत्रगत उत्पत्तौ = औत्पत्तिकत्वेऽपि अर्थात् नित्यत्वेपि अर्थात् शब्द और शब्दार्थ सम्बन्ध के नित्य रहने पर भी वह वेदवाक्य, वेदवाक्यार्थरूप धर्म का वाचक = प्रति-पादका नहीं हो सकता। गृहीत शक्तिवाले = गृहीत सम्बन्ध वाले पदों के अर्थमात्र से पदों में वाक्यार्थप्रतीति की कारणता मानना असम्भव है, उस कारण वाक्य में तो वाक्यार्थ-ज्ञान कराने की शक्ति ही नहीं मानी जाती, जिससे वाक्य में अर्थप्रतिपादकत्व को कहा जा सके। अपनी शास्त्रदीपिका के व्याख्याकार श्रीपार्थसारथिमिश्र ने स्वयं ही न्यायरत्नाकर नामक व्याख्या में कहा भी है— प्रकृतानां शब्दार्थसम्बन्धानामौत्पत्तिकत्वेऽपि वेदवाक्यार्थस्य धर्मस्य अवचनाः = अप्रतिपादकाः = अप्रमाणमिति यावत्। वर्ण-पदादीनां प्रत्येकसमुदाय-

विकल्पितानां वाक्यार्थप्रत्ययम्प्रति हेतुभावाऽनुपपत्ते, न च पदार्थानां तन्निमित्तभावोऽसम्बन्धात्, तदिदमुक्तम्— अर्थस्याऽतन्निमित्तत्वात् इति।

वेदवाक्यं वेदवाक्यार्थस्य धर्मस्याऽवचनमप्रतिपादकम्, पदार्थमात्रैर्गृहीतसम्बन्धानाम्पदानां वाक्यार्थप्रतीतिकारणत्वाऽसम्भवात्, वाक्यस्य तु शक्तिरेव न गृह्यते, येन वाक्यस्य अर्थप्रतिपादकत्वं स्यात् इत्यर्थस्य अतन्निमित्तत्वम् चोदनालक्षणवाक्याऽहेतुकत्वं प्राप्तमिति भाव:। अवचना इति चोदनानां विशेषणम्। रामेश्वरोपाध्यायस्त्वत्र सूत्रे वाऽवचना: इत्यत्र वा वचना: इति पाठोऽभिमत:। पूर्वसपक्षसूत्रमिदम्। तथान्यवार्त्तिकम्—

पदार्थ-पदसम्बन्धनित्यत्वे साधितेऽपि व: ।
नैव वेदप्रमाणत्वं वाक्यार्थम्प्रति सिध्यति ।। इति।

मूलगत 'यद्यपि' से आरम्भ कर ग्रन्थकार पार्थसारथि मिश्र प्रस्तुत अधिकरण की व्याख्या स्वयं कर रहे हैं— पद-पदार्थयो: सम्बन्धस्य अपौरुषेयत्वात् = अपौरुषेयत्वेऽपि नित्यत्वेऽपि अर्थस्य अवगति: = सङ्केतग्रहणं वृद्धव्यवहारादेव भवतीति सङ्केतग्रहद्वारा पदेभ्य: पदार्थावगतिस्तु सम्भवति, तथापि वाक्यार्थेन सह सङ्केतग्रहाऽभावात् पुरुषसङ्केताऽनपेक्षत्वाच्च वाक्यार्थावगतिर्न सम्भवति, धर्मश्च वाक्यार्थरूप एव तत्राऽप्यलौकिक इति न पुरुषसङ्केतसम्भवनेति धर्मस्य पुरुषसङ्केताऽनपेक्षत्वात् = पुरुषसङ्केताऽगोचरत्वात् न किञ्चिदपि मूलमस्ति येन सङ्केतग्रहद्वारा चोदनानां धर्मे प्रामाण्यं स्यात् ।

अर्थात् पद-पदार्थसम्बन्ध अपौरुषेय (नित्य) रहने पर भी अर्थ का ज्ञान (शक्तिग्रह) वृद्धों के व्यवहार से ही होता है। एवञ्च पदों से ही पदार्थज्ञान होता है। तथापि वाक्यार्थ के साथ सङ्केतग्रह (शक्तिग्रह) न होने के कारण और पौरुषेय सङ्केत की अपेक्षा भी न रहने से वाक्यार्थज्ञान का होना असम्भव है और धर्म तो वाक्यार्थरूप है, किन्तु वह अलौकिक है, अत: उसे जानने के लिये पौरुषेय सङ्केत की अपेक्षा भी नहीं है। अत: धर्म के अस्तित्व में कोई भी मूल कारण नहीं है, जिससे सङ्केतग्रह के द्वारा चोदनावाक्यों (विधिवाक्यों) को धर्मबोधन में प्रमाण कहा जाय अर्थात् धर्मबोधन में विधिवाक्यों (चोदनावाक्यों) को अप्रमाण ही कहना चाहिये।

यद्यपीति। संक्षेप से प्रतिपादित वाक्यार्थप्रतीति की अनुपपत्ति को बताते हैं— 'तथाहि' इत्यादि ग्रन्थ से। यद्यपि पद और पदार्थों का सम्बन्ध अपौरुषेय होने से अर्थ का ज्ञान वृद्धजनों के व्यवहार से ही सिद्ध हो जाता है, तथापि वाक्यार्थरूप धर्म में पौरुषेय सङ्केत की अपेक्षा न रहने से वाक्यार्थज्ञान का कोई मूल (कोई कारण) नहीं बताया जा सकता। इसलिये विधिवाक्य को (चोदनात्मक वाक्य को) धर्मबोधन में अप्रमाण ही कहना चाहिये। इसी कथन का उपपादन 'तथाहि प्रत्येकं वा पदानि' ग्रन्थ से कर रहे हैं। वाक्य में पद हैं, वे प्रत्येक वाक्यार्थ का बोध कराते हैं, अथवा पदसंघातात्मक वाक्य अर्थ का बोध कराते हैं, किंवा पदार्थ ही वाक्यार्थ का ज्ञान कराते हैं— ये तीन विकल्प (पक्ष) हैं। श्लोकवार्त्तिककार श्री भट्टपाद कहते हैं—

पदार्थ-पद-सम्बन्धे नित्यत्वे साधितेति वः ।
नैव वेदप्रमाणत्वं वाक्यार्थम्प्रति सिद्ध्यति ।। (श्लो० वा०)

इनमें प्रथम दो विकल्प (दो पक्ष) पूर्वपक्ष के हैं। अन्तिम सिद्धान्त पक्ष का है। यहाँ शङ्का यह होती है कि आकृतिवाद में पदार्थ नित्य हैं— यह सिद्ध किया गया है। अत: पद-पदार्थ का सम्बन्ध अपौरुषेय है— यह कहना उचित नहीं है; किन्तु उक्त शङ्का का समाधान इस प्रकार किया जायगा—

शब्दनित्यत्व के समान आकृति की नित्यता तथा एकत्व की सिद्धि प्रत्यभिज्ञा से की जाती है। जिस पुरुष ने एक गोव्यक्ति को देखा है, उसे अन्य गोव्यक्ति को देखने पर यह वही है— ऐसा निश्चय होता है, किन्तु यागनिष्ठ स्वर्ग फलसाधनत्व रूप जो अंश है, वही तो धर्म है और वही वाक्यार्थ है। उसे एक पद से तो नहीं कह सकतें। अत: सङ्केत का ग्रहण (शक्तिज्ञान) न होने से वाक्यार्थ निर्मूल है। उसी को प्रदर्शित करने के लिये जो कारण संभाव्यमान हो सकते हैं। उन्हें अंकित कर उनका निराकरण कर रहे हैं– प्रत्येक पद से वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि पदों का वाक्यार्थविशेषों के साथ सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है। उनका वाक्यार्थविशेषों के साथ सम्बन्ध होना सम्भव भी नहीं है; क्योंकि वाक्यार्थ अनन्त है और वेदार्थ जो है, वह प्रमाणान्तरों का विषय नहीं है। उस कारण उन प्रमाणों से सम्बन्ध का ग्रहण (ज्ञान) होना कभी भी सम्भव नहीं है; क्योंकि वाक्यार्थ अनन्त हैं, उनका अन्त ही नहीं है। उन अनन्त वाक्यार्थों के पदार्थ साधारण हैं। वे प्रत्येक वाक्यार्थविशेष को नहीं बता सकते और सम्बन्धग्रह न होने से ही पद-समूहरूप वाक्य भी वाक्यार्थ का बोधक नहीं हो सकता और पदार्थ भी वाक्यार्थ को नहीं बता सकते तथा जिस शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध गृहीत नहीं है, वह शब्द भी अर्थ का बोधक नहीं हो सकता; क्योंकि बालकों को अर्थप्रतीति नहीं होती। यदि अर्थप्रतीति होती हो तो व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) की आवश्यकता ही न होती अर्थात् शक्तिग्रह (शक्ति-ज्ञान) का होना व्यर्थ ही माना जाता।

यद्यपि पदमज्ञातसम्बन्धं न प्रत्यायकं, तथापि पदसंघातो वा पूर्व-पूर्व-वर्णजनितसंस्कारसहितो वा वाक्यान्त्यवर्णो वा निरवयवो वाक्यस्फोटो वा सम्बन्धग्रहणाऽनपेक्ष एव वाक्यार्थं प्रत्याययिष्यतीति चेत्? न, अव्युत्पन्नानामपि प्रसङ्गात्, व्युत्पत्तिवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्चेत्युक्तम्। अथ पदार्थवेदनमपि वाक्यार्थप्रतीतावङ्गमतस्तद् रहितानामप्रतीतिर्न दोषः, व्युत्पत्तिश्च पदार्थानां नाऽनर्थिकेत्युच्यते, तदयुक्तम्। यदि हि पदेभ्योऽ-र्थान्तरभूतं वाक्यं पदार्थव्यतिरिक्तं वाक्यार्थं साक्षादेव वाचकतया प्रतिपादयति, कस्तदा पदार्थवेदनस्योपयोगः? तदनुपयोगे च पदार्थ-व्युत्पत्तिरनर्थिका वाक्यार्थम्प्रतिपित्सताम्। न च पदार्थाद्वाक्यार्थाऽ-वगतिः असम्बन्धात्।

शङ्का— अगृहीतशक्ति पद यद्यपि अर्थ का बोध नहीं कराता, तथापि पदसमूह अथवा पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से जन्य जो संस्कार उनके सहित वाक्य का अन्तिम वर्ण अथवा निरवयव वाक्य-स्फोट सम्बन्ध-ग्रहण की अपेक्षा बिना किये ही वाक्यार्थ का ज्ञान करा देता है।

समाधान— नहीं, अन्यथा अव्युत्पन्न पुरुषों को भी ज्ञान होने लगेगा और व्युत्पत्ति की आवश्यकता न होने से उसे व्यर्थ कहने का भी प्रसङ्ग प्राप्त होगा। इसे पहिले ही बता चुके हैं। **अथ पदार्थवेदनमपीति** । यदि यह कहें कि पदार्थज्ञान भी वाक्यार्थज्ञान का अंग है, उस कारण जिस व्यक्ति को पदार्थज्ञान नहीं है, उसे पदार्थज्ञानरूप अङ्ग के न रहने से वाक्यार्थज्ञान का न होना कोई दोष नहीं कहलायेगा और जो यह कहा गया है कि पदार्थों की व्युत्पत्ति (ज्ञान) भी अनर्थक (व्यर्थ) नहीं है— यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि यदि वाक्य को पदों से भिन्न (अन्य पदार्थ) कहें तो वाक्यार्थ पदार्थ से भिन्न होने के कारण वाक्य साक्षात् ही वाक्यार्थ का वाचक होकर उसे (वाक्यार्थ को) बताता है तब पदार्थज्ञान का उपयोग कहाँ होगा? अर्थात् पदार्थज्ञान की आवश्यकता कहीं होगी ही नहीं। एवञ्च पदार्थज्ञान का उपयोग न होने से जो लोग वाक्यार्थ को जानना चाहते हैं, उनके लिये पदार्थ की व्युत्पत्ति (ज्ञान) भी व्यर्थ हो जायगी।

शङ्का— जैसे– पद-पदार्थ का सम्बन्ध होता है, वैसे पदार्थ और वाक्यार्थ का भी सम्बन्ध हो सकता है।

समाधान— नहीं, पदार्थ और वाक्यार्थ का सम्बन्ध नहीं होता। पदार्थ और वाक्यार्थ का सम्बन्ध न होने से पदार्थों का भी परस्पर सम्बन्ध नहीं होता। अत: वाक्यार्थ का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। निष्कर्ष यह है कि पदसमूहरूप वाक्यों का तत्तद् वाक्यार्थों के साथ ही सम्बन्ध रहने से यद्यपि उनमें साधारणत्व नहीं है, तथापि वाक्यार्थ के साथ उनके सम्बन्ध का ज्ञान भी नहीं है। इसी तथ्य को ग्रन्थकार श्रीपार्थसारथि ने अगृहीतसम्बन्धत्वादेव ग्रन्थ से बताया है।

प्रश्न— अगृहीतसम्बन्ध वाले शब्द से ही अर्थबोध– क्यों नहीं होता?

उत्तर— न च अगृहीतसम्बन्ध: शब्द: अर्थम्प्रत्याययति, बालानामप्रतीते:, प्रतीतौ व्युत्पत्तिवैयर्थ्याच्च।

अर्थात् जिस शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होता, वह शब्द भी अपने उस अर्थ का बोधक नहीं हो पाता; क्योंकि बालकों को अर्थप्रतीति (ज्ञान) नहीं होती। यदि प्रतीति होती हो तो शक्तिग्रह (शक्तिज्ञान) को व्यर्थ ही मानना होगा।

प्रश्न— **यद्यपि पदमज्ञातसम्बन्धमिति** । यद्यपि अगृहीतशक्तिक पद अर्थ का बोधक नहीं होता, तथापि पदसंघात (पदसमूह) अथवा पूव-पूर्व वर्णों के अनुभव से जन्य (उत्पन्न) जो संस्कार उनके सहित वाक्य का अन्तिम (अन्त्य) वर्ण अथवा निरवयव वाक्य-स्फोट भी सम्बन्धज्ञान की अपेक्षा बिना किये ही वाक्यार्थ का ज्ञान करा देता है—

ऐसा यदि कहें तो क्या हानि है?

उत्तर— ऐसा प्रश्न करना उचित प्रतीत नहीं हो रहा है; क्योंकि तब तो अव्युत्पन्न लोगों को भी ज्ञान होने लगेगा और 'व्युत्पत्तिवैयर्थ्यप्रसंगात् च' शक्तिज्ञान को निरर्थक कहने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

शङ्का— पदार्थ की प्रतीति के होने पर ही वाक्यार्थ की प्रतीति का होना दृष्टिगोचर होता है, उस कारण यह कहना होगा कि पदार्थप्रतीति जो है, वह वाक्यार्थप्रतीति की अंग है। अत: पदों का पदार्थ के साथ सम्बन्धज्ञान (सम्बन्धग्रह) न होने से तद्रहितानाम् = पदार्थप्रतीति से रहित अर्थात् पदार्थप्रतीति (पदार्थज्ञान) जिन्हें नहीं हुई है, उन लोगों को वाक्यर्थ-प्रतीति का न होना कोई दोष नहीं है, अत एव व्युत्पत्ति अर्थात् सम्बन्धग्रह (सम्बन्धज्ञान), भी व्यर्थ नहीं है; क्योंकि वह (सम्बन्धग्रह) वाक्यार्थप्रतीति के अंगभूत पदार्थप्रतीति के प्रति कारण माना गया है।

समाधान— **तदयुक्तम् इति** । यदि पदों से वाक्य का और पदार्थों से वाक्यार्थ का भेद (भिन्नता) हो तथा साक्षादेव अर्थात् पदार्थोपस्थिति की अपेक्षा विना किये ही वाक्य से वाक्यार्थ की प्रतीति हो जायगी अर्थात् वाक्य वाक्यार्थ का (अपने अर्थ का) बोध = ज्ञान करा देगा, तब पदार्थवेदन = पदार्थोपस्थिति के होने का कोई उपयोग ही नहीं होगा अर्थात् उसका अनुपयोग ही कहना होगा। जैसे घटज्ञान के होने में पट की उपस्थिति की अपेक्षा नहीं रहती, उसी तरह पदार्थोपस्थिति का उपयोग न रहने पर पदार्थोपस्थिति के होने में कारणीभूत जो पदार्थव्युत्पत्ति = पदार्थज्ञान है, वह भी अनर्थक = व्यर्थ ही होगा। तृतीय पक्ष (कल्प) का निराकरण यद्यपि हो चुका है, तथापि उसका भी स्मरण, पुनरपि ग्रन्थकार करा रहे है— **न च पदार्थाद्वाक्यार्थावगतिः, असम्बन्धात् इति** ।

शङ्का— जो पूर्व कह चुके हैं— 'न च पदार्थाद् वाक्यार्थावगतिरसम्बन्धात् इति' वह उचित नहीं है; क्योंकि यदि वाक्य को पदों से भिन्न कहें तो वाक्यार्थ को भी पदार्थ से भिन्न कहना होगा। वाक्य साक्षात् ही वाक्यार्थ का वाचक बनकर उसे बताता है, तब पदार्थज्ञान की क्या आवश्यकता है? और उस पदार्थज्ञान का उपयोग न होने से जो व्यक्ति वाक्यार्थ को जानना चाहता है, उसके लिये तो पदार्थ की व्युत्पत्ति (ज्ञान) भी व्यर्थ हो जायेगी।

शङ्का— यदि कोई शङ्का करे कि जैसे पद-पदार्थ का सम्बन्ध-होता है, उसी प्रकार पदार्थ और वाक्यार्थ का सम्बन्ध भी क्या नहीं हो सकता?

समाधान— नहीं, पदार्थ और वाक्यार्थ का सम्बन्ध नहीं होता, उस कारण तथा पदार्थों का भी परस्पर सम्बन्ध न हो पाने से वाक्यार्थ का ज्ञान भी सम्भव नहीं है।

ननु सामान्यं पदार्थः, विशेषो वाक्यार्थः सम्बन्धश्च सामान्यविशेषलक्षणः। सत्यम्। नियतविशेषावगतिस्तु न सिध्यति, सर्वविशेषसाधारणत्वात् सामान्यस्य।

ततश्च गामानयेति पदावगतमानयनसामान्यं विशेषाऽऽक्षेपोन्मुखमपि न गोरेवाऽऽनयनमाक्षिपेत्। ततश्च न गोरेवाऽऽनयनं प्रतीयेत। न चाऽऽकाङ्क्षा-सन्निधि-योग्यत्वैर्नियमः, सत्स्वपि तेष्वदर्शनात्। नहि प्रत्यक्षेण गामुपलभ्य कस्येयम् इति जिज्ञासमानः सन्निहितमपि देवदत्तं स्वामिनमध्यवस्यति। तस्मान्निर्मूलो वाक्यार्थः सङ्केतिकः। न च वेदे सङ्केतयिताऽस्तीत्यप्रामाण्यम्।

शङ्का— यह जो कहा था कि 'न च पदार्थाद्वाक्यार्थाऽवगतिः असम्बन्धात्' पदार्थ के साथ वाक्यार्थ का सम्बन्ध न रहने से वाक्यार्थबोध (शब्दबोध) नहीं हो सकता—यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि सम्बन्ध तो विद्यमान ही है। तथाहि अनन्त वाक्यार्थ के प्रति पदार्थों का होना साधारण है, उस कारण गवादि व्यक्तियों का और आनयन आदि पदार्थों का अन्वय (सम्बन्ध) रहता है, एवञ्च सभी वाक्यार्थों में समानता प्रतीत होती है। वाक्यार्थ असाधारण होने से उसमें विशेषता रहती है। अन्य वाक्यार्थ में अन्वयित्व न होने से पदार्थ और वाक्यार्थ का सम्बन्ध सामान्य-विषयरूप ही है, सामान्यरूप से उपस्थित पदार्थों का विशेषरूप वाक्यार्थ बोधक होना सम्भव है, अतः पदार्थ से वाक्यार्थबोध क्यों नहीं हो सकेगा?

उपर्युक्त कथन का किञ्चित् स्वीकार करते हुए उसका खण्डन कर रहे हैं— **सत्यम् इति** । पदार्थ सामान्य है और वाक्यार्थ विशेष है और दोनों का सम्बन्ध सामान्य-विशेषलक्षण ही है, तथापि नियतविशेषस्य = (तद्विशेषस्य) तद्विशेष की, अवगतिः = ज्ञान (बोध) की तो सिद्धि नहीं हो सकेगी; क्योंकि सामान्य सभी विशेषों के प्रति साधारण है। अतः गामानय = गाय को ले आओ— इस पद से ज्ञात हुआ आनयन सामान्य यद्यपि विशेष का आक्षेप चाहता है, तथापि गाय के ही आनयन का आक्षेप नहीं करता। इसलिये गाय के ही आनयन की प्रतीति नहीं होगी।

शङ्का— वाक्यार्थ के ज्ञान होने में आकाङ्क्षा, सन्निधि और योग्यता को कारण माना जाता है, उनसे विशेष वाक्यार्थ का ज्ञान निश्चित रूप से हो जायेगा।

समाधान— नहीं; आकाङ्क्षा, योग्यता आदि के रहने पर भी नियत शाब्दबोध नहीं हो पाता। यह दोष सन्निधि के न रहने पर है, किन्तु शब्द की सन्निधि रहने पर उक्त दोष नहीं हो सकता। इस उक्त को ही स्पष्ट कर रहे हैं— **न हि प्रत्यक्षेण इति** । गाय को प्रत्यक्ष देखकर 'यह किसकी है' यह जानने की इच्छा रखने वाला पुरुष समीप खड़े हुए भी देवदत्त को 'यही उस गाय का स्वामी है' यह निश्चय नहीं कर पाता। तस्मात् वाक्यार्थ निर्मूल है अर्थात् पारिभाषिक (सांकेतिक) है।

शङ्का— चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः— यह लक्षण धर्म का है। चोदना भी वाक्य (विधिवाक्य) ही है, अतः उसी को वाक्यार्थज्ञान का कारण कहा गया है, तब वाक्यार्थ को निर्मूल कैसे कह सकते हैं?

समाधान— विधिवाक्य होने पर भी सम्बन्धग्रह (शक्तिग्रह) न रहने से वह वाक्यार्थ प्रतीति का कारूण नहीं है। इसलिये उसे साङ्केतिक कहा गया है। वेद में संकेतकर्त्ता कोई पुरुष ही नहीं है, उसे तो अपौरुषेय ही कहा जाता है। अतः वेदवाक्यों को अप्रमाण ही कहना होगा; किन्तु अनादि काल से उसका प्रामाण्य सम्पूर्ण विश्व में जगमगाता हुआ सर्वलोक प्रसिद्ध है। इसलिये वेदवाक्यों को किसी भी परिस्थिति में उन्हें अप्रमाण कहने की धृष्टता समस्त विश्व में न किसी ने की, न कर रहे हैं और न कोई करेगा— यह त्रैकालिक अबाधित (अकाट्य) सत्य है।

अथ वा वेदवाक्यानामपि पौरुषेयत्वमाश्रित्यपुरुषप्रामाण्यादेव प्रामाण्य-मङ्गीकर्तव्यम्। युक्तं च सर्ववाक्यानां पौरुषेयत्वदर्शनादेव वेदवाक्यानामपि पौरुषेयत्वम्। अथ पुरुषाणामीदृशेऽर्थे प्रामाण्यं न सम्भवति? ततोऽ-प्रामाण्यमेवाऽस्तु, नत्वनपेक्षं प्रामाण्यं सिध्यतीति पूर्वः पक्षः।

यदि वेदवाक्यों का अप्रामाण्य अभिमत नहीं है, तो वेदवाक्यों को पौरुषेय कहना ही होगा। तथाच वेदपुरुषस्येश्वरस्य प्रामाण्यात् अर्थात् वेदपुरुष ईश्वर आप्ततम = परम आप्त होने से वेदवाक्यों का भी प्रामाण्य सिद्ध हो ही जाता है। इसी तथ्य को ग्रन्थकार ने मूलगत 'अथवा' से प्रकट किया है।

उक्त पक्ष में ग्रन्थकार स्वयं अपनी सम्मति भी बता रहे हैं— **युक्तं च सर्ववाक्याना-मिति**। अन्यान्य वाक्यों के तुल्य वेदवाक्यों को भी पौरुषेय स्वीकार **कर पुरुष के प्रामाण्य** से ही वेद का प्रामाण्य मान लेने में भी कोई अनौचित्य नहीं है। यश्च यावत् वाक्य सभी पौरुषेय ही हो होते हैं, और वे प्रायः प्रमाण भी माने जाते हैं। उसी तरह वेदवाक्यों को पौरुषेयं मानने पर भी उनके प्रामाण्य में कोई हानि की सम्भावना नहीं की जा सकेगी। एवञ्च अन्य वाक्यों की तरह वेदवाक्य भी पौरुषेय ही है। वेदवाक्यों की पौरुषयता में अनुमानप्रयोग इस प्रकार किया जायेगा— वेदवाक्यं पौरुषेयं, वाक्यत्वात् महाभारत-रामायणादिवत्।

प्रश्न— अलौकिक वेदवाक्यार्थ के विषय में पुरुष का प्रामाण्य उपदेष्टृत्व (उप-देशकत्व) रूप होगा, किंवा पुरुषाधीन (पुरुषनिर्भर) प्रामाण्य होगा?

उत्तर— पुरुषाणाम् ईदृशे अर्थे प्रामाण्यं न सम्भवति। मानव प्राणियों का अतीन्द्रिय पदार्थों में प्रामाण्य होना, सम्भव नहीं है। अतः पुरुषाधीन प्रामाण्य नहीं है। ततः अप्रामाण्यमेव अस्तु। अतः वेदवाक्यार्थ अप्रमाण ही है। न तु मूलपुरुषाऽनपेक्षं प्रामाण्यं सिध्यति अर्थात् निरपेक्ष प्रामाण्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।

वेद का या तो अप्रामाण्य या पौरुषेयत्व— दोनों में से किसी अन्यतर पक्ष **का** स्वीकार तो अवश्य करना ही होगा।

इस प्रकार पूर्वपक्ष का उपपादन कर उस सन्दर्भ में जो कहा गया है— न पदानां

न वा पदार्थानां, न च वाक्यस्य, वाक्यार्थप्रतिपादकत्वं सम्भवति इति तस्य वाक्यस्य वाक्यार्थेन शक्तिग्रहसम्भवाद्वाक्यार्थप्रतिपादकत्वं सम्भवति; इसका परिहार (खण्डन) वैयाकरणों के मतानुसार दो पद्यों के द्वारा किया जाता है।

(वाक्यस्य वाक्यार्थबोधकत्वम्)

अत्र केचिदाहुः—

वाक्येनैव हि वाक्यार्थः साक्षादेवाऽभिधीयते ।
उपलक्षणतश्चाऽस्य सम्बन्धग्रहसम्भवः ।।५२।।

वाक्य से ही साक्षात् = पदार्थोपस्थिति की अपेक्षा बिना किये ही वाक्यार्थ बताया जाता है; क्योंकि वाक्य से ही वाक्यार्थप्रतीति का होना देखा जाता है अर्थात् पदसमुदायात्मक वाक्य ही संसर्गरूप वाक्यार्थ का साक्षात् अभिधान करता है। उपलक्षण से इनका संगतिग्रह होना सम्भव है।।५२।।

वाक्यं गोपदयुक्तं यत्तत् सास्नादिमदन्वितम् ।
वाक्यार्थं वदतीत्येवं व्युत्पत्तिः सुकरैव हि ।।५३।।

'गो' पद से युक्त वाक्य सास्नादि से युक्त हुए वाक्यार्थ को बताया है, इसलिये शक्तिग्रह होना सुकर (सम्भव) है।।५३।।

सत्यं व्युत्पत्तिरेवं स्यात्तथापि तु न वाक्यतः ।
वाक्यार्थाऽवगतिर्युक्ता तिरोभावेऽपि दर्शनात् ।।५४।।

आप ठीक कह रहे हैं। इस प्रकार शक्तिग्रह हो सकता है। तथापि वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान होना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि पदों का तिरोभाव होने पर भी वाक्यार्थ– होता है।।५४।।

पूर्वभागेषु वाक्यस्य विस्मृतेष्वपि दृश्यते ।
वाक्यार्थावगतिः पुंसां पदार्थस्मृतिशालिनाम् ।।५५।।

वाक्य के पूर्व भाग का विस्मरण होने पर भी (वाक्यांशरूप पदों का विस्मरण होने पर भी) पदार्थोपस्थिति जिनको हो चुकी है, उनको वाक्यार्थ का ज्ञान हुआ— यह दृष्टिगोचर होता है।।५५।।

वार्तिक में भी कहा है—

पदार्थानां च सामर्थ्यं गम्यमानमपह्नतम् ।
आनन्तर्यादि वाक्यार्थस्तद्धेतुत्वं न मुञ्चति ।।

वार्त्तिक की व्याख्या ग्रन्थकार आगे स्वयं ही करते हैं।

यथैव विस्मृतपूर्ववर्णानामन्तिमवर्णमात्रान्न पदार्थाऽवगतिर्भवति, तथैव वाक्यावयवेषु पूर्वपदेषु विस्मृतेषु वाक्यार्थावगतिर्न स्यात्। दृश्यते हि

विस्मृतपूर्वपदानामपि दीर्घतमेषु वाक्येषु वाक्यार्थाऽवगतिः। न च स्वरूपेण विस्मृतेऽपि स्मर्यमाणपदार्थवशादेव तद्वाचिपदयोगितां वाक्यस्याऽनुमाय ततो वाक्यार्थाऽवगतिरिति वक्तुं युक्तम्, अस्यां प्रणाड्यां प्रमाणाऽभावात्। अनुसन्धीयमानैरेव हि पदार्थैं, साक्षादेव हि वाक्यार्थप्रतीतिसम्भवे को नामेदृशीं कल्पनामवलम्बते। सम्भवति च पदार्थेभ्यो वाक्यार्थावगतिरिति वक्ष्यामः।

जिन लोगों को पूर्व वर्णों का विस्मरण हो चुका है, उन्हें अन्तिम वर्ण से पदार्थ ज्ञान नहीं हो पाता, अतः ऐसी स्थिति में पद को ही पदार्थ का उपस्थापक मानना उचित है; किन्तु ऐसा वाक्य में नहीं होता। पूर्व पदार्थों का विस्मरण हुए लोगों को सम्पूर्ण वाक्य की स्मृति न होने पर भी वाक्यार्थप्रतीति होती दृष्टिगोचर होती है। इस कारण वाक्यार्थबोध के प्रति वाक्य को कारण नहीं मान सकते, किन्तु स्मरण के द्वारा उपस्थित हुए पदार्थों को ही कारण माना जाता है। अन्वय-व्यतिरेक से पदार्थावगति के प्रति कारण जैसे पद को माना जाता है, उसी प्रकार वाक्यार्थज्ञान के प्रति वाक्य को कारण क्यों नहीं मान सकते? यदि वाक्यार्थज्ञान के प्रति वाक्य ही कारण हो तो वाक्यावयव के (पद के) विस्मृत होने पर वाक्य नहीं बन पायगा, तब वाक्याभाव कहा जायगा, उस कारण वाक्यार्थ का ज्ञान होगा ही नहीं, किन्तु ऐसा नहीं होता, वाक्यार्थ का ज्ञान तो उस स्थिति में भी होता है। अत एव ग्रन्थकार श्री पार्थसारभिमिश्र स्वयं कह रहे हैं— **दृश्यते हि विस्मृतपूर्वपदानामपि दीर्घतमेषु वाक्येषु वाक्यार्थाऽवगतिः।**

शङ्का— वाक्य के पूर्व भाग का स्वरूपतः विस्मरण होने पर भी स्मर्यमाण पदार्थवशात् ही वाक्या की तद्वाचिपदयोगिताम् = स्मर्थमाण पदार्थवाचक पदयुक्तता का अनुमान करके तदनन्तर जब वाक्य– सम्पूर्ण हो जाता है, तब उस सम्पूर्ण वाक्य से ही वाक्यार्थज्ञान होता है। अतः कोई दोष नहीं है।

समाधान— न च स्वरूपेण विस्मृतेऽपि इति । शङ्काकार का कथन उचित नहीं है; क्योंकि कोई प्रमाण नहीं है।

शङ्का— कोई अन्य गति के अभाव में परम्परा का आश्रय लिया जाता है।

समाधान— परम्परा का आश्रय नहीं कर सकते; क्योंकि 'अस्यां प्रणाड्यां प्रमाणाऽभावात् स्मर्यमाणपदार्थवशात् तद्वाचकपदस्मरणं, तेषां च पदानां वाक्यघटकत्वानुमानं, ततः सम्पूर्णवाक्यस्मरणं, ततो वाक्यार्थबेधः' यह प्रणाली है। अन्य कारण यह भी है कि वाक्य से सम्पूर्ण अर्थ की प्रतीति होने पर ही उस हेतु से वाक्य में तद्वाचकपदयोगिता का अनुमान करना चाहिये। इस प्रकार प्रथमत एव वाक्य से सम्पूर्ण अर्थ की प्रतीति होने पर तद्वाचक पदयोगिता का अनुमान करना व्यर्थ ही है। स्मर्यमाण पदार्थों से साक्षात् ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ की जब प्रतीति हो ही जाती है तब कारणीभूत जो तत्पदार्थ की स्मृति

का वहाँ अभाव होने से स्वरूपाऽसिद्धि दोष ही हो जायेगा। अतः क्लिष्ट कल्पना कौन करना चाहेगा? अतः पदार्थों से ही वाक्यार्थ का ज्ञान होता है— यह सिद्धान्त है। इसे आगे बतावेंगे।

(अन्विताभिधानवादस्याऽनुवाद-निरासौ)

येप्याऽऽकाङ्क्षितसन्निहितयोग्यार्थान्तरान्वितस्वार्थाभिधायीनि पदान्येव वाक्यार्थप्रतीतिनिमित्तमिति ब्रुवते, तेषामपि विस्मृतेषु केषुचित् पदेषु वाक्यार्थावगतिर्न स्यात् इति तुल्यमेव दूषणम्। किञ्चैवंवादिनां प्रतिपदं वाक्यभेदः स्यात्, न क्वचिदेकवाक्यता सिध्येत्। गामानयेति गोपदमानयनकर्मभूतां गां प्रतिपादयति, तथाऽऽनयतिरपि गोकर्मकमानयनम्, तयोश्च भेदाद्भिन्न एव वाक्ये स्याताम्।

प्राभाकर मीमांसकों के द्वारा किये गये समाधान का खण्डन करने के लिये उनके मत को (अन्विताभिधानवाद को) बता रहे हैं— **येऽप्याऽऽकाङ्क्षितेति** । उक्त दूषण को ही यहाँ भी अतिदेश के रूप में प्रदर्शित कर रहे हैं। जो प्राभाकर मीमांसक कहते हैं कि पद ही आकाङ्क्षित तथा सन्निहित और उचित (योग्य) अर्थान्तर के द्वारा अन्वित स्वार्थ को बताते हैं अर्थात् अन्वित स्वार्थ को बताते हुए पद ही वाक्यार्थ की प्रतीति कराने में निमित्तकारण होते हैं; उनके मत में भी वैयाकरणों के समान ही दोष उपस्थित होगा। कतिपय पदों का विस्मरण होने पर प्राभाकर मीमांसकों को भी वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होगा— यह दोष तो दोनों के मत में तुल्य है। इसी अन्विताभिधान पक्ष में एक अन्य दोष को भी प्रदर्शित कर रहे हैं— **किञ्च एवंवादिनामिति**। इस अन्विताऽभिधानवाद को स्वीकार करने वाले प्राभाकर मीमांसकों के मत में प्रत्येक पद में वाक्यभेद दोष होने लगेगा; क्योंकि प्रत्येक पद से वाक्यार्थप्रतीति होने लगेगी, अर्थात् प्रत्येक पद में वाक्यभेद होने से कहीं पर भी पदसमुदाय की एकवाक्यता नहीं हो सकेगी। प्रत्येक पद में वाक्यभेद इस प्रकार होगा, तथाहि— गामानय इति गोपदम् आनयनकर्मभूतां गां प्रतिपादयति तथा आनयतिरपि गोकर्मकमानयनम् तयोश्च भेदात् भिन्ने एव वाक्ये स्याताम्। अर्थात् 'गामानय' इस एक वाक्य में भी 'गाम्' यह एक वाक्य माना जायगा; क्योंकि आनयनान्वित गो को बताया जा रहा है, तथा गवान्वित आनयन का अभिधान होने से आनय को भी एक वाक्य कहना होगा।

इस मत को आरम्भक न्यायरत्नमाला में कहा गया है— अन्विताभिधायि हि पदम्, अन्यच्च गवान्वितादानयनादश्वान्वितमानयनं, तत् कथमत्र सम्बन्धग्रहणमव्यभिचारो वा? तदुच्यते—

सन्निध्यपेक्षायोग्यत्वैरुपलक्षणलाभतः ।
आनन्त्येऽप्यन्वितानां स्यात् सम्बन्धग्रहणं मम ॥

आकाङ्क्षित, सन्निहित और योग्य जो अन्य पदार्थ उससे अन्वित स्वार्थ को अनेक पद बताते हैं; इस कारण एक ही उपलक्षण से अनन्त पदार्थों को भी वाच्य कहना सरल ही है।

प्रमाणान्तरविज्ञातैः पदार्थैर्न हि दृश्यते ।
वाक्यार्थवेदनं शब्दप्रतीतेः कारणं त्वथ ॥
शक्तित्रयं प्रकल्प्यं स्यात् पदानामर्थगोचरा ।
अर्थानामन्विते शक्तिस्तदाधायकता पदे ॥

एवञ्च पदों की अन्वितगोचरा एक ही शक्ति का स्वीकार किया गया है। अतः पदान्येव अन्विताभिधायीनि वाक्यार्थस्य प्रमाणम् ।

अथाऽन्वितभेदे सत्यप्येकस्यैवाऽन्वितस्य प्रधानभूतत्वात् प्रयोजनैकत्ववशेन वाक्यैकत्वमुच्यते?

तदयुक्तम् नह्यनेकं विशिष्टं प्रतिपादयतां प्रयोजनैकत्वमात्रेणैकवाक्यता भवति, यदि स्यात्, यजेत स्वर्गः फलं पशुर्हविरग्निर्देवता—इत्यत्राऽप्येकवाक्यता स्यात्। सर्वेषां द्रव्य-देवता-फलविशिष्टयागानुष्ठानप्रयोजनत्वात्। तथा दर्श-पूर्णमासाभ्यां यजेत—इत्यस्य समिधो यजति—इत्यादिभिरेकप्रयोजनत्वाद्वाक्यैकत्वं स्यात्।

शङ्का— अथान्वितभेदे सत्यप्येकस्यैवेति । यदि यह कहें कि अन्वित पदार्थ भिन्न-भिन्न रहने पर भी एक ही अन्वित पदार्थ का प्राधान्य रहने से और प्रयोजन भी वही रहने से एक ही वाक्य होता है, जैसे 'गामानय' यहाँ पर गो शब्द आनयन का कर्म है, अतः वह गौ को बताता है तथा 'आनयति' पद भी गोकर्मक आनयन को बताता है। उन दोनों का भेद रहने से वाक्य भिन्न ही कहलायेंगे। गोकर्मक आनयन की प्रधानता रहने से और वही प्रयोजन रहने से अर्थात् एक ही प्रयोजन होने से ही गवान्वित आनयन की प्रधानता प्रतीत होती है, अतः एकवाक्यता समझी जाती है। तथाच प्रतिपदम् अर्थात् प्रत्येक पद में वाक्यभेद की आशङ्का नहीं है। सहोच्चारित पदों की एकवाक्यता तो स्पष्टतया समझ में आती है।

समाधान— तदयुक्तम् इति। उक्त शङ्का उचित नहीं है; क्योंकि जब अनेक विशिष्टों के द्वारा जो प्रतिपादनीय होगा, वह भी विशिष्ट ही वाक्यार्थ होगा, तब उसके भिन्न होने से प्रयोजन एक होने पर भी प्रतिपदं प्रत्येक पद में वाक्यभेद होगा ही; क्योंकि प्रत्येक पद से विशिष्ट अर्थ बताया जायगा। अर्थात् बहुत से विशिष्टों को बताने वाले पदों के प्रयोजनैक्यमात्र से एकवाक्यता नहीं कही जाती। यदि स्यात्? यदि अनेक विशिष्टार्थप्रतिपादक पदों के प्रयोजनैक्यमात्र से ही एकवाक्यता को मान लिया जाय तो यजेत स्वर्गः फलं, पशुर्हविः, अग्निर्देवता— यहाँ पर भी एक प्रयोजन रहने से एकवाक्यता कहनी होगी; क्योंकि उपरिनिर्दिष्ट द्रव्य, देवता, फलविशिष्ट याग आदि सभी

का अनुष्ठान करना ही तो प्रयोजन है तथा दर्श-पूर्वमासाभ्यां यजेत इत्यस्य समिधो यजति इत्यादिभिरेकप्रयोजनत्वाद् वाक्यैकत्वं स्यात् । तथा = उसी प्रकार दर्श-पूर्णमासाभ्यां यजेत दर्श-पूर्णमासयाग करे— इस वाक्य की समिधो यजति = समिद्याग करे इत्यादि वाक्यों के साथ एकवाक्यता होगी; क्योंकि दोनों का प्रयोजन एक ही है। इस कारण अन्वित का भेद रहने पर भी एक प्रयोजन के द्वारा एकवाक्यता का स्वीकार नहीं किया जा सकता।

ननु इष्टमेव एकवाक्यत्वम्, यथा वक्ष्यति तद् वाक्यं हि तदर्थत्वात् इति। भाष्यकारोऽपि वाक्यं ह्येकं दर्शपूर्णमासाभ्यां सह धर्माणाम् इति।

शङ्का— यदि कोई ऐसी आशङ्का करे कि उपरिनिर्दिष्ट स्थलों में एकवाक्यता का स्वीकार करना अभीष्ट ही है, इसी तथ्य को सूत्रकार जैमिनि स्वयं कह रहे हैं— तद् वाक्यं हि तदर्थत्वात् इति (अ. ३, पाद-७, सूत्र ४ (चतुर्थ)। भाष्यकारोऽपि— वाक्यं ह्येकं दर्श-पूर्णमासाभ्यां सह धर्माणाम् इति ।

तदिति । वही वाक्य है। भाष्यकारोऽपि इति । क्योंकि वह एक अर्थ का प्रतिपादक है। इसी को भाष्यकार शबरस्वामी ने भी कहा है— दर्शपूर्णमास के साथ प्रोक्षण आदि पदार्थ एवं प्रयाजादि धर्मों (अङ्गों) का एक ही वाक्य है।

सत्यम्, प्रकरणाऽनुमेयं तु तत्रैकवाक्यत्वम् न प्रत्यक्षम्, अन्यथा वाक्यविनियोज्यत्वापत्तेः। एवं गामानय इत्यत्राऽपि एकवाक्यता साक्षात् न स्यात्, इष्यते च असौ। तस्मात् यत्रैकवाक्यत्वम्, तत्राऽपर्यवसित-व्यापाराणामेव पदानामेकस्मिन् अर्थे पर्यवसानं वक्तव्यम्।

पूर्वोक्त कथन का खण्डन कर रहे हैं— **सत्यम् इति** । आप सच कह रहे हैं। प्रकरण की दृष्टि से यहाँ पर एकवाक्यता अनुमेय अर्थात् कल्पना करने योग्य है, प्रत्यक्ष नहीं है। अन्यथा वाक्यविनियोज्यत्वापत्तेः = वाक्य से विरोध होगा। निष्कर्ष यह है कि वह एकवाक्यता प्रकरण से विनियोज्य (विनियोग होने योग्य) है, वाक्यप्रमाण से नहीं— इस प्रकार अनिष्टापत्ति होने लगेगी। एवं गामानय इत्यत्राऽपि एकवाक्यता साक्षात् न स्यात्– इस प्रकार लौकिक वाक्य से उक्त दोष का अतिदेश किया गया है। (किन्तु) इष्यते च असौ = किन्तु गाम् आनय— यहाँ पर भी एकवाक्यता साक्षात् नहीं हो पायेगी, परन्तु एकवाक्यता का होना तो अभिष्ट है, इसलिये जहाँ एकवाक्यता है, वहाँ जिन पदों का व्यापार पर्यवसित नहीं है, उन्हीं पदों का एक अर्थ में पर्यवसान कहना होगा। निष्कर्ष यह है कि यह जो कहा था कि प्रयोजनैकत्वेन एकवाक्यत्वं भवति, वह कहना उचित नहीं है, अर्थात् अनुचित है। सूत्रकार तथा भाष्यकार के द्वारा सूत्र से तथा भाष्य से जो कहा था कि प्रयोजन के एक रहने पर एकवाक्यता होती है।

त्वन्मते च आनयतिः गवाऽन्विताऽऽनयनं प्रतिपाद्य पर्यवस्यति, गोपद-मपि गव्येवाऽऽनयनाऽन्विते पर्यवसितम् इति स्यादेव वाक्यभेदः। न हि गोपदस्याऽऽनयने गवाऽन्विते पर्यवसानं येनैकवाक्यता स्यात्। अथ गोपदमप्याऽऽनयनमेव गवाऽन्वितमभिदध्यात् अनेकाऽर्थत्वं स्यात्, गोश्चाऽऽनयनस्य चाऽभिधानात्। न हि गोरन्यतःसिद्धिः, यतस्तामन-भिधाय तद्विशिष्टमानयनमेव अभिदध्यात्।

त्वन्मते चेति। तुम्हारे मत में आनयति पद गवान्वित आनयन को बताकर निराकाङ्क्ष (पर्यवसन्न) हो जाता है तथा गो पद भी आनयनान्वित गाय में पर्यवसित (निराकाङ्क्षा) हो जाता है। अतः स्यादेव वाक्यभेदः अतः वाक्यभेद नामक दोष तो हो ही जायेगा। न हि गोपदस्य आनयने गवान्विते पर्यवसानम्; येन एकवाक्यता स्यात् = **अन्यथा** गो पद का गवान्वित आनयन में पर्यवसान हो तो एकवाक्यता कैसे हो पायगी? अर्थात् एक-वाक्यता नहीं हो सकेगी।

शङ्का— अथ गोपदमप्यानयनमेव गवान्वितमभिदध्यात्? पुनः शङ्का कर रहे हैं कि यदि गो पद गवान्वित आनयन को ही बताता है, तब तो अनेकार्थता होगी। गौ और आनयन का कथन होने से गो की किसी अन्य के द्वारा सिद्धि होना सम्भव ही नहीं है, अन्यथा गौ को बिना कहे गोविशिष्ट आनयन को ही कहा जा सके। एवञ्च अनेकार्थ-प्रतिपादक होने के कारण एकवाक्यता का होना असम्भव ही है।

निष्कर्ष यह है कि अंग-प्रधान दोनों की एकवाक्यता तो होनी ही चाहिये, किन्तु उसका प्रकरण प्रमाण से अनुमान किया जाता है। वह एकवाक्यता प्रत्यक्ष नहीं है। यदि वह एकवाक्यता प्रत्यक्ष होती तो धर्मों (अंगों) का वाक्य प्रमाण से ही विनियोग कहा जाता, प्रकरण-प्रमाण से नहीं। अर्थात् प्रकरण प्रमाण से एकवाक्यता की कल्पना नहीं की जा सकती। जैसे- प्रकरण-प्रमाण से अनुमेय होने के कारण एकवाक्यता का प्रत्यक्ष (साक्षात्) नहीं होता तथैव गामानय में भी साक्षात् एकवाक्यता नहीं होती है, किन्तु उसका होना तो अभीष्ट है, तथापि अन्विताभिधानवाद में वह सम्भव नहीं है। इसी तथ्य को ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र बता रहे हैं— एवं गामानय इत्यत्राऽपि प्रत्यक्षैकवाक्यता साक्षात् न स्यात्, इष्यते च असौ (साक्षात् एकवाक्यता), सा न सम्भवति अन्विताभिधानपदे तस्मात् यत्रैकवाक्यत्वं तत्र अपर्यवसितव्यापाराणामेव पदानामेकस्मिन् अर्थे पर्यवसानं वक्तव्यम्।

तुम्हारे मत में ऐसी बात नहीं है, किन्तु आनयपद का गवान्वित आनयनमात्र में पर्यवसान (तात्पर्य) है और गो पद का आनयनान्वित गौ में ही पर्यवसान (तात्पर्य) है। दोनों का आनयनान्वित गो और गवान्वित आनयन, जो दो अभिधेय हैं, ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं, अतः वाक्यभेद होगा ही। यदि आनयन पद के समान गो पद का भी गवान्वित

आनयन में ही पर्यवसान होता, तो आनय और गो पद— दोनों के द्वारा एक ही अर्थ का प्रतिपादन होने से एकवाक्यता हो भी जाती, किन्तु वैसी स्थिति नहीं है। इसी तथ्य को ग्रन्थकार पार्थसारथिमिश्र ने कहा है—न हि गोपदस्य आनयने गवान्विते पर्यवसानं येन एकवाक्यता स्यात्।

अन्यथा यदि गो पद गवान्वितानयन में ही पर्यवसित होता तो गो पद से गो का और गवान्वित आनयन का प्रतिपादन होने से गो शब्द को अनेकार्थक कहना होगा। यदि गो पदार्थ की उपस्थिति अन्य किसी पद से होती, तो उस पद से उपस्थापित विशिष्ट आनयनमात्र को ही गो पद बोधन करेगा, तब अनेकार्थता भी न होती, किन्तु विशिष्ट आनयनमात्र का ही गो-पद बोधन नहीं कर रहा है, अनुसन्धीयमान पदार्थों से होने वाले वाक्यार्थबोध को त्यागकर केवल पदों से वाक्यार्थबोध का स्वीकार करने पर दोषान्तर बता रहे हैं— किञ्च इति।

किञ्च अतिशोभनो राजपुरुषः इत्यत्रातिशयान्वितस्य शोभनगुणस्य राजान्वितस्य च पुरुषस्य पुनः परस्पराऽन्वयो गम्यते—समासे हि परस्परान्वयपूर्वकः पदार्थान्तराऽन्वयः, तेनाऽन्वितयोरेवात्राऽवयः। न चाऽसावभिधानतः सिध्यति। पुरुषशब्दो हि पुरुषस्यैवाऽर्थान्तराऽ-न्वयमभिधत्ते तस्यैव स्वार्थत्वात्। अतोऽनन्विताऽन्वयमलमभिधातुम्। एवं शोभनशब्दोऽपि स्वार्थस्यैव शोभनत्वस्याऽन्वयमाह, नाऽन्या-न्वितस्य। अतोऽन्वितयोरन्वयोऽवश्यं पदार्थनिबन्धन इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

व्याख्या– उपर्युक्त मूल ग्रन्थ में 'किञ्च' कहकर अन्विताभिधान में दोष-प्रदर्शन किया गया है। दूसरी बात यह है कि अतिशोभनो राजपुरुषः इस वाक्य में अतिशय (अधिक्य) से अन्वित शोभन गुण का तथा राजा के साथ अन्वित पुरुष का परस्पर अन्वय प्रतीत होता है; क्योंकि समास में परस्पर अन्वय होकर ही पदार्थान्तर का अन्वय हुआ करता है। अतः अन्वित का ही यहाँ अन्वय होता है। अर्थात् अतिशय से अन्वित हुआ शोभन गुण तथा राजा से अन्वित पुरुष— इन दोनों का ही यहाँ अन्वय होता है। यह अन्वित पदार्थों अन्वय का 'न चासौ अभिधानतः' अर्थात् अभिधान (अभिधाशक्ति के द्वारा कथनमात्र) मात्र से सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि पुरुषस्यैव अर्थान्तराऽन्वयमभिधत्ते, तस्यैव स्वार्थत्वात्। अर्थात् पुरुष शब्द अर्थान्तर के (अन्य पुरुष के) साथ ही अपने अन्वय को बताता है; क्योंकि वही तो उसका स्वार्थ है। इसलिये पुरुष शब्द अन्वितान्वय को बताने में समर्थ नहीं है। इसी प्रकार शोभन शब्द भी अपने स्वार्थभूत शोभनरूप गुण के जो अर्थान्तर है, उसी के अन्वित होता है। अतः नाऽन्विताऽन्वयमलमभिधातुम्। एवञ्च अन्वित पदार्थों का अन्वय पदार्थहेतुक ही है— यह स्वीकार करना ही होगा। निष्कर्ष यह है कि अन्वित पदार्थों का अन्वय, पुनरपि आकाङ्क्षा आदि के द्वारा परस्पर अन्वय होता है।

'अतिशोभनो राजपुरुषः' इस वाक्य में प्रथमतः अतिशय और शोभनत्व गुण का परस्परान्वय होता है तथा राजा और पुरुष का परस्परान्वय होता है। तदनन्तर अतिशयाऽन्वित शोभनत्व गुण का और राजान्वित पुरुष का परस्परान्वय होता है, अर्थात् दो अन्वित पदों का अन्वय होता है; क्योंकि 'समासे हि परस्पराऽन्वयपूर्वकः पदार्थान्तराऽन्वयः' यह नियम रहने से यहाँ पर भी दो अन्वितों का (अतिशय से अन्वित शोभनगुण तथा राजा से अन्वित पुरुष— इन दोनों का) ही अन्वय हुआ है। 'तेन अन्वितयोरेवाऽत्राऽन्वयः' ग्रन्थकार ने कहा है। उक्त कथन में अत्र का अर्थ है— उक्त उदाहरण में। एवञ्च अन्वित हुए अर्थों का अन्वय अभिधान से सिद्ध नहीं होता।

समाधान— पदों के मध्य में किसी एक से भी अन्वित का अन्वय नहीं होता, उसी को मूल ग्रन्थ में 'पुरुषशब्दो हि .... इत्यभ्युपगन्तव्यम्' तक स्पष्टतया बताया गया है।

किञ्च रूढिर्योगाद् बलीयसी शीघ्रप्रवृत्तित्वात् इत्यविवादम्, अन्विताऽभिधाने च विपरीतं बलाऽबलं स्यात्। अश्वकर्ण इति समुदायो यावद् वृक्षजातिं स्मारयति, तावदेव अश्वशब्दोऽपि वाजिनं, कर्णशब्दोऽप्यवयवं स्मारयत्येव। अतो न स्मृतिकाले तावद्विशेषः। अभिधानं तु योगवृत्तौ पदान्तरमनपेक्ष्य स्वाऽवयवाभ्यामेव शीघ्रं मिथो निर्वर्तते। रूढिस्तु प्रतियोगिसन्निधानलिप्सया पदान्तरमपेक्षमाणाऽभिधाने विलम्बित इति वैपरीत्यम्।

पूर्वोक्त कथन में एक और अन्य हेतु बता रहे हैं— **किञ्चेति** । समुदाय शक्ति को 'रूढि' शब्द से कहा जाता है और अवयवशक्ति को 'योग' शब्द से कहा जाता है। शीघ्र प्रवृत्ति के कारण रूढि को योग (अवयवशक्ति) से प्रबल माना जाता है। यह स्वीकारने में कारण यह है कि रूढ शब्द से अर्थबोधन शीघ्र होता है और अवयव शक्ति– अवयवार्थ की अपेक्षा रखती है अर्थात् अवयवशक्ति अवयवार्थसापेक्षा रहती है। जैमिनीय न्यायमाला ग्रन्थ में अध्याय-६, पाद–१, अधिकरण-१३ में बताया गया है कि जितनी देर में अवयव अपने विशेषार्थ को बताते हैं, उसके पूर्व ही अन्यनिरपेक्ष रूढि अपने स्वार्थ को बता देती है, अतः रूढि को प्रबल माना जाता है और यह सर्वसम्मत भी है। अन्विताभिधानवाद के स्वीकार करने पर रूढि और योग का बलाबल अर्थात् प्रबल-दुर्बलभाव विपरीत हो जाता है अर्थात् अन्विताभिधानवाद में रूढि की अपेक्षा योग को ही प्रबल (बलवान्) समझा जाता है। यद्यपि रूढिर्योगाद्बलीयसी शीघ्रप्रवृत्तित्वात्— यह तथ्य निर्विवाद है। रूढि के प्रबल (बलवान्) होने में शीघ्रप्रवृत्तिमत्त्व ही कारण (हेतु) है और अन्विताभिधानवाद में योग ही शीघ्र प्रवृत्ति कराता है अर्थात् योग को बलवान् बनाने में भी कारण शीघ्रप्रवृत्तिमत्त्व ही है। अश्वकर्ण = सालवृक्ष का नामधेय है। अश्वकर्ण शब्द से जबतक वृक्षविशेष (स्पलवृक्ष) की उपस्थिति होती है, उसी समय अवयवरूप

अश्व और कर्ण— इन दो शब्दों से अश्व और श्रोत्र की भी उपस्थिति होती है; अतः न स्मृतिकाले तावद् विशेषः। **अभिधानं तु योगवृत्ताविति** । अभिधानम् = वाक्यार्थबोध = वाक्यार्थ का ज्ञान।

अन्विताऽभिधान में अन्वित पदार्थ का ही अभिधान होता है और अन्वित की प्रतीति दो पदों से ही सम्भव रहती है। उस कारण रूढ्यर्थ जो वृक्षविशेष तद्विषयक शाब्दबोध होने में वृक्ष के साथ अन्वय होने योग्य पदार्थान्तरवाचक पद की अपेक्षा रहने के कारण विलम्ब लगता है और अश्व श्रोत्र (कर्ण) विषयक यौगिकवाक्यार्थबोध (शब्दबोध) होने में पदान्तर = अन्य पद की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु अश्व शब्द से अश्व की उपस्थिति और कर्ण शब्द से श्रोत्र की उपस्थिति हो जाती है, उस कारण दोनों का परस्पर अन्वय = सम्बन्ध हो जाने से योगवृत्ति (यौगिक वृत्ति) से शाब्दबोध शीघ्र सम्पन्न हो जाता है। अतः यह शीघ्रप्रवृत्तिमान् रहने से योग का ही प्राबल्य = प्रबलता सम्भव होती है।

रूढ्यर्थ की प्रतीति होने में विलम्ब लगने का कारण बताते हैं— रूढिस्तु प्रतियोगिसन्निधानलिप्सया पदान्तरमपेक्षमाणाऽभिधाने विलम्बत इति वैपरीत्यम्। अन्विताभिधान मानने में यही दोष है; किन्तु अभिहितान्वयवादरूप जो सिद्धान्तपक्ष भट्टपादकुमारिल का है, वह निर्दुष्ट (दोषरहित) है, अतः उसी का ग्रहण करना समुचित है। इसी तथ्य को उदाहरण देकर स्पष्ट कर रहे हैं। तथाहि— अश्वकर्ण शब्द जब रूढि से वृक्षजाति का स्मरण कराता है, तब उसके पूर्व ही अश्व शब्द भी घोड़े को तथा कर्ण शब्द भी अवयव का स्मरण कराता है। अतो न स्मृतिकाले तावद्विशेषः अतः स्मरणकाल में रूढि की सिद्धि न होने के कारण कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता।

(सिद्धान्ते वाक्यार्थस्य लक्ष्यत्वम्)

स्वरूपमात्राऽभिधानपक्षे तु पदान्तराऽपेक्षाऽभावात् अक्षरश्रवणमात्रादेव रूढ्यर्थोऽभिधानसिद्धोऽवयवार्थलक्षिताद् यौगिकाद्वाक्यार्थस्थानीयाद् बलीयान् भवति। एवम् अतिमधुरं गोक्षीरम्, ईषन्मधुरमजाक्षीरम् इति, केतकीगन्धसमानः सर्पगन्धः इत्यादि दर्शयितव्यम्। तस्मात् पदाभिहितैः पदार्थैर्लक्षणया वाक्यार्थः प्रतिपाद्यते। तत्र गामानयेत्यानयतिरानयनसामान्यमभिधाय तद्व्यक्तिं लक्षयति, गोपदमपि स्वार्थद्वारेणाऽऽनयनमेव गोकर्मकत्वाऽऽकारेण तत्सम्बन्धिस्वरूपेण लक्षणया प्रतिपादयति।

एवं यत्र-यत्र वाक्ये यो-योऽर्थो विशेष्यत्वेन विवक्षितस्तमेव स्वपदेन सामान्यवाचिना लक्षितं सन्तमितराणि पदानि स्वार्थाऽभिधानद्वारेण तत्सम्बन्धिरूपेण लक्षयन्ति। यत्राऽप्यन्वितस्यैव पुनरन्वयान्तरं, तत्राऽपि लक्षितलक्षणापरम्परया तस्य सर्वस्य सिद्धिरित्येषा दिक्।

अभिहितान्वयवाद को मानने पर पूर्वोक्त वैपरीत्य न रहने से रूढि की ही प्रबलता रहती है; इसी तथ्य को ग्रन्थकार श्रीपार्थसारथिमिश्र प्रदर्शित कर रहे हैं– **स्वरूपमात्रा-ऽभिधानपक्षे तु इति।** अभिहितान्वयर्वाद में शब्द के द्वारा स्वरूपमात्र अर्थात् पदार्थ का स्वरूपमात्र (पदार्थ का केवल स्वरूप) बताया जाता है; न कि किसी अन्य पदार्थ से (पदार्थान्तर से) अन्वित होना। इस कारण पदान्तर की (अन्य = दूसरे पद की) अपेक्षा न रहने से अक्षर-श्रवणमात्र से अर्थात् अश्वकर्ण आदि शब्द श्रवण मात्र से ही साल-वृक्षरूप रूढ्यर्थ का अभिधान (बोलना) सम्भव रहता है, उस कारण अवयवार्थ। लक्षित जो वाक्यार्थ के स्थानापन्न है, उस अश्वकर्ण = अश्वश्रोत्ररूप यौगिक अर्थ की अपेक्षा रूढ्यर्थ शीघ्र ही प्रतीति का विषय हो जाता है। उस कारण योग की अपेक्षा रूढि की प्रबलता सिद्ध होती है। निष्कर्ष यह है कि रूढिर्योगाद् बलीयसी— यह कथन सिद्ध होता है अर्थात् समुचित प्रतीत होता है।

अश्वकर्ण = अश्वश्रोत्रलक्षणरूप जो अर्थ है, वह अश्व और कर्ण— इन दो शब्दों से लक्षित होता है। उक्त अर्थ के लक्षित होने में वाक्यार्थस्थानीयत्व = अर्थात् वाक्यार्थ-तुल्यत्व हेतु है, अर्थात् किञ्चित् अन्वित प्रतीति का होना ही वाक्यार्थबोध कहलाता है। श्रोत्र के अश्वान्वित होने की प्रतीति भी वाक्यार्थ के समान ही है और जो वाक्यार्थ है, वह पदार्थों से ही लक्षित होता है और अन्वित प्रतीति लक्षण वाक्यार्थबोध की अपेक्षा रूढ्यर्थ की उपस्थिति शीघ्र ही होती है। निष्कर्ष यह है कि रूढ्यर्थ यौगिक अर्थ से प्रबल माना जाता है— यह कथन स्वरूपमात्र के अभिधानपक्ष में सिद्ध होता है। अतः यौगिक अर्थ की अपेक्षा रूढि से प्रतीयमान अर्थ ही प्रबल माना जाता है। इसी तथ्य को दृष्टान्त के द्वारा समझा रहे हैं— गोक्षीर (गाय का दूध) अत्यधिक मधुर होता है और अजा = बकरी का दूध अल्पमधुर होता है तथा केतकी गन्धसमानः सर्पगंध = उसी तरह केतमी (केवडे) के गन्ध के समान सर्पगन्धा (औषधिविषेष) होती है— इत्यादि कथन स्वरूप-मात्र के अभिधानपक्ष में ही सम्भव होते हैं। अतिशोभनो राजपुरुषः में अन्विताभिधान के द्वारा उक्त अनुपपत्ति का अन्यत्र अतिदेश 'एवम् अतिमधुरम्'– से कर रहे हैं। अतिशय और माधुर्य का तथा गो और क्षीर का अन्वय प्रथमतः किया जाता है, तदनन्तर उन अन्वितों का ही अतिमाधुर्य और गोक्षीर के साथ अन्वय किया जाता है; किन्तु अन्विता-भिधावाद में पूर्वोक्त रीति से वह सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार— 'ईषन्मधुरम्' इत्यादि स्थलों में भी समझ लेना चाहिये। वाक्य से साक्षात् वाक्यार्थ की प्रतीति का होना सम्भव न होने से अभिहिताऽन्वयवाद को स्वीकार करना ही उचित प्रतीत हो रहा है। अतः इसी को सिद्धान्त के रूप में बता रहे हैं— तस्मात् पदाभिहितैः पदार्थैः लक्षणया वाक्यार्थः प्रतिपाद्यते। अतः पदों के द्वारा अभिहित (अभिधा शक्ति से प्रतिपादित) जो पदार्थ हैं, वे आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि से लक्षणा-वृत्ति का आश्रय कर वाक्यार्थ को बताते हैं। निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक पद अथवा

पदसमूहात्मक वाक्य वाक्यार्थबोधन का साक्षात् कारण नहीं हो सकता, किन्तु पदों से अभिहित (प्रतिपादित) जो पदार्थ, वे ही आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि से विशिष्ट (युक्त) होकर वाक्यार्थबोध के कारण हो सकते हैं; क्योंकि पदार्थज्ञान होने पर ही वाक्यार्थ का बोध (वाक्यार्थ का ज्ञान) होता है। अत: पदार्थज्ञान यदि न हो तो वाक्यार्थज्ञान का होना सम्भव नहीं है। इसलिये यह स्वीकार करना ही होगा कि वाक्यार्थज्ञान के प्रति पदार्थज्ञान कारण होता है अथवा ज्ञात पदार्थ कारण होते हैं।

नैयायिक विद्वान् तो पदज्ञान को वाक्यार्थज्ञान के होने में कारण मानते हैं, किन्तु वह उचित नहीं है; क्योंकि पद तो पदार्थ को बताकर निराकांक्षा हो जाते हैं। पुन: वाक्यार्थज्ञान में भी अन्य व्यापार के लिये उन्हीं की कल्पना करने पर गौरवदोष का स्वीकार करना पड़ेगा और अदृष्टकल्पना, इष्ट की हानि आदि दोष उपस्थित होंगे। अत: नैयायिकों का कथन उचित नहीं है। एवञ्च क्रमिक वर्णों से पदार्थज्ञान होने पर वाक्यार्थ-ज्ञान होता है, उस कारण पदार्थों में ही सामर्थ्य की कल्पना करना समुचित प्रतीत हो रहा है।

शङ्का— 'गामानय' इस वाक्य में आनय पद आनयन सामान्य को अभिधाय = उपस्थित करके तद्व्यक्तिम् = आनयनविशेष अर्थात् गोकर्मक आनयन क्रिया को लक्षणा-वृत्ति से बताता है। अर्थात् आनयति पद आनयनसामान्य को बताकर तद्व्यक्तिम् = आनयन-विशेष को (गोकर्मक आनयन को) लक्षणावृत्ति से बताता है; क्योंकि मुख्यार्थ जो आनयनसामान्य है, वह बाधित हो जाने से उसका कोई प्रयोजन नहीं है, उस कारण सामान्य आनयन और विशेष आनयन— दोनों का सम्बन्ध आनयनत्ववत्त्व ही है तथा गोपद भी अपने स्वार्थ को बताकर उसके द्वारा स्वार्थकर्मकत्वाकारेण आनयन को ही लक्षित करता है, उस कारण एकवाक्यता हो जाती है, अत: वाक्यभेद दोष भी नहीं हो रहा है। तत्सम्बन्धिस्वरूपेण = स्वार्थ (गो) सम्बन्धिस्वरूपेण। यह लक्षणा से बताता है।

तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) में भी कहा गया है— तदेवमर्थप्रत्यायनशक्तिसद्भावात् पदानां तदभिहितेभ्य: पदार्थेभ्य: संनिधानादिसहकारिवशात् पदार्थानामन्योऽन्याऽन्वयप्रति-पत्तिर्लक्षणया सिध्यति, तस्मात् समभिव्यावृतपद-कदम्बकस्मारितपदार्थानां परस्परान्वय-प्रत्ययो लाक्षणिक: शाब्दश्चेति सर्वमवदातम्। विवादपदानि (विवादास्पदीभूतानि) पदानि, लक्षणया पदार्थानामन्योऽन्यान्वयप्रतिपत्तिपराणि अन्वितप्रतिपत्तिपरत्वे सति पदत्वात् विषं भुङ्क्ष्व इति पदकदम्बवत्। तस्माद्वाक्यप्रामाण्याऽनुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिकेति निश्चिनुम:, अपिच इहाऽपि लोकाऽनुसारतो विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तसमभिव्याहृतीनामर्थमात्रपरत्वे पदानां प्रामाण्याऽनुपपत्ति: विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जने इति न्यायात् इति। 'अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाऽज्ञानसंशयै:' इति न्यायात् बोधनीयविशिष्टार्थाऽप्रत्यायने पदानाम-प्रामाण्यं स्यादेवेति भाव:। श्लोकवार्तिकेऽपि यथा—

एवमेवाऽश्वकर्णादौ समुदायप्रसिद्धितः ।
वार्यतेऽवयवस्यार्थो वृक्षाद्यर्थाऽवधारणात् ।।
पदार्थाऽनुगतश्चैव वाक्यार्थो गम्यते सदा ।
न विशिष्टार्थता तस्माद्वाक्यस्वातन्त्र्यसाधिनी ।।
न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेषु पदानि नः ।
[1]तन्मात्राऽवसितेष्वेषु पदार्थेभ्यः स गम्यते ।।
अशाब्दे चाऽपि वाक्यार्थे न पदार्थेष्वशब्दता ।
वाक्यार्थस्येव नैतेषां निमित्तान्तरसम्भवः ।। इति ।।

न्यायरत्नाऽऽकरेऽप्युक्तम्— यद्यप्यभिधाव्यापारः पदार्थेष्वेव पर्यवसितस्तथाऽपि तात्पर्यव्यापृतेरपर्यवसिताया वाक्यार्थपर्यन्तत्वात् तात्पर्ये शब्दस्य प्रामाण्यात् सिध्यति, शब्दप्रमेयतया वाक्यार्थस्य शाब्दत्वम्। विस्तरस्तु आकरेषु द्रष्टव्यः ।

एवं यत्र-यत्र वाक्ये इति । इस प्रकार जिस-जिस वाक्य में जो-जो अर्थ विशेष्य के रूप में विवक्षित है, उसी अर्थ को सामान्यवाची स्वपद से लक्षित करते हुए अन्य पद भी स्वार्थ के अभिधान द्वारा उसके सम्बन्धी के रूप में लक्षणावृत्ति से बोधन कराते हैं अर्थात् सामान्य पद वाक्य होता है, और विशेष पद लक्ष्य होता है। इस पक्ष में अन्वित का अन्वय भी सिद्ध होता है। इसी को 'अत्राऽपि अन्वितस्यैव' से बता रहे हैं—

जहाँ भी अन्वित का ही पुनः दूसरा अन्वय होता है, वहाँ भी लक्षित-लक्षणारूप परम्परया उन सबकी सिद्धि होती है। अर्थात् अतिशोभनो राजपुरुषः इत्यादि स्थलों में अतिशोमन पद की अतिशय शोभन में पृथक् शक्ति है और अतिशयित शोभन में लक्षणा है। उसके द्वारा अतिशोभनत्वविशिष्ट राजपुरुष में लक्षित-लक्षणा है, उसी प्रकार राजा और पुरुष— दोनों की राजा तथा पुरुष में शक्ति है और राजाऽन्वित पुरुष में लक्षणा है तथा अतिशोभन विशिष्ट राजान्वित पुरुष में लक्षित-लक्षणा है। उसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये। यह दिग्दर्शनमात्र किया गया है।

ननु कर्मत्वेन अभिहिता गोस्तत्कर्मिकां क्रियां लक्षयन्त्यपि कथमानयनमेव लक्षयति? तदेकवाक्यतयेति ब्रूमः—लक्षणा हि साधारण्येनैव प्रवृत्ताप्येकवाक्यतया नियम्यत इति दर्शनबलादङ्गीक्रियते। योऽपि ह्यन्विताऽभिधानमिच्छति, तेनाऽपि सामान्यतः प्रवृत्ता लक्षणा पदान्तरैकवाक्यत्वेन नियम्यत इत्येतदङ्गीकृतमेव। यथाहि युपदधिकरणवाचितायां द्वन्द्वमिच्छन्ति, तत्र धव-खदिरावित्यत्र खदिरप्रातिपदिकं द्विवचनोपपत्तयेऽर्थान्तरं लक्षयदपि धवमेव लक्षयति, नाऽर्थान्तरम्। तत्पदसमभिव्याहारादेव तथा सर्वत्राऽस्तु। यत एवाऽयमन्वयविशेषोऽविनाभावाद-

---

१. तन्मात्रे = पदार्थस्वरूपमात्रे एषु = पदेषु। सः = वाक्यार्थः।

सिध्यन् एकवाक्यतावशेनैव सिध्यति, अत एव शब्दस्य प्रमाणान्तर-त्वमनुमानात्।

शङ्का— 'गमानय' इस उदाहरण में उपस्थित जो गौ है, उसका नियमेन आनयन-लक्षक होना सम्भव नहीं है, उसे तो गो पदार्थान्वययोग्यक्रियामात्र की अपेक्षा रहती है, तथापि क्या वह गौ किसी अन्य दर्शन-स्पर्शन आदि क्रिया की अपेक्षा नहीं रखती? अभिहिता-न्वयवाद में पदार्थ ही वाक्यार्थ के लक्षक रहने से 'गौः' यह कहा गया है।

उपर्युक्त शङ्का का **समाधान** 'तदेव वाक्यतयेति ब्रूमः' से कर रहे हैं। गो पद की आनय पद से एकवाक्यता रहने से गौः आनयनमेव लक्षयति, न क्रियान्तरम् = गाय आनयन को ही लक्षित करती है, अन्य किसी क्रिया को नहीं। जैसे 'गङ्गायां घोषः' में गंगा से सम्बन्धित पदार्थ में प्रवृत्त हुई लक्षणा का नियमन घोष पद के साथ एकवाक्यता होने से तीर (तट) में नियन्त्रित रहती है, उसी तरह यहाँ अन्विताभिधान मे भी जानना चाहिये।

अन्यथा 'गङ्गायां घोषः' में भी सामान्यतया गङ्गासम्बन्धी पदार्थ में प्रवृत्त हुई लक्षणा तीर (तट) को ही क्यों उपस्थित करेगी? गङ्गा से सम्बन्धित किसी अन्य पदार्थ को भी क्यों नहीं उपस्थित करेगी? तस्मात् सामान्यतया प्रवृत्त हुई भी लक्षणा पदान्तर की सन्निधि रहने से नियमित (नियन्त्रित) हो ही जाती है।

नियन्त्रित हुई लक्षणा का एक अन्य उदाहरण प्रदर्शित कर रहे हैं—**यथा हि युग-पदधिकरणवाचितायामिति** । यहाँ पर अधिकरण शब्द द्रव्यपरक है। युगपत् का अर्थ एकस्मिन्नेव काले अर्थात् स्वाभिधेयबोधन काल में ही जहाँ पर पदार्थान्तबोधन किया जाता है, वहाँ द्वन्द्व-समास करना होता है। जैसे 'घट-पटौ' में पट शब्द के द्वारा स्वाभि-धेय पट पदार्थबोधनकाल में ही घट भी जाना जाता है, अर्थात् स्वसमभिव्याहृत सकल-पदार्थवाचकतायां द्वन्द्वसमास किया जाता है। तत्र = धव-खदिरौ— इस द्वन्द्व में खदिर शब्द की एकार्थबोधकता रहने पर द्विवचन की अनुपपन्नता होती है, अतः तदुपपत्त्यर्थ पदार्थान्तरलक्षकत्व कहा जाता है, तब जैसे खदिर शब्द धव को ही लक्षित करता है, अन्य वृक्ष को लक्षित नहीं करता; इसमें कारण (हेतु) क्या है? तब कहना होगा कि धव-पदसमभिव्याहार ही कारण है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। तथाच— गामानय में गाय स्वान्वययोग्यक्रियालक्षक रहने पर भी आनय पद के समभिव्याहार से उसे आनयनलक्षक ही समझा जाता है।

शङ्का— यदि पदों से अथवा वाक्य से वाक्यार्थ की प्रतीति का होना सम्भव न हो तो अनुमान से ही वाक्यार्थ की प्रतीति हो जायगी।

समाधान— यत एवाऽयमन्वयविशेष इति । जिससे यह अन्वयविशेष अविना-भावरूप व्याप्ति से सिद्ध नहीं है, किन्तु वह एकवाक्यता से ही सिद्ध होता है। अतएव

शब्दस्य प्रमाणान्तरत्वमनुमानात् = शब्द की प्रमाणान्तरता अनुमानप्रमाण से सिद्ध होती है। एवञ्च व्याप्तिग्रह न हो पाने से अनुमान नहीं किया जा सकता।

वार्त्तिककार ने भी कहा है—

न चाऽनुमानमेषां धीस्तन्मात्रेण प्रसज्यते ।
प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वात् पदार्थानां ह्यलिङ्गता ॥
नात्मनागमयन्त्येनं विना धूमोऽग्निमत्त्ववत् ॥ इति ।

समाधान— 'गामानय' इस वाक्य में गो पद तथा आनयन पद— दोनों का ग्रहण किया गया है। गो पद क्रियासामान्य का प्रतिपादन करता हुआ भी आनयन को ही मुख्यतया कहेगा– इस नियम को सभी लोग जानते हैं। इसी तथ्य को लक्षणा हि साधारण्येनैव— से कहा गया है। निष्कर्ष यह है कि अत एव तदेकवाक्यातया कहा गया है। गो पद की आनयन पद के साथ एकवाक्यता होने से गोपद आनयन क्रिया को लक्षित करता है, किसी अन्य क्रिया को नहीं। उसी को बता रहे हैं— लक्षणा हि साधारण्येनैव:। जैसे– गङ्गायां घोष: में गंगा से सम्बन्धित पदार्थ में प्रवृत्त हुई लक्षणा घोष पद से एकवाक्यता होने के कारण तीर पदार्थ में ही नियन्त्रित होती है, उसी तरह प्रकृत भी समझना चाहिये।

अन्विताभिधानवाद में भी इसी प्रकार समझना चाहिये। **योऽपि अन्विताभिधानमिच्छति इति**। अर्थात् जो प्राभाकर मीमांसक अन्विताऽभिधानवाद को स्वीकार करता है, उसकी भी सामान्यतया प्रवृत्त हुई लक्षणा पदान्तर (अन्य पद) के साथ एकवाक्यता होने के कारण नियमित हो जाती है इस तथ्य को उसने भी स्वीकारा है। दृष्टान्त के द्वारा उसी को बता रहे हैं— **तथाहि युगपदधिकरणवाचितायामिति**। जैसे युगपत् अधिकरणवाचिता में द्वन्द्व समास माना जाता है, प्रस्तुत में अधिकरण का अर्थ है— पदार्थ। वह अधिकरण युगपद् वाच्य होने से एक ही पद से दो पदार्थों को एक साथ उपस्थिति होने पर द्वन्द्व समास किया जाता है। जैसे– धवश्च खदिरश्च धव-खदिरौ । यहाँ पर खदिर प्रातिपदिक द्विवचन की सिद्धि के लिये अर्थान्तर का लक्षणा से बोध कराता हुआ भी धव का ही लक्षणा से बोधन कराता है, अर्थान्तर का नहीं। वह पद के उच्चारण से ही होता है, इसी तरह सर्वत्र हो जाय, जिससे यह अन्वयविशेष अविनाभावरूप व्याप्ति से सिद्ध नहीं होता, किन्तु एकवाक्यता से ही सिद्ध होता है। अत एव शब्द की प्रमाणान्तरता अनुमान से सिद्ध होती है।

(पदार्थानां वाक्यार्थबोधकत्वशङ्कानिरासौ)

ननु प्रत्यक्षेण गवि देवदत्ते चाऽवगते सत्स्वप्याकाङ्क्षा-संनिधि-योग्यत्वेषु न परस्परान्वयप्रतीतिर्भवति, तस्मान्न पदार्था वाक्यार्थं गमयन्तीति पदानामेवान्विताऽभिधानं युक्तम्। अन्विताऽभिधानेऽपि तुल्योऽयं दोष:—यौ तावदर्थौ प्रत्यक्षप्रतिपन्नौ, तयोर्वाचकावपि शब्दौ तस्मिन्

समये स्मृतिस्थौ भवतः, न च तौ स्वार्थयोराकाङ्क्षादिसद्भावेऽप्यन्वयं प्रतिपादयतः।

शङ्का— गाय को तथा देवदत्त को प्रत्यक्ष देखा और आकाङ्क्षा, सन्निधि, योग्यता के विद्यमान रहने पर भी परस्पर अन्वय की प्रतीति नहीं हो पा रही है, अतः वाक्यार्थ का ज्ञान पदार्थों से नहीं हो पा रहा है, इसलिये पदों का ही अन्विताभिधान स्वीकारना उचित है; क्योंकि पदार्थों को कारण मानने पर व्यभिचार है, अतः पदों का ही अन्विताभिधान मानना उचित है।

निष्कर्ष यह है कि यदि पदार्थों को ही वाक्यार्थबोधक माना जाय, तो जहाँ गाय और देवदत्त प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं, वहाँ 'कस्याऽयम्' यह आकाङ्क्षा भी होती है तथा गाय और देवदत्त— दोनों की सन्निधि भी है, गाय और देवदत्त का उचित सम्बन्ध भी है अर्थात् योग्यता भी है, ऐसी स्थिति में वाक्यप्रयोग विना किये भी गाय और देवदत्त का परस्परान्वयरूप वाक्यार्थ का ज्ञान (बोध) हो ही जायगा, किन्तु नहीं होता। उससे प्रतीत होता है कि पदार्थों से वाक्यार्थबोध नहीं होता, किन्तु पदों से ही वाक्यार्थबोध होता है। इसलिये पदों का ही अन्विताभिधान मानना उचित है; पदार्थों का नहीं।

समाधान— अन्विताभिधानेऽपीति । सिद्धान्ती कहता है कि यह दोष (वाक्यार्थ के बोधक पदार्थ नहीं हो सकते) अन्विताभिधानवाद में भी है। देवदत्त और गाय— दोनों पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं। यौ तावदर्थौ प्रत्यक्षप्रतिपन्नौ और उनके वाचक शब्द भी उस समय याद आते है, अर्थात् तस्मिन् समये स्मृतिस्थौ भवतः। तथापि वे दोनों पद न च तौ स्वार्थयोराकाङ्क्षादिसद्भावेऽप्यन्वयं प्रतिपादयतः = स्वार्थ की आकाङ्क्षा आदि रहने पर भी अन्वय को नहीं बता पाते, अर्थात् गो शब्द और देवदत्त शब्द स्मृत्यारूढ रहने पर भी अन्वय को नहीं बता पाते। अतः 'यस्तूभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यः तादृगर्थविचारणे' इस न्याय के अनुसार दोनों पक्षों के लिये यह दोष तुल्य (समान) है, अतः एक ही पर आक्षेप करना उचित नहीं है।

अथ यादृगवस्थितैः पदैरन्वयो वृद्धव्यवहारे दृश्यते तादृशान्येवाऽन्वयं प्रतिपादयन्ति, नाऽन्यादृशानीत्युच्यते, तत् पदार्थेष्वपि तुल्यम्। तेऽपि हि पदार्था एकैकविशिष्टार्थप्रतिपादनाय समाहृता वाक्यार्थं प्रतिपादयन्तीति न दोषः। तेषां च समाहारे यत्र पुरुषस्य स्वातन्त्र्यम्, तत्र तद्बुद्ध्यधीनं प्रामाण्यम्, अस्वातन्त्र्ये चाऽनपेक्षम्। अतो न पदानामन्विते शक्तिः प्रमाणवती। निरस्तश्चायमन्विताऽभिधानवादो न्यायरत्नमालायामित्यास्तां तावत्।

शङ्का— शक्तिग्रहकाल में श्रुत पदों से ही पदार्थान्वय को वृद्ध लोग बताते हैं, वाच्यभूत पदार्थदर्शन से नहीं। 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्' न्याय से यथा-

वस्थित पदों से वृद्ध लोग अन्वय करते हैं, वैसे ही पदों के द्वारा वाक्यार्थ को बताते हैं। अन्य पद वाक्यार्थ को नहीं बताते। इसका उत्तर दे रहे हैं— तत् पदार्थेष्वपि तुल्यम् यह तो पदार्थों में भी है अर्थात् वाक्यार्थ को न बता पाना पद और पदार्थ दोनों में समान ही है। तेऽपि हि पदार्था एकैकविशिष्टार्थप्रतिपादनाय समाहृता वाक्यार्थं प्रतिपादयन्तीति न दोषः अर्थात् वे पदार्थ भी एक विशिष्ट अर्थ को बताने के लिये एकवाक्य में उन पदों का प्रयोग किया जाता है और वे ही वाक्यार्थ को बताते हैं, अन्य पद नहीं बताते हैं। इसलिए न दोषः = कोई दोष नहीं है।

तेषां च समाहारे यत्रेति। तेषाम् = पदार्थानां समाहारे = पदैः प्रत्यायने = पदों के द्वारा प्रत्यायन = बोधन कराने में पुरुष स्वतन्त्र है। जैसे- पौरुषेय वाक्यों में तद्बुद्ध्य धीनम् = वक्तृबुद्ध्यधीन, अर्थात् बोलने वाले की बुद्धि के अधीन प्रामाण्य होता है। यदि वक्ता (बोलने वाला) आप्त = (सत्य बोलने वाला) है, तो वाक्य का प्रामाण्य माना जाता है और वक्ता (बोलने वाला) यदि अनाप्त (आप्त न) हो तो उसका वाक्य प्रामाण नहीं माना जाता अर्थात् उसके वाक्य का अप्रामाण्य माना जाता है।

अथवा यदि उक्त वाक्यार्थ के विषय में बोलने वाले की बुद्धि प्रमात्मिका हो तो वाक्य में प्रामाण्य (विश्वास) होता है, यदि बोलने वाले की बुद्धि अप्रमात्मिका हो तो उसके वाक्य में अप्रामाण्य माना जाता है, अर्थात् लोग उसके वाक्य पर विश्वास नहीं करते। इसलिये पौरुषेय वाक्यों का प्रामाण्य वक्ता के आप्तत्व पर निर्भर करता है। अतः प्रमाण्य सापेक्ष ही है। जहाँ पर पदार्थों के सहोच्चारण में (जहाँ पदों के सहोच्चारण में) पुरुष की स्वतन्त्रता नहीं होती, वहाँ वाक्य का प्रामाण्य, सापेक्ष नहीं है, किन्तु अनपेक्ष ही माना जाता है। जैसे— वेदवाक्यों का। अतः पदों की अन्वित में शक्ति नहीं होती, अर्थात् अन्वयविशिष्ट अर्थ में शक्ति को प्रामाणिक नहीं माना जाता। अन्विताभिधानवाद का निरसन (खण्डन) न्यायरत्नमाला में किया गया है, अब अधिक शब्दविस्तार न करके यहीं विराम कर रहे हैं। उक्त तथ्य को न्यायरत्नमाला में भी बताया है; जैसे—

अदृष्टकल्पनैतस्मिन् मते हि स्याद् गरीयसी ।
दृष्ट-बाध-प्रसंगश्च तस्मादभिहिताऽन्वयः ।।
दृष्टाऽनुगुण्यं तत्र स्यात् कल्पना च लघीयसी ।।

इस विषय को सविस्तर जानने की इच्छा हो तो न्यायारत्नमाला- ग्रन्थ को देखना चाहिये।

(अखण्डवाक्यार्थवादखण्डनम्)

वाक्यस्फोटोऽपि पदस्फोटन्यायेनैव निरस्तः। वाक्यार्थस्य च निर्भागत्वं भागावगमात् प्रसंगाद्यनुपपत्तेश्च निरसनीयम्। तथाहि—

प्रसङ्ग-तन्त्र-बाधोहाऽतिदेशाऽधिक्रियाक्रमाः ।
प्रयुक्ति-शेष-भेदाश्च कथं निर्भागवादिनाम् ।।

यदा हि अग्नीषोमीयं पशुमालभेत इति निर्भागस्य साङ्गप्रधानविधेरर्थो निर्भागः न साध्यं न साधनं नाऽप्यङ्गानि, तदा न पशुर्न प्रयाजा न पुराडाशो न तदीया अनुयाजाः सन्तीति किं कुत्र प्रसज्यते? एवं तन्त्रादिष्वपि दर्शयितव्यम्। तस्मादनेकपदार्थाऽनुरक्तो वाक्यार्थः। स च पदार्थमूलो न निर्मूलो न च सङ्केतमूलः। तस्मान्नाऽप्रामाण्यं चोदनायाः। यत्तु वाक्यत्वात् पौरुषेयत्वमित्युक्तं तदुपरितनेऽधिकरणे निराकरिष्यामः।

वाक्यस्फोटोऽपीति । पदस्फोट का निराकरण करने के लिये जो रीति प्रदर्शित की गई है, वही वाक्यस्फोट के निरसनार्थ भी जाननी चाहिये। वाक्यस्फोट भी पदस्फोट न्याय के सामने ही निरस्त हुआ समझना चाहिये। वाक्यार्थ निरवयव (निर्भाग) होता है। निरवयव (निर्भाग) पद ही निरवयव (अवयव रहित) वाक्यार्थ के वाचक होते हैं, उसी प्रकार निरवयव वाक्य ही निरवयव वाक्यार्थ के वाचक होते हैं। इसे प्रसङ्ग कहते हैं; क्योंकि उसके भाग प्रतीत होते हैं।

तथाहीति । ऊह, बाध, तन्त्र, प्रसङ्ग— ये सभी असिद्ध हो जायेंगे। इस कारण इनका निरसन करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी तथ्य को ग्रन्थकार पद्य के द्वारा बता रहे हैं। प्रसङ्ग, तन्त्र, बाध, ऊह, अतिदेश, अधिकार, क्रम, प्रयुक्ति, शेष और भेद आदि निरवयव वाक्यार्थ हैं— यह जो वैयाकरणों ने कहा है, उसके मत में कैसे सिद्ध हो सकेंगे?॥५६॥

ग्रन्थकार ने मीमांसा के बारह अध्यायों में प्रसङ्गादि द्वादश पदार्थों को बताया है, उन्हीं को संक्षेप से उक्त पद्य में बताया गया है। उक्त पदार्थों का क्रम इस प्रकार है— प्रथमाध्याय में प्रमाण, दूसरे अध्याय में कर्मभेद, तीसरे अध्याय में शेष-शेषिभाव (अंङ्गाङ्गिभाव) बताया है। चौथे अध्याय में प्रयोज्य-प्रयोजकभाव (प्रयुक्ति), पञ्चमाध्याय में क्रम, षष्ठाध्याय में अधिकार, सप्तमाध्याय में सामान्याप्तिदेश, और अष्टमाध्याय में विशेषातिदेश, नवमाध्याय में ऊह तथा दशमाध्याय में बाध, एकादशाध्याय में तन्त्र और द्वादशाध्याय में प्रसङ्ग को बताया गया है। इसी का संग्राहक श्लोक दे रहे हैं—

धर्मो द्वादशलक्षण्यां व्युत्पाद्यः तत्र लक्षणैः ।
प्रमाण-भेद-शेषत्व-प्रयुक्ति-क्रमसंज्ञकाः ।
अधिकारोऽतिदेशश्च सामान्येन विशेषतः ॥
ऊहोबाधश्च तन्त्रं च प्रसङ्गश्चोदिताः क्रमात् ॥

यहाँ पर ग्रन्थकार ने प्रसङ्ग की दृष्टि के क्रम में विपर्यास कर दिया है। पाशुक प्रयाजों में पुरोडाश का प्रसङ्ग होता है।

आग्नेयादि तीनों यागों में आग्नेयपुरोडाश, ऐन्द्रदधियाग और ऐंद्रपयोयाग— इन तीनों में प्रयाजादि अङ्गों का तन्त्र अर्थात् (एक बार) अनुष्ठान किया जाता है। कृष्णलचरु

में अवहनन का बाध होता है। लोकव्यवहार में भी द्वारं-द्वारम् कहने पर पिधेहि। अथवा उद्घाटय का अध्याहार किया जाता है। कतिपय शब्द भी ऐसे प्रयुक्त किये गये हैं, जिनका लौकिक एवं वैदिक प्रयोग एक-सा ही होता है। 'ये लैकिका: ते एव वैदिका:' यह कहा गया है।

एवञ्च पदस्फोट न्याय से वाक्यस्फोट का भी निरास हो गया और वाक्यार्थ निर्भाग (निरवयव) होता है। वाक्यपदीय के द्वितीयकाण्ड में कहा भी है—

शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति ।
विभागै: प्रक्रियाभेदमविद्वान् प्रतिपद्यते ॥
अविभक्तेऽपि वाक्यार्थे शक्तिभेदादपोद्धृते ।
वाक्यान्तरविभागेन यथोक्तं न विरुध्यते ॥
समुदायोऽभिधेय: स्यादविकल्पसमुच्चय: । इत्यादि ।

इसी तथ्य को टीकाकार ने भी कहा है— सकलविशेषणखचितश्च प्रथमतरमेवोपक्रान्त: संसृष्ट एवार्थो वाक्यार्थ:। येनाऽर्थो वाच्यस्वरूपो व्यावृत्तभेदोऽखण्ड एव पदार्थोपाधिवशाद्भेदवानिवोपलभ्यते, न परमार्थत:, येनाऽखण्डवाक्यवादिना व्रीहिकरणिका यजतिक्रिया निरस्ताऽवयवार्था व्रीहिभिर्यजेत इत्यत्र वाक्यार्थ इत्युच्यते इत्यादि। विस्तरस्तु वाक्यपदीये एव द्रष्टव्य:।

तन्निराकरोति— **वाक्यार्थस्येति** वाक्यार्थ के भागों अर्थात् अवयवों की प्रतीति होती है, जैसे गाम् आनय में कर्मभूत गौ का और आनयन का भेदेन (पृथक्-पृथक्) ज्ञान होने से वाक्यार्थ को निर्भाग (निरवयव अर्थात् अवयवशून्य) नहीं कहा जा सकता। वाक्यार्थ को यदि निर्भाग (निरवयव) कहा जाय तो प्रसङ्ग आदि की उपपत्ति नही हो पायगी। इसी तथ्य को ग्रन्थकार ने प्रसंगतन्त्रवापोह पद्य से बताया है। उक्त कथन से निष्कर्ष यह निकला कि निर्भागवादी अर्थात् अखण्डवाक्यार्थवादी वैयाकरणों के मत में वाक्यार्थैकदेशभूत सम्बन्ध होने योग्य प्रसङ्गादिकों की उपपत्ति कैसे होगी?

ग्रन्थकार श्री पार्थसारथिमिश्र अपने अभिप्राय को अभिव्यक्त कर रहे हैं— **यदा हि अग्नीषोमीयमिति**। यदि वाक्यार्थ को निर्भाग = निरवयव कहें तो अग्नीषोमीयम्पशुमालभेत इत्यादि विधिवाक्यों के अर्थ को भी निर्भाग ही कहना पडेगा और निर्भाग मानने पर उसमें साध्य-साधन भाव नहीं हो सकेगा; क्योंकि वाक्यार्थ के अवयव साध्य-साधनादिक ही तो होते हैं। जब साध्य-साधनभावादिक नहीं होंगे तब पशुप्रयाज पुरोडाश, अनुयाजादि पदार्थ होंगे ही नहीं, तब किसकी कहाँ प्रसक्ति होगी? किसकी कहाँ पर प्रसङ्ग से प्राप्ति होगी? तब प्रसङ्गादि जब व्यर्थ हो जायेंगे, तब तत्प्रतिपादक शास्त्र भी व्यर्थ ही होंगे।

इसी प्रकार वाक्यार्थ को निर्भाग (निरवयव) मानने पर तन्त्र आदि पदार्थ भी अनर्थक हो जायेंगे। अत: वाक्यार्थ को निर्भाग कहना उचित नहीं है; किन्तु अनेक पदार्थसमूहरूप

होने से उसे सभाग ही कहना चाहिये। अतः अनेक पदार्थाऽनुरक्त ही वाक्यार्थ होता है और वह पदार्थमूलक होता है, निर्मूल नहीं तथा संकेतमूलक भी नहीं है। अतः चोदना (विधिवाक्य) को अप्रमाण समझना अनुचित है। अनुरक्त = विशिष्ट । वाक्यार्थ निर्मूल नहीं होता। जिस कारण उसे अप्रमाण माना जाय, उसी तरह वाक्यार्थ को संकेतमूलक भी नहीं समझना चाहिये, जिससे पदों में अथवा वाक्यों में वाक्यार्थप्रतिपादकत्व कहा जा सके, किन्तु पदार्थमूलक अर्थात् स्मृतपदार्थों से उसका प्रतिपादन किया जाता है। यह जो किसी ने कहा है कि वेदवाक्य भी पौरुषेय हैं— वेदवाक्यानामपि पौरुषेयत्वम्, इस कथन से उसकी निरसिष्यमाणता सूचित की गई है। प्रसङ्ग आदि का स्वरूप आगे बताया है। द्वादशाध्याय में प्रसङ्ग और एकादशाध्याय में तन्त्र तथा दशमाध्याय में बाध और नवमाध्याय में ऊह अतिदेश को सप्तम और अष्टमाध्याय में, अधिक्रिया (अधिकार) को षष्ठाध्याय में, क्रम को पञ्चमाध्याय में, प्रयोज्य-प्रयोजकभाव (प्रयुक्ति) को चतुर्थाध्याय में, अङ्गाङ्गिभाव (शेष-शेषिभाव) को तृतीयाध्याय में, भेद (कर्मभेद) को द्वितीयाध्याय में बताया गया है। इसी बात को एक पद्य के द्वारा कहा गया है—

धर्मो द्वादशलक्षण्या व्युत्पाद्यः, तत्र लक्षणैः[१]।
प्रमाण-भेद-शेषत्व-प्रयुक्ति-क्रमसंज्ञकाः ॥
अधिकारोऽतिदेशश्च सामान्येन विशेषतः[२] ।
ऊहो बाधश्च तन्त्रं च प्रसङ्गश्चोदिताः क्रमात् ॥

॥ इति सप्तममधिकरणं समाप्तम् ॥



---

१. लक्षणैः = अध्यायैः।

२. सामान्यातिदेशो विशेषातिदेशश्च। सप्तमेध्याये सामान्यातिदेशः अष्टमेऽध्याये विशेषातिदेशो इति बोध्यम् ।

अष्टमं वेदाऽपौरुषेयताऽधिकरणम्

वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्यः।।२७।। [अनित्य-दर्शनाच्च।।२८।। उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्।।२९।। आख्याः प्रवचनात्।।३०।। परं तु श्रुतिसामान्य-मात्रम्।।३१।। कृते वा विनियोगः स्यात्कर्मणः सम्बन्धात्।।३२।।]

सङ्केताऽनपेक्षैरेव पदैः पदार्थाः प्रतिपाद्यन्ते तैरप्यनपेक्षितसङ्केतैर्वाक्यार्थ इत्युक्तम्। इदानीं तु किं पौरुषेयाणि वेदवाक्यानि, उताऽपौरुषेयाणीति चिन्त्यते। पौरुषेयत्वे तु सञ्जातस्याऽपि वाक्यार्थप्रत्ययस्य स्वतः प्राप्तमपि प्रामाण्यं पौरुषेयस्येदृशेऽर्थे मूलप्रमाणाऽसम्भवात् विप्रलम्भ-भ्रान्त्यादिमूलतयाऽपोद्यते। तत्र—

वेदानां पौरुषेयत्वं वाक्यत्वाद् भारतादिवत् ।
काठकादिसमाख्याऽपि कृतकत्वे समर्थ्यते ।।

ननु अपूर्वात्मा वेदार्थोऽलौकिकः कथंचिदपि बुद्धावारोपयितुमशक्यः, कथं तत्र पुरुषा वाक्यं रचयेयुः? भवानपि वा कथमीदृशे तस्मिँल्लिङादेः शक्तिं गृह्णीयात्? अधिकारिनियोज्याऽन्वययोग्यं स्वर्गसाधनक्षमं कार्य-रूपमित्यादिरूपेण कथंचिद् हृदयमानीय शक्तिग्रहणम्। तथा वाक्य-रचनाविधिः सम्भविष्यति। तस्माद्वाक्यत्वात् पौरुषेया वेदाः।

तथा च काठकादिसमाख्या युज्यते, नहि प्रवचननिमित्ता समाख्या सम्भवति। प्रवचनस्याऽनेकपुरुषसाधारणत्वात् काठकविशेषणासम्भ-वात्। कर्तृत्वं चैकस्यैवेति युक्तं विशेषणम्। किं पुनर्वाक्ये पुंसः कर्तृत्वम्? यः स्वातन्त्र्येण पदानि वाक्यत्वेन रचयति स कर्ता। स्वातन्त्र्यं चैकस्यैवेति युक्तं विशेषणम्। यस्तु यथैव पुरुषान्तरेणोच्चारितं तथैवो-च्चारयामीत्येवमुच्चारयति, नाऽसौ कर्ता। तादृगुच्चारणं च बहूनाम-प्येकस्मिन् वाक्ये सम्भवतीति विशेषणाऽनुपपत्तिः। तस्मात् कर्तृ-निमित्तेयमिति प्राप्ते।

अभिधीयते— उक्तं तु शब्द पूर्वत्वमाख्याप्रवचनादिति ।।५८।।

वाक्यत्वात्पौरुषेयत्वं दृश्याऽदर्शनबाधितम् ।

प्रतिहेतुविरुद्धश्च हेतुस्तस्मादकृत्रिमा: ।।५९।।

यदि वेदानां कर्ता कश्चिदभविष्यत् ततोऽवश्यमध्येतृपरम्परया बुद्धादिवदस्मरिष्यत्। न हि अस्य विस्मरणं सम्भवति। तत्प्रत्ययेन हि तदा सर्वपुंसां वेदार्थाऽनुष्ठानम्, प्रमाणान्तराऽगोचरत्वात् फलसाधनत्वस्य। अतोऽर्वाचीनैः कथमसौ विस्मर्येत, यतः स कर्त्ता अवश्यं स्मर्तव्यः, न च स्मर्यते। तेन स्मृतिरूपदर्शनयोग्यत्वे सत्यप्यदृश्यमानः कर्ता शशविषाणवदभावात्मनाऽध्यवसीयते।

वेदाऽपौरुषेयत्व के प्रतिपादनार्थ वेदापौरुषेयत्व के पूर्वपक्ष को उर्युक्त सूत्र के द्वारा प्रदर्शित कर रहे हैं— **वेदाँश्चैके इति**। जबकि वेद में पुरुषों के नाम अर्थात् काठक कौथुम आदि पुरुषघटित आख्या अर्थात् नामों का उल्लेख किया गया है, उस कारण कुछ नैयायिक विद्वान् वेदान् सन्निकर्षम् = कृतक कहकर वेदों को सादि (कृत्रिम) कहने का साहस करते हैं। सूत्रगत सन्निकर्षम् के स्थान पर सन्निकर्षान् कहना चाहिये था, किन्तु वैसा न कहकर सन्निकर्षम् इत्याकारक असमानवचन कहा; उसे आर्षप्रयोग समझना चाहिये। अथवा वेदाः प्रमाणम् के समान इसे भी समझा जा सकता है। साधित अर्थ का स्मरण करा रहे हैं—**सङ्केताऽनपेक्षैरेवेति।**

पदार्थ के प्रतिपादनार्थ पदों को शक्तिग्रह की अपेक्षा रहने पर भी संकेत की अपेक्षा तो होती ही नहीं; क्योंकि संकेत तो ईश्वरेच्छारूप होता है। सृष्टि के उपादान कारण के रूप में ईश्वर का स्वीकार न करने वाले मीमांसकों के मत में ईश्वरेच्छा का होना भी आवश्यक नहीं है। वार्त्तिककार भट्टपाद ने पदार्थों को ही वाक्यार्थबोधक होना बताया है। तथाहि—

पदार्थपूर्वकस्तस्माद् वाक्यार्थोऽयमवस्थितः ।
मानसेनाऽपराधेन पदार्थान् ये न गृह्णते ।।
पदार्था गमयन्त्येतं प्रत्येकं संशये सति ।। इति।

'इदानीं तु' ग्रन्थ से प्रस्तुत अधिकरण का प्रतिपाद्य विषय बता रहे हैं। प्रथमतः यह बता रहे हैं कि वेदों को पौरुषेय स्वीकार करने पर उनका (वेदों का) प्रामाण्य नहीं रहेगा; क्योंकि पौरुषेयत्वे तु संजातस्यापि वाक्यार्थप्रत्ययस्य स्वतःप्राप्तमपि प्रामाण्यं पौरुषेयस्य ईदृशेऽर्थे मूलप्रमाणाऽसम्भवात् विप्रलम्भ भ्रान्त्यादि मूलतयाऽपोद्यते।

तत्र— वेदानां पौरुषेयत्वं वाक्यत्वाद् भारतादिवत् ।
काठकादिसमाख्याऽपि कृतकत्वे समर्थ्यते ।।

पौरुषेयत्वे त्विति। इस आठवें वेदाऽपौरुषेयाधिकरण में उक्त सूत्र वेदाँश्चैके

सन्निकर्षपुरुषाख्या: के आगे और पाँच सूत्र हैं, अनित्यदर्शनाच्च। उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्, आख्याप्रवचनात्, परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्, कृते वा विनियोग: स्यात् कर्मण: सम्बन्धात्। प्रस्तुत वेदाऽपौरुषेयाधिकरण के साथ तद्भूताधिकरण की आक्षेपसङ्गति है। इसी को संकेत कहते हैं।

संकेताऽनपेक्षैरेव पदैरिति। संकेत की अपेक्षा न रखने वाले पदों से ही पदार्थों को बताया जाता है। वे पदार्थ भी संकेतनिरपेक्ष होकर ही वाक्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं। इस तथ्य को पूर्वाधिकरण में बता चुके हैं। अभिप्राय यह है कि पदों का पदार्थों के साथ नित्य सम्बन्ध रहता है और वही (सम्बन्ध ही) वाक्यार्थ का मूल कारण भी है। अत: विधि का प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। तब अगले अधिकरण का आरम्भ क्यों किया जा रहा है? उक्त प्रश्न का उत्तर यही है कि संकेताऽनपेक्षैरेव पदै: पदार्था: प्रतिपाद्यन्ते, तैरपि अनपेक्षिता संकेतै: वाक्यार्थ: प्रतिपाद्यते। अब वैदिक वाक्यों के विषय में विचार कर रहे हैं। वेद के वाक्य पुरुषरचित (पौरुषेय) हैं अथवा वे अपौरुषेय हैं?

शङ्का— पौरुषेयवाक्य भी आप्तरचित होने से उन्हें भी प्रमाण सभी लोग मानते ही हैं, उनसे विधिप्रामाण्य का बाध कैसे होगा?

समाधान— पौरुषेये तु इति। पौरुषेय वाक्यों से जो अर्थज्ञान होता है, उसका स्वत:प्रामाण्य प्राप्त होने पर भी उन पौरुषेय वाक्यों को ईदृशे अर्थे अर्थात् अपूर्व पदार्थ (अप्रत्य पदार्थ में) को बताने में पौरुषेय वाक्य समर्थ नहीं हैं; क्योंकि कोई ठोस प्रमाण (मूल प्रमाण) नहीं है। अत: प्रामाण्य प्राप्त होने पर भी उस प्रामाण्य का बाध माना जाता है, अर्थात् उसे प्रमाण नहीं माना जाता। पौरुषेय वाक्य को प्रमाण तभी माना जाता है, जब पौरुषेय वाक्य से बोध्य-विषयक प्रत्यक्षादि कोई मूल प्रमाण हो। अपूर्व के विषय में प्रत्यक्षादि प्रमाण का सम्भव न रहने से मूल प्रमाण का अभाव ही प्राप्त है। जब मूल प्रमाण ही नहीं है, तब वैदिक वाक्यों को विप्रलम्भन (धूर्त-शठ आदमी के वाक्य समान ही) के तुल्य ही अथवा भ्रम के समान ही समझना चाहिये। ऐसी स्थिति में उन वेदवाक्यों को अप्रमाण ही मानना उचित प्रतीत होता है। इसी पूर्वपक्ष को एक पद्य के द्वारा बताया गया है— वेदानां पौरुषेयत्वं वाक्यत्वात् भारतादिवत्। काठकादिसमाख्याऽपि कृतकत्वे समर्थ्यते।

अर्थात् वेदवाक्यं पौरुषेयं वाक्यत्वात्, भारतादिवत्— यह अनुमान किया जा सकता है। पौरुषेयत्व में एक उपपत्ति (युक्ति) भी बताते हैं— जैसे काठकादि समाख्या। यदि वेद अपौरुषेय होता तो काठक, कौथुम आदि समाख्या न होती; क्योंकि काठक-कौथुम आदि समाख्या (संज्ञा) का होना ही पौरुषेयता को बता रहा है। अत: काठक आदि समाख्या भी वेदों को कृतक (रचना) ही कहती है। अत: वेदों को अपौरुषेय कहना उचित नही है।

नन्विति। मीमांसक शङ्का करता है कि वाक्यरचना ज्ञानविषय-विषयिका ही होती

है, किन्तु वेदार्थ तो अलौकिक रहने से अपूर्व है। अतः उसे ज्ञान का विषय समझना सम्भव नही है। इसलिये तत्र = तद्विषयक वेद के वाक्यों की रचना किसी पुरुष अर्थात् किसी आदमी के द्वारा की गई है— यह कैसे कहा जायगा?

उक्त प्रश्न का उत्तर तार्किक विद्वान् दे रहा है—

भवानपि वेति। आपके मत में भी ज्ञान का विषय न होने वाले (अज्ञात) अर्थात् अलौकिक अर्थ में शक्ति ज्ञान का होना सम्भव नहीं है; क्योंकि शक्तिग्रह तो व्यवहार देखकर ही हुआ करता है। शक्तिग्रह (शक्तिज्ञान) के अभाव में वेदवाक्यों का अर्थज्ञान होना सम्भव ही नहीं है। एवञ्च वेदवाक्यार्थ बोध न होने के कारण अर्थबोधकत्वाऽभावरूप अप्रामाण्य ही मानना होगा।

कहा भी है— अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाऽज्ञानसंशयैः इति। आप भी इस प्रकार के (ईदृशे) अर्थात् अलौकिक तस्मिन् = अपूर्व में लिङादि शब्द की शक्ति का होना कैसे समझेंगे?

उक्त प्रश्न का उत्तर मीमांसक दे रहा है— अधिकारिनियोज्यान्वययोग्यं स्वर्गसाधनक्षणं कार्यरूपमित्यादिरूपेण कथंचिद् हृदयमानीय शक्तिग्रहणम् अर्थात् अधिकारी और नियोज्य— इन दो शब्दों की एकार्थता होने पर भी एक ही यजमान पुरुष फलप्राप्ति का स्वामी होने के कारण उसमें अधिकारित्व भी है और कर्म के अनुष्ठान में नियुक्त होने के कारण (यजमान रहने के कारण) उसे नियोज्य भी समझना होगा। नित्यकर्मों के अनुष्ठान में केवल नियोज्यत्व ही रहता है; क्योंकि उस नित्य कर्म से किसी प्रकार की फलप्राप्ति नही होती। नित्य कर्म से उत्पन्न जो पण्डाऽपूर्व (परमापूर्वरूप समुदायाऽपूर्व) का नियोज्यत्वेन रूपेण ही अन्वय होता है— यह बताने के लिये नियोज्य शब्द का ग्रहण किया गया है। कर्मजन्य अपूर्व जो है, वह उत्पाद्य होने से उसे कार्य शब्द से कहा जाता है।

पूर्वोक्त कथन पर तार्किक उत्तर दे रहा है— तथा च काठकादिसमाख्या युज्यते, नहि प्रवचननिमित्ता समाख्या सम्भवति इत्यादि। जैसे यथा कथंचित् = किसी तरह उक्त रूप से हृदयमानीय = स्मरण करके उस कर्मजन्य अपूर्व में लिङादि लकार का शक्तिग्रह सम्भव होता है, उसी तरह कथंचित् = किसी प्रकार से उसे हृदय में अर्थात् बुद्धिगत करके तद्विषयक वाक्यरचना भी जा सकती है। तथाच— वेद की पौरुषेयता सिद्ध हो जाती है। एवञ्च वेद की पौरुषेयता सिद्ध हो जाने पर काठक-कौथुम आदि समाख्या (नाम) को भी प्रवचननिमित्तक क्यों नहीं कहा जा सकेगा?

उक्त प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं— न हि प्रवचननिमित्ता समाख्या सम्भवति प्रवचनस्य अनेकपुरुषसाधारणत्वात् काठकादिविशेषणाऽसम्भवात्। कर्तृत्वं च एकस्यैव इति विशेषणम्। प्रवचन अर्थात् अध्यापन अथवा व्याख्यान अनेक पुरुषसाधारण रहने से केवल कठ अथवा कौथुम आदि पुरुष से ही उसका सम्भन्ध न रहने से काठकम् अथवा कौथुमम्

अथवा कालापकम् आदि नहीं कहा जा सकेगा; किन्तु कर्तृत्व तो केवल कठ से ही सम्बन्धित रहने से काठक संज्ञा का प्रयोग विशेषण के रूप में किया गया है। इसी को पार्थसारथिमिश्र बता रहे हैं— कर्तृत्वं च एकस्यैवेति युक्तं विशेषणम्। पुनः प्रश्न होता है— वाक्यनिरूपित कर्तृत्व का स्वरूप क्या होगा– किं पुनर्वाक्ये पुंसः कर्तृत्वम्? इस प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है— **यः** स्वातन्त्र्येण पदानि वाक्यत्वेन रचयति स कर्त्ता; स्वातन्त्र्यं चैकस्यैवेति युक्तं विशेषणम्। यस्तु यथैव पुरुषान्तरेणोच्चारितं तथैवोच्चारयामीत्येवमुच्चारयति, नाऽसौ कर्ता: तादृगुच्चारणं च बहूनामप्येकस्मिन् वाक्ये सम्भवतीति विशेषणाऽनुपपत्तिः, तस्मात् कर्तृनिमित्तेयमिति प्राप्ते अभिधीयते। उत्तर दे रहे हैं— **उक्तं तु शब्दपूर्वत्वमाख्याप्रवचनात् इति।**

अभी तक पूर्वपक्ष का उपपादन किया, अब उत्तर देने के लिये उत्तरपक्ष को उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् (२९ सू०) और आख्याप्रवचनात्– (३० सू०)— इन दो सूत्रों को उपस्थित कर रहे हैं— **उक्तमिति** । उक्तं तु शब्दपूर्वत्वं आख्याप्रवचनात्–(सू० ३०) इन दो सूत्रों को पद्य के द्वारा ग्रन्थकार बता रहे हैं।

यदि वेदों का कर्ता कोई होता तो अवश्य ही अध्येतृ–परम्परया बुद्धादि के समान सभी को याद रहता। उसका विस्मरण कभी भी किसी को न होता। शब्दस्य पूर्वत्वम् अर्थात् शब्द की नित्यता को पहले ही = षष्ठाधिकरण में बताया गया है। वेद शब्द-समुदायरूप ही है और नित्य भी है। उस कारण उसे अपौरुषेय कहा जाता है। आख्या = काठक-कालापक आदि समाख्यायें तो प्रवचनात् = प्रवचन के कारण हैं। कर्तृत्व-निमित्तक नहीं हैं, जिससे वेदों को पौरुषेय कहा जा सके। यदि वेद पौरुषेय होता, तो अमुक मनुष्य ने वेद की रचना की है— यह कहा होता, जैसे– महाभारत, रामायण की रचना क्रमशः व्यासजी ने और वाल्मीकि ने की— यह समस्त विश्व को ज्ञात है। इसी तरह वेद के रचयिता का भी सभी को स्मरण अवश्य ही रहता, इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के कर्त्ता का विस्मरण होना कभी सम्भव ही नही है। अतः वेद अपौरुषेय ही हैं।

शङ्का— उपेक्षा करने के कारण वेद के रचयिता (कर्त्ता) का विस्मरण हो सकता है?

समाधान— वह कर्त्ता विस्मरण होने योग्य नहीं है। उसके विस्मरण न होने में कारण यह है कि— **तत्प्रत्ययेन इति** । जैसे पौरुषेय होते हुए भी महाभारत को जो प्रमाण माना जाता है, उसमें कारण यही है कि परम आप्ततम वेदव्यास जी के द्वारा उसकी रचना की गई है— यही कहा जाता है। यदि श्री वेदव्यासजी को लोग भूल जायँ तो महाभारत को प्रमाण कौन मानेगा? अर्थात् श्री महाभारत का प्रामाण्य जनमानस में होना सम्भव ही नहीं है; किन्तु विश्व में कोई व्यक्ति महाभारत को अप्रमाण कहने का साहस (धृष्टता) नहीं करता।

यदि वेद पौरुषेय होते तो उनके (वेदों के) कर्ता का विस्मरण होने पर उनमें (वेदों में) प्रामाण्य बुद्धि किसी की भी नही होती। लौकिक व्यवहार में लोगों के कथन में सुनने

वाले व्यक्ति को जो प्रामाण्य बुद्धि होती है, उसका एकमात्र कारण वक्ता के विषय में सुनने वाले व्यक्ति की आप्तत्व बुद्धि ही है; उसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है। अत: वेदकर्ता (वेदरचयिता) का विस्मरण होना कदापि सम्भव नहीं है।

वेद-प्रतिपादित ज्योतिष्टोमादि यागों में जो फलसाधनता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है। यदि कोई वेदों का रचयिता (कर्त्ता) होता तो अध्ययन करने वाले छात्रों की परम्परा से बुद्ध आदि के समान अवश्य ही उसका भी स्मरण होता; क्योंकि वेद जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के कर्त्ता का विस्मरण होना कदापि सम्भव नहीं है। वेद कोई छोटी सी पुस्तक नहीं है, वेद तो 'सर्वज्ञानमयो हि स:' ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, जो वेद में न हो। अत: ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की कभी भी कोई उपेक्षा नहीं कर सकता। वेद के ज्ञानाधीन ही वैदिक कर्म का अनुष्ठान है। जैसे अन्यान्य लोगों के अपने धर्मग्रन्थ— कुरान, बाईबिल, अवेस्ता आदि हैं, उसी तरह त्रैवर्णिक हिन्दुओं का भी (वर्णाश्रमानुसारियों का) धर्मग्रन्थ एकमात्र वेद ही है। अन्यान्य धर्मग्रन्थ रामायण, महाभारत, अठारह पुराण, उपपुराण, मनु-याज्ञवल्क्यादि स्मृतियाँ वेदमूलक होने से ही धर्मज्ञान में प्रमाण मानी जाती हैं। वैदिक कर्म में जो फलसाधनता का ज्ञान सुदृढ़ है, वह लौकिक प्रमाणों के अधीन नहीं है। वह अलौकिक वेदार्थज्ञान के ही अधीन है। वेद ग्रन्थ की अलौकिकता ही उसकी अपौरुषेयता है। अर्थात् वेद की रचना का कर्ता कोई नहीं है। ब्रह्मर्षियों के समाधिस्थ होने पर उनके निर्मल हृदय में वेदों का स्फुरण हुआ है।

यही अनादि सिद्धान्त है। किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य का कर्ता अवश्य स्मरणीय रहता है, तथपि किसी को यदि स्मरण नहीं होता है तो समझना चाहिये कि स्मृतिरूप ज्ञान के योग्य रहने पर भी यदि स्मरण नहीं हो रहा है तो खरगोश के सींग के समान उसका कर्ता का अभाव ही है—यह निश्चय किया जाता है।

येऽपि हि पौरुषेयतां मन्यन्ते तेऽपि नैव परम्परया तत्र कर्तृविशेषस्मरणं शक्नुवन्ति वदितुम्, सामान्यतो दृष्टेन कर्तारमनुमाय स्वाभिमतं कर्तारं तत्र निक्षिपन्ति केचिदीश्वरम्, अन्ये हिरण्यगर्भम्, अपरे प्रजापतिम्, न चाऽयं नानाविधो विवादः परम्परया कर्तरि मन्वादिवत् स्मर्यमाणे कथंचिदप्युवकल्पते। न हि मानवे भारते शाक्यग्रन्थे वा कर्तृविशेषम्प्रति कश्चिद् विवदते, तस्मात् स्मर्तव्यत्वे सति अस्मरणात् दृश्याऽदर्शनबाधितं सामान्यतोदृष्टं न शक्नोति कर्तारमवसाययितुम्।

विपक्ष में बाधक बता रहे हैं— **येऽपीति** । ये = जो तार्किक = जो नैयायिकादि विद्वान् वेद को पौरुषेय बताते हैं, वे भी कर्तृविशेष के स्मरण को परम्परया नहीं बता पाते। वे भी सामान्यतोदृष्ट अनुमान से कर्ता का अनुमान ही करते हैं अर्थात् कर्ता की सम्भावना ही कर पाते हैं। जैसे कतिपय विद्वान् ईश्वर को, कतिपय विद्वान् हिरण्यगर्भ

को. कुछ विद्वान् प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा को वेद का कर्ता कहते हैं। प्रत्यक्षाऽयोग्यविषय-साधक अनुमान को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है। तथा चोक्तम्—

अपरं च वीतं सामान्यतोदृष्टम् अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं यथा इन्द्रियविषयमनुमानम्, अत्र हि रूपादिज्ञानानां क्रियात्वेन करणवत्त्वमनुमीयते, यद्यपि च करणत्वसामान्यस्य छिदादौ वास्यादि स्वलक्षणमुपलब्धं, तथापि यज्जातीयं रूपादिज्ञाने करणवत्त्वमनुमीयते तज्जातीयस्य करणत्वस्य न दृष्टं स्वलक्षणं प्रत्यक्षेण, इन्द्रियजातीयं हि तत्करणं न च इन्द्रियत्वस्य सामान्यस्य स्वलक्षणमिन्द्रियविशेषः प्रत्यक्षगोचरोऽर्वाग्दृशाम्। यथा वह्नित्वस्य सामान्यस्य स्वलक्षणं वह्निः, सोऽयं पूर्ववतः (दृष्टस्वलक्षणविषयस्य) सामान्यतोदृष्टम् सत्यपि वीतत्वेन तुल्यत्वे विशेषतः इति। तदत्राऽपि प्रत्याऽयोग्यवेदकर्तृसाधकस्य अनुमानस्य सामान्यदृष्टत्वं युक्तमेव। तथाच– यद् यद् वाक्यं तत्तत् सकर्तृकं भारतादिवदिति सामान्यतोदृष्टेन वेदस्याऽपि वाक्यत्वेन सकर्तृकत्वमनुमाय तत्र = वेदे कर्तारं निक्षिपन्ति, तत्राऽपि कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तिरेव इत्याह केचिदिति । ईश्वरम् = विष्णुम्। हिरण्यगर्भम् = चतुर्मुखम्। विराट्पुरुषं वा। प्रजापतिम् = प्रजोत्पादने नियुक्तम् ।

शङ्का— ईश्वर अथवा प्रजापति के द्वारा वेदों की रचना की गई है। इस प्रकार परम्परया वेद के कर्ता का स्मरण लोग करते ही है।

समाधान— ग्रन्थकार मिश्र कहते हैं कि यदि उक्त प्रकार का स्मरण होता तो नानाविध विवाद न होता; क्योंकि किसी एक में ही वेद का कर्तृत्व सम्भव रहने से सभी लोग किसी एक को ही वेद का कर्ता कहते, न कि मतभेद के द्वारा अनेक कर्ता कहते।

सप्रतिसाधनश्च हेतुः वाक्यत्वात् इति। विवादाध्यासितं वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययनत्वादद्यतनाऽध्ययनवदिति। तदिदमाह सूत्रकारः—उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् इति। शब्दशब्देनाऽत्र शब्दजन्यमध्ययनम्। तदयमर्थः—सर्वपुँसामध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकम्, सर्वे हि यथैव गुरुणाऽधीतम्, तथैवाऽधिजिगाँसन्ते। न पुनः स्वातन्त्र्येण कश्चिदपि प्रथमोऽध्येता वेदानामस्ति, यः कर्ता स्यात्। तस्मादपौरुषेया वेदाः। समाख्याऽपि योग्याऽनुपलब्धिनिराकृते कर्तरि तन्निमित्ता न सम्भवतीति प्रवचननिमित्ताऽध्यवसीयते। प्रवचने एवातिशययोगेनाऽसाधारण्यं कठस्य सम्भवतीति न विशेषणत्वाऽनुपपत्तिः।

पौरुषेयत्वसाधक जो वाक्यत्व हेतु प्रदर्शित किया गया है, वह सत्प्रतिपक्ष दोष से दूषित है। पूर्वपक्षी ने 'वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात्, भारतादिवाक्यवत्' **यह** अनुमान प्रयोग किया था; किन्तु इसके विरुद्ध अनुमानप्रयोग भी प्रतिपक्षी कर सकता है— विमतं वेदाध्ययनं पूर्वाध्ययनपूर्वकम् वेदाध्ययनत्वात्, इदानीन्तनाऽध्ययनवत्। इसी को सूत्रकार ने कहा है— **उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् इति**। यहाँ पर प्रयुक्त 'शब्द' शब्द से

शब्दजन्य अध्ययन को समझना चाहिये। अभिप्राय यह है कि अध्यापक (गुरु) कर्तृक उच्चारण, शिष्यकर्तृक अध्ययन का कारण है। इसी तथ्य को ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है 'तदयमर्थः' से।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि वेदाध्ययनशील सभी पुरुषों का अध्ययन अध्ययनान्तरपूर्वक ही होता है। सभी वेदविद्यार्थी अपने गुरु के अध्ययन जैसा ही अध्ययन (उच्चारण) करना चाहते हैं। वेद का कोई भी अध्येता स्वतन्त्रतापूर्वक अध्ययन करने वाला नहीं हुआ है और आज भी नहीं है, जिसे कर्ता कहा जा सके। अतः वेद को पौरुषेय नहीं कहा जाता। एवञ्च वेद अपौरुषेय ही है। पाणिनीयव्याकरण (अष्टाध्यायी) में दो सूत्र निर्दिष्ट किये गये हैं— (१) अधिकृत्यकृते ग्रन्थे और (२) तेन प्रोक्तम्। प्रथम सूत्र से ग्रन्थ को पौरुषेय बताया गया है और द्वितीय सूत्र से प्रवचन को बताया गया है। यह कथन अपौरुषेय पक्ष को मानने पर ही उपपन्न होता है।

समाख्यापीति । वेदों का कर्ता यद्यपि ज्ञात नहीं है, तथापि समाख्या (संज्ञा) जब उपलब्ध होती है अर्थात् कठ-कपिष्ठल–कालापक आदि उपलब्ध संज्ञाओं को कर्ता क्यों न मान लिया जाय?

उक्त प्रश्न (शङ्का) उचित नहीं है; क्योंकि योग्यानुपलब्धि होने से कर्ता को नहीं माना जाता, तब समाख्या को (किसी नाम को) देखकर उसे (कर्ता को) कैसे माना जायगा? समाख्या (संज्ञा = नाम) जो उपलब्ध हो रही है, उसका कारण प्रवचन ही हो सकता है।

श्रुति (शब्द) की अपेक्षा समाख्या दुर्बल है और उसे किसी कालविशेष में रक्खा जाता है, अतः वह अनादि नहीं है। अतः समाख्या को देखकर शब्दराशिरूप वेद के कर्ता का निश्चय नहीं किया जा सकता। प्रवचन-वैशिष्ट्य के कारण ही कठ–कपिष्ठल–कौथुम आदि समाख्याओं को महत्त्व दिया गया है। ये समाख्यायें तत्तत् प्रवचनकर्ताओं के प्रवचनों के विशेषण हैं; जैसे– कठशाखा, कपिष्ठलशाखा, आश्वलायनशाखा, बाष्कलशाखा वाजसनेयमाध्यन्दिनशाखा आदि अनेक शाखाएँ हैं। (ये प्रवचन) इन प्रवचनों को ही 'शाखा' शब्द से कहा गया है। ऋग्वेद की २१ शाखायें हैं; किन्तु अध्ययन-अध्यापन के अभाव में केवल एक शाखा ही आज उपलब्ध है।

शुक्ल यजुर्वेद की सौ शाखाएँ हैं, किन्तु अध्ययन-अध्यापन के अभाव में दो शाखाएँ (काण्व और वाजसनेय माध्यन्दिन) उपलब्ध हैं। कृष्णयजुर्वेद की केवल तैत्तिरीयशाखा उपलब्ध है। सामवेद की एक हज़ार शाखाएँ थीं, उनमें से आज कौथुम, जैमिनि और राणायनी– ये तीन शाखायें ही उपलब्ध हैं। कौथुमशाखा गुजरात में और जैमिनिशाखा बंगाल में चल रही है। अन्यत्र प्रदेश में तो बहुत विरल प्रचार में उपलब्ध है; क्योंकि अध्ययन-अध्यापन का अभाव हो गया है।

प्राचीनतम काल में वैशम्पायन सर्वशाखाध्यायी थे। आज जो लोग द्विवेदी, त्रिवेदी (त्रिपाठी) नाम से सुने जाते हैं, उनके पूर्वज दो वेदों के, तीन वेदों के, चार वेदों के

धुरन्धर विद्वान् थे। उन्हीं की वेदशून्य सन्तानें, जो एक मन्त्र भी नहीं कह सकते, वे भी पूर्वजों के पुण्य-प्रताप से उन वेदों के नामों से ही विभूषित हैं। आज के युग में यह कहते हुए भी लज्जा से सिर झुक जाता है। यह सब कलिकाल की महिमा है।

प्रवचन के प्रकर्ष के कारण उनकी (प्रवचन की) असाधारणता ज्ञात होती है। वैशंपायन ने सभी शाखाओं का अध्ययन किया था। कठ, कपिष्ठल प्रभृतियों ने एक शाखा का ही अध्ययन किया था। अन्य शाखा को न पढ़ने वालों के द्वारा एक शाखा को ही पढना उसकी विशेषता है। इसी विशेषता को ग्रन्थकार प्रकारान्तर से बता रहे हैं— **यद्वानयमिति**।

यद्वा नाऽयं पुरुषविशेषवचनः कठशब्दः, किन्तु नित्यस्य चरणविशेषस्यैवेयं संज्ञा, तच्चरणै पुरुषैः परम्परयाऽधीयमाना शाखा, काठकशब्देनाऽभिधीयते।

तस्मादपौरुषेयत्वाच्चोदनानां प्रमाणता ।
चोदनेति प्रतिज्ञार्थः पादेनानेन साधिनः ।।६०।।

वेद के अपौरुषेयत्व पक्ष में काठक आदि समाख्याओं की उपपत्ति अन्य प्रकार से भी प्रदर्शित की जा सकती है, उसे मूल में ग्रन्थकार 'यद्वा नायं पुरुषवचनः' ग्रन्थ से बता रहे हैं।

मूल ग्रन्थ में प्रयुक्त जो कठ शब्द है, वह किसी पुरुषविशेष का वाचक नहीं है अर्थात् वह (कठ शब्द) किसी पुरुषविशेष का वाचक न होकर (वह) नित्य चरणविशेष की संज्ञा है। अर्थात् शाखाविशेष की संज्ञा = नाम है। महावैयाकरण पाणिति महर्षि का चरणे ब्रह्मचारिणि सूत्र है। उक्त सूत्र की व्याख्या महान् वैयाकरण श्री भट्टोजीदीक्षित ने की है और चरण का अर्थ शाखा किया है। एवञ्च स्व–शाखाध्यायी वैदिक विद्वानों के द्वारा परम्परा से अधीयमान शाखा को ही काठक आदि शब्दों से समझा जाता है। इसी तथ्य को पद्य के द्वारा ग्रन्थकार बता रहे हैं—

तस्मादपौरुषेयत्वाच्चोदनानां प्रमाणता ।
चोदनेति प्रतिज्ञार्थः पादेनाऽनेन साधितः ।।

एवञ्च नित्यचरणविशेष = शाखाविशेष की ही संज्ञा है। वह शाखा, जो उनकी परम्परा से वंशानुगत अध्ययन की जा रही है, उसी को तत्तन्नामों से कहा जाता है। जैसे– काठकशाखा, कलापशाखा, वाजसनेयमाध्यन्दिन शाखा, जिसे शुक्लयजुर्वेद नाम से कहा जाता है। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा, काण्वशाखा। शुक्लयजुर्वेद की शाखा। जो शाखा जिस कुल में परम्परा से पढ़ी जाती है, उसी शाखा का अध्ययन सर्वप्रथम उस कुल की सन्तानों को उपयन संस्कार से संस्कृत होकर करना चाहिये, अन्यथा उन्हें 'शाखारण्डः स उच्यते' शाखारण्ड शब्द से कहा जाता है।

उपर्युक्त पद्य का अर्थ यह है— अपौरुषेय होने के कारण विधिवाक्यों का प्रामाण्य (प्रमाणता) सिद्ध होता है। इस प्रकार द्वादशाध्यायी मीमांसादर्शन के प्रथम (पहिले) पाद में चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः सूत्र से प्रतिज्ञात अर्थ को बताया गया है।

पूर्वपक्षी ने अनित्यदर्शनाच्च (सू० २८) सूत्र के द्वारा वेद की अनित्यता प्रदर्शित की थी और उदाहरण भी दिया था— ववरः प्रावाहणिरकामयत। सू० २८ के आगे का सूत्र— परन्तु श्रुतिसामन्यमात्रम् (सू० १।१।३१) है। उक्त सूत्र का अर्थ है— परन्तु = वेद को पौरुषेय सिद्ध करने के लिये जो दूसरा हेतु बताया है— अनित्यदर्शन, वह श्रुतिसामान्यमात्र है अर्थात् शब्द का सामान्य (सादृश्यमात्र) है। अभिप्राय यह है कि बवर-प्रावाहणि प्रभृति शब्द किसी व्यक्तिविशेष के वाचक नहीं हैं, वे शब्द तो जो प्रकृष्ट प्रवहण करता रहता है, उसी को प्रावाहणि कहा जाता है। यहाँ पर अत इञ् सूत्र से इञ् प्रत्यय कर्ता के अर्थ में किया गया है। अर्थात् जो अत्यधिक तेजी से प्रवहण करता है, उसे प्रावाहणि कहा गया है। अर्थात् प्रावाहणि का अर्थ वायु है। बवर शब्द का अर्थ है– शब्द का अनुकरण; अतः प्रावाहणि शब्द नित्य अर्थ का ही वाचक है, अनित्य का वाचक नहीं है।

पूर्वपक्षी ने यह कहा था कि वनस्पतयः सत्रमासत = वनस्पतियों ने सत्र (याग) किया, सर्पों ने सत्र = याग किया– इत्यादि वाक्य उन्मत्त (विकृत मस्तिष्क) मनुष्य के वाक्य के समान अप्रमाण हैं)। उक्त पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ सूत्र है— कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात् (सू० १।१।३२)। इस सूत्र का अर्थ यह है— कृते = सत्रादिरूप कर्म में विनियोगः स्यात् = प्रशंसा के द्वारा विनियोग होता है; क्योंकि कर्मणः सम्बन्धात् = कर्म का सम्बन्ध रहने से । निष्कर्ष यह है कि ज्योतिष्टोमादि वाक्य परस्पर सम्बद्ध अर्थ को बताते हैं। अतः वाक्य के अर्थ को समझते हुए उन्मत्त के वाक्यों के तुल्य उन्हें माना जा सकता है? पूर्वोक्त सत्रादिवाक्य सत्रसंज्ञक यागों की प्रशंसा करते हुए विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होकर प्रमाण माने जाते हैं। अतः वेदवाक्य अपौरुषेय (पुरुषरचित न होने से) होने से स्वतः प्रमाण हैं। इसका विशेष विवरण शाबरभाष्य में देखना चाहिये।

प्रथम अध्याय के तीनों पाद धर्मजिज्ञासासूत्र (१।१।१) के ही अंग हैं। चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः— इस द्वितीय सूत्र (१।१।२) के अंग (शेष) नहीं हैं। चोदनासूत्र अर्थात् चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः— इस सूत्र में दो तथ्य प्रदर्शित किये हैं—

१. विधिवाक्य ही धर्म में प्रमाण धर्म का बोधक है और २. धर्मबोधन में वह प्रमाण ही है। यह कहकर अन्ययोगव्यवच्छेद और अयोगव्यवच्छेद को बताया गया है। इन्हीं महत्त्वपूर्ण दो तथ्यों को ग्रन्थकार श्री पार्थसारथिमिश्र बता रहे हैं— यद्धि द्वयं चोदना सूत्रे प्रतिज्ञातम्। भेद–शेष–प्रयुक्ति–क्रम–नियम–अधिकार–अतिदेश (सामान्य अतिदेश और विशेष अतिदेश)-ऊह-बाध-तन्त्र-प्रसंग— उक्त सभी विशेषणों से विशिष्ट धर्म के

स्वरूप को बताने मे चोदनावाक्य ही प्रमाण है। उसी तरह प्रमाणमेव चोदना— कहकर चोदनावाक्य (विधिवाक्य = प्रवर्तकवाक्य) प्रमाण ही है। द्वितीय सूत्र चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म: मे दो प्रतिज्ञाएँ की गई हैं। इन प्रतिज्ञाओं में धर्मस्वरूप के विशेषण— भेद, शेष, प्रयुक्ति, क्रम-नियम, अधिकार, अतिदेश, ऊह, बाध, तन्त्र, प्रसंग— इन सभी विशेषणों से विशिष्ट धर्म के स्वरूपबोधन में विधिवाक्य ही प्रमाण है और विधिवाक्य को प्रमाण ही समझना चाहिये— यह कह कर यथाक्रम अन्ययोगव्यवच्छेद और अयोगव्यवच्छेद को सूचित किया गया है।

अन्ययोगव्यवच्छेद = व्यावृत्ति को बताया गया है— यह बताने का प्रयोजन यह है कि जो प्रमाण विधिवाक्य की अपेक्षा बिना किये ही किन्तु विधिवाक्य के तुल्य अपने को मानकर प्रत्यक्षादि प्रमाणों की स्पर्धा करते हैं, उनके अप्रामाण्य की प्रतिज्ञा को प्रत्यक्षसूत्र अर्थात् चतुर्थसूत्र— सत् सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भत्वात् (अ० १ पा० १ सूत्र- ४) के द्वारा सिद्ध किया गया है। अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्र के द्वारा धर्मविषयक प्रमाण को बताने की प्रतिज्ञा की गई है। तदनुसार प्रथमाध्याय के प्रथम पाद (इसी को तर्कपाद भी कहते हैं) के द्वारा विधि का प्रामाण्य बताया गया है। तदनन्तर अवशिष्ट तीन पादों से अर्थवाद, स्मृति और नामधेय— इन तीनों प्रमाणों का प्रामाण्य बताया गया है। एवंच— द्वितीय सूत्र के समान तीनों पादों की संगति जिज्ञासासूत्र की प्रतिज्ञा के साथ उपपन्न होती है। निष्कर्ष यह है कि चोदना लक्षणोऽर्थो धर्म: (१।१।२) सूत्र से आरम्भ कर यह प्रथमपाद, प्रथम सूत्र— अथातो धर्मजिज्ञासा का ही शेष = अंग है, उसी तरह अग्रिम पादत्रय = अगले तीन पाद भी प्रथम सूत्र के ही अंग हैं। तत्रापि प्रथम पाद में तृतीय सूत्र तस्य निमित्तपरीष्टि: से लेकर सम्पूर्ण पाद भी द्वितीय सूत्र = चोदनालक्षणोऽधर्म: का ही अंग समझना चाहिये।

(पदार्थोपसंहार:)

यदि चोदनासूत्रे प्रतिज्ञातम्— भेदशेषप्रयुक्तिक्रमनियमाऽधिकारातिदेशह बाधो तन्त्रप्रसंगसर्वविशेषणविशिष्टे धर्मस्वरूपे चोदनैव प्रमाणम्, प्रमाणमेव चोदनेति, तत्र चोदनैवेत्यवधारणेन यच्चोदनानिरपेक्षाणां तया सह तुल्यकक्षतया स्पर्धमानानां प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं प्रतिज्ञातम्, तत् प्रत्यक्षसूत्रेण साधितम्। औत्पत्तिकस्तु इत्यादिना पादशेषेण प्रमाणमेव इत्ययमंश: साधित:। तदेवमस्मिन्नेव पादे चोदनासूत्रप्रतिज्ञातार्थविशेषे साधिते उपरितनं पादत्रयं चोदनासूत्रशेषतया न सङ्गच्छते; किन्तु प्रथमे सूत्रे किं लक्षणो धर्म: इति धर्मस्य प्रमाणं वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञातं तत्राऽनेन पादेन चोदनाया: प्रामाण्यमुक्त्वाऽर्थवादस्मृतिनामधेयानामुपरितनेन पादत्रयेण प्रामाण्यं प्रतिपाद्यते तेन चोदनासूत्रवदेव पादत्रयं जिज्ञासासूत्रोक्तया को धर्म: इत्यनयैव प्रतिज्ञया संगच्छते।

यद्धि द्वयमिति। जो दो प्रतिज्ञाएँ— चोदनासूत्र में दो तथ्य बताये थे— (१) विधिवाक्य ही धर्म मे प्रमाण है। (२) विधिवाक्य धर्मबोधन मे प्रमाण है ही; इसी कथन को और अधिक विशद कर रहे हैं अर्थात् पूर्वोक्त कारिका के उत्तरार्ध (चोदनेति प्रतिज्ञार्थः पादेनाऽनेन साधितः) को स्पष्ट कर रहे हैं। द्वितीयाध्याय के प्रतिपाद्य विषय भेद आदि पदार्थ हैं। प्रथमाध्याय में प्रमाणप्रतिपादन किया गया है और भेदादि द्वितीयाध्याय के प्रतिपाद्य विषय हैं।

भेदादि सभी विशेषणों से विशिष्ट द्वादश अध्यायों में धर्म का स्वरूप बताया है। तथपि धर्म के स्वरूप का बोधक विधिवाक्य ही होता है, उस कारण विधिवाक्य को ही प्रमाण माना जाता है। यदि कोई शङ्का करे कि क्या विधिवाक्य भी कोई प्रमाण है? तो उत्तर में कहना चाहिये— विधिवाक्य प्रमाण ही है अर्थात् अप्रमाण नहीं है। यह कहकर अयोगव्यावृत्ति को बताया है तथा विधिवाक्य ही प्रमाण है— यह कहकर अन्ययोग की व्यावृत्ति बताई गयी है। लौकिक व्यवहारसाधक जो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण हैं, वे धर्म का बोध कराने में अप्रमाण हैं— इसे प्रत्यक्षसूत्र अर्थात् सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म, तत् प्रत्यक्षम्। (१।१।४) के द्वारा बताया गया है।

शङ्का— यदि अर्थवाद आदि को भी धर्मबोधन में प्रमाण माना जाय तो चोदनैव प्रमाणम्— यह जो प्रतिज्ञा पूर्व में की गई है, उसका व्याघात (बाध) हो जायगा।

न च अर्थवादादीनां प्रामाण्ये चोदनैवेति प्रतिज्ञाव्याघातः स्यादिति वाच्यम्? तुल्यजातीयाऽपेक्षत्वादवधारणस्य, यथा शुक्लः पटः इत्युक्ते कृष्णादीनामेव निवृत्तिर्न द्रव्यत्वादीनाम्। एवञ्चोदनैवेत्यवधारणेन प्रत्यक्षादीनामेव चोदनावत् स्वातन्त्र्येण प्रमाणीबुभूषतां व्यावृत्तिर्न त्वर्थवादादीनां चोदनैकवाक्यतया चोदनामूलतया च प्रमाणीभवतां चोदनाविषयेणावधारणेन प्रामाण्यं निरस्तं, नापि साधितम्, उपरितनेन पादत्रयेण तु तत् साधयिष्यते। यथाऽऽह—

इति प्रमाणत्वमिदं प्रसिद्धमुक्त्वेह धर्मम्प्रति चोदनायाः ।
अतः परं तु प्रविभज्य वेदं त्रेधा ततो वक्ष्यति तस्य योऽर्थः ।।

इति पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणमीमांसासाम्राज्य-
धुरन्धर-महामहोपाध्याय-पण्डितपुण्डरीक-
श्रीमत्पार्थसारथिमिश्रपादविरचितायाः
शास्त्रदीपिकायाः प्रथमाध्यायस्य
प्रथमः पादः (तर्कपादः)
समाप्तिमगमत्

न च अर्थवादादीनामिति। यदि अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय, निषेधवाक्यों को भी धर्मावबोध मे प्रमाण स्वीकारा जाय तो चोदनैव प्रमाणम्— इस प्रतिज्ञा का (नियम का) व्याघात हो जायगा । अभिप्राय यह है कि विधिवाक्य ही प्रमाण है— इस प्रतिज्ञा से विरोध होगा।

उक्त आशङ्का का समाधान— **न च अर्थवादादीनामिति**। विरोध की आशङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि समान जाति के पदार्थों के निश्चय करने में अवधारण की अपेक्षा की जाती है— यह महर्षि पाणिनि के यतश्च निर्धारणे सूत्र में बताया गया है। इसी तथ्य को उदाहरण देकर बता रहे हैं— यथा शुक्लः पटः इत्युक्ते कृष्णादीनामेव निवृत्तिः । न द्रव्यादीनाम् इति। जैसे कोई कहे कि यह शुक्लः पटः = 'यह सफेद वस्त्र है' कहने पर कृष्ण-पीत-हरित आदि वर्णों (रंगों) की व्यावृत्ति हो जाती है। न द्रव्यत्वादीनाम् इति अर्थात् द्रव्यत्वावच्छिन्न किसी द्रव्य की व्यावृत्ति (निवृत्ति) नहीं होती— इसे सभी जानते हैं। एवञ्चोदनैवेत्यवधारणेन प्रत्यक्षादीनामेव चोदनावत् स्वातन्त्र्येण प्रमाणीबुभूषतां व्यावृत्तिः— इसी प्रकार विधिवाक्य ही अर्थात् चोदनैव इस प्रकार अवधारण (निश्चय) करने पर प्रमाणीबुभूषताम् विधिवाक्य के तुल्य ही स्वतन्त्रतया प्रामाण्यप्राप्ति की इच्छा रखने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणों की ही व्यावृत्ति होती है। अर्थवाद आदि की नहीं; क्योंकि अर्थवाद-वाक्य विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता को पाकर प्रमाण माने जाते हैं। मनु-याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियाँ भी वेदमूलक होने से ही प्रमाण मानी जाती हैं। अतः इन दोनों के विधिविषयक अवधारण करने से प्रामाण्य का न निरसन हुआ है और न सिद्ध ही किया गया है। अगले तीन पादों से तो अर्थवाद का तथा स्मृतियों का प्रामाण्य सिद्ध किया जायगा। उपर्युक्त कथन में वार्तिककार भट्टपाद अपनी सम्मति प्रदर्शित कर रहे हैं—

इति प्रमाणत्वमिदं प्रसिद्धमुक्त्वेह धर्मं प्रति चोदनायाः ।
अतः परन्तु प्रविभज्य वेदं त्रेधा ततो वक्ष्यति यस्य योऽर्थः ।।

उक्त पद्य द्वारा यह बता रहे हैं कि इस प्रकार विधिवाक्य का प्रामाण्य धर्म के प्रति जो सिद्ध है, उसे प्रथम पाद में बताकर तदनन्तर वेद को तीन भागों में विभक्त किया गया है, तदनन्तर जो वेदभाग जिस अर्थ को प्रतिपादन करता है, उसे प्रकाशित करेंगे अर्थात् 'अतः परन्तु प्रविभज्य वेदं' इस अंश से यह बता रहे हैं कि अर्थवाद आदि का प्रामाण्य प्रतिपादन न होने से प्रमाण का लक्षण अद्यापि समाप्त नहीं हुआ है। अतः प्रस्तुत पाद में विधि का प्रामाण्य सिद्ध होने पर भी अग्रिम तीन पादों में विधि, अर्थवाद और मन्त्र के रूप में वेद के तीन विभाग बताकर तत्तद् वाक्यों के प्रयोजन-स्तुति आदि को आगे बतायेंगे। प्रस्तुत अधिकरण (वाक्याधिकरण-तद्भूताधिकरण) का विषय वेदवाक्य है।

वेदवाक्य पौरुषेय हैं अथवा अपौरुषेय हैं? यह संशय है (विशय है)। पौरुषेय हैं— यह पूर्वपक्ष है। पौरुषेय होने में दो हेतु (कारण) है। जैसे काठक आदि *समाख्या*। दूसरा हेतु है— वाक्यत्व। उक्त कथन को प्रमाणित करने के लिये एक अनुमानप्रयोग किया

जाता है— वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात्, भारतादिवत्। तदनन्तर सिद्धान्त प्रदर्शित कर रहे हैं— वेदवाक्य अपौरुषेय हैं। वेद की अपौरुषेयता का सिद्धान्त अकाट्य है।

वेद की पौरुषेयता सिद्ध करने के लिये जो काठक आदि समाख्या को बताया गया है, उसे प्रवचन (अध्यापन) को लेकर भी बताया जा सकता है तथा पौरुषेयता के पक्ष में जो वाक्यत्व हेतु बताया गया है, उसका कर्ता दृष्टिगोचर न हो पाने से बाधित माना गया है। वेद की पौरुषेयता मानने वालों ने पौरुषेयता का साधक वाक्यत्व हेतु को जो बताया है, वह कर्ता के दिखाई न देने से बाधित हो गया है। अत: वेदों की अपौरुषेयता अकाट्य ही है। यही सिद्धान्त माना गया है।

प्रश्न— यदि अर्थवाद आदि भागों को धर्मबोधन में प्रमाण न बनाया जाय तो उनका प्रामाण्य कैसे कहा जायगा? इसका उत्तर ग्रन्थकार ही दे रहे हैं— उपरितनेन तु पादत्रयेण तत्साधयिष्यते। 'तत् साधयिष्यते' इस वाक्य में 'तत्' का अर्थ है कि अर्थवादादीनां धर्मे प्रामाण्यम्। उक्त कथन में प्रमाण क्या है? उत्तर में श्लोकवार्त्तिक का पद्य दिया गया है—

इति प्रमाणत्वमिदम्प्रसिद्धमुक्त्वेह धर्मम्प्रति चोदनाया: ।
अत: परन्तु प्रविभज्य वेदं त्रेधा ततो वक्ष्यति तस्य योऽर्थ: ।।

इतीति। इति = इस प्रकार से प्रथम पाद के द्वारा धर्म के प्रति चोदना (विधिवाक्य) का प्रसिद्ध प्रमाणत्व = प्रामाण्य बताकर, अत: = प्रथम पाद के परम् = अग्रिम पादत्रय (तीन पादों) में वेद को त्रेधा = विधि, अर्थवाद और मन्त्र के रूप में तीन प्रकार से विभक्त किये गये वेद का य: = जो विधि और उसका स्तुत्यादि रूप अर्थ है, तम् = उसे वक्ष्यति = बताया जायगा।

धर्मशास्त्रकाननप्रचण्डपञ्चाऽऽननानां श्रीमन्महामहोपाध्यायश्रीसदाशिवशास्त्रि-
तनुजनुषाऽन्तेवासिना च तथा पण्डितराजराजेश्वरशास्त्रिश्रीमन्महामहो-
पाध्यायश्रीचिन्नस्वामिचरणामन्तेवासिनाञ्च श्रीमहामहोपध्यायपण्डित-
राजश्रीगजाननशास्त्रिमुसलगाँवकरो(वैद्य)पनामकेन विरचिताया:
शास्त्रदीपिकायास्तर्कपादव्याख्या पूर्णताम्प्राप्ता

।। **श्रीकृष्णार्पणमस्तु** ।।



परिशिष्टम्

भट्टमतम्—

१. ईश्वरो नास्ति ।

२. आत्मा—विभुः प्रतिशरीरं भिन्नः कर्त्ता भोक्ता द्रष्टा ज्ञानसुखदुःखेच्छादीनां समवायी न तु ज्ञानसुखादिरूपः किं तु ज्ञानशक्तिकस्तस्याश्च ज्ञानशक्तेर्न कदापि विनाशः । स्वकृतपुण्यपापैश्च जन्मजात्यायुर्भोगान् यथायथमिह केत्व च प्राप्नोति । प्रारब्धकर्माणि भोगेन विनाश्यात्मज्ञानेन विमुक्तो भवति । मोक्षश्च दुःखाभावमात्रं न सुखस्वरूपः । मुक्तस्य च स्वरूपमात्रमवतिष्ठते नेन्द्रियादिकं नापि मन इति मुक्तस्य न स्वरूपज्ञानं स्वातिरिक्तज्ञानं वा भवति ।

३. ज्ञानमनुमेयं न स्वप्रकाशं स्वविषयमात्रपरामर्षकं च ।

४. शुक्तिरजपीतशङ्खादिज्ञानमयथार्थम् ।

५. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थपत्त्यनुपलब्धय इति षट् प्रमाणानि ।

६. द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायशक्तऽभावाः पदार्थाः ।

७. विशेषो न पदार्थान्तरम् ।

प्रभाकरमतम्—

१. ईश्वरो नास्ति ।

२. भट्टवदेव ।

३. सर्वं स्वज्ञानं स्वं प्रतिस्वयं प्रकाशं विषयवत् स्वस्वरूपमात्मानं च परामृशति ।

४. सर्वं ज्ञानं यथार्थमेव शुक्तिरजतज्ञानादीनां विसंवादिप्रवृत्तिजनकत्वाद् भ्रान्तित्वमुच्यते न स्वरूपतोऽयथार्थत्वम् ।

५. पञ्च प्रमाणानि । अधिकरणातिरिक्तोऽभावपदार्थो नास्तीति नानुपलब्धिः प्रमाणान्तरम् ।

६. द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायसंख्याशक्तिसादृश्यानि पदार्थाः ।

७. विशेषो न पदार्थान्तरं पृथक्त्वेऽन्तर्भावात् ।

८. क्षित्यप्तेजरुद्व्योमकालदिगात्ममनःस्तमोवर्णा द्रव्याणि ।	८. तमश्शब्दयोर्न द्रव्यत्वं तमसस्तेजोहीनाधिकरणात्मकत्वात् शब्दस्याऽऽकाशगुणत्वात् ।
९. क्षित्यप्तेजसां त्वाचचाक्षुषप्रत्यक्षविषयत्वम् । वायोश्च त्वाचप्रत्यक्षविषयत्वम् ।	९. तथा
१० व्योमकालदिशां च विशेष्यत्वेन प्रत्यक्षाविषयत्वेपि विशेषणत्वेन प्रत्यक्षविषयत्वमस्त्येव ।	१०. व्योमकालदिशामनुमेयत्वमेघ न प्रत्यक्षत्वम् ।
११. शब्दो द्विविधः—ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च ध्वन्यात्मकस्तु वायुसमवेतो गुणो न त्वाकाशस्य गुणः । वर्णात्मकश्च द्रव्येव । वर्णाश्च विभवो नित्याश्च । पदं च वर्णात्मकमेव न तु वर्णावयवि पदम् ।	११. वर्णात्मकोध्वन्यात्मकश्च सर्वोपि शब्द आकस्यैव गुणस्तत्र वर्णात्मको नित्यः । पदं च नर्णात्मकमेव । ध्वन्यात्मकश्चानित्यः ।
१२. रूपरसगन्धस्पर्शपरिणामसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्काराऽदृष्टबुद्धिसुखदुःखेच्छोद्वेषप्रयत्ना इति विंशतिर्गुणाः । सङ्ख्यापि गुण एव ।	१२.
१३. कर्म चलनात्मकमेकम् ।	१३.
१४. सामान्यं परापररूपं द्विविधम् ।	१४. परमामान्यं नास्त्येव किं तु घटत्वगोत्वादिकमेव ।
१५. समवायश्चैकः ।	१५.
१६. शक्तिस्त्रिधा—सहजा आधेया पदशक्तिश्च ।	१६.
१७. अभावस्त्रिधा—ध्वंसोऽत्यन्ताभावो भेदश्च ।	१७. अभावों न पदार्थान्तरं किं त्वधिकरणात्मक एव ।
१८. कर्म प्रत्यक्षपि ।	१८. कर्मानुमेयमेव न प्रत्यक्षम् ।
१९. सामान्यं प्रत्यक्षमपि ।	१९. तथा ।
२०. अभावोनुपलब्धिगम्यः ।	२०. अभावो न पदार्थान्तरम् ।
२१. तथा	२१. मनश्चाणु ।

२२.	२२. शरीरं त्रिविधम्—जरायुजाण्डजस्वेदज-भेदात्। उद्भिज्जं न शरीरभेदः।
२३.	२३. शरीरं सर्वं पार्थिवमेव।
२४. संसारोयमनादिः सृष्टिप्रलयौ न स्तः।	२४.
२५. उपमानस्य दृश्यमानव्यक्तिप्रतियोगिकं सादृश्यं विषयः।	२५.
२६. वैदिकशब्दो लौकिकश्चाप्तशब्दः प्रमाणम्।	२६. वैदिकशब्द एव प्रमाणम्, लौकिक-शब्दस्य तु न पृथक् प्रामाण्यमनुमान-विधयैव बोधकत्वेनानुमानेन्तर्भावात्।
२७. यागादीनां धर्मत्वम्।	२७. यागादिजन्यापूर्वस्य धर्मत्वम्।
२८. प्रमाणानां सर्वेषां स्वतः प्रामाण्यमेव, दोषादिज्ञानैस्तस्त बाधो भवतीत्य-प्रमायण्यं परतः।	२८. ज्ञानानां सर्वेषां यथार्थत्वादेव स्वतः प्रामाण्यम्, अयथार्थत्वाभावाच्चाऽ-प्रामाण्यं परतोपि नास्ति।
२९. प्रत्यक्षं षड्विधम्।	२९. तथा।
३०. अनुमानं द्विविधम्—सामान्यतोदृष्टं विशेषतोदृष्टं च। द्विविधमपि पुन-र्द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। केवला-न्वयिकेवलव्यतिरेकिभेदौ नेष्टौ। परार्थानुमानं त्र्यवयवमेव—उदाहरण-पर्यन्तमुदाहरणादिकं वा।	३०. तथा।
३१. अर्थापत्तिर्द्विधा—दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्था-पत्तिश्च।	३१. तथा।
३२. सुखाद्युत्पत्तौशरीरात्मसंयोगः कारणम्।	३२. सुखाद्युत्पत्तावात्ममनस्संयोगः कारणम्।
३३. आत्मा न स्वयंप्रकाशः किं तु मान-साहंप्रत्ययगोचरः।	३३. स्वयं प्रकाश आत्मा नाहंप्रत्यविषयः किं तु घटादिज्ञानेष्वेव विषयवदव-भासते।
३४. अभिहितान्वयवादः।	३४. अन्विताभिधानवादः।